रामकथा नवनीत

पांडुरंग राव





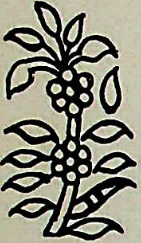
रामकथा नवनीत

डॉ० पाण्डुरंग राव

भारतीय
ज्ञानपीठ
प्रकाशन



लोकोदय ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक 526



रामकथा नवनीत

डॉ. पाण्डुरंग राव

प्रथम संस्करण:1991

मूल्य : 150.00

प्रकाशक
भारतीय ज्ञानपीठ
18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया
लोदी रोड, नई दिल्ली 110003

मुद्रक एवं फोटोटाइप सैटर्स
शकुन प्रिन्टर्स
नवीन शाहदरा, दिल्ली -110032

आवरण-शिल्प : पुष्पकणा मुखर्जी



प्रस्तुति

भारतीय साहित्य में रामायण एक ऐसी रचना है जो भारत की प्रत्येक भाषा में किसी न किसी रूप में उपलब्ध है। भारत की सांस्कृतिक चेतना, साहित्यिक प्रेरणा और सामाजिक भावना को मूल आधार प्रदान करने वाला यह अमर काव्य आदिकवि वाल्मीकि की देन है। देश-विदेश में राम-काव्य के अनेक रूप देखने को मिलते हैं, पर मूल वस्तु वाल्मीकि की मौलिक उद्भावना है। आदिकवि से प्रेरणा पाकर ही सैकड़ों कवियों ने अपनी-अपनी रुचि और अपने समय की सामाजिक स्थिति के अनुसार रामकथा के विभिन्न रूपान्तर प्रस्तुत किये है। राम-काव्य की इस विराट परम्परा को हृदयंगम करने के लिए वाल्मीकि की रामायण को समग्र रूप से समझना आवश्यक है। प्रस्तुत रचना "रामकथा नवनीत" इसी आवश्यकता की पूर्ति करती है।

इस ग्रंथ के प्रणेता, शब्दों के अनन्य पारखी तथा रामायण-साहित्य के अधिकारी विद्वान डा. पाण्डुरंग राव के शब्दों में रामायण वास्तव में भारत का 'ज्ञानपीठ' है। इसलिये भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा "रामकथा नवनीत" का प्रकाशित होना सर्वथा उचित और समीचीन है। इसे मैं ज्ञानपीठ के लिये सौभाग्य की बात समझता हूँ। आशा है, सुधी पाठक इस प्रकाशन का स्वागत करेंगे।

रमेश चन्द्र
न्यासी
भारतीय ज्ञानपीठ

पूज्य पिता की पावन स्मृति में
उन की जन्मशती पर





अथ

भारतीय जन-जीवन को सच्चे अर्थों में भारतीयता (प्रकाश के प्रति प्रेम) से अनुप्राणित करनेवाले दो आलोक-पुंज हैं—प्रभाकर और सुधाकर। प्रभाकर अथवा सूर्य दिन को गतिशील बना देता है और सुधाकर अथवा चन्द्रमा रात को सुहावनी बना देता है। दोनों एक-दूसरे के प्रेरक और पूरक हैं। सूर्यवंश में सूर्य का तेज लेकर मध्याह्न के समय अवतरित दशरथनंदन राम और यदुकुल में चंद्रमा के साथ-साथ आधी रात के समय प्रादुर्भूत देवकीनंदन कृष्ण वास्तव में सूर्य औरं चंद्र के ही प्रतिरूप हैं। इसीलिए जब तक सूर्य और चंद्र दिन और रात को आलोकित और आवासित करते रहते हैं, तब तक राम और कृष्ण की रमणीय और कमनीय कथा-माधुरी लोक को आलोक प्रदान करती रहेगी। दोनों अपने अपने युग के निर्माता और युग-धर्म के संस्थापक रहे। धर्म का संस्थापन दोनों का ध्येय था, पर राम ने सत्य के आधार पर धर्म का पालन किया तो कृष्ण ने न्याय का अवलंब लेकर धर्म को प्रतिष्ठित किया। सत्य और धर्म राम के आचरण के आधार थे तो न्याय और धर्म कृष्ण के व्यत्यस्त प्रतीत होनेवाले विन्यस्त चरण थे। राम धर्म के मूर्त रूप थे तो कृष्ण धर्म के प्रतीक थे। राम प्रेम के प्रतिरूप थे तो कृष्ण प्रेम के उपासक थे। राम का लक्ष्य "शुभ" था और कृष्ण का ध्येय "जय" था। राम दिन के मार्तंड थे तो कृष्ण रात के राकेश थे। पर थे दोनों प्रकाश के पुंज।

इन्हीं दो आलोक-पुंजों की आभा से प्रतिभासित कालजयी कृतियाँ हैं- रामायण और महाभारत। रामायण में ज्ञान का प्रकाश धर्म को सत्य का आलोक प्रदान करता है तो महाभारत में प्रतिपादित कर्तव्य कर्म का आचरण न्याय को धर्मसम्मत बना देता है। रामायण ज्ञान-पीठ है तो महाभारत कर्मभूमि है। रामायण से ज्ञान का आलोक और महाभारत से कर्म का लोक लेकर ही श्रीमद्‌भागवत ने इच्छा-जगत्‌ की स्वच्छ और स्वच्छंद रसवाहिनी से युक्त भक्तिमंदाकिनी को प्रवाहित किया है। रामायण का ज्ञान, महाभारत का कर्म और श्रीमद्‌भागवत की इच्छा - इन्हीं तीन सूत्रों से आबद्ध होकर आर्ष

वाणी भारत भारती को भारतीय बनाती है। इसलिए भारतीय साहित्य, दर्शन और संस्कृति की आधार-त्रयी कहलाने योग्य ये तीनों ग्रंथ भारतीयता को पहचानने में अत्यंत सहायक ही नहीं, बल्कि अपरिहार्य साधन सिद्ध होते हैं।

इनमें रामायण का एक विशिष्ट स्थान है क्योंकि वह ज्ञान का भण्डार है। कर्म और धर्म के बीच समन्वय स्थापित करने वाले महाभारत की मध्यधरा श्रीमद्भगवद्गीता का निश्चित मत है कि ज्ञान से बढ़कर पवित्र वस्तु इस संसार में और कुछ नहीं है और आचार्य शंकर भी मुक्तकंठ से ज्ञान को मुक्ति का एकमात्र साधन घोषित करते हैं। सत्य और धर्म, भक्ति और मुक्ति, भोग और त्याग, अनुराग और विराग—इन सबका समन्वय प्रस्तुत करनेवाली प्रशस्त रचना रामायण वास्तव में भारतीयता का अक्षय कोश है। महाभारत के संबंध में प्रायः कहा जाता है कि जो महाभारत में नहीं है, वह भारत में भी नहीं है। यही बात रामायण के संबंध में भी चरितार्थ होती है, बल्कि रामायण के संबंध में एक कदम आगे बढ़कर यह कहा जा सकता है कि जो रामायण में नहीं है वह विश्व में भी नहीं है क्योंकि रामायण केवल भारत की ही संपत्ति नहीं है, बल्कि वह मानव मात्र की महिमा का गुणगान करनेवाली विश्वजनीन रचना है। वह देश, काल और व्यक्ति की परिकल्पित सीमाओं से परे हैं।

रामायण की मूल शक्ति ज्ञान है जिसके कई पहलू हैं। कभी वह शब्द के रूप में व्यक्त होता है, कभी विचार के रूप में, कभी संचरण के रूप में हमारे साथ चलता है और कभी आचरण के रूप में हमें चलना सिखाता है। कभी कभी वह मौन धारण कर हमारे मन को मुखरित कर देता है और कभी मनन बनकर मन में नमन की भावना पैदा कर देता है, कभी आज्ञा बनकर हमें आदेश देता है और कभी संज्ञा बनकर संदेश का सार सुनाता है, कभी प्रज्ञा बनकर पंडित को प्रबुद्ध बना देता है और कभी विद्या बनकर विज्ञ को विद्वान बना देता है, कभी कर्म की भावना जगाता है और कभी धर्म का रहस्य खोलता है, कभी मुक्ति का मार्ग दिखाता है और कभी भक्ति का गीत सुनाता है। संक्षेप में रामायण जिस अर्थ में ज्ञान का पीठ माना जा सकता है उस अर्थ में यह ज्ञान संसार का सर्वस्व है और समस्त साधना का सार है।

रामायण केवल कहानी नहीं है, वह अयन है। कहानी और अयन में काफी अंतर है। इसीलिए आदिकवि वाल्मीकि ने अपनी कृति का नाम "रामायण" रखा। यदि यह कथा है तो रामायण-कथा है, केवल राम कथा नहीं। "तावद् रामायण-कथा लोकेषु प्रचरिष्यति"— आदि सूक्तियों से यह बात स्पष्ट हो जाती है। यह चरित भी नहीं है क्योंकि चलना समय-सापेक्ष और क्षणिक होता है जब कि रामायण का चरित शाश्वत है (इदं हि-चरितं लोके प्रतिष्ठास्यति शाश्वतम्)। चाहे कथा के रूप में इसका वर्णन हुआ हो अथवा चरित के रूप में—दोनों प्रसंगों में इसकी विस्तृति को "लोक" शब्द से

युक्त किया गया है। लोक भी एक नहीं, अनेक हैं। जहाँ तक आलोक है वहाँ तक रामायण का लोक व्याप्त है। इसलिए रामायण को कथा, चरित आदि कहना उसके लोक की अवधि या परिधि को परिमित करना होगा। तभी तो वाक्य-कोविद वाल्मीकि ने इस कृति को रामायण की संज्ञा दी है। मानसकार गोस्वामी तुलसीदास ने भी "यदू रामायणे निगदितम्" कहकर 'रामायण' शब्द मात्र से वाल्मीकि रामायण की ओर विवेकपूर्ण संकेत किया है। केवल 'रामायण' कहना पर्याप्त है, वाल्मीकि का नाम लेने की आवश्यकता नहीं हैं क्योंकि 'रामायण' शब्द वाल्मीकि की अपनी निजी और परिनिष्ठित उद्भावना है।

अयन में केवल कहानी नहीं होती है, केवल घटना नहीं होती है, केवल चरित्र-चित्रण नहीं होता है, केवल चमत्कार, रस, अलंकार, ध्वनि, गुण आदि नहीं होते हैं—ये सब हो सकते हैं, पर इनके अतिरिक्त और भी बहुत-सी बातें होती हैं जो 'अयन' की विस्तृत परिधि में आती हैं। वास्तव में अयन गतिशीलता का द्योतक है और यह अयन राम का होने के कारण रमणीयता का भी सूचक है। 'रामायण' में इन्हीं दो का रासायनिक संयोग है। वह नदी के प्रवाह की भाँति गतिशील भी है और निर्मल जल के उर्मिल उत्थान की भाँति रमणीय भी है। राम शब्द में जो रमणीयता है और 'अयन' शब्द में जो गतिशीलता है—दोनों का मणि-कांचन संयोग ही रामायण है। राम अपने जीवन में क्या करते थे, क्या पाते थे और क्या खाते थे, यह सब उनके अयन का कथन मात्र बन सकता है, पर कथ्य नहीं और तथ्य बिल्कुल नहीं। 'अयन' के अंतर्गत राम की मुद्रा, दृष्टि, मनस्विता, तपस्या, वाग्मिता, तेजस्विता, ओजस्विता, वर्चस्विता आदि में सम्मिलित समस्त अंतरंग-विभूति आती है जिससे इस अमोघ रचना के अध्येताओं को राम के अयन की अनुभूति होती है। इस दृष्टि से रामायण अनर्घराघव की आंतरिक अनुभूति है जिसे आदिकवि ने अभिव्यक्ति का रूप दिया है।

राम क्या करते थे, यह रामायण का कथ्य नहीं है। पर कैसे करते थे, कैसे बैठते थे, कैसे देखते थे, कैसे सोचते थे और कैसे प्रापंचिक अनुभूति को आत्मसात् करते थे, यही रामायण का माननीय अंश है और इसी मनन में राम के अयन का वास्तविक महत्त्व है। एक और विशेषता इस 'अयन' की यह है कि इसमें केवल राम का एकांगी अयन नहीं है, बल्कि यह सीता और राम का समन्वित और समेकित अयन है। 'रामायण' शब्द में ही यह समन्वय-भावना हे। असल में यह राम और रामा-दोनों का अयन है। इसी में 'रामायण' के नामकरण की सार्थकता और सारवत्ता है। राम का अयन और रामा का अयन—दोनों प्रकार से रामायण शब्द का विग्रह किया जा सकता है। ध्यान देने की बात यह है कि शब्द-ब्रह्म के वेत्ता वाल्मीकि ने यहाँ पर सीता के लिए 'रामा' शब्द का प्रयोग किया है और कथा, चरित, गाथा आदि के

स्थान पर 'अयन' शब्द को अधिक उपयुक्त समझा। तभी तो रामायण जैसा रमणीय नामकरण रामायणकी ध्वन्यात्मक प्रवृत्ति का स्फुरण कराने में समर्थ हो पाया है। सीता के लिए 'रामा' शब्द का प्रयोग केवल चमत्कारिक नहीं है, बल्कि वाल्मीकि के लिए यह प्रयोग अत्यंत स्वाभाविक, सरल और अभीष्ट है। रामायण में अनेक प्रसंगों पर यह-प्रयोग मिलता है। 'रामायण' को राम और रामा का समन्वित अयन बनाने से रामचरित "सीतायाश्चरितं महत्" (सीता का महान् चरित) बन गया है और प्रासंगिक रूप से प्रकृति और पुरुष की पारस्परिक परिपूरकता की ओर भी सात्विक संकेत मिलता है। इस प्रकार वाल्मीकि ने पुरुषोत्तम राम की इस परम रमणीय कथा को 'अयन' का रूप दिया, तो यह रामकथा नवनीत उसी अयन का अध्ययन प्रस्तुत करता है-एक 'अल्पविषयामति' अध्येता की अनधिकार चेष्टा के रूप में।

रामायण के संबंध में कुछ कहने का मुझे कोई अधिकार नहीं है, यह बात मैं अच्छी तरह जानता हूँ क्योंकि इस सरल से सरल किंतु दुरूह रचना को जब कभी मैं समझने की चेष्टा करता हूँ तो बात यही समझ में आती है कि जब तक मैं अपने को समझ नहीं पाऊँ तब तक आदिकवि का यह आत्मदर्शन, आंशिक रूप से ही सही, समझ में नहीं आ सकता। इसलिए रामायण, मेरी दृष्टि में, आदिकवि के आत्मदर्शन का ही प्रामाणिक प्रणयन है। वास्तव में यह इस पांच भौतिक जगत् के प्रत्येक प्राणी का प्राणायन है। अमूर्त प्राण को मूर्त रूप देकर वाल्मीकि ने सीता-राम की सुन्दर मूर्ति को संसार के सामने प्रतिष्ठित किया है जिसे प्रत्येक प्राणी अपने अपने संस्कार के अनुरूप अपने अंतरंग में आत्मसात् कर सकता है। इसी प्रयास का परिणाम है—यह नवनीत। इसमें कितना नीत है, कितना अनीत या विनीत, यह नय और विनय के मर्मज्ञ और सहृदय पाठक ही निर्णय कर सकते हैं। पर मैं केवल इतना कह सकता हूँ कि जैसे मेरे, वैसे सब के अंतरंग में प्रतिष्ठित आत्माराम ने जितनी आत्मरति मुझे प्रसाद के रूप में प्रदान की है, उतनी ही में मेरा आत्मतोष है।

आदिकवि के लिए जो आत्मदर्शन था, वही गुणग्राही पाठक-समाज के लिए जीवन-दर्शन बन गया है। यही रामायण का सच्चा और सार्थक दर्शन है। जीवन का प्रमुख आधार जिजीविषा (जीने की इच्छा) है जोकि रामायण की भाव-भूमिका का भी मूल है। नारद के श्रीमुख से आदर्श मानव राम का गुणगान सुनने के बाद जब तपस्वी वाल्मीकि तमसा नदी के तट पर टहलने जाते हैं तो उनके सामने दो दृश्य दिखाई देते हैं—तमसा का तरल सरल प्रवाह और निषाद के निष्ठुर प्रहार का शिकार क्रौंच पक्षी। तमसा का निर्मल जल देखकर तपस्वी का मन जितना प्रसन्न होता है, क्रौंच-मिथुन के आकस्मिक वियोग को देखकर उतना ही आक्रांत हो जाता है। तमसा नदी का प्रवाह जीवन की सरलता, स्वच्छता और गतिशीलता को प्रेरणा प्रदान करता है तो

क्रौंच-मिथुन के ऐकांतिक सुख में अचानक उत्पन्न आघात जीने और जीने देने की सहज मानवीय लालसा को रक्त-सिक्त और विच्छिन्न बना देता है। मनस्वी महर्षि सोचने लगते हैं कि आखिर मानव इतना निष्ठुर क्यों होता है और वह भी अकारण? जल की तरंगों के समान निर्मल और उर्मिल जीवन-प्रवाह का अभिन्न अंग बनकर चलनेवाला प्राणी अचानक इतना आत्मघाती क्यों बन जाता है? अपने साथ जीवन का आनंद लेने वाले सहजीवियों को जीने के अधिकार से वंचित करनेवाले जीवी को जीने का क्या अधिकार है? इसी प्रकार के प्रश्न प्राचेतस के मन को झकझोरते हैं, उनके अंतर्मन में अशांति का चक्रवात उत्पन्न करते हैं और उनके भीतर का शोक बाहर श्लोक बनकर प्रकट होता है :

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

भारतीय साहित्य की यह प्रथम सारस्वत अभिव्यंजना केवल आदिकवि के आदिकाव्य का अक्षर-बीज ही नहीं, बल्कि समस्त सृष्टि का बीजाक्षर है। यही सृष्टि-बीज समस्त रामायण को अभीष्ट पुष्टि प्रदान कर उसे इष्टि-काव्य का रूप देता है। यज्ञ का दूसरा नाम ही इष्टि है और यज्ञ की भावना से किया गया कर्म ही धर्म का रूप धारण करता है। प्रत्येक प्राणी प्रारंभ में अन्नजीवी बनकर अपनी जीवन-यात्रा का आरंभ करता है और धीरे-धीरे प्राण, मन और विज्ञान के सोपानों को पारकर वह अंततः आनंदजीवी बन जाता है। अन्न से प्राणों का प्रणयन होता है, वर्षा से अन्न पैदा होता है और वर्षा तभी होती है जब धरती तप तप कर यज्ञ में अपनी रसमय आहुति देती है। यह सारी प्रक्रिया आंतरिक प्रेरणा और अपरिहार्य कर्तव्य-भावना से संपन्न होती है जिसे हम याग, योग अथवा इष्टि का नाम दे सकते हैं। रामकथा का उपक्रम इसी प्रकार की इष्टि से होता है जिसे वशिष्ठ, ऋष्यश्रृंग आदि ऋषि-मुनियों ने पुत्रकामेष्टि की संज्ञा दी। इसी इष्टि के फलस्वरूप राम, भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न का जन्म होता है। रामकथा का समापन भी अश्वमेध नाम की इष्टि से होता है। इस प्रकार रामायण के उपक्रम और उपसंहार में इष्टि की भावना विद्यमान है और इस दृष्टि से उसको इष्टिकाव्य कहा जा सकता है। विशेष कर बालकांड का सारा घटना-क्रम इसी इष्टि-योजना से अनुप्राणित है। राजा दशरथ द्वारा अनुष्ठित पुत्रकामेष्टि के फल स्वरूप राम का जन्म होता है तो सिद्धाश्रम में संपन्न होने वाले एक विशिष्ट यज्ञ (इष्टि) की रक्षा के लिए राम को अपने साथ ले जाने विश्वामित्र एक दिन अचानक दशरथ के पास आ पहुँचते हैं। विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा संपन्न होते ही मिथिला के राजा जनक द्वारा अनुष्ठित धनुर्यज्ञ में सम्मिलित होने के लिए विश्वामित्र के साथ उन्हीं के अनुरोध या संकेत पर राम और लक्ष्मण मिथिला पहुँचते हैं। इस प्रकार अयोध्या का यज्ञ राम को अवतरित

कर देता है तो सिद्धाश्रम का यज्ञ राम को असत् के निराकरण और सत् के संस्थापन के लिए सन्नद्ध बना देता है और मिथिला का यज्ञ दशरथनंदन को सीतापति बना देता है। इस प्रकार बालकांड में तीन विशिष्ट इष्टियों की शृंखला दिखाई देती है जिससे अयोध्या के राजपरिवार को तो इष्ट-सिद्धि होती ही है, साथ ही, समस्त राम-परिवार को इष्ट-लाभ भी होता है।

सीता और राम का विवाह भी अपने आप में एक महत्त्वपूर्ण इष्टि है, क्योंकि सीता-राम का समागम केवल एक साधारण नर-नारी का संगम नहीं है, वह धरती और आकाश का मिलन है, सुगंध और माधुर्य का सम्मिश्रण है तथा सौंदर्य और सत्य का समेकन है। बालकांड में सम्पन्न प्रत्येक इष्टि में समष्टि की भावना स्पष्ट दिखाई देती है और यही समष्टि भावना सीता-राम के समागम का भी सत्त्व सार है।

आदिकवि का आत्म-दर्शन रामायण के प्रबुद्ध पाठकों के सामने जो जीवनदर्शन प्रस्तुत करता है, इसका सबसे पहला और प्रमुख आयाम, जैसा कि हमने अब तक देखा है, जिजीविषा या जीने की इच्छा है। इसमें जीने देने की सद्भावना भी शामिल है। तभी तो इस जीवन-लालसा ने सृष्टि का बीज बोया है और इष्टि का फल पाया है। अब इस जीवन-दर्शन का दूसरा आयाम है—प्रसन्नता। निषाद ने जिजीविषा को जगाया तो मंथरा की मंत्रणा स्वभाव से धीर और गंभीर प्रकृति के रघुवीर को सुख-दुख की लौकिक भाव-भूमिका से ऊपर उठाकर अविकल प्रसन्नता के लोकोत्तर पद पर प्रतिष्ठित करती है। सुख के समय प्रसन्न रहना प्रत्येक प्राणी का सहज लक्षण है। पर दुख के समय भी सुख-दुख को केवल दृश्य मानकर नियति को निर्लिप्त भाव से स्वीकार करना राम जैसे लोकोत्तर भावयोगियों के लिए ही संभव होता है और इसी प्रकार की प्रसन्न मुद्रा में राम को प्रस्तुत करना अयोध्याकांड की कथा के प्रणयन में रामायणकार का आशय है। सही समय पर सही व्यक्ति को सहज भाव से राजतिलक के लिए मनोनीत करने के पश्चात् रातोंरात राजतिलक को वनवास में परिणत होते हुए देखकर "एवमस्तु गमिष्यामि" कहकर तत्काल वन के लिए प्रस्थित हो जाना केवल स्थितप्रज्ञता का ही नहीं, बल्कि असाधारण असंसक्तता का भी परिचायक है। एक ओर राजतिलक और दूसरी और वनवास को विप्रतिपन्न विकल्पों के रूप में पाकर "राज्यं वा वनवासों वा, वनवासो महोदयः" कह सकना राम जैसे निर्विकल्प कर्मयोगी के लिए ही साध्य है। प्रसन्नराघव की इस प्रशस्त दृष्टि-भंगिमा को हृदयंगम करने के लिए राजपरिवार में कैकेयी और मंथरा को छोड़कर और कोई तैयार नहीं होता। कौसल्या का मातृहृदय राजतिलक का मोह छोड़ने के लिए तो तैयार होता है, पर राम को वनवास के लिए अनुमति नहीं दे पाता। पिता दशरथ तो राम-विरह की कल्पना से इतने त्रस्त और विक्षिप्त हो जाते हैं कि उनकी शोक-संतप्त दृष्टि राम के साथ चली जाती है और फिर वापस ही नहीं

आती। सुमंत्र, वशिष्ठ आदि धीर पुरुष भी इस आकस्मिक आतंक से इतने अधीर हो जाते हैं कि वे सबके सामने कैकेयी की भर्त्सना करने में तनिक भी संकोच नहीं करते। अयोध्या के नागरिक राम के साथ साथ वनवास के लिए निकल पड़ते हैं। लक्ष्मण के मन में इतना विक्षोभ उत्पन्न होता है कि वह विद्रोह की भाषा में अपने आवेग को व्यक्त करने के लिए विवश हो जाते हैं। भरत अपनी माता के इस जघन्य कृत्य पर इतने कुपित हो जाते हैं कि वह उससे बात तक नहीं करना चाहते और तत्काल राम को वापस ले आने के लिए चल पड़ते हैं। सबकी दृष्टि राम पर है और राम की दृष्टि सत्य और धर्म के समन्वित अयन पर। यही दृष्टि-भेद राम को लोकाभिराम बना देता है और उनके अयन को शाश्वत प्रतिष्ठा प्रदान करता है। राम और भरत के संवाद में संघर्ष का जो स्वर सुनाई देता है वह त्याग को लेकर है, भोग पर निर्भर नहीं। राजा तुम हो, राज्य तुम्हारा है—यही दोनों का आग्रह है। यही सत्याग्रह राम को रमणीय बना देता है और भरत को सच्चे अर्थों में भारतीय। लोक की दृष्टि से लोकोत्तर महात्माओं की दृष्टि किस प्रकार विलक्षण और विचक्षण होती है, इस बात को चित्रकूट इतनी निराली शैली में निरूपित करता है कि रामायण के द्रष्टा का आत्मदर्शन समस्त संसार को स्वस्थ दर्शन प्रदान करने में समर्थ होता है। यही प्रसन्नराघव का परिनिष्ठित पारदर्शन है।

रामायण में प्रस्तुत जीवन-दर्शन का तीसरा आयाम है-रमणीयता। वनवास के समय इस रमणीयता के विभिन्न रूप दिखाई देते हैं-कभी राग-रंजित, कभी काम-मोहित, कभी लोभ-लोलुप, कभी भाव-विह्वल और कभी चपल-चंचल। रमणीयता अपने उत्कृष्ट रूप में कितनी स्पृहणीय हो सकती है और दूषित होने पर कितनी दयनीय बन सकती है, इसका बोध कराते हैं—अरण्य कांड के विविध प्रसंग। राम का मन जैसे अयोध्या के सुन्दर उद्यानों में रमता था, वैसे दंडक के निर्जन वन में भी रमता है। रामा का मन भी राम के साहचर्य के कारण शून्यारण्य में भी पुण्यालोक का दर्शन करता है। पर शूर्पणखा और रावण की दृष्टि काम-वासना से कलुषित होने के कारण 'अरमणीय' तो नहीं कहीं जा सकती, पर 'विरमणीय' अवश्य है। इस 'विरमणीयता' का आरंभ असल में विराध के आगमन के साथ ही होता है। राम को हेय और सीता को प्रेय दृष्टि से देखने की प्रवृत्ति विराध से आरंभ होकर रावण में पराकाष्ठा तक पहुँचती है। परन्तु समदर्शी राम सबको समान भाव से देखते हैं। व्यक्ति चाहे कोई भी हो, उसमें सत् और असत् दोनों पहलुओं को संतुलन और संयम के साथ देखकर असत् का निराकरण कर सत् का स्वागत करने की ऋजुता राम को ऋषि-तुल्य बना देती है। वास्तव में विराध जब राम और लक्ष्मण को अपने कंधों पर बिठाकर भागने लगता है तो सीता की घबराहट को दूर करते हुए राम कहते हैं कि अभी अभी दंडक में पहुँचे हम लोगों का यह मार्गदर्शन कर रहा है, इसलिए इसे चलने दो। पर

जहाँ पर यह मार्गदर्शन अपनयन का रूप धारण करता दिखाई देता है तो तुरंत विराध का वध करने का दोनों भाई निश्चय कर लेते हैं। जगत् की घटना को यादृच्छिक समझकर अन्याय के अमर्यादित होने पर ही उसे समाप्त करने के प्रयास में राम की सात्विक रमणीयता का परिचय मिलता है। इसी प्रकार सोने के हिरन को देखकर माया के मोह में ग्रस्त अपनी पत्नी की इच्छा पूरी करने में भी राम संकोच नहीं करते हालाँकि हिरन के पीछे चलते समय वह अपने संदह को स्पष्ट करते हुए कहते हैं– जहाँ देखों वहाँ शंका ही शंका दिखाई दे रही है। भवितव्यता बलीयसी होती है। जो होने को है, वह होकर रहेगा। इसलिए जो टाला नहीं जा सकता, उसे झेलने के सिवा और कोई चारा नहीं है। राम के मनस्तत्त्व में यह प्रवृत्ति प्रायः दिखाई देती है। यह उनकी अकर्मण्यता का सूचक नहीं है, बल्कि यह उनकी कर्मठ कार्यपरायणता का ही एक अलौकिक पक्ष है जिसे लौकिक पौरुष स्वीकार नहीं कर पाता। यही राम के अयन की अनिर्वचनीय रमणीयता है।

रामायण के घटना-क्रम को व्याख्यायित करते समय वाङ्मय तपस्वी वाल्मीकि प्रायः 'यदृच्छा' शब्द का प्रयोग करते हैं। श्रीराम के प्रस्तावित राजतिलक की प्राक्-संध्या के समय मंथरा 'यदृच्छया' (संयोग से) राज-प्रासाद के ऊपर चढ़कर अभिषेक के आयोजन की तैयारियाँ देख लेती है (प्रासादं चंद्र संकाशं आरुरोह यदृच्छया)। इसी प्रकार हेमतंके हेमाभ वातावरण में पंचवटी की प्रशांत पर्णशाला में सुखासीन राम के पास रावण की बहिन शूर्पणखा 'यदृच्छया' (संयोग से) ही आती है (तं देशं राक्षसी काचिदाजगाम यदृच्छया)। सीतान्वेषण में तत्पर राम और लक्ष्मण को किष्किंधा की ओर आते हुए देखकर हनुमान् उनको देवलोक से "यदृच्छया" (संयोग से) समागत दिव्यात्मा ही समझते हैं और कहते हैं– "यदृच्छयैव संप्राप्तौ चंद्रसूर्यौ वसुंधराम्"। इस प्रकार के अनेक प्रसंग रामायण में मिलते हैं जहाँ पर साधारण से साधारण घटना भी अप्रत्याशित रूप से घटती प्रतीत होती है, पर वही आगे चलकर कथाक्रम को एकदम नई दिशा में संचालित कर देती है। इसलिए इस प्रकार की यदृच्छा को साधारण इच्छा या स्वाभाविक गतिविधि मानकर चलना समुचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि इसके पीछे कोई दैवी प्रेरणा या योजना सक्रिय मालूम पड़ती है। इसीलिए वाल्मीकि की यह यदृच्छा (संयोग) वास्तव में भगवदिच्छा (दैवयोग) है जो संसार की समस्त इच्छाओं में सबसे बलवती होती है– "बलीयसी केवलमीश्वराज्ञा।"

अन्यथा माया-मृग के मोहक और भ्रामक सौंदर्य पर देवमाया से निर्मित (देवमायेव निर्मिता) सीता-देवी मुग्ध कैसे हुई? अगर मुग्ध हो भी गई तो मर्यादापुरुषोत्तम राम बिना सोचे-समझे अचानक उस हिरन के पीछे क्यों चल पड़े? असल में शूर्पणखा पर्णशाला में आई क्यों? आ भी गई तो उस असुरांगना के साथ हँसी-मज़ाक करने की बात दोनों राजकुमारों के मन में

कैसे सूझी? हँसी-मज़ाक हल्का-सा हो भी गया तो भी वह कान-नाक काटने तक क्यों पहुँचा? ये सभी प्रश्न एक ही उत्तर से निरूत्तर हो जाते हैं और वह है यदृच्छा अर्थात् भगवदिच्छा।

इसी परिप्रेक्ष्य में सीता के मोह और राम के शोक को समझा जाना चाहिए। जैसे ही सीता का मोह नष्ट होता है, वह राम से दूर हो जाती है और सीता के वियोग में राम शोकाकुल हो जाते हैं। "तत्र को मोहः कः शोकः"- वाली स्थिति में आसुरी माया ने बाधा डाली - ऐसी बाधा डाली जिससे मुक्त होने के लिए राम और लक्ष्मण को सीता के अस्तित्व का पता लगाने वन-वन में घूमना, फिरना और भटकना पड़ा, फूल-पत्तों में साध्वी के पुष्पहास को खोजना पड़ा, पहाड़ के सामने खड़े होकर प्रकृति को ललकारना पड़ा, कबंध जैसे शाप-ग्रस्त महापुरुषों का उद्धार कर उनके सहारे आत्मसखा को खोजना पड़ा, वानरों से मैत्री करनी पड़ी, उपकृत मित्र की उपेक्षा को सहना पड़ा, पग पग पर समझदारी और सावधानी से काम निकालना पड़ा और अंततः सत्य, धर्म और सात्विकता के बल पर सफलता प्राप्त करने में स्वाभाविक रूप से लगनेवाले सुदीर्घ समय की प्रतीक्षा करनी पड़ी। परन्तु शोध की इसी साधना में राम की मधुर मनोहर मानवता का भव्य रूप प्रत्यक्ष होता है जो दिव्यता को भी दीपक दिखा सकता है।

यह 'अस्ति-शोध' किष्किंधा से आरम्भ होता है और इसमें करोड़ों वानर-वीर राम-कार्य में लगे रहते हैं। अंत में अतिबल और अनन्य विक्रम से सम्पन्न हनुमान् को इस शोध में 'स्वस्ति-बोध' होता है। सीता-माता का पता लगाने में मारुतनंदन को सफलता मिलती है। 'दिख गईं सीता जी' (दृष्टा सीतेति तत्त्वतः) कहकर वह अपने प्रभु राम के श्रीचरणों में अमृततुल्य समाचार निवेदित करते हैं। रामदूत हनुमान् द्वारा घोषित यह स्वस्ति-बोध वास्तव में राम-काव्य का प्रणव-नाद है जिसमें इस मधुर कथा का मधुराक्षर रम्य रागिनी बनकर रामायण की रमणीयता को सुन्दरता की संज्ञा प्रदान करता है। सीता-माता के आंतरिक और बाह्य सौंदर्य का चरम उत्कर्ष सुन्दर कांड के इसी स्वस्ति-बोध में होता है। तीनों लोकों में दुर्लभ पार्थिव वैभव के प्रभोलन के बीच में रहकर भी राज्यभ्रष्ट वनवासी, पर तेजस्वी पति के प्रति परिनिष्ठित परम प्रेम और पराभक्ति को अचंचल धैर्य के साथ निभाने में ही रामपत्नी का सुदुर्लभ सौंदर्य है जोकि रामायण का सच्चा सौंदर्य है। रामायण का यह पंचम (सुंदर) कांड वास्तव में कवि-कोकिल वाल्मीकि का पंचम स्वर है।

अब आदिकवि के आत्मदर्शनं में प्रतिबिंबित जीवन-दर्शन का अंतिम आयाम आरम्भ होता है जिसको हम 'स्पृहणीयता' की संज्ञा दे सकते हैं। अस्ति-शोध के फलस्वरूप अब स्वस्ति-बोध तो हो चुका है। परंतु जब तक उस 'स्वस्ति' के साथ हम अपने को संपृक्त या समेकित नहीं कर पाते तब

तक वह 'स्वस्ति' हमें स्वार्थ की ओर ही ले जाती है और जहाँ स्वार्थ है, वहाँ स्पर्द्धा अवश्यंभावी है। स्पर्द्धा अपने आप में बुरी बात नहीं है। स्पर्द्धा से व्यक्तित्व में निखार आ सकता है, पर यह तभी संभव है जब स्पर्द्धा स्वस्थ भावना से प्रेरित हो। जब तक व्यक्ति अपने स्वत्व, अपने सत्य, अपने धर्म, अपने अधिकार, अपने गौरव, अपनी प्रतिष्ठा और अपनी मर्यादा पर यथेष्ट और अभीष्ट ध्यान देकर जीवन में आगे बढ़ने का प्रयास करता है तब तक उसकी साधना स्पृहणीय बनी रहती है, अन्यथा वह मानव-मात्र के अस्तित्व के लिए आक्रामक और हानिकारक सिद्ध हो सकती है। यही बात सीता को लेकर राम और रावण के बीच संघटित संग्राम में देखी जा सकती है। सीता राम की धर्मपत्नी है जिनको रावण माया का प्रयोग कर राम और लक्ष्मण की अनुपस्थिति में चुरा कर ले जाता है। चोरी का जब पता चलता है तब भी चोर न तो अपने अपराध को स्वीकार करता है और न अपराध का परिमार्जन करने का प्रयास करता है। वह जानता है कि परस्व का स्वामी कितना शक्तिशाली है और वह स्वयं कितना कमज़ोर है। फिर भी स्पर्द्धा का मोह नहीं छूटता और अहंकार का आवरण नहीं हटता। संघर्ष आरम्भ होता है, संग्राम का भयानक दृश्य प्रस्तुत होता है, असंख्य वीर हताहत हो जाते हैं, आखिर वह अकेला बच जाता है, फिर भी आसुरी साहस बटोरकर वह स्वयं उस महामेध में महती आहुति बनकर अपनो को स्वाहा कर लेता है, पर आत्म-बोध नहीं हो पाता। आत्मबोध होता है उसके उस भाई को जो समय पर सही मार्ग चुन लेता है और सही व्यक्ति को सही ढंग से पहचान लेता है। आत्मदर्शन के दिव्य दर्पण में प्रतिबिंबित इस रामायणीय जीवन-दर्शन का यह अंतिम आयाम-स्पृहणीयता—इस प्रकार महोमेध के माध्यम से आत्म-बोध में परिणत होता है।

यह है राम का अयन जो कहानी होकर भी केवल कहानी नहीं है। इसमें जिजीविषा का जयघोष है, प्रसन्नता का प्रशस्ति-पाठ है, रमणीयता की रम्य रागिनी है और स्पृहणीयता का सस्वर स्वस्त्ययन है। निर्ममता के निष्ठुर परिहास का शिकार बनकर निरूपाय स्वर में चीत्कार करनेवाले प्राणि-जगत् की प्रणतार्ति में यह अयन अपनी 'सृष्टि' का बीज बटोर लेता है, जीने और जीने देने की सहज सात्विक लालसा में इसको 'इष्ट लाभ' होता है। अपने और पराये के भेद भाव को भुलाकर, सुख-दुख को निमित्त मानकर समुपलब्ध सुयोग का पूरा पूरा उपयोग करने की सात्विक साधना के लिए समर्पित सत्यनिष्ठ और धर्मपरायण व्यक्तियों की महनीयता का गुणगान करनेवाला यह अयन दृष्टिभेद को स्वीकार तो करता है, पर समदृष्टि का साम-गायन प्रस्तुत करने के लिए। महान् से महान् व्यक्तियों के लिए भी उनके मंगलमय मार्ग में अवरोध उपस्थित करनेवाले मोह और शोक को निवारित करने में सहायक नैष्ठिक कार्यकुशलता का संस्तवन इस अयन के प्रत्येक प्रकरण में पाया जाता है। सत्य, धर्म, प्रेम और शांति की विजय अवश्यंभावी है, यही

इस अयन का अंतिम निष्कर्ष है। मानव-जीवन का लक्ष्य सार्वत्रिक सुख है जो शोषण द्वारा नहीं, पोषण द्वारा संभव होता है, यही सीता-राम के समन्वित अयन का संदेश है। 'विजय' मानवता की महत्त्वाकांक्षा को बढ़ावा देती है, पर मानव-जाति का मंगलसूत्र 'शुभ' के संसाधन में है, इस परम सत्य की ओर रामायण मानव-मात्र का ध्यान आकृष्ट करती है और यही राम-कथा नवनीत है।

यही कारण है कि रामायण आज भी भारतीय जन-जीवन के साथ इतनी निकटता से जुड़ी हुई है जैसे वह उसका अन्न-पान अथवा जलवायु हो। आम जनता के दैनंदिन जीवन में कोई ऐसी घटना नहीं घटती है जिसमें रामायण का कोई न कोई प्रसंग याद नहीं आता हो। सुख में, दुख में, संयोग में, वियोग में, भोग में, त्याग में, जीवन की हर अनुभूति में रामायण की कोई न कोई बात अनायास जुड़ जाती है। प्राणों की परवाह किए बिना वचन का विधिवत् पालन करनेवाले आदर्श व्यक्ति को देखकर सत्यसंध राजा दशरथ की याद आती है। आदर्श पुत्र हो तो राम जैसा होना चाहिए, साध्वी पत्नी हो तो सीता जैसी होनी चाहिए, अनुरागी भ्राता हो तो लक्ष्मण जैसा होना चाहिए, स्वार्थरहित शासक हो तो भरत जैसा होना चाहिए, समर्पित सेवक हो तो हनुमान् जैसा होना चाहिए, इसी प्रकार रामायण के अनेक पात्रों का बार-बार स्मरण करते हुए भारतवासी अपने जीवन में आदर्श गुणों को प्रतिष्ठित करने का प्रयास करते हैं। रामायण के अनेक पात्र अवगुण के भी उदाहरण बनते हैं। ईर्ष्या के लिए मंथरा, विश्रृंखलता के लिए शूर्पणखा, उद्दंडता के लिए इंद्रजित्, निद्रा-प्रेम के लिए कुंभकर्ण आदि भारतीय दिनचर्या के अभिन्न अंग बन गए हैं।

गोस्वामी तुलसीदास ने अपनी कालजयी रचना 'रामचरित मानस' के माध्यम से रामकथा की अनेक उक्तियों को जनमानस में इस प्रकार संचरित कर दिया है कि अनपढ़ व्यक्ति भी प्रसंग के अनुसार मानस का कोई दोहा या चौपाई सहज भाव से स्मरण कर लेता हे। तेलुगु के राम-काव्यों में सेतुबंधन के समय राम की सहायता करने में लगी हुई गिलहरी का उदाहरण कहावत बन गया है। किसी नासमझ व्यक्ति की हँसी उड़ाते हुए कहा जाता है कि सारी रामायण सुनने के बाद यह पूछता है कि 'राम की सीता क्या लगती है।' सच पूछा जाए तो रामायण की कथा भारतवासियों के रोम रोम में समा गयी है। इसीलिए कोई भी भारतीय भाषा ऐसी नहीं मिलेगी जिसमें राम-कथा किसी न किसी रूप में नहीं मिलती हो। ग्यारहवीं शताब्दी से लेकर आज तक भारतीय साहित्य में रामकथा की अजस्रधारा निरंतर प्रवाहित होती दिखाई देती है। कंबरामायण संभवतः आधुनिक भारतीय भाषाओं का सबसे पहला रामकाव्य है। तेलुगु में बीस-पच्चीस रामकाव्य लोकप्रिय हैं। तेरहवीं शताब्दी की रंगनाथ रामायण से लेकर इस शताब्दी के विश्वनाथ सत्यनारायण कृत

'रामायण कल्पवृक्षमु'' तक रामकाव्य की एक विस्तृत और बृहत् परंपरा तेलुगु साहित्य में उपलब्ध है। इसी प्रकार कन्नड़ में पंपरामायण और तोरवें रामायण, मलयालम में एलुतच्चन् की अध्यात्म रामायण आदि आज भी श्रद्धा से पढ़ी जाती हैं। "रामायण. दर्शनम्" के यशस्वी लेखक श्री कु.वे. पुट्टप्पा कन्नड़ की रामकाव्य-परंपरा के अद्यतन प्रमाण हैं। मराठी में भावार्थ रामायण, गुजराती में गिरिधर रामायाण, बंगला में कृत्तिवास रामायण, उड़िया में बलरामदास रामायण, असमिया में माधव कंदलि, शंकरदेव आदि की रामायण समस्त भारतीय साहित्य के गौरव ग्रंथ हैं।

विदेशों में भी रामायण की कथा कला, साहित्य और दर्शन के क्षेत्र में गण्यमान्य स्थान बना चुकी है। थाइलैंड में 'अयुत्थया' नाम का स्थान राम की जन्मभूमि के रूप में प्रसिद्ध है। रामकियां (रामकीर्ति) इस देश का प्रसिद्ध रामकाव्य है जिसे वहाँ के राजा ने लिखा था। वहाँ के बौद्ध मंदिरों में रामायण की कथा से संबंधित अनेक चित्र मिलते हैं।

इन सभी रचनाओं और कलाकृतियों को प्रेरणा प्रदान करनेवाली मूल कृति है-वाल्मीकीय रामायण। "परं कवीनामाधारम्" कहकर रामायण के मर्मज्ञ विद्धानों ने इस अनर्घ रचना को 'उपजीव्य' काव्य घोषित किया है। वास्तव में यह जीवन-दर्शन को आत्मदर्शन के साथ जोड़नेवाला जीवंत काव्य है। जब तक जीव-लोक में जीने की इच्छा बनी रहेगी, जीने देने की उदारता कायम रहेगी, विषाद को प्रसाद बनाने का विवेक रहेगा, कमनीय को रमणीय बनाकर काम-वासना को राम-भावना में परिणत करने की सुमति रहेगी और स्वार्थ को परमार्थ का रूप देने की योग्यता के प्रति अचंचल आस्था मानवता को ममता की महिमा सिखाती रहेगी, तब तक मानव-कल्याण की मंजुल गीतिका के रूप में यह कृति सहृदय समाज के बीच सात्विक संचरण करती रहेगी।

मैंने इन पृष्ठों में राम-कथा की कोई समीक्षा नहीं की है। यह समीक्षा नहीं है, विवक्षा है। वाक्य-कोविद वाल्मीकि के रसात्मक और ध्वन्यात्मक वाक्य पढ़ने के बाद कुछ कहने की इच्छा हुई··· और कह दिया। बस, इससे अधिक इसमें और कुछ नहीं हैं। यदि कुछ है तो केवल गौस्वामी तुलसीदास के भक्तिभास्वर स्वर में एक विनम्र स्वर मिलाते हुए मैं इतना कह सकता हूँ कि इसमें रघुपति का उदार नाम है (इहिमँह रघुपति नाम उदारा) जो कि पाठक और मेरे बीच संचार का सहज माध्यम बनकर संवाद को कुछ कुछ संभव बना देता है।

इस प्रयास के पूर्वरंग के रूप में दो बातें स्पष्ट करना आवश्यक है। पहली बात यह है कि यह विवेचन केवल वाल्मीकि रामायण को दृष्टि में रखकर प्रस्तुत है। यह जान-बूझकर किया गया है। इसका प्रमुख कारण यह है कि नई पीढ़ी के रामकथा-प्रेमी अपनी अपनी भाषाओं के प्रशस्त राम-काव्यों

के बारे में बहुत कुछ जानते हैं, पर वाल्मीकि और उनकी कृति के संबंध में बहुत-सी बातें नहीं जानते हैं। उदाहरण के लिए वाल्मीकि रामायण के अनुसार अहल्या को पत्थर बनकर पड़ी रहने का ाप नहीं दिया गया था। हज़ारों वर्षों तक तू बिना खाए-पिए, केवल वायु का सेवन करते हुए, राख में लेटी इस आश्रम में पड़ी रहेगी और किसी को दिखाई नहीं देगी, यही गौतम का शाप था।

इह वर्ष सहस्राणि बहूनि निवासिष्यसि।
वातभक्षा निराहारा तप्यंती भस्मशायिनी।
अदृश्या सर्वभूतानां आश्रमे ऽस्मिन् वसिष्यसि"

पर जितने परवर्ती राम-काव्य हुए, सब में बिचारी अहल्या को पत्थर बनना पड़ा। इतना ही नहीं, श्रीराम के आत्मसखा गुह (केवट) को नाव के नारी बन जाने के डर से प्रभु के पैर धोने पड़े थे। इस प्रकार के अनेक प्रसंग वाल्मीकि रामायण में किस रूप में वर्णित हैं, इसके बारे में रामायण के प्रबुद्ध पाठकों में भी भ्रम है। इस भ्रम का निवारण तभी हो सकता है जब वाल्मीकि क़ी बात स्पष्ट रूप से सामने आ जाए। इसलिए आदिकवि वाल्मीकि ने जो लिखा , उसकी जानकारी साधारण जिज्ञासु को कराना मैंने आवश्यक समझा। वैसे ही, भारत की विभिन्न भाषाओं में उपलब्ध विशाल राम कथा साहित्य का सही अवगाहन करने के लिए मूल रामायण को यथामूल समझना लाभदायक होता है। इसीलिए इस विवेचन को मैंने वाल्मीकि तक सीमित रखा है। यह आदिकवि की आर्षदृष्टि का प्रणतिपूर्वक प्र न है जिसको यथासंभव प्रामणिक बनाने का प्रयास किया गया है।

दूसरी बात, जिसका स्पष्टीकरण आवश्यक है, यह है कि इसमें जैसें वाल्मीकि द्वारा वर्णित रामकथा को यथातथ प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है, वैसे ही वाल्मीकि के शब्दों को भी बहुधा ज्यों के त्यों उतार कर रखने की चेष्टा की गई है। रामायण के रमणीय काव्यार्थ को प्रतिपादित करने में प्राचेतस ने जिन शब्दों का प्रयोग किया है, वे भी उतने ही रमणीय हैं जितना उनका भाव-बोध है। इसीलिए रामायण की कथा को मधुर कहा जाता है तो उसमें प्रयुक्त शब्दों को और शब्दों में सम्मिलित अक्षरों को भी मधुर माना जाता है। इन सब बातों को दृष्टि में रखकर वाल्मीकि की पदनिधि का प्रयोग करने के प्रलोभन से नवनीत का यह विनीत निवेदक अपने को मुक्त नहीं कर सका।

एक और बात कहनी है। रामकथा नवनीत के नाम से यह विवेचन विश्व अध्यात्म समाज की मुख पत्रिका 'विश्वात्मा' में चार पांच वर्ष तक धारावाहिक छपता रहा। सुंदर कांड के मध्य तक यह लेखमाला चलती रही। बाद में जब वह पत्रिका बंद हो गई तब भी लेखन-कार्य बराबर चलता रहा

और अब यह पुस्तकाकार में सहृदय पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत है। यह बात यहां पर इसलिए उल्लेखनीय है क्योंकि धारावाहिक रूप से जब यह लेखमाला छपती थी तब अनेक प्रबुद्ध पाठकों ने कई बातों की जिज्ञासा की और सराहना भी की। उनका मैं अन्यत आभारी हूँ क्योंकि इस उपादेय प्रतिक्रिया को देखकर मैंने अपने लेखों में कुछ विचारवर्द्धक सामग्री जोड़ दी और कभी कभी कुछ महत्त्व की बात दुहरानी भी पड़ी। अलग अलग लेखों में यह बात चल सकती है, पर पुस्तक के रूप में यह पुनरुक्ति समझी जा सकती है। पर वास्तव में यह पुनरुक्ति नहीं है क्योंकि बात वही है, पर प्रसंग दूसरा है। 'नवनीत' के पाठकों से विनम्र अनुरोध है कि वे कृपया इस बात को ध्यान में रखें।

इसी से जुड़ी हुई एक और बात है। वाल्मीकि अपने पात्रों का उल्लेख करते समय प्रायः उनका वर्णनात्मक विशेषण भी साथ जोड़ देते हैं। राम को सत्यपराक्रम, लक्ष्मण को शुभलक्षण, भरत को भ्रातृ-वत्सल, शत्रुघ्न को नित्य शत्रुघ्न, सुग्रीव को विपुलग्रीव, वाली को हेममाली, रावण को लोक-रावण, सीता को श्रीस्वरूपिणी आदि कहना इस प्रकार की अभिव्यंजना के उदाहरण हैं। वास्तव में ये इन पात्रों को वाल्मीकि द्वारा दिए गए पदनाम हैं। इसीलिए उनको बार-बार दुहराया जाता है। स्थूल दृष्टि से यह भी पुनरूक्ति जैसा लगता है। पर इन शब्दों में आदिकवि वाल्मीकि ने कुछ मांत्रिक महिमा भर दी है इसीलिए इनको दुहराने का मोह मैं भी नहीं छोड़ सका। सुधी पाठकों से अनुरोध है कि इस विशेषणप्रियता को इसी परिप्रेक्ष्य में देखें।

अन्त में मैं इस बात को भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि इस विवेचन में मेरी कोई मौलिक उद्भावना नहीं है। घटना-क्रम, वर्णन, विचार, शबूद आदि सब के सब वाल्मीकि के ही हैं। उन्हीं के नाद का यह अनुनाद है। हां, कहीं कुछ असावधानी, त्रुटि या भूल हुई हो तो वह निश्चित रूप से मेरी ही है।

'रामकथा-नवनीत' का लेखन जब मैंने आरम्भ किया था, उस समय मैं 'संघ लोक सेवा आयोग' में भाषा निदेशक के रूप में भारतीय भाषाओं की सेवा में संलग्न था। जब नवनीत चित्रकूट तक पहुँचा तब मैं भारत की सांस्कृतिक राजधानी कलकत्ता में भारतीय भाषा परिषद का निदेशक बनकर पहुँच गया था। सुन्दर कांड के बीच तक पहुँचने के बाद भारतीय ज्ञानपीठ ने मुझे दिल्ली वापस बुलाया जहाँ पर इस नवनीत का नीराजन इस रूप में सम्पन्न हो रहा है। इन तीनों संस्थाओं ने मेरी वाड्०मय साधना को अभीष्ट दिशा में प्रवर्तित करने में अमूल्य योग दिया है। इसलिए ये तीनों आवसथ मेरे लिए सेवा भारती, भाषा भारती और ज्ञान-भारती के मूर्त रूप हैं जिनको मैं अपनी विनयांजलि अर्पित करता हूँ।

इस पुस्तक की पांडुलिपि को टंकित रूप देकर इसे मुद्रण-योग्य बनाने में

श्रीमती कुसुम बुद्धिराजा, श्री बलराम दास, श्री नेमिचन्द्र जैन और श्री चंद्रप्रकाश मित्तल ने जो सहयोग दिया है, इसके लिए मैं उनके प्रति आभार प्रकट करने की अपेक्षा उनके लिए प्रभु-कृपा की कामना करना अधिक समीचीन समझता हूँ। इसके मुद्रण में श्री चक्रेश जैन और श्री नेमिचन्द्र जैन ने जो निष्ठा और तत्परता दिखाई है, इसके लिए दोनों राम की अनुकंपा के पात्र हैं। इस पुस्तक की प्रेस-कापी तैयार करने तथा प्रूफ देखने में मेरे सहयोगी डा० गुलाबचंद्र जैन ने जिस मनोयोग से मेरा साथ दिया है, इसका प्रतिफल रामकथा नवनीत ही है जिसमें राम का हृदय प्रतिष्ठित है।

अपनी इस रचना को ज्ञानपीठ का प्रकाशन बनाने का सारा श्रेय मेरे आप्तमित्र श्री बिशन टंडन को है जिनकी प्रेरणा के बिना यह प्रणयन संभव नहीं हो पाता। कलकत्ते में हाल ही में स्थापित 'रामायणीयम्' नाम की संस्था की संस्थापिका श्रीमती विमला पोद्दार ने इस पुस्तक के प्रकाशन का समाचार पाते ही इसके प्रकाशन-पूर्व क्रयादेश के रूप में चौबीस हज़ार (रामायाण की श्लोक संख्या) रुपये की अग्रिम राशि भेजकर प्रकाशन कार्य को सुकर बनाया है। उनकी रामायण-परायणता ही उनकी रक्षा है।

रामायण के गुणग्राही विद्वानों तथा रसग्राही पाठकों को इस अक्षर-भारती से यदि तनिक भी आत्मा का आलोक मिला तो मैं इसे आत्माराम का अनुग्रह समझूँगा।

रामायणं न जानामि न जानामि परायणम्।
आत्मारामं तु जानामि सर्वस्यात्मनिवासिनम्॥

पाण्डुरंग राव

अक्षय तृतीया सं० २०४८
१६ मई, १९९१

पाण्डुरंग राव



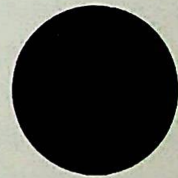


रामायणं नमस्कृत्य नमस्कृत्य परायणम्।
वानरं च नरं नारीं ततः शुभमुदीरयेत्॥

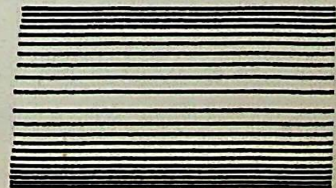


अनुक्रम

रामकथा नवनीत



बाल्य





1. मधुरं मधुराक्षरम्

रामायण का नाम सुनते ही भाव-परायण भक्त समाज अपने रोम रोम में राम नाम को संचरित पाकर भावुकता से पुलक उठता है, साहित्य का साधारण अध्येता भी रससिद्ध कवि की रमणीय काव्य-योजना को देखकर श्रद्धा से नतमस्तक हो जाता है और उच्च कोटि का दार्शनिक भी उस के प्रत्येक अक्षर में प्रतिभासित आत्मा के अखंड आनंद से अपने को आलोकित अनुभव करता है। भारतीय साहित्य, संस्कृति और दर्शन का मंगलमय संगम प्रस्तुत करने वाली यह प्रशस्त रचना भारत-भारती के हृदय का प्रतिनिधित्व करती है जबकि महाभारत मां-भारती की मनस्विता का मनमोहक चित्र प्रस्तुत करता है और श्रीमद्भागवत भारतीय तत्त्व चिंतन की आत्मा को अंकित कर देता है। ये तीनों ग्रंथ भारतीय आत्मा को अवगत करने के लिए आधार प्रदान करते हैं। फिर भी रामायण अन्य दो ग्रंथों की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय है। भारत की प्रत्येक भाषा में रामकाव्य किसी न किसी रूप में अवश्य मिलता है। भारत की ही नहीं, बल्कि विश्व की अनेक भाषाओं ने भी इस रमणीय कथानक को अपना लिया है। इस दृष्टि से यह कृति देश-काल की सीमाओं को पारकर सार्वदेशिक और सार्वकालिक बन गई है।

इस विश्वजनीन रचना को विश्वविधाता का यह वरदान भी मिला था कि जब तक संसार में पहाड़ों में स्थिरता रहेगी और नदियों में गतिशीलता रहेगी, तब तक रामायण की कथा सभी लोकों में संचरणशील रहेगी :

यावत् स्थास्यंति गिरयः सरितश्च महीतले।
तावद् रामायण-कथा लोकेषु प्रचरिष्यति ॥

वास्तव में रामायण शब्द में ही स्थिरता और गतिशीलता का सामंजस्य निहित है। 'राम' और 'अयन'—इन्हीं दो शब्दों से रामायण का सामासिक शब्द निष्पन्न होता है। 'राम' शब्द में रमणीयता अथवा स्थिरता की ओर संकेत मिलता है और 'अयन' का मतलब ही गमन या गतिशीलता है। इसलिए रामायण की कथा स्थितिज (potential) और गतिज (kinetic) ऊर्जाओं का संतुलित समन्वय प्रस्तुत करती है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम समुद्र की तरह गंभीर और पहाड़ की तरह स्थिर हैं। पर उन के जीवन में आरंभ से लेकर अंत तक निरंतर गतिशीलता दिखाई देती है। वाल्मीकि जिस सर्ग में श्रीराम के जन्म का वर्णन करते हैं, उसी के अंत में विश्वामित्र को भी प्रस्तुत करते हैं जो बालक राम को यज्ञ की रक्षा के लिए अपने साथ ले जाने आते हैं। यज्ञ की रक्षा के बाद श्रीराम की यात्रा मिथिला तक बढ़ाई जाती है और वह यात्रा के अंत में सीता-समेत अयोध्या वापस आते हैं। इस बीच में ऐसे अनेक प्रसंग आते हैं जो राम की रमणीयता और गतिशीलता दोनों को आलोकित करते हैं। अयोध्या वापस आने के बाद भी राजतिलक की बात तो चलती है, पर अगले ही दिन राजतिलक वनवास में बदल जाता है। वनवास तो राम के लिए अभ्युदय और संसार के लिए शुभोदय का कारण बन जाता है। वनवास के प्रस्ताव को तत्काल और सहर्ष स्वीकार करते हुए राम कहते हैं कि मैं लोक को

आवासित करना चाहता हूँ (लोकमावस्तुमुत्सहे)। इसी संकल्प के अनुसार राम आराम की बात एकदम छोड़कर चौदह साल की अवधि में चौदह भुवनों में स्पंदन पैदा करते हैं। इतनी गतिशीलता और कर्मठता के होते हुए भी राम में निष्कंप निर्मलता और निश्चल निर्लिप्तता भी देखी जा सकती है। उदाहरण के लिए, सुमंत्र के रथ पर बैठकर जब राम शीघ्रगति से चलते हैं तो उन को लगता है कि वह धीरे धीरे (शनैरिव) से चल रहे हैं। रथ तो गतिशील है, पर मन रतिशील है। यही आदर्श राम अपने जीवन की प्रत्येक चर्या में प्रस्तुत करते हैं। वह स्वयं निश्चिंत रहते हैं हालांकि वह सब की निरंतर चिंता करते हैं और इस परहित की भावना में वह हमेशा सजग रहते हैं। उन को अपनी चिंता कम और दूसरों की अधिक रहती है। दूसरों के दुःख से दुःखी होना ही सम-वेदना है और यही रामायण की रचना के पीछे मूल प्रेरणा भी रही है।

तमसा नदी में स्नान करने जब महर्षि वाल्मीकि किसी दिन प्रातःकाल जाते हैं तो नदी के किनारे टहलते समय उन्हें क्रौंच पक्षियों की एक जोड़ी दिखाई देती है। परस्पर समागम के आनंद में लीन उस जोड़ी में से एक पक्षी को एक निष्ठुर व्याध तीर से मार गिराता है। यह दारुण दृश्य देखकर महर्षि का मन विकल हो जाता है और उन के मुँह से एक श्लोक निकालता है :

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौंच-मिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

इस प्रकार महर्षि का शोक श्लोक का रूप धारण करता है और करुणा काव्य की भूमिका बन जाती है।

राम का जीवन आरंभ से अंत तक पत्थर को भी पिघलाने वाली करुण कहानी है। उन्होंने जीवन में अपने लिए कुछ नहीं चाहा, बल्कि उन को जो कुछ मिला, वह दूसरों को दे दिया। अयोध्या का राज्य उन्होंने अपनी इच्छा से भरत को दे दिया। वालि का संहार कर किष्किंधा का राज्य सुग्रीव को दे दिया और रावण का संहार कर विभीषण को लंका का राजा बना दिया। निषादराज गुह ने उन को अपना सर्वस्व देना चाहा तो उन्होंने उन का आतिथ्य तक नहीं लिया, लक्ष्मण के द्वारा लाया गया पानी पीकर रात बिताई। यही ऋषितुल्य जीवन राम को देवताओं से भी ऊपर उठाकर ऐसे मानव के रूप में खड़ा कर देता है जिसे देखकर देवता भी विस्मित हो जाते हैं।

इसी आदर्श मानव की खोज में महर्षि वाल्मीकि नारद के पास पहुँच जाते हैं और इस बात की जिज्ञासा प्रकट करते हैं कि क्या इस संसार में ऐसा कोई व्यक्ति है जो मानव-शरीर धारण करते हुए भी सभी संभाव्य दिव्य गुणों से संपन्न है। नारद इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए इक्ष्वाकु वंश में जन्मे रामचंद्र का उदाहरण देते हैं और उन का गुणगान करते हैं। बाद में जब वाल्मीकि तमसः नदी के निर्मल जल को देखते हैं तो उन को लगता है कि राम जैसे सन्मनुष्य का मन ऐसा ही निर्मल होगा। जिस मन में स्वार्थरहित और निष्काम प्रेम भावना होगी, वही इतना निर्मल हो सकता है। नदी के पानी में निर्मलता के साथ तरलता और गतिशीलता भी रहती है। गति ही जल को निर्मलता प्रदान करती है। नदी की निर्मल और निरंतर धारा में तपस्वी की आर्ष दृष्टि ने राम की रमणीयता और गतिशीलता का मंजुल सामंजस्य देखा। इसी सामंजस्य की भावना ने रामायण शब्द को जन्म दिया है।

रामायण शब्द में एक और चमत्कार है। रामायण का विग्रह दो प्रकार से किया जा सकता है। रामस्य अयनम् (राम का अयन)और रामायाः अयनम् (रामा का अयन)। रामा शब्द से राम की पत्नी सीता का बोध होता है। इस प्रकार रामायण केवल राम का अयन नहीं है, बल्कि रामा या सीता का भी अयन है। वास्तव में रामायण की कथा में राम और सीता का समान महत्त्व है। संभवतः वाल्मीकि के मन में राम से भी अधिक सीता के प्रति विशेष आदर और सम्मान की भावना है। इसीलिए उन का काव्य "सीतायाश्चरितं महत्" (सीता का महनीय चरित) बन गया है।

वाल्मीकि ने राम को एक आदर्श मानव या

महामानव के रूप में चित्रित किया है हालांकि परवर्ती प्रणेताओं ने उन्हें परब्रह्म का रूप दिया है। फिर भी वाल्मीकि राम की लोकोत्तर महत्ता को आलोकित नहीं करते हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। बचपन में ही विश्वामित्र, वशिष्ठ, परशुराम आदि उन की दिव्यता को पहचान लेते हैं। अंत में उन का परम विरोधी रावण भी कहता है—तं मन्ये राघवं वीरं नारायणमनामयम्" (रणभूमि में अप्राकृत पराक्रम प्रदर्शित करनेवाला यह रघुवीर साधारण मानव जैसा नहीं लग रहा है, यह मेरी दृष्टि में स्वयं नारायण हैं)। इस से स्पष्ट होता है कि राम की भगवत्ता को स्पष्ट रूप से प्रकट करना न कवि का उद्देश्य है और न कथानायक राम को इष्ट है। फिर भी घटनाक्रम को सावधानी से देखने और परखने पर पता चलता है कि राम वेद-वेद्य पुरुषोत्तम के ही प्रतिरूप थे और सीता पराप्रकृति की प्रतिकृति थीं।

रामायण छह कांडों का महाकाव्य है जिस में परिशिष्ट के रूप में उत्तरकांड भी जोड़ा गया है। प्रत्येक कांड योगशास्त्र में वर्णित षट्चक्रों में से एक एक चक्र का प्रतीक है। मूलाधार से लेकर आज्ञाचक्र तक छह चक्रों के रूप में छह कांडों के कथानक को हृदयंगम किया जा सकता है जब कि अयोध्या में राम के पुनरागमन पर संपन्न राजतिलक की शोभा में छह चक्रों के ऊपर प्रतिष्ठित (षट्चक्रोपरि संस्थित) सहस्रार चक्र की सर्वांगीण सुषमा देखी जा सकती है। वनवास के समय दंडक वन में चलनेवाले राम, सीता और लक्ष्मण इडा, सुषुम्ना और पिंगला नाम की तीन नाडियों के प्रतीक हैं और सीता राम का अयन या गमन प्राणशक्ति का ही अभियान है। इस दृष्टि से रामायण प्रणव-नाद से प्रेरित प्राणायन ही है जो पार्थिव को अपार्थिव बनाकर नर में नारायण को देखने में सहायक होता है। रामायण के विभिन्न प्रसंगों, पात्रों और घटना-स्थलों का बारीकी से अनुशीलन करने से यह बात अधिक हृदयंगम हो जाती है।

रामायण के स्रष्टा प्राचेतस मंत्रद्रष्टा भी थे। इसीलिए वेदमाता गायत्री के द्रष्टा विश्वामित्र को उन्होंने राम के साथ इस प्रकार जोड़ा है कि ऐसा लगता है कि राम की नैसर्गिक शक्ति का आविष्कार करने और उनकी महत्ता को लोक-कल्याण के लिए उपलब्ध कराने के लिए ही विश्वामित्र दशरथ के पास जाकर राम की याचना करते हैं। रामायण की रचना चौबीस हजार श्लोकों में संपन्न होती है। गायत्री मंत्र के वर्ण या अक्षर भी चौबीस हैं। एक एक वर्ण से एक हजार श्लोक अनुप्राणित होते हैं। पहले हजार श्लोकों का आरंभ "तपस्वाध्याय-निरतम्" के 'त' कार से होता है। इसी प्रकार "स हत्वा राक्षसान् सर्वान्" के 'स' कार से दूसरे हजार श्लोक आरंभ होते हैं। इस प्रकार रामायण की सारी रचना गायत्री मंत्र के बीजाक्षरों से अनुप्राणित है। इस से यह बात स्पष्ट होती है कि रामायण मंत्रपूत रचना है जिस के पाठ मात्र से मानव-मन महान् बन सकता है। विश्वामित्र के साथ राम का सहयान भी पूरे चौबीस दिन का है।

अगर रामायण को केवल कहानी ही माना जाए तो यह कितनी सुंदर, व्यवस्थित और स्थायी महत्त्व की कहानी बन पड़ी है, इस का प्रमाण हमारे सामने प्रत्यक्ष है। कुछ लोग रामकथा की वास्तविकता के संबंध में संदेह प्रकट करते हैं। अगर यह कल्पना ही है तो भी कितनी उर्वर, मधुर और मनोहर कल्पना है, यह इस बात से स्पष्ट होता है कि आज भी राम की कहानी भारत के जन-जीवन के साथ जुड़ी हुई है और जीवन के हर प्रसंग में रामकथा की मिलती जुलती घटना को लोग याद करते हैं। किसी आदर्श गृहिणी को देखकर हम सीता माता से तुलना करते हैं। किसी आज्ञाकारी सेवक की तुलना हनुमान से करते हैं, विश्वास योग्य मित्र को सुग्रीव कहते हैं, दिन रात सोनेवाले निद्राप्रेमी को कुंभकर्ण कहते हैं, रंग में भंग करनेवाली बुरी नीयत वाली औरत को देखकर मंथरा से उसका रिश्ता जोड़ देते हैं। आदर्श भाई को देखकर भरत का स्मरण करते हैं। रामकथा में परवर्ती कवियों ने जिन नई उद्भावनाओं को सम्मिलित किया है, यह भी रामकथा की लोकप्रियता का परिचायक है। लोक-साहित्य में भी रामकथा अनेक रूपों में दिखाई देती है।

जीवन की जटिल से जटिल समस्या को सुलझाने

में भी रामकथा का कोई न कोई प्रसंग सहायक होता है। त्याग से भोग की ओर पागल की तरह पलायमान आधुनिक समाज को त्याग और भोग के संतुलन की आवश्यकता समझाने की शक्ति रामकथा में है। राम और भरत राज्य को हड़पने के लिए नहीं, अर्पित करने के लिए तत्पर रहते हैं। यह सही है कि मंथरा, कैकेयी, शूर्पणखा, रावण आदि पात्र भी रामायण में हैं। लेकिन इन पात्रों की आसुरी प्रवृत्तियों पर कुछ दैवी संपत्ति के अधिकारियों ने कैसे विजय पाई, यही रामकथा का संदेश है। अयोध्या में कैकेयी जैसी पापदर्शिनी थी तो लंका में विभीषण जैसा सात्विक संत भी था और त्रिजटा जैसी त्रिकालदर्शिनी भी थी। वाल्मीकि ने स्वयंप्रभा जैसे कुछ अद्भुत पात्रों का भी सृजन किया है जिस पर परवर्ती कवियों का ध्यान बहुत कम गया है। वास्तव में वाल्मीकि रामायण में प्रत्येक अक्षर, उक्ति और व्यक्ति का अपना महत्त्व है।

रामायण से अगर हमें कुछ शिक्षा ग्रहण करके अपने दैनंदिन जीवन को अधिक व्यस्थित और सुखद बनाना है तो भी यह नीति- संहिता का काम देती है। अगर काव्य का आनंद लेना है तो उच्च कोटि की रसात्मक अभिव्यंजना की यह अक्षय निधि सिद्ध होती है। केवल अपनी शब्द-संपत्ति को बढ़ाकर भाषा की बारीकियों को समझना है तो यह वाणी का वरणीय वरदान प्रदान करती है। धार्मिक भावना से इस ग्रंथ का नियमित पाठ किया जाए तो आध्यात्मिक शक्ति का अप्रत्याशित रूप से अनायास विकास होता है।

आत्मबोध और श्रुति-सुभगता दोनों दृष्टियों से अनुपम राम-काव्य के प्रथम प्रणेता प्राचेतस ने इस अनर्घ रचना को इतना रमणीय बना दिया है कि वह सुनने में जितनी मधुर लगती है, समझने में उस से भी अधिक मधुर प्रतीत होती है। इसीलिए 'मधुरं मधुराक्षरम्' कहकर कविकोकिल वाल्मीकि की काव्यचेतना की वंदना की जाती है।

इस प्रकार रामायण तन, मन और आत्मा को एक साथ विकसित कर देती है और समस्त प्राणी, चाहे वे किसी भी धर्म के हों, इस अनर्घ रचना से लाभ उठा सकते हैं। यह मानव-मात्र की मार्मिक मधुर कहानी है जो युग युग से जन-मानस को रसाप्लावित करती आ रही है और आगे भी करती रहेगी। अपनी सहज सात्विक सरसता और सारगर्भिता के कारण यह अपने अध्येताओं को स्वस्थ शरीर, निर्मल मन और आलोकित आत्मा से अनुगृहीत करनेवाली अखिल मानवीय अक्षर-भारती है।



2. जिज्ञासा और समाधान

आदि कवि वाल्मीकि की अनर्घ रचना 'रामायण' का प्रारंभ वाल्मीकि और नारद के बीच संवाद के रूप में होता है। महर्षि वाल्मीकि के मन में यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि क्या इस संसार में आजकल कोई ऐसा मानव है जो समस्त सद्गुणों से संपन्न हो और अपने सद्गुणों के कारण देवताओं से भी वरणीय और वरेण्य माना जाए। इस जिज्ञासा का समाधान तीनों लोकों में विचरण करनेवाले त्रिकालवेदी नारद करते हैं। नारद देवर्षि हैं जबकि वाल्मीकि मनीषी महर्षि हैं। जिज्ञासा प्रकट करना मनीषी महर्षि का लक्षण है और उस का समधान प्रस्तुत करना देवर्षि का दायित्व है। जिज्ञासु और ज्ञानी की सुंदर संवाद-योजना का वर्णन रामायण के प्रारंभिक श्लोक में सारगर्भित शब्दों में मिलता है :

तपस्वाध्याय-निरतं तपस्वी वाग्विदांवरम्।
नारदं परिपप्रच्छ वाल्मीकिर्मुनिपुंगवम्॥

इस में वाल्मीकि को केवल तपस्वी कहा गया है जबकि नारद के तीन लक्षण बताए गए हैं—तपस्या और स्वाध्याय में निरत, वाणी के मर्मज्ञों में श्रेष्ठ, पर मौन धारण करनेवालों में महान्। तपस्वी वाल्मीकि तपस्या और स्वाध्याय में निरत और निष्णात नारद से प्रश्न करते हैं। तपस्या से जिज्ञासा उत्पन्न होती है और स्वाध्याय से उस का समाधान मिल जाता है।इन दोनों में सिद्धहस्त नारद को वाणी का वरदान भी प्राप्त है। पर उन की वाणी मौन में अधिक मुखर होती है। उन के मुँह से जो शब्द निकलते हैं, वे इतने सारगर्भित होते हैं कि उन के बीच में जो अनकही बात होती है, उस में भी देवर्षि की वाग्मिता ही प्रकट होती है। इसीलिए नारद-वाक्य के रूप में महर्षि वाल्मीकि रामकथा का जो नवनीत प्राप्त करते हैं, उसी के आधार पर वह रामायण की महानदी को प्रवाहित कर देते हैं। नारद के 'सत्य' को वाल्मीकि 'सुंदर' और 'शिवात्मक' परिधान में प्रस्तुत करते हैं। राम-चरित, राम-तत्त्व और राम-नाम की महिमा जानने के लिए भी इसी प्रकार तपस्या, स्वाध्याय, वाक्-शुद्धि और प्रशांत बुद्धि की आवश्यकता होती है। रामायण जैसी रचना के मंगलाचरण के रूप में प्रस्तुत इस श्लोक का यही आशय है।

वाल्मीकि अपने आदर्श मानव में कुल मिलाकर सोलह गुणों की कल्पना करते हैं और अपने प्रश्न में इन्हीं गुणों का उल्लेख करते हुए पूछते हैं, "आजकल इस संसार में क्या कोई ऐसा आदर्श और परिपूर्ण मानव है जो समस्त सद्गुणों से संपन्न हो?" सब से पहला लक्षण उस परिपूर्ण मानव का 'गुणवान्' होता है। 'गुण' शब्द में सभी गुण आते हैं। गुण शब्द का एक गौण अर्थ है—सूत्र। समस्त ब्रह्मांड (संसार) को अखंड चेतना के सूत्र में पिरोकर प्रत्येक को ब्रह्मांड के साथ जोड़नेवाली जो आत्म-शक्ति है उसे पहचानकर उस का अनुभव करना भी सच्ची गुणवत्ता है। 'गुण' का मतलब बढ़ना भी होता है और वह भी समांतर नहीं, गुणांतर रूप से। दुगुना, तिगुना, चौगुना, सौगुना, हज़ार गुना आदि क्रम से एक ही अखंड आत्मा का विस्तार होता है। वह एक होकर भी अनेक है। विस्तार का यह गुण

व्यक्ति को शक्ति प्रदान करता है। इसीलिए वाल्मीकि अपनी जिज्ञासा का आरंभ 'गुणवान्' शब्द से करते हैं। शेष सभी गुण इस के साथ जुड़े हुए होते हैं।

महर्षि कहते हैं कि मुझे ऐसा व्यक्ति चाहिए जो गुणवान् हो और साथ ही वीर्यवान् (पराक्रमी) भी हो। वह धर्म को भी जानता हो (धर्मज्ञ) और काम करने में भी कुशल (कृतज्ञ) हो। वह सच बेलता हो और अपनी बात का पक्का हो। वह सच्चरित्र हो और दयालु भी हो। वह सब कुछ जानता हो और सही जानकारी के साथ सही दिशा में काम करने की सामर्थ्य भी रखता हो। वह देखने में सुंदर हो। वह अपनी आत्मा को पहचानता हो, अपने को काबू में रखता हो, अनावश्यक क्रोध नहीं करता हो, किसी से ईर्ष्या या द्वेष नहीं करता हो, अपने तेज से आप चमकता हो। वह ऐसा आदमी हो जिसे देखकर देवता भी काँप उठते हों।

यह था-महर्षि के स्वप्नों का मानव। यह सब सुनकर आरंभ में नारद कहते हैं कि इतने दुर्लभ गुणों का एक व्यक्ति में एक साथ होना बहुत ही कठिन है। फिर भी नर-नारायण के संधायक नारद एक बार समस्त सृष्टि पर विहंगम दृष्टि फैलाकर कहते हैं, "हाँ, एक व्यक्ति है जिसको लोग राम के नाम से जानते हैं। इक्ष्वाकु वंश में इनका जन्म हुआ। वह अपने को जानते और पहचानते हैं। इसीलिए सब लोग उनको मानते हैं। उनके शरीर में दिव्य तेज है, मन में धैर्य है, उनकी बुद्धि प्रखर है, बात करने में मधुर हैं, शत्रुओं को पराजित करने में सक्षम हैं और अपने को काबू में रखने में कुशल हैं। उनका शारीरिक सौंदर्य और सौष्ठव इतना आकर्षक है कि उनको जितना देखा जाता है, उतना और देखने की इच्छा होती है। सधे हुए कंधे, लंबी-लंबी भुजाएँ, शंख के आकार का सुंदर कंठ, खुली हुई छाती, हाथ में धनुष-बाण, घुटनों तक फैली हुई भुजाएँ, स्वच्छ रक्त को संचारित करने वाली शिराएँ, शून्य को पूर्ण बनाने वाला सुंदर ललाट, अंग अंग में चिकनाहट, सुंदर नयन आदि सभी अच्छे लक्षण उनके व्यक्तित्व को दिव्य शोभा प्रदान करते हैं। ऐसा लगता है कि शरीर के सभी अंग अपने अपने अनुपात की मर्यादा में हैं। शरीर जितना सुंदर है, मन उतना पावन है। सत्य और धर्म के साथ उनका जीवन ओत-प्रोत है। वह अपनी भलाई के बारे में कम सोचते हैं और दूसरों की भलाई के बारे में अधिक। सब लोग उनका गुणगान करते हैं। संसार में ऐसी कोई बात नहीं है जिसे वह नहीं जानते। बाहर से और भीतर से सदा सर्वदा और सर्वथा वह पवित्र आचरण करते हैं। इतने महान् होते हुए भी उनके पास साधारण से साधारण व्यक्ति भी पहुँच पाता है। अपने निश्चय से वह कभी विचलित नहीं होते। समाधि उनके लिए प्रकृतिसिद्ध उपलब्धि है। प्रजापति के समान वह जनहित की भावना रखते हैं। संसार के प्रत्येक प्राणी के प्रति उनके मन में दया की भावना है। धर्म की रक्षा उनके जीवन का लक्ष्य है। वह अपने धर्म का भी पालन करते हैं और अपने सगे-संबंधियों से धार्मिक और सांसारिक संबंध भी रखते हैं। वेंद-वेदांग में वह पारंगत हैं और धनुर्वेद में उनकी विशेष दक्षता है। ऐसा कोई शास्त्र नहीं है जिसका उन्हें पूरा-पूरा ज्ञान न हो। वह हर बात को याद रखते हैं। उनकी प्रतिभा पल पल पर नवीनता का सृजन करती है। उन को सब अच्छे लगते हैं और सब को वे अच्छे लगते हैं। वह दिल के सच्चे हैं और कभी अपने दिल को छोटा नहीं होने देते। कौन-सी बात सही है और कौन-सी गलत, इसे वह अच्छी तरह से जानते हैं। अच्छे लोग अक्सर उनके पास बार-बार जाना पसंद करते हैं जैसे नदियां समुद्र में जाकर मिलने के लिए लालायित रहती हैं। वह सब को समान दृष्टि से देखते हैं और सब लोग उनको प्यार से अपनाते हैं। कौसल्या का वह लाडला बेटा सभी गुणों से संपन्न संपूर्ण मानव है। वह समुद्र की तरह गंभीर है, हिमालय की तरह अचल है, विश्वव्यापी भगवान् विष्णु की तरह पराक्रमी है, चंद्रमा की तरह सुंदर है और साथ ही आवश्यक होने पर प्रलयानल की तरह प्रचंड रूप भी धारण करता है। साथ ही, स्वभाव से वह पृथ्वी की तरह क्षमाशील हैं। दूसरों को अपना सर्वस्व देने में वह कुबेर के समान हैं। संक्षेप में उनके बारे में यही कहा जा सकता है कि वह सत्य के मामले में धर्म के अवतार हैं।

इस प्रकार के समस्त सद्‌गुणों से संपन्न सत्यपराक्रम राम को राजा दशरथ अपना उत्तराधिकारी बनाकर राजतिलक का आयोजन करते हैं। पर बीच में छोटी रानी कैकेयी अपने खोटे मन से वरदान की कुछ पुरानी बात उठाकर राजतिलक में बाधा डालती है और चाहती है कि राम के स्थान पर भरत का राजतिलक हो। सत्य और धर्म के बंधन में जकड़े हुए राजा के सामने इसके लिए कोई जवाब नहीं मिलता। उन्हें लाचार होकर राम को वनवास की अनुज्ञा देनी पड़ती है। लेकिन राम इसमें प्रसन्नता का अनुभव करते हैं। उनके साथ-साथ उनके छोटे भाई लक्ष्मण विनीत भावना से उनकी सेवा शुश्रुषा करने के लिए अपनी इच्छा से वनवासी बन जाते हैं। राम की पत्नी सीता, जो कि उनके लिए प्राणों से भी अधिक प्यारी है और राजा जनक के महान् वंश में देवमाया की तरह जन्मी है, राम के साथ वनवास के लिए निकलती है। असल में राम जब वन के लिए प्रस्थान करते हैं तो सारी अयोध्या उनके साथ जाने को तैयार हो जाती है। परंतु राम के मना करने पर लोग लाचार होकर वापस आ जाते हैं।

वनवास के लिए कृतसंकल्प राम सीता और लक्ष्मण को साथ लेकर कई वनस्थलियों को पारकर शृंगवेर तक पहुँच जाते हैं और वहीं के राजा गुह की सहायता से गंगा नदी को पारकर भरद्वाज के आश्रम में महर्षि के दर्शन करते हैं। महर्षि के कहने पर सीता, राम और लक्ष्मण चित्रकूट में एक छोटी पर्णकुटी बनाकर सुंदर वन में स्पृहणीय जीवन बिताने लगते हैं।

इधर अयोध्या में पुत्रशोक से व्याकुल होकर राजा दशरथ प्राण छोड़ देते हैं। मंत्री और पुरोहित भरत को उत्तराधिकारी बनाने का प्रयास करते हैं। लेकिन भरत का मन अधर्म के विरोध में विद्रोह करने लगता है। सत्यपराक्रम राम को समझा-बुझाकर अयोध्या वापस लाने के लिए भरत चित्रकूट पहुँच जाते हैं। दोनों भाई एक-दूसरे को यह समझाने का प्रयास करते हैं कि "राजा तुम हो, मैं नहीं।" आखिर राम के प्रतिनिधि के रूप में उनकी पादुकाओं को लेकर भरत वापस आते हैं, पर अयोध्या में नहीं रहते। नंदिग्राम को अपनी तदर्थ राजधानी या सच पूछा जाए तो 'तपोधानी' बनाकर रहते हैं और तपोमय जीवन व्यतीत करते हुए राम के नाम से राज्य चलाते हैं।

चित्रकूट के समागम से राम के मन में यह शंका बराबर बनी रहती है कि अयोध्यावासी कहीं फिर उन्हें ढूँढते हुए न आ जाएँ। इसलिए वह दंडक वन में पहुँच जाते हैं जहाँ महर्षियों और महासुरों को छोड़कर और किसी की पहुँच नहीं है। यहीं पर विराध जैसे राक्षसों से भी राम को लड़ना पड़ता है और साथ ही शरभंग, सुतीक्ष्ण, अगस्त्य आदि महर्षियों के दुर्लभ दर्शन से भी लाभान्वित होने का अवसर मिलता है। अगस्त्य के माध्यम से राम को अक्षय तूणीर, दिव्य खड्ग और इंद्रधनुष जैसे हथियार मिल जाते हैं। इन हथियारों का प्रयोग वह केवल राक्षसों के संहार के लिए करते हैं। वनवासी ऋषियों के अनुरोध पर राम इस बात की प्रतिज्ञा करते हैं कि वह दुष्टों का संहार कर शिष्टजनों की रक्षा करेंगे।

इसी बीच एक रोचक घटना घटती है। रावण की बहिन शूर्पणखा दंडक वन में कोदंडपाणी राम को देखकर काम से मोहित हो जाती है और अपने को सर्वांग सुंदरी बताकर राम से प्रेम की याचना करती है। राम और लक्ष्मण शूर्पणखा के साथ परिहास करते हैं और उसके आक्रमण से सीता को बचाने के लिए उस के नाक-कान काट देते हैं। अपमानित शूर्पणखा अपने भाई खर-दूषण आदि को राम के साथ युद्ध करने भेजती है। चौदह हजार राक्षस पलभर में राम के शरबल के शिकार बन जाते हैं। प्रतिहिंसा की ज्वाला से जलती हुए शूर्पणखा रावण को ये सारी बातें बढ़ा चढ़ाकर बताती है। रावण मारीच की सहायता लेकर राम के आश्रम में राम और लक्ष्मण की अनुपस्थिति में पहुँच कर सीता को चुरा ले जाता है। सीता के विरह में राम व्याकुल होकर निर्जन वन में विलाप करते हैं। सीता का पता बताने वाले जटायु का प्रेम और आदर के साथ अंतिम संस्कार संपन्न करके राम और लक्ष्मण सीता की खोज में चल पड़ते हैं। रास्ते में कबंध नाम के

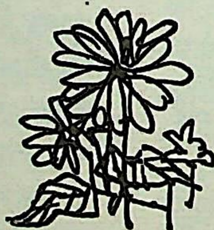
राक्षस के माध्यम से वानर-राज सुग्रीव, धर्मशील शबरी और पंपा नदी का पता चलता है। युगों से राम की प्रतीक्षा करने वाली शबरी राम को आतिथ्य देकर आत्म-सायुज्य प्राप्त करती है।

पंपा नदी के किनारे किष्किंधा के राजा सुग्रीव के साथ राम मैत्री का संबंध जोड़ लेते हैं। राम और सुग्रीव दोनों पत्नी के वियोग से पीडित हैं, इसलिए एक-दूसरे की सहायता करने के लिए दोनों राज़ी हो जाते हैं। सुग्रीव स्वभाव से शंकालु हैं, किसी पर विश्वास नहीं करते। उन्हें विश्वास दिलाने के लिए राम अपने अलौकिक पराक्रम का प्रदर्शन करते हैं। उसके बाद वह वालि का संहार कर सुग्रीव को किष्किंधा का एकमात्र शासक बना देते हैं। सुग्रीव की आज्ञा पाकर करोड़ों वानर सीता की खोज में चल पड़ते हैं। उनमें से हनुमान् को सफलता मिलती है। विशाल सागर को पारकर लंकापुरी में वह न केवल माता सीता के दर्शन करते हैं बल्कि सीता को धमकी देकर स्वाधीन बनाने की चेष्टा में लगे हुए दुष्ट रावण को सबक सिखाकर, लंका को जलाकर, सीता को विश्वास दिलाकर और माता की मंगलकामना लेकर राम के पास वापस आते

इसके बाद सागर पर सेतुबंधन हो जाता है और सारी वानर-सेना के साथ राम सागर को पारकर लंका में पहुँच जाते हैं। राम और रावण के बीच भयंकर युद्ध होता है और अंत में राम की विजय होती है। अरसे से राम के लिए तड़पती हुई सीता के साथ राम बड़ा निष्ठुर व्यवहार करते हैं और उनकी कठोर बातें अग्नि से भी अधिक ज्वलनशील लगती हैं। इससे दुःखी होकर सीता आग में कूद पड़ती हैं। पर अग्निदेवता सीता कोहैं शुद्ध सिद्ध कर राम को सौंप देते हैं। इस पर राम प्रसन्न होते हैं और अनेक देवी-देवताओं का वरदान लेकर विभिषण को लंका का राजा बनाकर अयोध्या वापस आते हैं। रास्ते में भरद्वाज के आश्रम में थोड़ी देर के लिए रुकना नहीं भूलते हैं। भरद्वाज के आश्रम से हनुमान् के माध्यम से भरत के पास सत्यपराक्रम राम के पुनरागमन का समाचार पहुँच जाता है। राम पहले नंदिग्राम में जाते हैं और वहाँ अपनी दीक्षा का समापन करके अयोध्या पहुँच जाते हैं। सबके अनुरोध पर चिर-प्रतीक्षित राम का राजतिलक संपन्न होता है।

रामराज्य में सब लोग प्रसन्न रहते हैं, सब लोग धर्मपरायण होते हैं, किसी को कोई बीमारी नहीं होती, कभी अकाल नहीं पड़ता, किसी को किसी से किसी प्रकार का भय नहीं होता। स्त्री-पुरुष, बच्चे-बूढ़े सब अपने कर्तव्यों का पालन करते हैं। आग, पानी और हवा से कभी कोई प्राकृतिक प्रकोप नहीं होता, कोई रोग ग्रस्त नहीं होता। रामराज्य में कहीं ढूँढ़ने पर भी भूखा आदमी नहीं मिलता और न कोई चोरी करता है। धरती हरी-भरी फलती-फूलती दिखाई देती है। दूसरों को देने में लोगों को जितना आनंद होता है, उतना दूसरों से लेने में नहीं। हजारों वर्षों तक यह रामराज्य चलता है और अंत में राज्य की उपासना विधिवत् संपन्न करके राम अपने उद्गम स्थान में पहुँच जाते हैं।

यही रामकथा है जो नारद ने संक्षेप में वाल्मीकि को बताई। यही वाल्मीकीय रामायण का आधार है। इसी को लोग मूल रामायण, बालरामायण, संक्षिप्त रामायण या नारद रामायण कहते हैं। आधार यही है, आकार अनेक हैं।



3. प्रेरणा और प्रणयन

तपस्या में लीन तत्त्वार्थी वाल्मीकि वाक्य-विशारद नारद से अपनी प्राकृतिक जिज्ञासा का प्रशस्य समाधान प्राप्त कर लेते हैं। लेकिन यह समाधान केवल उन के मानस में प्रतिष्ठित रहे, तो इससे कोई लाभ नहीं हो सकता। महर्षि की मनस्विता उसे हृदयंगम बना कर मुनि-मानस से जन-मानस तक संप्रेषित करना चाहती है। यह तभी संभव है जब मन को हृदय का सहारा मिले। नारद के वाक्य से वाल्मीकि का मन तो प्रसन्न होता है, पर हृदय की प्रफुल्लता का संबल पाकर उस प्रसन्नता को अभी व्यापक रूप धारण करना है। तभी रामकथा की रमणीय माधुरी का रसास्वादन केवल तपस्वी, मनस्वी या महर्षि की विविक्त चेतना तक सीमित न रह कर जन-मन की सामासिक भावभूमिका को आप्लावित कर सकेगा।

इस के लिए तपस्या, स्वाध्याय, वाग्मिता और संयम से संपन्न सहृदय साधक वाल्मीकि तमसा नदी के तट पर जाकर तरल पयस्विनी के सहज़, स्वच्छ और सरल प्रवाह को देखकर मन ही मन प्रसन्न हो जाते हैं और अपनी प्रसन्नता अपने प्रिय शिष्य भरद्वाज के सामने प्रकट करते हुए कहते हैं :

अकर्दममिदं तीर्थं भरद्वाज निशामय।
रमणीयं प्रसन्नांबु सन्मनुष्य-मनो यथा॥

"सुनो भरद्वाज, उधर देखो, नदी का पानी मंद मंद मधुर निनाद करते हुए कितना निर्मल बह रहा है। कहीं कीचड़ का आभास तक नहीं है। जितनी देर इसे देखें, उतना और देखने की इच्छा हो रही है। कितनी सुंदर और कितनी प्रसन्न धारा है। सज्जन के मन की तरह तमसा की यह धारा बह रही है।"

अभी कुछ ही क्षण पहले देवर्षि नारद के मुँह से महर्षि वाल्मीकि ने चंद्रमा की तरह प्रिय लगनेवाले राम का गुणगान सुना है, अब गंगा से कुछ ही दूर बह रही तमसा की तरल तरंगों को देख रहे हैं। इसलिए नदी की निर्मल उर्मिलता को देखकर मुनि के मन में राम की रमणीयता और रामकथा की प्रसन्नता का स्मरण हो आना बिलकुल स्वाभाविक है। नदी केवल दिखाई नहीं देती है, बल्कि सुनाई भी देती है। इसलिए वाल्मीकि भरद्वाज से नदी का प्रवाह सुनने को (निशामय) कहते हैं। संसार में सुनने योग्य समस्त श्रुति-सुधा का सार समदर्शी ऋषि को तमसा के तीर्थ (पानी) में दिखाई देता है। नारद की बात सुनते समय वह द्रष्टा और श्रोता दोनों बन जाते हैं। द्रष्टव्य और श्रोतव्य (देखने और सुनने योग्य) दोनों को वह सन्मनुष्य के मन की तरह स्वच्छ और स्वच्छंद बहनेवाली प्रसन्न पुण्यधारा में प्राप्त करते हैं। प्रभात के समय केवल नदी में स्नान करने की इच्छा से आए हुए प्राचेतस वाल्मीकि इतने प्रसन्न हो जाते हैं कि वह कलश को किनारे रखवाकर वल्कल पहने नदी के तट पर टहलने में ही आनंद का अनुभव करते हैं। इस से इस बात की ओर भी संकेत मिलता हैं कि नदी के तट पर टहलते समय उन के मन में अनेक विचार उठ रहे हैं। अभी अभी नारद के मुँह से सुनी हुई सुंदर कथा के सुंदरतर दृश्य उन की

कल्पना की आखों के सामने सुंदरतम और सूक्ष्म भाव-तरंगें प्रस्तुत कर रहे हैं। आंतरिक आनंद से पुलकित मन सामने नदी के स्वर में स्वर मिलाकर मुखरित हो रहा है।

बिलकुल उसी समय मुनि के कोमल मन को आघात पहुँचानेवाली एक करुणाजनक घटना घटती है। पेड़ पर दो क्रौंच पक्षी सुबह की सुहावनी हवा के मीठे-मीठे झोकों में झूम झूम कर एक दूसरे को चूमते हुए प्राकृतिक आनंद में मस्त रहते हैं। इतने में एक निषाद उस जोड़े में से एक—नर-पक्षी को तीर से मार गिराता है। बिचारा पक्षी खून से लथपथ होकर पंख फड़फड़ाते हुए नीचे गिर पड़ता है। उस की संगिनी अचानक अपने को अकेली पाकर रो उठती है। उस के चेहरे पर अब भी लज्जा की लालिमा दिखाई दे रही है। यह दारुण दृश्य देख कर धर्मात्मा महर्षि का हृदय तड़प उठता है। उन के मुँह से अनायास ये शब्द निकलते हैं:

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समा :।
यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

"अरे, निषाद, तुमने यह क्या किया? पक्षियों के इस जोड़े ने तुम्हारा क्या बिगाड़ा था? अकारण और अचानक उन के मिलन के आनंद को तुम ने क्यों मिट्टी में मिला दिया? अपनी निष्ठुरता का फल तुम भोगोगे। सैंकड़ों वर्षों तक ही नहीं, बल्कि अनंत काल तक तुम्हारे जीवन में प्रतिष्ठा नाम की कोई चीज़ नहीं रहेगी, न कोई तुम्हारे लिए जीनेवाला होगा और न तुम किसी के लिए जी सकोगे।"

जैसे ही ये शब्द महर्षि के मुँह से निकलते हैं, उन्हें स्वयं आश्चर्य होता है कि यह उन को क्या हो गया। कभी किसी पर क्रोध न करनेवाले को अचानक इतना गुस्सा क्यों आया? और वह भी सुंदर शब्दों में छंद के पद-बंध में! शोकाकुल महर्षि अपनी चिंता और आश्चर्य अपने शिष्य को समझाते हैं। उन के पास खड़े-खड़े उन के प्रिय शिष्य भरद्वाज सब कुछ देख-सुन रहे थे। उन्हें विश्वास हो गया कि आज उन के गुरु के मन में कुछ अलौकिक घटना घट रही है। सबेरे उठते ही अमृतवेला में नारद की बात पर मनन करना, उस के बाद कुछ ही क्षणों में तमसा नदी का तरल प्रवाह देखकर पुलकित होना और अब पक्षियों के जोड़े की पीड़ा देखकर दयामय तपस्वी के दिल का तड़प उठना यह सब यों ही नहीं हुआ है। इन सब घटनाओं के पीछे कोई देवी प्रेरणा है। वैसे, तमसा नदी में स्नान करना और नदी के तट पर प्राकृतिक सौंदर्य देखना महर्षि के जीवन में प्रायः प्रतिदिन होनेवाली दिनचर्या है। लेकिन आज का दिन कुछ असाधारण-सा लग रहा है। यह बात गुरु शिष्य दोनों अनुभव कर रहे हैं। सब से आश्चर्य की बात यह है कि महर्षि के शोकाकुल हृदय से निकले हुए शब्दों ने श्लोक का रूप धारण कर लिया है। यह बिलकुल सहज रूप से हुआ है। इसलिए इस के पीछे कोई महत्तर रहस्य है, भगवत्तर संकल्प है।

प्रथम कवि वाल्मीकि का यह पहला छंद सारस्वत जगत् में एक संसरणीय और रमणीय परंपरा को प्रतिष्ठित करता है। इस में 'प्रतिष्ठा' शब्द का प्रयोग विशेष ध्यान देने योग्य है। उपनिषदों में उपन्यस्त "जगतः प्रतिष्ठा" (संसार का सार) ही यहाँ पर प्रकारांतर से प्रस्तुत है। प्रतिष्ठा दो प्रकार की होती है- ऐहिक या लौकिक और आमुष्मिक या पारलौकिक। लौकिक प्रतिष्ठा तात्कालिक और सीमित होती है और पारलौकिक प्रतिष्ठा स्थायी, शाश्वत और सार्वत्रिक होती है। नचिकेता जैसे ज्ञानियों ने सांसारिक प्रतिष्ठा को ठुकराकर शाश्वत प्रतिष्ठा को वरीयाता दी और उसी वरेण्य को वरणीय माना है। आदि कवि के इस प्रारंभिक छंद (श्लोक) में इसी शाश्वत प्रतिष्ठा की ओर मार्मिक संकेत मिलता है। लेकिन ये शब्द कवि के मुँह से अनायास निकले हैं। इसीलिए इस को सारस्वत साधना में सफलता प्राप्त शब्दजीवियों की समाहित वाणी माना गया है और यही समाधि-भाषा परवर्ती कवियों के लिए अक्षय पाथेय बन गई है।

लेकिन अक्षर-जगत् को अक्षय यश प्रदान करनेवाले ये शब्द अनायास निकलने पर भी अचानक आविष्कृत नहीं हुए। इस घटना के पीछे जन्म-जन्मांतर

की साधना छिपी हुई है, अपने भौतिक शरीर को आच्छादित करनेवाले वल्मीक (बांबी) की परवाह न करनेवाले प्राचेतस की पर-निरपेक्ष तपस्या निहित है और सब से बढ़कर प्रेम और करुणा से ओतप्रोत सन्मनुष्यता की सात्विक भावना का संबल है।

नारद के मुँह से सत्यपराक्रम के सात्विक जीवन की सुखद कथा सुनने के बाद वाल्मीकि को सज्जन के मन की तरह बहनेवाली सरिता का सरस प्रवाह दिखाई देता है। इस से महर्षि का मन प्रेम से पुलकित हो जाता है। लेकिन दूसरे ही क्षण अकारण निरीह प्राणियों की निर्मम हत्या करनेवाला निष्ठुर निषाद देखने को मिलता है। इस से कवि की करुणा जाग उठती है। संसार जितना सुंदर है, उतना निष्ठुर भी है। सत्य के सौंदर्य को संसार चाहे तो शिव साधना का रूप देकर सांसारिक जीवन को सुखमय और मधुमय बना सकता है और साथ ही अमंगल भावना से आनंद को भी विषाद में बदल सकता है। मानव-मन की अपरिमेय माया के मोह में पड़ कर आदमी शैतान भी बन सकता है और आत्मा की अखंड चेतना को आत्मसात् कर अग-जग को आनंद का नंदन भी बना सकता है। इन दोनों मार्गों के बीच प्रतिष्ठत मानव-मन का मनन करते करते महर्षि वाल्मीकि अपने शिष्य भरद्वाज के साथ फिर अपने आश्रम में पहुँच जाते हैं। लेकिन उन के मन में निरंतर वही निर्मल जल और निष्ठुर निषाद विचरण करते हैं। सारा संसार उन को प्रेम और करुणा के आधार पर प्रतिष्ठित दिखाई देता है। नारद के द्वारा प्रतिपादित रामकथा के प्रत्येक अक्षर में उन को इन्हीं दो मौलिक मनोवृत्तियों की मार्मिक व्याख्या का स्फुरण होता है। हर काम में, हर बात में और हर घड़ी में उन्हें जीवन के इन दोनों पहलुओं की सजीव अभिव्यंजना दिखाई देती है।

मनन के इस महनीय समय में सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा का महर्षि के आश्रम में शुभागमन होता है। अचानक विश्वविधाता को अपने सामने पाकर वाल्मीकि पुलक उठते हैं और परम आदरणीय अतिथि का सादर स्वागत-सत्कार करते हैं। ब्रह्मा के सामने भी वाल्मीकि अपनी उसी वेदना को प्रकट करते हैं जो क्रौंच पक्षियों के जोड़े के आकस्मिक और अकारण वियोग को देखने पर उन के मन में उत्पन्न हुई। सृष्टिकर्त्ता मुस्कुराकर कहते हैं कि इस में आश्चर्य की कोई बात नहीं हैं। इस मायामय जगत् में शोक और मोह के कारण ही मनुष्य में चेतना जाग उठती है और उसी चेतना के बल पर सर्वात्म भावना का उदय होता है। इसलिए महर्षि का शोकाकुल मन किसी शुभोदय का कारण बननेवाला है। शोकाकुल हृदय से निकला हुआ श्लोक संसार को जीवन का सार प्रदान करनेवाला अक्षय पाथेय सिद्ध होगा। इस भूमिका के साथ वाणी के स्वामी ब्रह्मा ब्रह्मर्षि वाल्मीकि को इसी भाव-भूमिका के आधार पर रामकथा का प्रणयन करने की प्रेरणा प्रदान करते हैं और साथ ही यह आशीर्वाद देते हैं कि मेरी प्रेरणा से तुम्हारे मुँह से निकलनेवाली यह रामकथा-भारती तब तक संसार में संचरित होगी जब तक पहाड़ों में स्थिरता हो और नदियों में गतिशीलता हो। राम चरित, राम तत्त्व और राम नाम में भी इसी प्रकार की रमणीयता और गतिशीलता का सामंजस्य है।

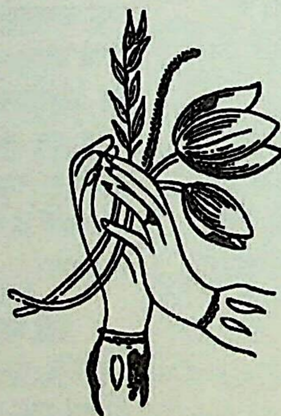
ब्रह्मा के मानसपुत्र नारद से रामकथा का श्रवण करने के बाद साक्षात् ब्रह्मा आकर वाल्मीकि को इस मधुर कथा को अजरामर अक्षर भारती का रूप देने की प्रेरणा प्रदान करते हैं। विधि की ओर से आदिकवि को यह आश्वासन भी मिलता है कि इस अद्भुत गाथा में प्रकट और अप्रकट दोनों पक्ष उन के लिए सुलभ और सुबोध हो जाएंगे। साथ में यह वरदान भी मिलता है कि महर्षि के मुँह से जो कुछ निकलेगा, वह सच निकलेगा।

इसी प्रेरणा के बल पर रामकथा के अमर गायक वाल्मीकि अपने काव्य का प्रणयन प्रारंभ करते हैं। कथा के सारे दृश्य एक एक करके महर्षि के मनःपटल पर अंकित होते जाते हैं और उन को वाणी के मर्मज्ञ कवि उपयुक्त अक्षर, शब्द, समास, संधि, अलंकार, अभिव्यंजना आदि में गूँथते चले जाते हैं। राम के जन्म से लेकर राजतिलक तक की सारी घटनाएँ काव्यबद्ध हो जाती हैं।

चौबीस हज़ार श्लोकों का बृहत् काव्य देखते ही देखते बन जता है। अब इस को संसार में प्रसारित करने की बात शेष रहती है। इस काम को वाल्मीकि के आश्रम में पैदा होकर पल रहे बालक लव और कुश संकेत मात्र से सहर्ष स्वीकार करते हैं। बचपन में ही महर्षि की शुश्रूषा में संगीत, साहित्य और दर्शन में निष्णात दोनों बालक प्रतिदिन प्रणेता के चरणों में बैठकर रामकथा का गायन करते करते उसमें प्रवीण बन जाते हैं। देखने में सुंदर और गाने में मधुर कंठ वाले दोनों बालकों का कथा-कीर्तन कुछ ही दिनों में आश्रमवासियों में अत्यंत लोकप्रिय बन जाता है। जहाँ पर कोई विशेष समारोह हो, विद्वत्परिषद् की बैठक हो, वहाँ पर लव-कुश का रामकथा-गायन कार्यक्रम का एक अनिवार्य अंग बन जाता है।

बालकों के गायन पर प्रसन्न आश्रमवासी उन्हें नाना प्रकार के उपहार भेंट करते हैं। कोई जलपात्र देता है तो कोई वल्कल वस्त्र, कोई मृगचर्म देता है तो कोई जनेऊ, कोई कमंडलु देता है तो कोई मेखला भेंट करता है। कोई आसन देता है तो कोई कौपीन, कोई कुल्हाड़ी देता है तो कोई काष्ठबंध, कोई जटाबंधन देता है तो कोई समिधाओं की बनी बनाई गठरी। कुछ लोग केवल आशीर्वाद देते हैं। कुछ सत्यवादी अयाचित वरदान देते हैं। सब लोग मुक्त कंठ से बालकों के गायन की प्रशंसा करते हैं और साथ ही परवर्ती कवियों को काव्य-रचना का आधार प्रदान करनेवाली प्रशस्त रचना की भी।

धीरे धीरे लव-कुश राम की राजधानी में पहुँच जाते हैं। राजमार्ग में एक दिन उन का गायन सुनकर राजा राम का रथ रुक जाता है। बालकों की रूप-माधुरी और स्वर-लहरी से प्रभावित होकर राम उन को राजभवन में ले जाते हैं। चारों भाई दोनों भाइयों के मुँह से आत्मा को प्रबुद्ध करनेवाली अमर कथा का मधुर गायन सुनकर अंत में असलियत को जान लेते हैं। इस के फलस्वरूप चिर विरह से पीडित सीता को एक बार फिर रामचंद्र का दर्शन-भाग्य प्राप्त होता है। राजशासन जिनको अलग करता है, काव्य-गायन उनको जोड़ देता है। यही आदिकाव्य का प्रयोजन है और आदिकवि का अभीष्ट परमार्थ है।



4. सत्यपुरी में सत्यसंध

वाक्य विशारद नारद की वाग्विदग्धता, तमसा जल की उर्मिल निर्मलता, क्रौंच मिथुन की करुण पुकार, और वाणीवल्लभ का वरदान सब के सम्मिलित सहयोग से आदिकवि की अमर लेखनी से रामायण का प्रणयन संपन्न हो जाता है । प्रेरणा के इन प्रत्यक्ष उपादानों के अतिरिक्त एक प्रच्छन्न किंतु प्रबल आधार भी था जो कि वाल्मीकि के आश्रम में ही विद्यमान था । लोकनायक राम के द्वारा लोकापवाद के भय से परित्यक्त होकर महर्षि की वात्सल्यमयी छाया में पलनेवाली पतिप्राणा साध्वी सीता माता का सान्निध्य ही यह आधार है । प्रणयन के पग पग पर रामपत्नी का रागात्मक सहयोग भावभोगी वाल्मीकि की काव्य-योजना में अत्यंत उपयोगी रहा होगा । प्रणयन के पश्चात् सीताराम के युगल पुत्र और कुशल गायक कुश-लव के सहयोग से काव्य के प्रचार और प्रसार में भी प्रशस्त योगदान मिला है ।

रामकथा का गायन करते करते जब बाल गायक कुश-लव राम के दरबार में पहुँचते हैं तो पहले पिता-पुत्र एक दूसरे को पहचानते नहीं हैं, केवल गायक और श्रोता के रूप में दोनों अपनी ही कथा के श्रवण का आनंद लेते हैं । कथा का उपक्रम प्रजापति की प्रजोत्पत्ति से लेकर प्रजारंजक राम-राज्य तक समस्त वसुंधरा का शासन करते चले आ रहे इक्ष्वाकु वंश के राजाओं के गुणगान से होता है । इसी राजवंश में सगर जैसे राजा हुए जिन्होंने अपने साठ हज़ार पुत्रों से सागर खुदवाया था । इसी वंश में रामायण की अद्भुत घटना घटी थी । इसी घटना को वाल्मीकि ने काव्यबद्ध किया और लव-कुश ने स्वर, लय और राग-रागिनियों के माध्यम से उसे श्रुतिमधुर बनाया ।

पिता अपनी कहानी अपने पुत्र के मुँह से सुनते हैं और इसी में रामकथा की सार्वभौमिकता है । वह केवल राम की कहानी नहीं है, प्रेम की कहानी है, त्याग की कहानी है, सत्यपराक्रम की सनातन विजय की कहानी है, जीवन की चिरंतन समस्याओं के शाश्वत समाधान की कहानी है । वह एकांत होते हुए भी विशाल, विराट् और विश्वव्यापी है । इसीलिए कथा का प्रारंभ इसी विश्व- जनीन भावना से होता है :

सर्वा पूर्वमियं येषां आसीत् कृत्स्ना वसुंधरा ।
प्रजापतिमुपादाय नृपाणां जयशालिनाम् ॥

इक्ष्वाकूणामिदं तेषां राज्ञां वंशे महात्मनाम् ।
महदुत्पन्नमाख्यानं रामायणमितिश्रुतम् ॥

आश्रमवासी राजकुमारों की इस रस-भास्वर स्वर-लहरी में रामायण को 'श्रुति' का गौरव मिलता है । आदिकवि के श्रीमुख से वे जो कुछ सुन लेते हैं (श्रुतम्) उसी को याद कर (स्मृतम्) वे उस का प्रचार-प्रसार (प्रवर्तन) करते हैं । इसीलिए वह धर्म, काम और अर्थ का साधक बनता है । लेकिन इस के लिए यह ज़रूरी है कि दोष-दृष्टि को छोड़ कर गुण-संग्रह की पुनीत भावना से (अनसूयया)इस का श्रवण, मनन और अनुशीलन किया जाए ।

कोसल नाम के महान् जनपद में अयोध्या नाम की विश्वविख्यात विशाल नगरी, अमरलोक में

अमरावती की तरह, सभी दृष्टियों से आदर्श नगर के रूप में अवस्थित और आवासित थी । इक्ष्वाकु वंश के राजाओं के प्रशस्त शासन में यह नगरी लौकिक संपत्ति तथा अलौकिक आलोक से पूर्ण और संपन्न होकर अपने नाम 'अयोध्या' को सार्थक सिद्ध कर रही थी । समरनीति (युद्ध) के द्वारा जिसे स्वाधीन (साध्य) नहीं किया जा सकता है, वही अयोध्या है । स्वनामधन्य होने के कारण इसे 'सत्यपुरी' भी कहा जा सकता है । सार्वभौम सत्ता (भूत्त्व) के अतिरिक्त सार्वजनिक सश्रीकता (श्रीत्त्व) से भी संपन्न होने के कारण इसे 'श्रीमती' भी कहा गया है । इस प्रकार अयोध्या, श्रीमती और सत्यपुरी एक ही वस्तु या आवास के तीन गुण-नाम या पदनाम हैं । आगे चलकर इस त्रिगुणात्मक नगरी का जो गुणगान किया जाता है, उससे इस बात की ओर संकेत मिलता है । यह वही नौ, ग्यारह या बारह दरवाज़ों की नर-नगरी है जो नश्वर होते हुए भी अविनश्वर (अयोध्या), अस्थिचर्ममय होते हुए भी अनंत सौंदर्य से ओतप्रोत (श्रीमती) और असत् प्रतीत होते हुए भी सत्य सनातन सत्ता से चिरसम्मित (सत्यपुरी) थी । इस नगरी को दस इंद्रियों का स्वामी (दशरथ) इंद्रिय-रथ पर बैठकर अतीन्द्रिय और बुद्धिग्राह्य शासन-प्रणाली के माध्यम से सत्य के बल पर आवासित और अनुशासित करता था । मानवेन्द्र मनु के द्वारा स्वयं बनाई और बसाई गई इस महापुरी का वर्णन पद, वाक्य और प्रमाण में परिनिष्ठित प्राचेतस की वाणी में लौकिक तथा लोकोत्तर गरिमा को प्राप्त करता है ।

बारह (दशच द्वेच) योजन लंबी और तीन योजन चौड़ी इस महापुरी का राजमार्ग सुविभक्त महापथों से सुव्यवस्थित दिखाई देता था । प्रतिदिन पानी से सिंचित होने के कारण नगर के मार्ग साफ सुथरे और दोनों तरफ लगाए गए पेड़ों के खुशबूदार फूलों से अलंकृत दिखाई देते थे । वहाँ के बड़े-बड़े किवाड़ों और फाटकों में सुरक्षा के अतिरिक्त शिल्प-चातुरी का भी प्रमाण मिलता था । जगह जगह पर हथियारबंद सिपाही नागरिकों के दैनंदिन जीवन में सुख-शांति को सुनिश्चित करते थे, तो ऊँची ऊँची अट्टालिकाओं से आनंद की पताकाएँ फहराई जाती थीं । बाग-बगीचों में लोग निश्चिंत और निर्भय होकर सुबह शाम टहलते थे और पर्व-त्यौहारों में नृत्य, संगीत और नाटक आदि के द्वारा अपना मन बहलाते थे ।

राजभवन दुर्गम दुर्ग की तरह मज़बूत और मनोहर था । वह सुंदर होते हुए भी सुदुर्लभ था । प्रजा के लिए सुलभ, पर शत्रुओं के लिए दुर्लभ । अनेक देशों के राजा प्रतिदिन राजा दशरथ के दर्शन के लिए बहुमूल्य उपहार लेकर आया करते थे । आकाश को छूनेवाले महल रत्नों के पहाड़ों की तरह दिखाई देते थे । अमरावती में अमरेन्द्र की तरह अयोध्या में राजा दशरथ का राज्य चलता था । नगर के चारों तरफ खेतों की हरियाली और नगर के भीतर घर घर में नर-नारियों की खुशहाली देखकर देखनेवालों की तबीयत खुश हो जाती थी । ऐसा कोई घर नहीं दिखाई देता था जहाँ कोई न कोई मंगलमय उत्सव मानाया नहीं जाता हो । घर घर में सुमधुर संगीत सुनाई देता था और राजभवन में इसी मंगल गीत की मंजुल प्रतिध्वनि राज्य की विजय-दुंदुभि के रूप में सुनाई देती थी । राजा की सेना में जितने शूर-वीर थे, वे सब के सब धर्मभीरु और चारुचरित्र वाले थे, वे युद्धभूमि से भागनेवाले कायरों, अनाथों और आश्रितों को कभी नहीं सताते थे । जिन की ओर लक्ष्य करके वे तीर चलाते थे, उन की आवाज़ पहचानकर वे तीर उन का पीछा करते थे । इस प्रकार के हज़ारों महारथियों से परिपूर्ण सेना राजा दशरथ के नेतृत्व में लोक-मंगल की साधना में लगी रहती थी ।

सत्यपुरी को सार्थक बनाने में वहाँ के सत्यनिष्ठ विद्वानों की सात्विक साधना का भी कम सहयोग नहीं था । जलती हुई ज्वाला के समान उन के पवित्र मुख-मंडल में ब्रह्म विद्या का तेज प्रकट होता था । उन में जितनी विद्वत्ता होती थी, उस से भी अधिक गुणवत्ता से उनकी विद्वत्ता विभूषित होती थी । वेद-वेदांग में पारंगत इन महात्माओं ने अपने आत्मपरायण जीवन में संसार को अपना सब कुछ देने

में जितना ध्यान दिया, उससे सहस्रांश भी संचय या संग्रह की भावना पर नहीं । सब के सब सहस्रदाता कहलाते थे । ये सत्यनिष्ठ महात्मा सांसारिक जीवन व्यतीत करते हुए भी काननवासी महर्षियों से भी अधिक महिमान्वित होते थे ।

इस प्रकार सत्यपुरी के नाम से प्रसिद्ध अयोध्या नगरी को सत्यसंध दशरथ का नेतृत्व मिलने से सोने में सुगंध का सा संयोग जैसा हुआ था । सत्यसंध राजा स्वयं वेद-विज्ञान के मर्मज्ञ विद्वान्, दूरदर्शी चिंतक, लोक-हित की साधना में निर्विराम लगे हुए कर्मठ कर्मयोगी, धर्मपरायण, संयमी, पराक्रमी, आश्रितों के आप्त मित्र, अजातशत्रु, सकल-संपत्ति-संपन्न और लोकपालक आदर्श शासक थे । इसीलिए उन को 'महाराष्ट्र विवर्द्धन' की संज्ञा दी गई थी । वे केवल एक सामान्य जन-राष्ट्र के नहीं, बल्कि जन-जीवन को महान् बनाने वाली एक महती मही अथवा महाराष्ट्र की श्रीवृद्धि में महनीय सहयोग प्रदान करने वाले थे ।

जैसे राजा, वैसी प्रजा का होना स्वाभाविक है । सत्यपुरी के नागरिक भी सत्यवादी थे, पढ़े लिखे बुद्धिमान और धर्मपरायण थे, अपनी संपत्ति से संतुष्ट होनेवाले थे, सदाचारी थे, काम, क्रोध, हिंसा आदि दुर्गुणों से बिल्कुल दूर निर्मल जीवन व्यतीत करनेवाले पुण्यात्मा थे । धन-दौलत और सुख-समृद्धि से संपन्न होने पर भी धर्म-कर्म से दूर नहीं थे । नगर भर में ऐसा कोई भी नागरिक नहीं दिखाई देता था जो अपने सुख से संतुष्ट न हो और दूसरों के दुःख से दुःखी न हो । सब लोग अपने अपने काम में कर्तव्य की भावना और सत्यनिष्ठा से लगे रहते थे और दूसरों से किसी प्रकार के अनुचित लाभ की अपेक्षा नहीं करते थे । न कोई दुःखी था, न दीन था । न कोई मूर्ख था, न धूर्त था । न कोई दरिद्र था, न असुंदर । गुरुजन, विद्वान् और देवी-देवताओं के प्रति सब के मन में आदर की भावना सहज रूप में संचारित होती थी । सत्य और धर्म के आधार पर अपना जीवनयापन करनेवाले सच्चरित्र नागरिक पुत्र, पौत्र, बंधु-बांधव आदि स्वजनों और परिजनों के साथ परिपूर्ण आयु का उपभोग करके जीवन को सार्थक बना लेते थे ।

अयोध्या की नरसंपत्ति से भी बढ़कर उस की पशुसंपत्ति प्रशस्त थी । हाथी, घोड़े आदि सभी उच्च जाति के और उच्च कोटि के थे । हिमाचल, विन्ध्याचल और सह्याचल के उत्तम से उत्तम हाथी और उच्चैश्रवा जैसे घोड़े राजा दशरथ के यहाँ मौजूद थे ।

मन्त्रियों का भी कम महत्त्व नहीं था । सभी मंत्री मंत्रणा-तंत्र के मर्मज्ञ विद्वान् थे, यशस्वी, पवित्र और राजभक्त थे। उन के आठ अमात्य विशेष रूप से प्रसिद्ध थे । धृष्टि, जयंत, विजय, सुराष्ट्र, राष्ट्रवर्द्धन, अकोप, धर्मपाल और सुमंत्र इनके नाम थे । इस नामावली से ही उन की गुणावली का पता चलता है । जैसे अमात्य, वैसे उन के पुरोहित भी थे । वसिष्ठ, वामदेव, सुयज्ञ, जाबालि, काश्यप, गौतम, मार्कण्डेय, कात्यायन आदि ब्रह्मर्षियों के सत्परामर्श का लाभ राजा दशरथ को मिलता था । अमात्यों की शासन-दक्षता के साथ साथ आत्मवान् महर्षियों की सुचिंचित शास्त्रीय विचारधारा के संयोग से महाराष्ट्रीय भावना लोक-मंगल की साधना में समर्पित होती थी ।

आज जब हम चारों तरफ राष्ट्रीय संकट की विकराल समस्या से ग्रस्त और आक्रांत हैं, इस राष्ट्रीय भावना को समझकर उस को आत्मसात् करने से बहुत कुछ सहारा मिल सकता है । विद्या, विनय, शालीनता, कुलीनता, संयम, पराक्रम, दक्षता, उदारता, वाग्मिता, यशस्विता आदि आदर्श गुणों से अलंकृत विद्वान् अपने चिंतन का लाभ शासन को देते थे और कभी कभी आवश्यकता पड़ने पर स्वयं शासन का भार वहन करते थे और शस्त्र भी धारण करते थे । शस्त्र और शास्त्र-दोनों पर समान अधिकार रखनेवाले ये सव्यसाची कभी काम, क्रोध आदि के वशीभूत होकर असत्य वचन नहीं कहते थे । उनको सब कुछ मालूम था, पर जिस को जो बात जितनी बतानी है, उतनी ही बताते थे । दूसरे राजा लोग क्या कर चुके हैं, कर रहे हैं और करना चाहते हैं, इन सब बातों का वे पता लगाते थे । सहृदय होने के साथ साथ वे

व्यवहार-कुशल भी थे। दंडनीय समझे जाने पर वे अपने पुत्र को भी दंड से बचाते नहीं थे। बिना किसी अपराध के वे शत्रु को भी हानि नहीं पहुँचाते थे। पात्रता और अपात्रता का बराबर ध्यान रखकर ही वे किसी का हित या अहित करते थे।

जब इस प्रकार की शासन-व्यवस्था प्रचलित थी तो स्वाभाविक है कि वहाँ किसी को किसी प्रकार की कोई शिकायत नहीं थी। सब लोग सच बोलते थे, अच्छे विचार रखते थे, अच्छा खाना खाते थे और अच्छे कपड़े पहनते थे। रोटी-कपड़ा-मकान इन मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति होने पर वे आत्म-तत्त्व की जिज्ञासा में लगे रहते थे। देश-विदेश में इस शासन प्रणाली की बड़ी प्रशंसा हुआ करती थी। राजा दशरथ का नाम तीनों लोकों में रोशन करनेवाला सिद्ध हुआ था।

इस प्रशस्ति का आधार सत्य था जिसको धर्म से पोषण मिलता था। सत्य से बढ़कर संसार में कोई शक्तिशाली सत्ता नहीं है। राजा दशरथ का सारा जीवन सत्य की साधना में समर्पित था और दशरथनंदन राम ने भी इसी सत्य के पराक्रम को आगे बढ़ाया। अयोध्या जैसी सत्यपुरी में दशरथ और दाशरथी जैसे सत्यसंध शासकों का प्रादुर्भाव ही रामायण जैसी अद्‌भुत घटना का कारण बन गया था।

— सत्यं परं धीमहि —



5. जैसी इष्टि वैसी सृष्टि

सत्यपुरी में सत्यसंध दशरथ का सत्यनिष्ठ शासन लोक-संग्रह की धार्मिक भावना पर आधारित है। सत्य और धर्म के आधार पर सार्वजनिक हित की साधना में समर्पित शासन अपने आप में एक महान् यज्ञ का रूप धारण कर लेता है और राजा दशरथ अपने शासन को इसी यजन-भावना से देखते हैं। केवल शासन ही नहीं, बल्कि जीवन के प्रति भी उनका यही दृष्टिकोण है। इसका उज्ज्वल प्रमाण तब मिलता है जब वह अपने को सब प्रकार से संपन्न होते हुए भी अपने वंश को आगे चलाने वाले पुत्र से वंचित पाकर सत्संतान की प्राप्ति के लिए यज्ञ करने की बात सोचते हैं। यह यज्ञ भी उन के परिवार तक सीमित एकांत अनुष्ठान नहीं है, बल्कि समस्त राज्य को समेकित और संपृक्त करनेवाला अश्वमेध है। अश्वमेध के अखिल देशीय अनुष्ठान के बाद ही वह पुत्र-कामेष्टि का पारिवारिक यज्ञ करते हैं। उन को पुत्र चाहिए, पर केवल अपने लिए नहीं, जन-हित की साधना को आगे बनाए रखने के लिए, राजवंश की सत्य-धर्म-परंपरा को आगे बढ़ाने के लिए। यही विश्वजनीन भावना उन की पुत्रेषणा को इष्टि या यज्ञ का रूप देती है।

भारत की सांस्कृतिक विचारधारा में यज्ञ या इष्टि का विशेष महत्त्व है। हमारे नित्य और नैमित्तिक कार्यकलापों में सत्यद्रष्टा महर्षियों ने यज्ञ की बड़ी सुंदर परिकल्पना की है। गीताचार्य की स्थापना है कि सर्वव्यापी परब्रह्म हमारे दैनंदिन जीवन में यज्ञ के रूप में प्रतिष्ठित हैं (तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्)। इस की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए यह भी कहा गया है कि अन्न से आदमी बनता है, अन्न बादल से बनता है, बादल यज्ञ से बनते हैं, यज्ञ कर्म के आचरण से संपन्न होता है और कर्म ब्रह्म की प्रेरणा से होता है। इसीलिए अक्षरमय ब्रह्म यज्ञ के रूप में अन्न और मनुष्य के भीतर प्रतिक्षण प्रतिष्ठित है। लेकिन सभी कर्म यज्ञ नहीं कहलाते। धर्म की भावना से साधारण कर्म भी यज्ञ का रूप धारण करता है। इसीलिए राजा दशरथ वंशधर पुत्र को प्राप्त करने के लिए यज्ञ की बात सोचते हैं। इसके लिए वह सुमंत्र से परामर्श करते हैं, सुयज्ञ, जाबालि, काश्यप, मार्कंडेय और वसिष्ठ से आशीर्वाद और अनुज्ञा प्राप्त करते हैं और तभी उन का शिव संकल्प सत्य का रूप धारण करता है।

इस संबंध में एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है। राजा दशरथ के मन में संतान की इच्छा अवश्य पैदा होती है। पर वह इस के लिए केवल अश्वमेध का आयोजन करने की बात सोचते हैं जिस का पुत्रोदय से कोई विशेष संबंध नहीं है। यह केवल राजा की लोकप्रियता और वर्चस्विता को बढ़ानेवाला सर्व सामान्य यज्ञ है जिस में व्यक्तिगत कल्याण की अपेक्षा लोकहित की भावना अधिक निहित है। पर इस विचार को सत्संतान की प्राप्ति के लिए अनुकूल रूप देने का श्रेय सुमंत्र को मिलना चाहिए। सुमंत्र द्वारा राजा के सामने सादर उपस्थित किए गए वसिष्ठ आदि ऋषिवर जब राजा के मुँह से अश्वमेध की बात सुनते हैं और साथ ही संतान के लिए उन की धार्मिक बुद्धि का प्रादुर्भाव देखते हैं तो वे प्रसन्न हो जाते हैं और आशीर्वाद देकर

अश्वमेध का आयोजन करने की अनुमति देते हैं। इस के बाद सब अपने अपने स्थान पर चले जाते हैं। राजा भी अंतःपुर में जाकर अपनी रानियों से अश्वमेध की बात करते हैं तो रानियों के मुख-कमल विकसित हो जाते हैं।

लेकिन अश्वमेध का आयोजन किस रूप में हो, इस की योजना सुमंत्र के मन से प्रसूत होती है और इस को वह गोपनीय रखना चाहते हैं। इसीलिए एकांत में राजा के पास जाकर वह ऋष्यशृंग की कहानी सुनाते हैं जो कि उन्होंने भविष्यद्रष्टा सनत्कुमार से सुनी थी। सही समय पर सही मंत्रणा देकर सुमंत्र अपना नाम सार्थक बना लेते हैं। सनत्कुमार की भविष्यवाणी के अनुसार काश्यप का पोता और विभांडक का पुत्र ऋष्यशृंग राजा दशरथ से सत्संतान प्रदान करनेवाला यज्ञ कराने के लिए सर्वथा उपयुक्त 'ऋत्विक्' है। सुमंत्र की इस बात में किसी को भी संदेह हो सकता है कि जब राजा दशरथ के दरबार में वसिष्ठ जैसे ब्रह्र्षि राजपुरोहित के रूप में विद्यमान हैं तब कहीं दूर बसे ऋष्यशृंग जैसे अकिंचन अथवा अज्ञात ऋषिकुमार को यज्ञ कराने के लिए बुलाने की क्या आवश्यकता है। इसी संदेह को दूर करने के लिए सुमंत्र ऋष्यशृंग का वृत्तांत विस्तार से सुनाते हैं।

ऋष्यशृंग की सब से बड़ी विशेषता है—उन का लोकोत्तर तथा विचित्र ब्रह्मचर्य। उन का ब्रह्मचर्य दो प्रकार का है—नैष्ठिक और मानसिक। तपस्या और स्वाध्याय में तत्पर विभांडक ऋषि के चरणों में बैठकर वेद, वेदांग और विज्ञान का अध्ययन करने से ऋष्यशृंग अपनी नैष्ठिक साधना में निष्णात हो जाते हैं। इस के अलावा उन का मन अपने पिता के आश्रम और आसपास की प्राकृतिक शोभा को छोड़कर और कहीं नहीं लगता है। यही उन का मानसिक ब्रह्मचर्य है।

तन-मन से ब्रह्मनिष्ठा में निरत और लौकिक कामवासना से अपरिचित ऋष्यशृंग के द्वारा एक महान् लोकहित का कार्य संपन्न होना था। अंग देश के राजा रोमपाद के राज्य में भ्रष्टाचार और अनैतिकता के बढ़ने के कारण अकाल पड़ा था। इस के प्रायश्चित्त की बात जब सोची गई तो सभी विद्वानों ने रोमपाद को यह सलाह दी कि अगर किसी तरह ऋष्यशृंग को अंग राज्य में बुलाकर राजकुमारी शांता से उन का विवाह कर दिया जाए तो अनावृष्टि समाप्त हो जाएगी और देश खुशहाल रहेगा। राजा रोमपाद उन्हीं विद्वानों की सलाह पर ऋष्यशृंग को तपोवन से राजभवन में लिवा लाने के लिए सुंदर वेश्यांगनाओं को भेजते हैं।

भय और संकोच के साथ सुंदरियाँ ऋष्यशृंग के आश्रम के समीप पहुँचती हैं। ऋष्यशृंग ने तब तक किसी नारी का रूप नहीं देखा था। असल में वह अपने आश्रम को छोड़कर किसी शहर या गाँव में नहीं जाते थे। एक दिन संयोग से वह बाहर घूमने गए तो रोमपाद के दरबार की राज-नर्तकियाँ दिखाई देती हैं। उन का संगीत कान में पहुँचता है। पायल की आवाज़ सुनाई देती है। ऋषिकुमार का शरीर अनायास उनके यहाँ तक पहुँचता है। उन से बातचीत करने में ऋष्यशृंग को बहुत आनंद आता है। थोड़ी देर इधर उधर की बातें करने के बाद वह उन सब को अपने आश्रम में ले जाते हैं और पानी पिलाकर फल-वल खिलाते हैं। बिदा होते समय सुंदरियाँ अपने उपभोग्य अंगों को स्वादिष्ट फल बताकर कामवासना से अनभिज्ञ ऋषिकुमार को समर्पित कर देती हैं। ऋषिकुमार को बहुत आनंद आता है। उन को सचमुच कुछ विशिष्ट फल मानकर उन का स्वाद फिर से लेने अगले दिन उन के शिविर के पास जाते हैं। बस, वहीं से वहीं उन को रोमपाद के यहाँ ले जाया जाता है। लोक-कल्याण की भावना से ऋषिकुमार को भुलावा देकर राज्य में ले आने के अपराध के लिए राजा क्षमा माँगते हैं और ऋषि की अनुमति से शांता से ऋषिकुमार का विवाह संपन्न हो जाता है।

ऋष्यशृंग की कहानी सुनाकर सुमंत्र सलाह देते हैं कि किसी न किसी तरह रोमपाद के दामाद ऋष्यशृंग को मनवाकर उन से यज्ञ कराया जाए तो सनत्कुमार की भविष्यवाणी के अनुसार राजा दशरथ की मनोकामना सफल होगी। सुमंत्र की सुमंत्रित वाणी राजा दशरथ को तत्काल पुत्र-प्राप्ति का सा आनंद देती

है । वह तुरंत रोमपाद के यहाँ जाकर उन के साथ सात-आठ दिन रहकर अनुनय-विनय से ऋष्यशृंग को सपत्नीक अयोध्या ले आते हैं । अग्निहोत्र की तरह देदीप्यमान ऋषि तथा उन की पत्नी शांता का राजभवन में भव्य स्वागत होता है । दशरथ की रानियों को इतना आनंद आता है कि वे शांता को अपनी ही बेटी समझ लेती हैं ।

अश्वमेध की बात वसंत के आगमन के आनंदमय अवसर पर राजा दशरथ फिर उठाते हैं । वसिष्ठ आदि ब्रह्मर्षियों की अनुमति पहले ही मिल चुकी थी । अब ऋष्यशृंग की सहमति की आवश्यकता है । ऋष्यशृंग को यह मालूम नहीं था कि उन्हें अयोध्या में क्यों बुलाया गया । ससुर जी के कहने पर उन्होंने राजा दशरथ का आमंत्रण स्वीकार किया । अब पता चलता है कि उन्हें राजा दशरथ की भलाई के लिए संपन्न होनेवाले एक धार्मिक अनुष्ठान में बुलाया गया है । पलभर में वह सब कुछ समझ लेते हैं और अश्वमेध के आयोजन के लिए सहर्ष अपनी सहमति प्रकट करते हैं । राजा प्रसन्न होकर वसिष्ठ आदि गुरुजनों को बुला लेते हैं और सब के सामने हाथ जोड़कर यज्ञ का संचालन करने का अनुरोध करते हैं और साथ ही यह आशा प्रकट करते हैं कि ऋषिकुमार के प्रभाव से (ऋषिपुत्र प्रभावेण) उन की मनोकामना सफल होगी । राजा की धर्मसम्मत कामना और सद्बुद्धिता की सब लोग प्रशंसा करते हैं और उन को आशीर्वाद देकर सरयू के उत्तर तट पर यज्ञभूमि तैयार करने और अश्व को छोड़ने की अनुमति देते हैं ।

कुलगुरु वसिष्ठ की देखरेख में यज्ञ की तैयारियाँ बड़ी सावधानी और तत्परता के साथ संपन्न हो जाती हैं । एक वर्ष के बाद फिर वसंत आता है । अब यज्ञ का अनुष्ठान आरंभ होता है । इस में राजा जनक को विशेष रूप से आमंत्रित किया जाता है । राजा जनक को बुलाने के लिए वसिष्ठ के आदेश पर सुमंत्र स्वयं जाते हैं । इस में भी एक देव-रहस्य है । आगे चलकर राजा जनक को भी इसी प्रकार यज्ञ के फलस्वरूप कन्या की प्राप्ति होनी है जिस से सीता और राम का समन्वित अयन (रामायण) संसार को देखने को मिल सके । राजा दशरथ की इसी 'इष्टि' में भविष्य का बीज परिपुष्ट होता है ।

यज्ञ का आयोजन सभी दृष्टियों से संतोषजनक और आकर्षक बन पड़ता है । यज्ञ-वाटिका के शास्त्रसम्मत निर्माण से लेकर यज्ञ में आमंत्रित राजा महाराजाओं, विद्वानों, कलाकारों आदि को ठहराने और खिलाने-पिलाने की व्यवस्था तक की सारी बातें ब्रह्मर्षि वसिष्ठ की वैयक्तिक देखरेख में और उन के आदेश-निर्देश के अनुसार चलती हैं । काशीनरेश, केकय देश के राजा और अंगराज रोमपाद को आमंत्रित करने और उन का स्वागत-सत्कार करने पर विशेष ध्यान दिया जाता है । एक वर्ष के बाद जब यज्ञ का घोड़ा वापस चला आता है तो अश्वमेध का कार्य विधिवत् आरंभ हो जाता है । इन सब बातों से ऐसा लगता है कि वसिष्ठ आदि कुलपुरोहित और विशेष रूप से इस अनुष्ठान के लिए आमंत्रित मुख्य अतिथि ऋष्यशृंग अपनी योगदृष्टि से भविष्य को देखकर समस्त रामकथा के लिए इसी इष्टि के अनुष्ठान में उर्वर बीज बो रहे हैं । सत्यपराक्रम राम को राजा दशरथ की संतान के रूप में अवतरित करने के लिए सत्यद्रष्टा वसिष्ठ सक्रिय प्रयास कर रहे हैं और सांसारिक लीला के स्वस्थ साक्षी ऋष्यशृंग अपने सान्निध्य मात्र से इन सब बातों का 'सस्वर' समर्थन कर रहे हैं ।

यज्ञ का अनुष्ठान विधिवत् संपन्न होता है । अन्नदान, वस्त्रदान, गोदान, रत्नदान आदि को विशेष महत्त्व दिया जाता है । राजा-महाराजाओं के स्वागत-सत्कार में भी कोई कमी नहीं आती है । अन्न परोसनेवालों की शारीरिक स्वच्छता और सुसंस्कृत साज-सज्जा पर भी विशेष ध्यान दिया जाता है । धार्मिक अनुष्ठान शास्त्र में निर्धारित विधि से पूरा किया जाता है । सबेरे, दोपहर को और शाम को जो जो अनुष्ठान अलग अलग करने हैं, उन को व्यवस्थित और नियमित रूप से पूरा किया जाता है । यज्ञ करानेवाले होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा और उद्गाता को राजा दशरथ

अयोध्या की चार दिशाओं का राज्य समर्पित करते हैं। जब उन के पास देने के लिए कुछ नही रहता है तो एक विद्वान् को वह अपने हाथ का आभूषण निकालकर दे देते हैं। लेकिन राजा के दिए राज्य को भोले भाले ब्राह्मण वापस कर देते हैं क्योंकि वेद-विद्या में दिनरात लगे हुए ब्राह्मणों को शासन में कोई रुचि नहीं होती। राजा राज्य को वापस लेकर उस के बदले में उन को असंख्य धन राशि देते हैं। उस को भी वे वसिष्ठ और ऋष्यशृंग के सामने रखते हैं और उन्हीं के द्वारा उस का वितरण करवा देते हैं। इन सब बातों में विनम्रता, सात्विकता, सत्यनिष्ठा, धार्मिकता, निर्लिप्तता, त्यागशीलता आदि दैवी संपत्ति का साक्षात्कार होता है। इसीलिए यह इष्टि रामायण की सकल सृष्टि का सफल और सुफल बीजारोपण करती है।

अभीष्ट अनुष्ठान के सफलतापूर्वक संपन्न होने पर कृतकृत्य राजा ऋष्यशृंग के सामने दंडवत् प्रणाम करते हैं और सत्संतान के लिए आशीर्वाद माँगते हैं। ऋषिकुमार 'तथास्तु' तो कह देते हैं, पर तुरंत ध्यानमग्न हो जाते हैं। थोड़ी देर के बाद वह कहते हैं कि अथर्ववेद के विधान से एक और इष्टि का अनुष्ठान करना है जिस से राजा दशरथ चार वेदों के समान चार पुत्रों से अनुगृहीत हो सकें।

'इष्टिं तेऽहं करिष्यामि पुत्रीयां पुत्र-कारणात्।
अथर्व शिरसि प्रोक्तैर्मंत्रैः सिद्धां विधानतः॥

यही पुत्र-कामेष्टि है जिस की चर्चा आम तौर पर आम जनता करती है। रामायण के साधारण पाठक केवल इसी यज्ञ को जानते हैं। इस के पहले संपन्न अश्वमेध को बहुत कम लोग जानते हैं। परंतु वाल्मीकि ने अपनी रामायण में अश्वमेध का जितना विस्तृत वर्णन किया है, उतना पुत्र-कामेष्टि का नहीं। इस से स्पष्ट होता है कि दशरथ की यज्ञ-भावना में आत्महित की अपेक्षा लोकहित का महत्त्व अधिक है। दूसरी बात यह है कि पुत्र-कामना को सफल बनानेवाली इस इष्टि (यज्ञ) का अनुष्ठान केवल ऋष्यशृंग के आध्वर्य में संपन्न होता है जब कि अश्वमेध में वसिष्ठ की भूमिका प्रमुख है और ऋष्यशृंग केवल अपने पुरस्कृत सान्निध्य से (आगे बैठकर)ब्रह्म संसद् की शोभा बढ़ाते हैं। अश्वमेध समष्टि की आराधना है जबकि पुत्र-कामेष्टि व्यष्टि को संतुष्टि प्रदान करनेवाला पारिवारिक अनुष्ठान है। शासक के लिए सारी प्रजा संतान के समान है। इसीलिए पहले विराट् संतान की मंगल कामना के प्रतीक के रूप में अश्वमेध संपन्न कर बाद में निजी संतान की इच्छा की पूर्ति के लिए सीमित स्तर पर पुत्र-कामेष्टि संपन्न कराई जाती है।

दशरथ-नंदन राम के प्रादुर्भाव के लिए जितनी लंबी भूमिका राजा-महाराजा, ऋषि-मुनि आदि भूमंडल में बाँधते हैं, उस से भी विस्तृत परिवेश देवलोक में प्रस्तुत किया जाता है। लोक-रावण रावण के दारुण आचरण से त्रस्त देवता लोग ब्रह्मा के पास जाकर रावण का वध करने में सक्षम सत्ता का सृजन करने का अनुरोध करते हैं। ब्रह्मा ने रावण को वर दिया कि वह नर और वानर को छोड़कर और किसी के हाथ नहीं मरेगा। इसलिए ब्रह्मा सभी देवताओं की ओर से भगवान् विष्णु से अनुरोध करते हैं कि वह मानव का रूप धारण कर भूमंडल में दशरथ का पुत्र बनकर जन्म लें ताकि रावण के द्वारा उपस्थित लोक-संकट दूर हो जाए। यह संयोग की बात है कि भगवान् विष्णु लोक-कल्याण के इस मंगलमय कार्य के लिए बिल्कुल उसी समय राज़ी हो जाते हैं जब ऋष्यशृंग के आध्वर्य में राजा दशरथ की पुत्र-कामेष्टि सफलतापूर्वक संपन्न हो जाती है। यज्ञ के समाप्त होने पर यज्ञपुरुष यज्ञकुंड से प्रकट होकर राजा को पायस का प्रसाद प्रदान करता है। उसी में चतुर्मुख का चतुर्भुज रूप समाविष्ट है। इस का विभाजन महामति दशरथ की उचितज्ञता पर निर्भर रहता है।

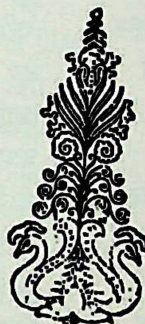
पायस पात्र प्रदान करनेवाले प्रजापति का आकार-प्रकार, अंग-सौष्ठव और हृदयंगम व्यवहार राजा दशरथ को पुलकित कर देता है। वह बड़ी कृतज्ञता और प्रसन्नता के साथ देव-निर्मित पायस-पात्र को प्रेम-पात्र की भावना से ग्रहण करते हैं। पायस-पात्र राजा के हाथ में देकर प्रजापति का अद्भुत

रूप उसी क्षण तिरोहित हो जाता है ।

राजा दशरथ पहले कौसल्या के पास जाकर उन को पायस का आधा भाग देते हैं, फिर सुमित्रा के पास जाकर शेष में से आधा भाग उन को देते हैं और अंत में कैकेयी के पास जाकर शेष भाग में से केवल आधा भाग ही उन को देते हैं । जो कुछ बचा था, वह सारा का सारा उन को क्यों नहीं दिया था यह राजा ही जानते हैं । उस अंतिम अवशेष को बहुत सोच समझकर राजा दशरथ अपनी इष्टतम पत्नी सुमित्रा को देते हैं । इसी में रामकथा का सारा रहस्य छिपा हुआ है ।

वेदवेद्य पुरुषोत्तम राम बनकर आते हैं तो वेद रामायण के रूप में प्रकट होता है, यही तपस्वी वाल्मीकि की आर्ष भावना है । इसी भावना के अनुरूप उन्होंने रामकथा की सृष्टि और राम के प्रादुर्भाव के लिए व्यष्टि और समष्टि को मिलाने वाली दो दो इष्टियों की विशिष्ट कल्पना की है । इस कल्पना को कमनीय बनाने वाली मननीय मूर्ति हैं—ऋष्यशृंग । जहाँ राम हो, वहाँ काम नहीं हो सकता और अगर होता है तो भी उसी निष्काम, निर्मल, निश्चल और निश्छल प्रेम भावना के रूप में जिस का मूर्त रूप ऋष्यशृंग में देखा जा सकता है । काम-रहित प्रेम के पावन सान्निध्य में जो इष्टि संपन्न होती है, उस के फलस्वरूप उसी प्रकार की सृष्टि संभव होती है । इसी दृष्टि से राजा दशरथ के द्वारा अनुष्ठित इष्टि को समझना चाहिए । यही दृष्टि क्रतु को अक्रतु बना सकती है :

"तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः"



6. आँगन में चार चाँद

श्रीराम का जन्म रामकथा की प्रारंभिक और प्रातिपदिक घटना है जिस के घटित होने में मानव-मनोयोग, आर्ष सहयोग और दैवयोग का सुंदर, किंतु सहज संयोग दृष्टिगोचर होता है। सब से पहले राजा दशरथ के मन में आत्मकल्याण और लोकहित की कामना से सत् संतान पाने की स्वस्थ कामना का उदित होना और उन की तीन रानियों का इस बात पर प्रसन्न होना मानव-मनोयोग का सूचक है। लौकिक दृष्टि से पुत्रोदय के लिए इतना परिवेश पर्याप्त था। लेकिन लोकोत्तर व्यक्तित्व का प्रादुर्भाव होना था, इसीलिए लोकोत्तर परिवेश की परिकल्पना आवश्यक हुई। सुमंत्र जैसे मनस्वियों, वसिष्ठ जैसे ब्रह्मर्षियों और ऋष्यशृंग जैसे तपस्वियों का सहयोग इसी दृष्टि से इस अनुष्ठान का अंग बन गया। इन दोनों भूमिकाओं का आलोक देवलोक तक पहुँचता है और पवित्र तपस्वियों के परम पावन सान्निध्य और पथ-प्रदर्शन में अनुष्ठित नैष्ठिक इष्टियों से संतुष्ट परमेष्टि और पुरुषोत्तम के मन में अनुग्रह की भावना उत्पन्न होती है। इसी का सुखद परिणाम था—प्राजापत्य नर के माध्यम से प्रेषित पायस-पात्र। इसी पायस में चतुर्भुज परमात्मा का चतुरानन रूप समाविष्ट था।

राजा दशरथ केवल अपने वंश को आगे चलानेवाला एक पुत्र चाहते थे—"सुतार्थं तप्यमानस्य नासीद् वंशकरः सुतः" (पुत्र के लिए तड़पने वाले राजा को वंश को चलानेवाला पुत्र नहीं हुआ)। लेकिन जब यह कामना वसिष्ठ जैसे सत्यनिष्ठ तपस्वियों के सामने प्रकट होती है, तब आशीर्वाद मिलता है—"सर्वथा प्राप्स्यसे पुत्रानभिप्रेतांश्च पार्थिव।" (अपनी इच्छा के अनुसार, तुम को प्रयोजनशील पुत्रों की प्राप्ति होगी)। यद्यपि दशरथ ने एक या अनेक पुत्रों की बात अपनी कामना में स्पष्ट नहीं की, राजा के मनोगत अभिप्राय को समझकर ब्रह्मर्षि ने बहुवचन में अपनी भविष्यवाणी की। इस संख्या को चार में निश्चित करने का श्रेय ऋष्यशृंग को है जिन के सान्निध्य में वसिष्ठ आदि फिर से आशीर्वाद देते हैं—"सर्वथा प्राप्स्यसे पुत्रान्चतुरोऽमितविक्रमान्" (तुम निश्चय ही चार पुत्रों के पिता बन जाओगे जो अत्यंत विक्रमी होंगे)। इसी बात को अश्वमेध यज्ञ के बाद और पुत्र-कामेष्टि के पहले ऋष्यशृंग दुहराते हुए कहते हैं—"भविष्यंति सुता राजन् चत्वारस्ते कुलोद्वहाः" (तुम्हारे कुल का उद्धार करनेवाले चार पुत्र तुम्हें होंगे)।

महर्षियों की इस महती भावना और अमोघ आशीर्वाद से राजा दशरथ प्रकट रूप से प्रसन्न तो दिखाई देते हैं, पर भीतर ही भीतर वह ठीक ठीक समझ नहीं पाते कि चार की संख्या क्यों बार-बार उच्चरित हो रही है। राजा को तो एक ही पुत्र से संतोष हो सकता था। लेकिन तीनों रानियों को संतुष्ट करने के लिए तीन की संख्या यथेष्ट बन सकती थी। चार की संख्या से राजा कुछ सोच में पड़ जाते हैं हालाँकि यह उन के लिए और भी प्रसन्नता की बात होनी चाहिए और वास्तव में है भी। लेकिन समस्या तब उत्पन्न होती है जब प्राजापत्य नर के द्वारा प्रदान

किए गए दिव्य पायस को तीन रानियों में बाँटने का समय आता है। दिव्य पायस देनेवाला दिव्यपुरुष केवल इतना कह कर अदृश्य हो जाता है कि :

इदं तु नृप शार्दूल पायसं देवनिर्मितम्।
प्रजाकरं गृहाण त्वं धन्यमारोग्यवर्द्धनम्॥
भार्याणामनुरूपाणामश्नीतेति प्रयच्छ वै।
तासु त्वं लप्स्यसे पुत्रान् यदर्थं यजसे नृप॥

"तुम ने जो यज्ञ किया है, उस से संतुष्ट होकर देवताओं ने तुम्हें यह पायस बनाकर दिया है। इस से संतान होगी, स्वास्थ्य बढ़ेगा और तुम्हारा जीवन सार्थक बनेगा। अपनी अभीष्ट पत्नियों को अपनी इच्छा के अनुसार इसे दे दो और उन को इसे खाने के लिए कह दो। उन से तुम्हारे पुत्र होंगे।"

दिव्यपुरुष ने दिव्य पायस तो दिया है, पर राजा को उसे तीन रानियों में इस प्रकार बाँटना है ताकि ऋषि-वाक्य के अनुसार चार पुत्र उत्पन्न हों। यह हिसाब का पेचीदा सवाल राजा को थोड़ी देर के लिए बहुत परेशान कर देता है। किसी को अधिक और किसी को कम देने से कुछ संकट पैदा हो सकता है, पर ऋषि-वाक्य को चरितार्थ करना है। बहुत सोच समझकर 'महामति' राजा पहले बड़ी रानी कौसल्या को आधा पायस देते हैं, उस के बाद सुमित्रा को शेष में से आधा देते हैं, तत्पश्चात् कैकेयी को शेष सारा भाग न देकर केवल उस में से आधा देते हैं और बाकी बचा भाग फिर सुमित्रा को देते हैं। इस बँटवारे में राजा दशरथ ने जो औचित्य निभाया है, उस पर उन को 'महामति' की उपाधि मिलती है—तपस्वी वाल्मीकि की तात्त्विक वाणी में।

इस प्रसंग में तीन रानियों का तात्त्विक विश्लेषण इस न्याय-निर्णय को हृदयंगम करने में सहायक होगा। दशरथ की तीन रानियों के नाम सब से पहले पायस-वितरण के प्रसंग में ही सुनने में आते हैं। उस के पहले देवलोक में भगवान् विष्णु के साथ बातचीत करते समय सृष्टिकर्ता ब्रह्मा इन तीन रानियों का उल्लेख करते हुए ह्री, श्री और कीर्ति से इन की उपमा देते हैं। किसी वस्तु या व्यक्ति का निकटतम मापन ही उपमा है। इस से यह स्पष्ट होता है कि कौशल्या, सुमित्रा और कैकेयी के जो व्यावहारिक नाम हैं, दैवी परिभाषा में उन के कूट नाम या बीजाक्षर हैं—ह्री, श्री और कीर्ति। यही विधाता की विधिसम्मत परिभाषा है। दशरथ की तीन रानियों का यह प्रतीकात्मक परिचय देने के साथ साथ ब्रह्मा भगवान् विष्णु से अनुरोध करते हैं :

अस्य भार्यासु तिसृषु ह्री-श्री-कीर्त्युपमासु च।
विष्णो पुत्रत्वमागच्छ कृत्वात्मानं चतुर्विधम्॥

अपने को चार रूपों में प्रकट करने की बात ब्रह्मा के ही मुँह से निकलती है जिस को दशरथ के कुलगुरु वसिष्ठ और तपस्वी ऋष्यशृंग अपनी आर्ष वाणी में प्रकट करते हैं। इसलिए जो समस्या पायस वितरण के समय राजा दशरथ के सामने थी, लगभग वही समस्या मनुष्य रूप में पृथ्वी पर अवतरित होते समय भगवान् विष्णु के सामने भी थी। दोनों की समस्याओं को दैवयोग ने सहज भाव से हल कर दिया। संसार में जो कुछ होता है उस के पीछे एक सुनिश्चित और सुनियोजित दैवी इच्छा काम करती है। यही बात इस प्रसंग से स्पष्ट होती है।

संसार का प्रत्येक प्राणी परमात्मा का ही प्रतिरूप है। लेकिन प्राणी प्राणी में परमात्मा का अंश विभिन्न मात्रा में विद्यमान होता है—कहीं विभूति के रूप में, कहीं सश्रीकता के रूप में और कहीं ऊर्जा के रूप में। परम सत्य के इसी सत्व के तीन रूप हैं—ह्री, श्री और कीर्ति। दशरथ की तीनों रानियाँ इन्हीं तीनों तत्त्वों का प्रतिनिधित्व करती हैं। ह्री रूपिणी (ह्रीमती) कौसल्या सत्वगुण प्रधान सरस्वती हैं तो श्रीरूपिणी (श्रीमती) सुमित्रा रजोगुण प्रधान लक्ष्मी हैं और कीर्तिकामिनी कैकेयी तमोगुण प्रधान काली हैं। महासरस्वती ने संसार के कण कण में रममाण राम को जन्म दिया तो महालक्ष्मी ने लक्ष्मी-वर्द्धक लक्ष्मण और अलक्ष्मी-निवारक शत्रुघ्न को जन्म दिया और कालिकारूपिणी कैकेयी रविकुल की कालिमा को अपनी

भारतीय (प्रकाशकीय) गरिमा से प्रक्षालित करनेवाले भरत की माता बन गईं।

इन तीनों में सुमित्रा का व्यक्तित्व कुछ विलक्षण-सा लगता है। उन को राजा दशरथ का विशेष प्रेम प्राप्त है जैसा कि पायस-वितरण के समय स्पष्ट होता है। लेकिन कौसल्या और कैकेयी की तरह वह कभी अपने पति से एकांत में या प्रकट रूप से बात करती सी दिखाई नहीं देती और न उन की मुख-मुद्रा में कभी असंतोष, आक्रोश या आवेग के चिह्न दिखाई देते हैं। वह हमेशा प्रसन्न रहती हैं और सब को प्रसन्न रखने का प्रयास करती हैं। इसी में उन की सश्रीकता है। उन के दोनों पुत्र इसी शालीनता और सुहृद् भावना को आगे बढ़ाते हैं। लक्ष्मण राम के साथ रहकर सत्यधर्म की साधना में सहयोग देते हैं तो शत्रुघ्न राजर्षितुल्य भरत के प्रभारत (प्रभा-रत) प्रशासन के प्रशस्त कार्य में हाथ बँटाते हैं। दोनों में से किसी में भी कीर्ति-कामना लेश मात्र भी नहीं दिखाई देती। राम और भरत की लोक-कल्याण साधना को सफल बनाने में ही वे अपने जीवन को चरितार्थ समझते हैं। राम और लक्ष्मण रक्ति और भक्ति के प्रतीक हैं तो लक्ष्मण और शत्रुघ्न शक्ति और मुक्ति के साधक हैं। रामकथा के पर्यवसान में शत्रुघ्न द्वारा लवणासुर का वध और लवकुश का जन्म दो प्रमुख घटनाएँ लगभग एक ही समय घटित होती हैं। बाहर और भीतर के शत्रुओं के संहार के साथ रामकथा का उपसंहार होता है और यही रामायण का सार है।

इस प्रतीकात्मक विश्लेषण से पता चलता है कि श्रीराम का जन्म केवल दशरथ के परिवार तक सीमित नहीं है, बल्कि जन-जीवन के विशाल प्रांगण को रसाप्लावित कर देता है। अयोध्या और दशरथ केवल प्रतीक मात्र हैं। सामान्य मान्यता की सीमित विचार-परिधि से परे जो अपरिमेय, अज्ञेय और अजेय अंतर्जगत् है, वही अयोध्या है। दस इंद्रियों का शरीर धारण करनेवाला प्रत्येक मननशील मानव दशरथ है जो इस पर शासन करने का प्रयास करता है, पर अंत में स्वयं अपने को शासित समझकर अपने भीतर रममाण राम के ध्यान में लीन होने में अपने जीवन को कृतकृत्य समझता है। तीनों रानियाँ सत्व, रज और तम की प्रतिकृतयाँ हैं, आत्मा, मन और शरीर की परछाइयाँ हैं और ज्ञान, कर्म और इच्छा को प्रतिभासित करनेवाली दीप शिखाएँ हैं। मनस्विनी सुमित्रा आत्मरूपिणी कौसल्या और शरीरसाधिका कैकेयी के बीच सात्विक संधान का काम करती हैं।

अयोध्या के इसी सांकेतिक और सार्वत्रिक परिवेश में राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न दशरथ के आँगन की शोभा बढ़ाते हैं। अपने घर के आँगन में विचरनेवाले इन चार चाँदों की चमकीली चाँदनी को देखकर राज-परिवार तो पुलक उठता ही है, पर साथ ही देश-काल की सीमा को पार कर तब से अब तक चिरंतन राम-भावना से पुलकित राम-परिवार भी अपने मानस के आँगन में इन चार चाँदों को सँजोए बैठा है। मानसकार की मंजुल भावना भी इसी परंपरा के अनुसार अपनी भावुक स्वर-लहरी मुखरित करते हुए कहती है- "अवधेस के बालक चारि सदा तुलसी मन-मंदिर में बिहरैं।" गोस्वामी की गहरी भक्तिभावना इन चार राजकुमारों के प्रादुर्भाव में केवल दशरथ के नहीं, बल्कि सार्वजनिक जन-जीवन के चारों फलों-धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष- को प्रतिफलित पाती है। राम धर्म को सार्थक बनानेवाले अर्थ को परमार्थ में बदल कर अपने जीवन को चरितार्थ बना लेते हैं। इसी प्रकार धर्म-सम्मत काम के नैष्ठिक साधक भरत अपनी कामिनी माता के कलंक को अपनी निष्काम कर्मभावना से निर्मल बनाते हैं तो उन के छोटे भाई शत्रुघ्न राज्य शासन के साथ साथ आत्मानुशासन को भी शत्रुहीन बनाने में तत्पर रहते हैं।

दशरथनंदन राम और उन के तीन भाइयों में किसी किसी को चारों वेद सुनाई देते हैं। वेदवेद्य परम पुरूष ने राम का रूप धारण किया तो वेद चार रूपों में साकार बन जाता है। वास्तव में ऋग्वेद ज्ञान का, यजुर्वेद धर्म का, सामवेद भक्ति का और अथर्ववेद मोक्ष का प्रतीक है। आत्म-साक्षात्कार के ये चार सोपान जैसे गीता में वर्णित हैं, वैसे रामायण में भी चित्रित हैं। राम

ज्ञान की खान हैं, इसलिए ऋग्वेद के मूर्त रूप हैं। भक्तों के सिरमौर लक्ष्मण सामदेव को साकार बनाते हैं। कर्मयोगी भरत यजुर्वेद को कार्यान्वित करते हैं और निर्लिप्त आत्मयोगी शत्रुघ्न अथर्व- मार्ग में मुक्ति की एकांत साधना में तल्लीन और तत्पर रहते हैं।

वैदिक दृष्टि से वेदवेद्य पुरूषोत्तम का प्रतिरूप बनकर जन-मानस में निरंतर संचरित होने वाले राम परम व्योम में विचरनेवाले परमहंस सूर्य के वंशधर से लगते हैं। इस संदर्भ में इस आकाशचारी हंस का आलोकमय वर्णन श्रुतिमधुर भाषा में अवलोकनीय है :

ह० सः शुचिषद् वसुरंतरिक्षसद्
होता वेदिषदतिथि र्दुरोणसत्
नृषद् वरसद् ऋतसद् व्योमसद्
अब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत्

संसार का सारभूत सत्य कभी आकाश में सूर्य (हंस) के समान संचरित होता हैं, कभी अंतरिक्ष में जीवन का आधार (वसु)बनकर विचरता है, कभी यज्ञ की वेदी पर अग्निहोत्र (होता) बनकर विराजमान होता है और कभी कलश में जल (अतिथि) बनकर छलकता है। वही नर-जाति में है, वर (देवता) जाति में है, परम सत्य (ऋत) में है और अनंत आकाश (व्योम) में है। वही पानी (अप्) से, धरती (गो) से, चिरंतन सत्य (ऋत)से और प्रत्यक्ष सत्य (अद्रि) से प्रकट होता है।

यजुर्वेद और ऋग्वेद दोनों में परिकीर्तित यह महामंत्र परमहंस सूर्य का स्मरणीय और मननीय वर्णन प्रस्तुत करता है। यहाँ पर यह बात प्रासंगिक लगती है कि दशरथनंदन राम सूर्यवंश के उद्धारक और तारक माने जाते हैं। सूर्य का उपस्थापन करनेवाला यह मंत्र परमहंस सूर्य को चार चार की तीन सरणियों में प्रस्तुत करता है। हंस, वसु, होता और अतिथि ; शुचि, अंतरिक्ष, वेदी और दुरोण ; नर, वर, ऋत और व्योम ; तथा अंत में अप्, गो, ऋत और अद्रि का उल्लेख परम सत्य के अवतरण का इतना आलोकमय चित्र प्रस्तुत करता है कि इन चार तत्त्वों में दशरथ के चार पुत्रों की भावना प्रतिभासित दिखाई देती है।

महाभारत के अनुशासन पर्व में परिभाषित नाम-सहस्र में भी परमात्मा की यह चतुर्मूर्ति-भावना स्पष्ट रूप से प्रकट होती है:

चतुर्मूर्तिश्चतुर्बाहुश्चतुर्व्यूहश्चतुर्गतिः।
चतुरात्मा चतुर्भावश्चतुर्वेदविदेकपात्॥

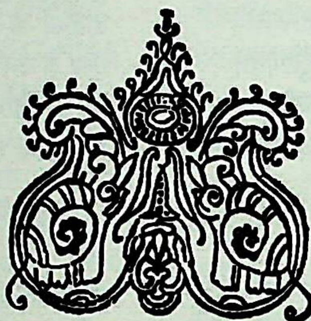
एक ही परम पद चार मूर्तियों में, चार भुजाओं में, चार व्यूहों में, चार प्रकार की गतियों में, आत्मा के चार पादों में, चार भावों में और चार वेदों में प्रकट होता है। इन्हीं चार तत्त्वों को राजा दशरथ और उन की रानियों ने अपने आँगन में खेलनेवाले चाँद जैसे बालकों के रूप में पाया है। उन का जीवन धन्य है और धन्य है उन का मानस जिस में आत्मा के ये चार पाद निरंतर नित्य शुद्ध, नित्य बुद्ध और नित्य मुक्त निरवधिक आनंद का सागर उमड़ पड़ता है।

इस प्रकार श्रीराम का जन्म केवल एक भौतिक घटना नहीं है बल्कि वह जन-मानस में उल्लास पैदा करनेवाली उदात्त भाव-भूमिका का आधार बनता है और आध्यात्मिक सत्य को साकार बनानेवाली एक सात्विक अनुभुति के लिए प्रातिपदिक (मूल)पद-संपदा प्रदान करनेवाला अक्षय आत्म-योग है। इस महान् कार्य को संपन्न करने के लिए कारणजन्मा राम का जन्म होता है। इस में सहयोग देने के लिए इंद्र, सूर्य, अग्नि, मारुत आदि देवता वानर बनकर धरातल पर उतर आते हैं। वालि, सुग्रीव, हनुमान्, नील, सुषेण आदि वानर क्रमशः इंद्र, सूर्य, मारुत, अग्नि, विश्वकर्मा, वरुण आदि का अंश लिए आते हैं और सत्यपराक्रम राम की सत्य-धर्म साधना में सहयोग देकर संसार के सनातन सत्य की संस्तुति के सामूहिक गायन में अपना भी स्वर मिलाते हैं।

श्रीराम के शुभोदय से जैसे देवलोक में आंनद मनाया गया, वैसे अयोध्या में भी सारी राजधानी राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न का जन्मोत्सव उल्लास और उमंग से मनाती है। श्रीराम का जन्म पुनर्वसु नक्षत्र में कर्क लग्न में चैत्र शुक्ला नवमी के दिन होता है जब सूर्य, मंगल, बृहस्पति, शुक्र, और शनि उच्च स्थिति में

थे और चंद्रमा और बृहस्पति कर्क लग्न में एक साथ थे। इस में प्रत्येक स्थिति का अपना महत्त्व है। विशेषकर पुनर्वसु नक्षत्र में पैदा होने के कारण राम का जीवन जनजीवन को पुनर्वासित करने के लिए समर्पित हो जाता है। भरत का जन्म पुष्यमी में और लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न का जन्म आश्लेष में होता है।

दशरथ के चारों पुत्र ज्ञान, शील और पराक्रम में देखते ही देखते उच्च शिखर पर जा पहुँचते हैं। बहुत ही कम समय में वेद, वेदांग, धनुर्वेद आदि में सब पारंगत हो जाते हैं। चारों में सब से अधिक तेजस्वी राम को देखने के लिए केवल अयोध्यावासी ही नहीं, बल्कि दूर दूर से दिव्यता के पारखी अनेकों अतिथि निरंतर आते रहते हैं। एक दिन गायत्री मंत्र के द्रष्टा विश्वामित्र भी दशरथ के यहाँ आते हैं– दशरथनंदन राम को केवल देखन के लिए नहीं, बल्कि उन को अपने साथ ले जाने के लिए। यहाँ से रामायण की कथा में अयन की भावना आरंभ होती हैं।



7. मुनि के संग साथ निषंग

सत्यसंध राजा दशरथ के चारों पुत्र समय की गति के साथ यशस्वी, तेजस्वी और पराक्रमी सिद्ध होकर सत्यपुरी की शोभा बढ़ाते हैं। विनम्रता, विद्वत्ता और विशिष्ट पराक्रम के कारण चारों लोकप्रिय बन जाते हैं। केवल माता की नहीं, बल्कि जनपद के जन-मन की आखों के वे जगमगाते तारे बन जाते हैं। लोकमंगल की भावना और लोकहित की साधना में सहज रूप से आसक्त होना ही उनकी लोकप्रियता का प्रमुख कारण प्रतीत होता है।

चारों में ज्येष्ठ और गुण-गरिमा में श्रेष्ठ राम को लोग प्रायः सत्यपराक्रम कहा करते थे और लक्ष्मण को लक्ष्मिवर्द्धन। राम और लक्ष्मण हमेशा संग संग रहते थे और साथ साथ चलते थे। खान-पान के समय राम हमेशा लक्ष्मण की राह देखा करते थे। अगर लक्ष्मण साथ नहीं हैं तो उनको नींद तक नहीं आती थी। ऐसा लगता था कि वे एक दूसरे के बाहरी प्राण थे। उनका विद्याभ्यास भी साथ साथ चलता था। भरत और शत्रुघ्न भी इसी प्रकार साथ साथ रहते थे। चारों भाई भाद्रपद नक्षत्र की जोड़ियों के समान रहते थे। गुणवान्, रूपवान् और बलवान् पुत्रों को पाकर राजा दशरथ लोकनायक ब्रह्मा की तरह आनन्दमग्न रहा करते थे।

लेकिन लोकहित की साधना के लिए प्रयोजनमूलक और कारण जन्म ग्रहण करने वाले सत्यपराक्रम राम का कार्यक्षेत्र केवल पारिवारिक आनन्द और सुख-संतोष तक सीमित नहीं रह सकता, इस बात की पिता का हृदय कल्पना तक नहीं कर सका। यौवन के प्रांगण में प्रविष्ट अपने प्रिय पुत्रों को वैवाहिक संस्कार से संपन्न कराने की बात दशरथ के मस्तिष्क में जैसे ही आती है, उसी क्षण तपोधन विश्वामित्र का राजमहल में प्रवेश होता है।

अथ राजा दशरथः तेषां दारक्रियां प्रति।
चिंतयामास धर्मात्मा सोपाध्यायः सबांधवाः॥
तस्य चिंतयमानस्य मंत्रिमध्ये महात्मनः।
अभ्यागच्छन्महातेजा विश्वामित्रो महामुनिः॥

जैसे राम का जन्म, वैसे राम का विवाह भी वैयक्तिक या पारिवारिक अनुष्ठान नहीं है। लोकमंगल की भावना से उसे अनुप्राणित करने के लिए ही महामना विश्वामित्र का आगमन होता है। स्थूल दृष्टि से देखने पर विश्वामित्र का आगमन वैवाहिक परिकल्पना में बाधक प्रतीत होता है क्योंकि वह रामचंद्र को अपने साथ ले चलने आते हैं- किसी सार्वजनिक हित के कार्य में। लेकिन इस प्रवास का पर्यवसान राजा दशरथ के अभीष्ट की सिद्धि में ही होता है। इसलिए यह प्रसंग राम के जीवन की पहली अप्रत्याशित और अप्राकृत घटना है जिसका प्रारम्भ भले ही संघर्षमय प्रतीत हो, पर फलागम सुखद होता है।

ग्रीष्मकाल की आकस्मिक वर्षा की तरह विश्वामित्र का आगमन राजभवन में आनन्द का कारण बन जाता है। राजा दशरथ अपने कुलगुरु वसिष्ठ के साथ राजभवन के द्वार पर अभ्यागत का स्वागत करते हैं। तपस्या के तेज से देदीप्यमान धर्मात्मा विश्वामित्र

का यथोचित आदर-सत्कार करके राजा दशरथ अपने को धन्य और अनुगृहीत मानते हैं। विश्वामित्र जब कुशल-मंगल की बात पूछते हैं तो राजा दशरथ पुलकित होकर कहते हैं कि श्रीमान् के शुभागमन से उनका भवन पुण्यतीर्थ बन गया है, उनका जन्म सफल हो गया है, जीवन सार्थक बन गया है और महामुनि की आज्ञा उनके लिए शिरोधार्य है।

राजा दशरथ की इस सात्विक विनम्रता पर विश्वामित्र बहुत ही प्रसन्न होते हैं। उनको अपना मनचाहा वर बिना माँगे मिल जाता है। इस पर महामुनि अपने मन की बात कहतें हैं। पर कहने से पहले सत्यसंध राजा को अपनी सत्यनिष्ठा पर अटल रहने के लिए संसिद्ध कर देते हैं। उनको मालूम है कि राजा उनकी बात मानने के लिए इतनी आसानी से तैयार नहीं हो पाएँगे। इसीलिए काफी लम्बी भूमिका बाँधकर वह अपनी इच्छा प्रकट करते हैं कि उनके द्वारा अनुष्ठित यज्ञ में बाधा डालने वाले मारीच और सुबाहु नाम के दो राक्षसों को पराजित कर यज्ञ की रक्षा करने के लिए पराक्रमी राम को उनके साथ भेजा जाए। वह इस बात का आश्वासन देते हैं कि उनके बेटे के रूप में पैदा हुए राम साधारण राजकुमार नहीं है, बल्कि एक महान् आत्मा हैं, सत्यपराक्रम हैं, मारीच और सुबाहु को निपटाने में सर्वथा समर्थ हैं। वह यह भी कहते हैं कि अगर उन्हें राम की असाधारण महत्ता और पराक्रम पर संदेह हो तो वह वसिष्ठ या अन्य किसी तपोनिष्ठ महात्मा से पूछ सकते हैं और उनका परामर्श लेने के बाद ही राम को उनके साथ भेजें। वह इस बात का आभास भी देते हैं कि इस में राम का कल्याण है और धर्म का अभ्युदय भी निहित है।

विश्वामित्र की यह धर्म-सम्मत और अर्थभरी वाणी सुनकर राजा दशरथ वास्तव में धर्म-संकट में पड़ जाते हैं और राम के वियोग की कल्पना मात्र से बेहोश हो जाते हैं। थोड़ी देर के बाद किसी तरह होश संभाल कर राजा बड़ी विनम्रता से कहते हैं कि वर्षों की तपस्या के फलस्वरूप राज-परिवार में वरदपुत्र के रूप मे पैदा हुए कोमल किशोर राम को लोक-रावण रावण की प्रेरणा से आतंक मचाने वाले भयानक राक्षस मारीच और सुबाहु से लड़ने के लिए किसी भी दशा में भेजना संभव नहीं है और देवता के रूप में आराधित महामुनि विश्वामित्र कृपा करके इस आग्रह को छोड़कर राजा को वचन-हानि से बचा दें। एक ओर सत्य का पालन और दूसरी ओर पुत्र-प्रेम—दोनों के बीच राजा दशरथ घोर मानसिक संघर्ष के शिकार बन जाते हैं। सत्यसंध की सत्यनिष्ठा की परीक्षा यहीं से प्रारम्भ होती है।

राम के बदले राजा दशरथ स्वयं मुनि के साथ चलने को तैयार होते हैं। वह कहते हैं कि अपनी सारी सेना के साथ वह स्वयं राक्षसों के साथ आजीवन लड़ने के लिए तैयार हैं, पर राम को ले जाने वाली बात छोड़ दें। कई प्रकार के तर्क-वितर्क देकर राजा पाँच बार इस बात को दुहराते हैं कि राम को ले जाना समीचीन नहीं है (न रामं नेतुमर्हसि)। ममता का यह मधुर मोह पिता के स्नेहाकुल हृदय को इतना विवश कर देता है कि अंत में निष्कर्ष के रूप में राजा दशरथ राम को मुनि के साथ भेजने से साफ इनकार करते हुए कहते हैं कि मैं अपने बेटे को नहीं दूँगा (नैव दास्यामि पुत्रकम्)। यह बात भी दो बार दशरथ के मुँह से निकलती है।

सत्यद्रष्टा विश्वामित्र को राजा दशरथ की इस सहज प्रतिक्रिया का सही सही अनुमान था। इसीलिए वह राजा से उनके पुत्र को माँगते हुए राम के विशेषण के रूप में दो सारगर्भित शब्दों का प्रयोग करते हैं। उनकी माँग थी :

"अभिप्रेतमसंसक्तं आत्मजं दातुमर्हसि"

(अपने अभिप्रेत और असंसक्त आत्मज को मुझे दे दो)

दशरथनंदन राम का अवतरण जिस 'अभिप्राय' से हुआ है, वही 'अभिप्रेत' शब्द में सूचित है। पर पिता का प्रेम इस अभिप्राय को अभिप्रेत अर्थ में ग्रहण करने में समर्थ नहीं हो पाता । दूसरा शब्द 'असंसक्त' लोकमंगल की इस महती साधना के लिए आवश्यक निर्लिप्तता, सार्वजनिकता, सार्वभौमिकता और अनभीप्सिता की ओर संकेत करता है। महान् बनने के

लिए लघुता को छोड़ना ही पड़ता है। सबका बनने के लिए 'अपनापन' कुछ सीमा तक अर्पित करना पड़ता है। यही विश्वामित्र के द्वारा प्रसक्त 'असंसक्तता' है जो आसक्तिहीनता नहीं है और न साधारण अनासक्ति है। किसी एक में संसक्त न होना ही असंसक्तता है। राम के जीवन की बुनियाद में यही असंसक्त भावना स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है जिसकी ओर महर्षि ने मार्मिक संकेत किया है। बालक राम को महात्मा और सत्यपराक्रम सिद्ध करते हुए विश्वामित्र बड़े गर्व और हर्ष के साथ यह घोषित करते हैं कि :

"अहं वेद्मि महात्मानं रामं सत्यपराक्रमम्।"

इतनी लंबी भूमिका के बावजूद राजा दशरथ का पुत्र-प्रेम 'अभिप्रेत' का अभिप्राय समझने में असमर्थ ही रहता है और "असंसक्त" के प्रति अत्यंत आसक्त हो जाता है। दशरथ के मुँह से कई शब्दों में विश्वामित्र की माँग का जब निराकरण हो जाता है तो सहज ही तपस्वी का मन दुःखी हो जाता है। क्रोधभरे स्वर में वह राजा को आशीर्वाद देकर वापस चलने को उद्यत हो जाते हैं तो धरती काँप उठती है और समस्त देवता त्रस्त हो जाते हैं। इसके भयंकर परिणाम का सहज अनुमान लगाकर वसिष्ठ तत्काल दशरथ को सतर्क कर देते हैं और समझाते हैं कि राम की भलाई के लिए विश्वामित्र उनको अपने साथ ले जाना चाहते हैं, राम की सहायता पाने के लिए नहीं। वह चाहें तो राक्षसों का स्वयं संहार कर सकते हैं। संसार में कोई ऐसा अस्त्र नहीं है जो विश्वामित्र के अधीन नहीं है। वह अस्त्र-विद्या के पारंगत हैं और धर्म के मूर्त रूप हैं। विश्वामित्र के साथ उनकी वात्सल्यमयी छाया में रहने से राम को लाभ ही होगा। संसार में जितने अस्त्र हैं, सब के सब जया और सुप्रभा नाम की दक्ष कन्याओं की संतानें हैं जिन का अन्तरंग विश्वमित्र पहचानते हैं। आवश्यक होने पर नये अस्त्रों का आविष्कार करने की शक्ति से भी वह संपन्न हैं। यह सब समझाकर वसिष्ठ राजा दशरथ को सलाह देते हैं कि विश्वामित्र के साथ राम को निस्संकोच और सहर्ष भेज दें क्योंकि उनका आगमन ही राम के कल्याण के लिए हुआ है।

वसिष्ठ की बातों में "तव पुत्र हितार्थाय" (तुम्हारे बेटे की भलाई के लिए) वाली बात दशरथ को सबसे अच्छी लगती है। दस दिन के लिए राम का वियोग सहने के लिए वह तत्काल तैयार हो जाते हैं, बल्कि राम और लक्ष्मण दोनों को तैयार कर देते हैं। "आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति"—(अपनी ही भलाई की बात से कोई भी बात अच्छी लगती है)— यह औपनिषदिक सत्य सत्यसंध राजा दशरथ के संबंध में भी सत्य सिद्ध होता है। मुनि के साथ राम के चलने में आत्महित के साथ-साथ लोकहित की भावना भी निहित है। माता-पिता की अनुमति और कुलगुरु वसिष्ठ का आशीर्वाद लेकर राम और लक्ष्मण मुनि के साथ निषंग लेकर चलते हैं।

आगे-आगे दंड और कमंडलु लेकर विश्वामित्र और पीछे-पीछे कोदंड और तूणीर लेकर राजकुमार राम और लक्ष्मण अयोध्या से बाहर खुले आकाश के नीचे प्रफुल्ल हृदय से चलने लगते हैं। एक कंधे पर धनुष, दूसरे पर तरकस और सिर पर सुंदर केशराशि से सज-धज कर सहज मनोहारिता के साथ चलनेवाले युगल किशोर तीन फण वाले पन्नगों के समान दिखाई देते हैं। राम को अपने पीछे पीछे चलते देखकर विश्वामित्र मन ही मन पुलक उठते हैं। देवता लोग इस अलौकिक दृश्य को देखकर फूल बरसाते हैं। मंत्रद्रष्टा विश्वामित्र वेद-वेद्य पुरुषोत्तम को राम की मुखमुद्रा में देख पाते हैं। तभी वह अपने अभीष्ट शिष्य को ढूँढते-ढूँढते दशरथ के महल में पहुँच चुके हैं। "वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम् आदित्यवर्णम् तमसः परस्तात्" — इस वेद-मंत्र के स्वर में स्वर मिलाकर विश्वामित्र सत्यपराक्रम राम की महत्ता के प्रति अपनी अभिज्ञता प्रकट करते हैं। राम को अपना शिष्य बनाकर अनुगृहीत होने में विश्वामित्र एक विचित्र और विशिष्ट आनन्द का अनुभव करते हैं।

सरयू के तट पर पहुँचकर विश्वामित्र पीछे की तरफ देखकर 'राम' कहकर बहुत मीठी आवाज़ में राम को सम्बोधित करते हैं। जन्मदाता पिता को 'राम' के इस महामंत्र में निहित माधुर्य और रहस्य का शायद

उतना बोध नहीं हो पाता जितना कि विद्यावेत्ता और विद्यादाता विश्वामित्र को सहज ही हो जाता है। वसिष्ठ भी इस बात को जानते हैं, पर घर की विद्या चाहे जितनी भी विशिष्ट हो, परविद्या जैसी प्रभावशालिनी नहीं बन सकती। इसीलिए विश्वामित्र का आगमन हुआ। वसिष्ठ ने राम को 'वासयोग्य' बनाया तो विश्वामित्र उनको 'विश्वमानव' बनाने में लगे हुए हैं। सरयू के दक्षिण तट पर विश्वामित्र अचानक रुक जाते हैं। विद्यादान और शक्ति-संप्रेषण के लिए उनको वह उचित स्थान और समय प्रतीत होता है। इसीलिए वह अविलम्ब राम से सरयू जल का आचमन कराते हैं। आचमन के बाद 'बला' और 'अतिबला' नाम की दो विद्याओं का वह उपदेश देते हैं। राम बड़ी प्रसन्नता और कृतज्ञता के साथ दोनों विद्याओं को ग्रहण करते हैं। इन मंत्रों के मनन से भूख-प्यास पर विजय मिलती है, शरीर को कभी थकावट नहीं होती, न व्याधि होती है और न निखार में कभी कोई कमी आती है। इन विद्याओं से सम्पन्न व्यक्ति की बात का कोई खंडन नहीं कर सकता और न उसके पराक्रम को कभी पराजय नाम की घटना देखने को मिलेगी। बला और अतिबला के अध्ययन, मनन और ध्यान से सौभाग्य की वृद्धि होगी, यश का विस्तार होगा, बुद्धि का विकास होगा और दया की भावना बढ़ेगी। इन विद्याओं को ग्रहण करने के बाद रामचंद्र का मुखमंडल शरत् के सूर्य की तरह चमक उठता है।

राम, लक्ष्मण और विश्वामित्र सरयू के तट पर ही सारी रात बिताते हैं। राजा दशरथ के दुलारे बेटे नदी के किनारे घास की शय्या पर आराम से सो जाते हैं और मुनिवर की मनोहर बातें सुनते सुनते राजमहल की सारी बातें भूल जाते हैं। इसी असंसक्त आनन्द में रात बीत जाती है और सुबह होती है। सूर्योदय के पहले प्रभात की प्रशांत घड़ियों में मंत्रद्रष्टा महामुनि की मंजुल वाणी में प्रबोध-गीत सुनाई देता है :

कौसल्या सुप्रजा राम पूर्वा संध्या प्रवर्तते।
उत्तिष्ठ नरशार्दूल कर्तव्यं दैवमाह्निकम्॥

(हे नरोत्तम राम, माँ कौशल्या तुम्हें जन्म देकर सच्चे अर्थों में जननी बन गई है। अब पौ फटने वाली है। पूरब की दिशा में उषा की लाली छाई हुई है मानों वह सब को जगा रही है। तुम भी जागो, उठो और देवताओं को संतुष्ट करनेवाला अपना कर्त्तव्य कर्म करो)।

विश्वामित्र का यह प्रबोध-गीत सुनकर राम और लक्ष्मण जाग उठते हैं और सरयू नदी में स्नान करके आचार्य के श्रीचरणों में सुनने लायक बातें सुनने के लिए उत्सुकता लिए बैठते हैं। प्रबोध का यह प्रशस्त श्लोक आज भी दक्षिण भारत के प्रसिद्ध क्षेत्र तिरुपति में प्रतिदिन प्रभात के समय बालाजी की "सुप्रभात' वंदना में सुनाई देता है। 'सुप्रभात' का स्तोत्र इसी श्लोक से आरम्भ होता है। इससे इस वाणी की निसर्ग रमणीयता स्पष्ट होती है।

प्रातःकालीन परिसंवाद के बाद फिर तीनों की पद-यात्रा प्रारम्भ होती है। थोड़ी दूर जाने के बाद सरयू और गंगा का संगम दिखाई देता है। यह संगम राजकुमारों के लिए बहुत ही हृदयंगम लगता है। संगम की शोभा बढ़ानेवाला एक पवित्र आश्रम भी आसपास दिखाई देता है। आश्रम के बारे में राम और लक्ष्मण की सहज जिज्ञासा का समाधान करते हुए विश्वामित्र अंग देश के उस अनंग आश्रम की सारी कहानी संक्षेप में सुनाते हैं।

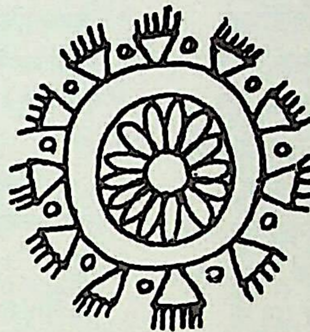
यह वही स्थान है जहाँ पर अत्यंत प्राचीन काल में कामदेव ने तपस्या में लीन वामदेव शंकर पर विजय पाने का प्रयास किया था। पर भगवान् रुद्र की रोषभरी दृष्टि से मन्मथ भस्मीभूत हो जाता है और वह अनंग बन जाता है। जिस स्थान पर कामदेव ने अपना अंग (शरीर) छोड़ दिया था, वह अंग देश के नाम से प्रसिद्ध हो गया। भगवान् शंकर की लोक-शंकर साधना से पवित्र होने के कारण यह अनेक ऋषि-मुनियों का साधना-स्थल बन गया। सरयू और गंगा के संगम पर बसा हुआ यह पावन तपोवन कामाश्रम कहलाता है।

जब विश्वामित्र उस आश्रम के संबंध में वृत्तांत

सुनाने लगते हैं तब आश्रमवासी भी वहाँ एकत्रित हो जाते हैं। राजा दशरथ के पुत्रों को अपने आश्रम में विशिष्ट अतिथियों के रूप में पाकर आश्रमवासी बहुत आनन्दित हो जाते हैं और राम-लक्ष्मण सहित विश्वामित्र का वे बड़ी श्रद्धा के साथ आदर-सत्कार करते हैं। बात करते करते शाम हो जाती है। सायं. संध्या की उपासना करने के बाद सभी तपस्वी विश्वामित्र के पास जा बैठते हैं – कुछ सुनने योग्य बातें सुनने की इच्छा लेकर।

भोजन-पान का भी सुंदर और सुरुचिपूर्ण प्रबंध आश्रम के सात्विक वातावरण में अनायास संपन्न होता है। भोजन के बाद विश्वामित्र अपने श्रद्धालु श्रोताओं के बीच में बैठकर अनेक बातें कहते हैं, कई कहानियाँ सुनाते हैं। कथा-प्रसंग के बीच समय का बोध न वक्ता को होता है और न श्रोताओं को। विश्वामित्र की विश्व-मनोहर वाणी में हर बात नई लगती है और बात करने का ढंग भी हर प्रसंग में नया बन जाता है। कथन और कथ्य-दोनों अपने ढंग के अनोखे लगते हैं। कहने सुनने में ही नहीं, बल्कि कहने सुनने वालों में भी एक अपूर्व और अभिराम रमणीयता सारे वातावरण को रममाण बना देती है। यह रमणीयता वाल्मीकि के स्पृहणीय शब्दों में ही स्मरणीय है :

कथाभिरभिरामाभिरभिरामौ नृपात्मजौ।
रमयामास धर्मात्मा कौशिको मुनिपुगवः॥



8. अस्त्र संग्रहण-असुर संहरण

राम के अयन (रामायण) के तीन आयाम हैं लोक, वेद और अध्यात्म। इनका प्राभातिक आभास विश्वामित्र के साथ राम और लक्ष्मण की पद-यात्रा में होता है। राजधानी अयोध्या लोक का प्रतिनिधित्व करती है तो तपोधाम सिद्धाश्रम आध्यात्मिक साधना और सिद्धि की सहजीविता को सिद्ध करता है और रास्ते में जो वन, उपवन, तपोवन और कानन दिखाई देते हैं तथा विद्यादान, संध्या-वंदन, कथा-श्रवण, संग्रह, संहार आदि रोचक और प्रेरक घटनाएँ घटती हैं, उन में वेद का नाद मुखरित होता है। राम और लक्ष्मण वेद और लोक के प्रतीक हैं तो विश्वामित्र उन के अयन को अध्यात्म की ज्योति से आलोकित कर देते हैं ताकि राम का अयन लोकमंगल को सुनिश्चित करने वाला स्वस्त्ययन बन जाए।

जन-जीवन को आसुरी शक्तियों के आतंक से बचा कर लौकिक सुख-समृद्धि के साथ साथ पारलौकिक शांति को स्थापित करने के लिए केवल लोक और वेद पर्याप्त नहीं हैं चाहे वे कितने भी सबल और सुफल हों। आध्यात्मिक आलोक ही इन दोनों को सच्चा बल और स्थायी फल प्रदान कर सकता है। इसीलिए विश्वामित्र आए – दशरथनंदन की सुषुप्त महनीयता को लोक का आलोक दर्शाकर जगाने। राम की जागृति लोक की जागृति है, वेद का अनुनाद है और अध्यात्म की अँगड़ाई है। रावण जैसे लोक-रावण राक्षसों के आतंक से त्रस्त वसुमती को इस जागरण की आरवश्यकता थी और ऐसी आवश्यकता समय समय पर यह विराट् विश्व अनुभव करता आया है और करता रहेगा। शांति-काल में वसिष्ठ जैसे बृह्मनिष्ठ तपस्वियों के सान्निध्य से काम चलता है, पर आततायियों से आतंकित और आशंकित विश्व को कभी कभी विप्लवकारी परमर्षियों की भी आवश्यकता पड़ती है।

विश्वामित्र के पीछे जब राम और लक्ष्मण पैदल चलने लगते हैं तो ऐसा लगता है कि प्रणव की तीन मात्राएँ मूर्त रूप धारण कर पद-यात्रा कर रही हैं। यहाँ पर माँडूक्य उपनिषद् का एक मननीय मंत्र अपने आप स्मरण हो आता है जिस में अधिमात्र प्रणव की मात्राओं को अध्यक्षर आत्मा के पादों के साथ अभिन्न बताते हुए उद्घोषित किया जाता है कि प्रणव की मात्राएँ ही आत्मा के पाद हैं और आत्मा के पाद ही प्रणव की मात्राएँ हैं (पादा मात्रा मात्राश्च पादाः)। राजकुमार राम और लक्ष्मण और तपोधनी विश्वामित्र के शुभ चरणों में ये ही मात्राएं बोल उठती हैं और इन्हीं के पाद प्रतिपादित होते हैं।

विश्वामित्र के नैष्ठिक अनुष्ठान को निर्विघ्न बनाने के लिए राम और लक्ष्मण जा रहे हैं न कि किसी विनोद यात्रा में मन बहलाने के लिए। इस कर्त्तव्य भावना की ओर प्रथम प्रभात में ही मुनिवर अपने प्रियवर राम का ध्यान आकृष्ट करते हुए कहते हैं कि उन्हें दैव कार्य को संपन्न करना है (कर्तव्यं दैवमाह्निकम्)। दैव कार्य अथवा लोकहित की इस साधना को मनस्वी महामुनि

'आह्निक' की संज्ञा देते हैं। 'आह्निक' शब्द का प्रयोग विशेष ध्यान देने योग्य है। 'अह्न' का मतलब होता है 'दिन' और 'आह्निक' से आशय निकलता है – 'दिनचर्या। प्रातः संध्या से सायं संध्या तक सक्रिय दिनमान चलता है और फिर शाम से सुबह तक सुहावनी रात चलती है। सुबह-शाम के बीच मध्याह्न और शाम-सुबह के बीच निशीथ भी एक प्रकार की संध्या को घटित करते हैं। किसी भी साधना में इन संध्याओं का विशेष महत्त्व होता है। इसीलिए विश्वामित्र समेत राम लक्ष्मण की वनयात्रा में प्रभात (सुबह) और प्रदोष (शाम) का विशेष उल्लेख मिलता है। कहीं कहीं सर्ग का आरंभ ही "प्रभातायां तु शर्वर्याम्" "ततः प्रभाते विमले" आदि सुप्रभात-सूचक शब्दों से होता है। प्रायः प्रभात का समय प्राण-शक्ति के संचय में प्रयुक्त होता है और प्रदोष का समय प्रायः आसुरी शक्तियों के विनाश में। रजनी के पहले पहरों में रमणीय कथा-कथन का मनोरंजक और ज्ञानवर्द्धक कार्यक्रम चलता है। संक्षेप में, राम लक्ष्मण की मुनिसहित वनयात्रा की यही दिनचर्या हैं।

पहले ही दिन मुनि के अनुग्रह से राम और लक्ष्मण को बला और अतिबला नाम की योग-विद्याएँ प्राप्त होती हैं और मन्मथ-नाथ की महिमा से मंडित अंग देश के अनंग आश्रम का परिचय भी मिलता है। दूसरे दिन सबेरे उठकर स्नान-ध्यान, अनुष्ठान आदि से निवृत्त होकर तीनों यात्री सरयू नदी पर नाव में बैठकर चलने लगते हैं तो बीच में दो नदियों के टकराने से पानी की भारी आवाज़ सुनाई देती है। राम और लक्ष्मण के कौतूहल को शांत करते हुए विश्वामित्र गंगा और सरयू के संगम का वृत्तांत सुनाते हैं। मानस-सर से निकली सरिता होने के कारण अयोध्या के आसपास बहने वाली इस नदी का नाम सरयू पड़ जाता है। दो नदियों का संगम मंगलमय माना जाता है। इसलिए विश्वामित्र के कहने पर दोनों भाई उस पुण्य तीर्थ को प्रणाम करते हैं। परंतु उस मंगलमय संगम के पास ही एक अमंगलकर और भयंकर वन दिखाई देता है। उस के बारे में भी राम-लक्ष्मण जानना चाहते हैं तो विश्वामित्र उस का भी वृत्तांत विस्तार से सुनाते हैं।

पुराने ज़माने में इंद्र ने वृत्रासुर का वध किया था। ब्रह्म-हत्या के दोष से उन का शरीर कलुषित हो गया। तपोधनी महामुनियों और देवताओं ने उन के मालिन्य को यहीं पर धो डाला था। इसीलिए इस प्रांत में मलद और करुष नाम के दो जनपद हुए। इन दोनों जनपदों को इंद्र का वरदान मिला था। इस का अनुचित लाभ उठाकर ताटका नाम की यक्षिणी यहाँ के लोगों को सताने लगी। उस का बेटा मारीच भी इंद्र जैसा बलवान् है और जनता को अपनी आसुरी शक्ति से परेशान करता है। माँ-बेटे की करतूतों से इन दोनों जनपदों की प्रजा परेशान रहती है। ताटका पहले केवल साधारण अबला थी। सुकेतु नाम के यक्ष की वह प्यारी संतान थी और सुंद नाम के सुंदर युवक को ब्याही गई थी। पर सुंद के मर जाने के बाद वह अगस्त्य पर हमला करने लगी तो महर्षि ने उस को शाप देकर उस का रूप विकराल बना दिया। तब से यह यक्षिणी इस प्रदेश की अबोध जनता के जीवन को अस्तव्यस्त और संकटग्रस्त कर रही है। जनजीवन में न जान-माल की सुरक्षा रही और न ज्ञान-विज्ञान के लिए विकास की गुंजाइश। इसीलिए विश्वामित्र राम से कहते हैं कि भौतिक और आध्यात्मिक सुख-शांति के लिए (गो-ब्रह्मण-हितार्थाय) इस दुष्ट राक्षसी का वध करना चाहिए और स्त्री समझकर इस पर दया दिखाने की कोई आवश्यकता नहीं है। धर्मघातिनी स्त्रियों का वध अधर्म नहीं हो सकता है, इस बात की पुष्टि में विश्वामित्र पहले की घटनाओं का उदाहरण देते हैं। प्रह्लाद की पोती मंथरा जब पृथ्वी का नाश करने पर उतारू हुई तब इंद्र ने उस का वध किया था। इसी प्रकार सारे संसार को अनिंद्र करने की इच्छा रखनेवाली काव्यमाता को भगवान् विष्णु ने समाप्त किया था। इसीलिए विश्वामित्र का शासन है कि जन-जीवन की सुरक्षा और मानवता की रक्षा को दृष्टि में रखकर ताटका का तत्काल संहार किया जाए।

अब राम के सामने कोई विकल्प नहीं है। घर से विदा होते समय पिताजी का आदेश मिला कि

ब्रह्मवादी विश्वामित्र का शासन मान लिया जाए। इसलिए सत्यसंध पिता और धर्मात्मा गुरु का आदेश सत्यपराक्रम राम के लिए शिरोधार्य बन जाता है। फिर भी राम स्वभाव से दयामय हैं। लोक-कल्याण और दुष्ट-दमन के नाम से सब से पहले एक स्त्री का वध करना उन को अच्छा नहीं लग रहा है। परंतु कोई दूसरा मार्ग नहीं है। यह सचमुच उन के लिए परीक्षा का समय है। इसलिए धर्म और अधर्म की बात गुरुजनों पर छोड़कर निर्दिष्ट शासन का पालन करने में ही वह अपना और संसार का श्रेय समझते हैं।

इधर से जब बात होती रहती है तो उसी क्षण उधर से ताटका आ धमकती है। राम के धनुष की आवाज़ सुनते ही उस शब्द के उद्‌गम-स्थान को ढूँढते हुए क्रोध से पागल राक्षसी प्रत्यक्ष हो जाती है। उस के विकराल मुख-विवर को देखकर राम और लक्ष्मण चौंक उठते हैं। उस के दारुण रूप को देखते ही साधारण व्यक्ति का हृदय फट सकता है। ताटका का वध करने के लिए राम को आदेश मिला है और आदेश का पालन करने के लिए वह कृतसंकल्प भी हैं। फिर भी शापग्रस्त नारी को देखकर उन के मन में दया आती है। इसलिए वह केवल उस के कान और नाक कटवाकर उसकी गति को अवरुद्ध कर देते हैं। निष्ठुर निशाचरी पर दया दिखानेवाले राम को विश्वामित्र फिर एक बार समझाकर कहते हैं कि प्रजा की रक्षा करना राजा का कर्तव्य है चाहे उस में कुछ कठोरता से भी काम लेना क्यों न पड़े। इसी बीच में ताटका क्रोध से अंधी होकर राम और लक्ष्मण पर पत्थर बरसाने लगती है और अपनी आसुरी माया का भी उन पर प्रयोग करती है। शाम का समय होने लगता है और शाम को आसुरी शक्ति बढ़ जाती है। जैसे ही ताटका राम और लक्ष्मण पर कूद पड़ती है उसी क्षण राम अपने तीव्र शराघात से ताटका को मार गिराते हैं।

राम के द्वारा संपन्न असुर-संहार की यह प्रारंभिक घटना है। इस दृष्टि से इस का विशेष महत्त्व है। अंतिरिक्ष में समस्त देवताओं के साथ देवेन्द्र इस घटना को देख रहे हैं। अभी राम को औपचारिक रूप से विश्वामित्र ने अस्त्रदान नहीं किया है। केवल बला और अतिबला नाम की विद्याएँ उन के पास हैं। ताटका का वध करना भी मामूली बात नहीं है। आगे चलकर यज्ञ में बाधा डालनेवाले जिस मारीच के साथ राम को निपटना है, उसी की यह माता है। इस के अलावा, ताटका धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप, उचित-अनुचित कुछ नहीं जानती। वह केवल हिंसा की अंध आराधिका है, तमोमयी प्रवृत्ति की प्रत्यक्ष मूर्ति है। फिर भी लगभग निरस्त्र होकर राम केवल अपने शर-प्रयोग के कौशल के सहारे ताटका को अनायास समाप्त कर देते हैं- एक ही बाण से। यह दशरथ नंदन राम के सहज सात्विक पराक्रम का परिचायक है जिस की पूरी आशा मंत्रद्रष्टा विश्वामित्र को थी। इसीलिए वे राम को अपने पास बुलाकर उन के सिर को सूंघ लेते हैं। अंतरिक्ष के अदृश्य देवता विश्वामित्र को इस बात के लिए प्रेरित करते हैं कि दैव कार्य को संपन्न करने में सर्वथा सक्षम राम को अब अविलंब सत्यपराक्रम से संयोजित अमोघ अस्त्रों का उपदेश देकर उन को अनुगृहीत करें। विश्वामित्र मन ही मन उसी के अनुरूप संकल्प भी कर लेते हैं। पर रात बितानी है, और प्रभात की प्रतीक्षा करनी है।

अगले दिन सुबह उठते ही विश्वामित्र प्रेम से राम को अपने पास बुलाते हैं और मुस्कुराकर उन से कहते हैं कि अब मैं तुम्हारे लिए कुछ अस्त्र देना चाहता हूँ जो तुम्हें इस प्रकार के संघर्ष और संकट के समय अमोघ सहयोग दे सकेंगे। यह कहकर अस्त्रविद्या-विशारद विश्वामित्र दंडचक्र, धर्मचक्र, कालचक्र, विष्णुचक्र, इंद्रचक्र, वज्रास्त्र, शूलास्त्र, ब्रह्मशिरा, ऐषीक, ब्रह्मास्त्र, धर्मपाश, कालपाश, वरुणपाश, पिनाकास्त्र, आग्नेयास्त्र, वायव्यास्त्र, हयशिरोस्त्र, क्रौंच, कंकाल, कापाल, किंकिणी, वैद्याधर, नंदन, गांधर्व, मोहन, प्रस्वापन, प्रशमन, सौम्य, वर्षण, शोषण, संतापन, विलापन, तामस, सौमन, संवर्त, मौसल, सत्य, सौर, सोम, मायामय, शिशिर, त्वाष्ट्र, दारुण, तेजःप्रभ, मानव आदि अनेक अस्त्र एक साथ राम को सौंप देते हैं। पूरब की ओर मुँह करके

विश्वामित्र जैसे ही इन अस्त्रों का मंत्रोच्चारण करते हैं, वैसे ही सभी अस्त्र एक-एक करके मूर्त रूप धारण कर राम के सामने प्रकट होते हैं और राम से आज्ञा माँगते हैं। स्थितप्रज्ञ राम प्रसन्न गंभीर मुद्रा में सभी अस्त्रों को ग्रहण करते हैं और आवश्वयकता पड़ने पर मन में प्रकट होने के लिए कहकर उन को बिदा कर देते हैं। इतने अस्त्रों की मंत्र-विधि को एक बार सुनकर याद रखने और उन के प्रकट होने पर मानसिक संतुलन बनाए रखने में सत्यपराक्रम राम की सात्विक गुणवत्ता और लाकोत्तर बुद्धिमत्ता का प्रमाण मिल जाता है। इस प्रकार विश्वामित्र की दूसरी परीक्षा में भी राम खरे उतर आते हैं। पर परीक्षा यहीं समाप्त नहीं होती।

विश्वामित्र ने राम को अवाश्यकता पड़ने पर अस्त्रों का प्रयोग करने की विधि तो सिखाई, पर उन को वापस बुलाने की प्रक्रिया नहीं बताई। अस्त्रदान के बाद जब विश्वामित्र चलने को उद्यत होते हैं तो राम उन को टोक देते हैं और बड़ी विनम्र भावना से उपसंहार की विधि भी बताने का अनुरोध करते हैं। इस पर विश्वामित्र सत्यवान्, सत्यकीर्ति, पराङ्मुख-अवाङ्मुख, लक्ष्य-अलक्ष्य आदि उपसंहारक अस्त्रविद्या भी सिखाते हैं। ये सब के सब प्रजापति कृशाश्व की संतानें हैं। ये केवल पात्र व्यक्ति को ही सौंपी जा सकती हैं। विश्वामित्र को इस के लिए राम से उत्तम पात्र का मिलना कठिन है क्योंकि वह स्मृतिमान्, द्युतिमान्, धृतिमान् और नीतिमान् होने के साथ साथ सत्य और धर्म के साकार रूप हैं। प्रयोज्य अस्त्रों की तरह उपसंहरणीय अस्त्र भी साकार होकर राम के सामने हाथ जोड़ कर उपस्थित होते हैं। सही समय पर प्रकट होने की आज्ञा पाकर सभी अस्त्र अदृश्य हो जाते हैं।

अब विश्वामित्र ने राम को यज्ञ-रक्षा के लिए पूर्ण रूप से परिपक्व और परिपुष्ट बना दिया है। सामने सिद्धाश्रम दिखाई देता है जहाँ पर विश्वामित्र को यज्ञ का अनुष्ठान करना है और जिस की रक्षा के लिए राम को बुलाया गया है। यह वही आश्रम है जहाँ पर भगवान् विष्णु ने वामन के रूप में सैंकड़ों वर्ष की तपस्या की और बलि को दबाकर देवताओं को आक्रमणकारियों के आतंक से बचाया था। यह वही आश्रम है जहाँ पर अदिति और कश्यप के अनुरोध पर भगवान् ने इंद्र का छोटा भाई बन कर जन्म लिया था। इसी आश्रम को विश्वामित्र ने भी अपने अनुष्ठान के लिए चुन लिया है। इस अनुष्ठान का एकमात्र लक्ष्य है – संसार को आसुरी नृशंसता से बचाना तथा अत्याचार, अन्याय और अविनीति से जन-जीवन को मुक्त करना। इसी लोक-मंगल के कार्य के लिए राम का जन्म हुआ है, यह बात विश्वामित्र भली भाँति जानते थे। तभी वह उन को अपने साथ ले आए।

राम और लक्ष्मण को साथ लिये सिद्धाश्रम में पहुँचते समय विश्वामित्र पुनर्वसु नक्षत्र के दो पार्श्वों के बीच सुशोभित होन वाले हिमरहित हिमकर (नीहारमुक्त चंद्रमा) जैसे लगते हैं। उन को देखते ही आश्रमवासी आदर से खड़े होते हैं और तरुण अतिथियों के साथ महामुनि का भव्य स्वागत करते हैं। थोड़ी देर विश्राम करने के बाद राम और लक्ष्मण विश्वामित्र से कहते हैं कि आप इसी दिन दीक्षा ग्रहण कर सकते हैं। विश्वामित्र राजकुमारों के उस प्रस्ताव को स्वीकार करते है और तत्काल निष्ठासहित दीक्षा में प्रवेश करते हैं।

सिद्धाश्रम में पहली रात प्रसन्नता के साथ बीतती है। दूसरे दिन प्रातःकाल उठकर राम और लक्ष्मण विश्वामित्र के पास जाकर यज्ञ की क्रियाविधि और अपने कर्त्तव्य के बारे में पूछते हैं। पर विश्वामित्र यज्ञ-दीक्षा में प्रविष्ट होने के कारण मौन धारण करते हैं। अन्य आश्रमवासी बताते हैं कि छह दिन तक महामुनि मौन रहेंगे और इस अवधि में यज्ञ को मारीच आदि राक्षसों से बचाना है। उसी क्षण से राम और लक्ष्मण दिन रात यज्ञ-वाटिका की रखवाली करते हैं। छठे दिन दोनों भाई विशेष रूप से सावधान, सतर्क और सजग रहते हैं। राम और लक्ष्मण के देखते ही देखते यज्ञवेदी अचानक प्रज्वलित हो उठती है। ऊपर से मारीच आदि राक्षस आकर यज्ञकुंड में रक्त बरसाने का प्रयास करते हैं। तत्काल राम मानवास्त्र का प्रयोग कर मारीच को सौ योजन दूर सागर के बीच गिराते हैं। राम

का तीर मारीच के प्राणों का हरण नहीं करता, पर उस को दूर सागर में फेंक देता है। लेकिन मारीच के भाई सुबाहु का आग्नेय अस्त्र से और अन्य राक्षसों का वायव्य अस्त्र से संहार किया जाता है। इस प्रकार विश्वामित्र के यज्ञ को असुरों के आतंक से बचाने वाले सत्यपराक्रम राम की सारे आश्रमवासी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं। विश्वामित्र भी संपूर्ण दिशाओं को आतंक रहित पाकर अत्यंत आनंदित होते हैं और अपने को कृतकृत्य समझते हैं।

विश्वकल्याण में विघ्न डालनेवाले विकट राक्षसों का संहार होने से विश्वामित्र का आश्रम सही अर्थों में सिद्धाश्रम बन जाता है। विश्वामित्र केवल दस दिन (दशरात्रं) के लिए राम को अपने साथ ले आए हैं। राजा दशरथ से उनकी यही बात हुई थी। दो दिन सिद्धाश्रम पहुँचने में लगे और छह दिन सिद्धाश्रम में अभीष्ट कार्य की सिद्धि में लग गए। अब दो दिन शेष हैं। अब तक विश्वामित्र या विश्व का ही कल्याण हुआ है। अगले दो दिनों में दशरथनंदन का क्या कल्याण होने वाला है, यह आगे का समय ही बता सकता है। इसलिए भविष्य का द्वार खोलने वाली भव्य संध्या की उपासना करके राम और लक्ष्मण सिद्धाश्रम में विश्राम करते हैं और अगले दिन फिर प्रभात की वंदना करके मुनिवर की सेवा में प्रस्तुत हो जाते हैं।

"गता भगवती रात्रिः, अहः शिवमुपस्थितम्"



9. मुनि के मुँह से मधुर कथामृत

मौन-धारण मुनियों का सहज लक्षण है। लेकिन उनका मौन भी मधुर होता है क्योंकि वह प्रज्ञान की भाषा है। इस भाषा में ध्यानलीन मन कुछ नहीं कहते हुए भी बहुत कुछ कह देता है। कभी कभी प्रज्ञान की यह भाषा योग्य श्रोता को पाकर प्रेम और ममता की भाषा बन जाती है। यह बात मुनिवर विश्वामित्र के साथ चरितार्थ होती है जो दशरथनंदन राम और लक्ष्मण को दस दिन के लिए अपने साथ ले आते हैं। पहले दो दिन रास्ते में वह कई कहानियाँ सुनाते हैं, पर सिद्धाश्रम में प्रवेश करते ही पूर्व सूचना दिए बिना छह दिन तक गंभीर मौन धारण करते हैं। सिद्धाश्रम में कार्य सिद्ध होने के बाद अगले दिन सवेरे जब राम और लक्ष्मण आश्रमवासियों के साथ विश्वामित्र के पास जाकर बैठते हैं और आगे की आज्ञा माँगते हैं तो विश्वामित्र तो कुछ नहीं कहते, पर उन की मौन मुख-मुद्रा को शब्दों का रूप देते हुए आश्रमवासी महर्षि यह प्रस्ताव रखते हैं कि जनकपुरी में राजा जनक के द्वारा जो परम धर्मिष्ठ यज्ञ अनुष्ठित हो रहा है, उस में राम और लक्ष्मण भाग लें। इस प्रस्ताव को तत्काल स्वीकार करते हुए विश्वामित्र कहते हैं:–

"स्वस्ति वो ऽस्तु गमिष्यामि सिद्धः सिद्धाश्रमादहम्"

छह दिन की दीक्षा के बाद इसी वाक्य के साथ विश्वामित्र का मौन समाप्त होता हैं। यह वाक्य भी वह वन देवताओं को संबोधित करके कहते हैं जो केवल तपोधन महर्षियों को दिखाई देते है। इतना कहकर वह अपने सहयोगी महर्षियों और अनुयायी राजकुमारों के साथ "उत्तरे जाह्नवी-तीरे हिमवंतं शिलोच्चयम्" की ओर प्रस्थान करते हैं। लौकिक दृष्टि से यह प्रस्थान दशरथ को दिए गए वचन का स्पष्ट उल्लंघन-सा प्रतीत होता है क्योंकि यज्ञ-रक्षा के बाद राजकुमारों को वापस अयोध्या ले जाना था। पर मुनि के चरण मिथला की ओर चल पड़ते हैं और राजकुमार भी मुनि के पीछे चल देते हैं। अब तो आश्रमवासी भी साथ देते हैं। मिथिला में राजा जनक के द्वारा अनुष्ठित होनेवाले यज्ञ और यज्ञ के आधारभूत धनुष के बारे में आश्रमवासी संकेत भी करते हैं, पर राम और लक्ष्मण उस में विशेष रुचि दिखाते प्रतीत नहीं होते। उन का ध्यान केवल विश्वामित्र के अनुगमन तथा उन की आज्ञा के पालन पर केंद्रित दिखाई देता है। राम की यही निर्लिप्त कर्मनिष्ठा धर्मिष्ठ विश्वामित्र को अधिक शिष्य-वत्सल बनाती है।

शाम तक समस्त यात्री शोणभद्र के तट तक पहुँच जाते हैं। सायं संध्या की उपासना के बाद सब लोग मुनि के पास बैठ जाते हैं और सब से आगे बैठे राम मुनि से उस रमणीय प्रदेश का वृत्तांत जानना चाहते हैं। राम की सहज जिज्ञासा देखकर मुनि के मन में फिर से कहानी सुनाने की इच्छा पैदा होती है। राम के मुख-मंडल की रमणीयता मुनि की मननीय मुख-मुद्रा को कमनीय कथा-भारती में परिवर्तित कर देती है। छह दिन के मौन के बाद सातवें दिन मुनि के मुँह से मधुर कथामृत की मंजुल धारा फिर से प्रवाहित होने लगती है।

सुंदर पर्वतमाला की तरह सुशोभित पाँच पहाड़ों के बीच प्रतिष्ठित यह मागध देश वसु नाम के राजा के द्वारा बसाया हुआ वसुप्रद सुक्षेत्र है जो वसुमती के नाम से प्रसिद्ध है। राजा वसु ब्रह्मा के मानस-पुत्र कुश के चौथे पुत्र थे। उन के तीन बड़े भाई थे–कुशांब, कुशनाभ और अमूर्तरज। ये चारों वैदर्भी के गर्भ से पैदा हुए थे। दूसरे पुत्र कुशनाभ ने घृताची से विवाह किया। घृताची ने सौ कन्याओं को जन्म दिया। संगीत और नृत्य में विशारद सौ कन्याएँ एक दिन सुंदर उपवन में जाकर आमोद-प्रमोद से अपना मन बहलाने लगती हैं तो वायु देवता के मन में उनके प्रति अनुराग पैदा होता है। पर पवन की प्रणय-याचना को जब कुशनाभ की कन्याएँ अस्वीकार करती हैं और उन की हँसी उड़ाती हैं तो वायु का उन पर प्रकोप होता है और वाताघात से सारी कन्याएँ कुब्जाएँ बन जाती हैं। कुशनाभ अपनी बेटियों की नियम-निष्ठा तथा क्षमाशीलता से संतुष्ट तो होते हैं, पर उन के योग्य वर की खोज में रहते हैं। उसी समय चूली नाम के तपस्वी की सेवा शुश्रूषा में लगी हुई सोमदा नाम की कुमारी कन्या तपस्वी के अनुग्रह से ब्रह्म तेज से संपन्न ब्रह्मदत्त नाम के पुत्र को प्राप्त करती है। ब्रह्मंदत्त को अपनी कन्याओं का योग्य वर समझकर कुशनाभ उन को अपनी सौ कन्याओं का पति बनाता है। ब्रह्मदत्त का हाथ लगते ही कन्याओं का कुब्जत्व नष्ट हो जाता है और सब सुखी रहने लगते हैं। कुशनाभ सौ कन्याओं का पिता होकर भी वंशकर पुत्र को प्राप्त करने के लिए तपस्या करते हैं और फलस्वरूप गाधि नाम के पुत्र को पाते हैं। गाधि के पुत्र ही विश्वामित्र हैं। इसीलिए उन को गाधेय कहते हैं। कुश वंश का होने के कारण कौशिक के नाम से भी वह जाने जाते हैं। इस प्रकार स्थल का इतिहास बताते बताते मुनिवर अपनी भी बात बता देते हैं। प्रसंगवश विश्वामित्र अपनी बहन सत्यवती के बारे में भी बताते हैं जो अपने पति के साथ सशरीर स्वर्ग पहुँचकर भूलोक में हिमालय के पास लोकमंगल की भावना से पुण्यसलिला सरिता बनकर बहती है। यह सारी कहानी राम और लक्ष्मण को आश्चर्यचकित और चिंतनशील बनाती है। कहानी सुनाते सुनाते मुनिवर को पता चलता है कि आधी रात का समय हो चुका है। आधी रात के समय प्रकृति की स्तब्ध मनोहारिता का वर्णन करने के बाद मुनि विश्वामित्र अपने श्रद्धालु श्रोताओं को सोने के लिए कहकर स्वयं विश्राम करते हैं।

फिर सबेरा हो जाता है और विश्वामित्र के मुँह से प्राभातिक प्रबुद्धता को प्रकट करनेवाला जागरण-गीत मुखरित हो उठता है :

सुप्रभाता निशा राम पूर्वा संध्या प्रवर्तते।
उत्तिष्ठोत्तिष्ठ भद्रं ते गमनायाभिरोचय॥

राम और लक्ष्मण को घर से निकले यह दसवाँ दिन है। आज शायद अयोध्या वापस पहुँचने का दिन था। देशिक कौशिक उन को आगे चलने के लिए (गमनाय) अवश्य कह रहे हैं, पर किस दिशा में, किस आशय से और कब तक, इस का न कोई भरोसा है और न कोई आभास। इसलिए राम बड़ी विनम्रता के साथ पूछते हैं–"कतरेण पथा ब्रह्मन् संतिरिष्यामहे वयम्" (सामने शोणभद्र का जो तटवर्ती प्रदेश दिखाई दे रहा है, इसे हम किस मार्ग से और कब तक पार कर सकेंगे?) प्रश्न बड़े ही प्रबुद्ध चिंतन का परिचायक है और इस का उत्तर देते समय विश्वामित्र भी अपनी चित्प्रसूतिका मनस्विता का परिचय देते हैं। मुनिवर कहते हैं–"एष पंथा मयोद्दिष्टो येन यांति महर्षयः"–(जिस मार्ग से महान् ऋषि-मुनि चलते हैं और चलते आ रहे हैं, उस को मैंने तय कर रखा है।) इस से पता चलता है कि दशरथ-नंदन राम की यह उत्तर यात्रा मुनि के मन में पहले से परिकल्पित थी और सोद्दिष्ट भी थी। इसी में राम का हित भी निहित था जिस की ओर "तव पुत्र हितार्थाय" कहकर ब्रह्मर्षि वशिष्ठ ने पहले ही इशारा किया था। इसलिए सामान्य अपेक्षा के अनुसार अयोध्या की ओर न जाकर उत्तर (मिथिला) की ओर चलने और राजकुमारों को साथ ले चलने में राम का कोई अपनयन (हाइजाकिंग) नहीं किया जा रहा है, बल्कि उन का उपनयन ही हो रहा है। इतनी सारी बात विश्वामित्र ने "मयोद्दिष्ट" कहकर कह दी।

अब यात्रा सही दिशा में आगे बढ़ती है। दोपहर तक सारा समाज गंगा के तट में पहुँच जाता है और थोड़ी देर के लिए सब लोग वहीं विश्राम करते हैं। पर राम को आराम की न कोई आवश्यकता है और न इच्छा है। वह गंगा के बारे में सुनना चाहते हैं और सुनाने के लिए प्रस्तुत हैं—प्रवाचक कौशिक। गंगा का नाम लेते ही गाधिपुत्र को उमा की याद आती है क्योंकि दोनों हिमालय की लाडली बेटियाँ हैं। लोक-पावनी गंगा को देवताओं के अनुरोध पर पर्वतराज हिमालय संसार को समर्पित कर देते हैं जबकि उमा अपनी तपस्या के बल पर कैलासवासी शंकर की अर्द्धांगिनी बन जाती है। पर्वतराज की कन्या होने के कारण उमा को पार्वती भी कहा जाता है और देवताओं के आराध्य देवता होने के कारण शंकर को परमेश्वर की संज्ञा से पहचाना जाता है। पार्वती और परमेश्वर की प्रणय-भावना से प्रणवशक्ति के रूप में प्रकट स्कंद, सुब्रह्मण्य, कार्तिकेय या कुमार का जन्म भी कुछ अलौकिक घटनाओं से परिपूर्ण है। इसलिए विश्वामित्र गंगा के अवतरण के बारे में कुछ कहने से पहले, शिव-कुमार स्कंद की उत्पत्ति के बारे में एक रोचक कथा सुनाते हैं। कुमार-संभव की इस कहानी में प्रेम और काम का लोक मंगलमय उदात्त रूप उभर कर आता है जिस को समझने के लिए उदात्त मन चाहिए। लौकिक भाव-भूमिका पर परखने से यह प्रसंग कुछ अटपटा-सा प्रतीत होता है। पर पार्वती और परमेश्वर के मंगलमय संगम को पार्थिव प्रेम का साधारण समागम नहीं समझना चाहिए। पृथ्वी और द्यौ का प्रतिनिधित्व करनेवाला यह आदिम दंपति पांचभौतिक जगत् का प्रणयन करता है जिस में आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी सम्मिलित हैं। शिव और शक्ति के संयोग से ही ये तत्त्व बनते हैं। यही द्रव्य और ऊर्जा का भी संयोग है। पर विश्वामित्र केवल कहानी सुनाते हैं, कथा के पीछे निहित कथ्य की ओर संकेत तक नहीं करते क्योंकि कहानी सुननेवालों की समझ-बूझ पर उन को पूरा भरोसा है।

कहानी बिल्कुल साधारण है। देव-सेना का सक्षम संचालन करने के लिए देवताओं को एक समर्थ सेनानी की आवश्यकता पड़ती है। इस के लिए पार्वती और परमेश्वर का सहयोग आवश्यक है। पर परमेश्वर के परम वीर्य को धारण करने की शक्ति न पार्वती में है और न किसी अन्य एकमात्र तत्त्व या सत्ता में है। इस के लिए पार्वती, पृथ्वी, गंगा और अग्नि को अपनी अपनी भूमिका निभानी पड़ती है। पार्वती की प्रणय-भावना से परमेश्वर का वीर्य विचलित होता है। उसको धरती वहन नहीं कर पाती। देवताओं के अनुरोध पर अग्नि के द्वारा जल में इस का आधान किया जाता है। अंत में गंगा भी इस को धारण नहीं कर पाती। हिमालय के पार्श्व में यह गर्भ स्थापित किया जाता है जहाँ पर छह कृत्तिकाएँ पिंड को दूध पिलाकर पालती-पोसती हैं। पृथ्वी, जल और अग्नि के द्वारा रूपान्वित यह शिशु अपने छह मुहों से छह माताओं का दूध पीकर दिव्य तेज से विराजमान सेनानी बन जाता है। उन्हीं के तेज से सारी पृथ्वी सुवर्णमय बन जाती है। पृथ्वी रत्नगर्भा बन जाती है, सागर रत्नाकर बनता है। परमेश्वर के वीर्य के स्खलन से उत्पन्न होने के कारण कुमार का नाम स्कंद पड़ जाता है। कृत्तिकाओं का दूध पीने के कारण कार्तिकेय कहलाता है। छह मुख या आनन हैं, इसलिए षण्मुख या षडानन हैं। ब्रह्म विरोधी तत्त्वों को हटाकर संसार को ब्रह्मण्य रूप प्रदान करने के कारण सुब्रह्मण्य भी हैं। स्पष्ट है कि यह ब्रह्मण्य भावना पार्वती और परमेश्वर की अलौकिक प्रणय-भावना की ही परिणति है।

प्रसंगवश कुमार-संभव की कहानी सुनाकर विश्वामित्र गंगावतरण की मुख्य कथा का प्रारंभ करते हैं। लोक-पावनी गंगा का प्रवाह और प्रसार केवल भूलोक तक सीमित नहीं है, स्वर्गंगा और पाताल गंगा के नाम से भी यह जानी जाती है, इसीलिए वह त्रिपथगा कही जाती है। इस को भूलोक में ले आने का श्रेय भगीरथ नाम के राजर्षि को है। यह भी इक्ष्वाकु वंश के राजा थे। इसीलिए राम गंगा के अवतरण की कहानी सुनना चाहते हैं।

इक्ष्वाकु वंश के राजा सगर की दो पत्नियाँ हैं—केशिनी और सुमति। दोनों में से किसी की संतान

नहीं होती। सगर हिमालय पर भृगु प्रस्रवण शिखर पर बैठ कर सौ वर्ष तक तपस्या करते हैं। महर्षि भृगु के आशीर्वाद से केशिनी असमंज नाम के एक पुत्र को जन्म देती है और सुमति के गर्भ से साठ हज़ार पुत्र पैदा हो जाते हैं। केशिनी का पुत्र असमंज संसार को बहुत परेशान करता है, विशेषकर बच्चों को चुरा कर सरयू नदी में फेंक देता है। उसके दुव्यवहार से तंग आकर सगर उसे नगर से बहिष्कृत कर देता है। पर उस का पुत्र अंशुमान् वंशकर सिद्ध होता है। कुछ समय बाद सगर के मन में यज्ञ करने की इच्छा पैदा होती है, पर यज्ञ के घोड़े को इंद्र चुराकर ले जाता है। अंशुमान् घर पर यज्ञ की रखवाली करता है और सुमति के साठ हज़ार पुत्र घोड़े की खोज में चल पड़ते हैं। सारी पृथ्वी को खोद खोद कर वे घोड़े की तलाश करते हैं, पर घोड़ा कहीं दिखाई नहीं देता। इधर सगर के साठ हज़ार पुत्रों से परेशान देवता ब्रह्मा के पास जाकर बिनती करते हैं तो स्रष्टा कहते हैं कि भगवान् वासुदेव का अंश लेकर पृथ्वी पर अवतरित महर्षि कपिलाचार्य के कोपानल से ये सारे पुत्र राख बन जाएँगे। पृथ्वी को खोद खोद कर जब सगर के पुत्र चारों दिशाओं के दिग्गजों से पूछताछ करने के बाद पूर्वोत्तर दिशा में महर्षि कपिल के पास यज्ञ का घोड़ा देख लेते हैं तो कपिल देव को चोर समझकर उन की तपस्या में बाधा डालने लगते हैं। महर्षि के आँख खोल कर देखते ही उनके योगानल से सारे साठ हज़ार सगर-पुत्र भस्म हो जाते हैं। बहुत दिन तक अपने पुत्रों को वापस न आया देखकर सगर अपने पोते अंशुमान् को भेजकर वास्तविकता का पता लगा लेते हैं। महर्षि कपिल के पास अंशुमान् को गरुत्मान् दिखाई देता है जो सुमति का भाई है। गरुत्मान् के सहयोग से वह घोड़े को वापस ले जाता है। पर साठ हज़ार पितरों को जलांजलि देने के लिए गंगा के पवित्र जल की आवश्यकता होती है। इसके लिए अंशुमान् बहुत प्रयास करते हैं, पर अपने जीवन-काल में कुछ नहीं कर पाते। इसी प्रकार उन के पुत्र दिलीप भी गंगा को भूलोक में लाने का भरसक प्रयास करके हार जाते हैं। परंतु दिलीप का पुत्र भगीरथ अपने मनोरथ को पूरा कर लेने का दृढ़ संकल्प लेकर घोर तपस्या करते हैं। अंत में ब्रह्मा प्रकट होकर गंगा को भूलोक में भेजने को तो तैयार होते हैं, पर उस प्रचंड धारा को सहने के लिए शंकर को तैयार करने के लिए कहते हैं। महारथी भगीरथ महेश्वर को भी अपनी तपस्या से प्रसन्न कर लेते हैं। बत्तीस हज़ार वर्ष की तपस्या के फलस्वरूप स्वर्गंगा भूलोक पर आ तो जाती है, पर वह शंकर के जटाजूट में उलझ जाती है। भगीरथ फिर अपनी तपस्या के बल पर गंगाजी को शंकर के जटाजूट से छुड़वा लेते हैं। अब वह पृथ्वी पर उतर आती है। पर रास्ते में तपस्वी जह्नु के आश्रम को आप्लावित करते हुए गंगा की उमंगभरी धारा प्रवाहित होती है तो तपस्वी उस को एक घूँट में पी लेते हैं। फिर भगीरथ के अनुरोध पर महर्षि अपने कान से उसे छोड़ देते हैं। इसलिए गंगा को जाह्नवी भी कहते हैं। अंत में गंगा की धारा से सगर के साठ हज़ार पुत्रों को पुण्य लोकों की प्राप्ति होती है और संसार को भी शिव-स्पर्श से पुनीत गंगा की रसमय धारा का वरदान मिलता है।

गंगावतरण का यह रोचक प्रसंग 'मंत्र पुष्प' के नाम से एक वैदिक मंत्र का स्मरण कराता है जिस में जल को सजल कमल का अंतरंग समझनेवाले आत्मयोगी को आध्यात्मिक आयतन से संपन्न धन्यजीवी सिद्ध करते हुए कहा गया है—"योऽपां पुष्पं वेद पुष्पवान् प्रजावान् पशुमान् भवति, योऽपामायतनं वेद आयतनवान् भवति।" पानी जीवन का आवश्यक तत्त्व है। इसीलिए उस को भी 'जीवन' कहा जाता है। जीवन के इस जीवन तत्त्व पर प्रकाश डालनेवाली यह कहानी सुनकर राम और लक्ष्मण के विस्मित हो जाने में (विस्मयं परमं गत्वा) कोई आश्चर्य नहीं है। इस कथा के बारे में चिंतन करते करते दोनों राजकुमारों के लिए सारी रात पलभर-सी गुज़र जाती है। अगले दिन सबेरे उठकर वे कहते हैं :

अत्यद्भुतमिदं ब्रह्मन् कथितं परमं त्वया।
गंगावतरणं पुण्यम् सागरस्यापि पूरणम्॥
क्षणभूतेव नौ रात्रिः संवृत्तेयं परंतप

अब अगला दिन शुरू होता है और अगली

कहानी आरंभ होती है। आज की कहानी है—सागर मंथन। गंगा को पार कर विशाला नदी को देखने के बाद यह कहानी शुरू होती है। राम के अयन (अभियान) का यह ग्यारहवाँ दिन है। अब मिथिला अधिक दूर नहीं है। रास्ते में रमणीय नगरी विशाला को देखकर राम के मन में उस का इतिहास जानने का कुतूहल उत्पन्न होता है और विश्वामित्र इस अवसर का लाभ उठाकर क्षीर सागर के मंथन का पौराणिक इतिवृत्त सुनाते हैं।

अमृत-पान के द्वारा अमरत्व को प्राप्त करने के लिए देवता और दानव सागर-मंथन की परियोजना का प्रारंभ करते हैं। मंदराचल को मथानी और वासुकि नाग को रस्सी बनाकर एक हज़ार वर्ष तक क्षीर सागर का यह मंथन किया जाता है। पहले विष पैदा होता है जिस से सारा संसार भयभीत हो जाता है। देवताओं और दानवों के अनुरोध पर महादेव शंकर हालाहल को सहर्ष पीकर संसार को विनाश से बचाते हैं और सती का सौभाग्य शंकर को बचाता है। मंथन-कार्य फिर शुरू होता है। अब की बार मंदर पर्वत पाताल की ओर धँसता चला जाता है। अब भगवान् विष्णु की बारी आती है तो कछुए का रूप धारण कर पर्वत को ऊपर उठाते हैं और मंथन-कार्य को सुगम बनाते हैं। आगे चलकर धन्वंतरि, अप्सराएँ, वारुणी, उच्चैःश्रव, कौस्तुभ आदि अमूल्य सामग्री प्राप्त होती है और अंत में अमृत निकलता है। अमृत के वितरण में संघर्ष होता है, पर विष्णुमाया के कारण अमृत देवताओं को मिलता है और दिति के पुत्र दैत्य देवों के हाथ पराजित होकर मर जाते हैं।

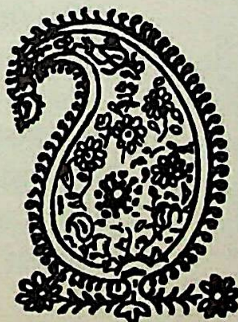
इस पर दिति माता को क्षोभ होता है और पतिदेव कश्यप से अनुरोध करती है कि उसे इंद्रजयी पुत्र प्रदान करें। कश्यप स्वीकार करते हैं। पर गर्भ धारण के समय इंद्र छल-कपट का प्रयोग कर उस गर्भ के सात टुकड़े कर देते हैं, पर सातों को जीवित रखते हैं। ये सात खंड ही सात हवाएँ हैं जो सात लोकों में संचरित होती हैं। इन्हीं को मरुद्गण कहा जाता है। यह सारी घटना इसी ऐतिहासिक नगरी, विशाला, में घटी है। विशाल नाम के राजा द्वारा बसाई हुई नगरी होने के कारण इस का नाम विशाला हो गया। उस समय (रामकथा के समय) सुमति नाम का राजा यहाँ शासन कर रहा था।

यह कहकर विश्वामित्र उस दिन राम को वहीं विश्राम करने को कहते हैं। राजा सुमति भी संसेव्य अतिथियों को पाकर अत्यंत प्रसन्न हो जाते हैं।

सागर-मंथन का वृत्तांत आज के लिए अत्यंत प्रासंगिक है जब मानवजीवन के हर क्षेत्र में मानस-मंथन को विशेष महत्त्व दिया जा रहा है। प्रत्येक के मन में एक क्षीरसागर है जिस के मंथन से अमृत भी मिल सकता है और विष भी। पहले विष मिलता है और बहुत बाद में अमृत। विष को सहने की क्षमता रखनेवाले ही अंत में अमृत के अधिकारी बनते हैं। पर अमृतत्व प्राप्त करना मानव के लिए संभव नहीं है। इस के लिए मानव को देवतुल्य बनना है, दानवत्व से दूर रहना चाहिए। यही सागर-मंथन का सार है।

मुनि के मुँह से निकलनेवाला यह मधुर कथामृत भी क्षीरसागर के अमृत से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। उपनिषन्माता का कहना है:

"क्षरं प्रधानं अमृताक्षरं हरः"



10. प्रेम धाम राम, पद-पुनीत काम

दस-ग्यारह दिन बाबा विश्वामित्र के साथ रहकर राजमुकार राम और लक्ष्मण बहुत कुछ सीखते हैं, बहुत कुछ देखते हैं और बहुत कुछ पाते हैं । सिद्धाश्रम की कर्मठ कार्यसाधना के छह दिन की अवधि को छोड़कर शेष सारा समय अत्यंत गतिशील, मनोरंजक और ज्ञानवर्द्धक लगता है । हर दिन, हर क्षण कुछ नई अनुभूति सामने लाता है । इस अनुभूति की गहराई और सुघराई में दोनों भाई देश और काल की सापेक्ष स्थिति और गति को भूल जाते हैं । उन के मन में केवल एक ही आशय या ध्येय सजग रहता है और वह है—मुनि का अनुगमन ।

अयोध्या छोड़ने के बाद लगातार दस दिन तक वन, उपवन, आश्रम, नदियाँ, पर्वत आदि प्राकृतिक दृश्य ही सर्वत्र दिखाई देते हैं । ग्यारहवें दिन गंगाजी को पार करने के बाद पहली बार राजधानी, राजभवन और राजा के दर्शन हो जाते हैं । विशाला के राजा सुमति विश्वामित्र तथा राजकुमारों को विशिष्ट अतिथियों के रूप में पाकर अपने को कृतकृत्य और धन्य समझते हैं और रात को अपने यहाँ ठहरने का अनुरोध करते हैं । राजा के स्नेहपूर्ण आमंत्रण को विश्वामित्र सहर्ष स्वीकार करते हैं । विश्वामित्र के साथ राजकुमारों को सेवा-सुश्रूषा में उपस्थित देखकर राजा सुमति के मन में यह जानने का कुतूहल उत्पन्न होता है कि स्वर्ग लोक से भूलोक में अवतरित देवताओं के समान दिव्य तेज, ओज और पराक्रम से विराजमान ये दोनों बालक कौन हैं, किस के पुत्र हैं, किस आशय से पद-यात्रा पर यहाँ पधारे हैं । दोनों की आकृति एक दूसरे से मिलती जुलती है । हाथी, शेर, बैल या शार्दूल की तरह गंभीर गतिशीलता से आकर्षक लगनेवाले ये बालक राजा को अश्विनी कुमारों की तरह प्रतीत होते हैं । वैसे मुनि के साथ चल रहे हैं, पर साथ में तलवार, तरकस और धनुष हैं । सूर्य और चंद्र की तरह दोनों जहाँ जाते हैं, वहाँ के प्रदेश को प्रकाश से प्रोज्ज्वल बना रहे हैं । इसलिए इन के बारे में विस्तार से जानने की इच्छा राजा के मन में सहज ही उत्पन्न होती है । राजा की जिज्ञासा का समाधान करते हुए विश्वामित्र विस्तार से सब कुछ समझाते हैं और राजा बहुत प्रसन्न होते हैं । उस दिन रात को दोनों राजकुमार महामुनि विश्वामित्र के साथ राजभवन में विश्राम कर लेते हैं ।

अगले दिन सबेरे फिर यात्रा शुरू होती है । लेकिन अब मिथिला बहुत दूर नहीं है, इसलिए गंतव्य पर पहुँचने में बहुत देर नहीं लगेगी । परंतु रास्ते में मिथिला के बाहर के एक उपवन में एक निर्जन, पर मनोहर आश्रम दिखाई देता है । इतना सुंदर आश्रम इतना सुनसान क्यों हो गया है, पहले यहाँ कौन रहते थे और अब वे कहाँ और क्यों चले गए—ये सभी प्रश्न राम के मन में उठते हैं । राम के प्रश्नों का उत्तर देते हुए विश्वामित्र उस विचित्र आश्रम की विस्तृत गाथा सुनाते हैं ।

महात्मा गौतम का यह रमणीय आश्रम पहले देवताओं को भी आकर्षित करता था । यहीं पर संसार की सब से अधिक सुंदरी अहल्या के साथ ब्रह्मनिष्ठ गौतम कठोर तपस्या किया करते थे । महर्षि की

तपस्या में बाधा डालने के उद्देश्य से एक दिन ब्राह्म मुहूर्त (अमृत वेला) में देवराज इंद्र गौतम का वेष धारण कर गौतम की अनुपस्थिति में गौतम के आश्रम में प्रवेश करते हैं और अपूर्व सुंदरी अहल्या के साथ ऐन्द्रिय सुख की इच्छा प्रकट करते हैं। पुरुष-समागम के लिए तरसनेवाली परम सुंदरी अहल्या देवराज के साथ संभोग के सुख की कल्पना से पुलक उठती है और क्षणभंगुर सुख के प्रलोभन में आती हैं । अपने पति की तपस्या में बाधा पहुँचाने की बात उस समय उस के मन में घुस नहीं पाती, पर दूसरे ही क्षण वह अपने को कृतार्थ बताते हुए देवराज से अनुरोध करती है कि वह अपनी और अपनी सुख-संगिनी की सुरक्षा को ध्यान में रखकर तत्काल आश्रम को छोड़ कर चले जाएँ । देवराज भी अहल्या का आभार मानकर आश्रम के द्वार तक पहुँच ही नहीं पाते कि इतने में अग्निहोत्र की तरह देदीप्यमान महर्षि गौतम कुश और कमंडलु हाथ में लेकर प्रकट होते हैं । महर्षि की मुख-मुद्रा देखकर देवराज काँप उठते हैं, पर महर्षि के कोपानल से बच नहीं पाते । सच्चरित्रता से संपन्न गौतम दुश्चरित्र इंद्र को देखकर सब कुछ समझ जाते हैं और अपने कमंडलु से कुशोदक छिड़ककर देवराज को तत्काल विफल हो जाने का अभिशाप देते हैं । महर्षि के वचन के अनुसार इंद्र उसी समय निर्वीर्य और निरिंद्रिय बन जाता है । बाद में अग्निहोत्र आदि देवताओं के सहयोग से देवराज को मेषवृषण से युक्त बनाया जाता है ।

दुर्मेधा अहल्या भी गौतम के अभिशाप से बच नहीं पाती । अहल्या को उसी स्थान पर हज़ारों वर्षों तक हवा खाते हुए निराहार, निराकार पड़ी रहने का कठोर शाप मिलता है । राख बन कर पड़ी अहल्या को तब तक कोई देख नहीं पाएगा जब तक दशरथनंदन राम उस वन में प्रवेश नहीं करेंगे । राम को देखने के बाद ही वह संसार को देख और दिखाई दे सकेगी । यह शाप देकर गौतम भी अपना आश्रम छोड़कर अपने क्रोध को शांत करने के लिए हिमालय पर तपस्या में लीन हो जाते हैं । इधर तपस्विनी अहल्या राम-दर्शन की लालसा लेकर बरसों तक राख बनकर पड़ी रहती है । इतना कहकर मुनिवर विश्वामित्र राम और लक्ष्मण को साथ लेकर अहल्या के शून्य आश्रम में प्रवेश करते हैं ।

जैसे ही राम आश्रम में प्रवेश या पदार्पण करते हैं, वैसे ही संसार के लिए अब तक अदृश्य अहल्या का रूप-लावण्य दृश्य बन जाता है । धुँए से ढकी हुई आग की तरह, कुहासे से धूमिल पड़ी हुई चाँदनी की तरह अब तक प्रच्छन्न पड़ी हुई छवि प्रेम-धाम राम की परम पवित्र दृष्टि पाते ही धीरे धीरे प्रकट होने लगती है । लोककर्ता ब्रह्मा के द्वारा बड़ी सावधानी और कुशलता के साथ रूपायित अपूर्व सुंदरी अहल्या को अपने सामने प्राकृत रूप में प्रकट होते हुए देखकर राम उन को माता समझकर पादाभिवंदन करते हैं । अप्राकृत पराक्रम और प्राकृत विनम्रता का अपूर्व सामंजस्य राम के इस विनीत आचरण में देखकर अहल्या गौतम की बातों को याद करके राम के पैर छूना चाहती हैं, पर राम ने उन को जो आदर दिया है, उसी को स्वीकार करने में अपना श्रेय समझती है । शापमुक्त अहल्या दोनों भाइयों का अतिथि-सत्कार करती है और इतने में गौतम भी वहाँ आ पहुँचते हैं । विश्वामित्र अपने को कृतकृत्य समझकर फिर मिथिला की ओर अपनी यात्रा चालू करते हैं ।

राम ने अब तक कई कहानियाँ सुनी हैं । लेकिन अहल्या का यह प्रसंग केवल कहानी नहीं है, बल्कि एक वृत्त-चित्र है जो कि अचानक उनकी आँखों के सामने घटित होता है और जिस की ओर इस के संयोजक और संचालक विश्वामित्र पहले इशारा तक नहीं देते । ऐसा प्रतीत होता है कि यह एकदम आकस्मिक और अप्रत्याशित घटना है । पर वास्तव में यह बात नहीं है । अयोध्या से निकलते समय ही विश्वामित्र के मन में यह सारी योजना थी, पर वह केवल उन्हीं तक सीमित थी । अब धीरे धीरे एक एक बात खुलती है । अब थोड़ी ही देर में दोनों भाई विश्वामित्र के साथ मिथिला पहुँचनेवाले हैं । मिथिला में राजा जनक के पुरोहित शतानंद जब विश्वामित्र से अपनी माँ अहल्या के बारे में पूछते हैं तो विश्वामित्र कहते हैं :

"नातिक्रांतं मुनिश्रेष्ठ यत्कर्तव्यं कृतं मया"

(जो मुझे करना था, वह मैंने कर दिया है—न उस से कम, न अधिक)

विश्वामित्र का यह वाक्य इस बात का प्रमाण है कि राम के द्वारा अहल्या का उद्धार एक आकस्मिक घटना नहीं है, बल्कि इस के पीछे एक विस्तृत योजना है और प्रेमधाम राम के परम पुनीत अयन में इस घटना का एक विशिष्ट प्रयोजन और महत्त्व है। रामायण की विभिन्न घटनाओं में अहल्या का उद्धार सब से रोचक और उत्तेजक है। यह प्रसंग भारतीय जन-जीवन में इतना लोकप्रिय है कि लोग प्रायः परमात्मा की परम कारुण्य भावना तथा पतित-पावन परायणता के प्रमाण में अहल्या का ही नाम लेते हैं। अहल्या के आचरण की आलोचना में भी दो प्रकार की विचारधाराएँ देखने में आती हैं। कुछ लोग उस को पतिता की पंक्ति में परिगणित करते हैं तो कुछ लोग सीता, तारा, मंदोदरी और द्रौपदी के साथ पाँच महाकन्याओं की श्रेणी में रखकर प्रातःस्मरणीय मानते हैं। आचरण के औचित्य के अतिरिक्त घटना की यथार्थता के संबंध में भी जन साधारण में कई वाद-विवाद प्रचलित हैं। कुछ लोग अहल्या को निर्दोष सिद्ध करने के लिए गौतम के वेष में आए इंद्र के वास्तविक स्वरूप से उस को एकदम अनभिज्ञ बताते हैं। कुछ लोगों की कल्पना के अनुसार इंद्र मुर्गे का वेष बनाकर आश्रम में प्रवेश करते हैं। मुर्गे की आवाज़ सुनकर गौतम प्रभात की वेला में नदी में स्नान करने जाते हैं और इस बीच में इंद्र अपनी इच्छा पूरी कर लेते हैं। गौतम द्वारा दिए गए शाप के संबंध में भी बहुत गलत धारणाएँ हैं। वाल्मीकि के अनुसार अहल्या शिला का रूप धारण नहीं करती। पति का शाप केवल इतना था कि वह अदृश्य, निराहार और भस्मशायिनी रहेगी। लेकिन परवर्ती रामकाव्यों में और उन से प्रभावित जन-श्रुति में अहल्या को पत्थर बनकर ही रहना पड़ा। रामचंद्र के चरण-रज से पत्थर फिर नारी का रूप धारण करता है। इसी भ्रम के आधार पर बाद में केवट अपनी नाव पर राम के पैर रखवाने में संकोच कर उन के पैर साफ साफ धोते हैं। पर वाल्मीकि ने ऐसी कोई बात नहीं कही थी।

वाल्मीकि के अनुसार अहल्या अच्छी तरह जानती थी कि देवराज ही मुनिवेष में आया है और वह मुनि के भय से स्वयं आतंकित होती है और देवराज को भी इस बात में सतर्क कर देती है। शाप-विमोचन के अवसर पर भी इसी प्रकार आश्रम में राम के पैर रखते ही अदृश्य अहल्या दृष्टिगोचर हो जाती है। राम किसी पत्थर पर पैर नहीं रखते, बल्कि अहल्या के प्रकट होते ही उनके पैर छूते हैं।

अहल्या और इंद्र के गुण-दोषों का सही निर्णय गौतम का शाप करता है। गौतम की दृष्टि में अहल्या और इंद्र दोनों दोषी हैं। अहल्या का दोष इंद्र के प्रलोभन में पड़कर अपने रूप का दुरुपयोग करना है तो इंद्र का दोष मुनि-पत्नी को प्रलोभन देकर वासना की उपासना से आश्रम को कलुषित कर देना है। गौतम के शाप में इन दोनों अपराधों का ठीक ठीक निराकरण किया जाता है। रूप का दुरुपयोग करनेवाली अहल्या के अपूर्व लावण्य को संसार के लिए अगोचर कर दिया गया और कुत्सित कामवासना के शिकार इंद्र को अकाम बना दिया गया। अहल्या में लोभ और मोह का प्राबल्य था तो इंद्र में काम का। मानव जीवन को कलुषित करनेवाली इन विषैली विकार-धाराओं को इस प्रकार बे-असर कर दिया गया है। इंद्र को भी शाप देने की क्षमता रखनेवाले गौतम स्वयं क्रोध के शिकार बन जाते हैं। इसलिए वह अपने आप को भी दंड देते हैं और हिमालय में जाकर तपस्या करते हैं। अहल्या के शाप-विमोचन के विधान में गौतम अहल्या को "लोभ-मोह-विवर्जिता" कहते हैं। राम के दर्शन से वह लोभ और मोह से मुक्त हो जाएगी। इस प्रसंग में सब से महत्त्वपूर्ण बात यह है कि काम-वासना से इंद्र, क्रोध के आवेश से गौतम तथा लोभ और मोह के जाल में अहल्या—तीनों को हम दोषी पाते हैं जबकि राम के प्रवेश, दर्शन और स्पर्श से काम, क्रोध, लोभ और मोह का तत्काल निराकरण हो जाता है। सोलह वर्ष के किशोर राम की इस महिमा का रहस्य उन की निर्मल प्रेमभावना और अंतःकरण की सहज सात्विक पवित्रता में है। यह बात विश्वामित्र को मालूम है और गौतम

को भी मालूम है। राम की इस निसर्ग महनीयता और उन के सत्य पराक्रम के बारे में राजा दशरथ को समझाते हुए विश्वामित्र ने बहुत ही स्पष्ट शब्दों में कहा था—"अहं वेद्मि महात्मानं रामं सत्यपराक्रमम्"। उन्होंने यह भी कहा था कि जो भी तपस्या में लीन हैं, उन को भी राम का वास्तविक स्वरूप मालूम है। इसी स्वरूप का आविष्कार विश्वामित्र के माध्यम से अब धीरे धीरे हो रहा है।

ताटका के वध में और यज्ञ की रक्षा में राम के सत्य पराक्रम का प्रमाण मिल चुका है। अब अहल्या के उद्धार में उनकी महनीयता का प्रमाण मिल रहा है। महात्मा राम की महनीयता में मधुर मनोहर विनम्रता भी शामिल है। इसीलिए वह महत्ता सूर्य की किरणों की तरह सरल, किंतु तरल प्रतीत होती है। वह देखनेवालों को दृष्टि देती है, जीनेवालों को जीवन देती है, सोनेवालों को जागरण का स्वाद देती है। वही सौर शक्ति काम को प्रेम में बदल देती है। आश्रम के आँगन में उन के पदार्पण मात्र से कुत्सित कामवासना परम प्रेम का रूप धारण करती है। राम की यही पवित्रता उन को सीता-वल्लभ बनाती है। वास्तव में अयोध्या से मिथिला तक की बारह दिन की यात्रा में जो जो घटनाएँ घटती हैं, वे सब सीता-राम-समागम को समर्थन देने के लिए घटित प्रतीत होती हैं। धनुर्भंग केवल प्रतीक मात्र है। उस से पहले की ये सारी घटनाएँ उस प्रमुख घटना की पोषक हैं। इन में अहल्या का प्रसंग सब से महत्त्वपूर्ण है।

रामायण के अनेक मर्मज्ञ विद्वान् अहल्या के प्रसंग को प्रतीक मात्र समझकर उस की अनेक व्याख्याएँ प्रस्तुत करते हैं। इन में से सबसे अधिक लोकप्रिय व्याख्या अहल्या को कृषि के लिए अनुपयुक्त भूमि के रूप में समझाने का प्रयास है। इस विचारधारा के अनुसार अनुर्वर भूमि को उर्वर और उपजाऊ बनाने का काम मेघनाथ इंद्र के द्वारा संपन्न कराया जाता है। यही वह देवकार्य है जिसे समस्त देवताओं ने इंद्र को सौंपा था। सीता जी का ज़मीन में पाया जाना भी इसी कृषिमूलक व्याख्या के अंतर्गत लाने का प्रयास किया [stamp]। व्याख्या तो सुंदर लगती है, पर इस में काम-वासना की आपात कमनीयता पर राम-भावना की चिर रमणीयता का जो आर्ष प्रकाश महर्षि वाल्मीकि प्रसारित करना चाहते थे, उस को यथोचित महत्त्व नहीं मिलता है। मुख्य बात तो काम और प्रेम का सामंजस्य है। इस सामंजस्य की भावना में काम की एकदम उपेक्षा भी नहीं की गई है। तभी तो इंद्र को देवकार्य का हित साधक कहकर न केवल छोड़ दिया गया, बल्कि उस के विफलत्व को परिमार्जित भी कर दिया गया।

अगर अहल्या के प्रसंग में कोई रूपक है तो वह इंद्र की इंद्रियार्थता को लेकर है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध इंद्रियों के विषय हैं जिन के स्वामी इंद्र हैं। गौतम भी इंद्रियों के स्वामी हैं क्योंकि 'गो' शब्द के अनेक अर्थों में एक- 'इंद्रिय' भी है। इंद्र और गौतम दोनों इस प्रकार इंद्रियों के स्वामी बन जाते हैं। लेकिन इंद्रियों और इंद्रियार्थों (विषयों) के प्रति दोनों के दृष्टिकोण में अंतर है। इंद्र की दृष्टि उपभोग को महत्त्व देती है तो गौतम की दृष्टि उपासना को। एक उपभोक्ता है तो दूसरा उपद्रष्टा या उपासक। पार्थिव सौंदर्य केवल उपभोग की वस्तु नहीं है, उपासना में भी उस की सार्थकता है, इस बात को गौतम अपनी तपस्या के द्वारा सिद्ध करना चाहते थे। परंतु इंद्र ने उस तपस्या में बाधा पहुँचाई और इस प्रकार वह सिद्धिमार्ग का अवरोध बन गया। इंद्र और गौतम उपनिषदों में वर्णित पक्षियों की उस जोड़ी के समान हैं जो एक ही पेड़ पर बैठकर एक ही फल का आनंद लेते हैं- पर एक पक्षी भक्षण के द्वारा आनंद प्राप्त करता है तो दूसरा पक्षी केवल सूक्ष्म निरीक्षण के द्वारा।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वादुअत्ति
अनश्नन्नन्यो अभिचाकंशीति।

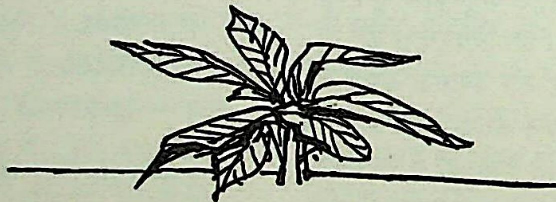
उपद्रष्टा गौतम और उपभोक्ता इंद्र के बीच में जो संघर्ष है, वह त्याग और भोग के बीच का संघर्ष है। पर जीवन की सार्थकता इन दोनों के बीच संतुलित

सामंजस्य स्थापित करने में है और यही काम राम के सात्विक और सामयिक सहयोग से संभव हो जाता है। अहल्या के सौंदर्य के प्रति इंद्र की शुद्ध पार्थिव भोगभावना और गौतम की अतीन्द्रिय अनासक्त त्यागभावना का सुंदर समन्वय सत्यपराक्रम राम की प्रेमभावना करती है।

'अहल्या' शब्द का एक और अर्थ किया जा सकता है। 'अ'-कार से लेकर 'ह'-कार तक वर्णमाला के जितने अक्षर हैं, उन्हीं का मूर्त रूप 'अहल्या' (अ-हल्-या) है। अष्टाध्यायी के प्रारंभ में वर्णमाला से संबंधित जो चौदह माहेश्वर सूत्र दिए गए हैं, उन में सब से पहला है- अ इ उ (ण्) और अंतिम है- ह (ल्)। इस से भी अहल्या शब्द की रूप कल्पना स्पष्ट हो जाती है। 'अ' से लेकर 'हल्' तक प्रसारित जो सर्ववर्णात्मिका सर्वेश्वरी है, वही 'या' देवी के नाम से भी अभिहित हैं। वही या-देवी संसार की समस्त वाणी की अधीश्वरी है। अहल्या स्रष्टा की पहली सृष्टि मानी जाती है। इसलिए उसे अक्षर भारती के रूप में आत्मसात् करने में कोई भूल नहीं हो सकती। इस दृष्टि से अहल्या, इंद्र, गौतम, राम और विश्वामित्र वाणी के विभिन्न पहलू हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं। अहल्या अक्षर भारती है तो इंद्र उस को लौकिक दृष्टि से देखकर स्वार्थ-सिद्धि में उसे नियोजित करने का प्रयास करते हैं जबकि गौतम बौद्धिक विकास के लिए अपने वाग्विलास का उपयोग करना चाहते हैं। पर वाणी की सार्थकता न अर्थ-परायणता है और न केवल चिद्विलास। परम पद को पहचानने में जो वाणी सहयोग दे, वही सच्चे अर्थों में दैवी वाक् है। राम के पद के समीप आने मात्र से वाणी साकार होती है। इस दृष्टि से अहल्या का उद्धार केवल एक शाप-ग्रस्त नारी का शाप-विमोचन नहीं है, बल्कि प्रभु के प्रसाद के रूप में प्रत्येक प्राणी को मिली प्रशस्त वाणी की प्राकृतिक सुषमा का प्रादुर्भवन है। गायत्री मंत्र के द्रष्टा विश्वामित्र के सहयोग से राम को इस महान् कार्य में सफलता मिलती है।

रामायण की प्रत्येक कहानी लौकिक और अलौकिक—दोनों दृष्टियों से अपना महत्त्व रखती है। लौकिक दृष्टि से अहल्या की कहानी रोचक और विचारवर्द्धक है। काम और प्रेम के धर्मसम्मत समन्वय की भी यह सुंदर व्याख्या प्रस्तुत करती है। पारमार्थिक दृष्टि से आदिकवि के अक्षरमय संदेश को ध्वन्यात्मक ढंग से प्रस्तुत करती है। परम सत्य को प्राप्त करने के लिए वाणी हमेशा सक्षम नहीं होती और मन की भी वहाँ तक पहुँच नहीं हो पाती। "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह"- (जहां से वाणी असफल होकर मन के साथ वापस चली आती है), वही जनकनंदिनी का आंनदनिलय है। वाणी की रमणीयता और मन की निर्मलता तभी परम पद तक पहुँच पाती है, जब द्रष्टा का मार्गदर्शन भी इन दोनों को सहारा दे। यही काम विश्वामित्र करते हैं।

बारह दिन बाबा विश्वामित्र के साथ चलते चलते रामभद्र के पद इतने पुनीत हो जाते हैं कि जहाँ पर राम के पद पहुँचे, वहाँ का काम प्रेम में बदल जाता है, निराकार साकार हो जाता है, स्वार्थ परमार्थ बन जाता है, शून्य पूर्ण का रूप धारण करता है। जहाँ राम है, वहाँ काम-वासना का नाम तक नहीं हो सकता। बस, प्रेम ही प्रेम है।



11. ब्रह्मतेज की खोज में

अहल्या के शाप-विमोचन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि दशरथ-नंदन राम केवल नयनाभिराम राम नहीं है, बल्कि लोकाभिराम राम भी हैं। उन की लोकोत्तर सुषमा राजा-महाराजाओं की दृष्टि को एकदम आकृष्ट कर लेती है तो उन की अलौकिक महिमा मुनियों के मन को भी क्षण भर में मोह लेती है। दस दिन के लिए विश्वामित्र के संग चल पड़े राजकुमार की भोली-भाली किंतु रमणीय आकृति के पीछे छिपी पड़ी इस मनोहर महनीयता का हर संध्या आविष्कार करती है, हर दिन उस आभा को आत्मसात् कर लेता है और हर रात उस शोभा को देखकर पुलक उठती है। दस दिन बारह दिन बन जाते हैं और दोनों राजकुमार विश्वामित्र के साथ अयोध्या के स्थान पर मिथिला पहुँच जाते हैं।

मिथिला में राजा जनक के द्वारा अनुष्ठित होनेवाला 'परम धर्मिष्ठ' यज्ञ दिखाने के लिए सिद्धाश्रम के निवासियों के प्रस्ताव पर, विश्वामित्र दोनों राजकुमारों को अपने साथ लिए चलते हैं। मिथिला के मार्ग में अचानक अहल्या का शापविमोचन घटित होता है। ऐसा लगता है कि ये सारी घटनाएँ यादृच्छिक रूप से घट रही हैं। लेकिन मिथिला में राजा जनक और शतानंद से मिलने पर शतानंद की बातों से पता चलता है कि विश्वामित्र के मन में समस्त घटना-क्रम की सुचिंतित पूर्व योजना थी हालांकि वह सब कुछ छिपाकर रखते हैं। गोपनीयता कुशिक-पुत्र की कार्यकुशलता की सब से बड़ी विशेषता है। विश्वामित्र की इसी विशेषता की ओर मार्मिक संकेत करते हुए राजा जनक के कुल-पुरोहित शतानंद बड़ी सारगर्भित भाषा में कहते हैं:

नास्ति धन्यतरो राम त्वत्तोऽन्यो भुवि कश्चन।
गोप्ता कुशिकपुत्रस्ते येन तप्तं महत्तपः॥

शतानंद राम का हार्दिक अभिनंदन करते हुए कहते हैं कि विश्वामित्र जैसे गोप्ता (संरक्षक) को पाकर राम संसार में सब से बढ़कर धन्यतम बन गए हैं क्योंकि विश्वामित्र ने जीवन में ऐसी तपस्या की है जो दूसरा कोई नहीं कर सकता। शतानंद की इस बात से पता चलता है कि विश्वामित्र अपनी तपस्या के तेज से राजकुमार राम को रंजित करने के लिए उन को अपने साथ ले आए हैं। उसी तेज के प्रभाव से सिद्धाश्रम में यज्ञ की रक्षा और बाद में अहल्या का शाप-विमोचन जैसी घटनाएँ संभव हो सकी हैं। इसलिए शतानंद की दृष्टि में राम जितने अभिनंदन के पात्र हैं, उतने ही आराध्य विश्वामित्र भी हैं क्योंकि राम का आविष्कार करने का श्रेय उन्हीं को है। अन्यथा राम की महनीयता अयोध्या तक ही सीमित रहती। राजा दशरथ के नयनाभिराम राम को लोकाभिराम राम का रूप देने के लिए विश्वामित्र दशरथ के पास पहुँच गए थे। यह बात वसिष्ठ को भी मालूम है, तभी तो उन्होंने राजा दशरथ से कहा था कि तुम्हारे पुत्र की भलाई के लिए विश्वामित्र उन को अपने साथ ले जाना चाहते हैं।

लेकिन यहाँ पर प्रश्न उठता है कि जो काम विश्वामित्र करना चाहते थे, क्या वह वसिष्ठ से संभव

नहीं था? वसिष्ठ और विश्वामित्र दोनों ब्रह्मर्षि हैं, ब्रह्मवेत्ता हैं और ब्रह्मतेज से संपन्न हैं। किंतु दोनों के तेज में अंतर है। वसिष्ठ का ब्रह्मतेज स्वतःसिद्ध है और विश्वामित्र ने उन के सहज तेज से प्रभावित होकर उस को अपनी कर्मठ साधना और कठोर तपस्या के बल पर प्राप्त किया है। वसिष्ठ का तेज निवासी है, नैसर्गिक है जबकि विश्वामित्र का तेज प्रवासी है, प्रबल परिश्रम से प्राप्त और अर्जित है। इस दृष्टि से वसिष्ठ और विश्वामित्र एक दूसरे के पूरक हैं। स्वाध्याय और तपस्या के मूर्त रूप इन दोनों महात्माओं के सान्निध्य और साहचर्य का लाभ राम को सहज रूप में मिला है। वसिष्ठ तो घर के ही गुरु थे और दूर के गुरु विश्वामित्र भी स्वयं राम को ढूँढ़ते हुए चले आते हैं। इसी में राम की रमणीयता और महनीयता है। मिथिला जाने की इच्छा भी उन के मन में नहीं थी। मुनियों के कहने पर विश्वामित्र के साथ दोनों राजकुमार निर्लिप्त भाव से आगे बढ़ते हैं। कुछ नहीं चाहते हुए भी सब कुछ उन के पास समय पर पहुँच जाता है।

इसी पूर्ण-काम राम की स्पृहणीय महिमा को देखकर शतानंद चकित हो उठते हैं तो राजा जनक दोनों राजकुमारों की रमणीय आकृति को देखकर मन ही मन प्रसन्न हो उठते हैं। शतानंद अपनी माता अहल्या के बारे में पूछते हैं तो राजा जनक दिव्य सौंदर्य से देदीप्यमान राजकुमारों के बारे में विस्तार से जानना चाहते हैं। दोनों की जिज्ञासा का समाधान विश्वामित्र बड़े नपे-तुले शब्दों में करते हैं और अंत में इस बात की ओर संकेत करते हैं कि राजा के यहाँ रखे हुए महाधनुष के संबध में राजकुमरों के मन में जिज्ञासा है और इसी जिज्ञासा के कारण ही उन को अपने साथ ले आए हैं। इससे समझदार जनक सब कुछ समझ जाते हैं और शतानंद विश्वामित्र की विश्वजनीन प्रेमभावना और लोकमंगल-साधना की प्रशंसा करने लगते हैं।

अब तक विश्वामित्र के मुँह से राम और लक्ष्मण ने कई कहानियाँ सुनी हैं, पर विश्वामित्र के बारे में कुछ विशेष सुनने को नहीं मिला है। एक बार प्रसंगवश विश्वामित्र अपने पूर्वजों के नाम मात्र बताते हैं। इस के अलावा उन की जीवनी से संबधित कोई भी बात उन के मुँह से नहीं निकलती है और यह उचित भी है। पर यह काम शतानंद पूरा करते हैं।

विश्वामित्र के आध्यात्मिक जीवन के साथ वसिष्ठ के व्यक्तित्व का बहुत गहरा संबंध है। राजसी विलासिता में पले विश्वामित्र को क्षात्रदर्प से ब्रह्म`ज की ओर प्रवृत्त करने का श्रेय वसिष्ठ को ही मिलना चाहिए। कुशवंश में गाधि पुत्र के रूप में पैदा हुए विश्वामित्र तेजस्वी और यशस्वी राजा बन जाते हैं। एक बार वह अपनी अक्षौहिणी सेना के साथ विजय-यात्रा पर चलते हैं और रास्ते में ब्रह्मर्षि वसिष्ठ का पावन तपोवन देखकर वहाँ थोड़ी देर विश्राम करते हैं। विश्वामित्र के स्वागत-सत्कार में वसिष्ठ आश्रम में सहज रूप से प्राप्य कंदमूल फल और जल अर्पित करते हैं और बाद में राजा को समस्त सेना के साथ भोज के लिए आमंत्रित करते हैं। शिष्टाचार और संकोच के कारण विश्वामित्र पहले क्षमा माँगते हैं, पर ब्रह्मर्षि के साग्रह अनुरोध पर सहर्ष उन का आमंत्रण स्वीकार करते हैं। वसिष्ठ अपनी होम-धेनु को भोज का आयोजन करने की आज्ञा देते हैं। देखते ही देखते राज-भोज की साज-सज्जा के साथ षड्रसयुक्त भोजन प्रस्तुत हो जाता है। विश्वामित्र को यह देखकर आश्चर्य होता है कि एक साधारण गाय में इतनी महिमा है, पर अपने क्षात्रदर्प के कारण यह समझ नहीं पाते कि यह सारी महिमा ब्रह्मनिष्ठ वसिष्ठ की है और गाय तो केवल काया या छाया मात्र है।

भौतिक संपन्नता के माया-मोह से विश्वामित्र अपना विवेक खो बैठते हैं और किसी तरह उस गाय को अपने साथ ले जाना चाहते हैं। पहले वसिष्ठ को पशुधन का प्रलोभन देने का प्रयास करते हैं, फिर सोना-चाँदी, हीरे-जवाहरात आदि बहुमूल्य वस्तुएँ देने की बात कहते हैं और बदले में केवल उस दुबली-पतली गाय को चाहते हैं। पर वसिष्ठ बड़ी विनम्रता से कहते हैं कि वह किसी मूल्य पर अपनी वह गाय नहीं दे सकते क्योंकि वह उन के जीवन का सर्वस्व है। पर मदांध और लोभी विश्वामित्र बल-प्रयोग से

गाय को घसीटकर ले जाने का प्रयास करते हैं। विश्वामित्र के साथ जाने के लिए अनिच्छुक होम-धेनु वसिष्ठ की अनुमति से अपार सेना का सृजन करती है और विश्वामित्र को पराजित कर देती है।

गाय से हार खाकर विश्वामित्र होश में आते हैं। उन को पता चलता है कि तपस्या में कितनी शक्ति है। उसी अजेय तपोबल को प्राप्त करने के लिए देवतात्मा हिमालय के पास जाकर कठोर तपस्या करते हैं। महादेव शंकर उन पर प्रसन्न होकर उन्हें उपनिषदों के सांगोपांग रहस्य बताते हैं और अत्यंत प्रभावशाली अमोघ अस्त्रों का उपदेश करते हैं। लेकिन विश्वामित्र के मन में अभी अपमान की ज्वाला जल रही है। इसलिए तपस्या से प्राप्त विद्याओं का वह प्रतिहिंसा की आग बुझाने में दुरुपयोग करते हैं। अपना तपोबल दिखाकर वह वसिष्ठ के प्रशांत तपोवन को नष्ट करने का प्रयास करते है। लेकिन विश्वामित्र के द्वारा प्रयुक्त सभी अस्त्र वसिष्ठ के ब्रह्म दंड में समा जाते हैं। अब विश्वामित्र को पता चलता है कि वसिष्ठ का ब्रह्मतेज अमोघ है, अजेय है और उस के सामने संसार की कोई भी शक्ति टिक नहीं सकती। विश्वामित्र ने अपनी तपस्या के बल पर ब्रह्मपाश, कालपाश, वरुणपाश, धर्म-चक्र, कालचक्र, विष्णुचक्र, मानव, मोहन, स्वापन, मादन, संतापन, विलापन आदि जो अनेक अस्त्र प्राप्त कर लिए हैं, वे सब के सब वसिष्ठ के ब्रह्म दंड के सामने निष्क्रिय, निश्चेष्ट और निरुपयोग सिद्ध हो जाते हैं। इस पर ब्रह्मतेज के सामने बुरी तरह से हारे हुए विश्वामित्र लंबी सांस खींचकर कहते हैं :

धिग्बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजो बलं बलम्।
एकेन ब्रह्मदंडेन सर्वास्त्राणि हतानि मे॥

इसी ब्रह्मत्व को प्राप्त करने के लिए कृत संकल्प विश्वामित्र उत्तर से एकदम दक्षिण की ओर जाकर तपस्या आरंभ करते हैं। प्रसन्नचित्त और संयत आचरण को अपनाकर वह अपनी पत्नी के साथ हज़ार वर्ष तक तपस्या करते हैं। इस अवधि में उन को हविष्यंद, मधुष्यंद, दृढनेत्र ओर महारथ नाम के चार पुत्र उत्पन्न होते हैं और तपस्या के अंत में पितामह ब्रह्मा प्रकट होकर उन को राजर्षि-पद से सम्मानित करते हैं। पर विश्वामित्र राजर्षि-पद से संतुष्ट नहीं होते। वह तो ब्रह्मर्षि बनना चाहते थे।

इस से पता चलता है कि आत्म-संयम और तपोनिष्ठा में आगे बढ़ने पर भी विश्वामित्र के मन में अब भी पद-प्रतिष्ठा के प्रति आसक्ति बनी रही। इसके अलावा तपस्या से प्राप्त शक्ति को वह स्वार्थ-सिद्धि में न लगाकर लोक-कल्याण के लिए समर्पित कर सकेंगे, इस बात का अभी कोई भरोसा नहीं है। इसीलिए ब्रह्मा ने उन को केवल राजर्षि घोषित करते हुए कहा कि तुम अभी इसी योग्य हो, इस से बढ़कर नहीं। लेकिन विश्वामित्र निराश नहीं होते, अपनी तपस्या पुनः प्रारंभ कर देते हैं, दक्षिण दिशा में ही रहकर।

इस बीच में त्रिशंकु नाम के राजा के साथ विश्वामित्र का परिचय होता है। यह राजा सशरीर स्वर्ग में जाना चाहते थे। इस के लिए उन्होंने वसिष्ठ से उपाय माँगा। वसिष्ठ ने इनकार कर दिया। फिर वह वसिष्ठ के पुत्रों के पास गये। उन्होंने भी पिताजी की ही बात दुहराई। लेकिन जब वह विश्वामित्र के पास पहुँचते हैं तो वसिष्ठ से आगे बढ़ने की तीव्र लालसा से तपस्या में लीन विश्वामित्र त्रिशंकु को आश्वासन देकर उन को सशरीर स्वर्ग पहुँचाने वाला यज्ञ करते हैं। वसिष्ठ के पुत्र त्रिशंकु को शाप देकर उन को चंडाल बना देते हैं। इसी चंडाल के रूप में त्रिशंकु विश्वामित्र के पास पहुँचते हैं। विश्वामित्र को उन पर दया आती है। अब उनकी स्वार्थ-बुद्धि धीरे-धीरे परार्थ-बुद्धि बन जाती है, पर परमार्थ में उस के परिणत होने में अभी समय लगेगा।

त्रिशंकु के उद्धार के लिए विश्वामित्र जो अनुष्ठान करते हैं, उस में राजर्षि के भय से दूर-दूर के ब्राह्मण आते हैं, पर वसिष्ठ के पुत्र नहीं आते। इस पर विश्वामित्र कुपित होकर उन को कुत्ते का मांस खानेवाले चंडाल बन जाने का शाप देते हैं। यज्ञ-कार्य पूरा होता है, पर देवता लोग उस अनुष्ठान को स्वीकार नहीं करते। पर विश्वामित्र अपने तपोबल के सहारे

त्रिशंकु को स्वर्ग में भेजने का प्रयास करते हैं, पर स्वर्ग का स्वामी इंद्र त्रिशंकु को नीचे ढकेल देता है । इस पर विश्वामित्र त्रिशंकु के लिए पृथ्वी और स्वर्ग के बीच में एक और स्वर्ग का सृजन करते हैं और उस को त्रिशंकु का निवास बना देते हैं । यह 'त्रिशंकु स्वर्ग' के नाम से आज भी अंतरिक्ष में प्रतिष्ठित है जो कि आजकल के अंतरिक्ष-आवासों की भाँति अस्थायी न होकर स्थायी रूप प्राप्त कर चुका है ।

अब परार्थ से परमार्थ की ओर बढ़ने की इच्छा से विश्वामित्र दक्षिण से पश्चिम की ओर जाते हैं । लेकिन वहाँ भी शुनःशेप नाम के एक बालक की प्राण-रक्षा करने का दायित्व विश्वामित्र अपने ऊपर लेते हैं । शुनःशेप अपने माँ-बाप का मझला लड़का है । अम्बरीष नाम के राजा को बलि के लिए यज्ञ-पशु की आवश्यकता पड़ती है । वह शुनःशेप के माँ-बाप से पुत्र की याचना करता है तो पिता बड़े लड़के को नहीं देना चाहता है और माँ छोटे को । पर मझले लड़के पर किसी की वात्सल्यमयी छत्रछाया न होने के कारण वह यज्ञपशु बन जाता है । इस दशा में शुनःशेप विश्वामित्र की शरण में आता है । दयार्द्र हृदय विश्वामित्र शुनःशेप को एक महामंत्र का उपदेश करते हैं जिस के उच्चारण मात्र से अवसान काल में उस के प्राणों की रक्षा होती है ।

इस प्रकार त्रिशंकु को मान-दान और शुनःशेप को प्राण-दान देने के बाद विश्वामित्र की तपस्या परार्थ की ओर काफी आगे बढ जाती है । इन दोनों कल्याणकारी कार्यों के बल पर वह ऋषि-पद के योग्य घोषित किए जाते हैं । लेकिन अभी महर्षि पद भी नहीं मिला है और ब्रह्मर्षि का पद तो काफी दूर है । इसलिए विश्वामित्र फिर तपस्या चालू करते हैं । अब की बार सबसे बड़ी बाधा बनकर स्वर्गलोक की सुंदरी मेनका आती है । अंतरिक्ष में अलग लोक की सृष्टि करने और वध्य बालक के प्राणों की रक्षा करने में समर्थ विश्वामित्र मेनका के रूप-लावण्य को देखकर एकदम कमज़ोर हो जाते हैं और अपनी सारी तपस्या को भुलावा देकर अप्सरा के साथ लौकिक सुख का आनंद लेते हैं । जब मेनका शकुंतला को जन्म देती है, तभी विश्वामित्र का नेत्रोन्मीलन होता है । अपने किए पर पछताकर वह फिर उत्तर की दिशा में जाकर घोर तपस्या में लीन हो जाते हैं । हज़ारों वर्ष तपस्या करने पर ब्रह्मा उन पर प्रसन्न होकर उन को 'महर्षि' कहकर संबोधित करते हैं और कहते हैं कि ब्रह्मर्षि बनने की योग्यता अभी उन को प्राप्त करनी है ।

अब की बार ब्रह्मर्षि बनने का दृढ़ संकल्प लेकर विश्वामित्र घोर तप का आरंभ करते हैं । अब रंभा की बारी आती है । लेकिन दूध का जला मठ्ठा भी फूँक-फूँक कर पीने लगता है । रंभा को देखते ही विश्वामित्र समझ जाते हैं कि यह महेन्द्र का इंद्रजाल है । काम पर तो वह विजय पाते हैं, पर क्रोध से बच नहीं पाते । अपनी तपस्या में बाधा बनकर आई रंभा को वह पत्थर बनकर पड़ी रहने का शाप देकर फिर तपस्या का आरंभ करने लगते हैं । अब की बार वह उत्तर को भी छोड़कर पूर्व दिशा में अपना आश्रम बना लेते हैं ।

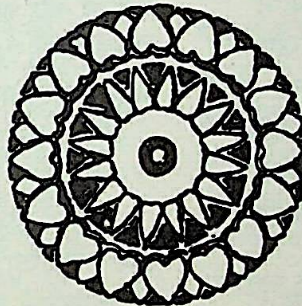
हज़ार वर्ष की गहन तपस्या के फलस्वरूप वह काम, क्रोध और लोभ पर पूर्ण नियंत्रण पाते हैं । तपश्चर्या के अंत में निराहार दीक्षा से निवृत्त होने के लिए वह जैसे ही भोजन करने बैठते हैं, उसी क्षण दरवाज़े पर भूखे ब्राह्मण की आवाज़ सुनाई पड़ती है । वह तुरंत परोसी पत्तल छोड़कर उस के सामने ब्राह्मण को बिठा देते हैं । वह ब्राह्मण और कोई नहीं था, इंद्र ही महर्षि की परीक्षा करने आए थे । सिद्धान्न को छोड़कर विश्वामित्र फिर मौन धारण कर कठोर तपस्या में और आगे बढ़ते हैं । तीनों लोक उन की तपस्या से प्रभावित हो जाते हैं । समुद्र में भयानक लहरें उठती हैं । अंतरिक्ष में आग की लपटें दिखाई देती हैं । जन-जीवन अस्तव्यस्त हो जाता है । तब समस्त देवता ब्रह्मा को साथ लिए विश्वामित्र के पास आकर उन को ब्रह्मर्षि कहकर संबोधित करते हैं । लेकिन विश्वामित्र अपने को ब्रर्हर्षि तभी मानेंगे जब वसिष्ठ उन को ब्रह्मर्षि कहकर संबोधित करें । देवताओं के अनुरोध पर वसिष्ठ विश्वामित्र को ब्रह्मर्षि घोषित कर उन के

आप्तमित्र बन जाते हैं । अब विश्वामित्र का कोई अमित्र (शत्रु) नहीं रहता । सारे विश्व के साथ वह मैत्री की भावना रखते हैं ।

इस प्रकार विश्वामित्र राजा से लेकर राजर्षि बने, फिर राजर्षि से ऋषि, ऋषि से महर्षि और महर्षि से ब्रह्मर्षि तक की उत्तम पदवी पर पहुँच गए – केवल अपनी साधना और तपस्या के बल पर । ब्रह्म तेज की खोज में ब्रह्मनिष्ठ विश्वामित्र की नैष्ठिक यात्रा का वर्णन शतानंद के मुँह से सुनकर राम और लक्ष्मण आश्चर्य से चकित और आनंद से पुलकित हो जाते हैं । राजा जनक और कथानायक विश्वामित्र भी सामने बैठकर यह सारा वृत्तांत सुनते हैं । कथावाचन और श्रवण का यह दृश्य कुछ लोकोत्तर मनोहारिता का वातावरण प्रस्तुत करता है । ऐसा लगता है कि विश्वामित्र की अयोध्या से मिथिला तक की पद-यात्रा का प्रयोजन लगभग सिद्ध हो चुका है । शतानंद का कथानंद इसी का शांति पाठ-सा लगता है ।

वास्तव में वसिष्ठ और विश्वामित्र क्रमशः परब्रह्म की परंज्योति के सत्त्वरूप और चिद्विलास के प्रतीक हैं जब कि शतानंद सदानंद के चिन्मय उद्गाता हैं । अयोध्या से मिथिला तक विश्वामित्र के साथ राम के अयन में इन्हीं तीन तत्त्वों का सुंदर समन्वय और समाहार देखा जा सकता है । 'सत्' को 'आनंद' का रूप देने में 'चित्' का संधान बहुत आवश्यक है और यही काम विश्वामित्र ने व्यवस्थित रूप से संपन्न किया है । वसिष्ठ का सत्त्वरूप ओज विश्वामित्र के चिन्मय तेज के साथ एकाकार होने पर शतानंद की द्युतिमय भावना सदानंद का सनातन रूप धारण करती है । इन तीनों की समन्वित साधना और सात्विक सान्निध्य में राम का सच्चिदानंदमय स्वरूप सब के सामने आविष्कृत, अनुभूत और आराध्य बन जाता है ।

यही राम के व्यक्तित्व की सब से बड़ी विशेषता है जो शतानंद जैसे ऋषियों में विस्मय और राजा जनक जैसे राजर्षियों में प्रसन्नता को जागरित करती है । प्राकृतिक सुषमा और नैसर्गिक महिमा का यही अद्भुत सामंजस्य राम को रमणीय महामानव के रूप में प्रस्तुत करता है ।



12. घर आए सीतापति राम

जिस दिन दशरथनंदन राम विश्वामित्र के साथ अयोध्या से प्रस्थान करते हैं, लगभग उसी दिन और शायद उसी क्षण जनकनंदिनी के योग्य वर की प्राप्ति के लिए मिथिला में राजा जनक का परम धर्मिष्ठ यज्ञ प्रारंभ हो जाता है। लेकिन इस बात का पता रामायण के सुधी पाठकों को तब चलता है जब राजा जनक विश्वामित्र के साथ राम और लक्ष्मण को देखकर पिछले बारह दिन से अनुष्ठित यज्ञ को सफल मानते हैं और कहते हैं :

अद्य यज्ञसमृद्धिर्मे सफला दैवतैः कृता।
अद्य यज्ञफलं प्राप्तं भगवद्दर्शनान्मया॥

सिद्धाश्रम के निवासी तपस्वी इस यज्ञ की ओर पहले संकेत अवश्य करते हैं। लेकिन इस बात का पता राम और लक्ष्मण के मिथिला पहुँचने पर ही चलता है कि यह अनुष्ठान पिछले बारह दिन से चल रहा है ओर अगले बारह दिन तक चलेगा। भावी अनुष्ठान की और संकेत करते हुए राजा जनक कहते हैं:

द्वादशाहं तु ब्रम्हर्षे दीक्षामाहुर्मनीषिणः।
ततो भागार्थिनो देवान् द्रष्टुमर्हसि कौशिक॥

राजा जनक की इन बातों से पता चलता है कि उन को उस का प्रारंभ किए बारह दिन बीत चुके हैं और इस दीक्षा के बारह दिन अभी शेष हैं। ध्यान देने की बात है कि अयोध्या से निकलने के बाद बारहवें दिन शाम को राम और लक्ष्मण को साथ लेकर विश्वामित्र मिथिला पहुँच जाते हैं और यज्ञ के 'उपसदन' में पदार्पण करते हैं। इस से स्पष्ट होता है कि इस परम धर्मिष्ठ अनुष्ठान में बिल्कुल मध्यभाग में मिथिला में विश्वामित्र का शुभागमन होता है। यद्यपि यह घटना यादृच्छिक (अपने आप घटित) बताई जाती है, फिर भी यह विश्वामित्र की विस्पष्ट और परामृष्ट योजना की विवृति-सी लगती है। यह भी संयोग की बात है कि जिस समय राजा दशरथ अपने पुत्रों के विवाह की बात कर रहे होते हैं, उसी समय राजभवन में विश्वामित्र का आगमन होता है। इस को तो दैव योग माना जा सकता है, पर शेष सब मुनिवर विश्वामित्र के मनोयोग का ही मंजुल परिणाम है।

राम और लक्ष्मण को देखने पर राजा जनक आश्चर्य और आनंद का अवश्य अनुभव करते हैं, पर विश्वामित्र के दर्शन से ही अपने को धन्य और अनुगृहीत समझते हैं और कहते हैं :

धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि यस्य मे मुनिपुंगवः।
यज्ञोपसदनं ब्रम्हन् प्राप्तोऽसि मुनिभिः सह॥

इस से राजा जनक की उदात्त मनोभूमिका और उच्च संस्कारिता का पता चलता है। उन का वरान्वेषी मन राजकुमारों को देखकर सहज संतोषलाभ अवश्य करता है, पर साथ ही उन का परान्वेषी मन परम धर्मिष्ठ और ब्रम्हनिष्ठ विश्वामित्र को अपने यहाँ पाकर परम आनंद का अनुभव करता है। राजपुरोहित शतानंद भी राम और लक्ष्मण को बधाई देते हैं कि उन को मंत्रद्रष्टा महात्मा का दुर्लभ पथ-प्रदर्शन मिला है और परिरक्षण प्राप्त है। गुरु और गोविंद में राजा जनक का विवेक गुरु को ही गुरुतर मानता है क्योंकि गुरु के माध्यम से ही गोविंद का दर्शन संभव होता है। गायत्री मंत्र के द्रष्टा गाधिपुत्र राम की रमणीयता को

पहचानते हैं और उस रमणीयता को जनकनंदिनी की सहज सात्विक कमनीयता के पास लाकर प्रस्तुत करते हैं। इस संधान का अनुसंधान ही मिथिला में राजा जनक के द्वारा अनुष्ठित परम धर्मिष्ठ यज्ञ है जिस का फलागम विश्वामित्र के शुभागमन और राजकुमारों के शुभ संदर्शन में राजर्षि जनक को स्पष्ट दिखाई देता है। तपस्या का फल तपस्वी की खोज में अपने आप चला आता है, इस का प्रबल प्रमाण अपनी आँखों के सामने देखकर जनक पुलक उठते हैं। सुरलोक से नरलोक में अपने आप चले आए देवताओं के समान दिव्य सौंदर्य से देदीप्यामान दोनों राजकुमारों को देखकर राजा जनक विश्वामित्र से उन का परिचय पूछते हैं। वाणी के धनी होते हुए भी मौन के माधुर्य को पहचानने वाले विश्वामित्र राम और लक्ष्मण का परिचय बहुत ही कम शब्दों में देते हैं क्योंकि उन का वास्तविक परिचय अभी एक दो दिन में अपने आप होनेवाला है। मुनिवर इतना संकेत अवश्य देते हैं कि धनुष को देखने और उस के संबंध में जानने की उत्सुकता से दोनों राजकुमार उन के साथ आए हैं। वास्तव में यह उत्सुकता राम की अपनी उतनी नहीं है जितनी मुनिमन के संकेत से प्रेरित है।

इस संबंध में एक और बात ध्यान देने की यह है कि राम और लक्ष्मण का परिचय तो अत्यंत संक्षेप में हो जाता है, पर विश्वामित्र की विलक्षण तपश्चर्या का वर्णन शतानंद बड़े विस्तार से करते हैं। राम कथा के परवर्ती प्रणेताओं में से कई लोगों ने इस का संक्षेपण कर दिया है। पर आदिकवि की आर्ष दृष्टि में इस प्रसंग का एक विशिष्ट महत्त्व है। ब्रह्म-तेज और क्षात्र-बल का संतुलित संगम विश्वामित्र के जीवन में देखा जा सकता है और राम के जीवन में भी यह सुंदर समन्वय पाया जाता है। इस की बुनियाद पिछले बारह दिन में विश्वामित्र ने डाली है। इसीलिए बार-बार शतानंद राम और लक्ष्मण के भाग्य की सराहना करते हैं कि उनको विश्वामित्र जैसे विशिष्ट तपोधनी की शुश्रूषा का अवसर मिला है।

विश्वामित्र की तपश्चर्या का विस्तार से वर्णन सुनकर राजा जनक तपस्वी की परिक्रमा कर उनसे आज्ञा लेकर राजभवन चले जाते हैं और इधर शतानंद के कथानंद का रसास्वादन करते हुए राम और लक्ष्मण आराम से रात बिताते हैं। अगले दिन प्रातःकाल नित्य कर्मानुष्ठान के बाद राजा जनक राम लक्ष्मण समेत विश्वामित्र को राजभवन में आमंत्रित करते हैं। मितभाषी और संयतभाषी जनक तब भी अपने आप न धनुष के बारे में कुछ कहते हैं और न अपनी बेटी जानकी के बारे में। विश्वामित्र से वह केवल आदेश मांगते हैं कि उनको योग्य सेवा का अवसर दिया जाए। इस पर विश्वामित्र भी बड़ी संयत वाणी में कहते हैं कि राम और लक्ष्मण धनुष देखना चाहते हैं और उनको धनुष दिखा दिया जाए तो वे वापस चले जाएंगे। उसके बाद ही राजा जनक धनुष के संबंध में सारी बातें बताते हैं और कहते हैं कि यदि राम इस धनुष पर शरसंधान कर सकें तो उनकी अयोनिजा तनया जानकी राम को विवाह में दी जाएगी। राजा जनक पहले अपने पूर्वजों को भगवान शंकर से प्राप्त उस महाधनुष की महिमा सुनाते हैं और बाद में यज्ञशाला के निर्माण के अवसर पर हल चलाते समय धरती से अपने आप प्रकट हुई सीता के बारे में कहते हैं। कैलाशवासी शंकर का चाप और धरती माता की गोद से प्रादुर्भूत जानकी दोनों राजा जनक के लिए समान रूप से महनीय और मननीय हैं। कई राजाओं की दृष्टि इन दोनों पर पड़ती है। परन्तु राजा जनक ने यह प्रतिज्ञा की है कि जो व्यक्ति शिवधनुष पर शरसंधान कर सकेगा, उसी को सीता ब्याह में दी जाएगी। संसार के प्रायः सभी वीर शिवधनुष पर शरसंधान करने का प्रयत्न करके हार चुके हैं। इस पर राजा जनक निराश होकर यज्ञ का अनुष्ठान आरंभ करते हैं। इसी अनुष्ठान के मध्य काल में राम और लक्ष्मण विश्वामित्र के साथ मिथिला पहुँच जाते हैं।

अब सत्यपराक्रम राम के सत्त्व की परीक्षा का समय आता है। लेकिन इसको परीक्षा के रूप में न तो देशिक विश्वामित्र देखते हैं और न युवा राम। विश्वामित्र राजा जनक की सारी बातें सुनकर राम को धनुष दिखाने की बात फिर से एक बार कहते हैं। इस पर राजा अपने मंत्रियों को आदेश देते हैं कि धनुष को

तुरंत सामने प्रस्तुत किया जाए । पाँच हज़ार व्यक्तियों के प्रबल प्रयास से आठ पहिये वाली विशाल मंजूषा यज्ञशाला में लाई जाती है जिस के भीतर शिवधनुष विद्यमान है । सामने रखी मंजूषा को देखकर जनक की अनुमति से विश्वामित्र वात्सल्यमयी वाणी में राम से कहते हैं, "बेटा राम, धनुष को देखो (वत्स राम, धनुः पश्य) । वह धनुष देखने को कहते हैं, तोड़ने को नहीं । लेकिन मुनि के मन का आशय समझ कर राम पेटी खोल कर धनुष को उठाकर अपने बाएँ हाथ में लेते हैं और दायें हाथ से प्रत्यंचा खींच लेते हैं । संसार के शूरवीर जिस धनुष को उठा तक नहीं सके, उसे दशरथनंदन राम देखते ही देखते इतने सहज भाव से खींच लेते हैं कि धनुष अचानक टूट जाता है । धनुष तोड़नेवाले हाथों में कोई कंपन नहीं होता, किंतु धनुष के टूटने से जो आवाज़ होती है, उस से सारी धरती काँप उठती है, आस-पास बैठे हुए सभी लोग बेहोश हो जाते हैं – राजा, मुनिवर और राजकुमारों को छोड़कर ।

धनुर्भंग का यह प्रसंग रामायण के घटना-क्रम में विशिष्ट महत्त्व रखता है । इस घटना को राजा जनक स्वयं अत्यंत अद्भुत अचिंत्य और अतर्कित कहते हैं । यह अद्भुत इसलिए है कि इसे देखकर सारा संसार चौंक उठता है । मानव-मन की मननशीलता इस घटना का विश्लेषण नहीं कर पाती, इसलिए यह अचिंत्य है । तर्क के सहारे इस बात को समझने का प्रयास नहीं किया जा सकता, इसलिए यह अतर्कित है । वाणी के मर्मज्ञ जनक द्वारा प्रयुक्त ये तीनों शब्द इस प्रसंग की सार्थकता की समर्थ व्याख्या करते हैं । इन शब्दों में आत्मा के अभिव्यंजक औपनिषदिक शब्द अग्राह्य, अलक्षण, अचिंत्य, अव्यपदेश्य आदि ध्वनित होते हैं । आत्मवान् की आत्मीयता की अद्भुत अभिव्यंजना ही धनुर्भंग का तात्विक रहस्य है । सीता आत्मा है तो राम आत्माराम या आत्मवान् हैं । सीता शक्ति है तो राम शक्तिमान् हैं । सीता श्रीस्वरूपिणी है तो राम श्रीमान् हैं । आत्मा को पहचानने के लिए आत्मवान् बनना पड़ता है । मानवशरीर में ललाट के भीतर आज्ञाचक्र के अतस्तल में रुद्र-ग्रंथि होती है । इस ग्रंथि के भेदन से ही आत्मा का द्वार खुलता है । शिवचाप का भंग इसी ग्रंथि के विभेदन का द्योतक है । ललाट के निचले प्रदेश में दोनों आँखों के ऊपर छाई रहने वाली काली काली भौंहे धनुषाकार में ही रहती हैं और इन्हीं के बीच आत्मदर्शन कराने वाला तीसरा नेत्र रहता है । शिवजी को 'त्रिनेत्र' भी कहा जाता है । इस तीसरे नेत्र को खुलवाने के लिए आत्मयोगी अपने ध्यान को दोनों भौंहों के बीच केन्द्रित कर लेता है । जैसे ही भौंहे अलग-अलग हो जाती हैं, तत्काल बीच का नेत्र खुल जाता है । इस भ्रूभंग का ही प्रतीक है – शिव धनुर्भंग।

रुद्राध्यायी में श्री शिवजी के इस धनुष का उद्बोधक वर्णन मिलता है :

नमस्ते अस्तु धन्वने बाहुभ्यामुत ते नम :
या त इषुश्शिवतमा शिव बभूव ते धनुः

शिव का धनुष शिवात्मा है तो उसमें आरोपित शर शिवतम है । ऐसे धन्वी की बाहें धन्य हैं जिनका आश्रय लेकर जडचाप भी चेतन शिव बन जाता है । कोदंड राम के हाथ में भी शिवचाप शिवात्मक बन जाता है । उपनिषदों में वर्णित प्रणवात्मक धनुष भी इसी शिव-चाप का रूपांतर है । इसी परिप्रेक्ष्य में धनुर्भंग के प्रसंग को समझना है । तभी राजा जनक की आश्चर्यपूर्ण प्रसन्नता पूरी पूरी समझ में आएगी । धनुर्भंग के घटित होते ही जनक का रोम रोम पुलक उठता है और वह मुक्त कंठ से कहते हैं:

"सीता प्राणैर्बहुमता देया रामाय मे सुता"

(सीता मेरे लिए प्राणों से भी अधिक मूल्य रखती है जिसको अब राम के हाथ में मुझे देना है।)

राम ने अपने पराक्रम से, आत्मबल से, ब्रह्म तेज और क्षात्र बल के समरस सम्मिश्रण से सीता को प्राप्त कर लिया है । राजा की प्रतिज्ञा भी पूरी हो चुकी है । लेकिन संस्कारी राजा जनक सीता और राम के इस मंगलमय संगम के लिए विश्वामित्र की अनुमति और राजा दशरथ की सम्मति को अत्यंत आवश्यक समझते हैं । इसी शिष्टाचार का पालन करते हुए विश्वामित्र की अनुमति से वह अपने मंत्रियों के माध्यम से राजा दशरथ के पास यह शुभ समाचार भेजते हैं । उधर राजा

दशरथ भी अपने राजपुरोहित वसिष्ठ और अन्य कुल-पुरोहितों की सम्मति लेकर ही राजा जनक के इस प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार करते हैं ।

राजा जनक के मंत्रियों को अयोध्या पहुँचने में चार दिन लगते हैं और राजा दशरथ को भी मिथिला पहुँचने में चार दिन लगते हैं । इस प्रकार धनुर्भंग के बाद नवें दिन राजा दशरथ अपने कुल पुरोहितों तथा भरत और शत्रुघ्न को साथ लेकर मिथिला पहुँचते हैं । राजा जनक उनका भव्य स्वागत करते हैं । राम और लक्ष्मण पिता के चरणों की वंदना करते हैं । राजा अपने चारों पुत्रों समेत रात आनंद से बिताते हैं । अगले दिन प्रातःकाल राजा जनक राजा दशरथ को अपने घर बुलाते हैं । इस बीच राजा जनक के छोटे भाई कुशध्वज भी मिथिला पहुँच जाते हैं । सब लोग जब इकट्ठे हो जाते हैं तो वसिष्ठ राजा दशरथ के प्रशस्त वंश के पूर्वजों की प्रशंसा प्रस्तुत करते हैं – राजा जनक की जानकारी के लिए । उसके बाद राजा जनक स्वयं अपने वंश के पूर्वजों का गुणगान प्रस्तुत करते हैं । साथ ही सीता के विवाह को संपन्न कराने में उपस्थित अनेक विघ्न बाधाओं का भी वर्णन करते हैं । अब अपने को कृतकृत्य पाकर वह अपना संतोष व्यक्त करते हैं ।

इस प्रसंग में एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है । यद्यपि राजा जनक ने अपनी बेटी सीता के लिए योग्य वर की खोज में बहुत समय बिताया और इसके लिए वह बहुत चिंतित भी थे, फिर भी शिष्टाचार के वरिष्ठ अनुयायी वसिष्ठ राम और लक्ष्मण के लिए क्रमशः सीता और उर्मिला की स्वयं याचना करते हैं । वरपक्ष की ओर से कन्या के लिए औपचारिक याचना करना और वह भी कुलपुरोहित के माध्यम से भारतीय शिष्टाचार है । इसका विधिवत् पालन सीता-राम के विवाह में किया जाता है । राजा दशरथ अपने गुरु वसिष्ठ से एक कदम आगे बढ़कर अपने भावी समधी से कहते हैं कि दान ग्रहण करने वाले को देने वाले की इच्छा के अनुसार चलना पड़ता है (प्रतिग्रहो दातृवशः) । इस बात को सुनकर राजा जनक अपने समधी की विनम्रता से विस्मित हो जाते है (परं विस्मयमागतः) । समधी हो तो ऐसे होने चाहिए और संबंध हो तो ऐसा ।

विवाह का दिन राजा जनक ही निश्चित करते हैं । जिस दिन निश्चितार्थ हो जाता है, उस दिन मघा नक्षत्र था । विवाह के लिए फल्गुनी का उत्तरार्द्ध उत्तम माना जाता है । इसलिए राजा जनक तीसरे दिन उत्तरा-फल्गुनी का मुहूर्त्त निश्चित करते हैं । वसिष्ठ और विश्वामित्र राजर्षि के इस प्रस्ताव का सहर्ष समर्थन करते हैं । इससे पता चलता है कि राजा जनक केवल कुशल शासक ही नहीं, बल्कि काल की गति को पहचानने वाले पहुँचे हुए ज्ञानी भी थे ।

अब विश्वामित्र और वसिष्ठ के मन में भरत और शत्रुघ्न के बारे में एक विचार आता है । राजा जनक के छोटे भाई कुशध्वज की दो कन्याएँ हैं – मांडवी और श्रुतकीर्ति । अगर इन की याचना भरत और शत्रुघ्न के लिए की जाए तो चारों पुत्रों का विवाह एक साथ संपन्न हो सकता है । इसी विचार से दोनों ऋषि दोनों भाइयों के सम्मुख यह प्रस्ताव रखते हैं । छोटे भाई मौन रहते हैं, पर बड़े भाई इस प्रस्ताव को तत्काल मान लेते हैं । इस में भी शिष्टाचार की सांस्कृतिक गरिमा देखी जा सकती है ।

इस प्रकार विवाह का कार्यक्रम निश्चित होने के बाद विवाह से एक दिन पहले गोदान आदि पूर्वाह्निक संपन्न हो जाते हैं । उसी दिन अचानक भरत के मामा युधाजित्, मिथिला पहुँच जाते हैं । असल में वह भरत को अपने घर ले जाने अयोध्या पहुँच जाते हैं । वहाँ पता चलता है कि विवाह के प्रसंग में चारों भाई और पिता मिथिला जा चुके हैं । इसलिए वह विवाह के समारोह में शामिल होने के लिए स्वयं पहुँच जाते हैं । आनंद के अवसर पर अप्रत्याशित रूप से अपने प्रियजनों को पाकर सब लोग प्रसन्न होते हैं ।

विवाह का कार्य निश्चित समय पर विधिवत् संपन्न होता है । सात्विकता, शास्त्रीयता, शालीनता और संपन्नता इस समारोह की विशेषताएँ हैं । रघुकुलगुरु वसिष्ठ के आध्वर्य में कल्याण-राम राम का आलोक-मधुर मंगल कार्य संपन्न होता है । गंध, पुष्प,

अंकुरित धान्य, पूर्ण कुंभ, धूप-पात्र, स्वर्णकलश, कुशासन आदि वेदी को अलंकृत करते हैं । इस प्रकार समलंकृत वेदी पर सर्वाभरण-भूषिता सीता को अग्नि के सामने बिठाकर राजा जनक मंत्रपूत वाणी में कन्यादान करते हुए कहते हैं:

इयं सीता मम सुता सहधर्मचरी तव।
प्रतीच्छ चैनां भद्र ते पाणिं गृह्णीष्व पाणिना।।

राजा की इस अभिमंत्रित वाणी में पाणिग्रहण के प्रमुख प्रयोजनों की ओर मार्मिक संकेत मिलता है । मिलजुल कर धर्म का आचरण करना, एक दूसरे के मन और हृदय को समझकर पारस्परिक प्रेमभावना से जीवन को परिपूर्ण बनाना और अंत में भद्रपद (मंगलकर-परमार्थ) को प्राप्त करना ही पाणिग्रहण का परम-प्रयोजन है । इसी आशय को प्रकट करने वाले आमंत्रित वचनों से दशरथ के चारों पुत्रों का विदेहवंश की चार कन्याओं के साथ लगभग एक ही समय पाणिग्रहण संस्कार संपन्न होता है । आदिकवि की अक्षर भारती की तरह यह दीक्षांत समारोह भी बिना किसी आंडबर के सहज रूप से संपन्न हो जाता है ।

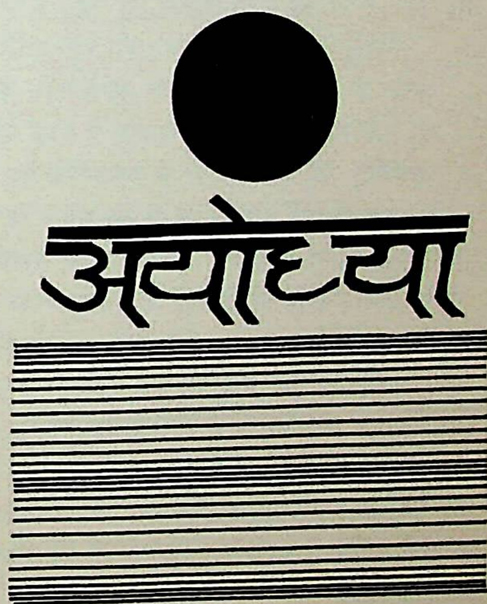
आदर्श दंपति सीता-राम के संयोग को देखकर अंतरिक्ष से फूल बरसते हैं, वायुमंडल चारों तरफ मंगलमय ध्वनि से गूँज उठता है और सारी दिशाओं में संगीत और नृत्य का मनमोहक वातावरण प्रस्तुत हो जाता है । बारह दिन की यज्ञ दीक्षा समाप्त हो जाती है । अयोध्या से मिथिला पहुँचने में बारह दिन और मिथिला में मैथिली और दाशरथी के विवाह को संपन्न कराने में बारह दिन - कुल मिलाकर चौबीस दिन राम के साथ बिताकर विश्वामित्र विवाह के अगले दिन ही प्रातः काल सबसे बिदा लेकर अपने उत्तरवर्ती आश्रम में वापस पहुँच जाते हैं । श्रीराम का गायत्री-मंत्र के द्रष्टा विश्वामित्र के साथ पूरे चौबीस दिन का साहचर्य विशेष महत्त्व रखता है ।

इधर राजा दशरथ अपने पुत्रों और पुत्रवधुओं को लेकर अयोध्या के लिए निकल पड़ते हैं । पर रास्ते में परशुराम के प्रचंड प्रकोप का सामना करना पड़ता है । शिवधनुष को तोड़ने की बात सुनकर परशुराम वैष्णव धनु को ले आते हैं और राम को चुनौती देते हैं कि हिम्मत हो तो यह हरिचाप भी संभाल ले । परशुराम के प्रबल पराक्रम से परिचित दशरथ भय से काँप उठते हैं । पर राम बड़ी विन्रमता और शालीनता से परशुराम के हाथ का हरिचाप अपने हाथ में लेकर जैसे ही शर चढ़ा देते हैं वैसे ही परशुराम काँप उठते हैं । उनको पता चलता है कि राम केवल शिवसाधक ही नहीं, बल्कि हरिशोधक भी हैं । शिव और केशव दोनों के सत्त्वसार की सात्विक मूर्ति के रूप में रघुनंदन राम को देखकर भृगुनंदन राम भयभीत हो जाते हैं और महेन्द्र पर्वत पर स्थित अपने आश्रम में पहुँच कर प्रशांत जीवन बिताने की इच्छा प्रकट करते हैं । राम का अमोघ बाण परशुराम के द्वारा अर्जित पुण्य लोकों का हरण कर लेता है, पर उनके प्राणों को और प्राणों की गतिशीलता को सुरक्षित रखता है ।

कुल सत्ताईस दिन के बाद विशाखा की निर्मल नक्षत्र रेखा से आलोकित मार्ग में राम अयोध्या वापस पहुँचते हैं - केवल दशरथनंदन राम के रूप में नहीं बल्कि सीतापति राम के रूप में । भरत के मामा युधाजित् भरत और शत्रुघ्न को साथ लेकर अपने पिता के यहाँ पहुँच जाते हैं । इधर अयोध्या में राम और लक्ष्मण सीता और उर्मिला के साथ सानंद समय बिताते हैं ।

सीता-राम का प्रेम दिन, मास, ऋतु और वर्ष की गति के साथ बढ़ता जाता है । उनके हृदय एक दूसरे को जानते हैं, पहचानते हैं, समझते हैं और समझाते हैं । रूप-सौंदर्य और गुण-सौंदर्य, दोनों में वे एक दूसरे को अपने निकट पाते हैं । सीता साक्षात् श्रीदेवी का रूप लिए अयोध्या के राज-भवन में विचरण करती हैं तो लोकाभिराम राम भगवान विष्णु की तरह उस श्रीदेवी के हृदय-मंदिर में प्रतिष्ठित हो जाते हैं । राम के लिए सीता लक्ष्मी है तो सीता के लिए राम विश्वात्मा विष्णु हैं और संसार के लिए दोनों प्रत्यक्ष देवता प्रतीत होते हैं । अयोध्यावासियों के लिए राम का नाम सांस का काम देता है और सीता की ममता माता की बात भुला देती है ।

रामनाम रमणीय है, राम परम अभिराम।
जगजन जननी जानकी जगदभिराम ललाम।।


अयोध्या



13. लोकाभिराम राम

दशरथनंदन राम को लोकाभिराम राम का रूप देने का श्रेय साधना की साकार मूर्ति गाधिपुत्र विश्वामित्र को है । अयोध्या ने राम को अवश्य जन्म दिया है, पर सत्यपराक्रम राम का कार्यक्षेत्र केवल अयोध्या तक सीमित नहीं रह सकता । अयोध्या केवल आधार है, सारा संसार सत्वसार राम की प्रतीक्षा कर रहा है । यह बात विश्वामित्र ने चौबीस दिन तक राम को अपने साथ रख कर सिद्ध कर दी । वर्षों की तपस्या, साधना और कामना के फलस्वरूप जीवन-फल के रूप में जन्मे अपने प्रिय नंदन राम को पिता दशरथ ममता के मधुर मोह में पड़कर उसी ममता से बाँधना चाहते थे । लेकिन वह इसी ममता के कारण समझ नहीं पाते थे कि राम का जन्म केवल उन की मनोवांछा की पूर्ति के लिए नहीं हुआ है, बल्कि युग की पुकार पर लोकमंगल की साधना के लिए हुआ है । माता-पिता के लिए जो नयनाभिराम राम थे, वही आचार्य की आर्ष द्रष्टि में लोकाभिराम राम बन गए ।

इस प्रक्रिया में न केवल विश्वामित्र का संकल्प साकार हुआ, बल्कि दशरथ का मनोरथ भी पूरा हुआ । जिस दिन विश्वामित्र राम को अपने साथ ले जाने दशरथ के घर पहुँचे, उस दिन और बिल्कुल उसी समय दशरथ अपने पुत्रों की दारक्रिया (विवाह) की बात कर रहे थे । लेकिन यह बात विश्वामित्र के सामने नहीं हुई । पर मुनिपुंगव के वृद्धश्रव कानों ने सब कुछ सुन लिया । वह आए अपने यज्ञ की रक्षा के लिए, पर किया राम का कल्याण । यज्ञ की रक्षा के बहाने विश्वामित्र ने राम को ममता के बंधन से बाहर तो निकाला, पर मिथिला की विदेहराज-तनया सीता से उन का पाणिग्रहण कराकर उन को एक और बंधन में डाल दिया । लेकिन चौबीस दिन की मंत्रपूत अवधि में विश्वामित्र ने राम के पावन मन में इतनी लोकोत्तर लोकचेतना भर दी कि ममता के करोड़ों बंधन भी राम की महनीयता, आत्मवत्ता, सत्यनिष्ठा और सात्विक पराक्रम को विचलित नहीं कर सकते । विश्वामित्र को इस बात का पूरा-पूरा भरोसा था, तभी तो पहली भेंट में ही वह दशरथ से कह चुके थे कि मैं जानता हूँ, राम कितने महान् हैं और उन का पराक्रम कितना सच्चा है (अहं वेदिम् महात्मानं रामं सत्यपराक्रमम्) ।

यही महात्मा और सत्यपराक्रम राम जब राजा जनक के जामाता बन जाते हैं तो सीता का हाथ राम के हाथ में रखते हुए राजर्षि जनक कहते हैं — यह मेरी बेटी सीता (इयं सीता मम सुता) धर्म में तुम्हारी सहचरी (सहधर्मचरी तव) बनेगी और इस का हाथ स्वीकार करने में तुम्हारी भलाई है (प्रतीच्छ चैनां भद्रं ते) । इस पाणिग्रहण के आदेश में (पाणिं गृहणीष्व पाणिना) ममता का ही मंजुल गान फिर से सुनाई देता है । ममता का एक बंधन छुटता-सा प्रतीत होता है तो दूसरा बंधन जुड़ता-सा दिखाई देता है । लेकिन ममता मन का खेल है, आत्मा से इस का कोई संबंध नहीं है । इसलिए आत्मवान् राम और आत्मस्वरूपिणी जानकी के मंगलमय संगम में ममता और समता का मंजुल सामंजस्य है । इसी की ओर मार्मिक संकेत करते हुए राजर्षि जनक "भद्रं ते" कहकर सीतापति राम को आशीर्वाद देते हैं और साथ-साथ सक्षम प्राधिकारिता के

साथ प्रेमपूर्वक आदेश भी देते हैं। अब तक राम की केवल एकांत साधना थी। अब वह कांता-सम्मित और सीतासम्मत साधना बन जाती है। सीता भी राम से कम नहीं है। वह साक्षात् देवमाया की तरह प्रकट हुई अप्राकृत प्रकृति हैं। सूर्यवंश में जन्म लेने के कारण राम के रोम रोम में प्रभाकर का प्रखर तेज प्रकट होता है तो धरती माता की धन्य तनया सीता में क्षमा, धैर्य और स्थैर्य के लक्षण कण कण में अभिलक्षित होते हैं। सीता और राम का मधुर मिलन पृथ्वी और आकाश का सुंदर समन्वय प्रस्तुत करता है।

भूम्याकाशसमाहारो गंधमाधुर्यसंहतिः।
सत्य-सौंदर्य-संयोगः सीताराम-समागमः॥

दशरथनंदन राम के साथ जनकनंदिनी सीता के संयोग में सत्य और धर्म की सहयोगिता सोने में सुंगध की भाँति समस्त संसार का ध्यान आकृष्ट करती है। सीतापति राम की लोकप्रियता कुछ ही दिनों में अयोध्या की भौगोलिक सीमा को पारकर पांचभौतिक जगत् के कण कण में फैल जाती है। राम को परमपिता और सीता को विश्वमाता स्वीकार करने में प्रसन्नता और प्रफुल्लता का अनुभव करनेवाली साधारण जनता मुक्तकंठ से कहती है – "लोके पुरुष सारज्ञः साधुरेको विनिर्मितः" (जीवन-सार को पहचाननेवाला रसज्ञ और मर्मज्ञ सज्जन संसार भर में केवल एक है और वह है अकेला राम)। हर माता-पिता की यह मान्यता थी कि पुत्र हो तो ऐसा हो (भूमावनुपमः सूनुः) । संसार में राम जैसे पुत्र और सीता जैसी बेटी का मिलना दुर्लभ माना जाता है। वास्तव में राम को सृष्टिकर्ता ने बनाया था या वह स्वयं प्रकट हो गए, यह कहना आम जनता के लिए कठिन मालूम पड़ता है। इसीलिए लोग उनको कभी कभी "साधुरेको विनिर्मितः" (विशेष कौशल से बनाया गया सज्जन) मानते थे और कभी कभी "स्वयंभूरिव भूतानां" (समस्त प्राणि-जगत् में अपने आप प्रकट स्वयंभू)।

लोकाभिराम राम की इस लोकोत्तर महनीयता का अयोध्या कांड के आरंभ में आलोक मधुर भाषा में अनुकीर्तन किया जाता है। यह अनुकीर्तन इसलिए है कि वाल्मीकि रामायण का प्रारंभ ही राम के गुणगान से होता है। तपस्वी वाल्मीकि की जिज्ञासा के समाधान के रूप में मुनिपुंगव नारद लोकनायक राम की स्पृहणीय रमणीयता को आलोकित करनेवाले अनेक गुणों का वर्णन करते हैं और इन्हीं का अनुकीर्तन अयोध्या कांड के आरंभ में होता है। नारद के श्रीमुख से निगदित आप्त वाक्य में राम के आदर्श गुणों का पूर्वाभास मिलता है तो अयोध्या कांड के आरंभ में आदिकवि वाल्मीकि की आर्ष वाणी में अभिवर्णित अनुकीर्तन में सत्य का प्रकाश प्रतिभासित होता है। नारद की पारदर्शिता को बालकांड की विभिन्न घटनाएँ सत्य से परिपुष्ट बनाती हैं। ताड़का का वध, विद्या ग्रहण में सूक्ष्मग्राहिता, यज्ञ की रक्षा, अहल्या का उद्धार, शिव धनुर्भंग, परशुराम का गर्वभंग आदि घटनाओं से स्पष्ट होता है कि राम केवल साधारण मनुष्य नहीं हैं, बल्कि उन में दिव्यता और भव्यता का अद्भुत सम्मिश्रण है, वर्चस्विता और पराक्रम का अभीष्ट सामंजस्य है, विनम्रता और विशिष्टता का विवेकपूर्ण संतुलन है और सब से बढ़कर ममता और समता का मंगलमय संगम है।

इन्हीं गुणों से प्रभावित होकर सारी पृथ्वी लोकनाथ रघुनाथ को अपना नाथ चुन लेती है (लोकनाथोपमं नाथं अकामयत मेदिनी)। राम के गुण सूर्य की किरणों की भाँति (सूर्य इवांशुभिः) संसार के कोने कोने में पहुँच जाते हैं। राजा दशरथ को उन के चारों पुत्र भगवान् विष्णु की चार भुजाओं की तरह बहुत ही अच्छे लगते हैं। पर राम के लिए उन के हृदय में विशिष्ट स्थान है। वह उन को सब से अच्छे लगते हैं। कौसल्या तो अपने इकलौते बेटे को पिता के प्रेम और प्रजा के आदर का पात्र पाकर फूली नहीं समातीं। वह अपने को देवमाता अदिति के समान भाग्यशालिनी समझती हैं क्योंकि उन का पुत्र इंद्र के समान तेजस्वी, ओजस्वी और यशस्वी तो है ही, तपस्वी और मनस्वी भी हैं।

वह हमेशा शांत और प्रसन्नचित्त रहते हैं। जब बोलते हैं तो अमृत घोलते हैं। अगर किसी ने उनसे कोई कड़वी बात कही तो वह उसकी उपेक्षा कर देते हैं। दूसरों के किए उपकार की वह हमेशा याद रखते हैं, पर सैंकड़ों अपकार हों तो उनकी तरफ ध्यान तक

नहीं देते। आवश्यकता पड़ने पर वह अपना पराक्रम अवश्य प्रदर्शित करते हैं, पर उस पर गर्व नहीं करते। वह सब कुछ जानते हैं, पर विद्वानों की विद्वत्ता से लाभ उठाते हैं और उन का सम्मान करते हैं। वह सभी से स्नेहभाव रखते हैं, किसी से ईर्ष्या नहीं करते। दीन-दुखियों पर वह कृपा-दृष्टि रखते हैं और धर्म का पालन करने के लिए आग्रह और अनुग्रह का उपयोग करते हैं। क्रोध और हर्ष कभी अकारण उन के मन में उत्पन्न नहीं होते। वह हमेशा अपने को काबू में रखते हैं और मन को पवित्र रखते हैं। वह ऐसी किसी भी बात में रुचि नहीं लेते जिस में श्रेय की भावना न हो। उन के मुँह से कभी उल्टी सीधी बातें नहीं निकलती हैं। दूसरों का कुतर्क काटकर सत्य का प्रतिपादन करने में वह वागीश बृहस्पति के समान हैं। उन का शरीर हमेशा स्वस्थ रहता है, वाणी परिमार्जित रहती है और व्यवहार, देश-काल के अनुसार सब की भलाई के लिए होता है। वह हमेशा सत्य बोलते हैं, कभी उदास नहीं होते, अपनी बात के पक्के होते हैं, मन की बात किसी के सामने अनावश्यक प्रकट नहीं होने देते, त्याग और संयम के विषय में कभी प्रमाद की गुजांइश नहीं रखते। वह हमेशा सतर्क रहते हैं और अपने तथा दूसरों के गुण-दोषों से भली भाँति परिचित रहते हैं। धर्म, काम और अर्थ के तत्त्व को पहचानने वाले प्राज्ञ होने के कारण वह अच्छाई को अपनाते और बुराई को छोड़ देते हैं। लोक, शास्त्र, शिल्प तथा धनुर्विद्या में निष्णात होने के कारण वह युद्ध में देवताओं की भी पकड़ में नहीं आते। वह काल का ज्ञान रखते हैं, इसलिए काल के वशीभूत नहीं होते। बुद्धि में बृहस्पति और पराक्रम में इंद्र के समान राम धनुर्विद्या में अपने पिता से भी बढ़कर हैं।

संसार में सामान्यतया दुर्लभ इन लोकोत्तर गुणों से संपन्न राम को राजा दशरथ अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहते थे। उन का विश्वास था कि जनता उन के इस प्रस्ताव का पूरा पूरा समर्थन करेगी क्योंकि राम का नाम घर घर में पहुँच गया और जन-मानस राजा राम के जनरंजक शासन की प्रतीक्षा कर रहा था। फिर भी राजा का मन किसी अव्यक्त चिंता से ग्रस्त था। उन का चिंताकुल मन किसी घोर उत्पात की आशंका से त्रस्त था। इसलिए जैसे ही उन के मन में राम के राजतिलक का संकल्प उदित होता है, तत्काल वह सभी राजाओं को विचार-विनिमय तथा निर्णय के लिए आमंत्रित करते हैं, पर कैकेयी के पिता युधाजित् और सीता के पिता राजा जनक को इस बात की सूचना तक नहीं देते। सोचते हैं कि बाद में यह शुभ समाचार सुनकर वे दोनों प्रसन्न हो जाएँगे। इसी में राम-कथा के भविष्य का बीज है।

पृथ्वी के प्रमुख राजा-महाराजाओं की परिषद् के सामने रघुकुल की प्रशस्त राज्यपरंपरा, लोकसेवा के लिए समर्पित अपने पार्थिव शरीर की जराजीर्ण पांडुर अवस्था तथा ज्येष्ठ पुत्र राम के श्रेष्ठ तथा वरिष्ठ गुणों की लोकप्रियता के आधार पर पर्वतराज की सी जलद गंभीर वाणी में राजा दशरथ लोकाभिराम राम के राजतिलक का प्रस्ताव सभासदों के सम्मुख प्रस्तुत करते हैं। राजतिलक के लिए अगला ही दिन निश्चित करते हैं और पुष्य नक्षत्र का पुण्य योग रामचंद्र के राजतिलक के लिए शुभप्रद बताते हैं। ध्यान देने की बात है कि यह मुहूर्त राजा दशरथ स्वयं निर्णय करते हैं, कुलगुरु वसिष्ठ की इस के लिए सहमति भी नहीं लेते। मन में इतने उतावलेपन के होते हुए भी बाहर से निर्लिप्त और निरीह भावना दर्शाते हुए कहते हैं:

यदिदं मेऽनुरूपार्थं मया साधु सुमंत्रितम्।
भवंतो मेऽनुमन्यंतां कथं वा करवाण्यहम्॥
यद्यप्येषा मम प्रीतिर्हितमन्यद् विचिंत्यताम्।
अन्या मध्यस्थ-चिंता तु विमर्शाभ्यधिकोदया॥

(मैंने अपने मन की बात आप लोगों के सामने रखी है। जहाँ तक मेरा संबंध है, मैं समझता हूँ कि इसी में सब का भला है। अगर आप लोग भी मेरे इस विचार से सहमत हों तो मुझे इस बात के लिए अनुमति दें। अगर आप के मन में कुछ और बात हो तो मुझे बता दें कि मैं क्या करूँ। यद्यपि राम के राजतिलक में ही मेरी रुचि है, फिर भी आप लोग इस बात पर तटस्थ होकर सोचने के लिए स्वतंत्र हैं। एकपक्ष विचार से निष्पक्ष मत हमेशा अधिक श्रेयस्कर होता है। इसलिए आप सोच समझकर इस बात पर

अपना परामर्श देकर मेरा मार्ग-दर्शन करें ।)

राजा दशरथ के इस प्रस्ताव में उन की प्रशासन कुशलता, सहज विनम्रता, निर्लिप्त निर्णयकारिता और सत्यनिष्ठा के लक्षण स्पष्ट रूप से परिलक्षित तो होते ही है । पर साथ ही उन के मन में संकल्प और विकल्प के बीच जो द्वंद्व चल रहा है, वह भी इन बातों में प्रतिबिंबित होता है । श्रेष्ठ गुणों से युक्त ज्येष्ठ पुत्र को युवराज के आसन पर समासीन करना रघुकुल की राजनीति और राजा दशरथ के राजधर्म के बिल्कुल अनुकूल है । फिर भी इस साधारण राजधर्म के अनुपालन में सत्यसंध राजा के मन में संकोच क्यों हो रहा है और इतने शब्दों में और वह भी क्षमा-याचना के स्वर में वह प्रजा का अनुमोदन क्यों मांग रहे हैं, यह बात परिषद् में उपस्थित राजा-महाराजाओं और विद्वानों की समझ में नहीं आती है । वे सब के सब राम की लोकाभिराम गुण-गरिमा से इतने प्रभावित हैं कि वे अन्यथा सोच ही नहीं सकते । सब लोग एक कंठ होकर कहते हैं:

इच्छामो हि महाबाहुं रघुवीरं महाबलम्।
गजेन महतायांतं रामं छत्रावृताननम्॥

(हम चाहते हैं कि रघुवीर राम हमारे राजाधिराज बनें । हम अपने महान् बलशाली राम को अपनी विशाल भुजाओं के ऊपर राज्य का भार वहन करते हुए उत्तम गजराज पर आरूढ़ होकर सिर पर छत्र चामर की शोभा से समलंकृत होकर चलते फिरते शीघ्र देखना चाहते हैं ।)

स्पष्ट है कि दशरथ का वास्तविक संदेह यह नहीं था । राम को राजगद्दी पर देखने के लिए राजा दशरथ स्वयं उत्सुक थे । उन के प्रस्ताव का अनुमोदन मात्र एकत्रित राजाओं ने किया था । बारीकी से देखा जाए तो राजा दशरथ ने जो संदेह प्रकट किया है, उसके पीछे दो बातें हैं । पहली बात यह है कि सत्य के अनुयायी राजा दशरथ के मन में यह धर्म-संदेह कहीं गुनगुना रहा है कि राम के राजतिलक में धर्म का पालन तो पूरा-पूरा हो रहा है, पर क्या इस में सत्य का उल्लंघन तो नहीं है । इसी संदेह को उन्होंने दूसरे शब्दों में प्रकट किया है । इसीलिए वह धर्म शब्द का अपने वाक्य में सार्थक प्रयोग करते हैं । धर्म के बल पर वह सत्य को अपने अनुकूल करवाना चाहते हैं । दूसरी बात यह है कि इस संदेह के समाधान में लोग जो कुछ कहेंगे, वह राम के पक्ष में होगा । प्रजा के मुँह से अपने पुत्र की प्रशंसा सुनने में पिता को आतंरिक आनंद मिलता है । शायद परिषद् के सदस्यों से राम का गुणगान करवाने के लिए ही दशरथ ने यह प्रश्न पूछा था । इस के उत्तर में राज-परिषद् जो कहती है, उस के अक्षर अक्षर में लोकाभिराम राम की लोकप्रियता का प्रत्यक्ष प्रमाण मिलता है ।

राजा दशरथ की शंका का समाधान करते समय परिषद् में उपस्थित राजाओं को प्रारंभ में कुछ संकोच होता है क्योंकि वे लोग यह बात स्पष्ट रूप से नहीं कह सकते कि दशरथनंदन राम अपने पिता से भी बढ़कर हैं, पर प्रकारांतर से उन को यह बात कहनी ही पड़ती है । जहाँ तक बन पड़ता है, वे तुलना की बात छोड़कर संतुलित शब्दों में राम की शासकीय वर्चस्विता को अनुपम और अतुलनीय सिद्ध करने का प्रयास करते हैं । सब से पहले संक्षेप में वे लोग कहते हैं कि आप के पुत्र में लोक कल्याणकारी बहुत सारे गुण हैं जिन में से जो हम को अच्छे लगते हैं और आनंद प्रदान करते हैं (प्रियान् आनंदनान्) उन के बारे में हम कुछ कहने का प्रयास करेंगे । उन सब में सत्यपराक्रम राम सर्वश्रेष्ठ सिद्ध होंगे । सत्य की बात सुनते ही दशरथ चौंक उठते हैं । पर परिषद् के सदस्य उसी बात को दुहराते हुए कहते हैं – "रामः सत्पुरुषो लोके सत्यः सत्यपरायणः" (समस्त संसार में राम ही एक मात्र सत्पुरुष हैं क्योंकि वह सत्य के साकार रूप हैं और सत्य का पालन करने में हमेशा तत्पर रहते हैं । आगे चलकर वे कहते हैं कि धर्म भी सत्य पराक्रम राम से ही प्रकट होता है और वह धर्म भी श्रीयुक्त है (साक्षाद् रामाद् विनिवृत्तो धर्मश्चापि श्रिया सह ।) अब दशरथ का मन शांत होता है क्योंकि प्रजा की दृष्टि में राम केवल सत्यपराक्रम नहीं है, बल्कि धर्मपरायण भी हैं । धर्म का उद्‌गम उन्हीं से हुआ है । सार की बात संक्षेप में कहने के बाद एकत्रित राजा संभावित युवराज राम के अन्य गुणों की प्रशंसा करने लगते हैं ।

प्रजा को सुख देने में राम चंद्रमा की तरह सुखद और शीतल अमृत बरसाते हैं । धरती से बढ़कर क्षमाशील हैं । बुद्धि में बृहस्पति और पराक्रम में इंद्र उन की समता नहीं कर सकते । वह धर्म को पहचानते हैं, सत्य को मानते हैं, चरित्र को पवित्र रखते हैं और उन के मुँह से जो वाणी निकलती है, वह अच्छी लगती है और अच्छा फल देती है । जनता को वह अपना स्वजन मानकर उन के योग और क्षेम का हमेशा ध्यान रखते हैं । वह आचार्यों से हमेशा पूछा करते हैं कि क्या आप के शिष्य आप की बात सुनते हैं और इसी प्रकार बलाध्यक्षों से यह पूछते हैं कि क्या आप की सेना आपकी बात मानती है । लोगों को व्यसनी देखकर वह स्वयं दुःखी हो जाते हैं और लोगों को उत्सव-समारोह आदि में उल्लसित देखकर वह स्वयं उत्साहित हो जाते हैं । वह जब भी बोलते हैं, मुस्कुराते हुए बोलते हैं और सब से पहले बोलते हैं । देखने में सुंदर, बात करने में मधुर और काम करने में कुशल दशरथनंदन राम अपने शौर्य, वीर्य और पराक्रम में, सच पूचा जाए तो, तीनों लोकों का पालन करने में सक्षम लोकाभिराम हैं, अयोध्या उन के लिए अत्यंत साधारण है ।

रामो लोकाभिरामोऽयं शौर्य-वीर्य-पराक्रमैः ।
शक्तस्त्रैलोक्यमप्येष भोक्तुं किं नु महीमिमाम् ॥

इतना कहकर परिषद् में उपस्थित प्रतिष्ठित राजा अंत में यह जोड़ना चाहते हैं कि यह केवल चुने हुए प्रमुख राजाओं की राय नहीं है, बल्कि सारी प्रजा की यह प्रबल इच्छा है कि जल्दी से जल्दी राम को राज्य का भार सौंपा जाएः

आशंसंते जनः सर्वो राष्ट्रे पुरवरे तथा।
आभ्यंतरश्च बाह्यश्च पौरजानपदो जनः॥

(राष्ट्र के नागरिक, ग्रामवासी, शिक्षित, अशिक्षित, स्त्री-पुरुष, बच्चे बूढ़े सब लोग सच्चे दिल से चाहते हैं कि रामराज्य यथाशीघ्र स्थापित हो जाए ।)

जनता और जनाध्यक्षों की इस अमृतवाणी से राजा दशरथ का हौसला बढ़ जाता है । उन के मन में जो संदेह है (प्रकट और प्रच्छन्न), वह धीरे-धीरे दूर होता जाता है । वह अविलंब वसिष्ठ, वामदेव आदि कुल पुरोहितों को बुलाकर अगले दिन ही राजतिलक को आयोजित करने का अनुरोध करते हैं । राजा के सामने ही राजपुरोहित राजतिलक के लिए आवश्यक प्रबंध करने का आदेश सुमंत्र आदि मंत्रियों को दे देते हैं । यह सुखद समाचार अयोध्या में चारों तरफ देखते ही देखते फैल जाता है । दशरथ का मनोरथ जनवाणी में मुखर और राजकाज और साजसज्जा में सक्रिय रूप धारण करता है । राम को बुलाकर राजा दशरथ अपना यह शिवसंकल्प और उस पर प्रजा का अनुमोदन सुनाते हें । आदर्श गुण संपन्न होते हुए भी राम को इस समय अत्यंत संयम ओर सावधानी से काम लेना है, इस बात की ओर भी दूरदर्शी और सत्यवादी दशरथ संकेत करते हें । राम केवल पिता के पैर छूकर अपने घर वापस पहुँचते हैं । सब लोग चाहते हैं कि राम का राजतिलक हो जाए और सब के सब अगले दिन के सुप्रभात की सुनहली घड़ियों की सातुर और सोत्कंठ प्रतीक्षा में सुहावनी रात के सुमधुर क्षण बिता रहे हैं । पर प्रभु की इच्छा सब से प्रबल है – "हरि इच्छा बलवान्"



14. संकल्प और विकल्प

रघुकुलनंदन राम को अपना उत्तराधिकारी बनाने का धर्म-सम्मत संकल्प सत्यसंध राजा दशरथ के मन में सबल होता जा रहा है । लेकिन यह संकल्प कहां तक सफल हो सकेगा, इस संबंध में स्वयं राजा दशरथ के मन में संदेह हैं । यह संदेह राजा के सात्विक मन को प्रायः प्रारंभ से ही सताता चला आ रहा है । लगभग उसी समय से जब वह यज्ञपुरुष के द्वारा पुत्रलाभ के लिए प्रदत्त दिव्य पायस का अपनी तीनों रानियों में वितरण करने लगे थे । इस संदेह का कारण स्पष्ट है ।

राजा दशरथ की प्रौढ़ एवं परिपक्व युवावस्था में जब विषय-वासना और पुत्र-लालसा आपस में आँखमिचौनी खेलने लगीं तब बड़ी रानी कौशल्या और मंझली रानी सुमित्रा से कुछ निराश और निस्पृह राजा ने छोटी रानी कैकेयी से मुख्यतया इसीलिए विवाह किया था कि शायद उस से वंश को चलानेवाले पुत्र की प्राप्ति हो और विवाह के लिए कैकेयी के पिता को राज़ी करते समय सत्यसंध राजा दशरथ ने उन को यह वचन दिया था कि कैकेयी से होनेवाला पुत्र ही अयोध्या का राजा बनेगा । यह बात राजा दशरथ और कैकेयी को छोड़कर और किसी को मालूम नहीं थी । लेकिन यह देखकर आश्चर्य होता है कि चित्रकूट में भरत को सत्य और धर्म की बारीकियां समझाते समय राम इस बात की ओर बड़ा मार्मिक और तार्किक संकेत करते हुए कहते हैं:

पुरा भ्रातः पिता नः स मातरं ते समुद्वहन्।
मातामहे समाश्रौषीद् राज्यशुल्कमनुत्तमम्॥

(भैया, आज से बहुत पहले की बात है । जब हमारे पिताजी का विवाह तुम्हारी माताजी से हुआ था, तब तुम्हारे नाना से हमारे पिताजी ने कैकेयी के पुत्र को राज्य देने का वचन दिया था ।

न मालूम, राम को इस बात की जानकारी कहाँ से और कैसे मिली । पर वह इस परम रहस्य को प्रकट करने में इतनी सावधानी अवश्य बरतते हैं कि पिता के जीवित रहते यह बात वह किसी के सामने नहीं कहते । वह केवल वरदान का हवाला देकर पिता की आज्ञा का पालन करने के लिए तत्पर और सजग रहते हैं । देवासुर संग्राम और पिता का वरदान बहुत बाद की बात है । लेकिन सारा संसार वरदान की बात ही जानता है । कैकेयी के विवाह के समय केकयराज के साथ हुई इस गुप्त वार्ता के बारे में किसी को कुछ भी नहीं मालूम था । शायद कैकेयी भी इस बात को भूल गई थी ।

दूसरी बात यह है कि जब कैकेयी पुत्रवती हुई तो वह अकेली माता नहीं बनी थी, तीनों रानियाँ एक साथ मातृत्व को प्राप्त कर चुकी थीं और वह भी दैवी अनुग्रह से । इस में कैकेयी अथवा अन्य किसी रानी की अपनी कोई विशेष योग्यता अथवा सौभाग्यशालिता नहीं है । इसलिए अब उस पुराने वचन का परिवेश बदल गया है । राजा दशरथ की धर्म परायणता और कर्म-परिपक्वता के कारण उन पर इष्टदेवता प्रसन्न हो गए और उन को पुत्र-लाभ में सहायक दिव्य पायस प्रदान कर गए । इसीलिए राम, लक्ष्मण, भरत और

शत्रुघ्न का जन्म राजा दशरथ की अपनी उपलब्धि है, इसमें रानियों का सहयोग निमित्त मात्र था और वह भी राजा दशरथ की स्वेच्छा और प्रसन्नता पर निर्भर था। इसीलिए दिव्य पायस को अपने हाथ में लेकर 'महामति' दशरथ दस-बीस बार सोचकर अपनी रानियों में उस का वितरण करते हैं। इस वितरण की प्रक्रिया में वह इस बात के लिए अत्यंत सजग और सतर्क थे कि इसमें कैकेयी को कम से कम हिस्सा मिले और कौसल्या को प्राथमिकता दी जाए। लेकिन धर्म संकट की इस दुविधा में सुमित्रा को दुगुना लाभ मिलता है। जो भी हो, राजा दशरथ के मन में जो द्वंद्व था, वह कौशल्या और कैकेयी के सापेक्षिक महत्त्व को लेकर था, वह धर्म और सत्य के बीच संघर्ष का परिचायक था। यही संघर्ष धीरे-धीरे सबल होता चला जाता है और राजीव लोचन राम के राजतिलक की प्रस्तावना के अवसर पर वह सक्रिय रूप धारण करता है।

राजतिलक की प्रस्तावना के अवसर पर राजा दशरथ के मन में प्रसन्नता की अपेक्षा व्याकुलता अधिक दिखाई देती है, आकांक्षा के भीतर आशंका अँगड़ाई लेती-सी नज़र आती है। हर बात में और हर कदम पर कुछ अनावश्यक जल्दबाजी के लक्षण परिलक्षित होते हैं। राजतिलक का प्रस्ताव राम के जन्म दिन – चैत्र मास के पुनर्वसू नक्षत्र के मंगलमय अवसर पर—प्रजा के सम्मुख रखा जाता है। लेकिन जन्मोत्सव का कहीं उल्लेख नहीं किया जाता। भरत और शत्रुघ्न की अनुपस्थिति में इतना महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव प्रस्तुत करके प्रजा की सर्वसम्मति से उसे पारित कराने में राजा दशरथ के मन की त्वरित आतुरता स्पष्ट रूप से प्रकट होती है। राज्याभिषेक का आदेश देने के बाद ही राम को यह शुभ समाचार सुनाने के लिए बुलाया जाता है। बाप-बेटे की बातचीत सुनते ही राम के हितैषी राम-माता के पास जाकर उन को यह सुखद सामाचार सुनाते हैं। सारा शहर राम के राजतिलक की चर्चा करने लगता है। पर यह समाचार कैकेयी के पास बहुत देर से पहुँचता है – पहले मंथरा के माध्यम से और बाद में स्वयं राजा के द्वारा। इसी में अनर्थ का अंकुर आरोपित-सा लगता है। जब राजतिलक राम का होनेवाला है; तब राजा पहले राम-माता के पास न जाकर छोटी रानी को यह समाचार सुनाने क्यों गए, इस में भी दैव रहस्य छिपा हुआ मालूम पड़ता है। ये सब घटनाएँ 'यादृच्छिक' नहीं है। इन के पीछे राजा के मन को व्याकुल करनेवाली एक मौलिक आशंका प्रतिच्छायित है।

राम के सामने राजतिलक का प्रस्ताव रखते समय राजा दशरथ पहले उन के ज्येष्ठ होने का उल्लेख करते हैं, फिर उन के गुणों की श्रेष्ठता की ओर इशारा करते हैं और अंत में स्वच्छंद और सर्वसम्मत जनमत का हवाला देते हैं। इन्हीं तीन बिंदुओं को आधार बनाकर वह राम के राजतिलक का समर्थन करते हैं। राम के राज-तिलक के बारे में अगर राजा का मन विशुद्ध और विश्वस्त होता तो इतनी लंबी भूमिका बाँधने की शायद आवश्यकता नहीं पड़ती। यह बात राम जानते हैं। इसीलिए वह पिता की बातें मौन मुद्रा में सुनते हैं और राजा की आज्ञा को शिरोधार्य समझकर उन का पादाभिवंदन करके चले जाते हैं। परंतु जैसे ही राम अपने भवन में वापस पहुँचते हैं तो थोड़ी ही देर में उन को फिर पिता के यहाँ ले जाने सुमंत्र राम के भवन में पहुँच जाते हैं। इस पर राम शंकाकुल हो जाते हैं और तुरंत राजभवन में पिता के सामने फिर से उपस्थित हो जाते हैं। अब भी राम कुछ नहीं बोलते, केवल पिता की बात सुनते हैं, सुनने के बाद भी कुछ नहीं बोलते, फिर प्रणतिपूर्वक अभिवादन करके वापस जाते हैं। राम को दुबारा बुलाकर राजा दशरथ जो बातें कहते हैं, उन में उन के भीतर की आशंका कुछ कुछ बाहर प्रकट होती है। सब से पहले वह अपने बुढ़ापे की बात करते हैं और कहते हैं कि अब जीवन में अपने ज्येष्ठ पुत्र राम के राजतिलक को छोड़कर और किसी बात की कामना शेष नहीं है क्योंकि जीवन में उन को जो कुछ करना-धरना था, लेना देना था, सब कुछ सफलतापूर्वक और संतोषजनक ढंग से संपन्न हो चुका है। इसके बाद वह कुछ बुरे सपनों और अशुभ लक्षणों का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि सूर्य, मंगल और राहु ने उन के जन्म नक्षत्र को घेर रखा है और बाहर दिखाई

देनेवाले निमित्त भी शुभ सूचक नहीं हैं । इसलिए वह जल्दी से जल्दी राम को उत्तराधिकारी बनाकर विश्राम करना चाहते हैं । यहाँ तक तो ठीक है । लेकिन इस के आगे वह जो कुछ कहते हैं, वह केवल राम को ही नहीं, बल्कि किसी को भी चौंकाने वाली बात है । वह कहते हैं कि जब तक उन के मन को बुद्धि मोह नहीं लेती, जब तक भरत अपने मामा के घर से वापस नहीं आते तब तक वह अपना राजतिलक औपचारिक रूप से करा लें, क्योंकि प्राणियों का मन हमेशा चंचल होता है (चला हि प्राणिनां मतिः) । भरत के बारे में राजा और आगे कहते हैं, "मुझे मालूम है, बेटा, तुम्हारा छोटा भाई भरत तुमको बहुत मानता है, वह धर्मात्मा और जितेंद्रिय है । फिर भी मनुष्य के मन का कोई भरोसा नहीं । अच्छे से अच्छा आदमी भी अचानक बदल सकता है । इसलिए जाओ, कल के लिए अभिषेक की सारी तैयारी कर लो । रात को नियमपूर्वक रहो ।" इन बातों में राम का पारदर्शी मन पिता के हृदय की उद्विग्नता को आसानी से आंक लेता है । इस अवसर पर राम का मौन उन के मन को मुखरित कर देता है । वह कुछ नहीं कहते हुए भी सब कुछ कह देता है ।

पिता से आज्ञा लेकर राम अपने निवास जाते हैं – अपनी पत्नी के साथ दीक्षा ग्रहण करने । पर तब तक राम-पत्नी राम-माता के पास पहुँच जाती हैं । वास्तव में राज्याभिषेक की बात सुनकर राममाता परम प्रसन्न हो जाती हैं और उस प्रसन्नता में उन का साथ देने लक्ष्मण-माता अपने पुत्र समेत वहाँ आ पहुँचती हैं और सीता को भी वहाँ बुलाया जाता है । घर में सीता को न पाकर राम तत्काल माता के पास पहुँच जाते हैं तो वहाँ पूरे प्रेमी मंडल को एकत्रित पाते हैं । प्राणायाम, पूजा-पाठ, नियम-निष्ठा, ध्यान और समाधि में लीन माता कौसल्या अपनी दोनों तरफ सीता और सुमित्रा से संपुटित होकर प्रणव नाद ओंकार और सुभग नाम श्रीकार से परिवेष्टित महामंत्र की अधिष्ठात्री देवी ह्रीमती की तरह सुप्रसन्न मुखमुद्रा में समासीन दिखाई देती हैं । इस मंगलमय परिवेश में साक्षात् मंगल देवता के समान विराजमान अपनी माता को देखकर राम अबोध बालक की तरह कहते हैं, "माँ, पिताजी ने मुझे प्रजा-पालन का कार्य सौंपा है । कल राज्याभिषेक का निर्णय हो चुका है । पिताजी ने कहा कि आज रात को संयम से रहना है । अब मुझे जो कुछ करना है, उस को विस्तार से बता दो, माँ ।" राम की ये बातें सुनकर राममाता आनंद से आँसू बहाते हुए कहती हैं, "वत्स राम, चिरंजीव" (बेटा राम, जीते रहो ।) यह आशीर्वाद तो निश्चय ही अवसर के अनुकूल और सर्वथा स्वाभाविक है । लेकिन इस के बाद राममाता कहती हैं, "हतास्ते परिपंथिनः" (अब तुम्हारे मार्ग के समस्त अवरोध हट गए) । यह बात राम को फिर चौंका देती है । लेकिन राम चकित भले ही हों, पर चलित या विचलित तनिक भी नहीं होते । वह शायद निकट भविष्य में होनेवाली विकट परीक्षा की उत्कट प्रतीक्षा में हैं ।

अपने पिता के आदेश और माता के आशीर्वाद से अपने को अनुगृहीत समझकर लोक-परायण राम अपने छोटे भाई लक्ष्मण से कुछ विस्मय की भावना से कहते हैं:–

सौमित्रे भुङ्क्ष्व भोगान्स्त्वं इष्टान् राज्यफलानि च।
जीवितं चापि राज्यं च त्वदर्थमभिकांक्षये॥

(भाई लक्ष्मण, लो यह राज्य का सुखभोग, यह सारा मैं तुम्हारे लिए ही चाहता हूँ, अपने लिए नहीं । चलो चलें, हम दोनों यह कार्यभार मिलकर संभाल लें ।)

राम की इन बातों में त्याग की भावना से परिपुष्ट भोग के प्रति उन का निर्लिप्त और निःस्वार्थ दृष्टिकोण स्पष्ट गोचर होता है ।

माता का आशीर्वाद लेकर सीता को साथ लिये जैसे ही राम अपने घर में प्रवेश करते हैं, वैसे ही राजा के अनुरोध पर सीता और राम को उपवास की दीक्षा देने के लिए मंत्रज्ञ महात्मा वसिष्ठ आ पहुँचते हैं । सत्यव्रत राम ब्रह्मनिष्ठ वसिष्ठ से सीतासमेत उपवास की दीक्षा ग्रहण करते हैं । राम को दीक्षा देकर जब वसिष्ठ फिर राजभवन की तरफ चल पड़ते हैं तो मार्ग

में मंगलमय पर्व के मंजुल प्रभात की मधुर प्रतीक्षा में राजपथ और जनपथ पुरवासियों की भीड़ से जन-संकुल दिखाई देते हैं और वसिष्ठ को जनता के बीच से आगे बढ़ने में काफी कठिनाई होती हैं । सब लोग सूर्योदय की प्रतीक्षा में हैं और सूर्योदय के साथ-साथ राम-राज्य के महोदय तथा जनसाधारण के भाग्योदय की । बच्चे-बूढ़े, स्त्री-पुरुष सब लोग इसी सुनहली घड़ी की राह देख रहे हैं और घर-घर में विजय-पताका फहर रही है ।

आसीदयोध्या तदहः समुच्छ्रित-गृहध्वजा।।
तदाह्ययोध्या निलयः सस्त्रीबालाकुलो जनः।
रामाभिषेकमाकांक्षन् आकांक्षन् उदयं रवेः।।

बाहर इतना समारोह संपन्न हो रहा है, पर कैकेयी को इस बात की सूचना तक नहीं मिलती । राम की व्रत-दीक्षा की बात वसिष्ठ से सुनकर राजा दशरथ अब कैकेयी के पास जाकर समुचित रीति से समाचार सुनाने की बात सोच ही रहे थे कि इस बीच में जन-संदोह के समुल्लास और कोलाहल पर मंथरा की दृष्टि प्रसारित होती है । कैकेयी के महल के ऊपर जाकर वह सारे राज-मार्ग पर अपनी विहंगम दृष्टि फैलाकर देखती है तो उस की समझ में नहीं आता कि यह सब क्या हो रहा है । जब समझ में आता है तो वह तत्काल कटी पतंग की तरह महल के ऊपर से एकदम नीचे उतर आती है जैसे किसी पापी का मन परसुख को देखकर तड़प तड़पकर परिताप के पंकिल गर्त में जा गिरता है । पापदर्शिनी मंथरा राम के राज्याभिषेक की बात सुनकर मन ही मन मलिन, म्लान और मात्सर्यग्रस्त बन जाती है । कैलास शिखर के आकार के भव्य प्रासाद से कैकेयी के शयन-कक्ष में आती है और आराम से लेटी हुई कैकेयी को मोह-निद्रा से जगाने की कोशिश करती है । छोटे दिल की, खोटे मन की और नाटे कद की कुब्जा भीतर ही भीतर अमर्ष और आक्रोश की भावना से झुलस झुलस कर कुब्जतरा बन जाती है । इसी अपरूपण की ओर संकेत करते हुए आदिकवि अपनी अपूर्व सृष्टि मंथरा को 'ह्रसीयसी' (नाटी से नाटी) कहते हैं । वह बचपन से कैकेयी की सेवा-शुश्रूषा में निरत 'ज्ञातिदासी' है और उसका उठना-बैठना, खाना-पीना और चलना-फिरना सब कैकेयी के साथ ही रहा । इसीलिए उस को 'सहोषिता' भी कहा गया है । मंथरा के मनस्तत्त्व को समझने के लिए उस के स्रष्टा के द्वारा प्रयुक्त इन तीन शब्दों - ह्रसीयसी, ज्ञातिदासी और सहोषिता - का आशय समझना आवश्यक है । और वही पर्याप्त भी है । वह कैकेयी के व्यक्तित्व का अभिन्न अंग है । अब वह समय पाकर प्रकट हुई है ।

महान् से महान् व्यक्तित्व भी कभी कभी दुर्बलता के कुछ दुष्ट क्षणों में अत्यंत साधारण, क्षुद्र और तुच्छ भूमिका पर उतर आता है । इस दशा में उसे दोष अदोष सा प्रतीत होता है, और स्वार्थ में परमार्थ के दर्शन होते हैं । कैकेयी के जीवन में कुछ ऐसे ही क्षण मंथरा के माध्यम से घटित हो रहे हैं । मंथरा कैकेयी के कमरे में आते ही अपनी मंत्रणा के सम्मोहन से भगवती-जागरण का कार्यक्रम शुरू करती है । वह कहती है - "उत्तिष्ठ मूढे, किं शेषे भयं त्वामभिवर्तते ।" (अरी मंदमति, उठो, जागो, यह आराम से सोने का समय नहीं है, तुम्हारे ऊपर बहुत भारी संकट आ पड़ा है ।)

मंथरा की इस आकस्मिक मर्मोक्ति पर कैकेयी प्रारंभ में कुछ घबराहट महसूस करती है, पर दूसरे ही क्षण राम के राजतिलक की बात सुनकर भीतर ही भीतर पुलक उठती है और इतना सुखद सामाचार सुनाने के लिए मंथरा का अभिनंदन करती है । यही नहीं, प्राची से उदित होनेवाले शरच्चंद्र की तरह वह अपनी शय्या से उठकर हर्ष और उल्लास के साथ अपने आभरणों में से एक दिव्य आभरण निकालकर मंथरा को उसे उपहार के रूप में देती है । यह बात नहीं है कि मंथरा ने अपनी सारी बात अभी नहीं कह दी हो । मधुरभाषिणी कैकेयी के निर्मल मन को विषाक्त करने के लिए मंथरा बड़ी सशक्त भूमिका बाँध देती है । राम के राजतिलक से कौशल्या किस प्रकार राजमाता बनकर अपने ऐश्वर्य का प्रदर्शन करेगी और कैकेयी को किस प्रकार दासी बनकर उनके सामने

झुक-झुककर चलना पड़ेगा, इस बात को वह विस्तार से समझाती है । भरत को दूर भगाकर केवल एक दिन की सूचना से राम के राजतिलक की घोषणा करने के पीछे राजा दशरथ की धूर्तता और कुटिलता को भी वह भंडा फोड़कर बता देती है । फिर भी कैकेयी राम का गुणगान करती है । धर्मज्ञ, गुणज्ञ, गुणवान्, सत्यवान् और निर्मल मन राम को वह यौव-राज्य के लिए सर्वथा योग्य मानती है और कहती है कि राम और भरत के बीच में उन की दृष्टि में कोई अंतर नहीं है क्योंकि राम अपनी माँ कौसल्या से भी बढ़कर कैकेयी की सेवा-शुश्रूषा में अधिक रुचि दिखाते हैं ।

अब मंथरा अपने जागरण-गीत को अधिक सजग बनाती है । वह सपत्नी की संभावित दुष्टता को स्पष्ट शब्दों में प्रकट करती है । अगर राम का राजतिलक हो गया तो भरत को अपनी माँ के साथ देशांतर क्या, लोकांतर भी जाना पड़े तो कोई आश्चर्य नहीं । कैकेयी राम से प्रेम करती है, पर राममाता से नहीं । वह तो उनके लिए सपत्नी है । सपत्नी से ईर्ष्या सती साध्वी के मन में भी सहज रूप से उत्पन्न होती है । कैकेयी की इसी कमज़ोरी को पहचानकर मंथरा अपनी रानी के मन को राम से विमुख और भरत की ओर उन्मुख करने में सफल होती है ।

अब कैकेयी एकदम निर्णय कर लेती है कि राजतिलक राम का नहीं, बल्कि भरत का होना चाहिए और राम को वनवास मिलना चाहिए । इस के लिए वह उपाय सोचती हैं और मंथरा से सलाह माँगती है । अब मंथरा अपनी जीत पर प्रसन्न होकर रानी को वरदान का स्मरण कराती है । वरदान की बात कैकेयी को भी याद है । लेकिन थोड़ी देर के लिए वह सोचने लगती है कि वरदान का सहारा लेने में अधिक लाभ है या विवाह के समय पिताजी को दिए वचन का । विवाह के समय दिए गए वचन से केवल भरत का राज्याभिषेक ही संभव है जबकि वरदान के अंतर्गत दो वर मांगे जा सकते हैं ताकि भरत का राज्याभिषेक भी हो और राम का वनवास भी । यद्यपि ये सारी बातें कैकेयी मंथरा से प्रकट रूप से नहीं कहती है, फिर भी वह भीतर ही भीतर सब कुछ सोच-समझकर एक पक्की योजना बना लेती है और राजमाता बनने की लालसा उस के मन में पल-पल कर बलवती होती जाती है ।

अब मंथरा की विचारधारा कैकेयी को मधुर-मनोहर लगती है । यहाँ तक कि मंथरा के अंग-अंग में वह अतिलोक सौंदर्य का दर्शन कर लेती हैं । वह मंथरा की महामेधा की प्रशंसा करती है जो बाहर से धर्मवादी, मृदुभाषी और सत्यसंध दिखाई देनेवाले राजा दशरथ के भीतर छिपे हुए दुष्टात्मा, धूर्त और मिथ्याचारी का आविष्कार करती है । मंथरा की मंत्रणा को महामंत्र समझकर कैकेयी क्रोधागार में प्रवेश करती है और कामातुर पति को अपने सौभाग्य के बल पर स्वाधीन बनाकर दोनों अभीष्ट वर मनवाने का पक्का निर्णय कर लेती हैं ।

मंथरा और कैकेयी की पूर्व योजना के अनुसार राजा दशरथ राज्याभिषेक की सारी तैयारियाँ पूरी करके अंतःपुर में कैकेयी से मिलने आते हैं, पर वह शयन-कक्ष में नहीं दिखाई देती है । प्रतीहारी से पता चलता है कि महारानी क्रोधागार में हैं । उसी क्षण राजा का मन त्रस्त और आशंकित हो जाता है । उन के मन में जो संदेह था, वही अब सदेह बनकर रक्ताक्षी रानी के रूप में उपस्थित प्रतीत होता है । परंतु आशावादी राजा सोचते हैं कि शायद कैकेयी का स्वास्थ्य ठीक नहीं है या किसी के कुछ कहने पर उस पर वह रूठ गई हैं । इसलिए वह नीचे ज़मीन पर कैकेयी के पास बैठकर उस के बाल संवारते हुए अपनी प्रिय पत्नी को प्रसन्न बनाने का प्रयास करते हैं । पर तदर्थपरायणा रानी राजा के संदेह का निराकरण करते हुए उनसे अपना अभीष्ट पूरा करने का वचन माँगती है । राम की सौगंध खाकर राजा वचन देते हैं । उस पर सारे संसार का साहस बटोर कर तैंतीस देवता, देवेन्द्र, सूर्य-चंद्र, दिन-रात, पृथ्वी, आकाश, ग्रह, नक्षत्र, दिक्-काल आदि को साक्षी बनाकर सत्यसंध राजा से अपने दो अभीष्ट वर माँगती है – चौदह वर्ष के लिए राम का वनवास और भरत का तत्काल राज्याभिषेक ।

कैकेयी की इस कठोर वर-याचना पर राजा को विश्वास नहीं होता। प्रत्यक्ष परोक्ष सा लगता है, सत्य स्वप्न सा झलकता है और संकल्प विकल्प का रूप धारण करता है। पहले वह बेहोश हो जाते हैं, फिर किसी तरह वह अपने को संभालकर पापिन को फटकारते हैं। उस के बाद अपने वचन-दान, वरदान और अभी अभी की प्रतिश्रुति को ध्यान में रखकर अनुनय-विनय के स्वर में कैकेयी को मनाने का प्रयास करते हैं। वह जानना चाहते हैं कि राम ने उन का क्या बिगाड़ा, अपनी सत्यनिष्ठा से सारी जनता का मन जीतनेवाले ऋषितुल्य राम को वनवास भेजने की बात उस ने क्यों सोची और कैसे सोची। राम के बिना एक दिन भी जीवित रहने में अपने को असमर्थ बताते हुए व्याकुल राजा राम को छोड़कर संसार का सर्वस्व समर्पित करने के लिए तैयार हो जाते हैं, हाथ जोड़कर अपनी वर-याचना वापस लेने की अपनी प्रियपत्नी से बिनती करते हैं। पर कैकेयी अपनी बात पर डटी रहती है, उल्टे राजा पर असत्य और अधर्म का आरोप लगाकर अपनी बात दुहराते हुए कहती हैं—

भवत्वधर्मो धर्मो वा सत्यं वा यदि वानृतम्।
यत्त्वया संश्रुतं मह्यं तस्य नास्ति व्यतिक्रमः॥

(चाहे धर्म हो या अधर्म हो, सत्य हो या असत्य हो – आपने मुझे जो वचन दिया है, वह वापस नहीं हो सकता।)

वचन राजा ने केवल कैकेयी को नहीं, बल्कि प्रजा को भी दिया था, राम को भी दिया था, कुलगुरु वसिष्ठ को भी दिया था। अब कौन-सा वचन अधिक सत्य की अपेक्षा करता है, कौन-सा कम, इस का निश्चय करना राजा के लिए कठिन बन जाता है। इसी सत्य-संकट में पड़कर अपने को असहाय पानेवाले राजा दशरथ अपने आप से कहने और अपने आप को समझाने का असफल प्रयास करते हुए कहते हैं-

"यदि सत्यं ब्रवीम्येतत् तदसत्यं भविष्यति।"

(अगर सचमुच सत्य कहा जाए तो वही असत्य बन जाता है।)

यही शायद आज का परम सत्य है – राजा दशरथ के आज का और हमारे 'आज' का भी।



15. संघर्ष और समन्वय

सत्य और धर्म की समन्वयात्मक भावना से अनुप्राणित सात्विक और संतुलित जीवन व्यतीत करने में विश्वास रखनेवाले राजा दशरथ का भावुक मन कैकेयी का दारुण वचन सुनकर निष्ठुर आघात का शिकार बन जाता है। उन के उद्भ्रांत हृदय को यह विश्वास नहीं होता कि उन के सामने जो कुछ हो रहा है, वह क्या सचमुच हो रहा है या वह केवल एक बुरा सपना देख रहे हैं। अगर यह सच है तो उन की समझ में नहीं आता कि सत्य क्या है, धर्म क्या है और दोनों के बीच इतना भीषण संघर्ष क्यों हो रहा है। इस प्रकार के संघर्ष की उन के मन में पहले से कुछ आशंका ज़रूर थी, पर वह आशान्वित थे कि यह आतंक टल जाएगा। लेकिन अंत में जो होना था, वह हो ही गया।

कैकेयी के मुँह से जब कड़वी से कड़वी बात निकलती है तो राजा से रहा नहीं जाता। वह तत्काल उस को नृशंसा, दुष्ट चरित्रा, कुलनाशिनी आदि कहकर उस की कुत्सित बुद्धि की भर्त्सना कर देते हैं। पर दूसरे ही क्षण वह इस बात की यथार्थता और वास्तविकता के प्रति सतर्क और सजग हो जाते हैं कि कैकेयी की कर्कश वाणी में सत्य की कठोरता ही बोल रही है और इस के लिए केवल कैकेयी को दोषी ठहराने से कोई प्रयोजन नहीं है। राजा दशरथ प्रकृत्या सत्यधर्मा हैं, पर व्यवहार से राजधर्म के मर्मज्ञ भी हैं। इसी राजधर्म का स्मरण कर के वह सत्य को धर्म के अनुकूल बनाने के लिए विनय की नीति अपनाते हैं और कैकेयी को स्वार्थ साधक सत्य से परमार्थ परायण धर्म की ओर प्रवृत्त करने का प्रयास करते हैं। वह कैकेयी को यह समझाने की कोशिश करते हैं कि सीमित सत्य के पालन से व्यापक धर्म का लोप नहीं होना चाहिए। इसीलिए वह बार-बार इस बात को दुहराते हैं कि इस विषम परिस्थिति में अगर सत्य ही कहा जाए तो वह भी असत्य बन जाता है क्योंकि धर्म को अपने साथ ले चलना सत्य का सच्चा धर्म है। पर कैकेयी को न धर्म से कोई मतलब है, न परम सत्य से कोई वास्ता है। उसका सत्य उसके स्वत्व में है। उसके लिए जो अपना है, वही सत्य है और जो पराया है, वही असत्य है। परमार्थ सी प्रतीत होनेवाली इसी स्वार्थ बुद्धि के कारण वह राजा की सत्य-धर्म-समन्वय की बात समझ नहीं पाती।

कैकेयी को मनवाने के लिए राजा दशरथ प्रबल से प्रबल तर्क प्रस्तुत करते हैं। सब से पहले वह अपनी विवशता प्रकट करते हुए कहते हैं कि राम के बिना वह पलभर भी नहीं जी सकते। सूर्य के बिना यह सारा जग भले ही जगमगाता रहे, पर वह राम के बिना सांस तक नहीं ले सकते। कौसल्या, सुमित्रा और समस्त राज्य लक्ष्मी को छोड़ने में भी उन को कोई संकोच नहीं होगा, पर राम को छोड़कर वह जीवित नहीं रहेंगे। इसका मतलब यह हुआ कि राम का वनवास राजा के देहावसान का तत्काल कारण बन जाएगा। राजा इस कठोर यथार्थ की ओर कैकेयी का ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं कि अगर वह राजमाता बनना चाहती है तो विधवा बनकर ही वह अपनी कामना पूरी कर सकती है।

इसके अलावा भरत की धर्मपरायणता का भी उल्लेख करते हुए राजा कहते हैं कि राम के रहते हुए भरत कभी भी राज्य को स्वीकार नहीं करेगा क्योंकि धर्म के मामले में भरत राम से भी अधिक निष्ठावान् है । यह बात पिता दशरथ जानते हैं, पर माता कैकेयी नहीं जानती । इससे एक बारीक सत्य की ओर संकेत मिलता है । वह यह है कि भरत अपनी माता की अपेक्षा पिता से अधिक सादृश्य रखता है । इसीलिए वह पृितनंदन है, मातृनंदन नहीं । इस बात की ओर बड़ा मार्मिक संकेत करते हुए दशरथ इसी प्रसंग में कहते हैं :

अपुत्रेण मया पुत्रः श्रमेण महता महान् ।
रामो लब्धो महातेजाः स कथं त्यज्यते मया ॥

(बरसों तक मैं पुत्रहीन रहा और बड़े श्रम के बाद महात्माओं के आशीर्वाद से मुझे महातेजस्वी राम जैसा पुत्र प्राप्त हुआ । इस को मैं कैसे छोड़ सकता हूँ ?)

जैसे राम, वैसे भरत भी इसी तपस्या (यज्ञ) के फलस्वरूप पैदा हुए । इसीलिए वह मातृनंदन कहलाने की अपेक्षा पितृनंदन के पद का विशेष अधिकारी है । इससे कैकेयी को विवाह के समय राजा दशरथ के द्वारा दिए गए वचन का निराकरण भी हो जाता है और इसीलिए दशरथ इस बात का उल्लेख यहाँ पर करते हैं । लेकिन वरदान के बंधन से वह बच नहीं पाते और इसीलिए कैकेयी वरदान का ही आश्रय लेती है, वैवाहिक प्रतिश्रुति का नहीं । कैकेयी की इस चतुराई को दशरथ तत्काल समझ पाते हैं और इसीलिए समझा-बुझाकर काम निकलवाने का प्रयास करते हैं ।

समझौते के तौर पर राजा कहते हैं कि अगर भरत को राजा बनाना है तो इस में उन को कोई आपत्ति नहीं, पर राम का वनवास एकदम अधार्मिक, अस्वाभाविक और असहनीय है । अगर राम का वनवास हो गया तो संसार में धर्म का ही लोप हो जाएगा, पिता-पुत्र एक दूसरे को नहीं मानेंगे, पति-पत्नी के बीच प्रेम भावना नहीं रहेगी, सत्य और धर्म के प्रति लोगों की आस्था ही नष्ट हो जाएगी । इस के जवाब में भय-दर्शिनी कैकेयी बड़ी निर्भीकता के साथ कहती है कि एक बार वचन देकर बाद में माँगने पर मुकर जाना कहाँ का धर्म है? इस में क्या सत्यवादिता है? इस पर राजा निरुत्तर हो जाते हैं और पलभर के लिए आपे से बाहर भी हो जाते हैं, पर लाचार होकर फिर वही अनुनय-विनय का राग अलापते हुए कहते हैं :

साधु वृत्तस्य दीनस्य त्वद्गतस्य गतायुषः ।
प्रसादः क्रियतां भद्रे देवि राज्ञो विशेषतः ॥

(मैं राजा हूँ, फिर भी दीन हीन भिखारी की तरह तुमसे राम की भीख माँग रहा हूँ । मैंने कभी तुम्हारे साथ बुरा बर्ताव नहीं किया । अब मैं इस बुढ़ापे में तुम्हारी कृपा पर निर्भर हूँ । इन सभी बातों पर ध्यान देकर मुझ पर प्रसन्न हो जाओ । तुम तो बड़ी अच्छी हो ।)

इस से आगे चलकर राजा और कहते हैं, "अगर मेरी बात मान गई तो मैं समझूँगा कि राम को यह राज्य तुमने दिया है, मैंने नहीं । राजतिलक की बात मैंने राम से एकांत में नहीं कही थी । बात सारे शहर में फैल गई है । दूर-दूर के राजा-महाराजा भी राज्याभिषेक देखने आए हुए हैं । इसलिए अब इस प्रस्ताव को निरस्त करने से मेरी मान-हानि के अलावा कुल-हानि और लोक-हानि निश्चित है" । परंतु कैकेयी कुछ भी सुनने को तैयार नहीं है । वह सत्य का हवाला देकर अपनी बात का सबल समर्थन करते हुए कहती है– "सत्यं समनुवर्तस्व यदि धर्मे धृता मतिः" (अगर तुम धर्म चाहते हो तो सत्य का पालन करो) । "कैकेयी का यह कठोर शासन दशरथ को अपनी प्रिय पत्नी से एकदम विमुख कर देता है । जो राजा अब तक अनुनय-विनय के स्वर में बात करते रहे, उनका मन एकदम विद्रोह और विक्षोभ के उद्‌गारों से उन्मत्त-सा हो जाता है । रात भर समझाने पर भी रानी राज़ी नहीं हो रही है तो अभिमानी राजा समझते हैं कि अब दुरभिमानिनी रानी मानने वाली नहीं है । वह देखते हैं कि सत्य और धर्म के मार्ग एक-दूसरे से उसी प्रकार

अलग होते जा रहे हैं जैसे निष्ठुर कैकेयी के फैलाए हुए पैर । अनुनय-विनय के अवसर पर राजा दशरथ कई बार कैकेयी के पैरों पड़ने की बात करते हैं । पहली बार कहते हैं– "अपि ते चरणौ मूर्ध्ना स्पृशाम्येष प्रसीद मे" (मैं अपने सिर से तुम्हारे पैर छूता हूँ, मुझपर प्रसन्न हो जाओ) । लगभग यही बात दो बार और कहकर अंत में पैर छूने को तैयार भी हो जाते हैं, पर कैकेयी अपने पैर इस प्रकार फैलाती है कि वैसे ही दुख में डुबे राजा उन पैरों को पकड़ नहीं पाते । यह दृश्य करूणाजनक तो है ही, सत्य और धर्म के बीच बढ़ती हुई खाई की ओर भी संकेत करता है ।

बात करते करते, समझाते-बुझाते, सुनते-सुनाते रात बीत जाती है । सवेरा होने पर संघर्ष का सक्रिय रूप सामने आएगा, इस बात की कल्पना ही दशरथ के हृदय को आंदोलित कर देती है । इसलिए वह चाहते हैं कि सबेरा ही न हो । लेकिन यह संभव नहीं है । सबेरा तो होगा ही और संघर्ष का सामना करना ही पड़ेगा । इस दृष्टि से दशरथ विवश होकर सोचते हैं कि अगर सबेरा होना ही है तो अभी इसी समय हो जाए ताकि जो कुछ होना है, वह तुरंत सामने आ जाए । पर समय किसी की बात नहीं सुनता, अपनी गति से आगे बढ़ता है । अंतःपुर के द्वार पर प्रभात का प्रबोध संगीत जैसे ही प्रारंभ होता है, राजा उससे विचलित होकर तुरंत उसे बंद करवाते हैं ।

इधर कैकेयी भी अंतिम चुनौती के स्वर में कहती है:-

प्रव्राजय सुतं रामं त्रिः खलु त्वां ब्रवीम्यहम् ॥
समयं च ममार्येमं यदि त्वं न करिष्यसि ।
अग्रतस्ते परित्यक्ता परित्यक्ष्यामि जीवितम् ॥

(मैं तीन बार कहती हूँ कि अपने बेटे राम को वन भेज दो । अगर मेरी शर्त पूरी नहीं की तो मैं पतित्यक्ता बनकर जीने की अपेक्षा अपने प्राणों को तुम्हारे सामने अभी छोड़ दूँगी ।)

अब दशरथ भी अपना अंतिम निर्णय देते हुए कहते हैं– "पाणिग्रहाण के समय मैं ने गलती से तुझ पापिन का हाथ अपने हाथ में लिया था । अब मैं तुझ से अपना सारा नाता छोड़ रहा हूँ । राम के बिना मेरे प्राण नहीं टिकेंगे । राम के राजतिलक के लिए जो हवन-सामग्री प्रस्तुत है, उसी से राम मेरा दाह-संस्कार करेगा। अगर भरत तुम्हारा यह प्रस्ताव स्वीकार करता है तो वह मुझे पानी देने का भी अधिकारी नहीं रहेगा ।"

इतने में प्रभात हो जाता है । अभिषेक की सारी सामग्री लेकर वसिष्ठ समेत समस्त पुरोहित राज-द्वार पर उपस्थित हो जाते हैं । वसिष्ठ के आदेश पर सुमंत्र अंतःपुर में पहुँचकर राजा से अभिषेक का आदेश माँगते हैं । सुमंत्र को देखकर राजा का मन उद्विग्न और विषण्ण बन जाता है । राजा की दीन और उदासीन मुख-मुद्रा देखकर सुमंत्र मंत्र-मूढ बन जाते हैं । राजा को मौन देखकर कैकेयी स्वयं सुमंत्र से कहती है कि रात भर जागरण करने के कारण राजा थके-मांदे-से दिखाई दे रहे हैं, बस, और कोई बात नहीं है । वह यह भी कहती है कि राजा जल्दी से जल्दी राम को देखना चाहते हैं । पर सुमंत्र कहते हैं कि राजा की आज्ञा के बिना राम को कैसे बुला लिया जाय । अब राजा साहस बटोर कर कहते हैं – "सुमंत्र रामं द्रक्ष्यामि शीघ्रमानय सुंदरम्" (सुमंत्र, राम को जल्दी बुला लाओ, मैं अपने प्यारे बेटे का सुंदर मुखमंडल देखना चाहता हूँ ।) दशरथ के इस आदेश में निरानंद विवशता का स्वर स्पष्ट रूप से सुनाई देता है, पर आशावादी सुमंत्र कल्याण की ही परिकल्पना लेकर सानंद बाहर निकल आते हैं । बाहर राजा के आगमन की सातुर प्रतीक्षा में खड़े राजपुरोहितों को देखकर सुमंत्र के मन में फिर संदेह होता है कि राजा जाग्रदवस्था में ही हैं तो बाहर क्यों नहीं आ रहे हैं । वसिष्ठ जैसे गुरुजन अभिषेक की अलंकृत सामग्री लेकर बाहर खड़े हों और राजा भीतर बैठे रहें, यह कैसे संभव है ! इसी मानस-मंथन का समाधान करने के लिए सुमंत्र फिर दशरथ के पास जाते हैं और रघुकुल का गुणगान शुरू करते हैं । सुप्रभात का सुबोध गीत फिर सुमंत्र के मुँह से सुनकर राजा भीतर ही भीतर लज्जित और पीड़ित होते हैं, पर बाहर से सुमंत्र को डाँटते हैं कि राम को शीघ्र बुला लाने की आज्ञा पाकर

भी तुम विलंब क्यों कर रहे हो । सुमंत्र 'जो आज्ञा' कह कर तुरंत वहाँ से चल देते हैं पर बाहर प्रतीक्षा करनेवाले गुरुजनों, पुरजनों और परिजनों की जिज्ञासा का समाधान नहीं कर पाते । राजा की आज्ञा को शिरोधार्य मानकर वह राजभवन से रामभवन की तरफ चल पड़ते हैं ।

रास्ते में राजमार्ग पर जो चहल-पहल दिखाई देती है, उस का तपस्वी कवि बड़े विस्तार से वर्णन करते हैं । इस वर्णन का कुछ विशेष महत्त्व है क्योंकि अभी थोड़ी ही देर में यह सारा परिवेश एकदम बदलने जा रहा है और बदलते हुए परिवेश में विनोद और विषाद की विचित्र विभेदक रेखा केवल द्रष्टा को ही दृष्टिगोचर होती है, सामान्य उपद्रष्टाओं को नहीं । सुमंत्र के मन में अब भी आशा की किरण टिमटिमा रही है, उन के चेहरे पर आनंद की आभा अभी तक नया आयाम ग्रहण नहीं कर चुकी है । इसी संक्रामक संदर्भ में सुमंत्र राजमार्ग की रमणीय रामभावना को देखते हुए राम को पिता का संदेश सुनाने जाते हैं ।

राज-भवन से लेकर राम-मंदिर तक सारा का सारा राज-पथ राज-तिलक की रमणीय शोभा से चमक उठता है । रास्ते में जो भी दिखाई देता है, वह राम का ही गुणगान करता नज़र आता है । सारा शहर चंदन, अगर, धूप, पुष्पहार आदि मंगल द्रव्यों से महक उठता है । वसिष्ठ के स्वर में स्वर मिलाकर वरिष्ठ राजपुरोहितों के द्वारा उच्चारित मंत्र-घोष से सारा वायुमंडल मुखरित हो उठता है । उत्तम जाति के हाथी, घोड़े, वाहन, छत्र, चामर, सिंहासन, मंगल वाद्य, मधुर संगीत, मांगल्य की मूर्तियाँ जैसी दिखाई देनेवाली भद्र महिलाएँ, सुंदर कन्याएँ, आठ प्रकार के ऐश्वर्य का प्रतिनिधित्व करनेवाली अष्टांगनाएँ, नौकर-चाकर, घनिष्ठ मित्र, विशिष्ट नागरिक-सब के सब शुभ मुहूर्त की प्रतीक्षा में हैं । यह सारा परिवेश देखते हुए सुमंत्र राम के भवन पहुँचते हैं ।

राम-भवन भी आज अपूर्व अलंकरण से अत्यंत आकर्षक लग रहा हैं । ऐसा लग रहा है कि अमरावती में इंद्र का महल भी इतना सुंदर नहीं होगा । उज्ज्वल कलाकृतियों से उत्कीर्ण उन्नत राज-कपाट, द्वार पर गुणगान करनेवाले आराधक पुरजन, भीतर नाना प्रकार के पशु-पक्षियों की आश्वस्त स्वर-माधुरी, दर्शकों की चहल-पहल से व्याप्त विभिन्न कक्ष-कक्षांतर राम-धाम को कैलास-कुंज या कुबेर-निलय के लोकोत्तर वैभव से गौरवान्वित कर रहे हैं । इस प्रकार की असाधारण सुषमा से सुशोभित राम-भवन में सुमंत्र प्रवेश करते हैं तो सब से भीतर के कक्ष में एकांत में सीता समेत सुखासीन राम सुमंत्र को अपने एकांत कक्ष में ही बुला लेते हैं ।

सोने की शयूया पर सूर्य के समान अपनी ही आभा से सुशोभित कौसल्यानंदन राम को सुमंत्र राजा का संदेश सुनाते हुए कहते हैं कि कैकेयी के महल में पिताजी आप को तत्काल देखना चाहते हैं । इशारे से सब कुछ समझनेवाले समझदार राम वस्तुस्थिति को भाँप लेते हैं । पर बाहर से हर्ष और उल्लास के स्वर में अपनी सहचरी सीता से कहते हैं, "देवी, पिताजी माँ कैकेयी के साथ मेरे राजतिलक के बारे में ही बात कर रहे होंगे । हमेशा मेरा हित चाहनेवाली कैकेयी मेरी माँ पिताजी को मेरे संबंध में कुछ ज़रूरी बातें कर रह होंगी । वहाँ पर जैसी परिषद् है, वैसा ही संदेश लेकर हमारे अंतरंग सहयोगी सुमंत्र यहाँ पधारे हैं । अभी जाकर मैं पिताजी से मिलकर आता हूँ । तुम अपनी सहेलियों के साथ यहीं खुशियाँ मनाती रहो ।" राजतिलक का समय जब समीप आ रहा है तो राम को समस्त राजगौरव के साथ अभिषेक की साजसज्जा में राजभवन ले जाना था । पर अकेले सुमंत्र को गुप्त संदेशवाहक बनाकर कैकेयी के महल में राम को बुलवाना कुछ अजीब-सा लगता है । यह बात सुमंत्र भी जानते हैं, राम भी जानते हैं और सीता भी समझ जाती हैं । फिर भी पति की सम्मान भरी बातों पर विश्वास प्रकट करते हुए वह पति की मंगलकामना करती हैं और द्वार तक जाकर उन को बिदा करती हैं । द्वार पर पहले से ही राम की प्रतीक्षा में खड़े लक्ष्मण को साथ लेकर राम राजभवन की तरफ चल पड़ते हैं – राजतिलक के लिए विशेष रूप से अलंकृत उत्तम रथ पर बैठकर ।

अब राज-पथ पर राम-रथ आगे बढ़ता है तो राम-दर्शन से अपने को भाग्यशाली समझनेवाले दर्शकों की भीड़ और उन की उमंग रथ की गति से भी आगे बढ़ती है। उनकी आँखें जब तक राम को देख पाती हैं, तब तक उन की दृष्टि में कोई और दृश्य प्रवेश नहीं कर पाता । राम की मूर्ति के आँखों से ओझल हो जाने पर भी लोग उसी दिशा में राम की रमणीय रूपमाधुरी को परम शून्य को परिपूर्ण बनाते देखकर पुलकित हो जाते हैं । उस दिन जिस ने राम को नहीं देखा और जिस को राम ने नहीं देखा, दोनों सचमुच संसार में सब से भाग्यहीन हैं । वास्तव में उस समय राम की दृष्टि प्रत्येक प्राणी को प्रेरणा प्रदान कर रही थी । सब लोग राम-राज्य की स्पृहणीय भावना से भविष्य की भव्य कल्पनाओं में भाव-विभोर हो रहे थे । अब कुछ ही क्षणों में चिर प्रतीक्षित रामतिलक संपन्न होनेवाला है, इसी मधुर भावना से सब के मुख-मंडल आनंद के आलोक से चमक रहे थे ।

राजमार्ग पर राजतिलक की साज-सज्जा, लोगों की बढ़ती हुई उमंग, मंत्रवेत्ताओं का मंगलमय वेद-पाठ, संगीत और नृत्य के सांस्कृतिक (संस्कार सूचक) कार्यक्रम आदि देखते हुए राजकुमार राजभवन में पिता से मिलने जाते हैं । बाहर का जन-सागर राज-भवन से रामचंद्र के शुभागमन की सातुर प्रतीक्षा में लहराता हुआ दिखाई देता है ।

भीतर का दृश्य एकदम चौंकानेवाला है । विषाद में डुबे हुए पिता का सूखा चेहरा देखकर राम भी घबरा जाते हैं । एकदम ज़मीन पर पिताजी अस्तव्यस्त बैठे हुए हैं और पास में माँ कैकेयी बड़ी गंभीर मुद्रा में शून्य में कुछ खोजती-सी दिखाई देती है । राम पहले पिता का और बाद में माता का पादाभिवंदन करके पिता की इस आकस्मिक और अचिंत्य चिंता का कारण जानना चाहते हैं । पिता के मुँह से आर्त संबोधन के रूप में केवल 'राम' शब्द निकलता है और उस के बाद वह न तो कुछ देख पाते हैं और न कुछ बोल पाते हैं । हमेशा राम को देखते ही पिता का चेहरा क्रोध की कलुषित अवस्था में भी खुशी से खिल उठता था । लेकिन आज उसी मुख पर विषाद की घनघोर छाया छाई हुई है । आखिर कारण क्या है, क्या किसी ने कुछ कहा है या तबीयत ठीक नहीं है या किसी से कोई अपराध तो नहीं हुआ है, कुछ इसी प्रकार के प्रश्नों के बौछार राम के उद्विग्न हृदय से सात्विक स्वर से निकलते हैं जिन का जवाब देते हुए कठोरहृदया कैकेयी कहती है – "वैसी कोई बात नहीं है, बात सीधी सादी है जिसे राजा तुम को बताने में झिझक रहे हैं । अपने प्यारे बेटे से कुछ अप्रिय वचन कहने में इन को संकोच हो रहा है । राजा मुझे कुछ वचन देकर अब उसे टालना चाहते हैं । अगर तुम इन को असत्य से बचाना चाहते हो तो मैं तुम्हारे पिता के मन की बात तुम से कहूँगी । चाहे वह बात तुम को अच्छी लगे या बुरी, तुम को उस का पालन करना होगा ।"

विमाता की ये बातें सुनकर राम बहुत दुःखी होते हैं – इसलिए नहीं कि उन को दुखद वचन का पालन करने में कष्ट होगा, बल्कि इसलिए कि आज्ञाकारी पुत्र को आदेश देने में माँ-बाप को इतना संकोच क्यों हो रहा हैं । वह तुरंत अपनी माता से कहते हैं कि वह पिता के लिए सब कुछ करने के लिए तैयार हैं । आग में कूदना हो, विष पीना हो या समुंदर में डूबना हो तो भी वह पिता को संतुष्ट करने के लिए तनिक भी संकोच नहीं करेंगे । सब से महत्त्वपूर्ण बात राम यह कहते हैं कि वह कभी दो प्रकार की बातें नहीं करेंगे (रामो द्विर्नाभिभाषते) । इस पर कैकेयी परम संतुष्ट होकर अपने मन की बात राजा की तरफ से राम के सामने रखती है । राजतिलक का अवसर भाई भरत के लिए छोड़कर स्वयं चौदह वर्ष तक वनवास पर जाने की बात सुनकर राम तनिक भी विचलित नहीं होते । उन को इस में किसी प्रकार के अहित या अनर्थ की आशंका तक नहीं होती । बल्कि कहते हैं कि बस, इतनी सी बात के लिए इतने व्याकुल होने की क्या आवश्यकता है? वह तत्काल निस्संकोच कह देते हैं, "एवमस्तु गमिष्यामि" (बिल्कुल ठीक है, मैं अभी चला) । आगे वह यह भी कहते हैं कि भाई भरत के लिए

तो मैं राज्य ही क्या, अपने आप अपना सर्वस्व देने को तैयार हूँ, भरत को अभी यह शुभ संदेश भेज दीजिए, मैं वन जाने को बिल्कुल तैयार हूँ।

राम की ये बातें सुनकर कैकेयी प्रसन्न तो हो जाती है, पर वह चाहती है कि राम भरत की प्रतीक्षा किए बिना तत्काल वन चला जाए। जब यह बात कैकेयी के मुँह से निकलती है तो राम अपनी विमाता की उद्विग्नता को पहचान लेते हैं और कहते हैं –

नाहमर्थपरो देवि लोकमावस्तुमुत्सहे।
विद्धिमामृषिभिस्तुल्यं विमलं धर्ममाश्रितम्॥

(मैं अर्थ की चिंता नहीं करता हूँ, सारे संसार को मैं अपना निवास बना लेना चाहता हूँ। वनवासी ऋषि-मुनियों के साथ निर्मल धर्म का आचरण करते हुए मै वन में सहर्ष रहूँगा।)

राम यह बात तब कहते हैं जब कैकेयी राजा के सामने कहती है कि "बेटा, जब तक तुम वनवास के लिए अयोध्या छोड़कर नहीं जाओगे, तब तक तुम्हारे पिता न कुछ खाएँगे, न पिएँगे और न नहाएँगे। यह बात राम को चाबुक की मार जैसी लगती है और वह वनवास के लिए तत्काल और तत्क्षण तैयार हो जाते हैं। इन बातों से राजा दशरथ पर क्या बीती होगी, यह राम समझते हैं, पर सत्य और धर्म के बीच समन्वय स्थापित करने के लिए उन के सामने और कोई रास्ता दिखाई नहीं देता। सत्य को साथ ले चलने में ही धर्म की सार्थकता है और धर्म को सत्य-सम्मत बनाने में ही सत्य ही चरितार्थता है, इसी निष्कर्ष पर पहुँचकर राम कहते हैं – "न हयूतो धर्मचरणं किंचिदस्ति महत्तरम्।" (इस से बढ़कर धर्म का और कोई महत्तर आचरण नहीं हो सकता)। समन्वय की इस सात्विक और संतुलित भावभूमिका पर पहुँचने के कारण ही राम कहते हैं कि इस के लिए पिता की आज्ञा की कोई ख़ास आवश्यकता नहीं है, माता (विमाता) का संकेत मात्र काफी है।

यही दृढ़ संकप लेकर सत्य पराक्रम और धर्मपरायण राम माता-पिता का पादाभिवंदन करके राजतिलक के लिए सुसज्जित मंगल-कलश की परिक्रमा कर राजगृह से बाहर निकलते हैं तो उन की मुख-मुद्रा में किसी को कोई परिवर्तन दिखाई नहीं देता। वह जैसे भीतर गए, वैसे ही बाहर आए। यह अलौकिक संतुलन राम की समन्वयात्मक भावना को करोड़ों शब्दों में मुखरित कर देता है। माँ कौसल्या का आशीर्वाद लेने वह उसी राजमार्ग से जाते हैं जहाँ पर हज़ारों लोग राजा राम की मंगल कामना करते हुए जय जयकार कर रहे हैं। लेकिन कठोर सत्य और कटु भविष्य का सामना करने के लिए प्रस्तुत सहज सात्विक साधक रामचंद्र के मुखमंडल पर न प्रफुल्ल प्रसन्नता के लक्षण दिखाई देते हैं और न प्रच्छन्न निराशा के। संसार का सारा विष अपने गले में धारण कर चंद्रमा की तरह तरल चंद्रिका को प्रसारित करनेवाले चंद्रशेखर की तरह रामचंद्र भी अपना सारा विषाद अपने कंबु-कंठ में छिपाकर माता की मंगल कामना का संबल प्राप्त करने चलते हैं।



16. माता की मंगल कामना

सत्य पराक्रम राम अपने सत्यनिष्ठ पिता को धर्म संकट से बचाने के लिए धर्मनिरपेक्ष कठोर सत्य का सहारा लेनेवाली कैकेयी का वचन निभाने का पक्का इरादा लेकर राजमाता बनने की मधुर भावना में लीन जननी कौशल्या के घर पहुँचते हैं। माता के महल की पहली तीन कक्षाओं में राम के राजतिलक की पुलकित प्रतीक्षा के भव्य दृश्य दिखाई देते हैं। तीसरी कक्षा में राम के पहुँचते ही राजाबेटे के आगमन का शुभ सामाचार लेकर सुंदर नारियाँ कौसल्या के मंदिर में पहुँचती हैं। कुछ ही क्षणों में अयोध्या के सिंहासन पर विराजमान होनेवाले अपने प्रिय नंदन का सुंदर मुख-मंडल देखकर माता पुलक उठती हैं, उन को दोनों भुजाओं में कसकर अपनी छाती से लगा लेती हैं और बड़े प्यार से उन का मस्तक सूँघ लेती हैं।

लेकिन राम अब सचमुच अपने को धर्म-संकट में पाते हैं। वह समझ नहीं पाते कि अपनी भोली भाली माता को कठोर वास्तविकता से कैसे अवगत कराया जाए। पर कहना तो है ही और इसीलिए वह यहाँ पर आए हैं, अपने भाई लक्ष्मण को साथ लेकर। कैकेयी के भवन से बाहर निकलते ही राम अपने भाई लक्ष्मण को वहाँ पर पहले से ही प्रतीक्षा करते हुए पाते हैं, पर उन से कुछ नहीं कहते। किंतु सूक्ष्मज्ञ लक्ष्मण सब कुछ समझ जाते हैं, फिर भी वह असली बात राम के मुँह से ही सुनना चाहते हैं। माता मंगलमय वचन सुनने की प्रतीक्षा में हैं और भाई लक्ष्मण आशंकित सत्य से अवगत होने की। अब दोनों को संभालने का दायित्व राम के ऊपर है। अपने को तो वह पहले से ही संभालकर सत्य संकल्प का संबल लेकर चल रहे हैं। पर माता को संभालना इतना आसान काम नहीं है और भाई को समझाना भी कम मुश्किल नहीं है।

माता कौसल्या जब राम को भव्य आसन पर बैठने को कहती हैं तब अवसर पाकर राम कहते हैं कि अब बैठने का समय नहीं है, चलने का समय आ चुका है और अगर बैठना है तो दंडक वन में कुशासन पर बैठने का समय आया है। इस से कौसल्या चौंक उठती हैं और दूसरे ही क्षण में भरत के राजतिलक और राम के वनवास की बात सुनकर जड से उखड़कर गिर पड़े केले के पेड़ की तरह बेहोश होकर धरती पर गिर पड़ती हैं। जब राम अपने हाथों का सहारा देकर माता को उठाते हैं तो बड़ी मुश्किल से वह होश संभालकर कहती हैं कि अगर मेरा कोई पुत्र ही नहीं होता तो पुत्रहीन होने की केवल एक ही चिंता मुझे सताती। उन के मन में बार बार यह चिंता चिता की तरह जलने लगती है कि जीवन में अब तक पति के परिपूर्ण अनुराग से वंचित होकर वह जब पुत्र से परितोष प्राप्त करने की लालसा लिए बैठी है, वह सारी की सारी अब निरर्थक प्रतीक्षा सिद्ध हो रही है। बड़ी रानी होने के कारण उन को केवल अपनी सपत्नियों की फटकार ही सुननी पड़ी। अब बुढ़ापे में राम जैसे राजाबेटे से वह जो सुख पाने की आशा लिए बैठी हैं, उस पर भी कैकेयी ने पानी फेर दिया। जीवन की सारी तपस्या जब सफल होने जा रही है, तब मृत्यु से भी भयंकर विपत्ति ने उन्हें घेर लिया है।

लेकि॰॰ अब वह क्या करें। अगर बस चले तो

वह तत्काल प्राण छोड़ना चाहती हैं। लेकिन प्राणियों के प्राण इतनी आसानी से निकल नहीं पाते। दूसरा विकल्प है--राम को वन जाने से रोकना। लेकिन यह भी संभव नहीं है क्योंकि राम धर्मपरायण और सत्यनिष्ठ पितृभक्त हैं। वह पिता की आज्ञा का उल्लंघन किसी भी दशा में नहीं करेंगे, यह बात राममाता को मालूम है। फिर एक ही रास्ता है या तो राम के साथ वन जाना या अयोध्या में असहाय स्थिति में चौदह वर्ष की लंबी अवधि बिताना।

माता कौसल्या की दयनीय दशा और मार्मिक वेदना को देखकर लक्ष्मण मौन नहीं रह पाते। वह अपने पिता के अविवेक और कैकेयी की क्रूरता का निर्भीक खंडन करते हैं और राम से कहते हैं कि अधर्म, असत्य और अन्याय के विरुद्ध लड़ना राजकुमार का धर्म है। बुढ़ापे में छोटी रानी की बातों में आकर पिताजी ने अधर्म को जो मौन स्वीकृति दी है, उस को चुपचाप सह लेना राम जैसे तेजस्वी, पराक्रमी और सत्यधर्म परायण के लिए शोभा नहीं देता। वह यहाँ तक कह देते हैं कि पिता के इस दुर्नय निर्णय का वह डट कर सामना करेंगे और उन के रोष का सामना करने की शक्ति पृथ्वी में किसी के पास नहीं है। लक्ष्मण के इस रोषावेश से माता कौसल्या को कुछ सांत्वना मिलती है। वह भी अनुभव करने लगती हैं कि जो कुछ हुआ है, वह अच्छा नहीं हुआ और इस प्रकार की मनमानी को चुपचाप सह लेना शायद ठीक नहीं है। लेकिन वह राम की मनोभावना को समझे बिना अपनी तरफ से कोई बात कहना नहीं चाहतीं क्योंकि उन्हें मालूम है कि राम सब कुछ जानते हैं, वह अपने पिता से भी बढ़कर धर्मज्ञ और धर्मिष्ठ हैं। इसलिए क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए, इस बात का निर्णय वह अपने बुद्धिमान् पुत्र पर छोड़ते हुए कहती हैं--

धर्मज्ञ इति धर्मिष्ठ धर्मं चरितुमिच्छसि।
शुश्रूष मामिहस्थस्त्वं चर धर्ममनुत्तमम्॥

(अगर तुम धर्म का ही अनुसरण करना चाहते हो तो मैं तुमको मना नहीं कर सकती, पर यहीं मेरी आँखों के सामने रहकर तुम अपने अभीष्ट धर्म का यथेष्ट पालन करो तो मुझे सुख-शांति का लाभ होगा।)

राम को गंभीर और चिंतित मुख-मुद्रा में पाकर वह अपने विचार को स्पष्ट करते हुए कहती हैं कि वह अपनी इच्छा से अपने प्रियनंदन को दंडक वन जाने की अनुमति नहीं दे सकतीं। अगर राम को वन जाना ही है तो वह भी उन के साथ जाना चाहती हैं। अगर ऐसा नहीं हुआ तो वह जीवित नहीं रह सकतीं, इस बात को वह बड़ी दृढ़ता के साथ कहती हैं। पर राम का सत्यव्रत इस से भी दृढ़तर है। किंतु वह बड़ी विनम्रता, सात्विकता और सुचारुता के साथ अपनी बात स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि पिता की बात का उल्लंघन करने की शक्ति उन में नहीं है और न पिता के जीवित रहते माता का पुत्र के साथ वन जाना कुल-मर्यादा के अनुकूल है। इस पर माता कौसल्या मन ही मन पुत्र की धर्मनिष्ठता को सराहती है, पर साथ ही उन का मातृ-हृदय विधि-विधान को मानने को तैयार नहीं होता। वह कहती हैं कि बेटा, तुम्हारे लिए जैसे पिता हैं, वैसी माता भी हैं। पिता की बात माननी है तो माता की भी माननी है। इस पर राम धर्म के मार्मिक रहस्य का उद्घाटन करते हुए कहते हैं कि अब इस प्रसंग में पिता की बात मानने में ही सब का भला है- माता कौसल्या का, भाई लक्ष्मण का और साध्वी सीता का। इस से लक्ष्मण को भी इशारा मिलता है कि जोश-आवेश में आकर कोई ऐसा काम नहीं करना चाहिए जिससे राजधर्म से अधिक महत्त्वपूर्ण सनातन धर्म की ग्लानि या अवहेलना हो। वाणी के कुशल प्रयोक्ता रामचंद्र शुभलक्षण लक्ष्मण की भी सराहना करते हैं, पर साथ ही धर्म की सर्वश्रेष्ठता की ओर निर्विवाद और निश्चित संकेत करते हुए कहते हैं :

धर्मो हि परमो लोके धर्मे सत्यं प्रतिष्ठितम्।
धर्मसंश्रितमप्येतत् पितुर्वचनमुत्तमम्॥

धर्मात्मा राम का यह सत्यसम्मत सिद्धांत है कि धर्म ही संसार में सब कुछ है और धर्म में ही सत्य की प्रतिष्ठा है। इसी सार्वभौमिक सत्य के आधार पर वह

यह बात सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि सत्यसंध राजा दशरथ ने जो भी किया है, वह धर्मसम्मत है। भाई लक्ष्मण को तो वह सशक्त शब्दों में सतर्क करते हुए कहते हैं:

तदेतां विसृजानार्यां क्षत्रधर्माश्रितां मतिम्।
धर्ममाश्रय मा तैक्ष्ण्यं मद्बुद्धिरनुगम्यताम्॥

(तुम्हारा यह आक्रोश तुम्हें शोभा नहीं देता। केवल क्षत्रिय बनकर धर्मपर विचार मत करो। यह उद्वेग आर्यसम्मत नहीं है। परम धर्म की भावना अपना लो, विद्रोही मत बनो, मेरी सम्मति का अनुगमन करो।

फिर माता कौसल्या को भी प्रेम और भक्ति से ओतप्रोत मधुर वाणी में समझाते हुए राम कहते हैं कि 'माँ, वनवास का जो मैंने निर्णय किया है, उसको वापस लेने के लिए मुझे बाध्य मत करो, मुझे जाने दो, मेरी भलाई की कामना करो, मुझे आशीर्वाद दो, तुम्हारे आशीर्वाद के बल पर मेरे वनवास के चौदह वर्ष पलभर में समाप्त हो जाएँगे। थोड़े ही दिनों में मैं तुम्हारे पास वापस आ जाऊँगा, ऐसा लगेगा कि जैसे रात को सो गए और फिर सबेरे उठे। सब कुछ सुनकर भी माता का मन राम को बिदा करने के लिए राज़ी नहीं होता। वह बार बार कई तरह से अपने को समझाने की कोशिश करती हैं और राम को भी समझाने का प्रयास करती हैं। पर वह न स्वयं समझ पाती हैं और न राम को मनवाने में समर्थ होती हैं। वह बार बार बेहोश होकर फिर वही पुरानी बात दुहराती हैं—मेरा राम मुझे छोड़कर कहीं नहीं जाए। बीच बीच में लक्ष्मण भी आवेश में आकर कैकेयी की भर्त्सना करते हैं। पर राम का मन हिमाचल की तरह अचल रहता है। वह अपने भाई लक्ष्मण से राजतिलक की सारी सामग्री वापस भेजने को कहते हैं। भाग्य का जो विपर्यय हुआ है, उस के लिए वह किसी को दोषी ठहराना उचित नहीं समझते। जहाँ तक उन का संबंध है, उन को तो किसी ने राजतिलक की परिकल्पना से न तो पुलकित होते देखा और न वनवास के प्रस्ताव से उदास होते देखा। वह तो केवल सत्य और धर्म का शासन मानकर माता-पिता की आज्ञा का पालन करना चाहते हैं। वास्तव में सत्य ही उन के लिए पिता हैं और धर्म ही उन की माता। पर राम के भाग्यवाद को लक्ष्मण तत्काल स्वीकार नहीं कर पाते क्योंकि सत्य और धर्म के मूर्त रूप राम को अनुचित कष्ट भोगते हुए वह देखना नहीं चाहते। लेकिन अंत में राम अपने भाई लक्ष्मण को शांत करने में सफल हो जाते हैं और माता से विनती करते हैं कि वह अब आशीर्वाद देकर अपने आज्ञाकारी पुत्र को वन जाने की अनुमति दें।

कौसल्या का कोमल हृदय राम को वनवास की अनुमति देने में लाख कोशिश करने पर भी अपने को असमर्थ पाता है। राम जैसे सत्यपराक्रम, धर्मपरायण और पितृभक्त पुत्र को देखकर एक तरफ उनका मन पुलक उठता है और दूसरी तरफ इतने योग्य पुत्र को इतना कठोर दंड मिलने पर उनकी ममता परिस्थिति से समझौता नहीं कर पाती। लक्ष्मण के मुँह से प्रतिक्रिया और प्रतिरोध की जो आवाज़ उठती है, उसको कौसल्या का वात्सल्यमय हृदय भी सही समझता है। उसका मौन समर्थन तक वह करती हैं। लेकिन सत्यव्रती राम को अपने संकल्प पर अटल और अचल देखकर आखिर वह अपने मन को मनाती हैं। जब लाचार होकर राम को वनवास की अनुमति देनी पड़ती है तो अचानक माता का ममतामय हृदय परम चेतना के लोकोत्तर धरातल पर पहुँच जाता है जहाँ से वह सभी देवी-देवताओं को राम के प्रति अनुराग, अनुग्रह और अनुकंपा प्रकट करने के लिए मनाने लगती हैं। स्वस्त्ययन और आशीर्वाद की एक स्वर-लहरी सी उनके हृदय से फूट पड़ती है।

माँ होने के कारण वह अपने बेटे की लोकोत्तर महिमा को जानते हुए भी जानती हुई सी नज़र नहीं आतीं। राम चाहे कितने भी महान् हों, कौसल्या के लिए वह लाड़ला बेटा है। वह जानती हैं कि सारा संसार राम की रक्षा की प्रतीक्षा में है। फिर भी वह राम-रक्षा के लिए अक्षत, चंदन, धूप, दीप, हवन-सामग्री आदि पूजा-द्रव्यों को लेकर समस्त देवी-देवताओं से बिनती करती हैं कि वनवास की चौदह वर्ष की पूरी अवधि में वे राम की रखवाली करें

और उनको सुरक्षित वापस घर पहुँचा दें। सबसे पहले वह किसी देवी-देवता की वंदना नहीं करतीं बल्कि जिस धर्म का राम ने प्रेम और नियम से पालन किया, उसी धर्म से वह अपेक्षा करती हैं कि वह धर्मपरायण राम की रक्षा करें। धर्म का यह स्वभाव ही है कि उसकी जो रक्षा करता है उस की वह रक्षा करता है। धर्म की रक्षा करने वाले व्यक्ति की रक्षा स्वयं धर्म ही करता है। राम के बारे में एक और विशेषता यह है कि वह प्रेम से और नियम से धर्म का पालन करते हैं, किसी प्रतिफल की इच्छा से नहीं। यह ध्यान देने की बात है कि सबसे पहले माता कौसल्या की मंगल-कामना में धर्म का उल्लेख होता है जबकि कैकेयी सत्य के आधार पर अपनी इच्छा पूरी करवाना चाहती हैं। सत्य के आधार पर जो अमंगल कामना व्यक्त हो चुकी है, उसको राम-माता कौसल्या धर्म के आधार पर मंगलमय सिद्ध करना चाहती हैं। यह बात कहते-कहते कौसल्या को कुछ मनोबल प्राप्त हो जाता है। अपनी मनोव्यथा को भूल जाने का वह प्रयास करती हैं और पवित्र जल से अपने हाथ और हाथों में लगे हुए आँसू पौंछ लेती हैं। इसके बाद माँ कहती हैं, "बेटा, तुमने जिन-जिन लोगों की शुश्रूषा की है, वे सभी महात्मा और सभी ऋषि तुम्हारी रक्षा करें। मुनिवर विश्वामित्र ने जो अस्त्र और शस्त्र तुमको दिए हैं, वे सब तुम्हारे अनुकूल रहकर हमेशा तुम्हारी रक्षा करें। तुमने माता-पिता की जो भी सेवा की है, वह तुम्हारी आयु बढ़ाने में सहायक हो। पवित्र तीर्थ-स्थानों में और सिद्ध-पीठों में जाकर तुमने जो भी आराधना की है, उसके प्रभाव से तुम्हारे ऊपर भयंकर पशु-पक्षी, सर्प-सिंह आदि भयानक वन्य मृगों का कोई आतंक न आए। धाता, विधाता, बारह आदित्य, मरुद्गण, विश्वे देवता, साध्य, सिद्ध, इंद्र आदि लोकपालक सब तुम्हारा साथ दें। बारह मास और छह ऋतुओं के साथ वर्ष का जो आवर्तन दिन रात बनाते हुए चलता रहता है, वह कालरूपी परम सत्ता तुम्हारी रक्षा करे। वेद-वेदांत, इतिहास-पुराण, धर्म-कर्म, मंत्र-शास्त्र आदि का तुमने जो सेवन किया है, वह तुमको साथ दे। भगवान् शंकर के कुमार स्कंद, चंद्रमा से युक्त बृहस्पति, देवर्षि नारद, सप्तर्षि मंडल सदा तुम्हारी रक्षा करें। सारी दिशाएं तुम्हारे लिए अनुकूल मिलें। सभी दिशाओं के देवताओं से मैं अनुरोध करती हूँ कि धरती में, आकाश में, अंतरिक्ष में, पहाड़ों में, समुद्र में, हवा में, पानी में, चेतन में और अचेतन में तुमको कभी किसी प्रकार का भय न हो। ग्रह-नक्षत्र तुम्हारे लिए सुखद बनें। जब देश और काल दोनों तुम्हारे लिए अनुकूल हैं तो महावन के महर्षि, देवता और राक्षस भी तुम्हारे लिए अनुकूल बन जाएंगे। सुनते हैं, वन में भयंकर राक्षस मनुष्य के भूखे बनकर घूमते-फिरते हैं। बिच्छू, मच्छर, सांप जैसे बहुत-से कीड़े भी चलते रहते हैं। हाथी, बाघ, भालू आदि जानवर भी नरमांस की खोज में विचरते रहते हैं। लेकिन तुम्हारा मार्ग हमेशा मंगलमय रहेगा। विपत्ति के बीच में भी संपत्ति ही तुम्हारे हाथ लगेगी। जिस किसी भी दशा में तुम अपने को पाओगे, वही तुम्हारे लिए कुशल-मंगल की व्यवस्था करेगी। धरती, आकाश और अंतरिक्ष के सभी देवी-देवता तुम्हारे साथ रहकर तुम्हारे मार्ग की समस्त बाधाओं का निवारण करेंगे। शुक्र, सोम, सूर्य, कुबेर, यमराज, अग्नि, वायु-सबका तुम्हें सहयोग मिलेगा। दण्डक वन में घूमते हुए तुम जिस किसी वस्तु का स्पर्श करोगे, वही तुम्हारे लिए कांचन बन जाएगी। जिन देवी-देवताओं का मैंने अभी स्मरण नहीं किया है, वे सब भी तुम्हारी रक्षा करें।

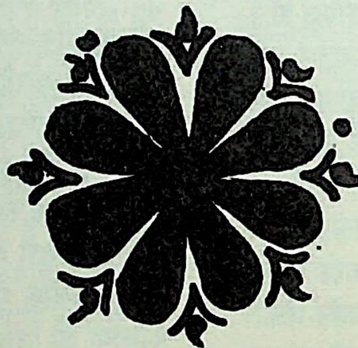
स्वस्ति वाचन के इन प्रशस्त शब्दों के साथ माता कौसल्या राम-मंगल की कामना से विधिवत् अग्निहोत्र की अर्चना करती हैं। मंत्रों के उच्चारण में विशेष दक्षता प्राप्त विद्वानों के द्वारा वह स्वस्त्ययन का पाठ कराती हैं और उनका सम्मान करती हैं। इसके बाद मंगलाचरण के रूप में कौसल्या कुछ बातें कहती हैं। इस मंगलाचरण के अंतर्गत पांच श्लोक बोले जाते हैं। ये पाँचों श्लोक पाँच पवित्र मंत्र हैं जो परमांगना कौसल्या की परम चेतना से प्रसूत हैं।

यन्मंगलं सहस्राक्षे सर्व देव नमस्कृते।
वृत्रनाशे समभवत् तत् ते भवतु मंगलम्॥
यन्मंगलं सुपर्णस्य विनताकल्पयत् पुरा।
अमृतं प्रार्थयानस्य तत् ते भवतु मंगलम्॥

अमृतोत्पादने दैत्यान् घ्नतो वज्रधरस्य यत् ।
अदितिर्मगंलं प्रादात् तत् ते भवतु मंगलम् ॥
त्रीन् विक्रमान् प्रक्रमतो विष्णोरतुलतेजसः ।
यदासीन्मंगलं राम तत् ते भवतु मंगलम् ॥
ऋषयः सागरा द्वीपा वेदा लोकादिशश्च तेः।
मंगलानि महाबाहो दिशंतु शुभमंगलम् ॥

पहले श्लोक में वृत्र नाम के राक्षस के संहार के समय देवेश इंद्र को जो मंगलमय शक्ति मिली थी, उससे वह राम को महिमान्वित करना चाहती हैं । दूसरे श्लोक में स्वर्ग से अमृत लाने के लिए नियुक्त गरुड को माता का जो आशीर्वाद मिला था, उसका उल्लेख है । तीसरे में सागर-मंथन के समय अमृत को चुराकर ले जाने वाले राक्षसों का संहार करने के लिए देवमाता अदिति ने जो मंगल कामना की, उसे दोहराया गया है । चौथे में स्वर्ग, मर्त्य और पाताल– तीनों लोकों में अपने तीन पैर रखने वाले बौने ब्राह्मण वामन के पीछे जो मंगल भावना काम कर रही थी, उसका स्मरण किया गया है । अंतिम और पाँचवे श्लोक में समस्त ऋषि, समस्त वेद, समस्त लोक, समस्त दिशाएँ और समस्त जलधाराएँ राम को सही रास्ता दिखाती रहें, यही शुभ कामना प्रकट की गई ।

इस प्रकार विस्तृत स्वस्तिवाचन के बाद माँ कौसल्या अपनी विशाल आँखों से राम को देखती हैं और राम के हाथ में विशल्यकरणी नाम की एक विशिष्ट औषधि बाँध देती हैं ।.कौसल्या के मुँह से जब वह स्वस्तिवाचन निकल रहा था तब ऐसा लग रहा था कि केवल उनके मुँह से ही यह शब्द निकल रहे थे, हृदय से नहीं । वास्तव में उनका जो भी हृदय था, वह राम के हृदय के साथ एकाकार हो चुका था । इसलिए यह शब्द-शक्ति केवल उनकी वाणी तक सीमित थी । इसके बाद वह राम को अपने पास बुलाती हैं, छाती से लगा लेती हैं, मस्तक सूँघ लेती हैं और कहती हैं, "सुख से जाओ और सुरक्षित आओ ।" पलभर के लिए उनके मन की आँखें वह दृश्य देखने की कोशिश करती हैं जब चौदह साल का यह वनवास पूरा करके राम अयोध्या वापस आयें और अयोध्या को आनंद की वर्षा से आप्लावित कर दें । स्वस्त्ययन के विधिवत् समाप्त होते ही उनकी आँखें आँसुओं से भरी होने के कारण कुछ देख नहीं पातीं । एक बार वह राम की परिक्रमा करती हैं और बार-बार उसे निहार-निहार कर पसीज उठती हैं । राम भी माँ की परिक्रमा करते हैं और माता के चरण छूकर सीता से मिलने के लिए माँ की आज्ञा लेकर चलते हैं ।



17. साथ ले चलो नाथ

साध्वी माता के स्वस्त्ययन के साथ सत्यपराक्रम राम का वास्तविक अयन आरंभ होता है । माता के आशीर्वाद और अनुमोदन के बिना राम का वन-गमन संभव नहीं था क्योंकि राम केवल पितृभक्त ही नहीं थे, बल्कि मातृनंदन भी थे । माता की स्वीकृति लेकर धर्मात्मा राम अपनी धर्मपत्नी और पतिप्राणा सीता के पास पहुँच जाते हैं । लेकिन उन की समझ में नहीं आता है कि राजतिलक की प्रसन्न घड़ियों की प्रतीक्षा करनेवाली राजकुमारी से एकदम अप्रत्याशित वनवास की बात कैसे कही जाए । रास्ते भर यही सोचते सोचते वह उदास बन जाते हैं । रास्ते में राजधानी के राजपथ भी उदास दिखाई देते हैं । लेकिन उदासी को भी उदास बनानेवाले उदात्त चित्त रामचंद्र का मुख-मंडल कभी इतना उदास नहीं था । प्रकृत्या परम प्रसन्न दिखाई देनेवाले राजीव लोचन राम को चिंता से व्याकुल, शोक से संतप्त और लज्जा से नतमस्तक देखकर सीता के मन में घबराहट पैदा हो जाती है । एक तो, बाहर राजतिलक का कोई लक्षण नहीं दिखाई दे रहा है और दूसरे, प्रस्विन्न और खिन्न वदन लिए रघुकुलनंदन राम को अपने सामने चुपचाप खड़े हुए देखकर सीता की समझ में नहीं आता है कि आखिर क्या हुआ है । पूर्वभाषी और मृदुभाषी के रूप में प्रख्यात पतिदेव को मौन देखकर धर्मज्ञा और धर्मचारिणी जानकी साहस बटोरकर पूछती हैं– "किमिदानीमिदं प्रभो ?" (आप को यह क्या हो गया, स्वामी ?) ।

राम की उदासी और उद्विग्नता का कारण अपनी अंतरगिणी की आंतरिक वेदना की कल्पना है । करूणामय राम का हृदय कुसुम-कोमल है । वह दूसरों का दुःख देख नहीं सकता, स्वयं दुःख का पहाड़ सहने के लिए तैयार हैं । उस पर भी अयोध्यानाथ की अर्द्धांगिनी बनने की प्रतीक्षा करनेवाली सुकुमारी पति-वियोग अथवा वनवास के लिए अपने मन को कैसे तैयार कर सकेगी, इस बात की कल्पना से ही राम का मन व्याकुल हो उठता है । माता से बिदा लेते समय भी राम का हृदय इतना उद्वेलित नहीं था क्योंकि माता के लिए पिता का सहारा था या दोनों के लिए एक दूसरे का सहारा था । परंतु पतिप्राणा पत्नी के लिए अपने स्वामी का एकमात्र सहारा होता है । पर साथ ही वह जानते थे कि सीता साधारण नारी नहीं है । संयम, साधना और सहिष्णुता में वह उन से भी आगे हैं । इसीलिए वह बिना कुछ लंबी भूमिका बाँधे ही असली बात एक ही वाक्य में कह देते हैं–

"सीते तत्र भवांस्तातः प्रव्राजयति मां वनम्"

(सीते, मेरे पिताजी हैं न, वे मुझे वन भेज रहे हैं ।)

इस के बाद वह इस आकस्मिक और मर्मांतक समाचार की विस्तृत व्याख्या करने का प्रयास करते हुए कहते हैं– "हमारे पिता की सत्यवादिता तुम जानती हो । उन्होंने माँ कैकेयी को कभी कुछ वचन दिया था । अब उसे निभाने का समय आ चुका है । सत्यनिष्ठ राजा अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार भरत को यह राज्य सौंप रहे हैं । मुझे चौदह साल दंडक वन में रहना है । मुझे आज ही जाना है । जाने के पहले मैं तुम से

मिलने आया हूँ ।" इन बातों का सीता पर क्या असर पड़ रहा है और वह क्या कहना चाहती है, इस पर ध्यान दिए बिना भीतर से व्याकुल होकर भी बाहर से अपने को कुशल और क्रियाशील सिद्ध करने के प्रयास में राम सीता को बिदाई-संदेश और कुछ उपदेश की बातें सुनाने लगते हैं । सब से पहला उपदेश उन का भरत के संबंध में है । भरत को हृदय से राजा मान कर उन के मान-सम्मान का सदा ध्यान रखना, उन के सामने अपने पति का गुणगान नहीं करना । यह सुनकर मैथिली भीतर ही भीतर मुस्कुराती होंगी, पर बाहर से अपने आश्चर्य या अमर्ष का कोई आभास तक प्रदर्शित नहीं करतीं । राम और आगे कहते जाते हैं "जब तक मैं वनवास की दीक्षा में रहता हूँ तब तक तुम को भी धर्मनिष्ठ रहना होगा, सबेरे उठकर देवी-देवताओं की पूजा करना । राजा दशरथ और वृद्ध माता कौसल्या तथा शेष दोनों माताओं की भी आदर के साथ सेवा-शुश्रूषा करना । भरत और शत्रुघ्न को भाई या पुत्र समझकर उन के योग और क्षेम का विशेष ध्यान रखना ।" मनस्विनी, कल्याणी, अनघा, प्रिया, भामिनी आदि अनेक संबुद्धियों के साथ अपनी सहधर्मचारिणी को संबोधित करते हुए राम अपना प्रेम-प्रवचन पूरा करके अंत में अपने वक्तव्य का सार दो वाक्यों में बता देते हैं–

"अहं गमिष्यामि महावनं प्रिये
त्वया हि वस्तव्यमिहैव भामिनि ।"

(मैं महावन के लिए प्रस्थान कर रहा हूँ, तुम को, प्रिये, यहीं पर रहना है ।)

इन दो वाक्यों में राम का उपदेश संदेश की सीमा को पार कर आदेश का रूप धारण करता है । इस पर रामपत्नी को भीतर से हँसी और बाहर से गुस्सा आता है। कारण केवल प्रेम है। प्रेम की अधिकारिणी (प्रियार्हा) और प्रेम से बोलनेवाली (प्रियवादिनी) केवल प्रेम के कारण कुपित (प्रणयादेव संक्रुद्धा) होकर अपने प्रियतम स्वर में कहती है ।– "यह तुम क्या कह रहे हो, राम । अपने मन को तुम क्यों इतना छोटा बना रहे हो और मुझे इतनी हल्की क्यों समझ रहे हो, तुम जैसे वीर शूर राजकुमार को इस तरह की बातें कहना शोभा नहीं देता । ऐसी बात न तुम को कहनी है न मुझे सुननी है ।" इस के बाद वह बड़ी विनम्रता और विदग्धता के साथ पति-पत्नी की अभिन्नता और आत्मीयता के बारे में ऐसी बात कह देती हैं जो राम के संदेश, उपदेश और आदेश का निरुत्तर उत्तर प्रस्तुत करते हुए एकदम उन के स्वामी के हृद्देश को स्पर्श करती है । अपने स्वामी को 'आर्यपुत्र' कहकर बड़े आदर के साथ वह जीवनसंगिनी के रूप में अपनी स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहती हैः

आर्यपुत्र पिता माता भ्राता पुत्रस्तथा स्नुषा ।
स्वानि पुण्यानि भुंजानाः स्वं स्वं भाग्यमुपासते ॥
भर्तुर्भाग्यं तु नार्येका प्राप्नोति पुरुषर्षभ ।
अतश्चैवाहमादिष्टा वने वस्तव्यमित्यपि ॥

(आर्य पुत्र, माता-पिता, भाई-बेटे, बेटी-बहू– सब लोग इस संसार में अपने अपने कर्मों के अनुसार शुभ या अशुभ फल पाते हैं । उन सब का अपना अपना भाग्य होता है । पर नारी का भाग्य उस के स्वामी के भाग्य के साथ जुड़ा हुआ होता है । पति से अलग पत्नी का अपना कोई भाग्य नहीं होता । इसलिए आप को वनवास की जो आज्ञा मिली है, उस में भी मेरा अपना भाग है और वही मेरा भाग्य है ।)

धर्म मीमांसा का यह मार्मिक समाधान सुनकर राम भीतर ही भीतर सीता की अनन्य भावना से पुलक उठते हैं, पर बाहर से भविष्य के संकट की आशंका से आतंकित दिखाई देते हैं । पर जानकी ने अभी अपनी बात पूरी नहीं की । वह अपना पक्का इरादा बताते हुए कहती हैं कि अगर आप को आज ही वन जाना है, तो मैं अभी आपके साथ बल्कि आप से आगे आगे चलने को तैयार हूँ ताकि मैं आप के रास्ते में पड़े काँटों को निकालकर आप का मार्ग प्रशस्त कर सकूँ । वह अपने को अपने पति के पैरों की छाया बताते हुए इस बात को स्पष्ट कर देती हैं कि उन को अयोध्या में छोड़कर राम के वन जाने का प्रश्न ही नहीं उठता और वनवास के समय वह अपने पति के लिए कभी किसी प्रकार का भार नहीं बनेंगी, बल्कि सहारा बनकर साथ

देगीं । अपने पति के साथ रहते हुए वह चौदह साल क्या, हज़ारों साल हर्ष और उल्लास के साथ बिता सकती हैं- चाहे वह दंडकवन हो या राजभवन हो । कंदमूल फल खाकर प्राकृतिक वन सौंदर्य का आनंद लेते हुए वह अपने पराक्रमी पति के साथ निर्भीक और निश्चिंत रह सकती हैं ।

इतना कहने पर भी राम राज़ी नहीं होते । वन कितना भयानक होता है और वन जीवन में किस किस प्रकार के कष्ट सहने पड़ते हैं, इस का विस्तार से वर्णन करके वह अपनी सुकुमारी पत्नी को यह समझाने की कोशिश करते हैं कि घर में बैठकर भी वह अपने पति की मंगल कामना करते हुए स्वधर्म का पालन कर सकती हैं । बार-बार वह "सीते, सीते" कहकर संबोधित करते हुए समझाते हैं "कि वन में दुःख ही दुःख है, सुख बिलकुल नहीं है (सदासुखं न जानामि दुःखमेव सदा वनम्) । वन में हर जगह भयंकर जानवर घूमते रहते हैं, पानी के अंदर भी भयानक जलचर रहते हैं । रोज़ ठंडे पानी में तीन बार नहाना पड़ता है । नंगी जमीन पर या घास-पत्तों पर सोना पड़ता है, कभी कभी खाने के लिए कुछ नहीं मिलता, कोसों दूर चलने पर भी आराम करने के लिए जगह नहीं मिलती । कभी कभी अचानक कुछ मेहमान आ जाते हैं, उन का भी आदर-सत्कार करना पड़ता है । सर्दी-गर्मी, आतप-वर्षा सब कुछ सहकर रूखा सूखा जीवन बिताना पड़ता है । इसलिए तुम आराम से यहीं रहो ।"

ये सब बातें सुनकर सीता की आँखों में आँसू भर आते हैं । उन को दुःख इस बात का है कि राम उन को बच्ची समझकर ये बातें कर रहे है । विशेषकर जब वह कहते हैं कि वनवास के अनेक दोष होते हैं, इसीलिए लोग उस को वनवास कहते हैं (बहु दोषं हि कांतारं वनमित्यभिधीयते) तो सीता समझ जाती हैं कि उन के पतिदेव उन को भुलावा दे रहे हैं । "सीते दुःखमतो वनम्", "तस्माद् दुःखतरं वनम्"– इन वाक्यों को बार बार दुहराकर राम अपनी पत्नी को समझाने की लाख कोशिश करते हैं, लेकिन नासमझ को समझाया जा कसता है, पर सीता जैसी समझदार साध्वी को समझाना साधारण कार्य नहीं ।

अनुनय-विनय तथा आक्रोश के माध्यम से जब सीता राम को समझाने में अपने को असमर्थ पाती हैं तो सर्व-समर्थ अश्रुओं का वह आश्रय लेती हैं । "बालानां रोदनं बलम्" वाली उक्ति जैसे बच्चों के बारे में सही है, वैसे बालाओं के संबंध में भी चरितार्थ होती है । सीता भी अवस्था में बाला ही तो है । इसलिए वह अश्रुमुखी होकर फिर एक बार अपने स्वामी को समझाने की कोशिश करती हैं कि वनवास के जिन दोषों का उन्होंने बढ़ा चढ़ा कर वर्णन किया है, वे सभी दोष उन की दृष्टि में महान् गुण हैं क्योंकि संसार की शान और सौंदर्य की खान रामचंद्र के मुख-मंडल को देखकर भयंकर जानवर भी अभयंकर बन जाते हैं । या तो वे दूर भाग जाएँगे या भक्तिभाव से राम के चरणों का आश्रय लेंगे । वन जीवन और वनवास के प्रति बचपन से अपने अनुराग को प्रकट करते हुए वह कहती हैं कि अपने स्वामी के साथ वनवास का आनंद कुछ और ही महत्त्व रखता है, इसलिए दोनों को साथ साथ वन जाना है । अंत में चेतावनी के रूप में वह कहती हैं कि अगर वह उन को साथ नहीं ले गए तो वह जीवित नहीं रहेंगी ।

इस पर भी राम कुछ पिघलते-से दिखाई नहीं देते । अब अंतिम प्रहार के रूप में जनकनंदिनी रघुनंदन से आक्षेप के स्वर में कहती हैः

किंत्वामन्यत वैदेहः पिता मे मिथिलाधिप : ।
राम जामातरं प्राप्य स्त्रियं पुरुषविग्रहम् ॥

(मिथिला के राजा मेरे पिता ने न मालूम क्या समझकर मुझे तुम्हें शादी में दे दिया था । यदि उन को मालूम होता कि तुम देखने में पुरुष हो, पर पराक्रम में स्त्रैण हो तो वह शायद हमारी शादी के लिए राजी नहीं होते ।)

यह बात जानकी जैसी कुलांगना के मुँह से निकलनी नहीं चाहिए । पर वह क्या करें, राम को किसी न किसी तरह से राज़ी करना है और उन के साथ चलना है । इसीलिए अपने नाथ के प्रति प्रेम और

अपने ऊपर अभिमान (प्रणयाच्चाभिमानाच्च) के कारण मिथिलेश कुमारी को अयोध्याधीश के पुत्र से यह बात कहनी पड़ी । अब राम होश में आते हैं । सूर्य की तरह अपनी प्रभा से आलोकित राम के मुख-मंडल में कुछ क्षणों के लिए खोया हुआ तेज फिर वापस आता है । वह सीता की इस बात से सहमत होते दिखाई देते हैं कि मन से भी पति से भिन्न अन्य भावना को आश्रय न देनेवाली पतिप्राणा पत्नी को छोड़कर वन जाना न्यायविरूद्ध ही नहीं, बल्कि धर्म बाह्य भी है । वह इस बात को भी अपने मन से मान लेते हैं कि राजभवन हो, तपोवन हो या दंडकवन हो, पति-पत्नी के साहचर्य से वही विशाल भुवन बन जाता है । सीता कहती हैं कि पत्र, पुष्प, फल, मूल जो कुछ आप अपने हाथों से दे दें, वही मेरे लिए अमृत है । वह इस बात का आश्वासन भी देती हैं कि वह वनवास के समय न मां की याद करेंगी, न पिता की और न घर की । विभिन्न ऋतुओं में प्रकृति का परिवर्तनशील सौंदर्य देखकर वह फूलों के साथ फूली नहीं समाएँगी और आस्वाद्य फलों के रसास्वादन को अपने जीवन का मधुर फल मानेंगी ।

यह सब कहते कहते कुसुम कोमल राजकुमारी सीता के नेत्र से आँसुओं की अविरल धारा बहने लगती है और वह प्रेम और पीड़ा से विह्वल होकर पति के प्रगाढ परिरंभ में बँध जाती हैं । राम भी उन को प्यार से गले लगाकर आँसू पोंछते हुए सांत्वना देते हैं । कहते हैं, "देवी, तुम को दुःखी बनाकर मैं स्वर्ग में भी सुखी नहीं रह सकता । मेरे साथ वन जाने के लिए जब तुम को विधाता ने बनाया ही है, तब तुम को यहाँ छोड़कर जानेवाला मैं कौन हूँ? मेरे मन में केवल इसी बात की चिंता है कि मेरी वजह से तुम को भी कष्ट हो रहा है और मैं पिता की आज्ञा को टाल नहीं सकता । माता, पिता और आचार्य का वचन किसी भी धर्मपरायण व्यक्ति के लिए शिरोधार्य होता है और मैं उसी सनातन धर्म के अधीन चलने के लिए बाध्य हूँ । अगर तुम मेरे साथ चलना ही चाहती हो तो मुझे तुम्हारी बात माननी ही पड़ेगी । तुम तो धर्म में मेरे साथ चलने वाली हो, इसलिए चले चलें । पर आज ही चलना है और चलने के पहले अपना सर्वस्व अर्थार्थियों को अर्पित करके चलना है । इसलिए जल्दी से तैयार हो जाओ ।"

इन बातों ने जानकी को हर्ष और उल्लास की तरंगिणी में रूपांतरित कर दिया । उनके आनंद का ठिकाना न रहा । मनस्विनी राजकुमारी का यह मंजुल रूप महर्षि की मंत्रपूरित वाणी में ही मननीय है :

ततः प्रहृष्टा प्रतिपूर्णमानसा ।
यशस्विनी भर्तुरवेक्ष्य भाषितम् ॥
धनानि रत्नानि च दातुमंगना ।
प्रचक्रमे धर्मभृतां मनस्विनी ॥

इधर रामपत्नी वनवास के लिए तैयार हो रही थी तो उधर राम जैसे ही कमरे से बाहर गए तो रामानुज अपने अग्रज के आगमन की प्रतीक्षा में अश्रुपूर्ण वदन लिए खड़े थे । राम को देखते ही लक्ष्मण उन के पैरों पर पड़ते हैं और पैर छोड़ने की उन को इच्छा नहीं होती । सूक्ष्मग्राही लक्ष्मण रामचंद्र का मुखमंडल देखते ही सब कुछ समझ जाते हैं और कहते हैं :

यदि गंतुं कृता बुद्धिर्वनं मृगगजायुतम् ।
अहं त्वानुगमिष्यामि वनमग्रे धनुर्धरः ॥

(अगर आप लोगों ने वन जाने का निश्चय कर लिया है, तो मैं भी अपने धनुष-बाण लेकर आप लोगं के आगे आगे चलूँगा ताकि वहां के जंगली जानवर कोई आतंक न मचाएँ ।)

अयोध्या क्या, अमरावती को भी छोड़कर अपने भाई के साथ वन जाने को उद्यत लक्ष्मण को भी राम उसी प्रकार समझाने की कोशिश करते हैं, जिस प्रकार अपनी पत्नी को अब तक समझाने की कोशिश करते रहे । कहते हैं, "अगर हम दोनों वन चले गए तो मेरी और तुम्हारी माँ की देखभाल कौन करेगा? पिताजी वैसे ही दुःखी हैं, भरत राजकाज में व्यस्त रहेगा और माँ कैकेयी ममता-मोह में पड़कर न मालूम क्या करेगी । इसलिए तुम घर का कामकाज संभाल लो और मैं वनवास की दीक्षा समाप्त करके जल्दी लौटूँगा ।"

इस पर लक्ष्मण मुस्कुराते हैं, कहते हैंः "मुझे तो आप की आज्ञा पहले ही मिल चुकी थी, अब उस को वापस क्यों ले रहे हैं? माँ की चिंता करने की कोई आवश्यकता नहीं है। वह अपनी देखरेख आप कर लेंगी। वह तो आप की माँ हैं। अगर भरत या भरत की माता ने कुछ अमंगल करने का प्रयास किया तो मैं उन को सबक सिखा दूँगा। वैसे आप की वर्चस्विता के प्रभाव से सब कुछ मंगलमय ही होगा। आप इधर की चिंता न करें, मुझे अपने साथ चलने की आज्ञा दें, बल्कि जो आज्ञा दी जा चुकी है, उस को वापस न लें।"

इस पर राम को कुछ आश्चर्य होता है। उन की समझ में नहीं आता कि लक्ष्मण को उन्होंने अपने साथ चलने की आज्ञा कब दी। जब आज्ञा माँगी ही नहीं गई तो देने का सवाल ही नहीं उठता। किंतु लक्ष्मण की वाग्मिता और वाग्विदग्धता पर राम को तनिक भी संदेह नहीं है। इस मामले में दोनों भाई एक दूसरे से बढ़कर हैं। अंतर केवल यही है कि राम प्रियभाषी हैं और लक्ष्मण हितभाषी, पर हैं दोनों सत्यभाषी हैं। इसीलिए राम कुछ ध्यान से सोचते हैं तो उन को अपना ही एक वाक्य याद आता है जो उन्होंने लक्ष्मण से उस समय कहा था जब माँ कौसल्या के सामने लक्ष्मण क्षणिक आवेश में आकर सत्यसंध पिता की धर्मपरायणता पर आक्षेप करते हुए वनवास की आज्ञा के उल्लंघन की बात उठा रहे थे। उस समय राम ने लक्ष्मण को शांत करते हुए कहा थाः

तदेतां विसृजानार्यां क्षत्रधर्माश्रितां मतिम्।
धर्ममाश्रय मा तैक्ष्ण्यं मद्बुद्धिरनुगम्यताम्॥

(भाई लक्ष्मण, इस अनार्थ या अभद्र विचार को छोड़ दो। राज्य ही सब कुछ नहीं है। धर्म राज्य से भी परे होता है। धर्म का आश्रय लेकर मेरी बुद्धि (मेरे कहने) के अनुसार चलो।)

इस वक्तव्य में लक्ष्मण ने "मद्बुद्धिरनुगम्यताम्" वाली बात पर विशेष ध्यान दिया। जब राम ने कह दिया कि मेरे कहे अनुसार चलो तो लक्ष्मण ने समझ लिया कि राम का अनुसरण करने के लिए उन को अनुज्ञा मिल चुकी है। इसी बात का हवाला देकर लक्ष्मण यहाँ पर कह रहे हैं कि पहले अनुमति देकर फिर उस को वापस लेना ठीक नहीं है। राम केवल सत्य और धर्म की भाषा का प्रयोग करते हैं जबकि लक्ष्मण उस में न्याय और तर्क की परिभाषा भी जोड़ देते हैं। उसी भाषा और परिभाषा को परख कर राम लक्ष्मण से कहते हैंः "जाओ, अपने लोगों से बिदा लेकर आओ" (व्रजापृच्छस्व सौमित्रे सर्वमेव सुहृज्जनम्)।

यहाँ पर 'सुहृज्जन' शब्द का बड़ा ही मार्मिक प्रयोग हुआ है। माता का आशीर्वाद लेने के बाद पत्नी से मिलने और उन को समझाने की जो आवश्यकता राम ने महसूस की है, लगभग वही स्थिति लक्ष्मण की भी है। राम की स्वीकृति लेकर लक्ष्मण अपनी माँ और पत्नी से मिलने के लिए पूर्ण रूप से स्वतंत्र हैं। इस स्वतंत्रता का लक्ष्मण ने कहाँ तक उपयोग कर लिया है, इस संबंध में वाल्मीकि मौन हैं और इस मौन में ही महत्ता है। अस्तु, लक्ष्मण अपनी माँ और पत्नी से मिलने गये या नहीं, इस के बारे में हमको निश्चित रूप से मालूम नहीं है। लेकिन इतना तो निश्चित है कि वनवास के लिए आवश्यक आयुध (अस्त्र-शस्त्र) जैसी साधन संपत्ति जुटाने और सर्वस्व दान के कार्यक्रम में वह तत्काल तत्परता से लग जाते हैं।

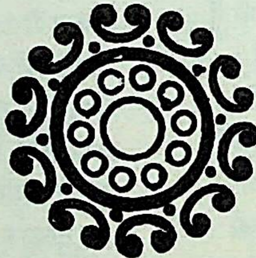
सर्वस्व दान का कार्यक्रम भी बड़ी शालीनता और उदारता के साथ संपन्न होता है। सब से पहले वसिष्ठ के पुत्र सुयज्ञ का सम्मान किया जाता है। अग्निहोत्र के समान उज्ज्वल मुखमंडल से विराजमान सुयज्ञ को केवल राम की ओर से ही नहीं, बल्कि सीता की ओर से भी बहुमूल्य रत्न और आभूषण पाते हैं। धन सुयज्ञ के लिए और आभूषण सुयज्ञ की पत्नी के लिए राम के द्वारा सुयज्ञ के हाथ में दिए जाते हैं। इस के बाद अगस्त्य, कौशिक आदि ऋषिकुमारों को भी यथेष्ट दान दिए जाते हैं। ध्यान देने की बात है कि यह सर्वस्व दान ऋषिकुमारों तथा वेद के अध्येताओं तक सीमित है, आचार्य और ब्रह्मवेत्ता इस में शामिल नहीं हैं। वसिष्ठ जैसे ब्रह्मवेत्ताओं की सेवा शुश्रूषा ही हो

सकती है और उसी में उन का सम्मान है । दान केवल सर्व सामान्य में संभव है । इस बात का औचित्य सर्वस्व-दान में स्पष्ट दिखाई देता है ।

राम की परिहासप्रियता का भी एक उदाहरण इस सर्वस्व-दान के प्रसंग में सामने आता है । गर्ग वंश का एक गरीब ब्राह्मण घर भर के बच्चों से परेशान होकर राम के सर्वस्व-दान की खबर पाते ही पत्नी के अनुरोध पर राम के दरबार में पहुँच जाते हैं । राम को उन पर दया आती है, पर साथ ही उन से मज़ाक करने को भी मन करता है । राम उन से कहते हैं कि सामने दिखाई देनेवाली सरयू नदी के किनारे तक जितनी दूर हो सके उतनी दूर वह एक छड़ी पेंक दें और उतनी दूर तक की गायें उन को दी जाएँगी । बिचारे अधनंगे और अधभूखे ब्राह्मण अपनी पूरी ताकत लगाकर छड़ी फेंकते हैं तो वह सरयू के किनारे एक सांड के ऊपर जा गिरता है । राम मुस्कुराकर ब्राह्मण के बल की प्रशंसा करते हैं और उन को बाकी बचा सारा धन दे देते हैं और केवल मनोरंजन के लिए गरीब ब्राह्मण के साथ किए गए मज़ाक के लिए माफी भी माँगते हैं ।

ध्यान देने की बात है कि राजभवन का समस्त राजभोग छोड़कर दंडक वन के लिए प्रस्थान करते समय राम को मनोरंजन की बात कैसे सूझी । इस के लिए कितनी स्थितप्रज्ञता आवश्यक है, इस बात की हम कल्पना तक नहीं कर सकते । खेल ही खेल में, और हँसी मज़ाक में उन्होंने अपना सर्वस्व न्यौछावर कर वनवास की दीक्षा सहर्ष स्वीकार की । अब उन के पास कुछ नहीं है, पर उन के साथ सब कुछ है– जानकी जैसी साध्वी नारी और लक्ष्मण जैसा सलक्षण और सक्षम भाई ।

"जा को कछू न चाहिए सोई साहंसाह"



18. चले माँगने बिदा पिता से

अपनी चिंता सब को होती है, पर सब की चिंता किसी किसी को होती है – लाखों करोड़ों में से किसी एक को। उपनिषदीय भाषा में जो अपने में सब को और सब में अपने को देख पाता है, उस का दिल सब के लिए खुला रहता है। उस में न दुराव-छिपाव होता है और न शोक-मोह के लिए कोई अवकाश। सारा संसार उस के अंतरंग में समा जाता है।

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥
यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥

पलभर में सब कुछ छोड़कर अप्रत्याशित वनवास के लिए प्रस्थित आत्माराम राम में मुक्तात्मा की यही लोकोत्तर मनोहारिता दिखाई देती है। पिता के मुँह से वनवास की बात अभी तक नहीं निकली है। उनकी विवशता का लाभ उठाकर केवल कर्कशहृदया कैकेयी ने राम से वनवास की बात कही। संकेत मात्र से सत्यपराक्रम राम ने वनवास की दीक्षा स्वीकार कर ली। माता की अनुज्ञा लेने जब वह पिता के यहाँ से जा रहे थे तब पिता बेहोश थे। संज्ञाहीन पिता की परिक्रमा करके वह माता कौसल्या के पास गए थे। पिता की सत्यनिष्ठा और अपने धर्म-सम्मत संकल्प का हवाला देकर उन्होंने किसी तरह अपनी माता की मंगल कामना प्राप्त की। लेकिन वनवास पर जाने के पहले पिता से मिलना, उन को समझाना-बुझाना और उन का आशीर्वाद लेना बहुत ज़रूरी है। इस के अलावा वनवास केवल राम को मिला था जब कि सीता और लक्ष्मण भी उन के साथ चलने को तैयार हो गए। तीनों के लिए महाराज दशरथ की अनुज्ञा और आशीर्वाद आवश्यक है। इसलिए सीता, राम और लक्ष्मण पिता से बिदा लेने कैकेयी के निवास जाते हैं। राजमार्ग पर पैदल चलनेवाले राजकुमारों और राजकुमारी को देखने के लिए वनवास के समाचार से व्याकुल नागरिक सड़क पर, छत पर, खिड़कियों में अट्टालिकाओं पर, जहाँ जगह मिल जाए वहीं जड़ीभूत होकर खड़े हो जाते हैं। उन को विश्वास नहीं होता कि यह सचमुच वही जनकनंदिनी सीता हैं जिन्हें आकाशचारी देवता तक देख नहीं पाते थे। आज वह खुली सड़क पर राम के पीछे पीछे पैदल जा रही हैं। अंगराग, चंदन आदि से अलंकृत उन का यह चेहरा आनेवाले दिनों में धूप, वर्षा और सर्दी का शिकार बन जाएगा। इस बात की कल्पना ही लोगों को आतंकित कर देती है। क्षणिक आवेश में आकर वे दशरथ की निंदा करने लगते हैं, कैकेयी को फटकारने लगते हैं। राम जैसे विनीत, सुशील मेधावी और मुग्ध मनोहर सुकुमार सुंदर राजकुमार को राजा कैसे निर्वासित कर पा रहे हैं, यह बात लाख कोशिश करने पर भी वे लोग समझ नहीं पाते। अंत में वे निर्णय कर लेते हैं कि जो भी हो, हम भी वहीं चलेंगे, जहाँ राम चलेंगे (गच्छंतमनुगच्छामो येन गच्छति राघवः)। उन्हें विश्वास है कि जहाँ राम रहेंगे, वहीं अयोध्या बनी रहेगी। राम रहित अयोध्या दंडक से भी भयंकर श्मशान भूमि बन जाएगी जिस पर कैकेयी और उस के पुत्र का शासन

मानने के लिए केवल सूने घर, चूहे, सूकर-कूकर आदि रह जाएँगे ।

नागरिकों के ये उद्‌गार सुनते सुनते राजमार्ग पर राम आगे बढ़ते हैं, पर उन के चेहरे पर तनिक भी परिवर्तन नहीं दिखाई देता । वही मंदहास, मदमाते हाथी का वही मंद मंद गमन, वही विनम्रता और वही धीरगंभीरता उन को फिर एक बार कैलास के शिखर की तरह दिखाई देनेवाले मातृभवन की ओर ले जाती है । धर्मवत्सल राम द्वार पर पहुँचकर अपने पिता को अपने आगमन की सूचना देने के लिए सुमंत्र को भीतर भेजते हैं । यहाँ पर पिता के निदेश की प्रतीक्षा में बाहर खड़े हुए राम की निर्लिप्त, निरुपमान और निर्विकार मुखमुद्रा तथा भीतर भविष्य के भयंकर संकट की अवश्यंभाविता से भीतर ही भीतर संत्रस्त राजा की दयनीयता का जीता जागता चित्र वाल्मीकि के सशक्त शब्द प्रस्तुत करते हैं । जहाँ वह राम को कमलपत्राक्ष, श्याम, निरुपम और महान् कहते हैं, वहाँ राजा दशरथ को ग्रहण में ग्रस्त सूर्य की तरह, राख से ढकी आग की तरह और बिना पानी के तालाब की तरह निस्तेज, निष्प्रभ और नीरस कहते हैं । फिर भी स्वभाव से आकाश की तरह निर्मल और सागर की तरह गंभीर सत्यनिष्ठ राजा सुमंत्र की बात सुनकर एक विलक्षण आदेश देते हैं जिस से केवल सुमंत्र ही नहीं, बल्कि सूक्ष्म बुद्धिवाले पाठक भी पहले चौंक उठते हैं, पर बाद में राजा दशरथ की हृदयज्ञता की प्रशंसा किए बिना नहीं रह सकते । राजा कहते हैं कि राम को भीतर बुलाने के पहले अंतःपुर की सभी रानियों को उनके सामने उपस्थित किया जाए । वह अपनी सभी स्त्रियों के साथ राम को देखना चाहते हैं । राजा के आदेश का विधिवत् पालन किया जाता है और साढ़े तीन सौ रानियों के आर्तनाद से सारा राजमहल गूँज उठता है । इस शोकाकुल वायुमंडल से साहस बटोर कर राजा दशरथ अपने बेटे राम के पास जल्दी जल्दी चल पड़ते हैं, पर बीच में ही बेहोश हो जाते हैं । दोनों बेटे पिताजी को संभालकर पलंग पर लिटा लेते हैं और सीताजी शीतल उपचार करती हैं । होश संभालते ही राजा दशरथ राम की तरफ देखते हैं तो राम तुरंत सारा वृत्तांत सुनाकर अपने लिए और अपने साथ चलने के लिए प्रस्तुत सीता और लक्ष्मण के लिए वनवास की अनुमति माँगते हैं । लेकिन पुत्रवत्सल राजा अपने प्यारे बेटे राम से कहते हैं – "बेटा, कैकेयी ने मुझे धोखा दे दिया है, उस की बातों में आकर मैंने तुम्हारे साथ बहुत बड़ा अन्याय किया है, मुझे मतिभ्रष्ट समझकर बंदी बना दो और तुम गद्दी पर बैठो । यह अयोध्या तुम्हारी है ।"

अधीर पिता को धीरज दिलाते हुए धीरोदात्त राम कहते हैं – "ऐसा मत कहिए, पिताजी ! हम आप से बिदा लेने आए हैं । हमें आप का आशीर्वाद चाहिए । आप के आशीर्वाद से हम चौदह साल की दीक्षा पूरी करके जल्दी ही आप के चरणों की छाया में आ जाएँगे । हम चाहते हैं कि आप हज़ारों वर्ष जिएँ और आप की देखरेख में भाई भरत इस राज्यभार को संभाल लें ।

दशरथ को राम से यही आशा थी । सत्यनिष्ठ और धर्मात्मा राम को मनवाना बहुत कठिन है । फिर भी ममता के मोह में आकर राजा दशरथ अपनी एक छोटी-सी इच्छा प्रकट करते हैं । वह चाहते हैं कि राम तत्काल न चलकर अगले दिन वन जाने की बात सोचें । एक रात ही सही अपने बेटे को अपनी आँखों के सामने पाकर माँ-बाप को तसल्ली होगी । इस के बाद थोड़ी-सी सांस लेकर राजा अपने दिल की बात सब के सामने कह देते हैं : "बेटा, सच पूछो तो वनवास की मैंने कल्पना तक नहीं की । इस धूर्त कैकेयी ने मुझे धोखा दिया है । पर तुम मेरे बेटे हो, बड़े बेटे हो, इसीलिए मुझे असत्य और अपयश से बचाना चाहते हो । मैं तुम को रोक नहीं सकता, पर आज रात के लिए रोकना चाहता हूँ । आज के लिए रुक जा, कल चला जा ।"

लेकिन राम मन के पक्के हैं । उन का सिद्धांत है कि धर्म के आचरण में विलंब नहीं होना चाहिए । वह बहुत ही मार्मिक शब्दों में कहते हैंः "आज अपने धर्म

के पालन से मुझे जो गुण-लाभ होनेवाला है, वह मुझे कल कोई भी कैसे दे सकता है?" (प्राप्स्यामि यानद्य गुणान् को मे श्वस्तान् प्रदास्यति ।) इस सिद्धांतवाक्य में राम की धर्मपरायणता सहस्र कंठों से मुखरित होती है। धर्म का आचरण तत्काल होना चाहिए। आधुनिक न्यायशास्त्र का भी यही सिद्धांत है कि न्याय में विलंब करना न्याय से वंचित करने के समान है (Justice delayed is justice denied) । यह सिद्धांत रामकथा के प्रस्तुत प्रसंग में और भी सार्थक प्रतीत होता है क्योंकि राम तत्काल वन नहीं जाएं तो कल की स्थिति कुछ और भी हो सकती है। भरत आकर उन को रुकवा सकते हैं, कैकेयी का मन बदल सकता है, अनिष्ट की आशंका से राजा को कुछ अनर्थ हो सकता है, कुछ भी हो सकता है। इसीलिए राम तत्काल वन जाना चाहते हैं। राम ने कैकेयी को यही वचन दिया था। कैकेयी को दशरथ ने जो वचन दिया है, उसे निभाने का दायित्व केवल दशरथ पर हो सकता है, पर कैकेयी को राम ने जो वचन दिया है, उस का पूरा दायित्व राम पर है। इस बात को राम भली-भाँति जानते हैं। इसी को दुहराते हुए वह अपने पिता जी से कहते हैं:

अर्थितो ह्यस्मि कैकेय्या वनं गच्छेति राघव।
मया चोक्तं व्रजामीति तत्सत्यमनुपालये ॥

(माँ कैकेयी ने मुझ से वनवास जाने का वचन माँगा और मैंने वचन देते हुए कहा कि मैं अवश्य जाऊँगा। इसलिए इसका पालन करना मेरे लिए सत्य के अनुपालन के समान है।)

इस से स्पष्ट होता है कि अब चाहे राजा दशरथ अपना विचार बदल भी लें, फिर भी राम अपने सत्य-वचन से वापस नहीं जा सकते। इसलिए वन जाना अवश्यंभावी है। अपने पिता को आश्वस्त करते हुए वह कहते हैं - "हमारे वनवास की चिंता आप बिल्कुल न करें। वन में सुंदर जानवर होते हैं, मनोहर दृश्य देखने के लिए मिलते हैं। हम आराम से चौदह साल वन में रहकर घर लौट आएँगे। आप अपने को संभाल लीजिए। यहाँ सभी लोग दुःखी हैं, उन के आँसू पोंछना आप का काम है। मैं अपनी इच्छा से यह सारा राज्य भाई भरत को दे रहा हूँ। इसीलिए धर्म का भी कोई लोप नहीं है। आप के निदेश से मैं वनवास की दीक्षा स्वीकार कर रहा हूँ, इस से सत्य का भी पालन होता है। आप को असत्य से बचाने के लिए मैं राज्य को ही नहीं बल्कि सीता को भी छोड़ सकता हूँ। इसलिए हमें आज्ञा दीजिए, आशीर्वाद दीजिए।"

राम की ये बातें सुनकर सब लोग रो पड़ते हैं, पर कैकेयी की आँखों से आँसू की एक बूँद भी नहीं गिरती। अंतःपुर की सभी रानियों को बुलाने में राजा का आशय यही था कि इस से कैकेयी का दिल पिघल सकता है या राम का मन बदल सकता है। पर दोनों में से एक भी नहीं हुआ। इस के विपरीत कैकेयी पहले से अधिक कठोर बन जाती है और राम का इरादा और पक्का बन जाता है। पर कैकेयी के कठोर हृदय को देखकर राजपरिवार के सदस्यों से रहा नहीं जाता। सब से कोमल हृदय सुमंत्र रो रोकर बेहोश हो जाते हैं। होश आने पर वह क्रोध के आवेश में आपे से बाहर हो जाते हैं। उन की आँखें लाल हो जाती हैं। हाथ से हाथ मलकर दांत कटकटाकर राजा के सामने रानी को फटकारते हुए सुमंत्र कहते हैं, "पापिन, तुम राजा दशरथ के योग्य पत्नी नहीं हो। राजा को और राजवंश को तुम अपनी क्षुद्र कामना से कलंकित कर रही हो। बड़े भाई के होते हुए छोटे भाई का राजगद्दी पर बैठना इस कुल की मर्यादा के विरुद्ध है, यह छोटी-सी बात तुम्हारी समझ में क्यों नहीं आ रही है, यह देखकर हम सब को आश्चर्य हो रहा है। तुम अपने बेटे के साथ यहाँ बैठकर राज्य करना चाहती हो तो करो, पर हम सब राम के साथ वन चलेंगे। अयोध्या में कोई नहीं रहेगा। अभी समय रहते कुछ सोच लो और अपना विचार बदल लो। नहीं तो तुम्हारे ऊपर यह कलंक हमेशा के लिए रहेगा।"

सुमंत्र के सुभाषित का कैकेयी पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। पाप-कूप में फँसी कैकेयी के चेहरे पर विवेक, ममता, मृदुता आदि का कोई लक्षण दिखाई

नहीं देता । अब दशरथ से रहा नहीं जाता । सुमंत्र की बात का समर्थन करते हुए राजा दशरथ कहते हैं – "राम वन जाएगा तो अकेला नहीं जाएगा । सारी सेना उस के साथ जाएगी । सारा राजपरिवार, राजभोग, राज-वाहन साथ चलेंगे । आराम से वनवास का समय बिताकर मेरे दोनों बेटे सीता समेत हँसी खुशी अयोध्या वापस आएँगे ।"

दशरथ की इस नई चाल को कैकेयी तत्काल ताड़ लेती है । वह घबराहट के साथ राजा से कहती है – "यह आप क्या कर रहे हैं? जब सारी सेना और संपत्ति राम के साथ चली जाएगी तो अकेला भरत यहाँ बैठकर क्या करेगा? ऐसा नहीं हो सकता ।" निर्लज्ज कैकेयी को मुँह तोड़ जवाब देते हुए दशरथ तत्काल कहते हैं, "क्यों नहीं हो सकता? इससे तुम्हारा क्या बिगड़ता है? अगर राम को वन में आराम मिला तो भरत पर या तुम पर क्या भार पड़ता है?"

कैकेयी के पास इस का कोई जवाब नहीं है इसलिए वह अपनी बात घुमा फिराकर यह सिद्ध करना चाहती है कि पुत्र को निर्वासित करना रघुवंश में कोई नई बात नहीं है क्योंकि पहले सगर नाम के राजा ने अपने पुत्र असमंज को इसी प्रकार नगर से निर्वासित किया था । यह आक्षेप कैकेयी जान बूझकर करती है क्योंकि सुमंत्र ने अपने क्रोधावेश में अभी अभी कहा है कि कैकेयी की यह कठोरता और पतिनिरपेक्षता उस की माता से उसे विरासत में मिली है । इस के समर्थन में सुमंत्र एक घटना का उदाहरण देते हैं जब कैकेयी की मां अपने पति को आधी रात के समय अचानक हँसते हुए देखकर उस का कारण पूछती हैं । कैकेयी के पिता ने किसी सिद्ध से पक्षियों की भाषा सीखी थी । आधी रात के समय किसी पक्षी की बोली सुनकर वह ठहाका मारकर हँसते हैं । कैकेयी की माँ को इस पर शक होता है और वह इसका कारण जानना चाहती है । पर कारण बताने से कैकेयी के पिता की मृत्यु हो जाएगी । फिर भी वह ज़िद करती है और पिता लाचार हो जाते हैं । सुमंत्र के मुँह से यह पुरानी घटना सुनकर उसी के जवाब में कैकेयी सगर के पुत्र असमंज का हवाला देती है । इस पर वहाँ बैठे एक वृद्ध मंत्री सिद्धार्थ कहते हैं कि कहाँ शहर के मासूम बच्चों को उठा-उठाकर केवल अपने मनोरंजन के लिए सागर में फेंकने वाला असमंज और कहाँ अपने आदर्श व्यवहार से जन मन को जीतने वाला लोकाभिराम राम ।

इस पर वाद-विवाद और व्यर्थ के प्रलाप से दुःखी राजा का मन और दुःखता है । अब वह समझते हैं कि कैकेयी को समझाना बेकार है । वह हताश होकर अपनी पापिन पत्नी को फटकारते हुए अपना अंतिम निर्णय सुनाते हैं – "आज मैं राम के साथ जा रहा हूँ । मुझे तुम्हारा राज्य नहीं चाहिए, धन नहीं चाहिए और सुख नहीं चाहिए । यह सब तुम अपने भरत के साथ भोगो ।"

इस पर पुनीत विचार वाले राम विनीत स्वर में अपने पिताजी से कहते हैं कि जब मैंने अपना सर्वस्व सब को दे दिया और सारा राज्य अपनी इच्छा से भरत को दे दिया तब राजभोग की साजसज्जा को लेकर मैं क्या करूँगा । जब हाथी ही बेच दिया तो कक्षा में बैठकर क्या लेना है । मुझे तो वल्कल पहनकर अब वनवास की तैयारी करनी है ।" राम के मुँह से वल्कल की बात (चीराण्येवानयंतु मे) निकलती ही नहीं कि कैकेयी स्वयं भीतर जाकर वल्कल वस्त्र ले आती है और राम से कहती हैं, "लो, पहन लो ।" ऐसा लगता है कि यह सारी तैयारी कैकेयी ने इस बीच में कर ही ली । राम वल्कल खोलकर देखते हैं तो पाते हैं कि उस में वस्त्रों की तीन जोड़ियाँ हैं, एक नहीं । राम तत्काल एक जोड़ी पहन लेते हैं और दूसरी जोड़ी लक्ष्मण को देते हैं । तीसरी जोड़ी लेकर जब वह सीता की तरफ बढ़ते हैं तो सब की आँखों में आँसू आते हैं और बिचारी जानकी घबराहट के कारण काँप उठती हैं । वह स्वंय वल्कल पहन नहीं पाती हैं तो राम उन को पहनाने की चेष्टा करते हैं । अंतःपुर की स्त्रियाँ इस दृश्य को देख नहीं पातीं और राम से कहती हैं कि बेटी जानकी यहीं रहेगी, यह वनवास नहीं जाएँगी ।

इस पर ब्रह्मनिष्ठ वसिष्ठ का मन भी विचलित हो उठता है । उन से रहा नहीं जाता । कैकेयी की

पाषण-कठोरता को धिक्कारते हुए वह कहते हैं :

अतिप्रवृत्ते दुर्मेधे कैकेयि कुलपांसनि।
वंचयित्वा तु राजानं न प्रमाणेवतिष्ठसि॥

(अरी पापिन कैकेयी, यह नहीं हो सकता, तुम अपनी मर्यादा को पार कर रही हो, तुम कुल को कलंकित कर रही हो, सत्यसंध राजा को उन्हीं के सत्य का सहारा लेकर तुम धोखा दे रही हो । यह तुम्हारे लिए शोभा नहीं देता ।)

कुलगुरु वसिष्ठ के ये वचन अभिशाप बनकर कैकेयी को भस्मसात् कर देते । पर ऐसा नहीं हुआ क्योंकि राजा की सत्यनिष्ठा और राम की धर्मपरायणता दुष्ट कैकेयी की भी रक्षा कर रही हैं । कैकेयी को सभी मर्यादाओं को पार करते हुए देखकर वसिष्ठ बीच में दखल देते हैं । सुमंत्र और दशरथ की तरह वह भी कहते हैं कि राम अकेला वन नहीं जाएगा, सारी अयोध्या उस के साथ जाएगी, केवल लोग-बाग ही नहीं, बल्कि पेड़-पौधे और पशु-पक्षी भी राम के साथ चल पड़ेंगे । सूत्रशैली में सूक्तिकार वसिष्ठ कहते हैं कि जहाँ राम हैं, वहीं राष्ट्र है, चाहे वह वन हो या भवन हो । एक कदम आगे बढ़कर वसिष्ठ कहते हैं कि यदि राम को वन जाना ही है तो वनवास के समय राम की प्रतिनिधि बनकर सीता अयोध्या में राजकाज संभालेगी । अगर राम के साथ वह भी जाना चाहती हैं तो वह योग्य परिधान के साथ राम को आराम पहुँचाने का प्रयास करेगी ।"

राजगुरु की बातें सुनकर सब लोग राजा की तरफ देखते हैं । राजा का मन और उदास बन जाता है । कैकेयी पर आक्रोश बढ़ता जाता है, पर लाचार होकर वह अपने को धिक्कारने लगते हैं । जीवन के प्रति उन के मन में कोई लगाव नहीं रहता । वह मन ही मन सोचते हैं कि क्या यह जीना भी कोई जीना है । फिर एक बार अपनी पापिन पत्नी को फटकारते हुए कहते हैं – "सुना पापिन, गुरु जी ने क्या कहा है? उन्होंने ठीक ही कहा है कि तुम्हारी वर याचना में सीता का कोई उल्लेख नहीं है । वह अपनी इच्छा से अपने पति के साथ जा रही है । इसलिए वह समस्त राज-सम्मान के साथ जाएगी । मेरी प्रतिज्ञा से तुम मुझे ही मार रही हो, यह विडंबना है ।"

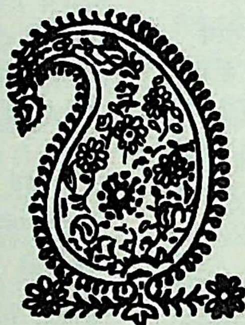
इन बातों से कैकेयी का मन व्याकुल न हो, इसलिए राम बात बदलकर अपने पिता का ध्यान माँ कौसल्या की ओर आकृष्ट करते हुए कहते हैं—"पिताजी, मेरी माताजी की ओर आप विशेष ध्यान दें । इस बुढ़ापे में उन को इतना दुःख सहना पड़ रहा है । आप का ही सहारा इन को चौदह साल तक संभाल कर रख सकता है ।" मातृनंदन राम की ये मार्मिक बातें सुनकर रामधारी दशरथ तत्काल बेहोश हो जाते हैं । राम के वियोग में कौसल्या जिए तो जी सकती है, पर दशरथ के जीवित रहने में संदेह है, इसी बात का आभास इस घटना से होता है । काफी देर बाद होश में आकर वह सोचने लगते हैं कि न मालूम मैंने पिछले जन्म में किस को उस के बेटे से अलग कर दिया है । पर मानव जीवन में प्राणों का आना जाना भी प्राणी की इच्छा पर निर्भर नहीं है । अपने सुकुमार पुत्र को अपनी आँखों के सामने तापस वेष में देखकर भी मैं जीवित हूँ, इस पर मुझे आश्चर्य होता है ।

अब कौसल्या और सीता की बिदाई का मार्मिक दृश्य सामने आता है । दशरथ खजांची को बुलाकर सीता को अच्छे-अच्छे कपड़े और गहने दिलाते हैं । वनवास की अवधि को देखते हुए सीता को पर्याप्त मात्रा में वस्त्र और आभूषण दिए जाते हैं । इस भव्य वेषभूषा में सीताजी साक्षात् लक्ष्मी की तरह राजभवन को सुशोभित करती हैं । कौसल्या अपनी बहू को दोनों बाँहों में कसकर बाँध लेती हैं और पतिव्रता के आदर्श समझाने का प्रयास करती हैं । सीताजी बड़ी विनम्रता से सब कुछ सुनकर कहती हैं कि जैसे तार के बिना वीणा नहीं बजती, पहिये के बिना रथ नहीं चलता, चाँदनी के बिना चाँद नहीं चमकता, वैसे ही पति के बिना पत्नी का कोई अस्तित्व नहीं है । माँ-बाप, भाई-बहन की बात अलग है और पति की बात ही कुछ और है । दूसरों से जो सुख मिलता है, वह सीमित होता है, पर पति से मिलनेवाला सुख असीम, अपार

और अनिर्वचनीय होता है । सीता की बातें सुनकर कौसल्या की आँखों में आँसू छलक उठते हैं ।

बिदाई के इन क्षणों में सारा वायुमंडल दुःख से पसीज उठता है । राम कभी अपने पिताजी से कहते हैं कि माताजी का ख्याल रखना तो कभी अपनी माता जी से कहते हैं कि पिताजी का ख्याल रखना । माताजी से विशेष रूप से कहते हैं कि चौदह साल का समय पल भर में निकल जाएगा, ऐसा लगेगा कि सोकर उठे हैं । अंतःपुर की सभी रानियों से भी राम क्षमा याचना करते हुए बिदा लेते हैं । सीता, राम और लक्ष्मण बारी बारी से राजा को और माताओं को नमस्कार करते हैं । जब लक्ष्मण अपनी तपस्विनी माता सुमित्रा के चरण छूकर बिदा माँगते हैं तो सुमित्रा अत्यंत सहज भाव से कहती हैं कि जब विधाता ने तुम को वनवास के लिए बनाया है, तो तुम अपना नियत कर्तव्य निभाओ और अपने भाई की सेवा शुश्रूषा करो । इस अवसर पर सुमित्रा के मुँह से एक विशिष्ट संदेश-वाक्य निकलता है जो शब्द की सीमा को पारकर मंत्र की मननीय महिमा को प्राप्त करता है । सीधे सादे शब्दों में वह केवल यही कहती हैं कि बेटा लक्ष्मण, तुम राम को दशरथ समझो, जनक-नंदिनी सीता को माँ समझो, दंडक वन को अयोध्या समझो, इस भावना के साथ तुम जहाँ कहीं भी जाओ तुम को सुख ही सुख मिलेगा । इसी विचार को सुमित्रा के श्रीमुख ने कितनी प्रशस्त पद-विधि प्रदान की है, यह मधुमय शैली के मार्गदर्शी महर्षि वाल्मीकि के मधुर कंठ से ही सुनना हैः

रामं दशरथं विद्धि मां विद्धि जनकात्मजाम्।
अयोध्यामटवीं विद्धि गच्छ तात यथासुखम्।।



19. साथ चली शोकाकुल नगरी

सीता, राम और लक्ष्मण के प्रस्थान का समय जैसे जैसे निकट आता जाता है, सारी अयोध्या चिंता से जड़ीभूत हो जाती है । राम-रहित अयोध्या की कल्पना मात्र से संत्रस्त सारी नगरी राम के साथ वन जाने के लिए अपने तन-मन को तैयार कर लेती है । ब्रह्मनिष्ठ वसिष्ठ से लेकर साधारण नागरिक तक सब के सब यह निश्चय कर लेते हैं कि जहाँ राम हैं, वही अयोध्या है । राम-जीवी समाज के लिए राम के बिना राजभवन भी दंडक वन की तरह निर्जन, नीरव और निरानंद प्रतीत होता है । प्रजा की नाड़ी पहचानकर मन, वाणी और कर्म से जनहित की साधना में दत्तचित्त दशरथ सत्य और धर्म के बीच समीकरण लाने की लाख कोशिश करते हैं, पर न हठी रूठी रानी को मनवा पाते हैं और न सत्यसंकल्प राम को समझा पाते हैं । कर्कश हृदया कैकेयी को निष्ठुरता की निद्रा से जगाने के लिए मितभाषी वसिष्ठ और हितभाषी सुमंत्र साम-दान की सीमा को भी पार कर भेद-दंड का सहारा लेकर सात्विक आक्रोश और रोष भी प्रकट करते हैं । परंतु इन सब प्रयासों के बावजूद न राम का मन बदलता है और न कैकेयी का दिल पिघलता है । समस्त शोकाकुल नगरी में केवल दो ही व्यक्ति अपनी बात पर अटल रहते हैं – सत्यपरायण राम और धर्मपराङ्मुख कैकेयी । दोनों अपनी अविचल निष्ठा से सारे शहर को शोकाकुल बना देते हैं ।

गोस्वामी तुलसीदास ने ठीक ही कहा था कि सज्जन (संत) और असज्जन दोनों दुःख देनेवाले होते हैं । अंतर केवल इतना ही है कि एक जाते समय दुःख देते हैं और दूसरे आते समय । (बिछुरत एक प्राण हर लेहीं, मिलत एक दुःख दारुन देहीं) । मानसकार की यह मार्मिक उक्ति प्रस्तुत प्रसंग में राम और कैकेयी के संदर्भ में पूर्ण रूप से चरितार्थ होती है । कैकेयी से राजा के मिलने मात्र से दारुण दुःख की परंपरा प्रारंभ हो जाती है और राम-वियोग अतंतः राजा के लिए प्राणहारी सिद्ध होता है । वैसे देखा जाए तो राजा दशरथ का उस दिन रात को कैकेयी से मिलने जाना बिल्कुल यादृच्छिक घटना थी जो कि बाद के परिणाम को देखते हुए केवल दुर्दैव के द्वारा दुर्नियोजित-सी लगती है । राजसभा में राम के राजतिलक का जब निर्णय हो चुका था तब राजा को यह शुभ समाचार सुनाने के लिए राममाता कौसल्या के पास जाना चाहिए था, पर वह गए कैकेयी के पास और वह भी मंथरा की कुमंत्रणा के बाद । जीवन में कभी-कभी कुछ ऐसी घटनाएँ होती हैं जो देखने में बहुत साधारण, प्रासंगिक और यादृच्छिक लगती हैं, पर बाद में उन का बहुत ही दूरगामी परिणाम होता है – कभी सुखद और कभी दुःखद । रामायण में ऐसी अनेक घटनाएँ मिलती हैं जो जैसी घटी हैं, वैसी नहीं घटतीं तो कहानी कुछ और दिशा में आगे बढ़ती । राजा दशरथ का कैकेयी के क्रोधागार में प्रवेश इस प्रकार की घटनाओं में शायद सब से महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसी में राम की करुण कथा का बीज बोया गया है और साथ ही सत्यपराक्रम राम के कार्यसाधक अयन का भी अभीष्ट आरंभ पाया जाता है । भवितव्य की इस अवश्यंभाविता को राम

जैसे भावितात्मा सहज रूप से स्वीकार कर लेते हैं, पर दशरथ का वात्सल्य इस विषमता से समझौता नहीं कर पाता।

अनुनय-विनय के सभी प्रयास जब असफल हो जाते हैं तब राजा दशरथ समझ तो जाते हैं कि अब धर्मिष्ठ राम को सत्यनिष्ठा से विचलित करना न तो संभव है और न समीचीन। फिर भी वनवास की कठोरता को कम करने के लिए वह राम के साथ सारथी सुमंत्र को रथ के साथ भेजना चाहते हैं। लेकिन उन को मालूम है कि राम इस प्रस्ताव को भी आसानी से स्वीकार नहीं करेंगे। इसीलिए वह राम की तरफ देखते हुए सुमंत्र को यह आदेश देते हैं कि राम के योग्य सुंदर और सुसज्जित रथ तैयार कर उन को शहर से बाहर पहुँचाया जाए। इस आदेश का प्रत्येक अक्षर मननीय हैः

औपवाह्यं रथं युक्त्वा त्वमायाहि हयोत्तमैः।
प्रापयैनं महाभागमितो जनपदात् परम्॥

जनपद से बाहर पहुँचाने की बात सब से अधिक मार्मिक है। वनवास के लिए पिता की आज्ञा, अनुज्ञा और आशीर्वाद लेने राम सीता और लक्ष्मण के साथ आए हुए हैं। लेकिन राम के वनवास की बात सोचते ही पिता बेहोश हो जाते हैं। उन के मुँह से कोई बात निकल नहीं पाती। माँ कौसल्या ने किसी तरह दिल को पत्थर बनाकर बेटे की भलाई के लिए समस्त देवी-देवताओं की मंगल कामना माँगी है। पर दशरथ के मुँह से अपने बेटे की तरफ देखकर उन को संबोधित करते हुए राम शब्द निकलते ही वह अवाक् और अचेतन बन जाते हैं। "रामेति सकृदेवोक्त्वा व्याहर्तुं न शशाक सः" – ऐसी स्थिति में उन के मुँह से आज्ञा या आशीर्वाद के शब्द कैसे निकल सकते हैं? पर इस औपचारिकता के बिना राम वनवास कैसे जाएँ? इसी मानस-मंथन का समाधान ऊपर के आदेश-वाक्य में मिलता है। फिर भी मृदुल हृदय दशरथ सुमंत्र से राम को वन में छोड़ने की बात नहीं कहते, केवल जनपद से बाहर पहुँचाने की बात कहते हैं। उस के बाद सुमंत्र को वनवास की अवधि में राम के साथ ही रहना है या औपचारिकता की पूर्ति के बाद राम को समझा बुझाकर फिर अयोध्या वापस ले आना है, ये सब बातें वह सुमंत्र की बुद्धिमत्ता पर छोड़ देते हैं। यह सारा आशय 'औपवाह्य' शब्द में है। राम को जहां ले जाना उपयुक्त है, वहाँ पर ले जानेवाला (उपवहन योग्य परिवहन) रथ लाने की बात दशरथ के दिल की गहराई से निकलती है।

राजा के आदेश का पालन शीघ्रगामी सुमंत्र तत्काल बड़ी तत्परता के साथ करते हैं ताकि राम कहीं इस प्रस्ताव को भी अस्वीकार न कर दें। यह आशंका निराधार भी नहीं है क्योंकि इस से कुछ ही क्षण पहले राजा ने यह प्रस्ताव रखा था कि वनवास को सुखमय बनाने के लिए राम के साथ समस्त राजपरिवार धन-धान्य, वस्त्र-आभरण और अस्त्र-शस्त्र के साथ चलेगा। पर राम ने बड़ी विनम्रता के साथ इसको अनुचित बताया था। इसीलिए अब की बार राजा ने राम से कुछ नहीं कहा, केवल सुमंत्र को संक्षिप्त और संतुलित आदेश दिया। राम ने भी इस प्रस्ताव का विरोध नहीं किया क्योंकि वह जानते थे कि उन के साथ वन चलने के लिए पक्का इरादा लेकर बाहर एकत्रित जन राशि को देखते हुए पैदल चलकर शहर से बाहर पहुँचना असंभव है। इसलिए उन का विचार था कि थोड़ी दूर तक रथ पर यात्रा करने में सब को सुविधा होगी। इस के अलावा पिताजी के मुँह से 'जनपद से बाहर' ही सही बाहर जाने की अनुज्ञा इसी आदेश के माध्यम से मिली है। इसीलिए इस प्रस्ताव के लिए राम की मौन स्वीकृति मिल गई है।

विनीत और विनयज्ञ राज-सारथी सुमंत्र वनवास के लिए विशेष रूप से आयुक्त रथ लेकर राम की सेवा में उपस्थित हो जाते हैं। वह इस अवसर की प्रतीक्षा में हैं कि कब राम से यह निवेदन किया जाए कि अब वह रथ पर बैठने की कृपा करें। राजा की इच्छा के अनुसार बहूरानी को बहुमूल्य वस्त्रों और आभरणों की भेंट की जाती है और वह सुजाता समलंकृत वेषभूषा से अपने गुरुजनों से बिदा लेती हैं और कौसल्या के बिदाई-संदेश और उपदेश को भी बड़ी विनम्रता से

सुनकर उन की आज्ञा को उन के पद-रज के साथ सिर आँखों पर धारण कर लेती हैं । भाई लक्ष्मण को माँ सुमित्रा का आशीर्वाद भी प्राप्त होता है । राजा दशरथ का आशीर्वाद भी एक प्रकार से सीता, राम और लक्ष्मण के साथ है क्योंकि यह रथ उन्हीं के आदेश से प्रस्तुत किया गया है । अब विलंब का कोई कारण न देखकर सुमंत्र सुअवसर का सदुपयोग करते हुए सुमंत्रित वाणी में राम से निवेदन करते हैं :

रथमारोह भद्रं ते राजपुत्र महायश।
क्षिप्रं त्वां प्रापयिष्यामि यत्र मां राम वक्ष्यसे॥

(राम, आप का मार्ग मंगलमय हो । आप राजकुमार के योग्य महान् यश को प्राप्त करें । आप रथ पर विराजमान हो जाइए । आप जहाँ जाना चाहें, वहाँ मैं अभी पहुँचाता हूँ ।)

राजा का आदेश था कि राजकुमार को जनपद से बाहर पहुँचाया जाए । सुमंत्र को मालूम था कि राम को चौदह वर्ष तक जनपद से बाहर वनवास करना है । इन दोनों बातों को मिलाकर सुमंत्र बड़ी सूक्ष्म बुद्धि से कहते हैं कि आप जहाँ जाना चाहें वहाँ मैं सत्वर पहुँचा दूँगा । यह 'जहाँ' क्या है और उसका 'कहाँ' तक विस्तार है, इस की ओर भी मार्मिक संकेत करते हुए सुमंत्र अगले ही श्लोक में कहते हैं:

चतुर्दश हि वर्षाणि वस्तव्यानि वने त्वया।
तान्युपक्रमितव्यानि यानि देव्या प्रचोदितः॥

(चौदह वर्ष जो आप को वन में बिताने हैं, उन का आज अभी उपक्रम हो जाए ताकि देवी की मनोभावना सक्रिय रूप धारण कर सके ।)

इस बात से सुमंत्र का आशय बिलकुल स्पष्ट हो जाता है । वह राम को केवल शहर से बाहर छोड़कर वापस नहीं आना चाहते है, बल्कि वनवास के चौदह वर्ष वह राम-सारथी बनकर राम के साहचर्य और सान्निध्य से लाभान्वित होना चाहते हैं और साथ ही राम की सुरक्षा से राजा को आश्वस्त करना चाहते हैं । यह बात वह जान-बूझकर रथ यात्रा से पहले दशरथ के सामने धर्म-रथ पर आरूढ होनेवाले सत्यपराक्रम राम से कहते हैं । इसी में सुमंत्र की मंत्रज्ञता है । इस के अलावा "देव्या प्रचोदितः" कहकर सुमंत्र राम के अयन (मार्ग) की मांत्रिक महिमा की ओर भी मार्मिक संकेत करते हैं । "धियो यो नः प्रचोदयात्" वाली मंत्रपूरित मंगल कामना सुमंत्र की इस स्वर लहरी में अनायास मुखरित हो जाती है । सत्यधर्मपरायण राजपरिवार के पद से साधारण, पर प्रतिष्ठा से असाधारण सारथी की वाणी में भी इतनी सार्थक सारगर्भिता है तो उस परिवार के प्रशस्त पारिजात के रूप में प्रादुर्भूत राम का अयन अग जग को आलोकित करनेवाला सिद्ध हो तो इस में कोई आश्चर्य नहीं है ।

पर सभी लोग सुमंत्र नहीं बन सकते । राम-विरह से व्याकुल नागरिक राजभवन से बाहर कड़ी धूप में खड़े होकर बाहर से और भीतर से तड़प रहे हैं । कुछ लोग बेहोश हो रहे हैं, कुछ लोग चिल्ला रहे हैं और कुछ लोग राम को देखने के लिए अपलक आँखों से प्रतीक्षा कर रहे हैं । राजभवन से रथ के चल पड़ने की आवाज़ सुनकर लोग और भी अधिक व्याकुल हो जाते हैं । सुमंत्र के अनुरोध पर पहले बहूरानी सीता रथ पर बैठती हैं । उस के बाद वरणीय आयुध लेकर दोनों भाई रथ पर बैठ जाते हैं । वनवास के लिए ससुर द्वारा विशेष रूप से चुन चुनकर दिए गए गहनों से सजी हुई सीता माता साक्षात् मंगल देवता लक्ष्मी की तरह रथ के मध्य भाग को मंडप बनाकर बैठी हुई दिखाई देती है । सीता, राम और लक्ष्मण को प्रसन्न मुखमुद्रा में रथ पर आरूढ देखकर सब लोग दर्शन की प्यासी आँखों से तड़प-तड़प कर उन की तरफ देखते हैं, जैसे कोई धूप से तप तप कर तालाब के पास भागा भागा पहुँच जाता है । सब की आँखें राम पर टिकी हुई हैं । सब लोग सुमंत्र से अनुरोध करते हैं कि भैया, धीरे धीरे चलो ताकि हम अपने राम को जी भर कर देख लें । बच्चे-बूढ़े, स्त्री-पुरुष सब के सब राज मार्ग में आगे पीछे, दायें-बायें, ऊपर नीचे जहाँ जगह मिले वहीं खड़े होकर लोकाभिराम राम की आलोक मधुर शोभा देख देखकर लंबी सांस खींच लेते हैं । अनेक नागरिक

कैकेयी की भर्त्सना करते हैं, कुछ लोग राजा की भी आलोचना करते हैं, कुछ लोग कौसल्या के धीरज पर आश्चर्य प्रकट करते हैं, कुछ लोग सीता की सहधर्मचारिता की मुक्त कंठ से सराहना करते हैं तो बहुत लोग भाई लक्ष्मण की भ्रातृभक्ति की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं । सब की आँखों से अविरल अश्रुधारा बहती है । इस से अयोध्या के वायुमंडल में इतनी आर्द्रता छा जाती है कि रथ की गति से उठनेवाली धूल बहुत ऊपर उठ नहीं पाती । बाहर का कोलाहल सुनकर अंतःपुर की सभी रानियों के साथ राजा दशरथ भी राजभवन से बाहर आते हैं ।

माता-पिता को राजभवन से बाहर निकलते हुए देखकर रथ पर बैठे हुए राम सारथी सुमंत्र से कहते हैं कि जल्दी चलो । माँ-बाप का विषण्ण मुखमंडल राम से देखा नहीं जाता । राजा दशरथ और पटरानी कौसल्या को इस म्लान मलिन मुख-मुद्रा में देखकर अयोध्या के नागरिकों का मन शोकाकुल बन जाता है । समस्त जन समुदाय में भीषण हाहाकार मच जाता है । माँ कौसल्या बँधे हुए बछड़े की ओर दौड़नेवाली गाय की तरह राम के पीछे पीछे दौड़ने लगती है – कभी बायीं तरफ और कभी दायीं तरफ । वह कभी अपने बेटे राम को पुकारती है, कभी बेटी सीता को और कभी भ्रातृवत्सल लक्ष्मण को । विक्षिप्त विषाद की विह्वल अंगभंगिमा में नाचती-सी नज़र आनेवाली माता को राजमार्ग पर पैदल चलते हुए देखकर राम सुमंत्र को बार-बार जल्दी चलने के लिए कहते हैं । पर राजा दशरथ अपलक नेत्रों से राम को और केवल राम को देखते हुए सुमंत्र को धीरे-धीरे चलने के लिए कहते हैं । सुमंत्र की समझ में नहीं आता कि इधर राम की बात मान लें या उधर राजा की बात सुन लें । माता-पिता की दयनीय दशा को देखकर राम सुमंत्र से कहते हैं कि जल्दी चलो और बाद में पिता जी से कहो कि उन की आवाज़ तुम्हारे कानों तक नहीं पहुँची । राजा के साथ चलनेवाले नागरिक राजा से कहते हैं कि जिन के जल्दी लौट आने की आशा की जाती है, उन को छोड़ने के लिए उन के पीछे बहुत दूर नहीं जाना चाहिए । इस पर राम के हितचिंतक राजा वहीं रुक जाते हैं, पर उन की आँखें राम से हट कर तनिक भी इधर उधर नहीं जाती हैं । जब तक राम का मुख-मंडल आँखों से ओझल नहीं होता है तब तक वह अपने प्रियनंदन को ही तड़प-तड़प कर देखते रहते हैं । उन का शरीर पसीना पसीना हो जाता है, चेहरे पर उदासी छा जाती है, फिर भी वह पैरों के बल ऊँचे उठ उठकर राम को निहारते रहते हैं । जब उन को राम के रथ की धूल भी नहीं दिखाई देती है, तब वह एकदम बेहोश होकर धरती पर गिर पड़ते हैं ।

पर राम की रथयात्रा आगे बढ़ती है । कुछ लोग तन-मन से राम के साथ आगे बढ़ते हैं और कुछ लोग तन से विवश होकर मन से आगे बढ़ते हैं । जिन का शरीर पीछे अयोध्या में रह जाता है, उन के लिए सारा शहर सूना सूना-सा लगता है, घर श्मशान-सा लगता है । उस दिन रात को किसी के भी घर आग नहीं जलती, खाना नहीं बनता, आपस में बात नहीं होती । गायें अपने बछड़ों को दूध पिलाते-पिलाते अचानक रुक जाती हैं । पहली संतान पाकर भी माताएं खुश नहीं होतीं । राम की चिंता सब को सताने लगती है । आधी रात बीतने पर भी किसी को नींद नहीं आती । लगता है, सारी चेतना राम के साथ चली गई है ।

अंतरिक्ष भी कम उदास नहीं है । राम के रथ के पीछे पीछे सूर्य का रथ भी पश्चिमी तट को पारकर चला जाता है । सारे ग्रह चंद्रमा के पास आकर शीतलता और शांति पाने का प्रयास करते हैं । तारे चमकते नहीं । आकाश में काले काले बादल छाकर अपनी उदासी की कहानी सुनाते हैं । सारी दिशाएँ दिशामूढ बन जाती हैं । नीचे का सागर ऊपर के आसमान को अपनी करुण कथा सुनाता-सा नज़र आता है । इस भीषण परिस्थिति को देखकर पृथ्वी काँप उठती है । कण-कण में उदासी छा जाती है ।

फिर भी राम का रथ आगे बढ़ता ही जाता है । पूर्ण चंद्र के समान प्रियदर्शी राम के पीछे पीछे अनेक दर्शन-लोभी नागरिक चलने लगते हैं तो उनके प्रेम से

प्रभावित होकर रामचंद्र बार बार उन को वापस जाने को कहते हैं । पर वे राम के साथ वनवास करने के लिए कृत संकल्प हैं । उन की निष्ठा की प्रशंसा करते हुए राम उन को सलाह देते हैं कि अब इसी निष्ठा और प्रेम के भरत अधिकारी हैं । भाई भरत की भव्य गुणसंपदा की ज्यों-ज्यों राम प्रशंसा करने लगते हैं त्यों त्यों लोगों के मन में राम के प्रति पूज्य भावना और अधिक बढ़ जाती है । रामचंद्र के उपदेश-वाक्य जनता को उन की ओर और अधिक आकृष्ट करते हैं । ऐसे मृदुभाषी, हितभाषी और स्मितभाषी राजकुमार को छोड़कर अयोध्या वापस जाने को उनका मन राज़ी नहीं होता । सब लोग राम के रथ का अनुसरण करते हुए चलते हैं ।

इतने में अचानक पीछे से ब्रह्मघोष सुनाई देता है । अवस्था, ज्ञान और तेजस्विता - तीनों में वृद्ध और प्रबुद्ध ब्राह्मण रथ को आगे ले चलनेवाले घोड़ों से कहते हैं कि वे अपने स्वामी का अपवहन न करें, बल्कि अयोध्या की तरफ वापस ले जाने में ही राम का उपवहन है । जब घोड़े वेदवेत्ता ब्राह्मणों की बात नहीं सुनते हैं तब वे उन के लंबे-लंबे कानों की भर्त्सना करते हैं जो साधारण सी बात भी सुन नहीं पाते । पर ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मणों की पुकार 'अश्व-तर' राम के कानों में पहुँच जाती है । श्वेतच्छत्र की छाया में पैदल चलनेवाले वाजपेयी ब्राह्मणों की आवाज़ सुनकर राम तत्काल रथ से उतरते हैं । जो राम माँ-बाप की विह्वलता से भी विचलित नहीं हुए उन को ब्रह्मनिष्ठ ज्ञानियों का आर्तनाद तत्काल रुकवा देता है । यही नहीं, चारित्र वत्सल राम ब्राह्मण्य के साथ-साथ धीरे धीरे पग भरते जाते हैं क्योंकि वह स्वयं ब्रह्मण्य हैं । दशरथनंदन राम के भीतर प्रतिष्ठित परब्रह्म को पहचानने वाले ब्रह्मज्ञानी इस बात की ओर संकेत करते हुए कहते हैं -"ब्रह्मण्यं कृत्स्नमेतत् त्वां ब्रह्मण्यमनुगच्छति" (यह सारा ब्राह्मण समाज तुम्हारी सुब्रह्मण्यता का अनुसरण करेगा) ।

परन्तु राम अब धर्मसंकट में पड़ते हैं । वेदमंत्रों का अनुसरण करनेवाले विद्वान् जब वन-परायण राम का अनुगमन करने के लिए कृत संकल्प हो जाते हैं और कहते हैं कि अयोध्या में जितने लोग राम को तात्विक रूप से जानते हैं वे सब अपने नैष्ठिक अनुष्ठान को भी छोड़कर राम के साथ चलेंगे तो राम की समझ में नहीं आता कि अब क्या किया जाए । उन को ऐसा लगता है कि वेदवेत्ताओं के स्वर में स्वर मिलाकर चारों तरफ के पेड़-पौधे और पशु-पक्षी भी राम को रुकने के लिए कह रहे हैं । स्थावर, जंगम-समस्त प्राणि-जगत् राम राम की रट लगाते हुए राम का रास्ता रोकता हुआ दिखाई देता है ।

सीता, राम और लक्ष्मण जब ब्राह्मण-समाज के साथ थोड़ी दूर पैदल चलते हैं तो सामने तमसा नदी का तट प्रकट होता है । यह वही नदी है जिस के निर्मल जल ने महर्षि वाल्मीकि को सन्मनुष्य के मन का स्मरण कराया था । अब वही सन्मनुष्य अपनी जैसी स्वच्छ पयस्विनी के पास पहुँचकर रात को वहीं विश्राम करने का शुभ संकल्प कर लेते हैं । प्रेम-परायण प्राणियों के हृदय-रस का सजल नेत्रों से आस्वादन करनेवाले सत्यपराक्रम राम अपने इस शिव संकल्प में कई समस्याओं का समाधान ढूँढ लेते हैं । नदी का अनुरोध राम के अयन में पलभर के लिए अवरोध पैदा करता है तो मनस्वी राम सहज सात्विक विनम्रता से उस अवरोध को सहर्ष स्वीकार करते हैं ।



20. ललितभाषिणी लक्ष्मण-माता

महावन-मनोरथी राम का सुमंत्रित रथ अयोध्या के राजपथ को पारकर जब तक आँखों से ओझल नहीं होता है, तब तक राजा दशरथ की राम-परायण दृष्टि उसी पथ पर, उसी रथ पर और सीता-राम-लक्ष्मण की उसी त्रिपुटी पर टिकी रहती है। उस समय उनको न संसार का बोध होता है और न अपना बोध होता है। ऐसा लगता है कि जीव और जगत् अपने उद्‌गम परब्रह्म की परम सत्ता में एकाकार हो रहे हैं। महारथी दशरथ अपने धर्मवत्सल राम के रथ की धूल में अपने को भूलकर राम को और केवल राम को इतनी तत्परता, तन्मयता, तल्लीनता और तदेकता से देखते हैं कि वह देखते ही रह जाते हैं और देखते ही देखते अपने प्राणतुल्य पुत्र को अपने से अलग होते हुए देखकर धरती पर बेहोश होकर गिर पड़ते हैं।

आसन्न अवसाद के इन आपात क्षणों में अपने पति को सहारा देने के लिए बायीं तरफ से कैकेयी और दाईं तरफ से कौसल्या आ पहुँचती हैं। कौसल्या अपने पति की दाहिनी बाँह पकड़कर उनको ऊपर उठाने का प्रयास करती हैं तो इतने में कैकेयी बायीं बाँह को सहारा देने लगती हैं। यह केवल संयोग की बात है कि कौसल्या को राजा का दक्षिण पार्श्व मिलता है और कैकेयी वामांक पर पहुँच जाती हैं। परंतु इस यादृच्छिक घटना में भी अपने पति के प्रति दोनों रानियों की मनोभावना कितनी स्पष्ट प्रतिभासित होती है, यह सहृदय पाठक आसानी से समझ सकते हैं। दाहिना हाथ देने की बात सोचता है और बाँया लेने की। दक्षिण हस्त में दक्षता, दाक्षिण्य और दातृत्व की भावना निहित होती है तो वाम हस्त में कुटिलता, जटिलता, प्रच्छन्नता और प्रतीच्छा की छाया दिखाई देती है। कौसल्या राजा के दुःख को अपना ही दुःख समझकर उन के दुःख से दुःखी होती हैं, जबकि कैकेयी राजा की शोकाकुलता से व्याकुल अवश्य होती है, पर इस बात से उसे दुःख नहीं होता, बल्कि वह राजा के क्षणिक शोक की सीमा को पारकर राजमाता बनने की सुखद कल्पना से आसुरी आनंद की प्रतीक्षा कर रही है। यही अंतर दोनों के दायें-बायें पहुँचने में प्रासंगिक रूप से प्रकट होता है। ध्यान देने की बात है कि यहाँ पर सुमित्रा का कोई उल्लेख नहीं मिलता। वह एकांत में सब से अलग-सुख-दुःख को केवल दृश्य मात्र बना कर समरस भावना से सब कुछ देखती रहती है। वह राजा से दूर रहते हुए भी निकट हैं और शेष दो रानियाँ – कौसल्या और कैकेयी – निकट रहते हुए भी दूर हैं।

कैकेयी का स्पर्श पाते ही नय-विनय तथा सत्य-धर्म से संपन्न राजा को ऐसा लगता है जैसे किसी साँप ने उन्हें काट लिया हो। वह एकदम विक्षुब्ध होकर कैकेयी से बड़ी कठोर वाणी में कहते हैं:

कैकेयि मामकांगानि मा स्प्राक्षीः पापनिश्चये।
नहि त्वां द्रष्टुमिच्छामि न भार्या न च बांधवी॥

(अरी पापिन, तू मेरे शरीर को मत छूना। मैं तुझे देखना तक नहीं चाहता हूँ। तू मेरी पत्नी कहलाने लायक नहीं। पत्नी की बात तो दूर, तुझ से मैं कोई रिश्ता भी जोड़ना नहीं चाहता हूँ।)

आगे चलकर राजा अपनी आंतरिक वेदना प्रकट करते हुए कहते हैं कि पाणिग्रहण के समय मैंने तुम्हारा हाथ पकड़कर अग्नि के सामने प्रतिज्ञा अवश्य की थी, पर आज से वह सारा संबंध टूट गया है । इस संबंध-विच्छेद का सहेतुक समर्थन करते हुए वह कहते हैं–

"केवलार्थपरां हि त्वां त्यक्तधर्मां त्यजाम्यहम्"

(तुम ने केवल अर्थ को प्रधान मानकर धर्म को जो छोड़ दिया है, इसलिए मैं तुम को छोड़ रहा हूँ ।)

सत्यसंध राजा दशरथ के इस सात्विक आवेश और सहज आक्रोश में भी सत्य कितना स्पष्ट बोल उठता है, इसे देखकर कैकेयी भी मौन हो जाती है । आगे चलकर राजा कहते हैं कि मैं तुम्हारे साथ तुम्हारे सगे संबधियों को सब को छोड़ रहा हूँ और भरत भी अगर तुम्हारे इस षडयंत्र से सहमत होकर राज्य को स्वीकार कर लें तो मेरी अंत्येष्टि का वह अधिकारी नहीं बनेगा और न उस का चढ़ाया हुआ जल मेरे लिए स्वीकार्य होगा । इस पर भी कैकेयी मौन रहती हैं । ऐसा लगता है कि अब उस के पास कुछ शब्द नहीं बचे । अब उस की इच्छा तो पूरी हो गई । लेकिन दशरथ के इस अंतिम आक्रोश का उस पर क्या प्रभाव पड़ा, इस के बारे में कैकेयी को मौन रखने में ही महर्षि वाल्मीकि अपनी वाणी की मननशील मर्यादा पाते हैं । इस के बाद कैकेयी कहाँ गई, मालूम नहीं । पर कौसल्या राजा को धरती की धूल से उठाकर उन के पूर्ण रूप से होश में आने के बाद परिचारकों की देखभाल पर उन को छोड़कर चली जाती हैं ।

अब राजभवन के सामने राजमार्ग पर अकेले खड़े होकर राजा दशरथ न तो कैकेयी के रूखे सूखे चेहरे की तरफ देखते हैं और न शोकाकुल कौसल्या के साथ चलते हैं । वह केवल राम-रथ की रेखाओं को बार बार देखते हैं और इस बात से चिंतित होते हैं कि कम से कम राम के पद-चिह्न भी राजपथ पर देखने को नहीं मिल रहे हैं क्योंकि वह पैदल नहीं गए । पर राजा के अनुरोध पर ही वह रथ पर बैठकर गए थे । राम के रथ के चिह्नों को निहार निहार कर राजा कहते हैंः

वाहनानां च मुख्यानां वहतां तं ममात्मजम्।
पदानि पथि दृश्यंते स महात्मा न दृश्यते॥

(मेरे प्यारे बेटे राम को जो बढ़िया से बढ़िया वाहन शहर से बाहर ले गए, केवल उन के पद-चिह्न दिखाई दे रहे हैं, पर उस महात्मा राम के पद-चिह्न देखने को नहीं मिल रहे हैं ।)

यहाँ पर पिता दशरथ के द्वारा बेटे राम के लिए 'महात्मा' शब्दा का प्रयोग सुनते ही कुछ आश्चर्य अवश्य होता है, पर आत्माराम राम की महनीयता से जन मानस को जब हम आलोकित पाते हैं तब आश्चर्य का स्थान आनंदपूर्ण स्वीकृति ग्रहण कर लेती है । स्मरणीय है कि तपोधनी विश्वामित्र जब राम को अपने साथ लेने अयोध्या आए थे तो उन्होंने भी राम के लिए इसी शब्द का प्रयोग करते हुए कहा था–"अहं वेदिम महात्मानं रामं सत्यपराक्रमम्" (सत्यपराक्रम राम को मैं जानता हूँ, मैं उन को महात्मा मानता हूँ ।) सोलह साल के बालक राम को ही विश्वामित्र महात्मा मानते हैं तो पलभर में पृथ्वी का सर्वस्व छोड़कर सत्य और धर्म की रक्षा के लिए सहर्ष वनवास की दीक्षा स्वीकार करनेवाले लोकाभिराम राम को महात्मा कहने में कोई आश्चर्य की बात नहीं होनी चाहिए – चाहे वह उन के पिता के मुँह से भी क्यों न निकला हो । अब तो राम समस्त संसार के हैं, केवल अयोध्या के नहीं । संसार के समस्त प्राणी उन के परिवार के सदस्य हैं । दशरथ के मुँह से केवल 'महात्मा' शब्द नहीं निकलता, बल्कि वह "स महात्मा न दृश्यते" कहकर गीता की "स महात्मा सुदुर्लभः" वाली वासुदेव भावना का स्मरण कराते हैं ।

पर संसार के इन सुदुर्लभ महात्माओं को संसार ने क्या दिया है? केवल अपनी पीड़ा प्रदान की । सब की पीड़ा को अपनी पीड़ा बनाकर आत्मसुख को सब के साथ बाँटने में ही इन महात्माओं की महनीयता है । ऐसे ही महनीय पुत्र को पाकर धर्मात्मा दशरथ एक तरफ भीतर ही भीतर पुलक उठते हैं और दूसरी तरफ वनवास के क्लेश की कल्पना मात्र से उन का पितृ-हृदय झुलस उठता है । कहाँ राजभवन में सुगंधित

शय्या पर सुवासिनी स्त्रियों द्वारा डुलाए गए चँवरों की सुहावनी हवा में सोने के लिए अभ्यस्त सुकुमार राजकुमार और कहाँ दंडक वन की कठोर शिलाओं को तकिया बनाकर पेड़ की छाया में अनाथ की तरह सोकर उठनेवाला उपेक्षित वनवासी राम ! बेटी जानकी तो वन्य जीवन की विभीषिका से एकदम अपरिचित होने के कारण न मालूम कितनी भयभीत हो उठेगी? कैकेयी की कर्कश नृशंसता और अपनी निस्सहाय निकृष्टता की ओर ध्यान जाते ही राजा का मन परिताप से पागल हो जाता है । उन्हें लगता है कि उन के द्वारा किसी संत महात्मा की हत्या हो गई है या उन्होंने जान बूझकर आग में हाथ डाला है । कलुषित जल में स्नान करके घर लौटने में संकोच करनेवाले पंकिल पापी की तरह राजा दशरथ राजभवन की ओर कदम कदम पर रुक रुक कर धीरे धीरे चल पड़ते हैं । मंथर गति से आगे बढ़ते हुए मंथरतर वाणी में महामति राजा मंदमति की तरह अपने दरबानों से कहते हैं :

कौसल्याया गृहं शीघ्रं राममातुर्नयंतु माम्।
नह्यन्यत्र ममाश्वासो हृदयस्य भविष्यति।

(मुझे जल्दी राममाता कौसल्या के घर ले जाना । मेरे मन को और कहीं भी शांति नहीं मिलेगी, वहीं मेरा हृदय आश्वस्त होकर विश्राम पा सकेगा ।)

कौसल्या के भवन की तरफ राजा के चलते समय राजा के कानों में अनाथ के नाथ, अशरण के शरण, दुर्बल के बल और तपस्या के फल लोकाभिराम राम का शोकाकुल गुणगान सुनाई देता है । अंतःपुर से निकलने वाली इस आर्त ध्वनि को सुनते हुए जब राजा कौसल्या के भवन में पहुँचते हैं तो उन को सारा महल सूना सूना-सा दिखाई देता है । आधी रात तक हे राम, हाय राम कहकर बिलखते बिलखते राजा दशरथ अनुभव करते हैं कि उन का दर्शन-बल राम के साथ साथ चला गया है । उन को कुछ नहीं दिखाई देता । अपनी इस दयनीय नयनहीनता की ओर कौसल्या का ध्यान आकृष्ट करते हुए वह कहते हैं—

न त्वां पश्यामि कौसल्ये साधु मां पाणिना स्पृश।
रामं मेऽनुगता दृष्टिरद्यापि न निवर्तते।।

(कौसल्ये, मैं तुम को ठीक ठीक देख नहीं पा रहा हूँ । अपने हाथ से तुम मुझे छू लेना । लगता है, मेरी दृष्टि राम के साथ साथ चली गई है और अभी तक वापस नहीं आई है ।)

अपने स्वामी की इस दयनीय दशा को देखकर उन को सांत्वना देने के लिए कौसल्या उन के पास जाकर बैठती हैं । पर वह स्वयं इतनी दुःखी हैं कि उन के मुँह से सांत्वना के शब्द निकल नहीं पाते, बल्कि वह विकल होकर कैकेयी की निंदा करने लगती हैं । वह कहती हैं कि अनजान आदमी को डस कर केंचुल छोड़कर चलनेवाली साँपिन की तरह निरपराध राम पर अपना सारा विष उगलकर अब कैकेयी राजभवन में स्वच्छंद विचरने लगेगी । अब वह आस्तीन के साँप की तरह हरदम मुझे सताने लगेगी । मेरा बेटा राम राजा न बनता तो न सही, कम से कम भीख माँगकर ही सही अयोध्या में मेरी आँखों के सामने रहता तो मुझे तसल्ली होती । कैकेयी चाहती तो मेरे बेटे को अपना आज्ञाकारी दास बनाकर अपने घर में रख सकती थी, मुझे वह भी मंजूर था । पर यह वनवास की बात उस के मन में क्यों आई, कैसे आई, कुछ समझ में नहीं आता । गजराज की तरह राजमार्ग में चलनेवाले मेरे बेटे को दंडक वन में वन्य मृगों के साथ चलना पड़ेगा । अब तक उसने जीवन में संयम, साधना और त्याग की शिक्षा पाई है । अब जब सुख-संतोष और भोग-वैभव का समय आया उसे वनवास का दंड दिया गया है ! न मालूम, वनवास की यह दीक्षा कब समाप्त होगी और कब मेरा राजा बेटा अयोध्या वापस आएगा । मैं वह दिन देखना चाहती हूँ जब मेरे बेटे का स्वागत करने के लिए सारी अयोध्या सज-धज कर आगे बढ़ेगी । उस दिन सारा शहर हर्ष और उल्लास से प्रफुल्ल और पुलकित हो उठेगा । सौभाग्यवती स्त्रियाँ मंगल द्रव्यों के साथ बेटी सीता का स्वागत करेंगी । राजमार्ग फल-फूल, बंदनवार, चंदन आदि सुरभित और सुमधुर पदार्थों से महक उठेगा ।

भविष्य की यह भव्य कल्पना कौसल्या के मन को पलभर में स्वर्ग तक पहुँचा देती है, पर दूसरे ही क्षण में वह निराशा के गर्त में गिरकर सोचने लगती हैं कि क्या मैं इतनी भाग्यशालिनी हूँ कि यह सुदिन मुझे देखने को मिलेगा। वह इस बात से आशंकित हो जाती हैं कि अगर वह सचमुच इतनी बड़भागिन होती तो पुरुषोत्तम जैसे पुत्र के प्रवास का यह दिन देखने को नहीं मिलता। वह समझती हैं कि निश्चय ही उन्होंने पिछले जन्म में किसी गाय को उस के बछड़े से अलग कर दिया है या किसी बछड़े को उसकी माता के स्तन्य से वंचित कर दिया है। तभी तो वह अपने इकलौते बेटे से बिछुड़कर बिलख रही हैं। इस तरह के विलाप की कल्लोलिनी से विक्षिप्त कौसल्या अपने स्वामी को सांत्वना क्या दे सकती है? दोनों एक दूसरे के दुःख से दुःखी हैं और अपने ही दुःख से और अधिक दुःखी हैं। कौशल्या कम से कम राम के पुनरागमन का स्वप्न देख पा रही हैं। पर रामातुर राजा उन लोगों का भाग्य सराह रहे हैं जो राम के पुनरागमन पर उसे गले लगाकर फूले नहीं समा सकेंगे। उन का मन कहता है कि कम से कम वह इन भाग्यशालियों में नहीं होंगे।

ऐसी दशा में सांत्वना का स्वर सब का हृदय पहचानकर सब का दुःख हरने में समर्थ साध्वी सुमित्रा के सुमधुर कंठ से निकलता है। कौसल्या जब अपने इकलौते पुत्र की बात कहती हैं तो लक्ष्मण और शत्रुघ्न की ललितभाषिणी माता सुमित्रा से रहा नहीं जाता। वह कौसल्या के पास जाकर अपनी धर्म सम्मत वाणी से उन को धीरज दिलाने का प्रयास करती हैं। दशरथ की तीन रानियों में सुमित्रा सब से कम बोलती हैं। वह केवल मितभाषिणी ही नहीं, बल्कि हितभाषिणी भी हैं। उन के मुँह से कभी कोई अप्रिय वचन नहीं निकलता। असल में देखा जाए तो उन को कौसल्या से भी अधिक दुःखी होना चाहिए था, क्योंकि उन का पुत्र लक्ष्मण वन जाने के लिए बाध्य न होते हुए भी अपनी इच्छा से अपने अग्रज का अनुगमन कर रहा है। यह निःस्वार्थ सेवा-भावना उन को उनकी माता की ही देन है। कौसल्या और कैकेयी के एक एक पुत्र हैं, पर सुमित्रा के दो पुत्र हैं। इस का कारण राजा दशरथ का अपनी प्रियभाषिणी पत्नी के प्रति अपार प्रेम है जो कि पायस के वितरण के प्रसंग में सक्रिय रूप धारण करता है। पर ध्यान देने की बात है कि सुमित्रा ने राजा के इस अव्याज प्रेम का कभी अनुचित लाभ नहीं उठाया, बल्कि वह अपने दोनों पुत्रों में से एक को राम की सेवा में समर्पित कर देती हैं और दूसरे को भरत के साहचर्य में। यह भी मौन समर्पण है। इस बात का उन के मन में तनिक भी अभिमान नहीं है।

वाल्मीकि रामायण में सुमित्रा केवल दो ही प्रसंगों में बोलती हैं। सब से पहले वह लक्ष्मण को बिदा करते समय सुमंत्रित वाणी में सुखद यात्रा की मंगल कामना करती हैं और वह भी बहुत कम शब्दों में। दूसरा प्रसंग कौसल्या को सांत्वना देने के लिए राम की महनीयता पर प्रकाश डालना। राम-माता कौसल्या अपने बेटे की महत्ता को पहचान नहीं पातीं। बेटा चाहे कितना भी महान् हो, माँ के लिए वह बेटा ही होता है। सब से पहले राम की महत्ता का उद्घाटन विश्वामित्र के द्वारा किया जाता है। बाद में राजा जनक उसका आविष्कार करते हैं। कुछ ही समय के बाद परशुराम उस को स्वीकार करते हैं। तब जाकर सारी प्रजा दशरथनंदन राम को लोकाभिराम राम के रूप में जानती, पहचानती और अपनाती है। अब वनवास के प्रसंग में पिता भी अपने पुत्र की महनीयता को आचरण में परिणत देखकर "स महात्मा न दृश्यते" कहकर अपने वात्सल्यमय उद्गार प्रकट करते हैं। फिर भी माता कौसल्या अपने बेटे को साधारण, सात्विक और सुकुमार राजकुमार मात्र समझकर उन के लिए बिलखने लगती हैं। इस दशा में सुमित्रा का सुभाषित श्रीभाष्य के रूप में केवल कौसल्या का ही नहीं, बल्कि राजा दशरथ का भी हौसला बढ़ाता है।

वह कौसल्या को सांत्वना देते हुए कहती हैं - "दीदी, राम तुम्हारा बेटा है, इसलिए तुम उस की महत्ता को समझ नहीं पाओगी। वह तो पुरुषोत्तम है जो हमारे भाग्य से हमारे परिवार में पैदा हुआ है। धर्म ही उस का धाम है। इसलिए उस के बारे में हमें

सोचना नहीं चाहिए । अपने पिता को सत्य और धर्म में प्रतिष्ठित करने के लिए उस ने वनवास की दीक्षा तन-मन से स्वीकार की है । सीता और लक्ष्मण जो उस के साथ चल पड़े हैं, बड़े भाग्यशाली हैं । इन तीनों की तपस्या से हमारे कुल की प्रतिष्ठा बढ़ेगी । अयोध्या की राष्ट्र-पताका को ये अंतरिक्ष में लहराएँगे । राम की पवित्रता और महनीयता को देखकर सूर्य भी उस को अपनी किरणों से केवल आलोकित करेगा, ताप नहीं देगा । चांद की शीतल किरणें रात में उसे माँ की तरह अपनी गोद में लिटा कर सुला लेंगी । शीतल मंद समीर उसे आराम पहुँचाएगा । विश्वामित्र के द्वारा दिए गए शास्त्रास्त्र राम के नैसर्गिक बाहुबल को निरंतर बढ़ावा देते रहेंगे । धर्मपरायण राम का वैसे कोई भी शत्रु नहीं हो सकता । अगर होता है तो भी वह उन के सत्यपराक्रम के सामने टिक नहीं सकता । वह तो सूर्य को तपाने वाला अपर सूर्य है, अग्नि को जलानेवाली प्रज्ज्वलित वह्नि है, प्रभुओं का प्रभु है, श्री को सश्रीकता प्रदान करनेवाला श्रीमान् है, यश को यशस्वी बनानेवाला यशोधनी है और क्षमा को भी क्षमा करने वाला क्षमामूर्ति है । वह देवताओं के लिए आराध्य देवता है और प्राणियों को प्राणों से अनुप्राणित करनेवाला परम प्राण है । वह चाहे वन में हो या भवन में, उस का कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता क्योंकि वह निर्दोष और गुणवान् है ।

सुमित्रा के ये उद्‌गार वाक्यविशारद वाल्मीकि के ही शब्दों में स्मरणीय हैं:—

सूर्यस्यापि भवेत् सूर्यो ह्यग्नेरग्निः प्रभोः प्रभुः।
श्रियाः श्रीश्च भवेदग्र्या कीर्त्याः कीर्तिः क्षमाक्षमा।।
दैवतं देवतानां च भूतानां भूत सत्तमः
तस्य के ह्यगुणा देवि वने वाप्यथवा पुरे।।

श्रीमाता सुमित्रा के श्रीमुख से यह श्रीसूक्त सुनने के बाद प्रकृत्या धर्मपरायण कौसल्या अपने धर्मवत्सल राम की सात्विक महनीयता को धीरे धीरे समझने लगती हैं । उन का आश्वस्त हृदय स्वीकार करता है कि राम से बढ़कर सन्मार्गगामी इस संसार में नहीं है ।

– न हि रामात् परो लोके विद्यते सत्पथे स्थितः –



21. तमसा तट पर पहली रात

इधर अयोध्या में सुमित्रा अपने सुभाषित से राम-जननी कौसल्या और राम-नयन दशरथ को सांत्वना देने का प्रयास करती हैं तो उधर अयोध्या से बाहर प्रवास के पथ पर प्रगतिशील राम-रथ को पीछे से ब्रह्म घोष और आगे से प्रसन्न पुण्य सलिला तमसा का निर्मल तट तनिक रोक लेते हैं । इस बीच में निशा भी अपनी शिवात्मक छाया लेकर राम के सामने उपस्थित हो जाती है । प्रसंग-पारंगत राम रात को तमसा के तट पर विश्राम करने का निर्णय कर लेते हैं ।

वनवास की पहली रात तमसा नदी के किनारे बीतती हैं । राजमहल से बाहर प्रकृति के खुले आँगन में चलने-फिरने और सोने उठने का राम और लक्ष्मण के लिए यह पहला अवसर नहीं था हालांकि राजकुमारी सीता के लिए यह एकदम नया अनुभव था । इसीलिए रघुकुलनंदन राम सीता की ओर देखकर सुमित्रानंदन से वनवास की प्रथम निशा के बारे में स्मृतिसूचक शब्दों में कहते हैं—

इयमद्य निशा पूर्वा सौमित्रे प्रहिता वनम्।
वनवासस्य भद्रं ते न चोत्कण्ठितुमर्हसि॥

(लक्ष्मण, हमारे वनवास का यह शुभारंभ है । आज की रात हमारे प्रवास की पहली रात है । आगे चलकर इसी प्रकार के वन हमें देखने को मिलेंगे । पर चिंता की कोई बात नहीं । सब कुछ ठीक चलेगा । परिणाम मंगलमय होगा ।)

वनवास के इस मंगलाचरण में राम के मुँह से आशा का स्वर मुखरित होता है और अपने भाई के लिए आशीर्वाद के शब्द भी निकलते हैं । इसी प्रकार की आशंसा बहुत दिन पहले राम ने अपने देशिक विश्वामित्र के मुँह से सुनी थी । विश्वामित्र का वह वाक्य प्रबोध-गीत के रूप में प्रकट हुआ था । मुनि को राम से कई अपेक्षाएँ थीं । इन्हीं अपेक्षाओं को अभिव्यक्त करते हुए मंत्रद्रष्टा विश्वामित्र ने कहा था :

कौसल्या सुप्रजा राम पूर्वा संध्या प्रवर्तते।
उत्तिष्ठ नरशार्दूल कर्तव्यं दैवमाह्निकम्॥

ऐसा लगता है कि विश्वामित्र के ये शब्द राम को अब अचानक याद आ रहे हैं । मुनिपुंगव विश्वामित्र ने सुप्रभात की अमृतवेला के लिए 'पूर्वा संध्या' का प्रयोग किया था । शायद इसी का स्मरण करते हुए नर-पुंगव राम ने अपने वनवास की पहली रात को 'निशा पूर्वा' कहकर अभिहित किया है । 'पूर्वा संध्या' और 'निशा पूर्वा' – दोनों की पद-विधि भी एक-दूसरे की पूरक और स्मारक लगती है ।

निशा को देखकर राम के मन में विश्वामित्र के साथ व्यतीत संध्याओं का स्मरण आना केवल स्वाभाविक ही नहीं, बल्कि प्रासंगिक भी है । लगभग चौबीस संध्याओं में विश्वामित्र ने सत्यपराक्रम राम के संकल्प में जिस निष्ठा को प्रतिष्ठित किया था, उसी के अनुष्ठान का अब समय आ चुका है । इसके लिए वह स्वयं तैयार हो रहे हैं और अपने भाई व पत्नी को भी तैयार कर रहें हैं । लेकिन वह आशीर्वाद केवल अपने भाई को देते हैं, पत्नी को नहीं । 'भद्रं ते' – इसमें एक वचन का ही प्रयोग किया गया है । इसलिए यह

संबुद्धि केवल लक्ष्मण के प्रति है, प्राणप्रिया सीता इसमें सम्मिलित नहीं है । वह तो उनकी छाया है, उनके व्यक्तित्व की रेखा है, उनकी अर्धांगिनी है, और सुख-दुःख की सहभागिनी है ।

जैसे निशा (रात) को देखकर राम को विश्वामित्र का स्मरण हो आता है, वैसे तमसा नदी को देखकर उन्हें प्राकृतिक सौंदर्य की पुरानी अनुभूति का स्मरण हो आता है जिसका पूरा-पूरा आनन्द उन्हें विश्वामित्र के विवेकपूर्ण सान्निध्य में मिला था । राम के लिए प्रकृति निर्जीव या जड पदार्थ नहीं है बल्कि सजीव, सचेत और सार्थक है । इसीलिए वह तमसा के चारों तरफ के प्राकृतिक आवरण को देखकर उसमें शोकाकुल अयोध्या को प्रतिबिंबित पाते हैं । सूने-सूने कानन उन्हें रोते हुए दिखाई देते हैं । राजपरिवार से लेकर गरीब की कुटिया तक अयोध्या के समस्त नागरिक चिंता से व्याकुल हैं । विधि की विडंबना से वनवास की ओर प्रस्थित सीता, राम और लक्ष्मण को देखकर सब लोगों की आँखों में आँसू भर आते हें । लेकिन जंगल के पास आँसू भी नहीं है । दुःख छोटा हो तो आँसू की गुंजाइश होती है । लेकिन जब दुःख असीम बन जाता है तो आँसू भी सूख जाते हैं । रूखे सूखे पेड़ राम के दुःख से दुःखी बनकर उनकी तरफ केवल देखते रह जाते हैं । केवल पेड़-पौधे ही नहीं, बल्कि पशु-पक्षी भी अपने अपने बसेरों में पहुँचकर भी आराम नहीं कर पाते हैं क्योंकि उनके रोम-रोम में राम के वनवास की वेदना समा गई है ।

प्रकृति को देखने पर राम को कभी अपनी प्रजा की याद आती है और कभी अपने माँ-बाप की याद आती है । उनको चिंता होती है कि निरंतर आँसू बहाते-बहाते कहीं उनके माँ-बाप अंधे न बन जाएँ । पर दूसरे ही क्षण भरत की भावुकता और सज्जनता का स्मरण करके वह अपने को आश्वस्त कर लेते हैं । उनका विश्वास है कि धर्म, अर्थ और काम का सच्चा पारखी भरत ऐसा नहीं होने देगा । लक्ष्मण की तरफ देखकर वह कहते हैं, "तुमने मेरे साथ आकर अच्छा किया है, नहीं तो सीता की रक्षा के लिए मुझे किसी दूसरे की सहायता लेनी पड़ती ।" यह वही राम हैं जिन्होंने लक्ष्मण को वनवास के लिए मना किया था । राम की बातों से कभी-कभी ऐसा लगता है कि वह अपने मन की बात निःसंकोच दूसरों से नहीं कहते या कहना नहीं चाहते या शायद कह नहीं पाते । इस संकोच का कारण उनकी लोक-संग्रह भावना है जो कि लौकिक सीमा को पारकर कभी कभी लोकोत्तर बन जाती है । इसीलिए वह किसी समय वज्र से भी कठोर बन ज़ाते हैं और फिर दूसरे ही क्षण में कुसुम से भी कोमल (वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि) ।

इस प्रकार की इधर-उधर की बातें करने के बाद भोजन और विश्राम की बात आती है । राम बहुत ही सहज ढंग से कहते हैं कि आज मैं केवल पानी पीकर सो जाऊँगा हालाँकि बहुत ही स्वादिष्ट फल यथेष्ट मात्रा में चारों तरफ दिखाई दे रहे हैं ।

"अद्भिरेव हि सौमित्रे वत्स्याम्यद्य निशामिमाम् ।"

ध्यान देने की बात है कि यह नियम राम केवल अपने लिए अपनाते हैं, दूसरों के लिए नहीं । वास्तव में वह दूसरों का इतना ख्याल रखते हैं कि लक्ष्मण से यह बात कहने के बाद तुरंत वह सुमंत्र से कहते हैं कि तुम अपने घोड़ों का ख्याल रखना । राम की आज्ञा के अनुसार सुमंत्र अपने घोड़ों के प्रति 'अप्रमत्त' और 'सौम्य' रहते हैं । राम जब केवल पानी पीने की इच्छा प्रकट करते हैं तो शायद उनको सामने बहने वाली तमसा नदी का निर्मल जल प्रेरणा प्रदान कर रहा होगा । यह वही जल है जिसकी प्रसन्नता और रमणीयता (रमणीयं प्रसन्नांबु) रामायणकार वाल्मीकि को राम जैसे मनस्वी और सन्मनुष्य (सन्मनुष्य मनो यथा) का स्मरण करा चुकी थी । अब मर्यादापुरुषोत्तम राम उसी जल के पास पहुँच गये हैं । इसीलिए उनको उस जल के सामने संसार का सर्वस्व सारहीन दिखाई देता है । भगवान् भी अपने भक्तों से केवल पत्र, पुष्प, फल या तोय (जल) की अपेक्षा करते हैं । यहां राम भी केवल जल से संतुष्ट हैं ।

इस प्रसंग की दूसरी विशेषता यह है कि राम

अपने वनवास के पहले पड़ाव के रूप में तमसा के तट पर पहुँच गए हैं । जैसे ही रात बीत जाती है वह तमसा को पार कर जाएँगें । अंधकार से परे (तमसः परस्तात्) आदित्यवर्ण की रमणीयता से महिमान्वित महान् पुरुष की वैदिक कल्पना यहाँ पर किसी भी तत्त्ववेत्ता के मन में अनायास प्रस्फुटित हो जाती है : वेदाहमेतं पुरुषं महांतम्, आदित्यवर्णम् तमसः परस्तात् । इसी वैदिक मंत्र की अंतिम पंक्ति में 'अयन' शब्द का भी उल्लेख मिलता है (नान्यः पंथा विद्यतेऽयनाय) ।

इससे राम के अयन (रामायण) का भी सहज बोध हो जाता है । इसलिए रामायण की कथा के विकास में तमसा-तट का विशेष महत्त्व है । यहीं से राम का वास्तविक अयन आरंभ होता है । जैसे ही राम तमसा के तट पर पहुँच जाते हैं, वह रमणीय बन जाता है । पहले वह केवल 'रम्य' था । राम को पाकर वह सर्वथा रमणीय बन जाता है । रात्रि विश्राम के लिए सुमंत्र और लक्ष्मण सीता और राम की शय्या का आयोजन करते हैं । सायं-संध्या की उपासना करने के बाद सीता और राम पर्ण-शय्या पर बैठकर थोड़ी देर बातचीत करते हैं और बाद में सुमंत्र और लक्ष्मण को बिदा कर विश्राम कर लेते हैं । पर लक्ष्मण और सुमंत्र को नींद नहीं आती । तमसा-तट पर राम की उदारता, महनीयता और रमणीयता की चर्चा करते हुए दोनों जागकर ही रात बिताते हैं । या यों कहें कि राम का गुणगानन करते हुए वह रात अपने आप बीत जाती है ।

वास्तव में राम को भी उस रात नींद नहीं आती है । वह नींद का अभिनय इसलिए करते हैं ताकि दूसरे लोग सो सकें । लेकिन जब वह देखते हैं कि बाहर सुमंत्र और लक्ष्मण बात कर रहे हैं तो बहुत ही जल्दी उठते हैं । नींद खुलते ही उनकी दृष्टि अयोध्या के नागरिकों पर पड़ती है जो पेड़ों के नीचे जड़ों को सहारा बनाकर सोए पड़े हैं । राम को लगता है कि ये लोग उनका साथ नहीं छोड़ेंगे । प्राण छोड़ने के लिए भी वे तैयार हो जाएँगें, पर राम को नहीं । इसलिए वह सुमंत्र को बताते हैं कि सबेरा होने से पहले ही हमें यहाँ से चल देना चाहिए । एक प्रजा-प्रेमी राजकुमार के रूप में वह अपनी प्रजा को अपने दुःख से दुःखी बनाना नहीं चाहते । लक्ष्मण को भी यह बात अच्छी लगती है । सुमंत्र भी तत्काल रथ के साथ उपस्थित हो जाते हैं । कुछ ही समय में सीता, राम और लक्ष्मण सुमंत्र के रथ पर बैठकर तमसा को पार कर लेते हैं । तमसा को पार करने के बाद राम के सामने महारण्य का जो महामार्ग दिखाई देता है, वह अपने आप में भयदर्शी अवश्य है, पर भयभीत को भयमुक्त करने वाले अभयंकर राम की दृष्टि में वह केवल अभयप्रद ही नहीं बल्कि अकंटक, सश्रीक और शिवात्मक दिखाई देता है ।

स संतीर्य महाबाहुः श्रीमान् शिवमकंटकम् ।
प्रापद्यत महामार्गमभयं भयदर्शिनाम् ॥

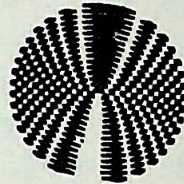
भय में अभय और अशिव में शिव का दर्शन करने वाले समदर्शी, प्रियदर्शी और शुभदर्शी राम को एक विचित्र उपाय सूझता है जिससे वह अपनी प्रजा को भुलावा देकर अपने महामार्ग पर आगे बढ़ सकें । वह सुमंत्र से कहते हैं, "तुम अपने रथ को उत्तर की तरफ जल्दी-जल्दी आगे बढ़ाओ और फिर यहाँ वापस आ जाना ताकि इन भोले भाले नागरिकों को पता न चले कि हम किधर गए हैं । सुमंत्र उसी प्रकार करते हैं और कुछ ही देर में राम के पास वापस आ जाते हैं । फिर तीनों को लेकर सुमंत्र का रथ महामार्ग की मंगलमय उत्तर दिशा में चलता है । किस ओर चलना है यह सुमंत्र को मालूम नहीं था, शायद राम को भी मालूम नहीं था । अगर किसी को मालूम था तो केवल तमसा और गंगा को मालूम था । राम के अयन को तमसा नदी गंगा भवानी को सौंप देती है । रास्ते में वेद-श्रुति, गोमती, स्यंदिका आदि कई नदियाँ श्रीराम के रूप-रस को पाकर स्वयं रसमयी बन जाती हैं । मार्ग में ग्रामीण जनता सीता, राम और लक्ष्मण के लोकोत्तर सौंदर्य और सात्विक सौजन्य को देखकर प्रसन्न हो जाती है । जो भी लोग राम को देखते हैं, वे अपने जीवन को धन्य समझते हैं । लेकिन बहुत कुछ सोचने और समझने पर भी यह बात उनकी समझ में नहीं

आती कि राम जैसे पुत्र को दशरथ जैसे पिता ने वनवास क्यों दिया, कैसे दिया । सबकी बातें सुनते हुएराम आगे बढ़ जाते हैं । सूर्योदय से पहले राम का रथ काफी दूरी तय कर लेता है । बिचारे नागरिक सोकर उठते हैं तो राम को खोजते हैं, पर कहीं उनकी आलोक-रेखा तक दिखाई नहीं देती ।

चौदह वर्ष वनवास की अवधि में राम के साथ रहने का दृढ़ निश्चय करके ये लोग घर से निकले थे । लेकिन अब राम के बिना अकेले घर पहुँचने में उनका मन उनका साथ नहीं देता । पर दूसरा चारा भी नहीं था । इसलिए वे लाचार होकर अयोध्या की तरफ वापस चल पड़ते हैं । रास्ते में वे सोचने लगते हैं कि अगर वे निगोड़ी नींद के चक्कर में नहीं आते तो शायद उनकी यह दुस्थिति न होती । बीच-बीच में वे सोचते हैं कि जंगल की लकड़ी जलाकर आग में जल जाना अच्छा है । उनको मालूम है कि घर जाते ही घरवालियाँ पूछेंगी कि हमारे प्यारे राम को छोड़कर तुम लोग कैसे आए । राम रहित अयोध्या की कल्पना भी उनको भयंकर लगती है । इस प्रकार सोचते-सोचते उनका मन तो राम के पास ही रह जाता है, पर शरीर से वे अयोध्या पहुँच जाते हैं । सारी अयोध्या उनको श्मशान की तरह कलाहीन, शोभाहीन और आनन्दहीन दिखाई देती है । ऐसा लगता है कि आकाश से चंद्रमा अचानक गायब हो गया है, समुद्र का सारा पानी सूख गया है । जब वे लोग घर पहुँचते हैं तो वे अपनों को पहचान तक नहीं पाते । पहचानने पर भी उन से बात नहीं कर पाते । किसी के घर में आमोद-प्रमोद का कोई लक्षण दिखाई नहीं देता । सड़कों पर कोई चहल-पहल नहीं, दुकानें बंद, रसोई बंद, पर खुली है केवल सबकी आँखों से बहने वाली अविरल अश्रुधारा । कोई किसी से कुछ कह नहीं पाता, पर सब लोग अपने से ही कहते-से लगते हैं कि बिना राम की अयोध्या किस काम की है । जब वे लक्ष्मण की याद करते हैं तो समझते हैं कि अगर संसार में कोई भाग्यवान् व्यक्ति है तो केवल लक्ष्मण हैं जो अपने भाई और भाभी की सेवा शुश्रूषा में अपने जीवन को सफल बना रहे हैं । उनकी दृष्टि में राम के मार्ग में दिखाई देनेवाली सरिताएँ भी बड़ी भाग्यशालिनी हैं जो राम के स्पर्श से पुलकित होती होंगी । राम के संपर्क में आनेवाले वन-उपवन, पेड़-पौधे, फल-फूल, पशु-पक्षी आदि राम का भव्य स्वागत करते हुए नयन-फल और जीवन-फल प्राप्त करते होंगे । जहाँ राम होंगे वहाँ आनन्द ही आनन्द है, न किसी का डर है और न किसी तरह की परेशानी । घर पहुँचने के बाद भी घरवालियों की फटकार सुनकर सभी नागरिक सोचने लगते हैं कि जब तक राम बहुत दूर न चले जाएँ जल्दी चलकर फिर उनके पास पहुँच जाएँ । आगे चलकर अयोध्या की क्या दशा होगी, अपने पुत्र और पति की भी परवाह किए बिना राज्य की लालसा से मन को कठोर बनाने वाली कैकेयी भविष्य में न जाने और क्या क्या करेगी – इन बातों की कल्पना ही प्रत्येक प्राणी को विचलित कर देती है । पूर्णिमा के चंद्र की तरह हमेशा मुस्कुराने वाले श्याम मनोहर राम की प्रसन्न मुखमुद्रा की वे बार बार याद करते हैं । उनकी मधुरभाषिता, सत्यवादिता, शूरवीरता, प्रियदर्शिता, सेवा परायणता आदि महान् गुणों का स्मरण करके लोग बहुत व्याकुल हो जाते हैं । उनका दुःख इस विडंबना से और भी बढ़ जाता है कि ऐसे उत्तम व्यक्ति के दुर्लभ गुण अब अरण्य की शोभा बढ़ाने में प्रवृत्त हैं ।

इस प्रकार अनेक प्रकार के विचारों में बहते-भटकते, रोते-बिलखते अयोध्या के नागरिक सूर्य को अस्त होते हुए देखते हैं । लेकिन उनकी दृष्टि में दिन और रात में कोई अंतर दिखाई नहीं देता । राम के बिना दिन भी अंधकारपूर्ण बन जाता है और रात भी सुहावनी बनने के बजाए डरावनी लगती है । इधर राम भी शाम तक काफी दूर पहुँच जाते हैं । अब अयोध्या आँखों से ओझल होने लगती है । सूर्यदेव भी पश्चिम के तट से ओझल होने लगते हैं । संध्या और रजनी दोनों शिवात्मक दिखाई देती हैं । अयोध्या, संध्या और रजनी का यह संगम राम के भावुक हृदय को गद्गद बना देता है । अयोध्या की तरफ मुख करके राम हाथ जोड़कर अपने पूर्वजों की पुण्य नगरी

को प्रणाम करते हैं और चौदह वर्ष के लिए वनवास की आज्ञा माँगते हैं । अयोध्या में वनवासी राम केवल एक वैभवशाली राज्य को नहीं देखते हैं बल्कि वह अपने पूर्वजों के गौरवपूर्ण चरित्र को याद करते हैं । इतना ही नहीं, अयोध्या को आवासित करने वाले देवताओं को भी वह वंदना करते हैं और उनसे आशीर्वाद माँगते हैं कि निष्ठा के साथ उनका वनवास पूरा हो और माता-पिता के साथ चौदह वर्ष के बाद अयोध्या का पुनर्दर्शन हो । ऐसा लगता है कि अयोध्या मानों कह रही है "गच्छतु भवान् पुनर्दर्शनाय ।"



22. गुह से स्नेह – गंगा पार

अब राम का रथ धीरे धीरे अयोध्या की आँखों से ओझल होकर कोसल की सीमा को पार करने लगता है। अचानक राम की आँखों में आँसू आ जाते हैं। इक्ष्वाकु वंश के राजा-महाराजाओं के द्वारा परिपालित और पृथ्वी को स्वर्ग बनाने वाली देवी-देवताओं के द्वारा आवासित अयोध्या की अतिलोक रमणीयता राम के मन को उद्वेलित कर देती है। लेकिन राम से भी अधिक व्याकुल रामपुरी अयोध्या है। राम चाहें तो अयोध्या वापस जा सकते हैं, लेकिन चाहने पर भी अयोध्या राम के साथ नहीं जा सकती। अयोध्या की विवशता स्थितिजन्य है जबकि राम की विवशता ग़ति-सापेक्ष है। सत्य और धर्म की आधार धरा के रूप में प्रतिष्ठित अयोध्या से अपनी गतिशील परिभाषा में बिदा माँगते हुए आजानुबाहु राम अपनी बाँह उठाकर कहते हैं, "वनवास की दीक्षा पूरी करके माता-पिता के साथ शीघ्र ही मैं फिर तुम्हारा दर्शन करूँगा।"

इस प्रकार अयोध्या से अनुज्ञा माँगते हुए जब राम की दृष्टि आगे के मार्ग पर प्रसारित होती है तो उनके चारों तरफ ग्रामीण जनता दिखाई देती है। सभी लोग राम के दुःख से दुःखी हैं। वे राम को छोड़कर जाना नहीं चाहते। उनके आदर स्नेह और अनुकंपा की भावना से राम अपने को अनुगृहीत मानते हैं, अनुनय-विनय से उनको समझा-बुझाकर बिदा कर देते हैं। बिदा करते समय राम उनसे कहते हैं कि मैं आप लोगों की सद्भावना का आभारी हूँ और आपके दुःख को और आगे बढ़ाना मेरे लिए उचित नहीं है, इसलिए आप लोग अपनी 'अर्थ सिद्धि' के लिए वापस चले जाएँ। यहाँ पर 'अर्थ-सिद्धि' शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है। अर्थ और परमार्थ जीवन के दो प्रशस्त मार्ग हैं। लोक को अर्थ में आलोक दिखाई देता है और लोकनायक को परमार्थ का पथ प्रशस्त प्रतीत होता है। बाह्य दृष्टि से अर्थ का मार्ग सुखद मालूम होता है और परमार्थ का पथ दुःखमय। लोक कल्याण की भावना से लोकाभिराम राम ने अपनी इच्छा से परमार्थ का मार्ग अपना लिया। पर साधारण जनता को वे अर्थ की ओर ही प्रवृत्त करते हैं। अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार प्रवृत्ति और निवृत्ति के मार्ग लोगों को अपनाने पड़ते हैं। दोनों का लक्ष्य अंततः एक ही है। अंतर केवल आगे-पीछे का है। यहं सारा संदेश 'अर्थ सिद्धि' नाम के छोटे-से शब्द में राम ने सामासिक रूप से व्यक्त किया है। राम का रमणीय संदेश पाकर ग्रामीण जनता पल भर के लिए अपनी-अपनी जगह पर मंत्रमुग्ध-सी खड़ी हो जाती है। धीरे-धीरे जब राम का रूप उनकी आँखों से ओझल हो जाता है तब सब लोग होश में आते हैं और रोते-बिलखते अतृप्त अंतःकरण से अपने अपने निवास पर आते हैं।

राम का रथ आगे बढ़ता है, पर उनका मन पीछे ही रहता है। धन-धान्य से समृद्ध, सुन्दर वन-उपवन आदि से सुशोभित, सुरक्षित और वेद-नाद से निनादित अयोध्या की रमणीयता को बार-बार याद करते हुए राम आगे बढ़ते हैं। जैसे-जैसे शाम होने लगती है, राम का रथ काफी दूरी तय कर लेता है। संध्या के समय तक सुमंत्र अपने रथ को गंगा तक ले जाते हैं। गंगा

के निर्मल जल को देखकर राम का मन पुलक उठता है। गंगा की धारा में राम को जीवनधारा दिखाई देती है—कहीं दिव्य और कहीं रम्य, कहीं स्तिमित और कहीं गंभीर, कहीं प्रसन्न और कहीं प्रचंड, कहीं विनम्र और कहीं उद्दंड। गंगा के तट पर महर्षियों के जो आश्रम हैं, उनकी ओर राम का ध्यान विशेष रूप से जाता है। एक तरफ तपस्या और साधना में लगे हुए ऋषियों की पवित्रता दिखाई देती है तो दूसरी तरफ गंगा के शीतल और सुगंधित जल का आस्वादन करने और उसमें निमज्जित होकर अपने तन-मन को परिमार्जित करने स्वर्ग से पृथ्वी पर आई हुई अप्सराओं के आमोद-प्रमोद की मनोहर शोभा राम को आराम पहुँचाती है। आत्मिक आनंद प्रदान करने वाली अनिंदित मंदाकिनी के सरस प्रवाह में बहते-बहते राम आत्माराम बन जाते हैं। आस-पास के पेड़-पौधे नदी को फूलों से सजाते हैं। भगवान् विष्णु के चरण-कमलों से निकली हुई (विष्णुपादोद्‌भवा) गंगा भवानी शंकर के जटाजूट में थोड़ी देर के लिए उलझ जाती है, पर सागर की पुकार सुनकर वह धरातल पर आ जाती है (शंकरस्य जटाजूटाद्‌ भ्रष्टां सागर तेजसा)। समुद्र की पटरानी गंगा की अगवानी करते हुए सारी प्रकृति आत्मविभोर हो जाती है। गंगा-लहरी की इस मनोहारिता से प्रभावित राम का हृदय क्षणभर के लिए अपने को शृंगवेरपुर का नैष्ठिक निवासी अनुभव करता है। प्रकृतिस्थ राम को पता चलता है कि अब संध्या होने वाली है और रात के विश्राम की बात सोचनी चाहिए। सामने उनको इंगुदी का एक बहुत बड़ा वृक्ष दिखाई देता है। नदी की महिमा वृक्ष की गरिमा को और बढ़ाती-सी दिखाई देती है। लक्ष्मण और सुमंत्र को पास बुलाकर वह कहते हैं कि आज रात को हम यहीं विश्राम करेंगे। राम की बात सुनते ही सुमंत्र और लक्ष्मण केवल 'हाँ' कहकर विश्राम की तैयारी करते हैं।

राम का इशारा पाकर सुमंत्र अपने रथ को सामने दिखाई देने वाले वृक्ष तक ले जाते हैं और वहीं पर सीता और लक्ष्मण के साथ राम उतर जाते हैं। बाद में सुमंत्र अपने घोड़ों को भी विश्राम देकर फिर राम की सेवा में उपस्थित हो जाते हैं। इधर राम इंगुदी वृक्ष की हृदयंगम छाया में बैठकर मंगलमय संगीत सुनानेवाली गंगा की स्वर-लहरी में बहते जा रहे हैं तो इसी बीच निषाद-राज गुह, जो उस जनपद के शासक हैं, सामने प्रकट होते हैं। छोटे राज्य के ही सही, राज्याध्यक्ष को अपने पास पैदल आते हुए देखकर राम उन का स्वागत करने आगे बढ़ते हैं। शरीर से हृष्ट-पुष्ट और स्थापत्य कला के विशेषज्ञ गुह को मर्यादा पुरुषोत्तम राम आत्म-सखा का सम्मान देते हैं। वल्कल और मृगचर्म की तापस वेष भूषा में राजकुमार राम को देखकर गुह समझ नहीं पाते कि क्या हुआ और राम को गले लगाकर आर्त स्वर में कहते हैं, "प्रभु, यह क्या हो रहा है? आपके लिए जैसी अयोध्या है, वैसा यह राज्य है। इसको आप सनाथ बनाकर हमारा उद्धार कीजिए। आप जैसे अतिथि हम जैसे लोगों को बड़े भाग्य से मिलते हैं। हमारे यहाँ भक्ष्य, भोज्य, पेय अदि की जो भी व्यवस्था हो सकती है, वह आप के सामने प्रस्तुत है। आप कृपया इसे स्वीकार कर हमें अनुगृहीत करें।"

गुह की ये बातें सुनकर प्रेम-पराधीन राम अपनी वर्तुल बाहों में गुह को गाढ़ आलिंगन का आनंद देते हैं और कहते हैं कि सत्कार की भावना मात्र से सत्कार हो जाता है और इसके लिए विशेष व्यवस्था की कोई आवश्यकता नहीं है। इसके अलावा वनवास की दीक्षा के समय आहार-विहार में कई नियमों का पालन करना पड़ता है, किसी से कोई वस्तु ग्रहण करना उचित नहीं है। वल्कल पहनना और कंदमूल फल खाकर संतुष्ट रहना ही वनवासियों के लिए वांछनीय है। इसलिए खाने-पीने की चीज़ें सुमंत्र के रथ के घोड़ों को खिलाने के काम आ जाएँगी क्योंकि महाराज दशरथ को ये घोड़े अत्यंत प्रिय हैं। धर्मात्मा राम के इस मार्मिक संकेत का सार 'गहन गोचर' गुह तत्काल समझ जाते हैं और तदनुसार अपने मंत्रियों और अनुनायियों को राम की आज्ञा का पालन करने का आदेश देते हैं।

गुह से मिलते ही राम उन की स्वस्थता, मित्रों की प्रसन्नता और वनस्पति की प्रफुल्लता की बात पूछते हैं। राजा स्वयं स्वस्थ हो (तन से और मन से भी), प्रजा सुखी और स्नेहशील हो और प्रकृति समृद्ध हो, यही लोकाभिराम राम की लोकमंगल भावना है।

समृद्धिशाली जनपद के समर्थ शासक होते हुए भी निषादराज गुह कोसल के राजाओं के प्रति सम्मान की भावना से प्रेरित होकर पैदल चले आ रहे हैं, इस बात पर भी राम प्रसन्न होते हैं। आदर, स्नेह और सम्मान उत्तम संस्कार जगानेवाले उदात्त लक्षण हैं जो दाता और आदाता दोनों को उदात्त बना देते हैं। यहाँ पर गुह से राम अधिक उदार, विनम्र और स्नेहशील हैं, पर वह गुह की ही उदारता और उदात्तता की प्रशंसा करते हैं। इसी में उन के उत्तम संस्कार प्रकट होते हैं।

इतने में सूर्य को पश्चिमी तट पर अस्त होते हुए देखकर राम सायं संध्या की उपासना करते हैं और उस रात को भोजन के नाम पर केवल पानी पीकर संतुष्ट हो जाते हैं और वह भी लक्ष्मण के द्वारा स्वयं लाया गया। वैसे गंगा की निर्मल जलधारा को देखकर ही राम भीतर ही भीतर संतृप्त हो जाते हैं और उस के साथ गुह का स्नेह उनके अंतरंग को आत्मीयता से और भी अधिक आप्लावित कर देता है। सच्चा आनंद ही प्रभु का आहार है।

इंगुदी वृक्ष की छाया में सीता समेत राम को घास की शय्या पर विश्राम करते हुए देखकर लक्ष्मण अपने भाई के पैर धो-पोंछकर उन से बिदा लेते हैं और वहाँ से थोड़ी दूर एक दूसरे पेड़ की छाया में बैठ जाते हैं। वहीं पर सुमंत्र और गुह भी इक्ट्ठे हो जाते हैं। दोनों लक्ष्मण के मुँह से कुछ सुनना चाहते हैं। यशस्वी राजा बनने के लिए दशरथनंदन बनकर जन्मे मनस्वी राम वनवासी बनकर गंगा के तट पर पेड़ के नीचे घास पर सो रहे हैं, विधि की यही विडंबना तीनों में चर्चा का विषय बनकर रात को आगे बढ़ने नहीं देती। काफी रात बीत जाने के बाद लक्ष्मण के सोने के लिए घास की एक शय्या बनाकर गुह उन से अनुरोध करते हैं कि राजकुमार लक्ष्मण, तुम्हारे लिए यह आराम देनेवाली शय्या तैयार है, इस पर सुखपूर्वक सोकर भली भाँति विश्राम कर लो। यह तो साधारण औपचारिक बात हुई है, पर इस के बाद गुह के मुँह से जो बात निकलती है, वह विशेष महत्त्वपूर्ण हे। गुह का कहना है:

उचितोऽयं जनः सर्वं क्लेशानां त्वं सुखोचितः।
गुप्त्यर्थं जागरिष्यामो काकुत्स्थस्य वयं निशाम्।

इस का सीधा सादा अर्थ यह है कि हम लोग वनवासी इस तरह की तकलीफ उठाने के आदी हो चुके हैं, पर आप लोग नगरवासी होने के कारण सुख के लिए अभ्यस्त हैं। आप को आराम मिलना चाहिए। इसलिए आप सो जाइए, हम जगे रहेंगे और आप की रखवाली करेंगे। पर थोड़ी गहराई में पैठकर इन बातों पर विचार करने से गुह का यह वचन बहुत ही सारगर्भित मालूम पड़ता है। रात को विश्राम करने से पहले वेदाध्यायी विद्वान् अपने भीतर के अग्निहोत्र (जातवेद) से अनुरोध करते हैं कि हे अग्नि, तुम जग्रत रहो, हम थोड़ी देर के लिए विश्राम करेंगे (अग्ने, त्वं सुजागृहि, वयं सुमंदिशीमहि)। आदित्य का हृदय पहचानने वाले महामुनि अगस्त्य भी कहते हैं कि रात को गहरी नींद सोनेवाले प्राणियों के भीतर सूर्य अपने सतत जागरणशील तेज से जाग्रत रहते हैं (एष सुप्तेषु जागर्ति भूतेषु परिनिष्ठितः)। वास्तव में सूर्य, चंद्र और अग्नि में जो तेज है, वह समस्त प्राणि-जगत् में दिन रात विराजमान होता है, चाहे लोग जगे हों या सोए हों। तीन रूपों में प्रकट यही तेज यहाँ पर गुह, सुमंत्र और लक्ष्मण के रूप में विराजमान है। इन में से गुह समस्त वनस्पति में निगूढ़ तत्त्व के रूप में निबद्ध अग्नि के समान है। इसलिए उन को 'गहन गोचर' कहा गया है। मंत्र कोविद सुमंत्र रामरथ के सारथी हैं जो सूर्य के ही रथ का प्रतीक है। राम के बाहरी प्राण की तरह निरंतर उन के साथ रहनेवाले लक्ष्मण रामचंद्र के लिए चंद्रमा के समान हैं। इस दृष्टि से गहनगोचर गुह, मंत्र कोविद सुमंत्र और लक्ष्मिवर्द्धन लक्ष्मण का आज का यह संगम विशेष महत्त्वपूर्ण है। पर इन में से गुह और सुमंत्र का राम के साथ साहचर्य केवल कुछ ही समय के लिए है। लक्ष्मण का साहचर्य काफी समय तक चलेगा। इसीलिए गुह लक्ष्मण से विश्राम करने का अनुरोध करते हैं। पर लक्ष्मण गुह से भी गहन हैं। वह कहते हैं:

कथं दाशरथो भूमौ शयाने सह सीतया।
शक्या निद्रा मया लब्धुं जीवितं वा सुखानि वा॥

(जब महाराज दशरथ के ज्येष्ठ पुत्र सीता के साथ ज़मीन पर सो रहे हैं तब मुझे नींद कैसे आ सकती है? नींद की बात छोड़िए, न खाने-पीने को मेरा मन करता है और न मैं चैन से रह सकता हूँ।)

यहाँ पर ध्यान देने की बात यह है कि गुह के जागरण का कारण अलग है और लक्ष्मण के जागरण का अलग। "गुप्त्यर्थं जागरिष्यामि" (राम की गुप्ति अथवा रक्षा के लिए मैं जगा रहूँगा) – यह बात गुह स्वयं कहते हैं। पर लक्ष्मण कहते है कि मुझे नींद कैसे आएगी। दोनों में काफी अंतर हैं हालांकि गुह यह भी कहते हैं कि राम से बढ़कर प्रिय व्यक्ति मेरे लिए इस दुनियां में और कोई नहीं है (न हि रामात् प्रियतमो ममास्ते भुवि कश्चन)। उन्हेंइस बात का भी पूरा पूरा विश्वास है कि राम के प्रसाद (अनुग्रह) से ही वह धर्म, अर्थ और काम में कृतार्थ होकर महान् यश का अधिकारी बन चुका है। इसीलिए वह राम की रक्षा करना अपना परम कर्त्तव्य समझते हैं। यहाँ पर मनन करने की बात यह है कि जब राम के अनुग्रह से उन की जीवन-लीला सुरक्षित चल रही है तब राम की रक्षा का भार वह अपने ऊपर क्यों उठा रहे हैं। इस का समाधान इस बात से होता है कि धर्म का स्वभाव ही ऐसा है कि जो लोग धर्म की रक्षा करते हैं, उन की रक्षा धर्म स्वयं करता है। राम धर्म के मूर्त रूप हैं (विग्रहवान् धर्मः), इसीलिए धर्मात्मा राम की रक्षा करना धर्मपरायण गुह अपना कर्त्तव्य समझते हैं।

इसी तरह की बातों से रात धीरे-धीरे चलती-सी नज़र आती है। लक्ष्मण बीच-बीच में यह आशंका प्रकट करते हैं कि इतने बड़े शोक का भार वहन करने की क्षमता पिता दशरथ में है कि नहीं। पिता का कोमल हृदय वह पहचानते हैं। यज्ञ-याग, मंत्र-तंत्र, अनुष्ठान-आराधना, साधना, तपस्या आदि अनेक प्रयत्नों के फलस्वरूप राम जैसे पुत्र को पाकर दशरथ ने अपने जीवन का चरम फल ही पाया है। ऐसे पुत्र को वनवास के लिए भेजकर वह जीवित रह सकेंगे, इस का कोई भरोसा लक्ष्मण को नहीं होता। विशेषकर आज की रात को उन का मन बहुत ही आंदोलित हो जाता है क्योंकि कल से गंगा पार करने पर एकदम एकांत वन पद-यात्रा के लिए प्रस्तुत होगा। सुमंत्र का साथ भी छूट जाएगा और सुमंत्र अयोध्या वापस जाकर जब वनवास का समाचार सुनाएँगे तब राजा से रहा नहीं जाएगा। अगर पिता जी नहीं रहेंगे तो माता कौसल्या भी नहीं रहेंगी। सुमित्रा शत्रुघ्न की प्रतीक्षा में फिर भी जीवित रह सकती है, पर अपने इकलौते पुत्र राम के वियोग में कौसल्या का जीवित रहना संदेहास्पद है।

इस निराशा के बीच कभी कभी आशा की रेखा को लक्ष्मण अपने आशावादी मन में अंकित कर लेते हैं। हो सकता है कि सत्य पराक्रम राम की धर्म परायणता के बल पर वनवास की अवधि निरापद व्यतीत हो जाए और फिर फलती फूलती अयोध्या में वे पदार्पण कर सकें। लक्ष्मण की ये बातें सुनकर गुह कभी आश्वस्त हो जाते हैं और कभी लक्ष्मण के मुख-मंडल पर विषाद की रेखा देखकर आँसू बहाते हैं।

आखिर रात बीत ही जाती है। सुप्रभात की सुमधुर वेला में राम जाग उठते हैं और भगवती निशा को बिदा करते हुए कोकिल की काकली और मोर की मनोहर स्वर माधुरी पर मुग्ध होकर कहते हैं:-

असौ सुकृष्णो विहगः कोकिलस्तात कूजति।
बर्हिणानां च निर्घोषः श्रूयते नदतां वने॥

जहाँ लक्ष्मण शोकाकुल अयोध्या की कल्पना से व्याकुल होकर सारी रात व्यथा की गाथा सुनाते बिताते हैं वहाँ आत्माराम राम प्रभात की प्राकृतिक सुषमा से पुलकित होकर जाग उठते हैं। दोनों की मनःस्थिति में तात्त्विक रूप से कोई अंतर नहीं है। अंतर केवल अनुभूति और अभिव्यंजना में है। लक्ष्मण का ध्यान अतीत की ओर जा रहा है जबकि राम का मन आगे की बात सोच रहा है। इसी गतिशीलता और कर्त्तव्य भावना की ओर लक्ष्मण का ध्यान आकृष्ट करने के लिए राम कहते हैं – "तराम जह्नवीं सौम्य शीघ्रगां सागरंगमाम्" (सागर में मिलने के लिए जल्दी जल्दी चलनेवाली जाह्नवी को हम भी जल्दी पार करें)।

राम की इस रमणीय वाणी की रहस्यात्मकता को

पहचानकर 'मित्रनंदन' लक्ष्मण अपने मित्र गुह को राम का संदेश सुनाते हैं। संकेत से सब कुछ समझनेवाले निषादराज गुह तत्काल अपने सचिवों को आज्ञा देते हैं कि सीता, राम और लक्ष्मण को गंगा पार कराने के लिए एक ऐसी नाव तुरंत तैयार कराई जाए जो देखने में अच्छी हो, चलने में तेज़ हो और बनावट में मज़बूत हो। पल भर में नाव तैयार हो जाती है। राम और लक्ष्मण धनुष-बाण लेकर सीता समेत नाव पर चढ़ने के लिए तैयार हो जाते हैं।

अब सुमंत्र परेशान हैं। थोड़ी ही देर में राम उन से दूर, बहुत दूर चले जाएँगे—इस बात की कल्पना ही सुमंत्र के लिए भयानक बन जाती है। पर यह क्षण अन टालने से भी नहीं टल सकता। राम को नाव की तरफ आगे बढ़ते हुए देखकर सुमंत्र साहस बटोरकर उनके पास जाते हैं और हाथ जोड़कर पूछते हैं कि अब मुझे क्या करना है। सुमंत्र की परेशानी राम तत्काल समझ लेते हैं और अपने दाहिने हाथ से सुमंत्र की पीठ सहलाते हुए कहते हैं, "सुमंत्र जी, अब आप वापस चले जाइए और सावधान होकर पिताजी को संभाल लीजिए। वापस जाने की बात सुनते ही सुमंत्र पसीना पसीना हो जाते हैं। राम को वन में छोड़कर वह अयोध्या कैसे जाएँ? अगर वह अयोध्या पहुँच भी गए तो अयोध्या के लोग सूने रथ को वापस पाकर क्या समझेंगे? उन पर क्या बीतेगा? विधि ने इतना कठोर विधान क्यों बनाया? अगर राम जैसे उत्तम पुरुष को इतना अन्याय सहना पड़ रहा है तो संसार में सज्जनता, संयम, स्वाध्याय, सात्विकता जैसे सद्गुणों का मूल्य क्या रह गया है? इसी प्रकार के प्रश्न सुमंत्र के मननशील मन को मथ डालते हैं। पर बाहर से बहुत कुछ कह नहीं पाते, भीतर ही भीतर मन को समझाने का प्रयास करते हैं कि संभवतः राम का वनवास उन के व्यक्तित्व को लोकोत्तर बना सकता है और तीनों लोकों में वह अलौकिक लोक नायक के रूप में स्थायी प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकते हैं। पर जहाँ तक अपना और अपनी अयोध्या के निवासियों का संबंध है, राम का वियोग उन के लिए आत्मघातक सिद्ध होगा, यह सुमंत्र की सुचिंतित धारणा है। अपनी इस मनोवेदना को राम के सामने प्रकट करने का प्रयास करते करते सुमंत्र बहुत अधीर हो उठते हैं। उन की आँखों से आँसू की धारा बहने लगती है। जब सुमंत्र अपने को संभाल कर आँसू पोंछकर राम की तरफ देखने का प्रयास करते हैं तो राम अपनी मीठे स्वर में सुमंत्र को सांत्वना देते हुए कहते हैं, "आप को इस तरह व्याकुल नहीं होना चाहिए। आप के समान हमारे वंश का और कोई हितैषी नहीं है। आप को इस बात का ध्यान रखना है कि हमारे पिताजी हमारे कारण दुःखी न हों। उन की जो भी इच्छा हो, उसे पूरा करना आपका कर्तव्य है। पिताजी वैसे ही बूढ़े हो गए हैं, उस पर दुःख का यह पहाड़ उन पर टूट पड़ा है। उन को समझा बुझा कर हमारी तरफ से इस बात का आश्वासन देना कि हमें वनवास में किसी प्रकार की कोई कठिनाई नहीं है, बल्कि हमें इस में आनंद आ रहा है। चौदह साल की अवधि समाप्त करके हम जल्दी ही अयोध्या वापस आएँगे। इस बीच में भरत को राजा बनाकर उस को सिंहासन पर देखकर हमारे दुःख को भुलाने का प्रयत्न करना चाहिए।" भरत से भी कहना कि जैसे पिता, वैसे माताओं का भी ख्याल रखना और इसी में इह लोक और परलोक का कल्याण और श्रेय है।

राम का यह संदेश सुमंत्र को आश्वस्त नहीं कर पाता। वह शून्य रथ लेकर अयोध्या वापस जाने के लिए राज़ी नहीं होते। वह कहते हैं कि उन के घोड़े भी वापस जाना नहीं चाहेंगे और अयोध्या के नागरिकों का दुःख तो सूने रथ को देखते ही सौ गुना हो जाएगा। इतनी लँबी भूमिका बांधने के बाद भक्त-वत्सल और भृत्य-वत्सल राम के सामने सुमंत्र बड़े संकोच के साथ एक विनम्र प्रस्ताव रखते हैं कि चौदह साल के वनवास की अवधि में राम उन को अपने साथ रखें – चाहे सारथी के रूप में हो या अगर पद यात्रा ही करनी हो तो साथी के रूप में। वह कहते हैं कि राम के साथ रहने से चौदह साल चौदह क्षण जैसे बीत जाएंगे, अन्यथा वे चौदह सौ वर्ष बन जाएँगे।

राम भक्त-वत्सल और भृत्य-वत्सल अवश्य हैं,

पर इन दोनों से बढ़कर वह धर्मवत्सल हैं। धर्म की दुहाई देते हुए धर्मवीर राम सुमंत्र से कहते हैं, "मैं जानता हूँ, आप के मन में मेरे प्रति कितनी भक्ति-भावना है। लेकिन आप का अयोध्या वापस जाना बहुत ज़रूरी है। अन्यथा माँ कैकेयी को विश्वास नहीं होगा कि हम सचमुच वनवासी हो गए हैं। इस अविश्वास के कारण वह पिताजी को परेशान करेंगी। इसलिए सत्यव्रती पिताजी को मिथ्यापवाद से बचाने के लिए आप का वापस जाना अनिवार्य है।" इस पर सुमंत्र मौन हो जाते हैं। अब सुमंत्र के सामने ही राम और लक्ष्मण बड़ का दूध मँगाकर उस से अपनी जटाएँ बना लेते हैं। पहले से वल्कल और मृगचर्म धारण किए हुए राजकुमार अब जटाधारी भी बन जाते हैं। इस वेश-भूषा में राम और लक्ष्मण बिल्कुल ऋषियों की भाँति सुशोभित होते हैं।

अब नाव पर बैठने की तैयारी शुरू होती है। गुह को शासन को सुचारू रूप से चलाते रहने का संदेश देकर राम लक्ष्मण से कहते हैं कि पहले तुम सीता को नाव पर बिठा दो और खुद बैठ जाओ। जब सीता और लक्ष्मण नाव पर बैठ जाते हैं, तब तेजस्वी राम स्वयं नौका पर बैठ जाते हैं। अब नाव चल पड़ती है।

यहाँ पर यह ध्यान देने योग्य है कि गुह (केवट) के द्वारा राम के पैरों का धोया जाना ताकि उन के पैरों की धूल से नौका नारी न बन जाए परवर्ती राम काव्यों का बहुचर्चित और लोकप्रिय प्रसंग रहा है जबकि वाल्मीकि रामायण में इस का कोई उल्लेख नहीं है। इसके विपरीत वाल्मीकि ने गुह को निषादराज के रूप में प्रस्तुत किया है, नाव चलाकर जीनेवाले मल्लाह या केवट के रूप में नहीं। वास्तव में उन को राम का "आत्मसमः सखा" (आत्मतुल्य मित्र) कहा गया है। गुह को अपने पास आते हुए देखकर राम अपने भाई लक्ष्मण समेत उन की अगवानी करते हैं और उन को अपना आभार प्रकट करते हैं कि उन्होंने अपने मित्र से मिलने पैदल आकर अपना स्नेह प्रकट किया है (पद्भ्यामभिगमाच्चैव स्नेहं संदर्शनेन च)। इन सब बातों को देखते हुए वाल्मीकि रामायण में गुह की भूमिका अत्यंत गहन, गंभीर और गौरवपूर्ण प्रतीत होती है। वास्तव में गंगा को पार करने में गुह का सहारा महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। गंगा को पार करने के बाद ही श्रीराम के वनवास की सच्ची दीक्षा प्रारंभ होती है। गंगा तट पर जटा धारण का प्रसंग भी इस बात की पुष्टि करता है। पुरवास से वनवास तथा रथ-यात्रा से पद-यात्रा की ओर प्रवृत्त होने के पहले गुह का पौरोहित्य राम को प्राप्त होता है। इसी परिप्रेक्ष्य में गुह को अग्नि का प्रतीक माना जा सकता है। "अग्निमीळे पुरोहितम्", "अग्ने त्वं सुजागृहि वयं सुमंदिशीमहि", "अग्ने नय सुपथा राये"...... आदि वैदिक मंत्र भी इस अनुमान को प्रामाणिक स्तर प्रदान करते हैं। 'स्नेह' शब्द का प्रयोग भी अग्नि की परिकल्पना का समर्थन करता है।

जो हो, गंगा को पार करने में गुह की महत्त्वपूर्ण भूमिका तो निर्विवाद है। जब नाव आगे बढ़ती है तो राम जल-संतरण संबंधी वैदिक मंत्रों का जाप करने लगते हैं और सीता सहित गंगाजल का आचमन करते हैं। जब नाव नदी के बीचों बीच पहुँच जाती है तो सीता बद्धांजलि होकर गंगा माई से आशीर्वाद माँगती हैं – अपने लिए नहीं, अपने पति के व्रत की प्रपूर्ति के लिए। सीतांजलि के ये वचन अत्यंत मननीय हैं:

पुत्रो दशरथस्यायं महाराजस्य धीमतः ।
निदेशं पालयत्वेनं गंगे त्वदभिरक्षितः ॥

दशरथनंदन राम अपने बुद्धिमान् पिता की आज्ञा का पालन करने के लिए गंगा को पार कर रहे हैं। वह अपनी व्रतचर्या में कृतकृत्य बन जाएँ, ऐसा आशीर्वाद दो मां।

स्वर्ग, भूतल ओर पाताल को पावन बनानेवाली गंगा भवानी की कृपा से चौदह साल की वनवास-दीक्षा निरापद रूप से संपन्न हो, तो सीताजी कहती हैं, अन्नदान आदि सत्कर्मों से गंगा माई का यथोचित सत्कार किया जाएगा। लोकपावनी गंगा से लोकाभिराम राम की सहधर्मचारिणी राम-रक्षा की याचना करती है तो ऐसा लगता है कि गंगा माई भीतर ही भीतर

पुलकित हो रही हों और अपने आंतरिक आनंद को उत्तुंग तरंगों के माध्यम से उच्चारित कर रही हों। कुछ ही समय में विदेहराजनंदिनी की विनयांजलि को स्वीकार करते हुए सागरंगमा गंगा राजकुमारी समेत दोनों राजकुमारों को पल पल पर बदलनेवाली संसरणशील जलधारा को पल भर में पार करा देती हैं।

अब गंगा के उस पार सुदक्षिणा सीता नदी के दक्षिण तट को सुशोभित करती हैं और इस पार विरहाकुल और दुःखार्त सुमंत्र गुहसहित खड़े होकर सीता, राम और लक्ष्मण को अपलक नयनों से निहारता निहारता रह जाता है। जब तक राम की रूप माधुरी आँखों को निश्चल दृष्टि प्रदान करती रहती है, तब तक सुमंत्र उसी तरफ देखते रहते हैं और जैसे ही राम का वरद हस्त सुमंत्र की आँखों से ओझल होता है, वह अपनी दृष्टि को वापस लेते हैं और आँसू की एक अनिर्वचनीय बूँद से अपनी आंतरिक व्यथा की अकथ कथा सुनाते हैं।

इधर राम भी अपने भाई लक्ष्मण को सतर्क करते हुए कहते हैं कि आज से वनवास की दीक्षा विधिवत् प्रारंभ होती है और सर्वत्र सर्वदा सीता की रक्षा करना हम दोनों का कर्त्तव्य है। इस के लिए गतिसत्तम राम वन में तीनों के संचरण का एक सारगर्भित क्रम निर्धारित करते हैं जो इस प्रकार हैः

अग्रतो गच्छ सौमित्रे सीता त्वामनुगच्छतु।
पृष्ठतोऽ नुगमिष्यामि सीतां त्वां चानुपालयन्॥

आगे आगे लक्ष्मण, उन के पीछे सीता और दोनों के पीछे दोनों के संरक्षक बनकर स्वयं राम वनवास में पदयात्रा प्रारंभ करते हैं। राम के इस अयन में सीता सुषुम्ना का रूप धारण करती हैं जबकि राम और लक्ष्मण इडा और पिंगला बनकर न केवल सुषुम्ना की सुरक्षा का ध्यान रखते हैं बल्कि सुषुम्ना को सहस्रार कमल की सुषमा तक ले जाने में सक्रिय और सतर्क रहने का संकल्प कर लेते हैं। यही रामायण का प्राणायन है जो कि प्रत्येक प्राणी में रमणशील प्राण शक्ति का प्राकृतिक अयन है। इसीलिए रामायण किसी व्यक्ति विशेष, देश विशेष या काल विशेष का अयन नहीं हैं, बल्कि वह हर प्राणी का अयन हैं, हर देश का अयन हैं और हर दिन का अयन हैं।



23. भरद्वाज का पथ-प्रदर्शन

वनास की पहली रात जब तमसा-तट पर व्यतीत हुई तब कांतार का प्रांतर प्रशांत अवश्य था, पर इतना एकांत नहीं लग रहा था जितना कि आज प्रतीत हो रहा है। इस का प्रमुख कारण यह था कि तमसा का तट जनपद के जनसंकुल वातावरण से बहुत दूर नहीं था। इसके अलावा मंत्रवेत्ता महानुभावों की मधुमती वाणी भी दुर्गम मार्ग को तय करने में मंजुल सहयोग प्रदान कर रही थी। वास्तव में इसी वाणी ने राम को सुमंत्र का रथ तमसा-तट पर रोकने के लिए बाध्य किया था। लेकिन आज की रात जनपद से दूर गंगा पार वृक्ष को साक्षी बनाकर बितानी है। फिर भी आत्माराम राम को न आराम की आवश्यकता है और न आनंद का अभाव। वह अपने लिए चिंतित नहीं हैं, पर चिंतित हैं अपनी साध्वी पत्नी के लिए और उस से भी बढ़कर अपने भ्रातृ-परायण लक्ष्मण के लिए। इसीलिए भीतर रममाण होनेवाले आत्मयोगियों में अग्रगण्य राम अपने भाई लक्ष्मण की ओर देखकर कहते हैं:

अद्येयं प्रथमा रात्रिर्याता जनपदाद् बहिः।
या सुमंत्रेण रहिता तां नोत्कण्ठितुमर्हसि ॥

"आज जनपद से बाहर हमारी यह पहली रात है। अब सुमंत्र का साथ भी छूट गया है। फिर भी घबराने की कोई बात नहीं है।" लगभग इसी प्रकार के शब्द तमसा तट पर भी राम के मुँह से निकले थे और वे भी लक्ष्मण को संबोधित थे। उस समय राम ने कहा थाः

इयमद्य निशा पूर्वा सौमित्रे प्रहिता वनम्।
वनवासस्य भद्रं ते न चोत्कण्ठितुमर्हसि ॥

दोनों अवसरों पर उत्कण्ठा शब्द का प्रयोग विशेष ध्यान देने योग्य है। यह उत्कण्ठा या घबराहट लक्ष्मण के मन में जितनी हो सकती है, उतनी शायद राम भी अपने अंदर ही अंदर अनुभव कर रहे हैं। वनवास केवल राम के लिए विहित था। उन की सहचरी सीता का उन के साथ चलना भी स्वाभाविक समझा जा सकता है। पर लक्ष्मण का उनके साथ चलना केवल मनोनीत तपस्या और स्वारोपित संयम है। राम को बार-बार इसी का दुःख होता है और इसी पर कातर भावना से उनका मन तनिक विचलित हो जाता है। आखिर यह सब क्रूरकर्मा कैकेयी की करतूत का परिणाम है। राज्य-लोभ और पुत्र-मोह के कारण जो नारी अपने वंशानुवर्ती पति को विवश बनाकर पुत्र वियोग से पीड़ित बना सकती है, वह पता नहीं और क्या कर डालेगी, इस बात की आशंका राम को भीतर ही भीतर आलोडित करती है। वह अपने पिता की लाचारी को भली भाँति समझ लेते हैं जिन को कामिनी कांता के सामने सिर झुकाकर अर्थ और धर्म से हाथ धोना पड़ा। न मालूम, आज की रात पिता पर क्या बीत रही होगी। माँ कैकेयी तो अपनी कामयाबी पर खुश होकर आराम से सो रही होगी, पर पिताजी के लिए रात बहुत ही दुर्भर होगी। अपने सौभाग्य के मद में मस्त कैकेयी पिताजी के प्राणों को भी संकट में डाल सकती है या सुमित्रा और कौसल्या को तरह-तरह की यातनाओं से परेशान कर सकती है। क्षुद्रकर्मा कैकेयी कुछ भी कर सकती है, अपने मार्ग को अकंटक बनाने के लिए किसी को विष भी दे सकती है। इस तरह के

अनेक भयंकर विचार राम के मन को बार बार आतंकित कर देते हैं। पर ये सब बातें राम लक्ष्मण से कह देते हैं और उन को यह सलाह देते हैं कि वह अयोध्या वापस जाकर माताओं की देखभाल करें।

राम की ये बातें सुनकर लक्ष्मण कुछ चकित होते हैं। पर साथ ही वह राम के हृदय को जानते हैं जो कभी कभी वज्र से अधिक कठोर बनता है और दूसरे ही क्षण कुसुम से भी अधिक कोमल। यह उन की मानवीय महनीयता है जिस पर देवता भी मुग्ध हो जाते हैं। माता-पिता और भ्राता की चिंता उन को पलभर के लिए अधीर बना देती है। सबसे अधिक माता की दयनीयता उनको जड़ से हिला देती है। जिस माँ ने उन को बचपन से लाड़-प्यार से पाला-पोसा है, उस के लिए उन्होंने बड़े होकर क्या किया है? कुछ नहीं किया, कम से कम अपना साथ भी नहीं दिया। ऐसे पुत्र का होना न होना बराबर है। इसी विक्षोभ से विचलित होकर राम समझते हैं कि वह अपनी माँ को मीठी-मीठी बातें सुनाकर मन बहलाने वाले तोते से भी गए बीते हैं। पर दूसरे ही क्षण वह अपने बल-पौरुष और पराक्रम पर ध्यान देकर कहते हैं कि वह चाहें तो अयोध्या क्या, सारे संसार को पल भर में अपनी मुट्ठी में बाँधकर संसार के सम्राट् बन सकते हैं। लेकिन नियति के विरुद्ध चलना नियतात्मा का लक्षण नहीं है। इसीलिए वह विधि-विधान को स्वीकार करने में अपना श्रेय समझते हैं। इस प्रकार की और भी कई बातें राम के मुँह से सुनकर लक्ष्मण अपने भाई को समझाते हुए कहते हैं:

नैतदौपयिकं राम यदिदं परितप्यसे।
विषादयसि सीतां च मां चैव पुरुषर्षभ॥

"पुरुषोत्तम राम, आप को इस प्रकार अपने को दुःखी बनाना नहीं चाहिए। इस से मेरा और भाभी का मनोबल शिथिल हो जाएगा।" - लक्ष्मण की इस सांत्वना से प्रकृत्या प्रशांत राम के भीतर की ज्वाला शांत हो जाती है और उन के शोकाकुल हृदय की विक्षुब्ध तरंगें धीरे-धीरे शांत हो जाती हैं। जब लक्ष्मण कहते हैं कि राम के बिना उन का जीना पानी के बिना मछली के जीने की तरह असंभव है तो राम भींगी आँखों से सारी रात पेड़ के नीचे मौन बिताते हैं।

रात बीत जाती है और फिर सुबह होती है। अब रथ का साथ छूट गया है, इसलिए पथ को पहचानना परम आवश्यक हो जाता है। सूर्य के उदित होते ही रश्मि-रथी के आलोक में सहज, सुलभ और संचरणयोग्य मार्ग का अनुसरण करते हुए सीता, राम और लक्ष्मण आगे बढ़ते हैं। अनदेखे, अनजाने और आत्मरुचिर वनस्थल नये नये देखने को मिलते हैं। थोड़ी दूर जाने पर यज्ञ वाटिका की धूमशिखा अग्निदेव की विजय पताका की तरह दूर से दिखाई देती है। अनुमान से राम समझ लेते हैं कि अब प्रयाग का पुण्यधाम बहुत दूर नहीं है जहाँ महर्षि भरद्वाज का परम पावन तपोवन है। यह धुँआ शायद वहीं से निकल रहा है। गंगा और यमुना के जल के टकराव से मंजुल ध्वनि निकलती है, वह भी सुनाई दे रही है। रास्ते में लकड़ी काटनेवाले भी दिखाई दे रहे हैं। जगह जगह पर सूखी कटी लकड़ियों के ढेर भी नज़र आ रहे हैं। यह सब देखते हुए आगे बढ़ने पर भरद्वाज का आश्रम मिल जाता है जहाँ पहुँचकर राम अपना तथा अपने भाई और पत्नी का परिचय देते हुए कहते हैं:

पुत्रौ दशरथस्यावां भगवन् रामलक्ष्मणौ।
भार्या ममेयं कल्याणी वैदेही जनकात्मजा॥

भगवन्, हम राजा दशरथ के बेटे राम और लक्ष्मण हैं। यह मेरी कल्याणकारिणी पत्नी विदेहराज जनक की बेटी है।

भरद्वाज को 'भगवन्' कहकर संबोधित करनेवाले राम जानते हैं कि उन को सारी कहानी सुनाने की आवश्यकता नहीं हैं। फिर भी संक्षेप में वह सब कुछ बता देते हैं। इन परिचय-वाक्यों में सब से महत्त्वपूर्ण शब्द 'कल्याणी' है। अपनी पत्नी का नाम लेना भारतीय शिष्टाचार (प्राचीन) के विरुद्ध है। इसलिए राम अपनी पत्नी का परिचय देते समय 'सीता' नाम के स्थान पर कल्याणी का उल्लेख करते हैं। वैसे किसी सुमंगली स्त्री को कल्याणी कहा जा सकता है। पर कल्याणी शब्द का

वास्तविक अर्थ चिरंतन चैतन्य से ओतप्रेत संजीवनी नारी होता है। आदिकवि वाल्मीकि के मन में कल्याणी शब्द के प्रति विशेष आकर्षण प्रतीत होता है। इस के अनेक प्रमाण हैं। शाश्वत ऐश्वर्य प्रदान करनेवाली साध्वी, वाणी और गाथा – तीनों अर्थों में वाल्मीकि ने कल्याणी शब्द का प्रयोग किया है। हनुमान् की वाणी पहली बार सुनने पर वाणी के मर्मज्ञ राम कहते हैं – "उच्चारयति कल्याणीं वाचं हृदय हर्षिणीं" (इन की वाणी कल्याणकारिणी और हृदय को आनंद प्रदान करनेवाली है।) इसी प्रकार पंपा के तट पर सीतातुर राम अपनी कल्याणी पत्नी का स्मरण करते हुए कहते हैं – "स्मारयिष्यति कल्याणीं कल्याणतर-वादिनीं" (कल्याणतर वार्तालाप करनेवाली कल्याणी सीता की बार बार याद आती है, कल्याण-हृदय राम को।) जब हमुमान् सारी लंका को जला डालते हैं तो सीता के भी नष्ट होने की आशंका उन को आतंकित कर देती है, पर दूसरे ही क्षण में वह आश्वस्त स्वर में कहते हैं – "न नशिष्यति कल्याणी, नाग्निरग्नौ प्रवर्तते (आग आग को जला नहीं सकती, इसलिए कल्याणी सीता-माता नष्ट नहीं हो सकतीं।) कल्याणी जानकी भी अशोक वाटिका में राम की चिर प्रतीक्षा के बाद हनुमान् के द्वारा राम का कुशल मंगल जान लेती हैं तो लोक वार्ता के अर्थ में कल्याणी शब्द का प्रयोग करते हुए कहती हैं – "कल्याणी बत गाथेयं लौकिकी प्रतिभाति मा"। बिल्कुल इसी अर्थ में और इन्हीं शब्दों में नंदिग्राम में चौदह वर्ष की प्रतीक्षा के बाद हनुमान् के मुँह से राम के शुभागमन का सुखद समाचार सुनकर भरत भी कहते हैं –

> कल्याणी बत गाथेयं लौकिकी प्रतिभाति मा।
> एति जीवंतमानंदो नरं वर्ष-शतादपि॥

इससे स्पष्ट होता है कि वाग्विशारद नारद से प्राप्त वाग्विलास को वाल्मीकि ने कल्याण शब्द के प्रयोग में कितना रस-निर्भर रूप दिया है। वास्तव में वाल्मीकि के राम कल्याण गुणाभिराम हैं और इसलिए राम की हृदयेश्वरी सीता कल्याणी है। इतना ही नहीं, रामायण की समस्त रमणीयता उस के इसी कल्याण गुण में निहित है। इसलिए सारी गाथा कल्याणी है। इतना सारगर्भित शब्द कल्याणी राम के मुँह से प्रासंगिक रूप से निकलता है – भगवान् भरद्वाज को अपनी पत्नी का परिचय कराते समय। सीता का नाम न लेकर उन्होंने शिष्टाचार का पालन तो कर ही दिया है, पर साथ ही कल्याणी का नाम लेकर काव्य कला और वाक्य सुधा का साकल्य ही उन्होंने प्रस्तुत किया है।

वैसे भरद्वाज जैसे भावितात्मा महर्षि को यह सब बताने की आवश्यकता नहीं थी। अपने आप आए हुए विशिष्ट अतिथियों का हार्दिक स्वागत करते हुए भरद्वाज इस बात की ओर मार्मिक संकेत भी करते हैं। वह कहते हैं:

> चिरस्य खलु काकुत्स्थ पश्याम्यहमुपागतम्।
> श्रुतं तव मया चैव विवासनमकारणम्॥

(काकुत्स्थ कुलभूषण राम, न मालूम कब से मैं तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा था, आज मेरी मनोवांछा पूरी हो गई है। मैंने यह भी सुना है कि तुम्हें अकारण वनवास दिया गया है।)

इससे पता चलता है कि भरद्वाज को न केवल इस बात की पूरी जानकारी थी कि राम का वनवास हुआ है, बल्कि उन को यह भी मालूम था कि राम अपनी वनवास की यात्रा के दौरान उन के आश्रम से होते हुए ही जाएँगे। इसीलिए वह राम की प्रतीक्षा कर रहे थे। भरद्वाज का आश्रम अयोध्या के शासकों के लिए एक प्रकार से सीमा-सुरक्षा की रेखा का काम देता प्रतीत होता है क्योंकि चौदह वर्ष के वनवास के बाद जब राम अयोध्या वापस जाते हैं तब भी भरद्वाज के आश्रम में एक दिन विश्राम करके ही जाते हैं। राम को वापस ले जाने के लिए जब भरत चित्रकूट की ओर प्रस्थान करते हैं तब भी रास्ते में भरद्वाज आश्रम में रुकते हैं। ऐसा लगता है कि भरद्वाज आश्रम तक का मार्ग अयोध्या के निवासियों के लिए परिचित और संचरणशील जनपथ था जिस के आगे वनपथ आरंभ होता था। इसीलिए

राम भरद्वाज से आगे के लिए पथप्रदर्शन माँगते हैं। पर भरद्वाज कहते हैं कि उन का आश्रम वन की सीमा पर ही है, इसलिए उन के आश्रम में रहकर ही वनवास की दीक्षा पूरी की जा सकती है। गंगा–यमुना का संगम–स्थल रमणीय और वासयोग्य है। लेकिन राम धर्म के मामले में कोई समझौता करना नहीं चाहते हैं। वन का मतलब वन ही है। वन जैसा आश्रम उन के लिए वन नहीं बन सकता। इसके अलावा, अयोध्या से निकट होने के कारण अयोध्या और आसपास के लोग बार–बार सीता, राम और लक्ष्मण को देखने के लिए आते जाते रहेंगे। इस से भी दीक्षा में बाधा पड़ेगी। इसलिए वह एकदम एकांत कांतार प्रांत का प्रशांत स्थान अपने निवास के लिए चाहते हैं और यह स्थान भरद्वाज जैसे वनविशेषज्ञ ही बता सकते हैं।

राम के इस अर्थग्राहक वचन का रहस्य जानने में भरद्वाज को देर नहीं लगती। वह सब कुछ समझकर सब से बढ़िया स्थान बताते हैं जहाँ पर एक तरफ बड़े–बड़े ऋषि मुनि रहते हैं और दूसरी तरफ रीछ–बंदर जैसे विचित्र जानवर भी रहते हैं। गंधमादन पर्वत के समान सुरभिल और स्फूर्ति दायक होने के कारण वह एकांतवास के लिए सर्वथा उपयुक्त है। इसी का नाम चित्रकूट है। चित्रकूट के शिखर केवल मनोहर ही नहीं, बल्कि सांसारिक जीवन को सार्थक और सफल बनाकर पाँचभौतिक प्राणी को परम कल्याण प्रदान करते हैं। इसी पर्वत पर अनेक तपस्वियों ने अपनी तपस्या के बल पर सशरीर स्वर्ग को प्राप्त किया है। इसलिए भरद्वाज परामर्श देते हैं कि चित्रकूट जैसा 'प्रविविक्त' स्थान श्रीराम के निवास के लिए सर्वथा प्रशस्त है। फिर भी वह अपनी पहली बात फिर दुहराते हुए कहते हैं कि अगर राम को आपत्ति नहीं है तो वह आराम से इसी आश्रम में रह सकते हैं। महर्षि की यह ममताभरी मंत्रणा राम को निरुत्तर बनाती है। वह तत्काल कुछ नहीं कहते और रात को काफी देर तक महर्षि के पास बैठकर उन के मुँह से चित्र विचित्र कहानियाँ सुनकर सत्संग से अपना मन बहला लेते हैं।

मंगलमय विचार और मधुर कथानक रात को रमणीय बनाते हैं। अगले दिन सबेरे उठकर राम भरद्वाज से बिदा माँगने जाते हैं तो मीठे–मीठे कंदमूल फल प्रदान करनेवाले चित्रकूट की प्राकृतिक सुषमा का वर्णन करते हुए भरद्वाज कहते हैं कि वही तुम्हारे लिए उपयुक्त निवासस्थान है। सीता, राम और लक्ष्मण को मुनि का पादाभिवंदन कर चित्रकूट की दिशा में प्रस्थित पाकर भरद्वाज के हृदय में पिता का वात्सल्य उमड़ पड़ता है। अपनी संतान की मंगल कामना के लिए पिता के द्वारा जैसा स्वस्त्ययन किया जाता हे, वैसा ही आशीर्वाद देकर वह तीनों को बिदा करते हैं और बिदा करते करते वह उन के साथ काफी दूर चलते हैं। गंगा–यमुना के संगम को पारकर यमुना के एकांत तट पर कैसे पहुँचना है, गंगा के प्रवाह–वेग से प्रभावित होकर प्रतिकूल दिशा में बहनेवाली कालिंदी को पार करने के लिए अनुकूल तट को कैसे पहचानना है, पार करानेवाला बेड़ा कैसे बना लेना है, यमुना को पार करने के बाद किनारे पर फैले हुए विशाल श्याम वट की छाया का कितनी देर और किस प्रकार आनंद लेना है और उस दिव्य वृक्ष के सामने हाथ जोड़कर सीता बेटी को कैसे उस का आशीर्वाद प्राप्त करना है, वहाँ से आगे चलने पर चीड़ और बेर के पेड़ों से भरा हुआ नीलवन कहाँ और कैसे दिखाई देता है और वहाँ से आगे चित्रकूट की तरफ कैसे रास्ता खुल जाता है – ये सब बातें बड़ी बारीकी के साथ समझाकर भरद्वाज अपने आश्रम में वापस चले जाते हैं।

भरद्वाज का यह पथ–परिचय प्रत्यक्ष ज्ञान पर आधारित है, यह बात भरद्वाज स्वयं कहते हैं। वह कहते हैं कि मैं इस मार्ग से कई बार गया हूँ (गतस्य बहुशो मया)। पहले स्वयं चलकर फिर दूसरों को उस रास्ते पर चलने को कहने में ही आचार्यों की आचरणपरायणता का आदर्श अभिव्यक्त होता है। इसी कोटि के आचार्यत्व को भरद्वाज में पाकर राम अपने को धन्य समझते हैं और भाई लक्ष्मण से कहते हैं: "कृतपुण्याः स्म भद्रं ते मुनिर्यन्नोऽनुकंपते" (हम सचमुच बड़े भाग्यशाली हैं जिनको महामुनि की महती अनुकंपा का मंगलमय वरदान मिला है।)

भरद्वाज द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर सीता, राम और

लक्ष्मण आगे बढ़ते हैं। जंगल के सूखे काठ बटोर कर दोनों भाई बेड़ा तैयार कर लेते हैं और कालिंदी के किनारे स्थित वटवृक्ष को सीता जी अपनी विनयांजलि अर्पित कर उन से अभीष्ट वरदान प्राप्त कर लेती है। रास्ते में तरह-तरह के पेड़-पौधे और फल-फूल दिखाई देते हैं तो सीता जी उन के बारे में पूछती हैं और श्रीराम उन के बार में रोचक बातें बताते हुए अपनी पत्नी का मन बहलाते हैं। जिन फूलों और फलों पर सीता जी का मन रमता-सा दिखाई देता है, लक्ष्मण तत्काल अपनी भाभी के पास उनको ला देते हैं। इस प्रकार रास्ते में रमणीय दृश्य देखते हुए, पक्षियों का कलरव सुनते हुए स्वादिष्ट जल पीते हुए, मधुर फलों का रसास्वादन करते हुए देखते ही देखते सीता समेत दोनों भाई चित्रकूट पर पहुँच जाते हैं।

मार्ग में वाल्मीकि का आश्रम भी दिखाई देता है जहाँ पर महर्षि द्वारा सीता, राम और लक्ष्मण का सहर्ष किंतु संक्षिप्त स्वागत किया जाता है। आगे चलकर अपने अमर काव्य का आधार बननेवाले महामानव को अपने आश्रम में पाकर महर्षि के मन में कितनी मधुर भावनाएँ अनायास उदित हुई होंगी, यह कवि की अपेक्षा काल ने अधिक पहचान लिया होगा। इस प्रसंग में कवि के मुँह से केवल एक ही शब्द निकलता है - "आस्यताम्" (आइए, बैठिए।) समस्त संसार को आवासित करने की इच्छा से अयोध्या को छोड़कर वनवास के लिए निकल पड़े लोकाभिराम राम को 'आस्यताम्' कहने का अधिकार केवल आदि कवि जैसे मनीषी को मिल सकता है और इस अधिकार का यहाँ पर सदुपयोग हुआ है।

गतिशीलता राम के जीवन की सब से बड़ी विशेषता है। वह पल भर भी विश्राम करने की बात सोच नहीं पाते। ऐसे संचरणशील व्यक्ति को बैठने को कहने के लिए वक्ता में अधिकार तो होना ही चाहिए, साथ गति को स्थिति में देखने की क्षमता भी होनी चाहिए। "बसहु राम सिय मानस मोरे" जैसी भावना से पुलक उठनेवाले भक्त भगवान् से केवल प्रार्थना ही कर सकते है। पर महाकवि वाल्मीकि को अपने महामानव को अपने मानस-मंदिर में बिठाने का पूरा पूरा अधिकार है। अयनशील राम को आयतन प्रदान करनेवाले आदिकवि का समस्त आर्ष व्यक्तित्व 'आस्यताम्' - इस छोटे से अनुरोध में समाहित है। वैसे भगवान् "मान न मान मैं तेरा मेहमान" कहकर सब के हृदय में सदा प्रतिष्ठित रहते है (ईश्वरः सर्व-भूतानां हृद्देशे ऽर्जुन तिष्ठति।)

अब चित्रकूट तक राम का अयन पहँच गया है। चित्रकूट राम के अयन के अनेक कूटों का विचित्र संगम स्थल है। राजभवन से राजपथ, राजपथ से जन-पथ, जनपथ से जनपद, जनपद से मुनिपद और मुनिपद से वनपद - यह अब तक राम के अयन का क्रम रहा है। आगे चलकर और कितने पथ और कितने पद देखने को मिलेंगे, इन का बीज शायद चित्रकूट में कूट कूट कर भरा हुआ है। इसी कूट की ओर संकेत करता है, भरद्वाज का पथ-प्रदर्शन।

24. ले चल वहाँ जहाँ हैं राम

तमसा की तरल तरंगें अंधकार को आलोक में परिवर्तित कर देती हैं तो प्रसन्न पुण्यसलिला भगवती भागीरथी की निर्मल जलधारा जन-पद को वन-पद से पृथक् कर देती है। गंगा के उस पार सीता, राम और लक्ष्मण को आशांत रेखा तक अपलक नयनों से देख-देख कर राम-रथ के सारथी सुमंत्र गुह समेत वापस चले जाते हैं। पर वह एकदम अयोध्या नहीं जाते, गुह के अनुरोध पर पहले उन के घर जाते हैं और वहाँ पर कुछ समय इस आशा से बिताते हैं कि कहीं राम अपना विचार बदलकर वापस आ जाएँ। परंतु जब गुह के गुप्तचर यह समाचार ले आते हैं कि श्रीरामचंद्रजी का भरद्वाज के आश्रम में भव्य स्वागत हुआ और उन्हीं के मार्ग-दर्शन पर सीता, राम और लक्ष्मण चित्रकूट में बस गए हैं तब लाचार होकर सुमंत्र यंत्रवत् अयोध्या की ओर चल पड़ते हैं। पर उनका मन उन के तन का साथ नहीं देता। मन पीछे की ओर चलना चाहता है, पर तन को आगे बढ़ना पड़ता है। केवल सुमंत्र की नहीं, बल्कि उन के रथ के घोड़ों की भी लगभग यही दशा होती है। राम से बिदा होते समय अपने घोड़ों की आँखों से बहनेवाले गरम गरम आँसुओं का वर्णन करते हुए सुमंत्र महाराज दशरथ से अयोध्या पहुँचने पर कहते हैं:

मम त्वश्वा निवृत्तस्य न प्रावर्तन्त वर्त्मनि।
उष्णमश्रु विमुंचंतो रामे संप्रस्थिते वनम्॥

अपने को और अपने घोड़ों को समझा-बुझाकर अंत में सुमंत्र अयोध्या वापस पहुँच जाते हैं। अयोध्या का चेहरा भी कम उदास नहीं दिखाई देता। शाम के समय सुमंत्र का रथ जब अयोध्या की सड़कों में से गुजरता है तो सारा शहर सूना-सूना और अनमना-सा दिखाई देता है। लगता है कि राम के वियोग की ज्वाला से सारी नगरी जल कर राख बन गई हो। रास्ते में इने गिने लोग सूने रथ को देखकर सुमंत्र से कुछ पूछने का प्रयास करते हैं, पर बिना पूछे ही शून्य हृदय की शोकाकुल वेदना को संकेत मात्र से समझ जाते हैं और अपने आप को धिक्कारने लगते हैं क्योंकि अब शहर के सामाजिक और सार्वजनिक उत्सवों में रामचंद्र का प्रसन्न मुख-मंडल बहुत दिन तक देखने को नहीं मिलेगा। राजमहल से तो हर खिड़की राम का नाम लेकर सिसकियाँ भरती-सी दिखाई देती है।

राजभवन की सात कक्षाओं को जल्दी-जल्दी पार कर कुछ अनभीष्ट अनर्थ की आशंका से आतुर सारथी अष्टम कक्षा में पहुँचकर पुत्रवियोग से पांडुर-काय राजा को उनके 'पांडुर' गृह में देखकर अभिवादन पूर्वक उन को राम का वृत्तांत सुनाने लगते हैं। पर राजा दशरथ का शोकाकुल मन सुमंत्र को देखते ही समस्त इंद्रियों के साथ राम के पास पहुँच जाता है। सुमंत्र की बातें राजा के कानों तक पहुँच जाती हैं, पर कान उन को सुनने से इन्कार कर देते हैं। इसलिए दशरथ पर सारथी की बातों की कोई प्रतिक्रिया नहीं होती। वह लगभग बेहोश होकर ज़मीन पर गिर पड़ते हैं। पर बगल में खड़ी कौसल्या अपने पति की मनस्थिति को सही सही पहचान नहीं पातीं क्योंकि वह भी शोकाकुल हैं। अपने ही शोक से व्याकुल मातृ-हृदय पिता की पीड़ा को समझ नहीं पाता, बल्कि वह उन की चुप्पी को गलत

समझ लेती हैं। वह समझती हैं कि कैकेयी के भय से वह सुमंत्र से राम का समाचार पूछने में संकोच कर रहे हैं। अपने मन की बात वह कह भी डालती हैंः

देव यस्या भयाद् रामं नानुपृच्छसि सारथिम्।
नेह तिष्ठति कैकेयी विश्रब्धं प्रतिभाष्यताम्॥

(स्वामी, आप जिस के डर के मारे राम के बारे में अपने सारथी से कुछ पूछने में संकोच कर रहे हैं, वह कैकेयी यहाँ आसपास कहीं भी नहीं है, इसलिए आप आराम से अपना दिल खोलकर इनसे बात कर सकते हैं।)

कौसल्या की इन कटाक्षभरी बातों का दशरथ पर कितना गहरा और घातक प्रभाव पड़ा होगा, इस का अनुमान स्वयं कौसल्या कर लेती हैं – पर बात मुँह से निकलने के बाद। जो बात मुँह से निकल पड़ती है, उसे वापस नहीं लिया जा सकता। इसलिए कौसल्या अपनी लाचारी और जल्दीबाज़ी पर पछताकर बेहोश होकर गिर पड़ती हैं।राममाता कौसल्या और राजा दशरथ को इस दयनीय दशा में देखकर सारा अंतःपुर तड़प उठता है।

राम, केवल राम की चिंता से व्याकुल राजा दशरथ किसी तरह होश संभालकर हिम्मत बटोरकर सुमंत्र को पास बुलाते हैं और पूछते हैं, "सूत, मेरा धर्मात्मा बेटा राम निर्जन वन में कहाँ किस पेड़ की जड़ में कैसे सोएगा, क्या खाएगा, क्या पिएगा, कैसे दिन बिताएगा? धरणीवल्लभ का बेटा रूखी सूखी धरती पर कैसे सोएगा? जिस के पीछे पीछे, रथ पर अनेक अनुचर चलते थे, वह अकेले कैसे चलता होगा? अब हमारे दोनों पुत्रों और पुत्रवधू को वन में भयंकर जानवरों के चेहरे देखते हुए उन की कर्कश ध्वनि को सुनते हुए जाना पड़ेगा। रथ से उतरकर पथ का सहारा लेकर न मालूम हमारे बेटे किन किन प्रांतों में कैसे चल रहे होंगे? सुमंत्र, तुम सचमुच बहुत भाग्यशाली हो, मंदर पर्वत के वन में प्रवेश करनेवाले अश्विनी कुमारों की तरह राम और लक्ष्मण को वन में प्रवेश करते हुए तुम ने अपनी आँखों से देख लिया है। ययाति की तरह मैं यहाँ पर असहाय और असह्य वेदना से व्याकुल होकर पल पल युग-सा बिता रहा हूँ। मेरे हृदय का उपशमन करनेवाली बातें बताओ। मेरे राम ने मेरे लिए क्या कहा? लक्ष्मण ने क्या कहा? बेटी सीता ने क्या कहा? वे कहाँ बैठे हैं, कहाँ सोए हैं, क्या खा रहे हैं – सब विस्तार से बताओ।"

राजा दशरथ की इस परिपृच्छा में जो परिताप, अनुताप और संताप है, उसे सुमंत्र बड़ी सुगमता से समझ लेते हैं और समवेदना के स्वर में धर्मपरायण राम का तत्त्वदर्शी संदेश सुनाते हैं। सब से पहले पितृभक्त राम ने विदितात्मा और महात्मा पिता का मन से पादाभिवंदन किया है और राज-परिवार के सभी सदस्यों को अपने आरोग्य (कुशल-मंगल) का समाचार भेजा है। इस के बाद अपनी माँ कौसल्या को कुशल समाचार और अभिवादन प्रेषित करते हुए धर्मनिष्ठ राम ने उन से निवेदन किया है कि मान, अभिमान, आक्रोश आदि का परित्याग कर वह सदा अपने पति को देवता मानकर उन को प्रसन्न रखें। इसी प्रकार भरत को उन्होंने सलाह दी है कि युवराज बनने के बाद भी वह अपने वयोवृद्ध पिता का यथोचित आदर-सत्कार करें और उनकी आज्ञा का पालन करने में किसी प्रकार का प्रमाद न होने दें। अंत में माँ कौसल्या को अपनी ही माँ समझकर उन की सेवा-शुश्रूषा करने की सलाह देकर कमलनयन राम यह कहते कहते अपनी आँखों से अविरल अश्रुधारा बहाने लगे। सुमंत्र के मुँह से राम के ये उदार वाक्य सुनकर पिता का हृदय कितना द्रवीभूत हो गया होगा, यह कोई भी सहृदय व्यक्ति सरलता से अनुमान लगा सकता है। पर सुमंत्र इस का प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं और महाराज में कुछ राजसी भावना उत्पन्न करने के लिए लक्ष्मण के रोषपूर्ण वचन भी सुनाते हैं।

लक्ष्मण का पहला ही वाक्य चुनौती के स्वर में मुखरित होता है। सुमंत्र के शब्दों में वह कहते हैंः

लक्ष्मणस्तु सुसंक्रुद्धो निःश्वसन् वाक्यमब्रवीत्।
केनायमपराधेन राजपुत्रो विवासितः॥

सात्विक क्रोध से अभिभूत लक्ष्मण लंबी-लंबी सांस खींचते हुए अपने पिता से ललकार कर पूछते हैं कि किस अपराध के कारण राजा ने अपने बेटे को निर्वासित किया है। कैकेयी का राज्य-लोभ या वरदान या दैवी प्रेरणा चाहे जो भी कारण रहा हो, कोई भी कारण राम के विवासन का समर्थन नहीं कर सकता। आक्रोश के स्वर में लक्ष्मण एक कदम आगे बढ़कर कहते हैं कि उचित अनुचित का विचार किए बिना खोटी बुद्धि के कारण राजा ने यह अकरणीय कार्य किया है जो कि एकदम निंदनीय है। ऐसे पिता को वह पिता मानने को तैयार नहीं है और न राजा मानने को तैयार हैं क्योंकि उनका तर्क हैः

सर्वप्रजाभिरामं हि रामं प्रव्राज्य धार्मिकम्।
सर्वलोक-विरोधेन कथं राजा भविष्यति॥

अपने धर्मसम्मत आचरण के द्वारा राज्य की समस्त प्रजा में लोकाभिराम के रूप में लोकप्रिय राम को देश से बाहर निकालकर वह राजा कहलाने योग्य कैसे रहेंगे, यह लक्ष्मण का सीधा सवाल है जिस का कोई भी जवाब किसी के पास नहीं है। केवल राजा का सत्य और राम का धर्म इसे विवश होकर स्वीकार रहा है।

अंत में सीताजी का नीरव संदेश सुनाते हुए सुमंत्र कहते हैं -

जानकी तु महाराज निःश्वसंती तपस्विनी।
भूतोपहतचित्तेव विष्ठिता विस्मिता स्थिता॥

जो कुछ हो रहा है, सब सहते हुए तपस्विनी की तरह अपने तापस पति का अनुगमन करनेवाली जनकनंदिनी कुछ नहीं बोली, जहाँ थी, वहीं की वहीं खड़ी रही - एकदम चकित, स्तब्ध और मौन मानों उन पर किसी भूत का आवेश हो गया हो। वह एकदम भोली-भाली और सब कुछ नहीं तो बहुत कुछ भूली-सी जान पड़ती थीं।

सुमंत्र की यह वनवास-वार्ता राजा दशरथ को जड़ से हिला देती है और उनको जडीभूत कर देती है। अपनी विवशता, कर्कशता ओर अकर्मण्यता को आँसुओं के माध्यम से स्वीकारते हुए वह अपने सारथी से दीन-हीन क्षमायाचना के स्वर में कहते हैं –

सूत यद्यस्ति ते किंचित् मयापि सुकृतं कृतम्।
त्वं प्रापयाशु मां रामं प्राणाः संत्वरयंति माम्॥

(हे सूत, यदि मैंने कभी तुम्हारा कोई उपकार किया है और तुम मेरा आभार मानते हो या मैंने अपने जीवन में कोई भी अच्छा काम किया है तो उस के प्रतिफल के रूप में मैं तुम से केवल इतना ही चाहता हूँ कि तुम मुझे जल्दी से जल्दी राम के पास पहुँचा दो क्योंकि मेरे प्राण मुझे तत्काल राम का सान्निध्य प्राप्त करने के लिए प्रेरित कर रहे हैं।)

लक्ष्मण का यह आरोप, कि राजा दशरथ न राजा हैं न पिता हैं, राजा के अंग अंग को व्यथित बना देता है। परिताप के स्वर में वह कहते हैं कि अगर आज भी इस राज्य में मेरा शासन चलता है तो मैं सब से पहले यही आदेश देना चाहता हूँ कि राम को तत्काल वन से वापस बुला लिया जाए। अगर यह संभव नहीं है तो राजा के रूप में न सही, कम से कम पिता के रूप में मैं चाहूँगा कि मेरा सारथी मुझे रथ पर बिठाकर अविलंब मुझे राम के पास ले जाए क्योंकि राम को देखे बिना मैं पलभर भी नहीं जी सकता।

शोक-सागर में डूबकर उसे पार करने में अपने को असमर्थ पानेवाले दशरथ को देखकर कौसल्या भी शोकाकुल बन जाती हैं। अपने पति की तरह वह भी "ले चल वहाँ जहाँ हैं राम" शब्द दुहराते हुए सुमंत्र से कहती हैंः

नय मां यत्र काकुत्स्थः सीता यत्र च लक्ष्मणः।
तान् विना क्षणमप्यद्य जीवितुं नोत्सहे ह्यहम्॥

जहाँ राम हैं, सीता हैं और लक्ष्मण हैं वहाँ तत्काल पहुँचने की बात कौसल्या और दशरथ दोनों के मन में एक साथ उठती है और यह सुमंत्र की अनियंत्रित वाणी का कुपरिणाम है। लेकिन इस के लिए सुमंत्र को भी दोषी नहीं ठहराया जा सकता क्योंकि

वह स्वयं राम-शोक से व्याकुल हैं। शोकातुर व्यक्ति दूसरों के शोक को पहचान नहीं पाता। यही बात सुमंत्र के साथ हो जाती है और वही बात राजा दशरथ और रानी कौसल्या के साथ भी घटित हो जाती है। तीनों व्याकुल हैं और तीनों अपने शोक से दूसरों के शोक को अनजान ही में बढ़ाते हैं। इस में विधि की विडंबना को छोड़कर किसी का कोई दोष नहीं है। पर सुमंत्र तत्काल समझ जाते हैं कि उन को वनवास का समाचार इस प्रकार नहीं सुनाना चाहिए था। उन्होंने जो कुछ कहा, वह सत्य अवश्य था, पर वह अप्रिय सत्य था। हितकर सत्य को प्रिय शब्दों में कहने में ही संदेशवाहक की भूमिका सार्थक और सफल होती है। इस सत्य को पहचानकर सुमंत्र हाथ जोड़कर राजा और रानी को सांत्वना देते हुए अपना पहले का स्वर बदलकर कहते हैं:

त्यज शोकं च मोहं च संभ्रमं दुःखजं तथा।
व्यवधूय च संतापं वने वत्स्यति राघवः॥

अब सुमंत्र का तर्क यह है कि वनवास के कारण राम दुःखी नहीं है और राम का सहारा पाकर सीता भी प्रसन्न हैं, इसलिए राज-दंपति को भी दुःखी नहीं होना चाहिए। पहले अपने मुँह से प्रमाद से निकली हुई बात को मंत्रकोविद सुमंत्र बदलते तो नहीं हैं, पर उस पर दूसरा रंग चढ़ा देते हैं। वनवास को विहार और विनोद की यात्रा समझकर निर्जन वन में भी राम के संग रहने के कारण राजभवन का आनंद लेनेवाली भोली भाली बाला सीता की वन लीला को विस्तार से प्रस्तुत करते हुए सुमंत्र वृद्ध दंपति का दुःख दूर करने का भरसक प्रयास करते हैं। ध्यान देने की बात है कि सुमंत्र इस सांत्वनापूर्वक संवाद में केवल सीता जी के सहज आनंद का वर्णन करते हैं और राम-लक्ष्मण का केवल प्रासंगिक उल्लेख मात्र कर देते हैं। इसी में सुमंत्र की सूक्ष्म सुभाषिता का रहस्य छिपा हुआ है। वह सत्य को प्रिय बनाने के लिए असत्य तो नहीं कहते, पर अप्रिय सत्य को कम से कम अप्रिय बनाने के लिए शाश्वत सत्य का सहारा लेते हैं। कोई घटना कुछ समय के लिए दुःखद भले ही प्रतीत हो, पर उससे यदि स्थायी और सार्वजनिक सुख की सिद्धि होनेवाली है तो वह परम सुख के पद से परिभाषित होगी। इसी तथ्य को सुमंत्र बड़े नपे तुले शब्दों में अपने मंतव्य के सार के रूप में प्रस्तुत करते हुए कहते हैं:

न शोच्यास्ते न चात्मा ते शोच्यो नापि जनाधिपः।
इदं हि चरितं लोके प्रतिष्ठास्यति शाश्वतम्॥

सुमंत्र का सुचिंतित मत है कि सीता, राम और लक्ष्मण के बारे में तनिक भी सोचने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि तीनों के उन्नायक राम शरीरधारी होते हुए भी आत्मवान् हैं और आत्मा हमेशा शोक और मोह से परे होती है। राजा, राज्य और प्रजा के बारे में भी चिंतित होने की कोई बात नहीं है क्योंकि लोकरंजक राम के संसर्ग से सारा परिवार, परिवेश और परिप्रेक्ष्य लोकपावन चरित्र का लोकोत्तर आदर्श संसार के सामने प्रस्तुत करेगा। आज का यह तथाकथित शोक भविष्य में समस्त लोक को शाश्वत आलोक प्रदान करेगा।

पर सुमंत्र के इस सुयोग्य और युक्तियुक्त प्रवचन का शोकाकुल माता कौसल्या पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह तो "मेरे प्यारे बेटे राम" (प्रियेति पुत्रेति च राघवेति) की रट लगाती हुई रोती और बिलखती ही रहती हैं। अपने ही शोक में मग्न होने के कारण वह दूसरों के गुण-दोष को पहचानने का विवेक भी खो बैठती हैं। पास बैठे पति को वह इस सारे अनर्थ का मूल कारण मानती हैं और उन्हें दारुण शब्दों में राम के वनवास का एकमात्र दोषी ठहराते हुए कहती हैं कि यद्यपि सारे संसार में आप धर्मात्मा, उदार, दयालु और प्रियभाषी के रूप में विख्यात हैं, फिर भी आप ने अपने सुकुमार राम को घर से निकालकर बहुत ही निकृष्ट कार्य किया है जो कि आप को शोभा नहीं देता। सुख में पले राजकुमार को आप ने दुःख का शिकार बनाया। राम की बात छोड़िए, राजा जनक की लाड़ली बेटी सुकुमारी सीता को, जो हमारे बेटे राम के साथ यहाँ सुख भोगने आई थी, राजभवन की सुख सुविधा से वंचित कर दंडक वन के कठोर जीवन की

सहभागिनी बनाने का हमें क्या अधिकार था? कैकेयी की बातों में आकर आपने यह घोर अन्याय किया है जिस के लिए आप को कोई भी माफ नहीं कर सकता। अगर राम चौदह साल के वनवास की दीक्षा पूरी करके अयोध्या वापस आ भी गया तो भी वह भरत की जूठन के रूप में इस राज्य को स्वीकार नहीं करेगा। शोक-मोह के कारण विवेक को खो बैठी कौसल्या अपने पति को इस कदर कोसने लगती हैं कि वह स्वयं इस दूषण से प्रदूषित बन जाती हैं और कलुषित स्वर में कहती हैं कि राजा के इस अविवेक के कारण सारा राज्य मारा गया, राज परिवार विच्छिन्न हो गया, पर इतना दारुण दुःख सहते हुए भी उस की माँ जीवित है। वह समझती हैं कि उन का हृदय सचमुच लोहे का बना हुआ है क्योंकि वह इतना आघात सहकर भी अपने प्राणों को धारण कर बैठी हैं।

कौसल्या की सारी बातें राजा बड़ी सहिष्णुता के साथ सुनकर दुःखी तो होते हैं, पर नाराज़ नहीं होते। वह मन ही मन सोचने लगते हैं कि कौसल्या ने जो कुछ कहा, ठीक ही कहा, पर पिता के हृदय को वह पहचान नहीं पाती। जो कुछ हुआ है, वह राजा दशरथ की अपनी इच्छा से नहीं हुआ, बल्कि उन की अनिच्छा के बावजूद हुआ है। सत्य और धर्म ने राजा के मन को दो विभिन्न दिशाओं में घसीट लिया है। सत्य- पराक्रम राम ने अपने धर्मात्मा पिता को सत्य की अवहेलना से बचाया है। पर इतनी गहराई से वस्तुस्थिति को कौसल्या समझ नहीं पातीं। वह माँ हैं, केवल माँ हैं जो अपने बेटे को देखती हैं और कुछ नहीं देख पातीं। पर दशरथ सब कुछ देखते हैं, दशों दिशाओं को देखते हैं और अपनी दशा को भी देखते हैं। इसलिए कौसल्या की सारी बातें सुनने के बाद उन के मुँह से केवल एक ही शब्द निकलता है – 'राम' (निशम्य रामेति मुमोह दुःखितः)।

राम का नाम लेने मात्र से राजा के भीतर का नेत्र खुलता है। क्षणिक मोह के कारण होनेवाला दुःख धीरे-धीरे दूर हो जाता है। वह कौसल्या के हृदय को समझ लेते हैं और अपनी स्थिति से भी अवगत हो जाते हैं। बड़ी विनम्रता के साथ वह कौसल्या को समझाने का प्रयास करते हैं कि पति चाहे गुणवान् हो या गुणहीन, पत्नी के लिए वही आराध्य होता है और विशेषकर जब पति-पत्नी दोनों समान शोक से समान रूप से व्याकुल हों। फिर भी राजा अपनी गलती स्वीकार करते हैं जिस पर उन का कोई काबू नहीं था और हाथ जोड़कर कौसल्या से क्षमा माँगते हुए कहते हैं:

प्रसादये त्वां कौसल्ये रचितोऽयं मयाञ्जलिः।
वत्सला चानृशंसा च त्वं हि नित्यं परेष्वषि॥

(कौसल्ये, मैं हाथ जोड़ कर तुम से निहोरा करता हूँ, तुम प्रसन्न हो जाओ। तुम औरों पर भी हमेशा दया दिखाती हो, फिर अपने पति के प्रति कठोर बनना तुम्हारे लिए उचित नहीं है।)

अब कौसल्या समझ लेती हैं कि इस में उन के पति का कोई दोष नहीं है। वह भी राजा से क्षमा माँगती हैं। अधर्म के भय से वह काँप उठती हैं। राजा के चरणों में नतमस्तक होकर वह कहती हैं:

प्रसीद शिरसा याचे भूमौ निपतितास्मि ते॥
याचितास्मि हता देव क्षंतव्ययाहं नहि त्वया॥

अब राजा दशरथ और रानी कौसल्या एक दूसरे को ठीक ठीक समझ लेते हैं और मन की ऐसी विशोका भूमिका में पहुँच जाते हैं जहाँ से शोक-मोह की छाया तक नहीं दिखाई देती बल्कि गुण-दोष का अंतर भी मिटता-सा दिखाई देता है। गुणवान् को सर्वत्र गुण ही गुण दिखाई देता है और दोषी हर जगह दोष का ही दर्शन करता है। राम का शोक ही माता-पिता को यह शोक-रहित आलोक प्रदान करता है। शोक से आलोक प्राप्त करानेवाला यह अलौकिक तत्त्व ही, सुमंत्र के शब्दों में, क्षणभंगुर संसार को शाश्वत तत्त्व प्रदान करने में सक्षम होता है।

॥ इदं हि चरितं लोके प्रतिष्ठास्यति शाश्वतम् ॥

25. पाप शाप परिताप समापन

श्री राम को वन में गए अभी केवल पाँच रातें बीच चुकी हैं, पर राममाता कौसल्या को ये पाँच रातें पांच वर्ष-सी प्रतीत होती हैं क्योंकि वह दुःख के भार से पल पल गिन कर तिल तिल काटने लगती हैं। पिता दशरथ की बात ही कुछ और है। उन का दुःख तो गिनती की सीमा को पार कर जाता है। माता का हृदय केवल ममता को देखता है, पर पिता का हृदय परिवार की सीमा को पारकर एक ओर प्रपंच और दूसरी ओर परमार्थ को पहचानने का प्रयास करता है। इसीलिए उनके मन में भीषण संघर्ष उत्पन्न होता है और रह रह कर वह उन के भावुक और नाजुक हृदय को उद्वेलित कर देता है। कीर्तिकामिनी कैकेयी का कठोर सत्य कभी कभी उन को ललकारने लगता है तो धर्म-निरता कौसल्या की दयनीयता उन को दूसरे ही क्षण निरुत्तर और निश्चेष्ट बना देती है। इसी दिग्भ्रम की दशा में पड़कर राजा दशरथ सत्य का सच्चा स्वरूप समझ नहीं पाते। वह समझते हैं कि वर्तमान स्थिति में सच कहना ही असत्य बन रहा है। ऐसी दशा में वह न कैकेयी को दिए गए वचन को वापस ले सकते हैं और न जन्म से ज्येष्ठ और शील में श्रेष्ठ राम को वन जाने से रोक सकते हैं। राजा के इस आंतरिक संघर्ष को सत्यधर्म परायण राम पल भर में पहचान लेते हैं और अपने असाधारण और अलौकिक त्याग से सत्य और धर्म के बीच एक सात्विक और साधक समीकरण बिठा देते हैं। लेकिन ममता के मोह में पड़कर माता कौसल्या अपने पुत्र की इस गरिमा को पहचान नहीं पातीं। वह अपनी स्थिति और अपने धर्म को एकदम नहीं जानती हैं, यह बात भी नहीं है। वह सब कुछ जानती हैं, पर पुत्रशोक से विवश होकर अपने सत्यसंध पति को भला बुरा कहती हैं और बाद में पछताकर कहती हैं:

जानामि धर्मं धर्मज्ञ त्वां जाने सत्यवादिनम्।
पुत्रशोकार्तया तत्तु मया किमपि भाषितम्॥

(मैं अपने धर्म को जानती हूँ, जानती हूँ कि एक सती साध्वी को अपने सत्यनिष्ठ पति के प्रति कैसा व्यवहार करना है और यह भी जानती हूँ कि सत्य के लिए आप अपना सर्वस्व न्यौछावर करने में तनिक भी संकोच करनेवाले नहीं हैं। लेकिन पुत्रशोक से मैंने धर्मसम्मूढ़ बनकर जो कुछ मन में आया और जीभ पर उतरा सब कुछ कह दिया, उचित-अनुचित का तनिक भी ध्यान नहीं रखा।)

कौसल्या यह बात तब कहती हैं जब राजा उन से क्षमा याचना करते हुए कहते हैं कि पाप-संकल्पा कैकेयी के प्रणय और भय का शिकार बनकर तुम्हें जो आदर सम्मान और अनुराग देना था, वह मैं नहीं दे सका और न राम को वन जाने से रोक सका। सत्यनिष्ठा के कारण ही सही, धर्म की जो घोर अवहेलना हो जाती है, उस के लिए राजा मन ही मन बहुत पछताते हैं और अपने पश्चात्ताप और विवशता को अपनी अंतरगिणी राणी और राममाता कौसल्या के सामने इतनी शालीनता, सात्विकता और सहज विनम्रता के साथ प्रकट करते हैं कि कौसल्या का मस्तक राजा के सामने लज्जा से झुक जाता है। दोनों एक दूसरे से क्षमा माँगते हैं और दोनों अपनी अपनी विवशता को विवेक से जोड़ने का प्रयास करते हैं।

राजा दशरथ की सब से बड़ी विवशता उन की राम-परायणता है। राम के बिना वह पल भर भी नहीं जी सकते। यह बात वह कैकेयी से उसी समय कह देते हैं जब भरत के राज्याभिषेक और राम के वनवास की बात कैकेयी के कर्कश मुँह से निकलती है। राजा कहते हैं कि सूरज के बिना संसार चल सकता है, पानी के बिना फसल पल सकती है, पर राम के बिना मेरी सांस नहीं चल सकती। इसी विवशता के कारण वह क्रूर कर्मा कैकेयी से भी हाथ जोड़कर बिनती करते हैं और भाग्य-वंचिता कौसल्या से बार-बार क्षमा मांगते हैं। राजा की यह दयनीयता या दीनता उन की अकर्मण्यता का द्योतक नहीं है, बल्कि उन की सत्यनिष्ठा की पराकाष्ठा का परिचायक है। पुत्रशोक कौसल्या और दशरथ दोनों को समानशोक बना देता है। पर दोनों के शोक में थोड़ा-सा अंतर है। दोनों सुमंत्र से अनुरोध करते हैं कि ले चल वहां जहाँ है राम। पर दोनों के स्वर में थोड़ा-सा अंतर है। राजा कहते हैं – "त्वं प्रापयाशु मां रामं, प्राणाः संत्वरयंति मां" (तुम मुझे जल्दी राम के पास पहुँचा दो, मेरे प्राण मुझे राम के पास जाने के लिए बड़ी तीव्रता के साथ प्रेरित कर रहे हैं।) यही बात कौसल्या दूसरे शब्दों में कहती हैं – "नय मां यत्र काकुत्स्थः सीता यत्र च लक्ष्मणः" (मुझे वहीं ले चलो जहाँ मेरे राम, सीता और लक्ष्मण हैं।)राम-समागम के लिए त्वरमाण प्राणों का उल्लेख राजा दशरथ बड़ी सत्यनिष्ठा के साथ करते हैं, केवल वेदना की विकल अभिव्यंजना के रूप में नहीं। यही कारण है कि राजा अपने मन की बात को कार्यरूप में करके दिखाते हैं और राजमाता राम के राजतिलक तक राम दर्शन की लालसा लिए चौदह वर्ष तक जीवित रहती हैं।

जिस दिन राम राजा दशरथ की आँखों से ओझल हो जाते हैं, उसी दिन, बल्कि उसी क्षण, राजा की दृष्टि राम के साथ चली जाती है। अब केवल उन की यष्टि (काया) राम-सायुज्य की निर्मल घड़ियों की सातुर प्रतीक्षा कर रही है जहाँ न शोक सताता है और न मोह भरमाता है। शोक-मोह से परे विवेक की इसी विशोक भाव-भूमिका में पहुँचने पर शोकाकुल राजा को एक पुरानी घटना याद आती है। शायद कौसल्या के मुँह से पुत्रशोक की बात (पुत्रशोकार्तया तत्तु) सुनकर राजा को इसी प्रकार के एक प्राचीन प्रसंग का स्मरण हो आता है। इस स्मृति-घटना का वर्णन वाल्मीकि स्पृहणीय और स्मरणीय शब्दों में करते हुए कहते हैं :

स राजा पुत्रशोकार्तः स्मृत्वा दुष्कृतमात्मनः।
कौसल्यां पुत्रशोकार्तामिदं वचनमब्रवीत्॥

पुत्रशोक से पीड़ित राजा पुत्रशोक से व्याकुल कौसल्या को पुत्रशोक का ही एक मार्मिक पुराना प्रसंग याद करके सुनाने लगते हैं। यह प्रसंग राजा को अचानक याद आया हो, ऐसा नहीं लगता। पर परिस्थितियों ने पुराने प्रसंग के भूले बिसरे चित्र को धीरे धीरे राजा के स्मृति-पटल पर उभार कर अंत में अचानक प्रकट रूप दिया है। मनुष्य का स्वभाव है कि वह अच्छी अच्छी बातों को हमेशा याद रखता है और दुखद घटनाओं को न केवल भूलने का प्रयास करता है, बल्कि उन को छिपाने की भी चेष्टा करता है। लेकिन जब कर्मगति टलती-सी दिखाई नहीं देती तब उसे स्वीकार करने में ही वह अपना श्रेय समझता है। राजा दशरथ लगभग इसी मनःस्थिति में यह प्रसंग सुनाते हैं।

बहुत पहले की घटना थी जब दशरथ की शादी भी नहीं हुई थी। राजा भी नहीं बने थे। युवराज यौवन की उमंग में फूला नहीं समाता था। बरसात का मौसम था, जड़ को भी चेतन बनाने वाली वर्षा-ऋतु में युवराज दशरथ वन में शिकार खेलने जाता है। धनुर्विद्या में शब्द-वेधी नाम की एक विशिष्ट प्रक्रिया को युवराज ने सिद्ध कर लिया था। दूर से सुनाई देनेवाली आवाज़ के आधार पर लक्ष्य को भेद करने का कौशल उसको प्राप्त था। आधी रात के समय जब चारों तरफ अँधेरा ही अँधेरा था, दूर घने जंगल से हाथी के पानी पीने की आवाज़ सुनाई देती है। युवराज अपनी शब्द-वेधी विद्या को प्रदर्शित करने के लिए उसी ध्वनि के उद्गम स्थान को लक्ष्य करके शब्द-वेधी शर छोड़ देता है। लेकिन वह तीर एक मुनिकुमार को लगता है जो अपने बूढ़े माँ-बाप के लिए पीने का पानी ले जाने तालाब में घड़ा

भर रहा था। पुराणों में प्रसिद्ध श्रवणकुमार ही यह मुनिकुमार था। अपने अंधे और बूढ़े माता-पिता की सेवा-शुश्रूषा में निष्ठा के साथ लगे हुए निर्दोषी मुनिकुमार का युवराज दशरथ के द्वारा, अनजान में ही सही, निर्मम वध हो जाता है। शर से पीड़ित और मरणासन्न मुनि-कुमार की चीखती पुकारती हुई आवाज़ सुनकर युवराज स्तब्ध हो जाते हैं, मुनि कुमार के पास जाकर वास्तविकता का पता लगा लेता है। मुनि-कुमार का अंतिम संदेश लेकर युवराज उनके माता-पिता के पास जाता है और अज्ञान के कारण अपने द्वारा हुए अपराध को स्वीकार करता है। पुत्र शोक से पीड़ित माता-पिता को अपार दुःख होता है। जात्यंतर विवाह के कारण समाज से बहिष्कृत वृद्ध दंपति अपने इकलौते पुत्र श्रवण कुमार के सहारे वन्य जीवन व्यतीत करता है। अब उनको जीने का न कोई आधार मिलता है, न आकर्षण। लेकिन अपने प्राणों को छोड़ने के पहले वे अपने सात्विक क्रोध को अभिशाप का रूप देते हैं और युवराज से कहते हैं कि जिस प्रकार आज हम अपने पुत्रशोक से तड़प-तड़प कर मर रहे हैं, उसी प्रकार तुम भी एक दिन अपने पुत्रशोक से अपने प्राण छोड़ दोगे। इस के बाद वृद्ध दंपति के अनुरोध पर युवराज दशरथ उनको उनके इकलौते पुत्र के पास ले जाता है और वहीं पर तीनों तपस्वी तपोलोक की सीमा को पार कर सत्यलोक में पहुँच जाते हैं।

यह घटना पुरानी अवश्य है, पर राजा दशरथ इसे एकदम भूल नहीं पाये। बाद में युवराज दशरथ के जीवन में अनेक घटनाएँ घटती हैं। राजतिलक, विवाह, सन्तान, पुत्रों का पाणिग्रहण आदि सुखद घटनाएँ इस दुःखद घटना को धीरे-धीरे धूमिल बनाने में सफल होती रहीं। लेकिन कैकेयी की वरयाचना दशरथ के मन पर ऐसा मार्मिक प्रहार करती है कि उनको लगता है कि पाप और शाप का यह प्राचीन प्रसंग अब भी अपना विकराल वक्त्र खोलकर सामने खड़ा है, केवल कर्म के परिपाक की प्रतीक्षा है। वास्तव में वर-याचना के समय जब कैकेयी दशरथ को पुत्र-शोक से बुरी तरह से पीड़ित देखती है तो वह स्वयं पापिन होते हुए भी दशरथ को पापी घोषित करने की चेष्टा करती है।

> पुत्रशोकार्दितं पापा विसंज्ञं पतितं भुवि।
> विचेष्टमानमुत्प्रेक्ष्य ऐक्ष्वाकमिदमब्रवीत्॥
>
> पापं कृत्वेव किमिदं मम संश्रुत्य संश्रवम्।
> शेषे क्षितितले सन्नः स्थित्यां स्थातुं त्वमर्हसि॥

इस प्रसंग में जहाँ तक कैकेयी का संबंध है, दशरथ पापी इसलिए हैं कि एक बार वचन देकर वह उससे मुकरना चाहते हैं। लेकिन जहाँ तक दशरथ का संबंध है, वह कैकेयी के मुँह से पाप शब्द को सुनकर इसी पुराने पाप (अगर उसको पाप कहा जा सकता है तो) और उस पाप के फलस्वरूप तपस्वी के मुँह से निकले हुए शाप को याद करते हैं। इसीलिए वह तत्काल अपने प्राण छोड़ने की बात करते हैं। वह कैकेयी से कहते हैं:

> रामाभिषेकसम्भारैस्तदर्थमुपकल्पितैः।
> रामः कारयितव्यो मे मृतस्य सलिलक्रियाम्॥

राम के राजतिलक के लिए जो हवन-सामग्री एकत्रित की गई है, उससे मेरी अंत्येष्टि संपन्न हो, राजा दशरथ की इस कामना में उन की राम-परायणता बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है।

इससे यह भी स्पष्ट होता है कि अब राजा दशरथ को विश्वास होने लगता है कि अपने अनजान में किए गए पाप का फल भोगने का समय आ चुका है। फिर भी मनुष्य आशावादी होता है। कैकेयी और राम को समझाने-बुझाने और अपनी बात मनवाने की वह लाख कोशिश करते हैं पर सारा का सारा प्रयास विफल हो जाता है। अंत में प्राणप्रिया कौसल्या भी उनको गलत समझती है, भला-बुरा कहती है, भले ही बाद में उनके पैरों पड़कर क्षमा माँगती हो। राजा के भावुक और आशंकित हृदय को जो आघात पहुँचना था, वह पहुँच ही जाता है। लेकिन इसके लिए वह किसी को दोषी नहीं ठहराते, न कैकेयी को और न कौसल्या को। जो कुछ हो रहा है, उसको वह केवल विधि का विधान समझते हैं और इसी कर्म-सिद्धांत से अपने को और

पास बैठी कौसल्या को समझाने की चेष्टा करते हुए कहते हैं:

यदाचरति कल्याणि शुभं वा यदि वाशुभम्।
तदेव लभते भद्रे कर्ता कर्मजमात्मनः॥

अब राजा को विश्वास होता है कि आदमी जो कुछ करता है उसका फल उसे भोगना ही पड़ता है। अच्छे का परिणाम अच्छा होता है और बुरे का बुरा। इसलिए मनुष्य को सोच समझकर काम करना है। काम करने में उनको पूरी आज़ादी है, पर किए गए कर्म का फल भोगने में नहीं। कभी-कभी मनुष्य अपनी कर्म-गति को टालने के लिए भगवान् या भाग्य का सहारा लेता है। पर श्रीमद्भागवत में भगवान् बिल्कुल स्पष्ट शब्दों में कहते हैं :

कर्मणा जायते जन्तुः कर्मणेव विलीयते।
सुखं दुख भयं क्षेमं कर्मणैवाभिपद्यते॥

मानव-जीवन में सुख दुःख, सुरक्षा-असुरक्षा सब कर्म के ही कारण होते हैं। जैसा कर्म किया जाता है, वैसा फल प्राप्त होता है। अपने कर्म के आधार पर ही मनुष्य को उस कर्म के योग्य जन्म मिलता है और अपने कर्म के बल पर ही अंत में वह अनन्त काल में विलीन हो जाता है।

याद रखना चाहिए कि ये भगवान् कृष्ण के वचन हैं जो अपने पिता को कर्म का महत्त्व समझाते हुए कहते हैं। कर्म की महिमा के आगे ईश्वर भी कुछ नहीं कर सकता। ईश्वर एक सार्वभौम संगणक (UNIVERSAL COMPUTER) के रूप में प्रत्येक प्राणी के भीतर बैठकर कर्म का फल प्रदर्शित और प्रस्तुत भर करता है। इस बात को स्पष्ट करते हुए वह कहते हैं:

अस्तिचेद् भगवान् कश्चित् फलरूप्यन्य कर्मणाम्।
कर्त्तारम् भजते सोऽपि नह्य कर्त्तुः प्रभुर्हि सः॥

यह देखकर आश्चर्य होता है कि रामकथा और कृष्णचरित दोनों में कर्म सिद्धांत का यह परम सत्य कितनी स्पष्ट और असंदिग्ध भाषा में अभिव्यक्त हुआ है। किंतु इस संदर्भ में साधारण व्यक्ति के मन में यह संदेह उत्पन्न होता है कि अगर केवल कर्म का ही फल भोगना है तो दैवी कृपा या गुरुजनों के आशीर्वाद आदि का क्या महत्त्व है। यह संदेह केवल साधारण व्यक्तियों के मन में ही नहीं, बल्कि असाधारण, शक्ति संपन्न हनुमान जैसे महावीर के मन में भी उत्पन्न होता है। अशोक वन में सीता को देखकर हनुमान सोचते हैं "यदि सीतापि दुःखार्ता कालो हि दुरतिक्रमः" (अगर सीता जैसी साध्वी को भी दुःख हो रहा है और वह भी अकारण, तो समझना चाहिए कि यह काल का ही दुर्लंध्य परिणाम है।) इस पहेली का समाधान संत त्यागराज जैसे भक्त प्रस्तुत करते हैं। काल, कर्म और ग्रह तीनों से वह राम के अनुग्रह को सबल समझते हैं। वास्तव में इस प्रकार की आस्था, श्रद्धा और निष्ठा अपने आप में सुकर्म का रूप धारण करती है और उसी कर्म का फल प्रभु के अनुग्रह के रूप में मिलता है। प्रस्तुत प्रसंग में राजा दशरथ के साथ भी लगभग इसी प्रकार की घटना घटती है।

कहते हैं कि राम का नाम लेने मात्र से लोगों के पाप नष्ट हो जाते हैं। ऐसे राम के पिता अपने काम के बारे में सोच रहे हैं, अपने पाप और शाप से आतंकित हैं। पर उनकी दृष्टि राम और केवल राम पर टिकी हुई है। उनको मालूम है कि उनकी अंतिम घड़ी नज़दीक आ रही है। राम सायुज्य की इस समाधिस्थ दशा में वह कौसल्या के पास बैठकर भी उनके स्पर्श का तनिक भी अनुभव नहीं करते। उनके मुँह से केवल राम का नाम निकलता है। राजभवन से कौसों दूर रहने पर भी वह केवल राम के स्पर्श का अनुभव करते हैं। उनको केवल राम का ही रूप दिखाई देता है। राम का रसायन ही उनके शरीर में संचरित होता है। उनको लगता है कि जहाँ देखो वहीं राम है। दशरथ के जीवन की सार्थकता इसी राम-भावना में है। यह वही ब्राह्मी स्थिति है जिसको, अंतिम घड़ी में ही सही, प्राप्त होने पर प्राणी को मोह के आवरण से निर्वाण या मुक्ति मिल जाती है।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामंतकालेऽपि ब्रह्म निर्वाणमृच्छति॥

26. आए भरत बुलावा पाकर

सत्यपराक्रम धर्मपरायण, पितृवाक्य-परिपालक और रघुकुलनंदन राम के प्रस्थान के बाद पाँचभौतिक प्राणी राजा दशरथ के प्राण पाँच दिन तक किसी तरह अपने पार्थिव शरीर के साथ सहजीविता निभा पाते हैं। पर छठे दिन की रात बड़ी मुश्किल से बीतने लगती है। आधी रात को अतीत की आकस्मिक स्मृति राजा के प्राणों को झकझोरती है। और अंत में जन्म, मृत्यु और जरा की संसरणशीलता से उन को सदा से मुक्त बनाकर चिर विश्राम प्रदान करती है।

हा राघव महाबाहो हा ममायासनाशन।
हा पितृप्रिय मे नाथ हा ममासि गतः सुत॥

इसी हाहाकार के साथ दशरथ के प्राण राम-भावना में लीन हो जाते हैं। रघुकुलनंदन राम, महापराक्रम राम, मेरा दुःख हरनेवाला राम, मेरा प्यारा राम, मेरा बेटा राम, – कहते कहते राजा अपनी आँखें हमेशा के लिए बंद कर लेते हैं। लेकिन अंतःपुर की अंतरंगिणी रानियों को भी इस बात का पता नहीं चलता कि अर्द्ध निशा के नीरव क्षणों में राजा की दृष्टि चुपचाप भीतर के द्वार से वनवासी राम के नयन-पथ का अनुनयन करने निकल चुकी है। वास्तव में राजा के रोम रोम में अनुरंजित राम-भावना को न कैकेयी समझ सकी, न कौसल्या आँक सकी और न सुमित्रा सोच सकी। किसी ने कल्पना तक नहीं की कि राम-विरह की वेदना का राजा के हृदय पर इतना मार्मिक और घातक प्रभाव पड़ेगा। पर राजा दशरथ पहले से इसके लिए तैयार थे। तभी तो वह बार बार कैकेयी से अपने प्राणों की समाप्ति की बात निश्चित चेतावनी के रूप में कहते रहे। पर किसी ने इस पर ध्यान नहीं दिया। ध्यान दिया था केवल धीमान् राम ने जो सब कुछ जानते हुए भी पिता की सत्यनिष्ठा को सब से अधिक महत्त्व देते हैं और इस के लिए अपना और अपने पिता का सर्वस्व समर्पित करने और कराने में तनिक भी संकोच नहीं करते।

राम का राज्य-त्याग और राजा का प्राण-त्याग अयोध्या को अचानक अराजकता के अंधकार में डुबो देते हैं। राजा दशरथ के राम-परायण प्राण रजनी की रक्त रंजित रेखाओं में विलीन हो जाते हैं तो प्रभात की प्रांजल वेला में भगवान् भास्कर की नित्य नूतन किरण कांति प्रतिदिन की भाँति राजभवन में प्रवेश करती है। पर वह सुषुप्त राजा को प्रबुद्ध नहीं कर पाती। प्रबोध का सुमधुर संगीत राजा के कानों में पहुँच नहीं पाता। राजा के पास थोड़ी दूर पर सोई पड़ी कौसल्या भी शोक-भार से जल्दी जाग नहीं पाती। काफी समय तक राजा को सोते हुए पाकर अंतःपुर की अन्य स्त्रियाँ चिंतित हो जाती हैं। राजा के शरीर का स्पर्श करने के लिए प्राधिकृत प्रमुख महिलाएँ राजा के पास पहुँच कर देखती हैं कि जिस अनर्थ की आशंका तक नहीं थी, वह कठोर सत्य बनकर सामने प्रकट हुआ है। पल भर में सारा अंतःपुर आर्तनाद से गूँज उठता है। कौसल्या कैकेयी को इस सारे अनर्थ का मूल सिद्ध कर उसे फटकारती है। थोड़ी ही देर में सारे शहर में यह दुःखद समाचार फैल जाता है और सब लोग अश्रुसिक्त कंठ से कैकेयी की भर्त्सना करते हैं।

पर जो होना था सो हो चुका है। राजा दिवंगत

हो गए, पर राज्य अस्तंगत नहीं हो सकता। इस के लिए तत्काल उत्तराधिकारी का निर्वाचन हो जाना चाहिए। एक प्रकार से यह काम हो भी चुका है। कैकेयी ने अपनी वर-याचना के द्वारा अपने वरद पुत्र को राजतिलक के लिए नामांकित कर लिया है और इस के लिए राजा की मौन मान्यता और राम की उद्घोषित स्वीकृति मिल भी चुकी है। पर इस समय भरत भी अयोध्या में नहीं हैं। विधि की विडंबना है कि वर्षों की तपस्या से वरदान के रूप में प्राप्त चार पुत्रों के पिता होते हुए भी राजा दशरथ अपनी अंतिम घड़ी में एक पुत्र को भी अपने पास नहीं पा सके। इन सब बातों को देखते हुए कुल गुरु वसिष्ठ राजभवन के अन्य पुरोहितों से अनंतर कर्त्तव्य के संबंध में परामर्श लेते हैं। राजपुरोहित मार्कण्डेय, मौद्गल्य, वामदेव, कश्यप, कात्यायन, गौतम, जाबालि आदि प्रबुद्ध तपस्वी ब्रर्षि वसिष्ठ से निवेदन करते हैं कि राज्य के उत्तराधिकारी को तत्काल राजसिंहासन पर बिठाकर देश को अराजकता के अनर्थों से बचाना परम आवश्यक है। महर्षियों का मंतव्य हैः

राजा सत्यं च धर्मश्च राजा कुलवतां कुलम्।
राजा माता पिता चैव राजा हितकरो नृणाम्॥

सत्य की प्रतिष्ठा, धर्म का अनुपालन, सामाजिक सुरक्षा, प्रजा में पारस्परिक अनुराग, सद्भावना आदि अच्छे राज्य या सुशासन के माध्यम से ही संभव है। जिस देश का शासन सुव्यवस्थित न हो, वहाँ के लोग न सुखी रह सकते हैं, न समृद्ध बन सकते हैं और न अपने को सुरक्षित अनुभव कर सकते हैं। अराजक राज्य में न प्रकृति प्रजा के अनुकूल होती है और न व्यक्ति समाज के हित में काम कर सकता है। पिता-पुत्र, पति-पत्नी, भाई-बहन, मित्र-अमित्र पंडित-पामर, धनी-निर्धन आदि में सामरस्य और सौजन्य की भावना में कमी आ जाती है और आपस में टकराव होने लगता है। जीवन केवल जीने के लिए होता है। उस में कोई रस नहीं दिखाई देता है। जीवन का आनंद केवल भौतिक सुख और भोग लालसा तक सीमित रहता है। काव्य, कला, संगीत, नृत्य, दर्शन, अध्यात्म जैसे उच्चतर जीवन-मूल्यों की उपेक्षा हो जोती है। खाना, पीना, सोना और मरना ही जीवन के लक्ष्य बन जाते हैं। ऐसी स्थिति में लोग घोर स्वार्थी बन जाते हैं, एक दूसरे को समझ नहीं पाते हैं। बल्कि एक दूसरे को निगलने का प्रयास करते हैं जैसे मछलियाँ अपने ही सहजीवियों को खा डालती हैं। अयोध्या को इस प्रकार की अराजकता से बचाने के लिए सत्य और धर्म को अपने नयन बनाकर राज-नय का संचालन करने में सक्षम पालक को तत्काल सिंहासन पर प्रतिष्ठित करना ज़रूरी है, इस बात पर वसिष्ठ की अध्यक्षता में संपन्न विद्वत् परिषद् सर्व सम्मति से निर्णय कर लेती है।

इसी निर्णय के अनुसार कुल पुरोहित वसिष्ठ राजतिलक के लिए प्रस्तावित भरत को उन के मामा के यहाँ से लिवा लाने पाँच कुशल राजदूतों को नियुक्त करते हैं। सिद्धार्थ, विजय, जयंत, अशोक और नंदन नाम के ये पांच दूत वसिष्ठ का आदेश-वाक्य बड़े ध्यान से सुनते हैं। राजकुमार भरत के प्रति वसिष्ठ का संदेश बहुत ही संतुलित, सुचिंतित और सारगर्भित होता है। वह कहते हैंः

पुरोहितस्त्वां कुशलं प्राह सर्वे च मंत्रिणः।
त्वरमाणश्च निर्याहि कृत्यमात्ययिकं त्वया॥

(कुमार भरत ! पुरोहित जी तथा समस्त मंत्रियों ने आप से कुशल-मंगल कहा है। आप को जल्दी से जल्दी यहाँ से चलना है क्योंकि अयोध्या में आपको बहुत ज़रूरी काम करना है।)

इसके अलावा कोई भी बात नहीं कहनी है, न राजा की मृत्यु के बारे में और न राम के वनवास के बारे में। यह आदेश लेकर राजदूत केकयराज के यहाँ चल पड़ते हैं। केकयराज तथा भरत को भेंट करने के लिए उन को रेशमी वस्त्रों और उत्तम आभूषण भी दिए जाते हैं। साथ ही कुछ संबल लेकर पाँचों राजदूत मार्ग में कई मननीय और महनीय स्थल देखते हुए भरतपुर पहुँच जाते हैं। जिस रात को दूत भरत के यहाँ पहुँचते हैं, उसी रात को भरत बहुत ही भयानक स्वप्न देखते हैं। स्वप्न में राजा दशरथ मलिन वस्त्र पहने हुए,

गोबर के कुंड में तैरते हुए, शरीर पर तेल लगाए हुए और उसी तेल में गोते लगाते हुए दिखाई देते हैं। उसी स्वप्न में समुद्र सूखा हुआ, चंद्रमा पृथ्वी पर गिरा हुआ और पृथ्वी अंधकार से आच्छादित दिखाई देती है। काले वस्त्र पहने हुए राजा को लाल वस्त्र पहनी हुई एक विकराल और विरूपनयना महिला ज़बरदस्ती दक्षिण की ओर ले जाती दिखाई देती है। इस प्रकार का स्वप्न देखकर भरत का भयरहित चित्त भी भयभीत हो जाता है। किसी अनिष्ट की आशंका से उन का मन त्रस्त हो जाता है। अकारण भयभीत भरत का मन बहलाने के लिए राजभवन के कलाकार विभिन्न प्रकार के आमोद-प्रमोद के आयोजन करते हैं। पर भरत का मन अशांत ही रहता है। इसी स्थिति में अयोध्या से राजदूत आते हैं वसिष्ठ का अस्पष्ट और संदेहपूर्ण संदेश लेकर। वसिष्ठ का संदेश अक्षरशः सुनाकर राजदूत राजकुमार को बहुमूल्य वस्त्र और आभरण देते हैं। पर भरत का मन अब भी अप्रसन्न ही रहता है। राजपुरोहित का संक्षिप्त संदेश भरत के संदेह को और भी संदेहास्पद बना देता है।

अपने मन की शंका और आशंका का समाधान करने के लिए राजकुमार भरत राजदूतों से राज-परिवार के कुशल-मंगल के बारे में पूछते हैं। सबसे पहले पिता दशरथ के बारे में अपनी जिज्ञासा प्रकट करते हैं और उसके बाद राम और लक्ष्मण के बारे में। ध्यान देने की बात है कि भरत की इस जिज्ञासा में राजा दशरथ के कुशल तथा राम और लक्ष्मण की अरोगता (स्वास्थ्य)पर विशेष ध्यान दिया जाता है। इसके बाद धर्म-निरता, धर्मज्ञा और धर्मवादिनी कौसल्या के संबंध में जिज्ञासा प्रकट करते हुए भी उनके स्वास्थ्य पर ही ध्यान दिया जाता है। केवल कौसल्या के संबंध में ही नहीं, बल्कि सुमित्रा और कैकेयी के संबंध में भी भरत उनके स्वास्थ्य से अधिक चिंतित प्रतीत होते हैं। "अरोगा चापि कौसल्या", "अरोगा चापि मध्यमा" और "अरोगा चापि मे माता कैकेयी किमुवाच ह।" इन तीनों वाक्यों में भरत के मन के भीतर की आशंका स्पष्ट व्यक्त होती है। इतना ही नहीं, आकाश की तरह निर्मल मन वाले भरत की वाणी में अयोध्या की वर्तमान स्थिति भी अक्षर का रूप धारण करती सी लगती है जब वह अपनी माँ कैकेयी को "आत्मकामा, क्रोधना और 'प्राज्ञमानिनी' कहकर पूछते हैं कि मेरी मां ने क्या कहा। यह 'कहने' की बात केवल कैकेयी के प्रसंग में कही जाती है। इससे स्पष्ट होता है कि भरत का मन कहता है कि राज परिवार में कहीं न कहीं कुछ गड़बड़ हैं।

लेकिन राजदूत राजकुमार से भी अधिक सजग और व्यवहार कुशल हैं। राजपुरोहित के आदेश का विधिवत् पालन करते हुए वे राजकुमार से कहते हैं कि जिनका आप कुशल चाहते हैं वे सब सकुशल हैं और राज्यश्री अयोध्या में आपका स्वागत करने के लिए लालायित है। इशारे से सब कुछ समझने वाले भरत के लिए इतना-सा संकेत पर्याप्त था। तत्काल अयोध्या जाने के लिए वह तैयार हो जाते हैं, केवल अपने मामा और नानाजी से अनुज्ञा लेने भर का समय चाहते हैं। वास्तविकता से अनभिज्ञ मामा और नाना भी भरत और शत्रुघ्न को अयोध्या जाने की सहर्ष अनुमति देते हैं और साथ में नाना प्रकार के वस्त्र, आभरण, वाहन, उपहार, मिष्टान्न, परिजन आदि देते हैं। इतने बड़े परिवार और परिसज्जा को अपने साथ पाते हुए भी भरत को भीतर ही भीतर कुछ अनिर्वचनीय शून्यता का अनुभव होता है। ऐसा लगता है कि इन्द्रलोक से कोई सिद्ध पुरुष किसी महान् लोक में पहुँचने के लिए बड़ी तत्परता और उद्विग्नता के साथ निकल पड़ा है।

राजदूत जिस मार्ग से आये, उसी मार्ग से भरत अयोध्या नहीं पहुँचे, यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है। राजदूतों के मार्ग में जो नदियाँ और पर्वत दिखाई देते हैं उनके नाम भी विशेष महत्त्व रखते हैं। सबसे पहले मालिनी नदी दिखाई देती है और अंत में इक्षुमती। बीच में जो दर्शनीय स्थल आते हैं उनमें सबसे मननीय हैं सत्योपयाचन नाम का एक वृक्ष। इस वृक्ष से सच्चे दिल से जो माँगा जाता है, वह मिल जाता है। इसी प्रकार के अनेक रमणीय और महनीय दृश्य

देखते हुए राजदूत केकयराज के यहाँ पहुँचते हैं। लेकिन भरत की वापसी यात्रा में इनमें से किसी भी स्थान का उल्लेख नहीं मिलता है। इनके स्थान में सुदामा, ह्रादिनी, सरस्वती, वेगिनी, भागीरथी, कपीवती, स्थाणुमती, गोमती आदि अनेक नदियाँ आती हैं। इन सबको पार कर मनु द्वारा निर्मित अयोध्या में पहुँचने के लिए भरत को सप्तरात्रि का समय लगता है। महर्षि वाल्मीकि ने इन दोनों मार्गों का जो वर्णन किया है इसमें रामायण और भरतायन की विशिष्टता हृदयंगम होती है। लेकिन इसके रहस्य को समझने के लिए राम और भरत के अंतरंग को हृदयंगम बनाने में सक्षम और समर्थ हृदय की आवश्यकता है।

अयोध्या की सीमा में प्रवेश करते ही भरत को इस पुण्यभूमि की पाण्डुमृत्तिका (सफेद मिट्टी) सबसे पहले आकृष्ट करती है। बाहर के उद्यान, भीतर का कोलाहल, वेदविदों का वेद-नाद, खेतों की हरियाली, लोगों के मुखमण्डल पर प्रसन्नता की लहरें आदि की परिकल्पना भरत को अयोध्या की ओर उन्मुख करती है। लेकिन आज अयोध्या में यह सब कुछ नहीं है। असल में ऐसा लगता है कि आज यहाँ कुछ है ही नहीं। सारे उपवन सूने-सूने से लग रहे हैं। कहीं कोई ·मीठी आवाज़ नहीं सुनाई देती है, न कोई खुशबू है, न किसी के चेहरे पर कोई उमंग है और न कोई किसी से कुछ कह रहा है, कुछ सुन रहा है। किसी मंदिर में पूजा-पाठ का कोई आभास तक नहीं हो रहा है। किसी घर में खान-पान का कोई आयोजन भी दिखाई नहीं दे रहा है। सभी नागरिक घर के द्वार खोलकर उदास बैठे हुए हैं। इस उदासी को देखकर भरत का मन और भी उदास बन जाता है।

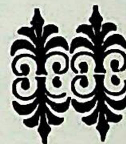
सबसे पहले भरत अपने पिता के घर जाते हैं। लेकिन पिता के घर में पिता को न पाकर अपनी माँ से मिलने के लिए माता के घर जाते हैं। सुनहले आसन पर बैठी हुई माँ कैकेयी अपने पुत्र को देखते ही प्रसन्न हो जाती है और उनको अपनी बाँहों में लेकर वात्सल्य भाव से आशीर्वाद देती है। भरत के चेहरे पर थकावट के लक्षण दिखाई देते हैं। माता अपने पुत्र से पूछती हैं कि बेटा, रास्ते में तुमको कोई कठिनाई तो नहीं हुई है, तुम्हारे मामा कैसे हैं, नाना कैसे हैं, सब कुछ बता दो। लेकिन भरत का मन उन्मन हो जाता है। मामा और नाना का कुशल समाचार सुनाने के बाद भरत अपनी माँ से पूछते हैं कि पिताजी कहाँ हैं। जब भी भरत बाहर से घर आते थे पिताजी तत्काल उनके पास जाकर बहुत प्यार से उन्हें मिला करते थे। आज वह न अपने घर में दिखाई पड़े और न माँ के घर में। सारी अयोध्या उदास है, पर माँ कैकेयी प्रसन्न है। ऐसा क्यों है, यह भी भरत समझ नहीं पा रहे थे। इसीलिए वह बड़ी उतावली के साथ पूछते हैं कि कहीं पिताजी बड़ी माँ कौसल्या के घर में तो नहीं हैं। परन्तु राज्यलोभ से लगभग अन्धी और पागल बनी हुई कैकेयी बहुत ही साधारण शब्दों में राजा के निधन का समाचार सुनाते हुए कहती हैः

या गतिः सर्वभूतानां तां गतिं ते पिता गतः।
राजा महात्मा तेजस्वी यायजूकः सतां गतिः॥

संसार के समस्त प्राणी अन्त में जहाँ पहुँच जाते हैं उसी परम गति को तुम्हारे पिताजी भी प्राप्त कर चुके हैं। यह बात सही जरूर है, पर है कटु सत्य और वह भी कैकेयी के कर्कश कंठ से निकलने के कारण कोमल हृदय भरत को और भी कठोर लगती है। इस कठोर सत्य को स्वीकार करने के लिए पिछले सात दिनों से भरत अपने मन को तैयार करते रहे। पर जब सत्य प्रत्यक्ष होता है तो उसको सहने में उनका शरीर मन का साथ नहीं दे पाता। "हाय मारा गया" कह कर भरत बेहोश हो जाते हैं। पिताजी के संबंध में कई बातें याद आती हैं। वह प्रेम, वह तेज और वह वात्सल्य अब नहीं है, इस बात की कल्पना भी भरत को दुर्भर लगती है। होश संभालने के बाद साहस बटोकर भरत अपनी माँ से पूछते हैं कि पिता का निधन क्यों और कैसे हुआ। अब कैकेयी पशोपेश में पड़ती है। अब तो उनको सच्ची बात बतानी ही पड़ेगी जिसे सुनने के लिए भी भरत अपने आप को तैयार नहीं कर पाएँगे। लेकिन कुटिल भाषिणी कैकेयी पूरे सत्य का थोड़ा सा अंश प्रकट करते हुए कहती है कि

राम, सीता और लक्ष्मण का नाम लेते हुए महात्मा दशरथ परलोक सिधारे। इस पर भरत चौंक उठते हैं। तत्काल उनका ध्यान बड़े भाई राम के चरणों की शरण में पहुँच जाता है। बड़े भाई पिता के प्रतिरूप और उनके उत्तराधिकारी माने जाते हैं। इसलिए भरत बड़ी उत्कंठा से पूछते हैं कि मेरे भाई राम कहाँ हैं, अभी मैं उनके पैर छूकर अपने मन का भार हल्का कर लेना चाहता हूँ। अब निर्लज्ज कैकेयी लाचार होकर अपने प्रिय पुत्र से अप्रिय सत्य कह देती है। राम के वनवास की बात सुनकर पलभर के लिए भरत का मन आशंकित होता है कि राम ने ऐसा कौन-सा अपराध किया है जिसके कारण उनको वनवास का दण्ड मिला है। उनको भली-भाँति मालूम है कि राम अनजान में भी कभी कोई दुष्कृत्य नहीं कर पाते, पाप उनको छू नहीं सकता। भरत की इस मुखमुद्रा और जिज्ञासा को देखकर अपने को प्राज्ञ समझने वाली कैकेयी अपने पुत्र की भलाई के लिए किया गया प्रयास अपने ही पुत्र को समझाते हुए बड़े गर्व के साथ कहती है कि "बेटा, मैंने तुम्हारे पिताजी से तुम्हारे लिए राज्य माँगा है जिसको वे राम को देना चाहते थे। तुम जानते हो कि पिताजी मेरी बात हमेशा मानते हैं। इसलिए मेरी इच्छा के अनुसार राम को वन भेज दिया और उसी दुःख से परलोक सिधारे। अब यह सारा राज्य तुम्हारे हाथ में है। सारी अयोध्या तुम्हारे अधीन है। इसलिए तुम धीरज रखो, राज्य संभालो, खुश रहो और खुश रखो।"

माता की यह निर्मम, निष्ठुर और निर्लज्ज बात सुनकर भरत को इतना दुःख होता है कि उनकी समझ में नहीं आता है कि क्या कहा जाए, कैसे यह सब सहा जाए और राम के बिना अयोध्या में कैसे रहा जाए। दुःख का भार इतना अधिक होता है कि उसके नीचे दब कर वह ऊपर देख तक नहीं पाते। पर धीरे-धीरे वह वास्तविकता से ऊपर उठकर परिस्थिति को संभालने का तापस प्रयास करते हैं। विधि की विडंबना धर्मात्मा भरत को महात्मा बना देती है। यहीं से रामायण के अंतर्गत भरतायन का प्रारम्भ होता है।



27. क्षमा करो माँ – निरपराध मैं

जीवन की चरितार्थता अर्थ को परमार्थ में परिणत करने में है, न कि परमार्थ को स्वार्थ से संकीर्ण बनाने में। अर्थ और केवल अर्थ को प्रधान मानकर चलनेवाले प्रापंचिक प्राणी परमार्थ या कम से कम परार्थ तक को पहचान नहीं पाते। इसके विपरीत परमार्थ को जीवन की परमावधि के रूप में स्वीकार करनेवाले स्वार्थ को ठुकराकर परार्थ के सहारे परमार्थ तक पहुँच जाते हैं। इन दोनों प्रकार के प्राणियों के प्रत्यक्ष उदाहरण हमें माँ कैकेयी ओर बेटे भरत में दिखाई देते हैं। माँ-बेटे की विचारधारा में इतना महान् अंतर देखकर हमें मानना पड़ता है कि परमार्थ की साधना में न पारिवारिक परिवेश साथ देता है और न संपन्न जीवन-विधान। प्रत्येक प्राणी का अपना संस्कार होता है जो कि जन्म-जन्मांतर से जन-मन में संचित होता जाता है। जो संस्कारी है, वह संसारी नहीं बनता – संसार में रहते हुए भी। इसी प्रकार जो संसारी है, वह संस्कार के संसर्ग में रहकर भी असंस्कृत ही रह जाता है। यही बात भरत और कैकेयी के संवाद से स्पष्ट होती है।

भरत राम का भाई है और कैकेयी दशरथ की प्रिय पत्नी है। इन दोनों को इस प्रसंग में इसी रूप में समझने की चेष्टा करनी चाहिए। जिस राम ने अपना अप्रिय चाहनेवाली विमाता से स्पष्ट शब्दों में कहा कि मैं अर्थ नहीं चाहता हूँ, लोक चाहता हूँ और निर्मल धर्म के सहारे लोक को आवासित करना चाहता हूँ, उसी राम का छोटा भाई भरत है। राम की यही लोक-भावना भरत को आलोकित करती है जबकि राजा दशरथ के पार्थिव वैभव और प्रापंचिक भोग का क्षणभंगुर मोह कैकेयी को स्वार्थ और सौभाग्य के मायामय जगत् में मस्त और प्रमत्त बना देता है। दोनों का उद्गम एक है, पर दिशा अलग है। राजा दशरथ का आकस्मिक निधन इस खाई को और भी अधिक बढ़ा देता है।

भरत के मन में आशंका थी कि प्रचंड विचारवाली माँ कैकेयी इस प्रकार का अनर्थ कर सकती है और वास्तव में वही हुआ। लेकिन प्रत्यक्ष किंतु कठोर सत्य से धर्मात्मा भरत समझौता नहीं कर पाते। अपनी माँ के विरुद्ध कुछ कहना भी ठीक नहीं है और चुपचाप सब कुछ सहना भी समीचीन नहीं है। एक ओर राम के वनवास का दारुण समाचार और दूसरी ओर परम पूज्य पिता का स्वर्गवास भरत के भावुक मन को प्रपीड़ित कर देते हैं तो इन दोनों के मूल कारण अपनी ही माँ को अपनी आँखों के सामने पाकर भरत समझ नहीं पाते कि अब क्या करना है, किस को क्या कहा जाए और इस अनर्थ को परमार्थ में कैसे परिणत कराया जाए।

इसी भीषण संघर्ष में पड़कर भरत बेहोश हो जाते हैं और बाद में होश आने पर सामने खड़ी माता को वह भला-बुरा कहने लगते हैं। अपनी समस्त इंद्रियों का शोषण करनेवाले महान् शोक से व्याकुल होकर भरत अपनी माँ को पापदर्शिनी, दुष्टचारिणी, नृशंसा, कुलपांसनी आदि कटु वचनों से संबोधित कर

कहते हैं कि धर्मवत्सल पिता और सत्यपराक्रम राम के प्रति तुमने राज्य के लोभ से जो महान् अपराध किया है, उस से अर्थ का अनर्थ हो गया है। भावावेश में आकर भरत यहाँ तक कहते हैं कि इस महान् वंश में तुम कालरात्रि बन कर आई हो और हमारे पिताजी ने तुम को अपनी पत्नी क्या बनाया, दहकते हुए अंगारे को हृदय से लगा लिया। ललकारते हुए स्वर में वह अपनी माँ से पूछते हैं:

विनाशितो महाराजः पिता मे धर्मवत्सलः।
कस्मात् प्रव्राजितो रामः कस्मादेव वनं गतः॥

(अरी पापिन, बता तूने मेरे धर्मात्मा पिता के प्राण क्यों लिए? मेरे भाई राम को तूने वनवास क्यों भेजा? तेरे कहने से वे चले क्यों गए?)

इन बातों में भरत के मन को प्रताड़ित करनेवाला सात्विक आक्रोश और धार्मिक आवेश बोल उठता है। तत्काल वह अपनी माँ को छोड़कर जाने की बात सोचते हैं। लेकिन अपने प्रति इतना घोर अन्याय करने वाली कैकेयी को भी जो अपनी माँ कौसल्या के समान आदर और भक्ति के साथ देखते हैं और उनके इशारे पर राज्य का सारा वैभव छोड़कर चले गए, उस भाई के निर्मल मन को किसी प्रकार का दुःख न पहुँचे, इसीलिए भरत अपनी माँ के साथ बात करने का साहस बटोर लेते हैं। परंतु बड़ी विनम्रता के साथ वह उनसे कहते हैं कि अब तुम मेरे साथ बात करने लायक न रही (न तेऽहमभिभाष्योऽस्मि दुर्वृत्ते पतिघातिनि)। पति का प्राण-हरण करनेवाली माता को धर्मपरायण भरत मातृ रूपी शत्रु ही समझते हैं। इसी आवेश में कुछ और आगे बढ़कर भरत अपनी माँ से कहते हैं:

न त्वमश्वपतेः कन्या धर्मराजस्य धीमतः।
राक्षसी तत्र जातासि कुलप्रध्वंसिनी पितुः॥

लगता है कि तुम केकय देश के राजा अश्वपति की कन्या कहलाने योग्य नहीं हो। कहाँ धर्मराजा और धीमान् राजा अश्वपति और कहाँ तुम दोनों वंशों की प्रतिष्ठा को पल भर में मिटानेवाली पापिष्ठ नारी – तुम तो सचमुच राक्षसी हो। भरत का आक्रोश आवेश की सीमा को भी पार कर अभिशाप के क्षेत्र में प्रवेश कर जाता है जब वह कहते हैं – "कैकेयि नरकं गच्छ मा च तात सलोकताम्" (कैकेयी, तुम तो नरक में जाओ, पिताजी जिस लोक में पहुँच गए होंगे, वहाँ पर तुम्हारे लिए स्थान नहीं मिलेगा)। माँ को नाम से संबोधित करना शिष्टाचार नहीं है, पर भरत की दृष्टि में अब कैकेयी माँ नहीं रही। जिस ने धर्म को छोड़ा, वह माता होकर भी अमाता बन जाती है, पत्नी होकर भी असती बन जाती है, तनया होकर भी अतनया बन जाती है और राजमाता बनने का इसका स्वप्न एकदम टूट जाता है। इस से भी एक कदम आगे बढ़कर भरत अपनी माँ से अभिशाप और आदेश के स्वर में कहते हैं –

राज्याद् भ्रंशस्व कैकेयि नृशंसे दुष्टचारिणि।
परित्यक्तासि धर्मेण मा मृतं रुदती भव॥

(अरी पापिन कैकेयी, तुम अपनी राज्य लालसा से अपने आप नीचे उतर जाओ क्योंकि धर्म ने तुम को त्याग दिया है। तुम परित्यक्ता हो – पति से नहीं, धर्म से। इसलिए तुम को पिताजी के निधन पर रोने का भी अधिकार नहीं है।)

भरत की इस बात में कितना गहरा सच कराह कराह कर बोलता है, इस का अनुमान केवल इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि इस के बाद कैकेयी एकदम मौन हो जाती है। यह वही कैकेयी है जिस ने अपने पति के विनीत वचनों का उत्तर बड़ी कठोरता और कर्कशता के साथ दिया था और अपने निर्णय से तनिक भी विचलित नहीं हुई – चाहे वह निर्णय सही हो या गलत। लेकिन अब वह अपने पुत्र के सामने कुछ नहीं कह पा रही है क्योंकि जिस के लिए उसने यह सब कुछ किया था, वही उस का तीव्र खंडन कर रहा है। इस से कैकेयी के मन और हृदय को बहुत बड़ा धक्का लगा होगा और वह भीतर ही भीतर बहुत पछताती भी होगी, पर अपनी करनी की अकरणीयता को समझने और अपने छोटे मन और खोटे दिल को पहचानने में उसे कुछ देर लगी है। यहाँ पर यह स्मरणीय है कि कैकेयी के कहने पर वनवास को तत्काल स्वीकारते हुए राम ने कहा था कि भाई भरत को बुलाकर राजतिलक

करा लें और इस शुभ समारोह के संपन्न होते ही मैं वन चला जाऊँगा। लेकिन उस समय कैकेयी तनिक भी विलंब नहीं चाहती थी। बड़ी उंतावली में उस ने कहा था कि बेटा भरत तो आ ही जाएगा, तुम तो आज ही वन चले जाओ तो अच्छा रहेगा। अब कैकेयी को वह पुरानी बात याद आ रही होगी। पर जो काम उस समय होना चाहिए था, वही नहीं हुआ और इसीलिए अब कैकेयी के सामने मूक वेदना और एकांत अनुताप के सिवा और कोई चारा नहीं रहा। कैकेयी का यह मौन वाल्मीकि की वाग्विदग्धता का सब से प्रबल प्रमाण प्रस्तुत करता है।

माता मौन है, इसलिए पुत्र को अपने मन की सभी बातें कहने का अवसर मिल रहा है। भरत के मन में सब से बड़ी आशंका अब इस बात की है कि लोग समझेंगे कि यह सब माँ-बेटे ने मिलकर किया होगा। भरत की अनुमति या मौन स्वीकृति के बिना कैकेयी अपनी बात पर इतनी डटी रहे, इस की संभावना लोगों को बहुत कम दिखाई देगी। इसलिए लोगों को समझाना कठिन होगा कि इस में भरत का कोई हाथ नहीं है। इसी आशंका से त्रस्त होकर भरत अपनी माँ से कहते हैं:

यत्त्वया हीदृशं पापं कृतं घोरेण कर्मणा।
सर्व लोकप्रियं हित्वा ममाप्यापादितं भयम्॥

तुमने जो घोर अन्याय किया है वह संसार में किसी को भी अच्छा नहीं लग सकता है। यह इतना भयानक पाप है कि यह मुझे भी अपना भागी बना देता है।

अपने को इस पाप से मुक्त बनाने का भरत को एक ही उपाय सूझता है और वह है तत्काल राम के पास जाकर उनसे अनुनय-विनय करके उनको अयोध्या वापस बुलाना। अपने इस दृढ़ निश्चय को प्रकट करते हुए भरत कहते हैं कि अभी मैं यहाँ से चलता हूँ और अपने भाई को जल्दी से जल्दी वापस ले आता हूँ। जब तक राम अयोध्या के राजा नहीं बनेंगे तब तक यह पाप नहीं धुलेगा और तभी मैं अपने को कृतकृत्य समझूँगा।

अहमप्यवनीं प्राप्ते रामे सत्यपराक्रमे।
कृतकृत्यो भविष्यामि विप्रवासितकल्मषः॥

सत्यपराक्रम राम के पुनर्वासन से भरत भले ही कृतकृत्य बन जाएँ, पर कैकेयी को अपनी दुष्कृति से निष्कृति मिलना संभव नहीं है। इस बात से भी भरत भली-भाँति परिचित हैं। तभी तो वह कहते हैं:

सा त्वमग्निं प्रविश वा स्वयं वा विश दण्डकान्।
रज्जुं बद्ध्वाथवा कण्ठे नहि तेऽन्यत् परायणम्॥

तुम चाहो तो आग में कूद कर जल जाओ या दण्डक वन में स्वयं चली जाओ या गले में रस्सी बाँध कर मर जाओ। तुम्हारे लिए इस पाप से निष्कृति का और कोई उपाय नहीं है।

यह कहते कहते भरत की आँखें लाल हो जाती हैं, कपड़े ढीले हो जाते हैं, आभरण बिखर जाते हैं और वह स्वयं धरती पर गिर पड़ते हैं जैसे किसी उत्सव के बाद विजय पताका। भरत की इस स्थिति को देखकर कैकेयी की आँखों में भी आँसू आ जाते हैं। पर मुँह से कोई बात नहीं निकलती। इस अश्रुपूर्ण मौन मुखमुद्रा में अपनी माँ को देखने पर भरत को कुछ सांत्वना मिलती है। इस बात से वह आश्वस्त हो जाते हैं कि कम से कम अपनी माँ को इस बात का विश्वास दिला सके कि उनसे जो कुछ हुआ वह अच्छा नहीं हुआ और उसमें अपना कोई हाथ नहीं है। लेकिन यह बात संसार को समझाना अभी बाकी है।

कैकेयी के घर में अब तक जो कोलाहल हो रहा था, वह राजपरिवार के कुछ निकटतम सदस्यों तक पहुँच चुका था। भरत के आक्रोश भरे वाक्य सुनकर कुछ मंत्री महोदय वहाँ आ पहुँचते हैं। उनके सामने खड़े होकर भरत गद्गद कंठ से कहते हैं कि मैं इस अभिषेक के बारे में कुछ नहीं जानता और यह सारा काण्ड मेरी और मेरे भाई शत्रुघ्न की अनुपस्थिति में हुआ है। राम, सीता और लक्ष्मण का वनवास क्यों हुआ और कैसे हुआ, इस बात का मुझे पता तक नहीं है। जब मंत्रियों से भरत यह बात कह रहे थे तो उनकी आवाज़ कौसल्या और सुमित्रा के कानों तक

पहुँचती है। कौसल्या सुमित्रा से कहती है कि लगता कि क्रूरकर्मा कैकेयी का कार्यकुशल भरत आ गया है। यह कहकर दोनों रानियाँ भरत से मिलने चलती हैं और उसी समय भरत भी उनसे मिलने के लिए निकलते हैं। दोनों रास्ते में मिल जाते हैं। कुछ वृद्धावस्था के कारण और बहुत कुछ आकस्मिक शोक के कारण कौसल्या भरत और शत्रुघ्न को देखकर पहले से अधिक काँप उठती हैं और दोनों राजकुमार माँ कौसल्या की गोद में अपने आप सिमट जाते हैं ओर रोने लगते हैं। स्वयं रोती हुई कौसल्या रोने वाले भरत से कहती है कि तुम्हारी माँ कैकेयी ने तुम्हारे लिए अकण्टक राज्य की व्यवस्था कर दी है, तुम जल्दी राजा बन जाओ और मुझे अपने वनवासी राम के यहाँ पहुँचा दो। अगर तुमने ऐसा नहीं किया तो मैं स्वयं अग्निहोत्र की शरण में जाकर उस स्थान पर पहुँच जाऊँगी जहाँ पर राम चल रहे हैं। मेरा बेटा राम वन में तपता रहेगा और तुम यहाँ आराम से राज करो।

कौसल्या के ये कठोर वचन भरत के लिए दुर्भर बन जाते हैं। ऐसा लगता है कि उनके दिल पर पहले से लगी हुई चोट पर कौसल्या सुई चुभो रही है। भरत समझ नहीं पाते कि माँ को कैसे समझाया जाए। वह उनके पैरों पड़ते हैं और रोते बिलखते हाथ जोड़कर कई प्रकार से उनको समझाने की कोशिश करते हैं कि राम का सबसे प्यारा भरत इस प्रकार का कार्य नहीं कर सकता। राम के वनवास का प्रस्ताव जिसको अच्छा लगे उससे बढ़कर इस संसार में और कोई पापी नहीं हो सकता। संसार में जितने पाप किए जा सकते हैं, उन सबसे बढ़कर भयंकर पाप होगा राम के वनवास का अनुमोदन। जो राम सबसे समान रूप से प्रेम भाव रखते हैं और जिनके प्रति केवल स्त्री पुरुष ही नहीं, बल्कि पशु-पक्षी भी सहज प्रेम से प्रेरित होते हैं, उनके वनवास की बात मनुष्य मात्र की कल्पना से बाहर है। लेकिन यह कल्पना साकार बनी। इसका सारा दोष कैकेयी पर आरोपित होता है, हालांकि वनवासी राम इस को भाग्य का विपर्यय मात्र समझते हैं। फिर भी भरत को अपनी माता का यह नृशंस कार्य इतना आतंकित और संत्रस्त बना देता है कि वह मुक्त कंठ से घोषणा करने लगते हैं कि जिस किसी का इस दारुण कर्म में हाथ हो या जिसको यह कर्म धर्मसम्मत प्रतीत होता हो, वह संसार के समस्त पापों का भाजक बन जाए। राजद्रोह, प्रजाद्रोह, गुरुद्रोह, पितृद्रोह, मित्रद्रोह, पुत्रद्रोह आदि दुष्कृत्यों का जो दुष्परिणाम होता है, वही रामद्रोही को भी मिल जाना चाहिए। इस प्रकार के अनेक दुष्कृत्यों की लंबी सूची का हवाला देते हुए भरत माँ कौसल्या के सामने क़सम खाकर कहते हैं कि क्रूरकर्मा कैकेयी के इस कुत्सित कार्य में मेरा कोई हाथ नहीं है। अब कौसल्या समझ जाती है कि भरत का मन आकाश की तरह निर्मल है। भ्रातृवत्सल भरत को वह प्यार से अपने पास बुलाती हैं, गले लगाती हैं और शोकाकुल होकर रो पड़ती हैं।

अब माताओं के बाद कुलगुरु वसिष्ठ की बारी आती है। वास्तव में वसिष्ठ का बुलावा पाकर ही भरत अयोध्या आये। वसिष्ठ का संदेश जितना संक्षिप्त और सारगर्भित था उतना ही संतुलित और संयत उनका शोकाकुल भरत के प्रति आदेश होता है। वह कहते हैं।

अलं शोकेन भद्रं ते राजपुत्र महायश।
प्राप्तकालं नरपतेः कुरु संयानमुत्तमम्॥

अधिक शोक करने से कोई लाभ नहीं है। मंगलमय भगवान् सब मंगल करेंगे। तुम राजकुमार हो। कालगति में विलीन अपने पिता महाराज दशरथ की यथोचित अंत्येष्टि करनी है। इसी में तुम्हारा और सारे वंश का श्रेय है। इससे आगे वसिष्ठ कुछ नहीं कहते, केवल अपनी देख-रेख में विधिवत् सारा कर्म-काण्ड कराते हैं। यह आचरण रघुवंश के कुलगुरु के सर्वथा योग्य और उपयुक्त है। जो होना था, सो हो चुका है। उसके बारे में सोचने से कोई लाभ नहीं है। इस सत्य को सब स्वीकार करते हैं। लेकिन इसको आचरण में लाना किसी स्थितप्रज्ञ के लिए ही संभव है जो अशोच्य के बारे में सोचता नहीं। ध्यान देने की बात है कि "अशोच्यानन्वशोचस्त्वं......" इस आदेश वाक्य से आरंभ होनेवाले गीतार्थ का सार भी यही है। गीता का

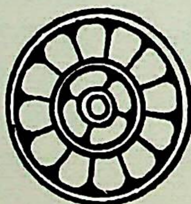
उपदेश करते समय भगवान् कृष्ण कभी-कभी अर्जुन को भरत या भारत के नाम से संबोधित करते हैं। यहाँ पर रामानुज भरत को कुलगुरु वसिष्ठ ने ऐसा कोई उपदेश तो नहीं दिया है किंतु उपयुक्त आचरण की दिशा दर्शायी है। इस दृष्टि से वसिष्ठ को यहाँ उपदेशक की अपेक्षा देशिक के रूप में समझना समीचीन है और दिशामूढ भरत इसी वसिष्ठ वाक्य में सही और स्थायी दिशा को प्राप्त कर लेते हैं।

जब सारा कर्मकाण्ड समाप्त हो जाता है तब महाराज दशरथ की महनीयता को बार-बार याद करके भरत और शत्रुघ्न शोक से बेहोश हो जाते हैं। वे अपने को बार-बार समझा लेते हैं कि जिसके बारे में सोचना नहीं चाहिए, उसी के बारे में बार-बार सोचा जा रहा है। यह इसलिए हो रहा है कि यह शोक केवल आकस्मिक ही नहीं बल्कि अकारण और अधर्म मूलक है। भरत और शत्रुघ्न एक-दूसरे को समझाने की चेष्टा करते हैं, पर दोनों में से कोई भी अपने को संभाल नहीं पाता।

इसी बीच में श्राद्ध भोज के बाद राजभवन में अचानक मंथरा दिखाई पड़ती है। नाना प्रकार के गहनों से लदी हुई कुब्जा चंदन की सुगंध से महकते हुए राजवस्त्र धारण किए पूरब के द्वार से चलती-सी दिखाई देती है जैसे रस्सी से सज धज कर बँधी हुई बंदरिया। समस्त पाप को कुत्सित रूप देने वाली कुब्जा को देखकर द्वारपाल उसके शत्रुघ्न के सामने खड़ा कर देता है और कहता है कि यह वही मंथरा है जिसके कारण यह सब कुछ हुआ है। कुब्जा के आसपास कुछ और भी महिलाएँ होती हैं जो शायद उनकी रखवाली करती हैं और कभी-कभी खुशामदी भी करती होंगी। मंथरा को देखते ही शत्रुघ्न उसको उसकी सहेलियों से अलग कर देते हैं और बुरी तरह से पीटने लगते हैं। कभी उसको ज़मीन पर पटक देते हैं और कभी उसके गहनों को चूर-चूर कर देते हैं और कभी उसको आक्रोश भरे वाक्य सुनाते हैं, पर मंथरा की चील्कार पर तनिक भी ध्यान नहीं देते। मंथरा की चीत्कार सुनकर कैकेयी बाहर आती है और केवल अपने पुत्र की तरफ देखती है, उनसे कुछ कह नहीं पाती। अगर वह कहना भी चाहती है तो केवल अपने बेटे भरत से कुछ कह सकती है, पर सुमित्रा के बेटे शत्रुघ्न से नहीं। भरत ने पहले ही मना कर दिया था कि अब कैकेयी उनसे बात नहीं करेगी। इसलिए कैकेयी मान रहती है। पर कैकेयी की कार्य-साधिका पछाड़ खाकर धरती पर गिर पड़ती है और वह भी कैकेयी के चरणों में। लेकिन भरत को मंथरा पर दया आती है। वह कहते हैं, "आखिर यह महिला है, महिला का वध करना पाप है।" इस प्रसंग में भरत के मुँह से एक बहुत ही गंभीर वाक्य निकलता है। वह कहते हैं कि अगर मेरा बस चलता तो मैं मंथरा को क्या, अपनी माँ कैकेयी को भी प्राणों से मुक्त कर देता। लेकिन अगर यह बात राम को मालूम हो जाए तो वह मुझसे और तुमसे बात तक नहीं करेंगे।

इमामपि हतां कुब्जां यदि जानाति राघवः।
त्वां च मां चैव धर्मात्मा नाभिभाषिष्यते ध्रुवम्॥

राम का भय भरत के मन में भद्रता की भावना को प्रतिष्ठित कर देता है तो राम का प्रेम केवल भरत को ही नहीं, बल्कि सारी अयोध्या को राममार्ग की ओर उन्मुख कर देता है। रामायण और भरतायन का यही सुंदर समागम देखने के लिए अब चित्रकूट प्रतीक्षा कर रहा है।



28. अब चित चेति चित्रकूटहिं चलु

प्रापंचिक जीवन को परमार्थ का रूप प्रदान करने में सहायक दो प्रधान जीव लक्षण हैं – प्रेम और भय । संसार में जो कुछ होता है, वह या तो प्रेम के कारण होता है या भय से । प्रेम-शक्ति को पहचानने वाला प्रणय-जीवी कवि कहता है कि "यह लीला जिस की विकस चली, वह मूलशक्ति थी प्रेम कला" तो प्रणव जीवी ऋषियों ने अपनी औपनिषदिक गंभीरता तथा आर्ष निर्भीकता के स्वर में मुक्त कंठ से गाया था कि भय के कारण ही संसार में हवा चलती है, सूरज निकलता है, बिजली चमकती है, आग जलती है और मौत उछल-कूद करती है । वास्तव में भय की निर्भीकता ही प्रेम में परिणत होती है और प्रेम की प्रणय भावना ही भय को अभय प्रदान करती है । इन दोनों मंजुल भावनाओं का मंगलमय संगम कैकेयी की वर-याचना के बाद राम और भरत के अयन में अपने को रेखांकित पाता है । सत्य से प्रेम और स्वार्थ से भय राम को लोकाभिराम बनाता है तो त्याग से प्रेम और भोग से भय भरत को राजपरिवार तथा राजकर्त्ताओं के लिए नयनाभिराम बना देता है ।

मातृगंधिनी कैकेयी की मर्मांतक ममता को जब भ्रातृवत्सल भरत निर्मम और निर्भीक शब्दों में ठुकराकर उनकी सारी योजना को निरस्त कर देते हैं तब माँ के मन में निराशा और पश्चात्ताप तथा परिवार और परिजनों के मन में आशा और आश्वासन की तरंगें एक साथ उफन उठती हैं । राम को वनवास से वापस लाने और आवश्यक हो तो स्वयं वनवास की दीक्षा ग्रहण करने के लिए कृतसंकल्प भरत की बातें सुनकर कैकेयी अवाक् हो जाती है, पर आस-पास खड़े होकर सब कुछ सुनने और देखनेवालों का मन प्रसन्न हो जाता है और हृदय आह्लादित हो उठता है । भरत का यह बार बार कहना कि मैं राज्य नहीं चाहता (राज्यं न कामये जातु), मैं अभिषेक के बारे में कुछ भी नहीं जानता (अभिषेकं न जानामि), मैं अपनी मां की बात नहीं मानता (मंत्रये नापि मातरम्), मैं राम के वनवास के बारे में बिल्कुल नहीं जानता (वनवासं न जानामि) और न मैं जानता हूँ कि सीता और लक्ष्मण का विवासन कैसे और क्यों हुआ (विवासनं च सौमित्रेः सीतायाश्च यथाभवत्) वहाँ पर उपस्थित मंत्रियों के कानों में मंत्र का-सा प्रभाव डालता है और वे आश्वस्त हो जाते हैं कि मंथरा की कुमंत्रणा और कैकेयी की दुर्बुद्धिता से राजवंश कलंकित नहीं हुआ है । वे इस बात का आसानी से अनुमान लगाते हैं कि अधर्म मार्ग से प्राप्त राज्य को धर्मपरायण भरत स्वीकार नहीं करेंगे । फिर भी राजा दशरथ की अंत्येष्टि के समाप्त होने पर चौदहवें दिन प्रातःकाल वे अपने राजधर्म का निर्वाह करते हुए युवराज भरत के पास जाकर उनसे सविनय निवेदन करते हैं:—

त्वमद्य भव नो राजा राजपुत्र महायश ।
संगत्या नापराध्नोति राज्यमेतदनायकम् ॥

(हमारे गुरु और आप के पिता राजा दशरथ राम को वन और आप को राज्य देकर स्वयं स्वर्ग सिधारे । इसलिए अब आप हमारे राजा बन जाइए । यह न्याय-संगत है क्योंकि यह राज्य आप को विधिवत् प्रदान किया गया है । इस को स्वीकार करने में आप

कोई अपराध का कार्य नहीं कर रहे हैं । इसके अलावा अब राज्य का कोई नायक भी नहीं है । इसलिए अपने राज्य को अराजकता से बचाना आप का कर्तव्य बन जाता है ।)

राजकर्त्ताओं की इन बातों में राजधर्म की भावना अवश्य है, पर लोकधर्म की घोर अवहेलना है । राजकुमारों में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ राम को वन भेजकर धर्मवत्सल भरत राजभवन में बैठकर अपना राजतिलक करा लें, यह लोकधर्म के विरुद्ध है । लोक के सामने राज्य जैसा राम के लिए वैसा रामानुज भरत के लिए भी तुच्छ है । लोक की आराधना के लिए राज्य को छोड़कर लोकाभिराम राम ने वनवास को सहर्ष स्वीकार किया था और उसी लोक-भावना को लेकर लोक सेवा को जीवन के आयोग के रूप में स्वीकार करने के लिए कृत संकल्प और दृढ़व्रत भरत अभिषेक के लिए प्रस्तुत मंगलमय कलश तथा अन्य सामग्री की परिक्रमा कर बड़ी विनम्रता के साथ राजकर्त्ताओं से कहते हैं:—

आभिषेचनिकं चैव सर्वमेतदुपस्कृतम् ।
पुरस्कृत्य गमिष्यामि रामहेतोर्वनं प्रति ॥

तत्रैव तं नर-व्याघ्रं अभिषिच्य पुरस्कृतम् ।
आनयिष्यामि वै रामं हव्यवाहमिवाध्वरात् ॥

(मेरे अभिषेक के लिए यह जो सामग्री आयोजित (उपस्कृत) की गई है, उस को आगे बढ़ाकर उस के पीछे पीछे मैं राम की खोज में निकल चलूँगा और जहाँ वह मिलेंगे, वहीं पर उसी वन में अपने अग्रज को अभिषिक्त बनाकर मैं अयोध्या ले आऊँगा – जैसे किसी यज्ञशाला से पवित्र अग्निहोत्र को लाया जाता है ।)

इस भरत-वाक्य के प्रत्येक अक्षर में भरत की भारतीय (भा-रत) भावना बोल उठती है। वास्तव में यह भरत-वाक्य राम के अयन की ओर अग्रसर भरत के अन्वयन का नांदी वाक्य है । इसीलिए इस शुभ संकल्प से समीरित रात्रि को वाक्य-कोविद वाल्मीकि "नांदी-मुखी रात्रि" की संज्ञा देते हैं । यह नांदी है राम और भरत के समन्वित अयन या समन्वयन की जिस में राम अयन की दिशा में आगे बढ़ रहे हैं, पर भरत अपने अग्रज के आनयन (वापस बुला लाने) के लिए कृत संकल्प होकर चलते हैं । अयन और आनयन का संगम ही चित्रकूट है जिस की परिकल्पना भरत के मन में इसी नांदीमुखी रात्रि में साकार बनने लगती है ।

भरत की इस भारतीय भाषा का मूल मंत्र है – "रामो राजा भविष्यति" (राम राजा बनेंगे) । इस मांत्रिक महावाक्य को सुनते ही भरत के सामने उपस्थित भारतीय परिषद् भरत की भारतीयता की भूरि-भरि प्रशंसा करते हुए कहती है:—

एवं ते भाषमाणस्य पद्मा श्रीरुपतिष्ठताम् ।
यस्त्वं ज्येष्ठे नृपसुते पृथिवीं दातुमिच्छसि ॥

भरत के मुँह से निकलनेवाले राम-भाष्य के प्रत्येक अक्षर में भारतीयता में तल्लीन परिषद् को कमलालय में निवास करनेवाली श्रीदेवता प्रतिष्ठित प्रतीत होती है । अपने आप अनायास प्राप्त राज्य को भ्रातृवत्सल भरत अपने बड़े भाई को देना चाहते हैं, इसी में भरत की भारतीयता है । इससे स्पष्ट होता है कि "श्री" की प्रतिष्ठा त्याग में है, भोग में नहीं । धर्म विरुद्ध भोग से धर्मसम्मत त्याग अत्यंत श्रेयस्कर है । इसीलिए राजकर्त्ताओं की परिषद् भरत की वाणी की सश्रीकता को पहचानकर भीतर ही भीतर प्रसन्नता से पुलक उठती है । भरत के इस वाक्य को वे लोग "श्रीमद्वाक्यमनुत्तमम्" (सश्रीक और अत्युत्तम)कहकर उस का सही निरूपण करते हैं । यह वाक्य 'श्रीमद्' इसलिए है कि उस में राम की चर्चा है, राम-भावना प्रतिष्ठित है । वह राम का भाष्य है । राम-भावना में रममाण भरत का हृदय इस भाषा को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बना लेता है । इसीलिए राजभाषा की औपचारिकता का विधिवत् पालन करनेवाले राजकर्त्ता भरत की इस रामभाषा को सुनकर आत्मविभोर हो जाते हैं ।

इस से भी आश्चर्य की बात यह है कि भरत के मन की बात राजकर्त्री परिषद् के सदस्य पहले से ही समझ लेते हैं । केवल समझना ही नहीं, बल्कि उस को वे कार्य रूप भी दे चुके हैं । इस रहस्य का पता तब

चलता है जब वन-यात्रा की तैयारी के लिए भरत का आदेश सुनकर वे कहते हैंः—

पन्थानं नरवर भक्तिमान् जनश्च
व्यादिष्टस्तव वचनाच्च शिल्पिवर्गः

(नरोत्तम ! आप की आज्ञा के अनुसार राज्य के काम-काज में अनुराग दिखानेवाले कुशल कर्मचारियों को इस काम में लगाया जा चुका है ।)

इस से स्पष्ट होता है कि राज-दरबार के कार्यकर्त्ता राजा के संकेत मात्र से राजकाज चलानेवाले इंगितज्ञ हैं । कैकेयी से भरत की जो बातचीत हुई थी और मंथरा के साथ शत्रुघ्न ने जो व्यवहार किया था, उससे पर्याप्त संकेत मिलता है कि भरत राज्य को स्वीकार नहीं करेंगे और किसी भी क्षण वह राम को वापस लाने के लिए वन की ओर प्रस्थान कर सकते हैं । इसी आधार पर राजकर्त्ताओं ने कारीगरों को वन का मार्ग ठीक करने के लिए आदेश दे रखे हैं । ध्यान देने की बात है कि भरत अभी राजा नहीं बने हैं और न बनने की संभावना है । फिर भी विधिवत् अभिषिक्त राजा के अभाव में प्रस्तावित राजा के आशय को आदेश मानकर चलनेवाले राजकर्ता राम राज्य की नींव डालने लगते हैं ।

भरत के संकेत मात्र से रामानयन के लिए सारा मार्ग प्रशस्त बन जाता है । उतार-चढाव, सजल-निर्जल आदि अंतर का अंतरंग जाननेवाले विशिष्ट शिल्पी अयोध्या से लेकर शृंगवेरपुर तक के सारे मार्ग को यात्रा योग्य बना देते हैं । ज़मीन खोदकर सुरंग बनानेवाले, अनावश्यक वृक्ष काट कर आवश्यक वृक्ष लगानेवाले, गंदे पानी को रोकनेवाले, पीने का पानी चलानेवाले बांस की चटाई, चमडे का चारजामा आदि बनानेवाले, खाना बनानेवाले सभी शिल्पी अपना अपना काम पूर्ण मनोयोग से देखते ही देखते पूरा कर देते हैं । जगह जगह पर सुंदर सरोवर सजाए जाते हैं, छोटे छोटे सोतों को जलाशयों का रूप दिया जाता है । निर्जल प्रदेश में पानी की व्यवस्था कर दी जाती है । इस प्रकार भरत की भारतीय सेना के रामानयन – अभियान के लिए जो मार्ग प्रशस्त कर दिया जाता है, वह राजमार्ग क्या, देव मार्ग-सा (सुरपथोपमः) लगता है । सारे मार्ग को सत्य और धर्म की पताकाओं से सजाया जाता है और उस पर चंदन का जल छिड़काया जाता है और रंग-बिरंगे फूलों से उसे सजाया जाता है । जगह-जगह पर विश्राम करने के लिए सुंदर शिविर बनवाए जाते हैं जहाँ पर स्वादिष्ट फल और अन्य खाद्य सामग्री की व्यवस्था कर दी जाती है । महामहिम भरत के निवास के लिए कुछ विशिष्ट शिविर बनाए जाते हैं जिन को अच्छी घड़ी में सभी नक्षत्रों और ग्रहों की अनुकूलता को ध्यान में रखकर प्रतिष्ठित करवाया जाता है । सरयू से गंगा तक सारा प्रदेश अमरावती की भांति अलंकृत और आलोकित दिखाई देता है । सारा परिवेश इतना भव्य रूप धारण करता है कि वह दिन में भी शरत् की चाँदनी की शोभा से चमकने लगता है ।

वन-यात्रा और भ्रातृ-संदर्शन के मीठे-मीठे सपने देखते हुए भरत और शत्रुघ्न वह शुभ रात्रि बिताते हैं तो प्रभात के समय सूत मागधों के प्रबोध-गीत सुनाई देते हैं । सामान्य स्थिति में यह मंगल संगीत मन मोहक लगना चाहिए । किंतु यह स्तुति-संगीत भरत के मन को व्याकुल बना देता है । वह अपने को इस के योग्य नहीं मानते । राजभावना को जगानेवाला यह प्रभात संगीत राजभोग से विमुख भरत के सामने प्रशस्ति के स्थान पर शास्ति का रूप उपस्थित करता है। तुरंत राजभवन से बाहर निकलकर भरत उस स्तुति-संगीत को बंद करवाते हैं और अपने भाई शत्रुघ्न से कहते हैं कि राजा मैं नहीं हूँ (नाहं राजा) । यह बात वह अपने भाई से नहीं बल्कि अपने आप से कह रहे हैं और अपने आप को समझाने का प्रयास कर रहे हैं कि मुझे अपने भीतर राजा की भावना को घुसने नहीं देना चाहिए । चारों तरफ राजकीय वातावरण है, पर भरत के भीतर राजा राम प्रतिष्ठित हैं और उन के लिए वही राजा हैं, वही राम हैं, वही भाई हैं, वही पिता हैं और वही सब कुछ हैं । वह अपनी राजसी भूमिका को राम की भावना में परिणत करने की पूरी-पूरी चेष्टा कर रहे हैं । भरत के संकेत मात्र से यात्रा की जो

तैयारियाँ ज़ोर शोर से शुरू हो गई हैं, वे सब राम की अगवानी के लिए हैं, भरत के संतोष के लिए नहीं। यह बात क्षण भर भी भरत भुला नहीं देते। इसी में उन के त्याग और भोग का सुंदर समीकरण है।

यद्यपि भरत अपने को राजा मानने को तैयार नहीं हैं, फिर भी वह भली भांति जानते हैं कि न्यायतः वही अब राज्य के उत्तराधिकारी हैं और जब तक वह राम को वापस बुला नहीं लाते तब तक उनको राज्य का भार वहन करना ही पड़ेगा, इस नैतिक दायित्व के प्रति भी वह सजग हैं। इसीलिए वह मानस मंथन की मर्मांतक वेदना से पीड़ित होकर सोचते हैं कि धर्म-देवता राजा दशरथ की 'राज्य-श्री' अब बिना नाविक की नौका के समान राज्य की मंझधार में डगमगा रही हैः—

तस्यैषा धर्मराजस्य धर्ममूला महात्मनः।
परिभ्रमति राज्यश्रीः नौरिवाकर्णिका जले॥

भरत को इस व्यथित दशा में देखकर राजगुरु, राजधर्मवेत्ता और ब्रह्मनिष्ठ वसिष्ठ राजा दशरथ के सभाभवन में प्रवेश कर स्वस्तिक आकार के आसन से अलंकृत अपने सुवर्ण आसन पर बैठते हैं और राज-परिषद् के सभी सदस्यों की एक अत्यंत आवश्यक बैठक बुलाते हैं। परिषद् के सभी सदस्यों के आगमन से राजसभा इंद्र-सभा की तरह सुशोभित होती है। जब सभी पार्षदों के बीच राजकुमार भरत राजगुरु के आदेश पर राजसिंहासन पर विराजमान होते हैं तो अमात्यवर्ग तथा अन्य सभासदों को ऐसा लगता है कि मानों राजा दशरथ ही सभी के मध्य विराजमान हैं। विद्वान्, बुद्धिमान्, नीतिमान् और द्युतिमान् सदस्यों से परिपूर्ण वह सभा पूर्णिमा की रात की तरह आलोकित और आह्लादपूर्ण दिखाई देती है। इस महती सभा में राजपुरोहित वसिष्ठ मृदु मधुर भाषा में भरत के सामने यह प्रस्ताव रखते हैं कि सत्यसंध पिता और धर्म-परायण भ्राता के द्वारा प्रदत्त राज्य को वह स्वीकार करें और विधिवत् अपने को अभिषिक्त करायें। सर्वज्ञ, सर्व धर्मज्ञ और सर्वशास्त्र विशारद वसिष्ठ के श्रीमुख से यह विचित्र बात सुनकर भरत पहले शोकाकुल हो जाते हैं और मन से वह राम के पास पहुँच जाते हैं (जगाम मनसा रामं)। धर्मज्ञ अनुज धर्मिष्ठ अग्रज के पास धर्म की जिज्ञासा लेकर कुछ क्षणों के लिए 'मनसा' पहुँच जाते हैं और फिर साहस बटोर कर गुरुदेव से कहते हैंः

चरित-ब्रह्मचर्यस्य विद्यास्नातस्य धीमतः।
धर्मे प्रयतमानस्य को राज्यं मद्विधो हरेत्॥

यह राज्य न्यायतः मेरा भले ही बन गया हो, पर धर्मतः यह मेरे धर्मात्मा भ्राता राम का है जो सदा ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, समस्त विद्याओं में निष्णात हैं, प्रकृत्या बुद्धिमान् हैं और प्रतिपद धर्मपद की परिचर्या करने के लिए यत्नशील रहते हैं। ऐसे योग्य और पूज्य अग्रज का राज्य मैं कैसे हड़प सकता हूँ। राज्य का यह अपहरण मुझ से नहीं हो सकता। राजा दशरथ का पुत्र होकर मैं राज्यापहारी नहीं बन सकता।)

सूत्र रूप में अपना यह निर्णय सुनाकर भरत अपने पुराने भाष्य को दुहराते हुए कहते हैं कि हम लोगों में ज्येष्ठ और सभी दृष्टियों से श्रेष्ठ राम ही इस राज्य के एकमात्र अधिकारी हैं। उन्हीं को समझा बुझाकर मैं अयोध्या वापस ले आऊँगा। अगर वह नहीं आए, तो मैं भी लक्ष्मण की तरह उन के साथ वन में चौदह वर्ष रहूँगा। यह बात कहते कहते भरत का ध्यान राम के पास चला जाता है और वह राजभवन में बैठे बैठे वनवासी राम को अपनी विनयांजलि अर्पित करते हुए कहते हैंः—

इहस्थो वनदुर्गस्थं नमस्यामि कृतांजलिः।
राममेवानुगच्छामि स राजा द्विपदां वरः॥

दो पैर वाले जितने प्राणी हैं, उन सब में राम ही सर्वश्रेष्ठ हैं, यह भरत की निश्चित धारणा है और उस पुरुषोत्तम को सत्यपुरी अयोध्या में फिर से प्रतिष्ठित करने के लिए वह कृतसंकल्प हैं। भरत का यह पावन संकल्प सभी सभासदों के मन में हर्ष और उल्लास उपजाता है। वसिष्ठ भी मन ही मन मुदित आमोद की मुद्रा में भरत-वाक्य का समर्थन करते हैं।

अगले ही दिन प्रातःकाल भरत की वन-यात्रा आरंभ होती है । इस भरतायन में अयोध्या के समस्त नागरिक सम्मिलित हो जाते हैं । बच्चे-बूढ़े, स्त्री-पुरुष, योद्धा-व्यापारी, कर्मचारी-ब्रह्मचारी – सभी लोग रामानयन के भारतीय अभियान में सहर्ष सहयोग देते हैं । सुमंत्र के द्वारा सुसज्जित रथ पर बैठकर जन-नायक भरत श्रीराम के चिद्विलास की खोज में चलते हैं । कुछ लोग पैदल ही चलते हैं, कुछ घोड़ों पर, कुछ हाथियों पर और कुछ लोग नाचते-गाते, उछलते-कदूते राम दर्शन की लालसा से रामकथा नवनीत का आस्वादन करते हुए अनायास ही आगे बढ़ते हैं । कौसल्या, सुमित्रा और कैकेयी भी राम के आनयन के इस अभियान में सोल्लास और सोत्कंठित सम्मिलित होती हैं । राम को देखते ही सब का शोक समाप्त हो जाएगा जैसे भास्कर की किरणों के स्पर्श मात्र से संसार का अंधकार दूर हो जाता है, इसी प्रकार की मीठी-मीठी कल्पनाओं को साकार बनाने के लिए सारी अयोध्या आगे बढ़ रही है । सब के मुँह से एक ही बात समवेत स्वर में मुखरित हो रही है और वह है:

मेघश्यामं महाबाहुं स्थिरसत्त्वं दृढव्रतम् ।
कदा द्रक्ष्यामहे रामं जगतः शोकनाशनम् ॥

श्याम मनोहर राम को, आजानुबाहु राम को, सत्यपराक्रम राम को, दृढ़संकल्प राम को हम कब देखेंगे? वह पावन क्षण कब आएगा जब हम अपने राम की मनमोहक मोदक मूर्ति-माधुरी को देखकर अपने लौकिक शोक-मोह से निवृत्त हो जाएंगे ।

यही राम-लालसा अयोध्या के निवासियों के चित्त को जगाकर उनकी चेतना को चित्रकूट की ओर अग्रसर करती है । सब का मन कहता है–

"अब चित चेति चित्रकूटहिं चलु"



29. पग पग पर प्रभुपद की छाया

अप्रत्याशित रूप से अनायास प्राप्त अयाचित एवं अवांछित राज्यभोग को पल भर में ठुकराकर धर्मपरायण भरत जब धर्मवत्सल राम को अयोध्या वापस बुलाने अरण्य की ओर प्रस्थान करते हैं तो सारी अयोध्या रामदर्शन की लालसा से उनके साथ चल पड़ती है । परिवार, परिजन, पुरजन ही नहीं बल्कि चतुरंग बल के साथ समस्त सेना भरत के इस अभियान में साथ चलती है तो देखनेवालों को आश्चर्य तो होता ही है, पर कभी कहीं और किसी को यह आशंका भी हो सकती है कि यह विनय-यात्रा है या विजय-यात्रा है । वास्तव में जब सारी सेना गंगा के तट पर जाकर शृंगवेरपुर में भरत के आदेश पर रात को ठहरने की तैयारी करती है तो उस प्रदेश के परिरक्षक निषादराज गुह के मन में इसी प्रकार की आशंका होती है । वह अपने लोगों को किसी भी संकट के लिए सन्नद्ध और सतर्क रहने को कहकर सागर की तरह अपार दिखाई देने वाली सेना की तरफ देखकर सोचते हैं:—

महतीयमितः सेना सागराभा प्रदृश्यते ।
नास्यांतमवगच्छामि मनसापि विचिंतयन् ॥

इतनी विशाल सेना को लेकर भरत क्यों आ रहे है, इस बात का अनुमान तक लगाना निषाद-राज के लिए अत्यन्त कठिन हो जाता है । "अति स्नेही पापशंकी"— के अनुसार जहाँ स्नेह सघन हो, वहाँ सन्देह भी सबल होता है । राम के प्रति गुह के मन में जो सहज स्नेह है, उसी के कारण भरत के विचित्र अभियान को देखकर उनको सन्देह होता है कि कहीं यह छोटा भाई नये-नये मिले राज्य को पक्का करने के लिए अपने बड़े भाई के प्रति कोई अत्याचार तो नहीं करने जा रहा है । उनका मन उन्मन होकर कहता है:—

ननु दाशरथिं रामं पित्रा राज्याद् विवासितम् ।
संपन्नां श्रियमन्विच्छनूतस्य राज्ञः सुदुर्लभाम् ।
भरतः कैकयी पुत्रो हंतुं समधिगच्छति ॥

राजा दशरथ ने अपनी रानी कैकेयी के कहने पर राम को वनवास दिया और भरत को सिंहासन । बड़े भाग्य से मिलनेवाली इस दुर्लभ राज्यलक्ष्मी के मादक मोह में पड़कर कहीं कैकयी का यह बेटा अपने मार्ग को निष्कंटक बनाने के लिए राम को समाप्त कर बैठने की बात तो नहीं सोच रहा है । इस प्रकार की आशंका की कल्पना ही अत्यंत भयानक लगती है । इस बात को निषादराज भी भली-भांति समझते हैं, पर राम की रक्षा के लिए तत्पर उनका मन अशुभ आशंका के सहारे शुभ की साधना में सफल होने का सजग प्रयास करता है । वह अपने मन में संकल्प कर लेते हैं कि यदि भरत का मन पावन है तो उनको हम गंगा पार करा देंगे और उनकी यह सेना सही सलामत नदी पार कर जायेगी ।

यदि तुष्टस्तु भरतो रामस्येह भविष्यति ।
इयं स्वस्तिमती सेना गंगामद्य तरिष्यति ॥

इस स्वस्तिवचान के साथ निषादराज युवराज भरत के पास जाकर अतिथि-सत्कार की औपचारिकता के बाद बड़ी विनम्रता के साथ हाथ जोड़कर कहते हैं कि मेरे योग्य.कोई सेवा हो तो आज्ञा दें । इस पर भरत

आगे का मार्ग जानना चाहते हैं जिससे वह भरद्वाज आश्रम होते हुए अपने गंतव्य स्थान तक पहुँच सकें। अब गहन गोचर गुह को अपने मन की बात कहनी पड़ती है। बहुत संकोच के साथ वह पूछते हैं:–

कच्चिन्न दुष्टो व्रजसि रामस्याक्लिष्टकर्मणः।
इयं ते महती सेना शंकां जनयतीव मे॥

(किसी को कष्ट या दुःख न पहुँचानेवाले कर्म में ही निरंतर कार्यरत रहनेवाले राम के प्रति आपके मन में कोई दुष्ट भावना तो नहीं है न? यह बात मैं इसलिए पूछ रहा हूँ क्योंकि आपकी इस विशाल सेना को देखकर मेरे मन में सन्देह हो रहा है।)

राम-सखा गुह की यह बात सुनकर रामानुज भरत का हृदय कुछ विदलित-सा हो जाता है, पर मन विचलित नहीं होता। आकाश की तरह निर्मल चित्त वाले भरत मन-ही-मन मुस्कुराकर कहते हैं कि संकट का ऐसा कोई भी समय मुझे देखने को न मिले जब लोग मेरे भ्रातृप्रेम के बारे में शंका प्रकट करें। मेरे अग्रज राम मेरे लिए पिता के समान पूज्य हैं और उनको वापस बुलाने के लिए ही मैं जा रहा हूँ। मेरे मन में और कोई विचार नहीं है, मेरी बात सच मानो।

भ्रातृवत्सल भरत के इस भद्र वचन पर प्रसन्न होकर निषादराज युवराज की प्रशंसा करते हुए कहते हैं:–

धन्यस्त्वं न त्वया तुल्यं पश्यामि जगतीतले।
अयत्नान्दागतं राज्यं यस्त्वं त्यक्तुमिहेच्छसि॥
शाश्वतो खलु ते कीर्ति र्लोकाननुचरिष्यति।
यस्त्वं कृच्छ्रगतं रामं प्रत्यानयितुमिच्छसि॥

(धन्य हो तुम, तुम्हारा जन्म धन्य है क्योंकि अनायास प्राप्त राज्य को ठुकराकर तुम अकारण दुःख सहनेवाले अपने बड़े भाई को वनवास से वापस बुलाकर सिंहासन पर बिठाना चाहते हो। तुम्हारा यश इस संसार में चिरस्थायी रहेगा और लोग तुम्हारे आचरण को आदर्श मानकर उसका अनुसरण करने का प्रयास करेंगे।)

भरत और गुह के बीच का यह संवाद निषादराज के सन्देह को दूर कर देता है और रामानुज को राम के पदाभ्याश की खोज में आगे बढ़ने में सुगति और सुविधा-प्रदान करता है। पदकांक्षिणी और पतिघातिनी कैकेयी का पुत्र होने के कारण जिस भरत को माँ कौसल्या तक "दीर्घदर्शी" कह कर आशंका की दृष्टि से देखती हैं, वही भरत अपने को राम का छोटा भाई समझ कर मन ही मन पुलक उठते हैं और पग-पग पर प्रभुपद की छाया देखने का प्रयास करते हैं। परन्तु जैसे भरत रामानयन के मार्ग में प्रभुपद की छाया देखते हैं, वैसे भरत के बंधु बांधव, मित्र और मान्य गुरुवर तक भरत के भीतर प्रभुत्व और पदवी के प्रति व्यामोह की रेखा को ढूँढ़ने का प्रयास करते हैं। धर्मात्मा वसिष्ठ भी राजा दशरथ की अंत्येष्टि के बाद भरत के सामने औपचारिक रूप से यह प्रस्ताव रखते हैं कि वह पिता का दिया हुआ और भाई का छोड़ा हुआ अकंटक राज्य स्वीकार करें। यह प्रस्ताव केवल राजकीय प्रक्रिया का अनुपालन मात्र हो, यह जरूरी नहीं है। हो सकता है, गुरुदेव भरत के अंतरंग की परीक्षा कर रहे हों। पर निर्मल हृदय भरत सभी परीक्षाओं में सयश उत्तीर्ण होते हैं। पहले कौसल्या, फिर पुरोहित वसिष्ठ, अब निषादराज गुह, आगे चलकर महर्षि भरद्वाज और अंत में भाई लक्ष्मण भी एक-एक कर भरत के आंतरिक अभिप्राय की थाह लेते हैं और सब लोग पाते हैं कि भरत के मन में पग-पग पर प्रभुपद की छाया ही छाई हुई है।

गंगा के तट पर शृंगवेरपुर में निषादराज गुह के साथ जो रात बीतती है, वह भ्रातृवत्सल भरत के कोमल अंतरंग को आलोडित कर देती है क्योंकि रातभर गुह के मुँह से राम और लक्ष्मण के प्रवास की बातें सुनकर भरत भाग्य के वैपरीत्य 'पर विस्मय और विषाद का विषाक्त और तिक्त अनुभव करते हैं। कहाँ अयोध्या का सिंहासन और कहाँ नदी के तट पर तरुतल की शय्या। इस बात की कल्पना ही भावुक भरत को शोकाकुल और समाधिस्थ बना देती है। महासत्त्व भरत को बात करते-करते बेहोश होते देखकर

राजमाता कौसल्या का शरीर काँप उठता है और निषाद-राज भी विषाद के स्वर में सीता, राम और लक्ष्मण का पूर्व वृत्तांत सुनाकर माँ कौसल्या और वत्स भरत को सांत्वना देने का प्रयास करते हैं । सीता समेत राम कहाँ सोये थे, रात भर राम भावना में लीन लक्ष्मण कैसे जगे रहे, केवल भाई लक्ष्मण का स्वयं लाकर दिया हुआ जल पीकर राम ने रात कैसे बिताई और इतना कष्ट सहते हुए भी तीनों संध्याओं की उपासना में तीनों व्यक्ति कैसे तत्पर थे – इन सब बातों का जीता-जागता वर्णन गुह के मुँह से सुनकर भरत की त्यागभावना पहले से अधिक प्रजागर बन जाती है । वह संकल्प कर लेते हैं कि जब तक राम वनवास से अयोध्या वापस नहीं आएँगे तब तक मैं भी ज़मीन पर घास बिछाकर सोऊँगा, फल-मूल खाऊँगा और जटावल्कल धारण करूँगा।

अद्य प्रभृति भूमौ तु शयिष्येऽहं तृणेषु च ।
फलमूलाशनो नित्यं जटाचीराणि धारयन् ॥

भरत को पूरा-पूरा विश्वास है कि उनकी यह तपोनिष्ठा राम को अयोध्या वापस बुलाएगी । अगर उनका यह मनोरथ पूरा नहीं हुआ तो वह भी राम के साथ चौदह वर्ष वनवास करेंगे । इसी दृढ़ निश्चय से भरत अपने समस्त परिवेश के साथ महर्षि भरद्वाज के आशीर्वाद प्राप्त करने प्रयागराज पहुँच जाते हैं । प्रयागराज पहुँचने के लिए निषादराज जो नौका तैयार करते हैं, उसकी साज-सज्जा का वर्णन आर्षकवि वाल्मीकि के शब्दों में केवल सार्थक ही नहीं, बल्कि सारगर्भित बन जाता है । उस नौका का आकार स्वस्तिक चिह्न का द्योतक है, नीचे सफेद कंबल बिछा हुआ है और उसकी आवाज़ मन को आनन्द पहुँचानेवाली है और उसका नाम कल्याणी है । इस नौका पर राज-परिवार के सदस्य बैठते हैं और दूसरे लोग यथायोग्य और यथाभीष्ट वाहनों पर गंगा को पार कर गंगा-यमुना के संगम स्थल प्रयागराज पहुँच जाते हैं ।

प्रयागराज में भरद्वाज को जैसे ही सूचना मिलती है कि रघुकुल गुरु वसिष्ठ उनके आश्रम में पधार रहे हैं, वह तत्काल अपना आसन छोड़कर बाहर निकल आते हैं और बड़ी श्रद्धा और सम्मान के साथ ब्रह्मर्षि का स्वागत करते हैं । पर पास में भरत को देखकर भरद्वाज का मन कुछ विचलित होता है । सोचने लगते हैं कि इन्हीं के कारण राम को वनवास का कष्ट सहना पड़ रहा है । साथ ही उनको आश्चर्य होता है कि इतनी भारी सेना लेकर भरत अब कहाँ जा रहे हैं और क्यों जा रहे हैं । यदि राम से मिलना ही है तो इतनी विशाल सेना की आवश्यकता क्या है? अपने मन में जो शंका उत्पन्न होती है उसको वह बाहर से प्रकट भी कर देते हैंः–

किमिहागमने कार्यं तव राज्यं प्रशासतः ।
एतदाचक्ष्व सर्वं मे न हि मे शुद्ध्यते मनः ॥

(नये राज्य का शासन चलाने का दायित्व छोड़कर तुम अब यहाँ क्यों आए हो? तुम्हारे मन में क्या विचार है? साफ-साफ बता दो क्योंकि मैं अपने मन को समझा नहीं पा रहा हूँ ।)

महर्षि के ये शब्द तीखे शरों की तरह भरत के हृदय को मार्मिक आघात पहुँचाते हैं । शृंगवेर में निषादराज ने भी बिल्कुल इसी प्रकार की आशंका प्रकट की थी । अपने वचन और आचरण से भरत ने उनकी शंका का समाधान किया । अब भरद्वाज जैसे परम ज्ञानी भी शंकालु हैं तो भरत की समझ में नहीं आता कि अब इस संसार को सत्य कैसे समझाया जाए । सत्य चाहे कितना भी सच्चा हो, पर झूठी दुनिया को उसकी सच्चाई का बोध कराना न राम जैसे सत्य पराक्रम के लिए संभव है और न भरत जैसे धर्मपरायण के लिए । फिर भी भरद्वाज जैसे परम ऋषि की शंका का समाधान करना भरत का परम कर्तव्य है । इसीलिए साहस बटोर कर हाथ जोड़कर और शब्दों को समेटकर भरत कहते हैंः–

हतोऽस्मि यदिमामेवं भगवानपिमन्यते ।
मत्तो न दोषमाशंके मैवं मामनुशाधिहि ॥

(यदि आपके मन में भी मेरे प्रति सन्देह है तो मेरा जीना न जीना बराबर है । मैं जीकर भी जीवित

नहीं रहा । मुझे इस दृष्टि से मत देखिए । ऐसी बात आपके मुँह से मैं नहीं सुन सकता । मुझे आज्ञा दीजिए, आदेश दीजिए, दिशा दिखाइए । मैं आपका आज्ञाकारी हूँ ।)

अश्रुधारा से अभिषिक्त भरत की इस शब्दधारा में भरद्वाज को निर्मल मन की उर्मिलता दिखाई देती है । पल भर में वह सब कुछ समझ जाते हैं और मन-ही-मन मुस्कुराकर कहते हैं:—

जाने चैतन्मनःस्थं ते दृढीकरणमस्त्विति ।
अपृच्छं त्वां तवात्यर्थं कीर्तिं समभिवर्धयन् ॥

(तुम्हारा अंतःकरण मैं जानता हूँ, पर बात पक्की बनाने के लिए, लोगों को समझाने के लिए और सम्मान्य जगत् में तुम्हारा मान बढ़ाने के लिए मैंने यह प्रश्न किया है ।)

भरद्वाज की इस वाणी को भरत अमोघ आशीर्वाद के रूप में ग्रहण करते हैं और भरद्वाज भी भरत पर इतने प्रसन्न होते हैं कि वह केवल भरत को ही नहीं बल्कि भरतमाता कैकयी को भी दोष-मुक्त सिद्ध करते हुए कहते हैं:—

न दोषेनावगंतव्या कैकेयी भरत त्वया ।
रामप्रव्राजनं ह्योतत् सुखोदर्कं भविष्यति ॥

(बेटा भरत, अपनी माँ को इसके लिए दोषी नहीं समझना । राम का वनवास लोक कल्याण का साधक बननेवाला है । इसलिए जो कुछ हुआ है, अच्छा ही हुआ । इसका परिणाम सुखप्रद होनेवाला है, इसलिए चिन्ता की कोई बात नहीं है ।)

भरद्वाज के आश्रम में भरत के समस्त राजपरिवार और परिचरों के लिए सुरुचिपूर्ण भोज का आयोजन किया जाता है जिसका आनन्द भरत की अपेक्षा भरत के अनुचर अधिक मात्रा में लेते हैं । राजकीय कर्मचारी यहाँ तक सोचने लगते हैं कि अब हमें न आगे चित्रकूट जाना है और न वापस अयोध्या लौट जाना है । यह आश्रम ही हमको अच्छा लगता है क्योंकि इतना स्वादिष्ट भोजन हमें और कहीं भी नहीं मिल सकता । भरत भी चकित हो जाते हैं कि आश्रम में इतना सुन्दर आयोजन कैसे सम्भव हो सका है । वास्तव में भरद्वाज भरत को समझाना चाहते थे कि राजभवन में भोग के जो साधन उपलब्ध होते हैं वे केवल अर्थसाध्य और स्वादमूलक होते हैं जबकि आश्रमवासियों को मिलनेवाला आनंद अर्थनिरपेक्ष और आत्मसाधक होता है ।

भरद्वाज का आशीर्वाद लेकर जब भरत चित्रकूट की तरफ आगे बढ़ते हैं तो पग-पग पर उनको प्रभुपद की परम रमणीय छाया दिखाई देती है । यह लो चित्रकूट आ गया, शायद वही भैया लक्ष्मण हैं, उधर दूर से जो धुआँ दिखाई दे रहा है, वहाँ मेरे अग्रज का आश्रम होगा – इन्हीं मधुर भावनाओं के साथ भारतीय परिवार आगे बढ़ता है । मार्ग में अनेक तपस्वियों के आश्रम दिखाई देते हैं, दूर सुदूर चित्रकूट के विचित्र शिखर सबका मन हर लेते हैं । बीच में मंदाकिनी नदी का मंद मृदुल और मधुर निनाद सुनाई देता है जिसको ऊपर से राम, सीता और लक्ष्मण और नीचे भरत और शत्रुघ्न आदि सुनते हैं । इस प्रकार राम और भरत का मिलन-सूत्र अब धीरे-धीरे प्रकट होने लगता है ।

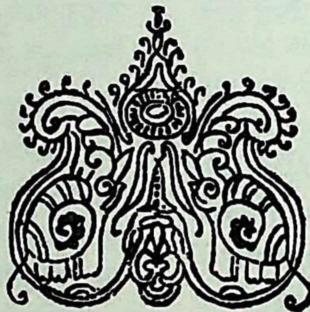
चित्रकूट के सुन्दर शिखर पर सुखासीन राम और लक्ष्मण को नीचे भरत की सेना का कोलाहल सुनाई देता है । राम के आदेश पर लक्ष्मण ऊँचे पेड़ पर चढ़कर देखते हैं और भरत को पहचान लेते हैं । भाई भरत को इतनी विशाल सेना के साथ आते देखकर लक्ष्मण के मन में भी सन्देह उत्पन्न होता है और वह जोश में आकर राम से कहते हैं कि वह भरत का प्रतीकार करेंगे और समस्त सेना को चूर-चूर कर देंगे । लक्ष्मण के क्षणिक आवेश को शांत करने के सात्विक प्रयास में राम कहते हैं कि अगर तुम राज्य-लोभ के कारण भरत से लड़ना चाहते हो तो मैं भरत से कह दूँगा कि वह सारा राज्य तुम्हें दे दे और वह बड़ी खुशी के साथ दे भी देंगे । इस पर लक्ष्मण अपने छोटेपन पर शर्माते हैं और तत्काल राम से क्षमा-याचना करते हैं । इतने में भरत की यात्रा और आगे बढ़ जाती है । जैसे ही राम का आश्रम दृष्टिगत होता है, सारी सेना को

पर्वत के नीचे ठहराकर भरत और शत्रुघ्न ऊपर चढ़ने लगते हैं ।

यावन्न रामं द्रक्ष्यामि लक्ष्मणं च महाबलम् ।
वैदेहीं च महाभागां न मे शांतिर्भाविष्यति ॥

जब तक महात्मा राम को, महाबली लक्ष्मण को और महाभागा जानकी को न देखूँगा, तब तक मेरे मन को शांति नहीं मिलेगी, इसी शांति पाठ का संबल लेकर भरत राम के पदाभ्याश तक पहुँच जाते हैं । चित्र विचित्र, प्राकृतिक रमणीयता से सुशोभित पर्णशाला में भ्रातृवत्सल राम को देखकर भरत का मन प्रसन्नता से पुलक भी उठता है और शोक से व्याकुल भी होता है । भाई के दर्शन हो रहे हैं, इसलिए आनन्द होता है और मेरे कारण भाई को इतना कष्ट सहना पड़ रहा है, यह सोचकर दुःख भी होता है । इस मिली-जुली भावना से आश्रमवासी राम के पास पहुँच कर भरत उनके पैर छूने का प्रयास करते हैं, पर आँसुओं से भरी आँखें उनके हाथों को राम के श्रीचरणों तक पहुँचने नहीं देतीं । बहुत टटोलने के बावजूद प्रभु-पद का पावन स्पर्श न पाकर भरत का मन अधिक व्याकुल हो जाता है और बेहोश होकर धरती पर गिर पड़ते हैं । बड़ी कठिनाई के साथ उनके मुँह से "आर्य" शब्द का संबोधन निकलता है और आगे कुछ नहीं कह पाते ।

धर्मवत्सल राम भरत के अंतरंग को समझ जाते हैं और उनके शोक-वेग को शांत करने के लिए अपने चरण स्वयं भरत के कर-युग की पहुँच में ला कर दोनों भाइयों को गले लगा लेते हैं । प्रभु की कृपा प्रयास से नहीं मिलती, प्रसाद से मिलती है । इसी प्रभु-प्रसाद से प्राप्त प्रभु-पद का पावन स्पर्श भरत को भाव-विभोर बना देता है और वह अपने को कृतकृत्य मान कर मन-ही-मन पुलक उठते हैं । इसी तादात्म्य की भावना में भरत जैसे भावुक भावयोगी परमानन्द की परम दुर्लभ अनुभूति प्राप्त करते हैं जिसके बारे में नारद जैसे भक्तियोगी कहते हैं– "नंदति नंदति नंदत्येव ।"



30. राज करेगी राम-पादुका

चित्रकूट में रामानुज भरत और भरताग्रज राम का मिलन विलक्षण चित्त-वृत्तियों का विचित्र कूट है जहाँ पर दो महामानव त्याग और भोग के आकर्षण और विकर्षण से अपने मनोवेगों को पलभर में उद्वेलित पाते हैं, पर दूसरे ही क्षण अपनी स्थित-प्रज्ञता के बल पर उद्वेलित मन को शांत और समाहित बनाने का प्रयास करते हैं। दोनों एक दूसरे की मनःस्थिति को भली-भाँति जानते और पहचानते हैं, पर मन की बात वाणी व्यक्त नहीं कर पाती। इसी मानस-मंथन में मन मसोसकर अग्रज के पादाभिवंदन में तत्पर भरत को भ्रातृ-वत्सल राम अपनी दोनों बाहों में समेट लेते हैं और उनके मस्तक को सूँघते हुए कुशल मंगल की पृच्छा करते हैं।

भाई भरत को देखते ही उनके भावुक हृदय को पहचानने वाले राम की इस परिपृच्छा में केवल जिज्ञासा की अपेक्षा सांत्वना और समवेदना का सात्विक स्वर अधिक सजग सुनाई देता है। राम का सबसे पहला प्रश्न पिता दशरथ के संबंध में है। भरत की मुखमुद्रा को देखकर आतंकित और आशंकित स्वर में वह पूछते हैं:—

क्व नु तेऽभूत् पिता तात यदरण्यं त्वमागतः।
न हि त्वं जीवतस्तस्य वनमागंतुमर्हसि॥

(कहाँ हैं पिताजी जिनको छोड़कर तुम इधर वन में चले आये हो? उनके जीते-जी तुम्हारा इस प्रकार वन में आ जाना मुझे कुछ अजीब-सा लग रहा है। ऐसा तुम नहीं कर सकते।)

भरत का तापस वेष,उनका उतरा हुआ चेहरा, प्रलय कालीन भास्कर की तरह उनकी प्रचंडता और सबसे बढ़कर उनका भयंकर मौन राम के मन में अनिष्टतम अरिष्ट की आशंका उत्पन्न कर देता है। सत्यपराक्रम राम को सत्य को समझ लेने में देर नहीं लगती। पर भरत के मुँह से परम दारुण सत्य निकल नहीं पाता। कहीं दुःख के भार से पिताजी परलोक तो नहीं सिधारे, राम के इस सीधे सवाल का भी जब भरत से कोई जवाब नहीं मिलता तब राम अप्रिय सत्य कहने में भरत की असमर्थता को समझ जाते हैं और उनके मन को भुलावा देने के लिए उनसे तरह-तरह के सवाल पूछते हैं। क्या तुम पिताजी की बात मानकर अपना शासन-कार्य चला रहे हो? तुमसे कोई त्रुटि तो नहीं हुई है न? देखना कहीं तुम्हारी लापरवाही से राज्य किसी दूसरे के हाथ में नहीं चला जाए। यज्ञ-याग, पूजा-पाठ, ध्यान-दान आदि सही समय पर सही ढंग से सम्पन्न हों। गुरुजनों का आदर-सत्कार विधिवत् होना चाहिए। सुरक्षा के साधन जुटा कर उनको संभाल कर रखने में कोई प्रमाद न हो। समर्थ और विश्वसनीय मंत्रियों से मंत्रणा प्राप्त करनी है। हजारों मूर्खों को अपने पास रखने की अपेक्षा एक विद्वान और दक्ष सलाहकार को अपने परामर्श मंडल में स्थान दे दो। समय पर सोकर समय पर उठना है। कभी-कभी आवश्यकता पड़ने पर आधी रात को आत्यंतिक समस्याओं पर विचार करने में प्रमाद नहीं होना चाहिए। किसी महत्त्वपूर्ण समस्या पर बिल्कुल अकेले नहीं सोचना है। हर समस्या पर हर किसी से सलाह

नहीं लेनी है । किसको कितना दंड देना चाहिए और किसको किस रूप में पुरस्कृत करना चाहिए, इसका पूरा-पूरा ध्यान रखना है । जिसको जितना जब देना है, उसको उतना समय पर देना है । स्वराष्ट्र और पर-राष्ट्र की नीति में कभी कोई भूल या जल्दबाजी नहीं करनी है । राज-भवन की रक्षा पर जितना ध्यान देते हो, उससे भी अधिक जनपद की देख-रेख पर देना है । स्त्रियों का मान-सम्मान करने में उपेक्षा नहीं होनी चाहिए, उन पर आवश्यकता से अधिक विश्वास नहीं करना है । किससे कौन सी बात कहनी है और कौन सी बात छिपानी है, इसका पूरा ध्यान रखना है । अर्थ को धर्म से और काम को प्रेम से परिरक्षित करना है । राज-दोष से अपने को दूर रखकर राजधर्म का पालन करना है । एक प्रकार से ये सब बातें निरर्थक, अप्रासंगिक और अस्वाभाविक लग सकती हैं, पर दूसरी दृष्टि से इनका अपना महत्त्व है ।

इस पर भी भरत अपना मौन भंग नहीं कर पाते । राम को देखते ही भरत के मुँह से 'आर्य' शब्द निकल पड़ता है और वह उनके पैरों पड़ते हैं । उसके बाद काफी समय तक उनके मुँह से दूसरा शब्द नहीं निकल पाता । अंत में रामचंद्र की राजनीति-चंद्रिका की शीतल शांत सांत्वना में साहस बटोर कर उसी 'आर्य' शब्द को दुहराते हुए भाई भरत कहते हैं:-

आर्य तातः परित्यज्य कृत्वा कर्म सुदुष्करम् ।
गतः स्वर्गं महाबाहुः पुत्रशोकाभिपीडित ॥

(आर्य, हमारे पिताजी बहुत ही दुष्कर कार्य करके पुत्र के शोक से पीड़ित होकर हमें छोड़कर स्वर्ग सिधार गये ।)

इस वाक्य में भरत अपनी समस्त वेदना को संक्षेप में एक ही साँस में कह देते हैं और उसी साँस में यह भी कह देते हैं कि विधि के प्रमाद से विमाता से जो जघन्य पाप हुआ है, उसको राम का प्रसाद ही परिमार्जित कर सकता है । यदि ऐसा नहीं हुआ तो माँ कैकेयी घोर नरक को प्राप्त करेगी और सारी अयोध्या अनाथ बन जाएगी । इसी प्रकार के अनेक तर्क और प्रमाण प्रस्तुत करते हुए भरत बार-बार "प्रसादं कर्तुमर्हसि" कह कर राम के प्रसाद की दयनीय याचना करते हैं । पर दया और धर्म के बीच में धर्म को ही गुरुतर मानने वाले धर्मात्मा राम अपने छोटे भाई को समझाने का प्रयास करते हैं कि धर्म का लोप सबसे महान् पाप है और उसमें राज्य का लोभ बहाना नहीं बन सकता । वह अपनी निश्चित धारणा को स्पष्ट शब्दों में प्रकट करते हुए कहते हैं कि माता-पिता की आज्ञा का पालन करना ही सत्संतान का सच्चा धर्म है और गुरुजनों के निर्णय के औचित्य और अनौचित्य पर विचार करने का उनको कोई अधिकार नहीं है । लेकिन धर्मसम्मूढ भरत राम के बताये राजधर्म को समझ नहीं पाते और न समझना चाहते हैं क्योंकि उनको किसी भी प्रकार से राम को राज्य का उत्तराधिकारी बनाना है । उनको तो राजधर्म से बढ़कर कुलधर्म की रक्षा महत्तर मालूम पड़ती है । इसी कुलधर्म का सर्मथन करते हुए वह कहते हैं:-

शाश्वतोऽयं सदा धर्मः स्थितोऽस्मासु नरर्षभ ।
ज्येष्ठे पुत्रे स्थिते राजा न कनीयान् भवेन्नृपः ॥

ज्येष्ठ पुत्र के रहते हुए छोटे का राजा बनना कुलधर्म के विरुद्ध है और विशेषकर रघुकुल में । इससे भी अधिक विचारणीय बात, भरत की दृष्टि में, यह है कि राजा जिस परिस्थिति में स्वर्गवासी हो गए उसको देखते हुए राम के राज्यारोहण से ही दिवंगत पिता को आत्मशांति मिल सकती है । इस परिवेश का पारदर्शी चित्र प्रस्तुत करते हुए भरत कहते हैं:-

त्वामेव शोचंस्तव दर्शनेप्सुः
त्वय्येवसक्तामनिवर्त्य बुद्धिम् ।
त्वयाविहीनस्तव शोकरुग्णः
त्वां संस्मरन्नेव गतः पिता ते ॥

राम के बारे में सोचते हुए, राम को देखने के लिए तपड़ते हुए, राम में और केवल राम में अपना सारा मन, सारा प्रेम और सारा लगाव रखते हुए, उसी राम से अलग होकर, उसी शोक से रुग्ण (अस्वस्थ) होकर, उसी का बार-बार स्मरण करते हुए राम के

पिता स्वर्ग सिधार गए । इतने स्पष्ट शब्दों में भरत के समझाने पर भी राम उस बात पर ध्यान नहीं देते जिस पर भरत बल दे रहे हैं । इसके विपरीत, पिता के लिए उत्तर लोक में अक्षय संबल सुनिश्चित करने के लिए उदक चढ़ाने की जो बात भरत के मुँह से निकलती है, उस पर राम शोकाकुल हो जाते हैं और बहुत पछताते हैं कि जो पिता मेरे शोक से दिवंगत हो गए उनका मैं संस्कार तक नहीं कर सका (यो मृतो मम शोकेन स मया न च संस्कृतः) । इसी चिंता से व्याकुल होकर राम कहते हैं कि जिस अयोध्या में दशरथ जैसे पिता नहीं हैं, उसको लेकर मैं क्या करूँगा । कहाँ महात्मा दशरथ और कहाँ मुझ जैसा कुपुत्र जो पिता का अंतिम संस्कार तक नहीं कर सका । वनवास की अवधि के बाद भी पिता-विरहित अयोध्या में प्रवेश करने के लिए उनका मन अब राजी नहीं होता (निवृत्त-वनवासोऽपि नायोध्यां गंतुमुत्सहे) ।

अब थोड़ी देर के लिए राजधर्म, कुलधर्म और लोकधर्म की बातें भुला दी जाती हैं और केवल धार्मिक अनुष्ठान पर बल दिया जाता है जिसमें अधिक विलम्ब नहीं होना चाहिए । सीता-समेत राम अपने भाई लक्ष्मण को साथ लेकर मंदाकिनी में मज्जन कर पितृ-तर्पण करते हैं । वनवासी राम वन-सुलभ अन्न से ही पिता का तर्पण करते हैं, राजकीय सम्मान और साज-सज्जा के साथ नहीं क्योंकि अब वह न राजा रहे और न रहना चाहते हैं । यहाँ पर ध्यान देने की बात है कि राम पिता के स्वर्गवास से उतने चिंतित नहीं हैं जितने कि इस बात को सोचकर कि पिता के प्रति पुत्र के धार्मिक दायित्व पर उन्होंने अब तक सोचा ही नहीं जब तक छोटे भाई भरत ने उस बात की याद नहीं दिलाई । इससे दो बातें स्पष्ट होती हैं । पहली बात यह है कि राम बाहरी कर्मकांड को विशेष महत्त्व नहीं देते हैं । पर साथ ही उसकी उपेक्षा करना लोकसंग्रह की दृष्टि से महान् पाप समझते हैं । इसीलिए जैसे ही भरत के मुँह से संस्कार की बात निकलती है, तत्काल राम अचानक काटे गये फूलों के पौधों की तरह बेहोश होकर ज़मीन पर गिर पड़ते हैं । जगत्पति बनने की योग्यता रखने वाले राम को इस प्रकार साधारण मनुष्य की तरह शोकाकुल देखकर सबको आश्चर्य होता है और दुःख भी होता है । वास्तव में राम की महनीयता इसी में है कि उनके दिव्यत्व को भुला देने वाली भव्यता और संसार को भुलाने वाली सात्विकता दोनों का उनमें सुखद सम्मिश्रण है । जहाँ वह नैष्ठिक कर्मयोगी के रूप में पिता को श्राद्ध के साथ और्ध्वदेहिक उदक देकर अपने लौकिक कर्त्तव्य को निभाते हैं, वहाँ कर्मकाण्ड के पश्चात् चित्रकूट के आश्रम में आँगन में बैठकर गुरुजनों के सामने स्वजनों को सांत्वना देते हुए आत्मा के अमरत्व पर अभिभाषण भी देते हैं ।

रामायण में राम के मुँह से उपदेश की बातें बहुत कम सुनने को मिलती हैं । इन्हीं विरल प्रसंगों में से यह एक विलक्षण घटना है जहाँ पर सांत्वना पाने का अधिकारी सांत्वना देने लगता है । यह इसलिए होता है क्योंकि भरत कुछ ऐसी बात कहते हैं जिसका जवाब राम के पास नहीं है । भरत कहते हैं, यह सही है कि पिताजी ने मुझे राज्य दिया है, पर मैं अपनी इच्छा से वह राज्य आपको दे रहा हूँ, इसलिए आपको इसे स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए । इसमें राजधर्म, कुलधर्म और लोकधर्म – सभी धर्मों का पालन हो जाता है । पर राम का सनातन धर्म इन सभी धर्मों से गुरुतर है । इसलिए वह उसी धर्म की बात करते हैं जिसके सामने सभी धर्म अपना स्वत्व खो बैठते हैं । शरीर की नश्वरता, आत्मा की अविनश्वरता और सांसारिक संयोग और वियोग की सारहीनता को रमणीय शब्दों में स्पष्ट करने के बाद राम अपने पिता के बारे में कहते हैं:–

न स शोच्यः पिता तात स्वर्गतः सत्कृतः सताम् ।
स जीर्णमानुषं देहं परित्यज्य पिता हि नः ।
दैवीमृद्धिमनुप्राप्तो ब्रह्मलोकविहारिणीम् ॥

राम अपने भाई भरत को समझाते हैं कि हमें अपने पिता के बारे में चिंतित नहीं होना चाहिए क्योंकि वह धन्यजीवी हैं । अपना जीर्ण शरीर छोड़कर वह उत्तम लोकों को प्राप्त कर चुके हैं जहाँ पर दैवी

समृद्धि से सम्पन्न होने के कारण वह ब्रह्मलोक में भी आत्मविश्वास और आत्मसंतोष के साथ विचरण कर सकते हैं । राम–गीता का यह महावाक्य एक ओर भरत को सांत्वना प्रदान करता है और दूसरी ओर इस बात की ओर हल्का सा संकेत कर देता है कि सत्यलोक में सत्य के बल पर सच्चा आनन्द प्राप्त करने वाले स्वर्गीय पिताजी की सत्यनिष्ठा में किसी प्रकार का कलंक नहीं लगना चाहिए । दूसरे शब्दों में इसका आशय यही है कि राम पिता की आज्ञा का विधिवत् पालन करेंगे अर्थात् चौदह वर्ष वनवास की दीक्षा पूरी करके ही अयोध्या लौटेंगे ।

इसी बात को अधिक स्पष्ट करते हुए राम आगे कहते हैं:—

स स्वस्थो भव मा शोको यात्वा चावस तां पुरीम् ।
तथा पित्रा नियुक्तोऽसि वशिना वदतां वर ॥

(अनावश्यक व्यग्रता और उद्विग्नता छोड़कर शांत चित्त होकर तुम अयोध्या पहुँचो और पिता द्वारा प्रदत्त राज्य का पालन करो । जैसे हमारे पिताजी शासन में पटु थे, वैसे तुम वाणी के धनी हो ।)

राम के इस आदेश का अंतिम शब्द – वदतां वर – विशेष ध्यान देने योग्य है । भरत अपनी वाणी की वरणीयता और रमणीयता के बल पर राम का मन जीतने का प्रयास करते हैं । पर राम वाणी के मर्मज्ञ अवश्य हैं, पर साथ ही कर्मठ कार्य और कर्त्तव्य परायणता के कट्टर अनुयायी भी हैं । इसीलिए वह भरत की बातों में निहित प्रेम को पहचानते हैं और मोह का निराकरण करते हैं । इस पर भी धर्मवत्सल भरत राम की महनीयता को सराहते हुए और साथ ही अपना धार्मिक अनुरोध दुहराते हुए कहते हैं कि इस संसार में और कौन इस प्रकार की बात कर सकते हैं जैसे आप कर रहे हैं (को हि स्यादीदृशो लोके यादृशस्त्वमरिंदम) आप देवतुल्य (अमरोपम) हैं, सर्वज्ञ हैं, सर्वदर्शी हैं, सत्यसाधक हैं, बुद्धिमान् हैं, महान् हैं इसलिए आप और केवल आप मेरी माँ कैकेयी को, पिता दशरथ को मुझे, मेरे मित्रों को और समस्त बन्धु–बान्धवों को – सबको महान् अनर्थ से बचाने में समर्थ हैं । राम का सत्वर अभिषेक ही इस संकट का एकमात्र समाधान है, इस बात को स्पष्ट करते हुए भरत कहते हैं कि अभी यहीं पर अभिषिक्त होकर आप हमारे साथ अयोध्या चलें, इसी में हम सबका श्रेय है । अभिषेक के लिए आवश्यक सारी सामग्री और अनुष्ठान विधिवत् सम्पन्न करनेवाले ब्रह्मनिष्ठ पुरोहित यहीं पर हैं ।

पर वाग्विशारद भरत की भाव–विह्वलता को पहचानकर स्मितभाषी राम समस्या का सुन्दर समाधान प्रस्तुत करते हुए कहते हैं :—

त्वं राजा भरत भव स्वयं नराणां ।
वन्यानामहमपि राजराण्मृगाणाम् ।
गच्छ त्वं पुरवरमद्य संप्रहृष्टः ॥
संहृष्टस्त्वहमपि दंडकान् प्रवेक्ष्ये ॥

(भाई भरत, तुम नर–नारियों के राजा बनकर अयोध्या में आनन्द से रहो और मैं वन्य मृगों का सम्राट् बनकर दंडकवन में विचरण करता रहूँगा । तुम नगर के राजा हो और मैं अरण्य का शासक हूँ, बस इतना ही अन्तर है ।)

आगे चलकर राम शासन के इस सुन्दर विभाजन की सुसंगत व्याख्या करते हुए कहते हैं कि जाने अनजाने पिताजी ने अपने चारों पुत्रों में शासन का सही बँटवारा कर ही दिया है । राम और लक्ष्मण दंडक में तथा भरत और शत्रुघ्न अयोध्या में – अपने अपने ढंग से लोकमंगल की साधना में लगे रहें, यही दिवंगत राजा तथा देवताओं के लिए अभीष्ट है । इसलिए सत्यव्रत राम का अंतिम निर्णय यही है कि सत्यसंध पिता के चारों पुत्र अपने–अपने नियत मार्ग पर चल कर अपने स्वर्गस्थ पिता को सत्यस्थ बनाए रखें:—

चत्वारस्तनयवरा वयं नरेन्द्रं ।
सत्यस्थं भरत चराम मा विषीद ॥

ध्यान देने की बात है कि भरत ने राम का प्रसाद माँगा था और राम का संदेश है कि विषाद से तुम दूर

रहो। विषाद का निराकरण ही प्रसाद है। जहाँ विषाद के लिए अवकाश नहीं है, वहाँ प्रसाद ही प्रसाद प्रसारित होता है। राम प्रसाद के इस संप्रसारण में रामायण-कथा का स्वाधिष्ठान-सोपान स्पष्ट परिलक्षित होता है। चित्रकूट के चिन्मय शिखर पर राम और भरत के कार्यक्षेत्र का स्पष्ट निरूपण हो जाता है। एक नर-पति हैं और दूसरे पशुपति। नगर का शासन करना वन के शासन से अपेक्षाकृत सरल और सुकर होता है। इसीलिए वह छोटे भाई को सौंपा गया है और राम वन पालन के जटिल और दुष्कर दायित्व को स्वेच्छा से स्वीकार करते हैं। दोनों अपने-अपने कार्यक्षेत्र में प्रवेश करते हैं - चित्रकूट के संगम-स्थल से। इसी में चित्रकूट की सार्थकता है। कैकेयी की वर-याचना में रामायण का मूलाधार संचालित होता है तो चित्रकूट के इस सुचिंतित निर्णय में स्वाधिष्ठान का सम्यक् प्रतिपादन पाया जा सकता है। इसीलिए लगता है कि रामयाण केवल राम का अयन नहीं है, बल्कि प्राण का अयन है और वह भी एक महाप्राण का महान् अयन जिसकी विभिन्न अवस्थाओं में उसके अभ्यंतर सोपान साफ-साफ दिखाई देते हैं।

राम के इस अंतिम निर्णय के बावजूद जाबालि जैसे मनस्वी राम को परोक्ष फल देनेवाले त्याग से प्रत्यक्ष सुख प्रदान करनेवाले भोग की ओर आकृष्ट करने का प्रयास करते हैं। पर राम अपने संकल्प के पक्के और वचन के सच्चे हैं। इसलिए सत्य के संबंध में किसी प्रकार का समझौता राम के लिए स्वीकार्य नहीं हो सकता चाहे जाबालि जैसे महर्षि की मंत्रणा को भी ठुकराना पड़े। वास्तव में जाबालि के भौतिकवादी प्रवचन पर राम जैसे सात्विक व्यक्ति भी क्रोध के आवेश में आकर कहते हैं कि संसार में सत्य ही भगवान् है, सत्य में ही धर्म निहित है, सत्य ही सबका आधार है और सत्य से बढ़कर श्रेष्ठ वस्तु और कोई नहीं है।

सत्यमेवेश्वरो लोके सत्ये धर्मः सदाश्रितः।
सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्तिपरं पदम्॥

सत्यपराक्रम राम के इस सत्याग्रह को ब्रह्मनिष्ठ वसिष्ठ समझ लेते हैं और राम को समझाने का प्रयास करते हैं कि राम के प्रति प्रेम के कारण ही जाबालि ने ऐसा कहा है, इसलिए उनकी बातों को बुरा नहीं मानना चाहिए। फिर वसिष्ठ अपनी ओर से बहुत ही शिष्ट वाणी में राम से अनुरोध करते हैं कि रघुकुल की प्राचीन परम्परा के अनुसार ज्येष्ठ पुत्र को ही राज्य का उत्तराधिकारी बनना चाहिए और धर्मपरायण राम को इस परिपाटी का पालन करना चाहिए। पर राम बड़ी विनम्रता से कुलगुरु वसिष्ठ को समझाते हैं कि पिता की आज्ञा का पालन करना ही पुत्र का परमधर्म है और सत्यसंध पिता का वचन मिथ्या नहीं बन सकता। इस पर सब लोग राम की निष्ठा के सामने हार मानते हैं। पर भरत सत्याग्रह प्रारम्भ करते हैं और कहते हैं कि जब तक राम अयोध्या वापस न जाएँ तब तक वह अनशन व्रत धारण कर आश्रम में बैठे रहेंगे। राम के मना करने पर भी वह नहीं मानते और कहते हैं कि अगर वनवास अनिवार्य है तो वह स्वयं वनवास करेंगे और राम तो अयोध्या वापस जाएँगे।

इस दशा में चित्रकूट की विचित्र सभा में समागत संत-महात्माओं का नैतिक दायित्व बन जाता है कि इस संकट से राज परिवार को और प्रजा को बचाया जाए। सभी तपस्वी सोच समझकर भरत को समझाने का प्रयास करते हैं कि उत्तम कुल, उत्तम विचार, उत्तम आचरण और उत्तम यश के सहज अधिकारी भरत को अपनी और अपने वंश की प्रतिष्ठा को ध्यान में रखकर राम की बात मान लेनी चाहिएः—

कुले जात महाप्राज्ञ महावृत्त महायशः।
ग्राह्यं रामस्य वाक्यं ते पितरं यद्यवेक्षसे॥

पिता के पश्चात् ज्येष्ठ भ्राता पितृवत् पूज्य बन जाते हैं, इसलिए भरत को अपने बड़े भाई की बात माननी ही पड़ती है। पर अकेले राज्य का भार वहन करने में अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए भयविह्वल भरत अग्रज के चरणों का आश्रय लेते हैं। भरत की इस सहज सात्विक विनम्रता को देखकर राम उनको

दोनों बाहों से ऊपर उठाकर गले लगा लेते हैं और कहते हैं कि इस प्रकार की विनम्रता व्यक्ति को विश्व-विजयी बना सकती है । राम के मुँह से आशा और आश्वासन के ये मधुर शब्द सुनकर भरत आश्वस्त स्वर में अपनी अंतिम याचना प्रकट करते हैंः—

अधिरोहार्य पादाभ्यां पादुके हेमभूषिते ।
ऐते हि सर्व लोकस्य योगक्षेमं विधास्यतः ॥

(आर्य अब आप अपने दोनों पैर इन स्वर्ण पादुकाओं पर रखें ताकि इनको प्रजा के योग और क्षेम का वहन करने की शक्ति प्राप्त हो ।)

भरत के इस अनुरोध को राम तत्काल स्वीकार करते हैं और अपने चरण-युगल से पादुकाओं को सुशोभित करते हें और उन पादुकाओं के माध्यम से राम का पादाभिवंदन करते हुए भरत राम को वचन देते हैं कि जब तक राम चौदह वर्ष के वनवास की दीक्षा में रहेंगे तब तक अयोध्या में राम-पादुका राज्य करेगी और भरत जटा चीर धारण कर नंदिग्राम में तापस का जीवन व्यतीत करेंगे । चौदह वर्ष पूरे होने पर राम का राजतिलक सम्पन्न होगा और तब तक राम-पादुका का ही राज्य चलता रहेगा । भरत यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि अगर चौदह वर्ष के बाद राम का अयोध्या में पदार्पण नहीं हुआ, तो वह अपने पार्थिव शरीर को अग्नि में आहुति के रूप में अर्पित कर देंगे । भरत की इस भावुकता को देखकर राम पुलक उठते हैं ।

अब बिदाई के क्षण निकट आते हैं । अयोध्या से आए हुए सभी लोग पुनः अयोध्या की ओर प्रस्थान करते हैं । केवल सीता, राम और लक्ष्मण चित्रकूट के आश्रम में रह जाते हैं । माताओं तथा गुरुजनों का पादाभिवंदन करके जब राम आश्रम के भीतर पहुँच जाते हैं तो उनके नेत्र अश्रु-विन्दुओं से आच्छादित हो जाते हैं और गला रुँध जाता है । इधर भरत राम की पादुकओं को सिर पर रखकर चित्रकूट की परिक्रमा करते हैं और उनको रथ पर आसीन कर अयोध्या की ओर प्रस्थान करते हैं । उनको यह देखकर आश्चर्य होता है कि पादुकाओं का सुनहला रंग राम के चरणों के स्पर्श से फीका मालूम पड़ता है । पहले की हेमभूषित पादुकाएँ अब हेमविकृत दिखाई देती हैं । राम के श्रीचरणों की सश्रीकता के सामने हिरण्मय कांति भी निष्प्रभ बन जाती है । इसी सश्रीकता का संबल लेकर भरत अयोध्या की तरफ चल पड़ते हैं । परन्तु जैसे राम के चरणों की शोभा के सामने पादुकाओं की सुनहली कांति फीकी लगती है, उसी प्रकार अयोध्या की सुनहली कांति को भुलानेवाले पावन स्थान की खोज में भरत का भावुक मन चल पड़ता है । नंदिग्राम का सरल सात्विक वातावरण भरत को अच्छा लगता है । इस प्रकार राम का वनवास और भरत का पुरवास लगभग एक ही समय में एक तरफ से दंडक वन में और दूसरी तरफ से नंदिग्राम में आरंभ होते हैं । पर यह आरम्भ किसका प्रारम्भ और किसका पर्यवसान है, यह कहना आद्यंत की सीमा से आबद्ध प्राणी के लिए सम्भव नहीं हो सकता ।

अनाद्यनंतं महतः परं ध्रुवं ।
निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते ॥



31. अंगराग अनसूया माँ का

चित्रकूट की सभा की सबसे बड़ी उपलब्धि केवल भरत-राम का समागम है जिससे सत्य का संरक्षण और धर्म का संस्थापन सुनिश्चित किया जाता है। वनवासी राम भली-भाँति जानते हैं कि अक्रम मार्ग से प्राप्त राज्य को ठुकराकर भरत धर्म की परिरक्षा के लिए राम के श्रीचरणों की शरण में अवश्य आएँगे और भरत भी जानते हैं कि राम अपनी सत्यनिष्ठा से तनिक भी विचलित नहीं होंगे। परन्तु अग्रज और अनुज दोनों को अपने-अपने कर्त्तव्य कर्मणा, वाचा और मनसा निभाने हैं। कर्त्तव्य की इसी करणीयता की ओर संकेत करते हुए भरद्वाज राम-समागम से वापस आए भरत से पूछते हैं: "अपि कृत्यं कृतं तात रामेण च समागतम्?" (क्या तुमने अपना करणीय कार्य पूरा कर लिया ? क्या राम से भेंट हुई है?)

धर्मवत्सल भरत जब महर्षि के इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न के उत्तर में चित्रकूट का सारा वृतान्त संक्षेप में सुनाते हैं तो महर्षि भरद्वाज आंतरिक आनन्द प्रकट करते हुए कहते हैं कि इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है क्योंकि शीलसंपन्न व्यक्तियों का व्यवहार ऐसा ही होता है। इसके लिए भरद्वाज एक विचार-वर्द्धक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। वे कहते हैं कि जैसे निम्नभूमि की ओर ही पानी प्रवाहित होता है,उसी प्रकार विनय-विभूषित व्यक्तियों के पास ही सारे गुण अपने आप आ पहुँचते हैं। प्रस्तुत प्रसंग में राम और भरत के संवाद और समागम में चित्रकूट में उपस्थित नागरिकों को और ऋषि-मुनियों को समान रूप से आकृष्ट करनेवाला महान् गुण दोनों की सहज सात्विक विनम्रता है। राजा मैं नहीं, आप हैं – यह भरत की स्थापना है। गुरुजनों के निर्णय के विरुद्ध कुछ भी नहीं कहना है – यह राम की धारणा है। दोनों में देने और केवल दे देने की भावना है, लेने की लेशमात्र भी नहीं। यह लोक-रीति के बिल्कुल विपरीत है, हालाँकि उसी में लोकधर्म की आधार-शिला है। जब लोग लेने में संकोच करते हैं और देने के लिए लालायित रहते हैं तो उस लोकतंत्र में आलोक और अभ्युदय की कोई कमी नहीं रहती है। राम की विराट् भावना भरत को सम्राट् बनाती है, पर यह सम्राट् उसी विराट् के श्रीचरणों के सुभग चिह्नों के सहारे अपना कर्त्तव्य निभाता है। स्वर्ण वर्ण को विवर्ण बनानेवाली राम-पादुकाएँ राज्य के भोग में त्याग का परिपुष्ट परिमल भर देती हैं। राम-राज्य का यह मंजुल आभास राम-पादुकाओं में प्रतिभासित पाकर पुलकित मन से भरत नंदिग्राम पहुँच जाते हैं।

इधर राम भी चित्रकूट को छोड़कर और कहीं जाने की बात सोचते हैं। कारण क्या है, वह स्वयं नहीं जानते या जानते हुए भी जानना नहीं चाहते। चित्रकूट बार-बार माताओं की ममता को जगाता है, अयोध्या की याद दिलाता है, राज्य की भावना में मन को रममाण बनाता है-सम्भवतः इन्हीं सब कारणों से (कारणैर्बहुभिः) राम चाहते हैं कि अर्ध नागरी चित्रकूट को छोड़कर विशुद्ध वनभूमि का आश्रय लें क्योंकि अयोध्या के अनेक नागरिकों के आवास से चित्रकूट

आधा नगर बन गया है और राम को वनवास की दीक्षा पूरी करनी है। इसके अलावा, चित्रकूट के आश्रमवासी भी कुछ आंतकित से दिखाई देते हैं क्योंकि जबसे सीता समेत राम चित्रकूट में पहुँच गए तब से वनवासी राक्षस आश्रमवासियों को घूर-घूर कर देखने लगे हैं। यह बात मुनियों की मुख-मुद्रा से ही राम समझ जाते हैं। कुल मिलाकर सभी बातें राम के अयन को चित्रकूट से कुछ आगे बढ़ाती हैं और सत्य-पराक्रम राम का संकल्प भी सत्य होने के कारण तत्काल सफल बन जाता है। बिल्कुल पड़ोस में चिरकाल की तपस्या से परिपक्व अत्रि महामुनि के आश्रम में अग्रज, अनुज और अवनिजा का आत्मीयता के साथ आदर सत्कार होता है। ध्यान देने की बात है कि इस स्वागत-सत्कार में माता अनसूया विशेष भूमिका अदा करती हैं और बेटी सीता इस सम्मान की एकमात्र अधिकारिणी बन जाती हैं। राम और लक्ष्मण केवल स्वागत के दो शब्द मुनि के मुँह से सुनते हैं जबकि अनसूया देवी अपनी तपोमहिमा से दिव्य हार, दिव्य वस्त्र, दिव्य आभरण और दिव्य परिमल से परिशीलित अति विशिष्ट अंगराग की सृष्टि करके उनसे जानकी को समलंकृत करती हैं।

इस अंगराग का पूर्वराग भी विशेष ध्यान देने योग्य है। सीता, राम और लक्ष्मण जैसे ही आश्रम की बात सोचते हैं, तत्काल अत्रि का आश्रम दिखाई देता है। ऐसा लगता है कि अतिथित्रयी की यह मानस-सृष्टि है। अतिथियों के संकल्प और आश्रम में उनके प्रवेश के बीच तनिक भी अंतराल नहीं दिखाई देता है। वाग्विशारद वाल्मीकि के शब्दों में यह सांयोगिक सत्वरता स्पष्ट दिखाई देती है। पहले श्लोक में कवि कहते हैं:—

तस्मादन्यत्र गच्छाम इति संचिंत्य राघवः।
प्रातिष्ठत स वैदेह्या लक्ष्मणेन च संगतः॥

(इसलिए राम ने सोचा कि हम कहीं दूसरी जगह चलें और तत्काल सीता (वैदेही) और लक्ष्मण के साथ वह चल पड़े।)

इसके तुरन्त बाद वाले श्लोक में आश्रम-प्रवेश का वर्णन आता है:—

सोऽत्रेराश्रममासाद्य तं ववंदे महायशाः।
तं चापि भगवानत्रिः पुत्रवत् प्रत्यपद्यत॥

(अत्रि के आश्रम में उन्होंने तत्काल प्रवेश किया और महर्षि का अभिवादन किया और उन्होंने भी पुत्रवत् उनका स्वागत किया।)

चित्रकूट के बाद अत्रि के आश्रम में प्रवेश करना अपने आप में विशिष्ट महत्त्व रखता है। चित्रकूट चित्तकूट है तो अत्रि का आश्रम आत्मा का आश्रय है जहाँ पर विश्व के कण-कण में रममाण राम ही अपनी साध्वी वैदेही और सर्वलक्षण संपन्न लक्ष्मण के साथ संकल्प मात्र से पहुँच सकते हैं। अत्रि शब्द में ही त्रिगुण, त्रिकाल तथा शरीर-मन और वाणी से अतीत आत्मा का अवस्थान व्यंजित होता है। यही अत्रि का आश्रम है जहाँ पर कण-कण में गुण ही गुण को देखनेवाली तपस्विनी अनसूया भविष्य में अपने पवित्र आचरण से अनसूया बननेवाली सीता का बड़ी आत्मीयता के साथ स्वागत करती हैं। दूसरों के गुण की उपेक्षा कर दोष पर ध्यान देना ही असूया है और अनसूया इसके बिल्कुल विपरीत, संसार के हर प्राणी में गुण ही गुण देखने का प्रयास करती है। यह अपने आप में एक तपस्या है जिसका परम फल है — लोककल्याण। यही कारण है कि जहाँ अनसूया रहती हैं,वहाँ पर अकाल नहीं होता, सकाल वृष्टि होती है, धरती फूली-फली रहती है। आक्रोश, आवेग, आतंक जैसी आसुरी भावनाओं के लिए अवकाश ही नहीं रहता है। वनवास की दीक्षा निष्ठा के साथ निभाने के लिए सीता और राम को यही साधन संपत्ति चाहिए और इसी को प्राप्त करनेके लिए वे अत्रि और अनसूया के पास आते हैं।

दूसरी बात यह है कि राम को अत्रि की जितनी आवश्यकता थी, उससे भी अधिक आवश्यकता थी सीता को अनसूया की। इसीलिए औपचारिक अतिथि-सत्कार के बाद अत्रि अपनी पत्नी अनसूया से सीता को मिलाने की अनुशंसा करते हुए राम से कहते हैं:—

तामिमां सर्वभूतानां नमस्कार्यां तपस्विनीम् ।
अभिगच्छतु वैदेही वृद्धामक्रोधनां सदा ॥

(राम, तुम अपनी पत्नी वैदेही से कहो कि वह मेरी पत्नी अनसूया से मिले । सारा संसार इस साध्वी को नमस्कार करता है । वह कभी किसी पर क्रोध प्रकट नहीं करती । बुढ़ापे में भी वह अपना मानसिक संतुलन बनाये रखती है । यही इसकी तपश्चर्या है ।)

पति के मुँह से पत्नी की प्रशंसा सांसारिक जीवन में कुछ विचित्र सी लगती है पर अनसूया जैसी पत्नी और अत्रि जैसे पति का मिलना भी दुर्लभ है । सीता और राम का दांपत्य भी इसी प्रकार आदर्श बने, यही सीता-अनसूया समागम का लक्ष्य है । जैसे अनसूया की तपस्या अत्रि को तापस का गौरव प्रदान करती है उसी प्रकार सती साध्वी सीता की पवित्रता राम को आने वाले दिनों में महान् मानव बनानेवाली है और इसी की भूमिका अत्रि के आश्रम में तैयार होती है । शरीर से शिथिल, पर मन की निर्मलता से उर्मिल और आत्मा के आलोक से अलंकृत अनसूया के पास जाकर धरती माता की बेटी सीता जब उनसे कुशल प्रश्न पूछती है तब अनसूया आनन्द से पुलक उठती हैं । राज्य-सुख और बंधु-बांधवों को छोड़कर पति के साथ विजन वन-सीमा में विचरण करने के लिए कृत संकल्प सीता में अनसूया अपने ही प्रतिरूप को देखती है और उनको पातिव्रत्य की महिमा सुनाती है । वृद्ध तापसी के मुँह से तपस्या की महिमा सुनकर तरुण तपस्विनी सीता अपने शुभ संकल्प को शुभतर और सुमधुर शब्दों में व्यक्त करती है तो माता अनसूया को रामपत्नी सीता में बेटी अनसूया दिखाई देती है । सीता और अनसूया के बीच इसी तादात्म्य की ओर संकेत करते हुए शब्द-संसाधक वाल्मीकि कहते हैंः—

सा त्वेवमुक्ता वेदेही त्वनसूयानसूयया ।
प्रतिपूज्य वचो मंदं प्रवक्तुमुपचक्रमे ॥

किसी के प्रति दोष-दृष्टि न रखनेवाली साध्वी स्त्री स्वभाव से अनसूया होती है । इस दृष्टि से सीता और अनसूया दोनों अनसूया कहलाने योग्य हैं । इसलिए उपर्युक्त श्लोक में वाल्मीकि कहते हैं कि अब अत्रिपत्नी अनसूया ने अनसूया वैदेही से इतनी बातें कहीं तब सीता अनसूया के उपदेश को बड़ी पूज्य भावना से ग्रहण कर उत्तर में कुछ उत्तम बातें कहने लगीं । इन बातों से अनसूया इतनी उल्लसित होती हैं कि वह अपनी तपस्या का सारा फल या उसका कुछ अंश सीता को देना चाहती हैं । पर सीता की सात्विकता का सबसे प्रबल प्रमाण इसी में मिलता है कि वह देने की भावना को देने की क्रिया के रूप में स्वीकार कर 'कृतम्' (बस कहने मात्र से सब कुछ किया समझिए) कहकर संक्षेप में अपनी कृतज्ञता प्रकट कर देती हैं । इस पर अनसूया माँ और भी अधिक आनन्दित हो जाती हैं और तत्काल अपने प्रेमोपहार से प्रेमस्वरूपणी सीता को प्रेमास्पद बना देती हैं । इस उपहार को अनसूया 'अंगराग' की संज्ञा देते हुए कहती है :—

अंगरागेण दिव्येन लिप्तांगी जनकात्मजे ।
शोभयिष्यसि भर्तारं यथा श्रीर्विष्णुमव्ययम् ॥

यह साधारण लौकिक अंगराग नहीं है, बल्कि दिव्य और लोकोत्तर अंगराग है जिसके आलेपन से लिप्तांगी जानकी अपने नाथ रघुनाथ की शोभा उसी प्रकार बढ़ाती हैं जैसे श्रीदेवी अपने प्रभु विष्णु की शोभा बढ़ाती हैं । इससे स्पष्ट होता है कि यह अंगराग केवल राम की अर्द्धांगिनी के लिए ही नहीं, बल्कि राम के लिए भी उद्दिष्ट है । वास्तव में स्त्री के सौंदर्य, सौभाग्य और सौशील्य की सार्थकता उसके पति की प्रेमपरायणता में ही निहित होती है । पति-पत्नी की इसी अनन्यता की ओर अनसूया माँ का अंगराग मार्मिक संकेत करता है ।

इस दिव्यांगराग से अलंकृत सीता बेटी जब अनसूया माँ की गोद में बैठती हैं तो माँ के मन में कुतूहल उत्पन्न होता है कि बेटी के मुँह से कुछ अच्छी बात सुनूँ । इसी शुश्रूषा की भावना (सुनने की लालसा) से प्रेरित होकर अनसूया सीता से कहती हैं— "सीते, तुम्हारे स्वयंवर की बात मैंने कई लोगों के मुँह से कई प्रकार से सुनी है । पर आज तुम्हारे मुँह से सुनना

चाहती हूँ। वह सब कैसे हुआ, क्या हुआ, तुमको कैसे लगा-यह सब मुझे विस्तार से सुनाओ।" धर्मचारिणी और तापसी अनसूया माता के इस परम कुतूहल को शांत करनेवाली मृदु मधुर भाषा में सीता अपने विवाह की बात सुनाने लगती हैं। लगभग एक हजार अक्षरों में जानकी द्वारा प्रतिवेदित यह आत्मनिवेदन प्रत्यक्षर माधुर्य के साथ अतीत को प्रत्यक्ष बना देता है। यह कहना कठिन है कि यह सीतायन है या रामायण है। वास्तव में इसको सीता की रामायण अथवा सीता-रामायण कहना अधिक उपयुक्त होगा। पर रामायण शब्द में राम और रामा दोनों का अयन सम्मिलित होने से रामायण कहने से भी ये दोनों बातें आ जाती हैं। सारी रामायण जितनी राम की है, उतनी सीता की भी है। वास्तव में यह दोनों का समन्वित अयन है। इसीलिए वाल्मीकि ने सोच समझकर अपने काव्य को रामायण कहा है।

अनसूया सीता के मुँह से यह सारी कहानी सुनकर उनको गले लगा लेती हैं। उनकी दृष्टि में यह न रामायण है और न सीतायन। इसको तो वह 'महती कथा' मानती हैं जिसका प्रत्येक अक्षर सुष्पष्ट, विचित्र और मधुर है (व्यक्ताक्षरपदं चित्रं भाषितं मधुरं त्वया)। महती कथा की इस मनोज्ञ समीक्षा के बाद धर्मज्ञ अनसूया का मन बेटी सीता की मीठी-मीठी बातों में इतना रम जाता है कि उनको पता तक नहीं चलता कि सूर्यास्त का समय हो चुका है। अचानक उनको पक्षियों का कलरव सुनाई पड़ता है जो दिन भर चारों तरफ घूम फिर कर शाम को अपने-अपने घोसलों में वापस चले आते हैं। जल से भींगे हुए वल्कल धारण कर हाथ में जल से भरे हुए कलश उठाकर आश्रम की ओर लौटने वाले मुनि भी दिखाई देते हैं। अपर संध्या में अत्रि महामुनि के आध्वर्य में अनुष्ठित अग्निहोत्र का आकाशचारी धूम भी वायु वेग से ऊपर उठता दिखाई देता है। धीरे-धीरे अन्धकार के छा जाने के कारण विरल वृक्ष भी सघन दिखाई देते हैं और दिशा का बोध समाप्त होने लगता है। आश्रम के मृग जगह-जगह पर विश्राम करने लगते हैं। रात के समय को अनुकूल पाकर रात्रिंचर विशृंखल विहार करने लगते हैं। आकाश में टिमटिमाते तारे सब कुछ देखते नज़र आते हैं।

"अब विश्राम का समय हो गया है। बेटी, तुम भी अपने राम के पास जाकर विश्राम करो।" यह कहकर अनसूया जानकी को विदा करती हैं। माता अनसूया की ममता की मधुर स्मृति लेकर उनके द्वारा दिए गए दिव्य वस्त्र, हार और अंगराग से अलंकृत होकर जानकी दाशरथी के पास जाती हैं तो राम अत्यंत प्रसन्न हो जाते हैं। ऐसा लगता है कि सुहावनी रात को पाकर दिन का मन प्रसन्न हो उठा है। जैसे रजनी, वैसी जानकी भी चन्द्रमुखी की प्रसन्न मुख मुद्रा लेकर राम को आराम पहुँचाती है। रजनी नक्षत्रों से सजी हुई है तो जानकी अनसूया के प्रेमोपहार से समलंकृत दिखाई देती हैं। उस दिन रात को सीता और राम का मिलन निशा और दिवा का सुन्दर, सुखद और सुमधुर समागम कहा जा सकता है। भाभी की दिव्य शोभा को देखकर भैया लक्ष्मण भी सुखद आश्चर्य का अनुभव करते हैं और सोचते हैं कि आज की यह शोभा मनुष्य मात्र के लिए सुदुर्लभ है। राम और लक्ष्मण दोनों सीता को सत्कार से सम्मानित देखकर परम प्रसन्न हो जाते हैं।

प्रहृष्टस्त्वभवद् रामो लक्ष्मणश्च महारथः।
मैथिल्याः सत्क्रियां दृष्ट्वा मानुषेषु सुदुर्लभाम्॥

सत्यपराक्रम राम और महारथी लक्ष्मण को भी चमत्कृत करनेवाली ऐसी कौन-सी शोभा थी जो कि आज मुनि-पत्नी से सम्मानित जानकी की मंगलमय मुख-मुद्रा में दिखाई दे रही है? इस प्रश्न का उत्तर राम के अयन के आनेवाले क्षण ही दे सकते हैं। अब सीता, राम और लक्ष्मण दंडक वन के द्वार पर आ खड़े हैं। अत्रि और अनसूया के अमोघ आशीर्वाद का संबल लेकर ये तीनों लोक मंगल की साधना में कैसे आगे बढ़ने वाले हैं, क्या करने जा रहे हैं, क्या देंगे, क्या लेंगे, क्या पाएँगे, क्या खोयेंगे, क्या लाएँगें, और कहाँ छा जाएँगे, यह केवल भविष्य ही निर्णय करेगा।

पर इस रहस्यमय कथा के रमणीय पात्र रजनी की गोद में लेटकर निश्चिंत, निर्लिप्त और निर्भय निद्रा का सुख ले रहे हैं। पर आश्रम के पवित्र वातावरण में रात भर उन पर कोटि-कोटि देवताओं की मंगल कामनाओं की मधुमय वर्षा आत्माभिषेक का आत्मीय अनुष्ठान संपन्न कर रही है।

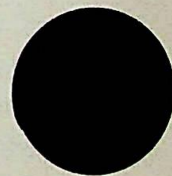
अगले दिन प्रातःकाल जब सीता, राम और लक्ष्मण दंडक वन की ओर आगे निकल पड़ते हैं तो आश्रमवासी उनको आशीर्वाद देते हैं और साथ ही वन में चारों तरफ राक्षसों के द्वारा व्याप्त आतंकमय आचरण के प्रति सतर्क भी कर देते हैं। पर उन लोगों को पूरा-पूरा विश्वास है कि धनुष-वाण लेकर शार्ङ्पाणि की तरह वन में विचरनेवाले राम के सामने कोई भी आसुरी शक्ति टिक नहीं सकती। इसी विश्वास को श्वास बनाकर मुनिगण राम के अयन को स्वस्त्ययन सिद्ध करने के लिए वेद सम्मत स्वस्तिवाचन करते हैं। इसी वेदपाठ के नाद सौंदर्य में आत्मविभोर आत्मवान् राम अनंत आनंद-भूमि में विचरण करने अपनी जीवन संगिनी जानकी और अपने बहिःप्राण लक्ष्मण के साथ चल पड़ते हैं — जैसे सूर्यदेव आकाश के मार्ग पर आगे बढ़ते हैं:—

इतीरितः प्रांजलिभिस्तपस्विभिः,
द्विजैः कृतस्वस्त्ययनः परंतपः।
वनं सभार्यः प्रविवेश राघवः,
सलक्ष्मणः सूर्य इवाभ्रमण्डलम्॥

यहाँ पर महर्षि वाल्मीकि अपने पाठकों को सतर्क करते हुए कहते हैं कि जिस आकाश में आदित्य बनकर आत्माराम विचरण करने जा रहे हैं, वह निर्मल आकाश नहीं है, बल्कि वह बादलों से आच्छन्न अभ्र मंडल है। पर जहाँ आकाश है, वहाँ बादल होंगे ही। अवरोध को पार करने में ही आराधना की चरितार्थता निहित होती है। लोकमंगल की आराधना में आगे बढ़ने वाले राम भी यही पुनीत और दृढ़ संकल्प लिए आगे बढ़ रहे हैं। जहाँ संकल्प सबल है, वहाँ मार्ग अपने आप प्रशस्त बन जाता है।







अरण्य





32. दंडक में कोदंड-चापधर

अंततः आत्मवान् राम अपने दंडक में पहुँच ही गए। हाँ, दंडक उनका अपना ही है क्योंकि इसी दंडक को आवासित करने के लिए अयोध्या को छोड़कर पैदल चले आए। अर्थ-परायण जन-संसार को छोड़कर धर्म-परायण मुनि समाज में, थोड़े समये के लिए ही सही, ऋषि तुल्य जीवन व्यतीत करने के लिए लोकाभिराम राम जितने लालायित थे, उनके पावन पद-स्पर्श से पुलकित होने के लिए दंडक भी उतना ही उत्कंठित था। एक तरफ ब्रह्म-विद्या की विलक्षण विभूति से विभूषित आश्रम-मंडल रामभद्र के आश्रय की सातुर प्रतीक्षा कर रहा था तो दूसरी ओर वन में जन-जीवन को आतंकित करनेवाला असुर समाज धनुर्धारी राम के प्रचंड तेज से अनभिज्ञ होकर विनाशक विशृंखलता से दंडक में विचरण कर रहा था। दोनों को राम की आवश्यकता थी और दोनों के पास राम आराम और विराम नाम के दो उपहार लेकर पहुँचते हैं।

सीता, राम और लक्ष्मण पहले आश्रम-मंडल के दर्शन करते हैं और आश्रम वासियों की आत्मीयता से युक्त सात्विक अतिथि-सत्कार को सहर्ष स्वीकार करते हैं। ब्रह्मवेत्ता तपस्वी महातेजस्वी राम को अपने आश्रमों में समागत पाकर मन ही मन पुलक उठते हैं और दंडधारी राम अपने कोदंड को झुकाकर मुनियों के सामने नतमस्तक होकर उनके आशीर्वाद ग्रहण करते हैं। राम चाहे अयोध्या में हों या दंडकवनचारी हों, आश्रमवासियों को इसमें कोई अंतर नहीं दिखाई देता। राम को ही वे अपना राजा मानते हैं और इसी सदाशय से वे राम के पास जाकर अपने सुख-दुःख सुनाते हैं। क्षात्र तेज से अधिक शक्तिशाली ब्रह्मतेज से विराजित तपस्वी चाहें तो अपनी रक्षा आप कर सकते हैं। पर इससे उनकी तपस्या के क्षीण होने का उन्हें भय है। इसीलिए वे राम से सविनय निवेदन करते हैं–

न्यस्तदंडा वयं राजन् जितक्रोधा जितेन्द्रियाः।
रक्षणीयास्त्वया शश्वद् गर्भभूतास्तपोधनाः॥

(राजन् अपनी इन्द्रियों पर निग्रह और क्रोध पर नियंत्रण रखनेवाले हम किसी प्राणी को दंड नहीं दे पाते। वह काम हमने दूसरों पर छोड़ रखा है – तुम जैसे शासकों पर। शासन तुम्हारा काम है और अनुशासन हमारा। इसलिए हमारी रक्षा करना तुम्हारा काम है। हम प्रजा हैं और प्रजा की रक्षा करना राजा का कर्त्तव्य है।)

इस सारगर्भित निवेदन के साथ वेदवेत्ता तापस वनवासी राम को वन्य आहार उपहार के रूप में अर्पित करते हैं। इस निवेदन और नैवेद्य को विनीत और निमीलित नेत्रों से स्वीकार कर राम वन में आगे बढ़ते चलते हैं। वन का भीषण सौन्दर्य सीता, राम और लक्ष्मण को प्रसन्नता से पुलकित और आश्चर्य से चमत्कृत कर देता है। वन में अच्छा बुरा सब कुछ दिखाई देता है –कहीं फल और कहीं शूल, कहीं ओंकार और कहीं झंकार, कहीं भोले भाले पक्षी और कहीं नरभक्षी राक्षस। सत् और असत्, शिव और अशिव तथा मंगल और अमंगल का सम्मिश्रित

समाहार ही दंडक वन की विशेषता है। इस मिश्रीकृत वन-जीवन से असत्, अशिव और अमंगल को निर्मूलित कर सत्, शिव और मंगल को प्रतिष्ठित करने के आशय से ही आत्मवान् राम अपने दंडक में पहुँचे हैं – यह बात दंडक वन के मुनिजनों को मालूम है। पर असुर-समाज को इसका आभास तक नहीं है। इसीलिए सत्यपराक्रम राम वंदनीय मुनि-वृन्द की मंगल कामना का सहारा लेकर दंडनीय दनुज-वर्ग को यथोचित दंड देने के लिए दंडक वन में आगे बढते हैं।

भयंकर जंगली जानवरों से भरे हुए दुर्गम वन में थोड़ी दूर आगे बढ़ते ही राम को एक नरभक्षी राक्षस दिखाई देता है। आँखें गहरी, मुँह बड़ा, पेट विकराल और आकार विकट होने के कारण वह देखने में यमराज की तरह भयंकर लगता है। वह एक लोहे के शूल में तीन सिंह, चार बाघ, दो भेड़िये, दस हरिण और एक बहुत बड़ा हाथी का मस्तक गाँथ कर दहाड़ता हुआ सीता, राम और लक्ष्मण की तरफ बढ़ता है। सीता को देखते ही वह मदांध और कामांध राक्षस उनको अपनी गोद में बिठा लेता है और तापस वेष में स्त्री के साथ विचरनेवाले राम और लक्ष्मण की निंदा करता है और अपने को विराध बताता है। आत्मज्ञानियों की आराधना में बाधा पहुँचाते हुए स्वयं आराधना से विमुख रहनेवाले विराध की यह अभद्रता और उद्दंडता देखकर राम और लक्ष्मण चकित हो जाते हैं। अपनी साध्वी पत्नी को अचानक राक्षस के अंक में देखकर राम चिंतित हो जाते हैं और कैकेयी की दूरदर्शिता और क्रूरदर्शिता पर गहरा असंतोष प्रकट करते हैं। पर रामानुज उत्तेजित होकर दुष्ट राक्षसों को पल भर में नष्ट करने की प्रतिज्ञा करते हैं और राम को भी इस दिशा में प्रेरित करते हैं।

फिर भी प्रकृत्या प्रशांत और प्रसन्नचित्त राम विराध से उसका परिचय पूछते हैं। विराध अपना परिचय देते हुए कहता हैः–

पुत्रः किल जवस्याहं माता मम शतह्रदा।
विराध इति मामाहुः पृथिव्यां सर्व राक्षसाः॥
तपसा चाभि संप्राप्ता ब्रह्मणो हि प्रसादजा।
शस्त्रेणावध्यता लोकेऽच्छेद्याभेद्यत्वमेव च॥

(मैं 'जव' नामक राक्षस और 'शतह्रदा' नाम की राक्षसी की संतान हूँ। मुझे विराध कहते हैं। सभी राक्षस मुझे इसी नाम से जानते हैं। मैंने अपनी तपस्या के बल पर ब्रह्माजी को प्रसन्न कर यह वरदान प्राप्त किया है कि शस्त्रों से मेरा वध न हो।)

विराध का यह परिचय आसुरी शक्ति को सांकेतिक भाषा में अभिलक्षित करता है। विराध शब्द में अराधना का विरोध व्यंजित होता है। 'जव' शब्द में तीव्रता और शतह्रदा में चंचलता प्रकट होती है। विराध की तपस्या का ध्येय आत्मरक्षा अवश्य है पर साथ ही आतंक की भावना भी उसमें समाविष्ट है। इसीलिए वह अवध्य, अभेद्य और अच्छेद्य बनना चाहता है। वास्तव में ये तीनों लक्षण आत्मा के हैं, शरीर के नहीं। पर विराध शरीर को आत्मा से अधिक महत्त्व देता है और उसके लिए शरीर ही आत्मा है। आत्मवान् राम का दृष्टिकोण इसके बिल्कुल विपरीत है। दंडक वन में रामचन्द्र के इस पहले प्रतिरोध को इसी दृष्टि से समझने का प्रयास करना चाहिए। यह आत्मा और शरीर के बीच का संघर्ष है जिसमें अंततः आत्मा और आत्मवान् की ही विजय होती है।

विराध का दुराशय और दुराग्रह देखकर राम और लक्ष्मण उस पर शर-वर्षा करते हैं और विराध भी उन पर विकराल शूल का प्रयोग करता है। पर शस्त्रविशारद राम विराध के शूल को अपने प्रखर शरों से चूर चूर कर देते हैं। विराध अपनी लाचारी और उतावली में सीता को छोड़कर राम और लक्ष्मण को अपनी दोनों भुजाओं पर बिठाकर भागने लगता है। इस विकट परिस्थिति में भी राम को घबराहट नहीं होती, बल्कि व्यंग्य और विनोद की मुद्रा में वह अपने भाई लक्ष्मण से कहते हैं – "चलो, चलने दो इस राक्षस को जहाँ वह चलना चाहता है। शायद यह हमें इस नये स्थान पर राह दिखाने आया हो। 'अयमेव हि नः पंथा येन याति निशाचरः' (जिस मार्ग पर यह चल रहा

है शायद वही हमारे लिए आगे का प्रशस्त और प्रतिष्ठित मार्ग बनेगा ।) राम का यह वाक्य वास्तव में काव्य का महत्त्व रखता है । प्राण संकट की विकट से विकट परिस्थिति में भी इतनी प्रशांत मनःस्थिति राम जैसे स्थितप्रज्ञ की ही हो सकती है ।

पर धरती-माता की लाड़ली बेटी सीता ज़मीन पर खड़ी-खड़ी देखती है कि यह दुष्ट राक्षस दोनों भाइयों को उठाकर ले जा रहा है और घबराहट में ज़ोर ज़ोर से रोने-चिल्लाने लगती है । सीता का चीत्कार सुनकर राम और लक्ष्मण निश्चय कर लेते हैं कि अब राक्षस का संहार करने में तनिक भी विलम्ब नहीं होना चाहिए । दोनों भाई राक्षस की दोनों भुजाओं पर बैठकर वहीं से उसकी दोनों बांहों को एक ही क्षण में झटके से तोड़ डालते हैं और विकराल राक्षस पर्वत की चोटी की तरह पृथ्वी पर गिर पड़ता है । पर शस्त्रों से अवध्य राक्षस बहुसंख्यक बाणों से घायल होने पर भी प्राणों को रोक रखता है, मरता नहीं । अब उसको मारने के लिए राम के आदेश पर लक्ष्मण एक बहुत बड़ा गड्ढा खोद कर उसमें दफनाने का प्रयास करते हैं जबकि राम उसका गला दबाकर खड़े हो जाते हैं ।

अब विराध को अपने अपराध का बोध हो जाता है । उसे स्मरण आता है कि वह कभी तुंबुरू नाम का गंधर्व था जो शाप-ग्रस्त होकर राक्षस बन गया । राम के द्वारा अपने को शाप-मुक्त पाकर वह राम के प्रति अपनी श्रद्धा और भक्ति समर्पित करता है और उनसे अनुरोध करता है कि उसे ज़मीन के भीतर दफनाया जाए और वे आगे चलकर शरभंग के आश्रम में मुनि के दर्शन करें और मार्ग-दर्शन प्राप्त करें । इस प्रकार विराध से विरोध राम के अयन में अवरोध न बनकर उनकी वन-यात्रा को प्रशस्त बनानेवाला प्रथम सोपान बन जाता है । इससे स्पष्ट होता है कि सरल चित्त वाले सात्विक और कर्मठ व्यक्ति के लिए जटिल कार्य भी सुकर बन जाता है और कुटिल व्यक्ति भी सुमुख ।

जहाँ पर विराध का वध होता है, वहाँ से डेढ़ योजन की दूरी पर सूर्य के समान तेजस्वी महामुनि शरभंग निवास करते हैं । विराध के आतंक से त्रस्त सीता को सांत्वना देते हुए सत्यपराक्रम राम उनको हृदय से लगाकर कहते हैं, "देखा न, वन-जीवन कितना भयंकर होता है! इसीलिए कहा था कि आराम से अयोध्या में बैठी रहो । पर तुमने मेरी बात नहीं मानी । खैर, कोई बात नहीं । चलो, हम शरभंग के पास चलें और उनके आशीर्वाद प्राप्त करें ताकि हमारे लिए यह दुर्गम मार्ग सुगम बन जाए । वाग्विशारद राम के इन वचनों में हास्य, व्यंग्य और विनोद की जो मिश्रीकृत माधुरी है उसको सीता पहचानती हैं और चुपचाप अपने पति के साथ शरभंग के आश्रम की ओर चल पड़ती हैं ।

पर शरभंग के आश्रम के पास पहुँचते ही राम को एक अद्भुत दृश्य दिखाई देता है । दिव्य तेज, दिव्य आभरण, दिव्य आकार और दिव्य परिवेश से अलंकृत देवराज इन्द्र अंतरिक्ष में खड़े-खड़े शरभंग से वार्तालाप करते दिखाई देते हैं । पृथ्वी पर स्वर्ग के स्वामी इन्द्र को देखना बहुत ही दुर्लभ है । इस दुर्लभ दृश्य को देखकर राम चकित हो जाते हैं । सीता और लक्ष्मण को आश्रम के बाहर ही रुकने को कहकर वह स्वयं भीतर जाने का प्रयास करते हैं । पर इन्द्र जैसे ही राम को आश्रम के भीतर प्रवेश करते हुए देखते हैं, तत्काल वह शरभंग से बिदा लेकर तिरोहित हो जाते हैं क्योंकि वह राम के सामने अपने को प्रकट करना नहीं चाहते । रहस्य की बात यह है कि राम मानव रहकर ही रावण का संहार कर सकते हैं, उन को अपने दिव्यत्व का बोध नहीं होना चाहिए । वास्तव में इन्द्र शरभंग की तपस्या पर प्रसन्न होकर उनको ब्रह्मलोक में ले जाने आए थे । पर ब्रह्मलोक के अलौकिक आनन्द को भी भुलानेवाले राम के दर्शन के लिए लालायित शरभंग राम का सादर स्वागत करते हैं और कहते हैं कि मैंने अपनी तपस्या के बल पर जो भी लोक अर्जित कर लिए हैं, वे सब आपको देने को तैयार हूँ । शरभंग की इस उमंग भरी उक्ति को सुनकर राम पल भर के लिए अपनी दिव्यता को पहचान लेते हैं, पर दूसरे ही क्षण वह अपने को संभाल कर एक साधारण मानव की तरह व्यवहार करते हैं । जब उनको अपनी दिव्यता का बोध होता है तब वह कहते हैं कि वह उन सभी लोकों को स्वयं प्राप्त

कर सकते हैं और दूसरों को प्रदान भी कर सकते हैं । पर जब वह अपनी मानवता की मधुर भावना को भुलाना नहीं चाहते हैं तो वह शरभंग से अनुरोध करते हैं कि मुझे इस निर्जन वन में रहने लायक कोई स्थान बता दें । शरभंग का उत्तर इससे भी अधिक आश्चर्यजनक होता है । वह अक्षय लोक देने को तो तैयार हैं, पर निवास का निर्देश करने का दायित्व वह सुतीक्ष्ण नाम के एक अन्य महामुनि को सौंपते हैं । साथ ही शरभंग की यह भी हार्दिक इच्छा है कि वह राम के परम रमणीय सान्निध्य में अपना पार्थिव शरीर छोड़कर ब्रह्मलोक में पहुँच जाएँ । तदनुसार वह राम से अनुरोध करते हैं कि क्षण भर के लिए वह वहीं रुकें और राम के सामने विधिवत् अग्निहोत्र को प्रज्वलित कर उसमें अपने को आहुति के रूप में अर्पित कर लेते हैं । शरभंग की यह तपोनिष्ठा, राम भावना और ब्रह्मलीनता देखकर आश्रमवासी मुनि और वनवासी राम, सीता और लक्ष्मण चकित हो जाते हैं । उनको पता चलता है कि दंडक वन के दानव जितने दारुण हैं, मुनि-जन उतने ही पावन हैं । दारुणता और पावनता के विचित्र संयोग की मिली-जुली अनुभूति लेकर सीता, राम और लक्ष्मण वन-यात्रा को आगे बढ़ाते हैं—सुतीक्ष्ण के आश्रम की ओर ।

मार्ग में अनेक तपस्वी मिलते हैं—वैखानस, वालखिल्य, सलिलाहारी, वायुभक्षी, शरीर को शय्या बनाकर सोनेवाले, अतरिक्ष में सोनेवाले, बिल्कुल नहीं सोनेवाले, शीत-ताप को सहते हुए निरंतर जप करने वाले आदि आदि। ये सब लोग राम को देखकर अपनी तपस्या को सफल और सार्थक समझने लगते हैं और राम के पास जाकर अपनी तपश्चर्या में होनेवाली विघ्नबाधाओं को निवेदित करते हैं। दंडकवन के जानवर इतने भयंकर नहीं हैं जितने यहाँ के आतंकवादी राक्षस जो अकारण ऋषि-मुनियों पर आक्रमण कर उनके प्राण हर लेते हैं और इस निष्ठुर आचरण को अपनी प्रतिष्ठा का प्रतीक समझते हैं। राक्षसों के इस हत्याकांड के शिकार बने ऋषि-मुनियों के मृत कलेवर देखकर करुणामय राम का हृदय पिघल जाता है। अपकारी का भी उपकार करने वाले इन साधु-महात्माओं की दयनीय दशा देखकर कोदंडधारी राम मन में संकल्प कर लेते हैं कि इस हिंसा-कांड को समाप्त करना मेरा परम कर्त्तव्य है और इसी में मेरे वनवास की सार्थकता है।

भवन हो या वन हो, राजा का धर्म प्रजा की रक्षा करना है। दंडक के तापस ठीक ही कहते हैं कि अपनी संपत्ति का छठा भाग कर के रूप में राजा को देनेवाली प्रजा के प्रति राजा का जो दायित्व होता है, उससे भी अधिक दायित्व उन वनवासी ऋषि-मुनियों के प्रति होता है जिनकी तपस्या का चौथा भाग राजा को अपने आप पहुँच जाता है और जो आत्म-रक्षा के लिए भी हिंसा का आश्रय नहीं ले सकते क्योंकि हिंसा से तपस्या तत्काल क्षीण हो जाती है। इन सब बातों को दृष्टि में रख कर आदर और आश्वासन के स्वर में आत्माराम राम आत्मज्ञानियों से कहते हैं:—

भवतामर्थसिद्ध्यर्थमागतोऽहं यदृच्छया ।
तस्य मेऽयं वने वासो भविष्यति महाफलः ॥

(आप लोगों की सेवा का अवसर पाने के लिए ही मैं दैवयोग से यहाँ पहुँचा हूँ। मेरे वनवास का कारण कुछ दूसरा था, पर कार्य उससे भी अधिक सार्थक और प्रयोजनमूलक सिद्ध हो रहा है, इस बात की मुझे बड़ी प्रसन्नता है। अब मुझे लगता है कि मेरे वनवास का वास्तविक प्रयोजन यही था।)

इस विनम्र वचन के बाद धनुर्धारी राम राक्षस-संहार एवं मुनिजन-रक्षण की प्रतिज्ञा करते हुए कहते हैं :—

तपस्विनां रणे शत्रून् हंतुमिच्छामि राक्षसान् ।
पश्यंतु वीर्यमृषयः सभ्रातुर्मे तपोधनाः ॥

(तपस्वियों की तपस्या में बाधा डालकर अभद्र आचरण करनेवाले असुर-समाज का मैं संहार करूँगा और उदार सत्त्व मुनि-समाज का उद्धार करूँगा। अब मेरे और मेरे भाई के पराक्रम का दंडक वनवासियों को पता चलेगा।)

इस घोर प्रतिज्ञा के बाद अघोर तपस्वी सूतीक्ष्ण

के आश्रम में सीता, राम और लक्ष्मण पहुँच जाते हैं। जब राम महर्षि की वंदना करके उनको अपना परिचय देने का प्रयास करते हैं तो महर्षि कहते हैं कि "मैं तो तुम्हारी ही प्रतीक्षा कर रहा था और इसीलिए अब तक प्राण-धारण कर बैठा हूँ ताकि तुम्हारे आगमन और पदार्पण से मेरा यह आश्रम पावन बन जाए।" इसके बाद शरभंग की तरह सुतीक्ष्ण भी अपनी तपस्या से अर्जित समस्त पुण्यलोकों को श्रीराम के चरणों में अर्पित करने के लिए अपनी तत्परता व्यक्त करते हैं। पर राम अपने सहज मंदहास से सविनय निवेदन करते हैं कि "सभी लोक अपने आप पा सकता हूँ, पर मेरे लिये रहने योग्य कोई स्थान दिखा दें।"

अहमेवाहरिष्यामि सर्वान् लोकान् महामुने।
आवासं त्वहमिच्छामि प्रदिष्टमिह कानने॥

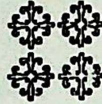
राम के ये वचन जितने सरल, सहज और सात्विक हैं, उतने ही सारगर्भित हैं। शरभंग के साथ उन्होंने जो कहा, उसी बात को उन्हीं शब्दों में सुतीक्ष्ण के सामने भी दुहराते हैं। इसीलिए ये शब्द मंत्रवत् मननीय हैं। राम के इन मधुराक्षरों का रसास्वादन करते करते सुतीक्ष्ण आत्मविभोर हो जाते हैं, पर आवास का निर्देश करने में असमर्थ हो जाते हैं। उनका अनुरोध यही है कि उनका आश्रम ही राम का आवास बन जाए। वह कहते हैं – "अयमेवाश्रमो राम गुणवान् रम्यतामिति" (यही आश्रम सब प्रकार से गुणवान् और सुविधाजनक है, इसलिए तुम यहीं आराम से रह सकते हो।) पर राम आराम से रहने के लिए दंडक नहीं आए। वंदनीय मुनियों को दंडवत् प्रणाम कर दंडनीय दनुज-संघ का संहार करने अयोध्या से चले आए राम अपना आवास वन में ही चाहते हैं, भवन या आश्रम में नहीं। यही बात वह बड़ी विनम्रता से कहते हैं और केवल एक रात सुतीक्ष्ण के आश्रम में रहकर अगले दिन प्रातःकाल अपनी यात्रा को – अयन को–आगे बढ़ाते हैं।

अब राम-पत्नी सीता के मन में एक संदेह उत्पन्न होता है। वनवास की दीक्षा ग्रहण कर तापस वेष में विचरण करनेवाले राम असुर-संहार की प्रतिज्ञा कर चुके हैं। क्या यह ठीक है? इसमें हिंसा का कोई दोष तो नहीं है? जनक-नंदिनी अपनी यह शंका बड़े संकोच के साथ दशरथ-नंदन के सामने प्रकट करती है तो सीतापति राम पत्नी की इस शंका को पहले सराहते हैं और उसके बाद उसका समुचित समाधान भी प्रस्तुत करते हैं। धर्मपरायण राम का कहना है कि दंडक वन में प्रस्तावित असुर-संहार अकारण नहीं है। निरपराध और ब्रस्मनिष्ठ तपस्वियों को अकारण दारुण हिंसा का शिकार बनाने वाले राक्षसों को समुचित दंड देना राजा का अपना कर्त्तव्य है। इसके लिए ऋषियों की ओर से किसी प्रकार के अनुरोध या अभ्यावेदन की आवश्यकता नहीं है। यह काम अयाचित रूप से अपने आप होना चाहिए था। फिर जब मुनियों ने मुँह खोलकर राम से अपनी करुण-कहानी सुनाई तो राम जैसे कर्त्तव्य परायण राजकुमार का मौन रहना संभव नहीं है। अपना सुख-दुख बताते समय ऋषि-मुनि इस बात को भी स्पष्ट करते हैं कि एक राजा के रूप में न सही, क्षत्रिय कुल में जन्मे एक वीर के रूप में निरीह प्राणियों की रक्षा करना उनका कर्त्तव्य है और तपस्वियों के संदर्भ में यह कर्त्तव्य और गुरुतर बन जाता है।

श्रीराम के श्रीमुख से ये सारी बातें सुनकर सीता का मन प्रसन्न होता है। उनको इस बात का संतोष होता है कि उनके स्वामी धर्म के मार्ग पर चलते हुए सत्य का पालन कर रहे हैं। असुरों के आतंक से अभी अभी त्रस्त होकर भी सीता के मन में इस धर्म-संदेह का उत्पन्न होना और उस संदेह का निवारण करने में राम की सुमुखता – दोनों इस बात के प्रमाण हैं कि सीता और राम की सहधर्मचारिता और धर्मपरायणता कितनी उच्चकोटि की है। सीता को अपने प्राण-संकट की उतनी चिंता नहीं है जितनी कि अपने पति को धर्मपरायण देखने की है। इसी प्रकार राम के मन में परपीडन की भावना लेश मात्र भी प्रवेश नहीं कर पाती जब तक उसका पूरा-पूरा औचित्य न हो।

सत्यधर्मपरायण राम का दंडकायन इसी मापदंड के आधार पर आगे बढ़ता है। राम का प्रत्येक वचन सत्यनिष्ठ हो और उनका प्रत्येक आचरण धर्मसम्मत

हो, इसका पूरा-पूरा ध्यान रखती हैं – उनकी सहचरी सीता। इसी प्रकार अपनी हर बात में और हर काम में अपनी अर्द्धांगिनी का पूरा पूरा सहयोग रहे और उनके संतोष के सहारे ही हर काम सम्पन्न हो, इसका राम को भी पूरा पूरा ध्यान रहता है। तभी तो यह सारा वृत्तांत सीता और राम का समन्वित अयन और सच्चे अर्थों में रामायण बनता है जिसमें राम का जितना सहयोग है उतना ही योगदान सीता का भी है।



33. पुलक उठे तरु-ताल-तपोवन

एक से बढ़कर एक रमणीय वन, उपवन और तपोवन देखते हुए आगे-आगे राम, पीछे-पीछे लक्ष्मण और बीच में सीता दंडक वन की यात्रा में धीरे-धीरे आगे बढ़ते हैं। धीरे-धीरे इसलिए कि कोई जल्दी नहीं है। पूरे चौदह वर्ष यहीं बिताने हैं। इसके अलावा रास्ते में दिखाई देनेवाले पेड़-पौधे, फूल और पत्ते सीता-राम-लक्ष्मण की मनमोहक आकृति को देखकर पुलक उठते हैं और अपनी प्राकृतिक भाषा में अप्राकृतिक आनन्द को प्रकट करने का उत्कट प्रयास करते हैं। प्रकृति और पुरुष के इस पारस्परिक संप्रेषण के सत्व-सार से अपने को संबुद्ध करने के संकल्प से ही सुतीक्ष्ण ने पुनः अपने आश्रम में आने का राम से अनुरोध किया था। राम भी इस रहस्य को जानते हैं। इसीलिए रमणीय दृश्यों में रममाण राम सीता को वन की रमणीयता का रसास्वादन कराते हुए चलते हैं।

काफी दूर चलने के बाद रास्ते में एक विशाल सरोवर दिखाई देता है जो न केवल देखने में सुन्दर है बल्कि सुनने में भी मधुर है। सरोवर के बीच खिले हुए कमल और उनके आसपास सारस, हंस आदि पक्षी उसकी शोभा बढ़ाते हैं तो उसके भीतर से निकलने वाली मीठी, सुरीली और रसीली आवाज़ दर्शकों को मंत्रमुग्ध कर देती है। पर यह संगीत सुननेवाले देख नहीं पाते कि यह आवाज़ कहाँ से आ रही है। इसी रहस्य को जानने के कौतूहल से राम अपने पार्श्ववर्ती मुनि धर्मभृत् से पूछते हैं कि इस आधारहीन और अद्भुत ध्वनि के रहस्य को ज़रा समझा दीजिए। इस पर धर्मात्मा राम को धर्मभृत् तपस्वी इस ध्वनि की रहस्यात्मकता समझाते हुए कहते हैं:–

इदं पंचाप्सरो नाम तटाकं सार्वकालिकम्।
निर्मितं तपसा राम मुनिना मांडकर्णिना॥

(श्रीराम, यह पंचाप्सर नाम का सरोवर है जो सदा पानी से भरा रहता है। मांडकर्णि नाम के मुनि ने अपनी तपस्या के बल पर इसका निर्माण किया है।)

धर्मभृत् का यह रहस्योद्घाटन भी रहस्यात्मक प्रतीत होता है क्योंकि यह सारा वृत्तांत ध्वन्यात्मक है और इसीलिए रहस्यात्मक भी है। ध्वनि अपने आप में एक रहस्य है। शब्द शून्य से निकलता है, इसलिए वह आकाश का लक्षण है। आकाश से वायु का प्रसार होता है, वायु से अग्नि का तेज प्रकट होता है, अग्नि से जल का प्रादुर्भाव होता है और जल से यह सारा धरातल समग्र बनता है। यही पाँच भौतिक सृष्टि का परम रहस्य है जो कि पंचाप्सर नाम के सरोवर में भी प्रतीकात्मक रूप में प्रकट होता है। इस ध्वनि की उत्पत्ति की जो कहानी धर्मभृत् सुनाते हैं, वह भी रोचक और विचार वर्द्धक है। महामुनि मांडकर्णि की तपस्या में विघ्न डालने के लिए देवराज इन्द्र पाँच अप्सराओं को मुनि के आश्रम में भेजते हैं। बिजली की तरह चमकनेवाली दिव्यांगनाओं के लावण्य पर मुग्ध होकर मुनि उनके लिए अपने सरोवर के भीतर एक ऐसा घर बना देते हैं जो बाहर से दिखाई नहीं देता, पर आवाज़ चारों तरफ फैलती है। यह सरोवर कभी नहीं सूखता। स्पष्ट है कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध ही ये पाँच अप्सराएँ हैं जो मांडिकर्णि का मनोरंजन करती हैं। इस

रहस्य को समझकर भावितात्मा राम केवल 'आश्चर्य' कहकर आगे बढ़ते हैं।

इस प्रकार के अनेक आश्चर्यजनक दृश्यों को देखते हुए सीता, राम और लक्ष्मण दंडक वन के प्रायः सभी प्रमुख आश्रमों में जाकर महर्षियों के दर्शन कर लेते हैं। कहीं दस महीने, कहीं साल भर, कहीं चार महीने, कहीं छह महीने, कहीं आठ महीने और कहीं ग्यारह महीने—जहाँ जितना मन लगा, वहाँ उतना समय बिताते बिताते दस वर्ष का समय व्यतीत हो जाता है। पर प्रकृति की रमणीयता और आश्रमवासियों की आत्मीयता के स्पृहणीय वातावरण में पता तक नहीं चलता कि इतना समय बीत चुका है। अब वनवास के केवल चार ही वर्ष शेष रहते हैं। दस वर्ष का समय बीतने पर भी धर्मज्ञ और कृतज्ञ राम को सुतीक्ष्ण की बात बराबर याद रहती है और उनको दिए गए वचन के अनुसार उनके पुनर्दर्शन के लिए तीनों वनवासी उनके पास जाते हैं।

इस पुनर्दर्शन से राम के वनवास का एक और प्रयोजन सिद्ध होता है और वह है अगस्त्य का अभिज्ञान। दस वर्ष तक दंडक में घूमने फिरने पर भी राम को पता नहीं चला कि विश्व विख्यात अगस्त्य महामुनि का आश्रम कहाँ है। लेकिन उन्हें यह तो मालूम है कि उनका आश्रम यहीं कहीं है। यह बात कुछ अजीब सी लगती है, पर है वास्तविक। जब दस वर्ष के बाद सुतीक्ष्ण के पास वापस आकर राम पूछते हैं कि अगस्त्य का आश्रम कहाँ है तो सुतीक्ष्ण को आश्चर्य होना चाहिए था। पर उनको प्रसन्नता होती है कि अब राम के मन में अगस्त्य के दर्शन करने की इच्छा उत्पन्न हुई है। संभवतः अगस्त्य का दर्शन करने का उपयुक्त समय यही था। इसी उपयुक्तता का स्मरण कर समयज्ञ सुतीक्ष्ण सांकेतिक भाषा में कहते हैं:—

अहमप्येतदेव त्वां वक्तुकामः सलक्ष्मणम्।
अगस्त्यमभिगच्छेति सीतया सह राघव॥

(रघुनन्दन राम, मैं भी यही सोच रहा था कि आपको सीता और लक्ष्मण के साथ अगस्त्य के आश्रम जाने को कह दूँ। संयोग और सौभाग्य की बात है कि आपने स्वयं मेरे मन की बात कही और अगस्त्य के आश्रम पहुँचने के मार्ग जानना चाहा।)

इस संवाद से इस बात का आभास मिलता है कि अगस्त्य का प्रसंग राम के अयन में एक विशिष्ट महत्त्व रखता है। दंडक में पहुँचते ही राम को सबसे पहले दर्शन देने वाले ऋषि हैं—शरभंग। उसके बाद सुतीक्ष्ण के दर्शन होते हैं और अब अगस्त्य के दर्शन का पूर्वरंग प्रस्तुत हो रहा है। इन तीनों के बीच एक व्यवस्थित सम्पर्क सूत्र है। शरभंग ही सुतीक्ष्ण के यहाँ जाने का परामर्श देते हैं और अब सुतीक्ष्ण ही अगस्त्य के आश्रम जाने की अनुशंसा कर रहे हैं। इस प्रकार राम के वनवास का कार्यक्रम पहले से इन मुनि-ऋषियों ने सोच समझकर बना रखा है। इसके अलावा इस कार्यक्रम में एक और अनुक्रम दिखाई देता है। शरभंग के आश्रम में थोड़ी देर के लिए देवराज इन्द्र के दर्शन होते हैं और राम को देखते ही वह स्वर्ग चले जाते हैं और बाद में शरभंग भी अपने पार्थिव शरीर को छोड़कर ब्रह्मलोक में पहुँच जाते हैं। पर दोनों का समागम राम को दंडक में आगे बढ़ने का आधार प्रदान करता है। असुर-भूमि में नर बनकर नारायण चलने लगते हैं और सुतीक्ष्ण के यहाँ उनको अपने अधिष्ठान का पता चलता है। इसीलिए दस वर्ष तक वनवासी राम सुतीक्ष्ण के आश्रम के आसपास ही विचरण करते हैं और फिर उन्हीं के आश्रम में पहुँचते हैं—आगे का मार्ग प्रशस्त करने के लिए। शरभंग का नाम धनुर्भंग का स्मरण कराता है और ये दोनों नाम उपनिषद् की एक उक्ति का स्फुरण कराते है जहाँ पर प्रणव को धनुष और आत्मा को शर (तीर) कहा गया है (प्रणवो धनुः शरोह्यात्मा ब्रह्मतल्लक्ष्यमुच्यते।) प्रणव रूपी धनुष से निकले आत्मारूपी तीर (शर) का लक्ष्य वही ब्रह्म पदार्थ है जिससे संसार की अब्रह्मण्यता का समापन और सुब्रह्मण्यता का संपादन संभव हो पाता है। इस परिप्रेक्ष्य में धनुर्भंग का प्रसंग रामायण का प्रणव बनता है और शरभंग का समागम आत्माराम के आत्मयोग

का मूलाधार बन जाता है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि सुतीक्ष्ण के साथ राम का जो संपर्क स्थापित होता है, वही इस योग-साधना में स्वाधिष्ठान का स्थान ग्रहण करता है। आधार और अधिष्ठान की सिद्धि के पश्चात् अब अगस्त्य के माध्यम से अभीष्ट साधन संपत्ति की आपूर्ति के रूप में मणिपूर की प्राप्ति होने वाली है।

इसीलिए इस महत्त्वपूर्ण घटना का पूर्वाभास देने के लिए सुतीक्ष्ण अगस्त्य की महिमा और अगस्त्य के आश्रम तक के मार्ग की गरिमा का मनोहर वर्णन करने के बाद एक विचित्र बात कहते हैं कि यदि अगस्त्य के दर्शन करने की इच्छा है तो अभी, आज ही, उनके दर्शन कर लें।

यदि बुद्धिःकृता द्रष्टुं अगस्त्यं तं महामुनिम्।
अद्यैव गमने बुद्धिं रोचयस्व महायश॥

ऐसा लगता है कि हर काम के लिए समय बिल्कुल निश्चित और निर्धारित है। सुतीक्ष्ण अपने आश्रम से आज ही प्रस्थान करने की बात इसलिए कहते हैं कि उनको रास्ते में अगस्त्य के भाई के आश्रम में भी एक रात बितानी है। अगस्त्य के ये भाई कौन हैं, केवल सुतीक्ष्ण जानें और सुतीक्ष्ण से यह बात कहलाने वाले वाल्मीकि जानें। सुतीक्ष्ण के आश्रम से केवल चार योजन दूर दक्षिण की दिशा में अगस्त्य के इस भाई का आश्रम है और उससे केवल एक योजन दूर पर अगस्त्य का आश्रम है। सुतीक्ष्ण बहुत ही स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि वहाँ केवल एक रात बिता कर अगले दिन सबेरे ही उठकर अगस्त्य के आश्रम की ओर प्रस्थान किया जाए। (तत्रैकां रजनीं व्युष्य प्रभाते राम गम्यताम्।) यह अगस्त्य-भ्राता कौन है, इनसे मिलने का क्या प्रयोजन है — यह सब न तो सुतीक्ष्ण कहते हैं और न राम इस संबंध में कोई जिज्ञासा प्रकट करते हैं। उनकी जिज्ञासा केवल अगस्त्य के संबंध में है, उनके सहोदर के संबंध में नहीं। हो सकता है ब्रह्मवेत्ता अगस्त्य का यह भ्राता ब्रह्मानन्द का सहोदर हो। काव्य-शास्त्र के मर्मज्ञ साहित्यिक रसास्वादन से प्राप्त होनवाले आनन्द को 'ब्रह्मानन्द-सहोदर' कहते हैं।

अगस्त्य का अपने आप में अद्भुत व्यक्तित्व है। उत्तर और दक्षिण के बीच सांस्कृतिक सेतु बंधन करनेवाले महामुनि अगस्त्य की आज्ञा से ही विन्ध्याचल अपनी अवांछित वृद्धि को रोक लेता है। इस प्रकार अग या पर्वत को स्तंभित करने के कारण उनका नाम अगस्त्य पड़ा है (अगं पर्वतं स्तंभयति इति अगस्त्यः।) महासागर का समस्त जल पल भर में आपोशन के रूप में पी डालकर संसार को जल-प्लावन से बचानेवाले कुंभ-संभव भी यही हैं। इसके अलावा अगस्त्य को महान् वैयाकरण भी माना जाता है जिन्होंने भाषा को व्याकृत रूप देने के लिए अपना सारा जीवन अर्पित किया था। यह भी स्मरणीय है कि राम-रावण के युद्ध में राम को सूर्य की उपासना का रहस्य अगस्त्य ने ही बताया था। इस विशाल परिप्रेक्ष्य में अगस्त्य के साथ राम के मिलन का महत्त्व समझना होगा। अगस्त्य के आश्रम में प्रवेश करने के पहले राम भी उस आश्रम की महिमा अपने भाई लक्ष्मण को विस्तार से समझाते हुए कहते हैंः—

अत्र देवाः संगंधर्वा सिद्धाश्च परमर्षयः।
अगस्त्यं नियताहाराः सततं पर्युपासते॥

(यहाँ पर इस आश्रम में देव, गंधर्व, सिद्ध और महर्षि जन आहार आदि के नियमों का पालन करते हुए महात्मा अगस्त्य की उपासना करते हैं।)

देवताओं के द्वारा उपास्य अगस्त्य की आराधना करने के लिए राम सहज ही उत्कंठित हो जाते हैं और लक्ष्मण को भी इस दिशा में प्रेरित और प्रोत्साहित करते हैं। नाना प्रकार के वृक्षों से, फूलों से, फलों से, जलाशयों से, जलचरों से, प्रशांत मृग-संतति से, पावन वायु-मंडल से और परम पवित्र पवमान सूक्ति-मुक्तावलियों से सुशोभित, सुरभित और सुमधुर दिखाई देने वाले आश्रम में प्रवेश करने से पहले राम अपने भाई लक्ष्मण द्वारा अपने आगमन का संदेश महामुनि के पास भेजते हैं। भाई लक्ष्मण यह संदेश

अगस्त्य के पास उनके शिष्य के माध्यम से भेजते हैं। पर जैसे ही अगस्त्य को राम के आगमन का समाचार मिलता है, वह अविलम्ब उनको अन्दर बुलाते हैं और प्रेम से पास बिठा लेते हैं और कहते हैं:—

राजा सर्वस्य लोकस्य धर्मचारी महारथः।
पूजनीयश्च मान्यश्च भवान् प्राप्तः प्रियातिथिः॥

(आप समस्त लोक के राजा हैं, व धर्म का पालन करने में सदैव तत्पर हैं, पराक्रमी हैं, परम पूज्य हैं, मान्यं हैं और इसलिए मेरे लिए प्रिय अतिथि हैं।)

अगस्त्य के उद्गार सत्यपराक्रम राम की निसर्ग महनीयता को उजागर करते हैं और साथ ही सही समय पर राम का स्वागत-सत्कार करने के लिए सर्वदर्शी महर्षि की तत्परता पर भी प्रकाश डालते हैं। स्वागत की ये बातें कहकर महर्षि अगस्त्य पहले अग्नि-देवता की और बाद में आदरणीय अतिथि की अर्चना करते हैं और तुरन्त एक दिव्य धनुष, एक उत्तम बाण, दो अक्षय तूणीर (तरकस), एक तलवार और म्यान राम को सौंप देते हैं। ऐसा लगता है कि अगस्त्य ने इस शस्त्र-दान की पहले से तैयारी कर रखी है और वास्तव में इसके लिए वह राम की प्रतीक्षा कर रहे हैं। जैसे अनसूया सीता को अंगराग, दिव्य वस्त्र और दिव्य हार प्रदान कर उनको आनेवाले संकट से बचाने का प्रयास करती हैं, ठीक उसी प्रकार सूर्य के समान तेजस्वी अगस्त्य सत्यपराक्रम राम को शस्त्र-संपत्ति से समृद्ध बनाकर विजय की मंगल कामना करते हुए कहते हैं कि यह धनुष, ये दोनों तरकस, ये बाण और यह तलवार असुरों पर विजय पाने के लिए आप ग्रहण कीजिए (जयाय प्रतिगृह्णीष्व)।

इससे स्पष्ट होता है कि अगस्त्य सब कुछ जानते थे। जो हो चुका है, जो हो रहा है और जो होनेवाला है—तीनों की उनको पूरी-पूरी जानकारी थी। वास्तव में उनके सात्विक शिवसंकल्प ने ही राम को उनके यहाँ बुला लिया है। ब्रह्मा, अग्नि, विष्णु, महेन्द्र, सूर्य, चंद्रमा, भग, कुबेर, धाता, विधाता, वायु, वरुण, गायत्री, वसु, अनंत, गरूड़, कार्तिकेय और धर्मराज के लिए बनाए गए पृथक् पृथक् स्थानों से अलंकृत आश्रम में श्रीराम का पदार्पण परम आराध्य अगस्त्य को भी आनंद से पुलकित कर देता है। सही स्थान पर सही समय पर व्यक्ति के आगमन से सही दिशा में सोचनेवाले महात्मा अगस्त्य का मन प्रसन्न हो जाता है। राम के साथ सीता और लक्ष्मण भी आए, इसलिए तीनों को आशीर्वाद देते हुए महर्षि कहते हैं:—

राम प्रीतोऽस्मि भद्रं ते परितुष्टोऽस्मि लक्ष्मण।
अभिवादयितुं यन्मां प्राप्तौ स्थः सह सीतया॥

(श्रीराम ! आपका कल्याण हो। मैं आप पर बहुत प्रसन्न हूँ। लक्ष्मण, तुमसे भी मैं बहुत संतुष्ट हूँ। आप दोनों भाई मुझे प्रणाम करने के लिए सीता के साथ यहाँ तक आए, इससे मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई।)

इन शब्दों में धर्मपरायण राम, भ्रातृपरायण लक्ष्मण और पतिपरायणा सीता के प्रति अगस्त्य का अमोघ अनुराग और वात्सल्य बोल उठता है। विशेषकर सुकुमारी राजकुमारी सीता पर महर्षि को दया आती है। स्त्री जाति के दोषों से एकदम विवर्जित, आदर्श धर्मपत्नी के समस्त गुणों से समलंकृत और वनवास के कष्ट से बिल्कुल अपरिचित जानकी को वनवास के समय किसी प्रकार का कष्ट न हो और उनकी हर इच्छा की पूर्ति हो, इस का पूरा पूरा ध्यान रखा जाए, यही महर्षि की मंगल कामना और दोनों राजकुमारों से साग्रह अनुशंसा है।

अंत में जब महर्षि कहते हैं कि सीता राम और लक्ष्मण के शुभागमन से उनका आश्रम अलंकृत हो गया है तब विनय संपन्न राम अपने को धन्य समझकर अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं और अपना पुराना प्रश्न दुहराते हुए अगस्त्य से भी अपने लिए वासयोग्य स्थान को निर्देशित करने का अनुरोध करते हैं। अगस्त्य थोड़ी देर के लिए निमीलित नेत्रों से इस प्रश्न पर सोचते हैं और इस आश्रम से दो योजन दूरी पर पर्णशाला बनाकर रहने का परामर्श देते हैं। उनको मालूम है कितना ही अनुरोध किया जाए, राम अगस्त्य के आश्रम में नहीं रहेंगे। इसलिए अनावश्यक

औपचारिकता को छोड़कर सरल, सहज और सांकेतिक भाषा में वह कहते हैं:–

स देशः श्लाघनीयश्च नातिदूरे च राघव।
गोदावर्याः समीपे च वैदेही तत्र रंस्यते॥
भवानपि सदाचारः शक्तश्च परिरक्षणे।
अपि चात्र वसन् राम तापसान् पालयिष्यसि॥

(रघुनंदन राम, वही स्थान आपके लिए प्रशस्त है और यहाँ से दूर भी नहीं है। गोदावरी भी समीप में है और बेटी सीता को वह स्थान अच्छा लगेगा। अगर कोई संकट भी हो तो आप अपने सदाचार के बल पर सब की रक्षा कर सकते हैं और मुनियों की देखभाल भी कर पाएँगे।)

महर्षि के ये वचन कितने मार्मिक हैं, यह आगे के वृत्तांत से मालूम पड़ता है। इस प्रकार महात्मा अगस्त्य के आशीर्वाद लेकर सीता, राम और लक्ष्मण पंचवटी की तरफ आगे बढ़ते हैं तो रास्ते में एक वृहद् गृध्र (गीध) दिखाई देता है। राम उसको राक्षस समझते हैं। पर वह मीठी बोली में अपना परिचय देते हुए कहता है कि राजा दशरथ के साथ उसकी पुरानी मित्रता है। यह सुनकर राम के मन में उस पक्षी के प्रति आदरभाव उत्पन्न होता है और उसके बारे में और भी कुछ बातें जानने की इच्छा प्रकट करते हैं। इस पर वह पक्षी अपना नाम जटायु बतलाकर अपने वंश का सारा वृत्तांत सुनाने लगता है। प्रजापति कर्दम से लेकर कश्यप तक की सारी सृष्टि–परंपरा का विस्तार से वर्णन करने के बाद जटायु अपने को विनता के पुत्र अरुण और ताम्रा की पुत्री श्येनी की संतान बताता है। इस प्रकार जटायु को एक विख्यात वंश की संतान, अरुण का पुत्र, संपाति का भाई और अपने पिता का मित्र जानकर राम आश्वस्त हो जाते हैं कि इस निर्जन वन में भी उनको एक परिचित हितैषी का सहारा मिला है। जटायु भी राम को अपनी यथेष्ट सहायता का वचन देते हुए कहते हैं:–

इदं, गुह्यं हि कांतारं मृग–राक्षस–सेवितम्।
सीतां च तात रक्षिष्ये त्वयि याते सलक्ष्मणे॥

(यह वन बहुत ही भयंकर है। यहाँ पर नाना प्रकार के मृग और राक्षस स्वैर विहार करते रहते हैं। जब आप दोनों बाहर जाते हैं तब मैं बेटी सीता की रक्षा करता रहूँगा।)

जटायु के ये शब्द प्रासंगिक, औपचारिक और स्वाभाविक लगते हैं। पर भविष्य के परिप्रेक्ष्य में ये कितने सार्थक सिद्ध होनेवाले हैं, यह देखकर आश्चर्य होता है। पर भविष्य–द्रष्टा राम को इसमें आश्चर्य नहीं, बल्कि आनंद का अनुभव होता है। जटायु की इस सौहार्दपूर्ण और सार्थक वाणी पर वह मन ही मन पुलक उठते हैं और अपने पितृसखा को गले लगा लेते हैं। जटायु के मुँह से 'मृग' और 'राक्षस' शब्द निकलते हुए देखकर उस समय किसी को इस बात की आशंका नहीं हुई होगी कि कुछ ही समय बाद इन्हीं दोनों का आतंक रामकथा को अपगत या उपगत बनानेवाला है। इसके अलावा सीता को अकेली छोड़कर राम और लक्ष्मण के बाहर जाने की बात भी अब जितनी सहज प्रतीत होती है आगे उतनी ही सार्थक सिद्ध होनेवाली है। इन सब बातों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि जटायु साधारण पक्षी नहीं है, वह सत्यवाक् है। इसीलिए राम उस पक्षी को हृदय से लगा लेते हैं और उसका बहुत सम्मान करते हैं। गुणग्राही और गुणी राम की दृष्टि में पिता और पक्षी दोनों समान दिखाई देते हैं और पक्षी के सान्निध्य में वह पिता के अभाव की पूर्ति का अनुभव करते हैं।

इसी समदर्शिता का संबल लेकर दशरथ–नन्दन राम पंचवटी में प्रवेश करते हैं। अगस्त्य के आदेश के अनुसार प्रदिष्ट प्रान्तर में वास योग्य स्थान चुनकर वहाँ पर पर्णशाला बनाने के लिए राम अपने भाई लक्ष्मण को कहते हैं तो लक्ष्मण अपने अग्रज राम से कहते हैं कि जब तक आप मेरे साथ हैं, हर बात का निर्णय आपके अधीन हैं, मैं केवल आज्ञाकारी सेवक हूँ। सुमित्रानन्दन की यह विनीत वाणी सुनकर राम को परम प्रसन्नता होती है। पंचवटी में पर्णशाला बनाने के लिए उपयुक्त स्थान का चयन राम स्वयं करते हैं और लक्ष्मण से कहते हैं:–

अयं देशः समः श्रीमान् पुष्पितैस्तरुभिर्वृतः।
इहाश्रमपदं रम्यं यथावत् कर्तुमर्हसि॥

(यह स्थान समतल है, सुश्रीकता से युक्त है, पेड़-पौधों से और फल-फूलों से भरपूर है। यह हमारे आश्रम के लिए सर्वथा उपयुक्त है। यहीं पर वास्तुशास्त्र में निर्धारित विधि से हमारे लिए छोटा आवास बना दो।)

पिछले दस वर्षों से राम और लक्ष्मण अनेक आश्रम देख चुके हैं। अब उनका अपना आश्रम बन रहा है। राम एक ऐसा स्थान चुन लेते हैं जहाँ से गोदावरी नदी पास ही दिखाई देती है और कुटी के निकट ही फूलों से भरा हुआ सुन्दर सरोवर भी मन की प्यास बुझानेवाली मनोहारिता से लहराता हुआ दिखाई देता है। चारों तरफ मोर, हंस, चक्रवाक आदि के अलावा, सोने, चांदी तथा तांबे के रंगों से अनुरंजित गैरिक धातुओं की रंगीन छटा से सुशोभित पर्वत भी अंतरंग को आलोकित और आह्लादित करते रहते हैं। स्थान की रमणीयता के अनुरूप लक्ष्मण जब सुन्दर पर्णशाला का निर्माण करते हैं तो उसकी भव्यता पर मुग्ध होकर राम लक्ष्मण को छाती से लगा लेते हैं और कहते हैं कि तुम जैसे भावज्ञ, कृतज्ञ और धर्मज्ञ पुत्र को जन्म देकर हमारे पिता आज भी जीवित हैं, उनको जरा-मरण छू नहीं सकते।

आज पता नहीं क्यों, राम को अपने पिता का बार-बार स्मरण आ रहा है। पहले जटायु को देखकर उसी कारुण्यमय जीव में अपने सत्यसंध और धर्मपरायण पिता का सादृश्य देखा और अब लक्ष्मण की विनम्रता, विधेयता और विदग्धता को देखकर अपने पिता को अमरत्व का अधिकारी मान रहे हैं। पंचवटी की पर्णशाला सीता, राम और लक्ष्मण को एक तरफ जटायु और दूसरी तरफ गोदा नदी का सुखद साहचर्य प्रदान करती है तो अब मूर्तित्रयी श्री पंचमी का रूप धारण करती है। प्राकृतिक ऋतु क्रम में भी शरद के बाद पंचम ऋतु हेमंत का आगमन होता है। सर्दी बढ़ जती है, रातें लम्बी होती हैं, सूर्य का तेज चन्द्रमा की ज्योत्स्ना की तरह दिन में सुहावना लगता है, पर चाँदनी रातें तुहिन बिंदुओं से मलिन होने के कारण ठीक उसी तरह शोभा नहीं दे पाती हैं जैसे धूप में तपी सीता की मुखश्री। हेमंत की तपनीयता को देखकर राम को भरत की तपस्या की याद आती है। चित्रकूट में भरत के मुँह से निकली वे मीठी-मीठी बातें, हृदय को स्पंदित करने वाले वे भावुक उद्‌गार, सच्चाई, गहाराई और भलाई से जुड़ी हुई वाणी की वह त्रिवेणी बार-बार राम के मनःपटल पर अंकित होती है।

पर सबके सुख-दुःख प्रसन्न पुष्णसलिला भगवती गोदा माता की गोद में शांत और शीतल बन जाते हैं। प्रभात के समय गोदावरी के अभिषेक का अनुष्ठान सम्पन्न कर नदी के तट पर पर्णकुटी के प्रशांत वातावरण में प्रसन्न मुद्रा में बैठे राम सीता और लक्ष्मण के साथ उसी प्रकार शोभा पाते हैं जैसे उमा और नन्दी के साथ गंगा में अभिषिक्त शंकर सुशोभित होते है।

कृताभिषेकः स रराज रामः
सीता-द्वितीयः सह लक्ष्मणेन।
कृताभिषेकस्त्वगराजपुत्र्या
रूद्रः सनंदिभर्गवानिवेशः॥



34. पंचवटी ने बीज बो दिया

पार्वती, परमेश्वर और नन्दिकेश्वर की भाँति सीता, राम और लक्ष्मण पंचवटी की पर्णशाला के प्रागंण में बैठकर प्रभात के प्रशांत वातारवण में अंतरंग को तरंगित करनेवाली आमोद-प्रमोद की बातों से अपने मन बहलाते रहते हैं । पास में कल-कल निनाद से मन को पुलकित करनेवाली गद्‌गद नदी गोदावरी मूर्तित्रयी का आनन्द-वर्द्धन करती रहती है । आस-पास के ऋषि-मुनि भी इस नयनाभिराम दृश्य को देखने और राम की प्रेमभरी बातें सुनने एकत्रित होते हैं । इस प्रकार पंचवटी में राम के प्रवास के दिन आराम से चलते रहते हैं । पर अचानक एक दिन प्रभात के समय एक रुकावट आ जाती है ।

दंडक-वन में निर्भीक और विशृंखल विचरण करनेवाली एक राक्षसी अकस्मात् आश्रम में आ टपकती है । दंडक में क्या, देवलोक में भी दुर्लभ लोकोत्तर सौन्दर्य से विराजमान राम की रूप माधुरी देखकर शूर्पणखा नाम की वह राक्षसी पहले चकित हो जाती है, फिर मुग्ध बन जाती है और अंत में काम-वासना से उन्मत्त बन जाती है । राम का उज्ज्वल मुख-मण्डल, हृष्ट-पुष्ट भुजाएँ, विशाल नेत्र, गम्भीर मुद्रा, तापस वेष एक से बढ़ कर एक शूर्पणखा को शूर्पनयन बना देते हैं । काफी देर तक उस बिचारी की समझ में नहीं आता कि यह तापस वेष और साथ में यह परम सुन्दरी नारी दोनों साथ-साथ कैसे चल सकते हैं । चेहरे पर राज-भोग के लक्षण और सिर पर जटा - यह कैसा विरोधाभास है ! आशा, आश्चर्य, अनुराग, आशंका, आवेग, आंदोलन, अधैर्य आदि अनेक भाव-तरंगों में बहकर वह सस्पृह नेत्रों से राम की तरफ देखती है और देखती ही रह जाती है । राम भी उसकी तरफ देखते हैं । दोनों एक दूसरे को ध्यान से देखते हैं, पर इससे भी अधिक ध्यान से वाल्मीकि दोनों को देखते हैं । कितने निकट फिर भी कितनी दूर ! समानान्तर का यह बढ़ता हुआ अन्तर आदिकवि की आर्षवाणी में साकार बन कर सामने आता हैः—

> सुमुखं दुर्मुखी रामं वृत्तमध्यं महोदरी ।
> विशालाक्षं विरूपाक्षी सुकेशं ताम्रमूर्धजा ॥
> प्रियरूपं विरूपा सा सुस्वरं भैरवस्वना ।
> तरुणं दारुणा वृद्धा दक्षिणं वामभाषिणी ॥
> न्यायवृत्तं सुदुर्वृत्ता प्रियमप्रियदर्शिनी ।
> शरीरज-समाविष्टा राक्षसी राममब्रवीत् ॥

राम सुमुख हैं, देखने में सुन्दर और शूर्पणखा दुर्मुखी है, बद-सूरत और देखने में जुगुप्साजनक । एक पतली कमर वाले हैं और दूसरी लम्बोदरी । एक के नयन विशाल हैं और दूसरी के विकराल । एक के बाल मुलायम हैं और दूसरी के तांबे के रंग के । एक को देखकर प्रेम उपजता है और दूसरी को देखने से वितृष्णा पैदा होती है । एक की आवाज़ सुरीली और रसीली है और दूसरी की आवाज़ डरावनी । एक तरुण हैं और दूसरी बूढ़ी और बेढंगी । एक आकर्षक हैं और दूसरी आक्रामक । एक प्रियभाषी हैं ओर दूसरी कटुभाषिणी । एक का आचरण न्याय-सम्मत है और दूसरी का दुष्ट । एक प्रियदर्शी हैं और दूसरी भयदर्शिनी । एक काम-रहित प्रेम की प्रतिमूर्ति हैं और दूसरी प्रेम-रहित काम की कठपुतली है । फिर भी दोनों

एक दूसरे से मिलते हैं, एक दूसरे को देखते हैं और एक दूसरे को जानने और पहचानने का प्रयास करते हैं । यही विधि की बिडम्बना है । नियति-नटी का निष्ठुर नृत्य परस्पर विरोधी तत्त्वों को संग संग लाकर जीवन-मंच में रंग भरने का प्रयास करता है । अन्यथा पंचवटी के प्रशांत वातावरण में शूर्पणखा अचानक कैसे आ गई? कवि कहते हैं कि वह "यदृच्छया" (संयोग से) वहाँ पर पहुँच गई । जीवन में अनेक घटनाएँ इसी प्रकार संयोग से घटती हैं, पर उनका भावी जीवन पर बहुत ही व्यापक और कभी-कभी घातक प्रभाव पड़ता है । पंचवटी में शूर्पणखा का प्रवेश राम के अयन में इसी प्रकार की एक विलक्षण घटना है ।

जब कभी राम को किसी से बात करनी होती है तो बात उन्हीं से शुरू होती है और वह भी हल्की-सी मुस्कुराहट के साथ । पर अब शुरूआत शूर्पणखा करती है क्योंकि वह कामातुर है और एक प्रकार से रामातुर भी । वह सीधे राम से बात करने लगती है, सीता और लक्ष्मण पर ध्यान तक नहीं देती । राम से वह सीधा सवाल पूछती है—"तुम कौन हो? कहाँ से आए? राक्षसों की विहार-भूमि में तुम कैसे आए? सिर पर जटा, हाथ में धनुष-बाण और साथ में यह औरत-यह सब क्या है? मुझे सच सच बताओ ।" असुरांगना के इस आक्रामक प्रश्नगुच्छ का उत्तर सरलमति राम सहज भाव से देते हुए कहते हैं— "राजा दशरथ का नाम तुमने सुना होगा जिनका पराक्रम देवताओं को भी चकित किया करता था । मैं उन्हीं का ज्येष्ठ पुत्र हूँ । मेरा नाम राम है । यह मेरा छोटा भाई लक्ष्मण है और यह मेरी पत्नी सीता है । माता-पिता के आदेश पर हम यहाँ पर आए हैं - धर्म का पालन करने और कराने । पर तुम कौन हो ? किसकी बेटी हो? तुम्हारे स्वामी कौन हैं? देखने में तुम बहुत सुन्दर लगती हो, लगता है तुम राक्षस कुल में जन्मी हो । इधर क्यों आई हो?"

मर्यादा पुरुषोत्तम राम की इस प्रतिवार्ता में पहले तो शालीनता, शिष्टता और मितभाषिता का ही बोध होता है, पर अंत में उनके मन में कुछ मज़ाक करने की इच्छा पैदा हुई-सी प्रतीत होती है क्योंकि नवागत नारी से प्रायः इस प्रकार का परिहास नहीं किया जाता । अपना परिचय देने और अभ्यागत का परिचय पूछने में मर्यादा पुरुषोत्तम की ही प्रकृति मुखरित होती है । पर बाद में यह कहना कि 'तुम सुन्दर लगती हो, राक्षसी जरूर हो' राम की सहज प्रवृत्ति के अनुरूप नहीं है । फिर भी परिहास-प्रियता राम का एक विशिष्ट लक्षण है । पर शूर्पणखा इसको परिहास के रूप में स्वीकार न कर परमार्थ के रूप में ग्रहण करती है । वह समझती है कि राम सचमुच उसके सौन्दर्य पर मुग्ध होकर यह बात कह रहे हैं कि राक्षस-कुल में पैदा होकर भी तुम इतनी सुन्दर हो । राम की यह जिज्ञासा कि तुम किसकी हो, कौन हो और अगर किसी की हो तो किसकी हो (कस्य त्वं कासि कस्य वा) कामातुर शूर्पणखा के मन में आशा भरी वासना को जगाती है ।

इस उत्तेजक प्रश्न का उत्तर भी बड़े उल्लास के साथ दिया जाता है । बलवती लालसा और उत्कट काम-वासना से प्रेरित शूर्पणखा निर्लज्जता से अपना परिचय देते हुए कहती है कि "मेरा नाम शूर्पणखा है, मैं अपनी इच्छा के अनुसार जो रूप चाहूँ धारण कर सकती हूँ, मेरे भाई हैं-रावण, कुंभकर्ण, विभीषण, खर, दूषण आदि शूरवीर, पर मैं पराक्रम में उन सबसे आगे हूँ और तुमको अपना पति बनाने के आशय से मैं तुम्हारे पास आई हूँ, सीता तुम्हारी योग्य पत्नी नहीं है, मुझे हमेशा के लिए अपनी इकलौती पत्नी बनाकर सुख पा लो,इस विशाल वन में मेरे साथ घूमो, इस बेढंगी दुबली-पतली और नालायक औरत को तुम्हारे भाई के साथ अभी मैं खा डालती हूँ ।" इतनी सारी बातें वह एक सांस में कह देती है तो राम मुस्कुराते हैं । बिचारी नारी को काम-वासना में उन्मत्त और उदभ्रांत पाकर अपनी सहज कोमल, पर हास-व्यंग्य की शैली में परिहास प्रिय राम कहते हैं-"देवी, मेरा विवाह तो हो चुका है, मेरी पत्नी मेरे पास रहकर हमेशा मेरा साथ देती है । मैं नहीं चाहता कि तुम जैसी भद्र महिला उनकी सौत बन कर रहे । मगर मेरा छोटा भाई लक्ष्मण अकेला है, देखने में सुन्दर भी है । अगर तुम चाहो तो उससे बात करके देखो । तुम दोनों की जोड़ी ठीक बैठेगी । इन बातों में परिहास की मात्रा अनजान में ही

कुछ आगे बढ़ जाती है । फिर भी शूर्पणखा को इसका आभास तक नहीं होता । वह भोली-भाली, पर काम की मतवाली राम की बातों के भरोसे तत्काल लक्ष्मण के पास जाती है । पर लक्ष्मण भी अपने बड़े भाई से कम हास्य-प्रिय नहीं हैं । न जाने क्यों, उस दिन सब लोग हास्य और व्यंग्य की मधुमती भूमिका में विचरण कर रहे थे - स्वैरविहारिणी शूर्पणखा को छोड़कर । उसको तो शायद होली की पिचकारी की तरह इस हँसी-मज़ाक की शिकार बननी थी । इसीलिए उसकी बुद्धि उसे उसी प्रकार नचा रही थी ।

शूर्पणखा का प्रेम-प्रस्ताव पाकर छोटे भाई लक्ष्मण बड़े विलक्षण स्वर में कहते हैं—"देवी, मैं स्वयं अपने भाई का सेवक हूँ और तुम मेरी पत्नी बनकर दास की दासी का जीवन बिताओगी जो कि न तो तुम्हारे लिए शोभा देता है और न मेरे लिए सम्मान की बात होगी । इसलिए बड़े भाई राम ही तुम्हारे लिए योग्य हैं और तुम भी उनके साथ ठीक बैठती हो । छोटी पत्नी हुई तो क्या हुआ? अक्सर छोटी पत्नी को ही अधिक प्रेम और सम्मान मिलता है ।" चतुरभाषी लक्ष्मण का यह परिहास भी शूर्पणखा की समझ में नहीं आता । उसे लगता है कि राम को छोड़कर लक्ष्मण के पास आने में उसने सचमुच बड़ी गलती की । इसी पश्चात्ताप की भावना से वह फिर राम के पास जाने को तैयार हो जाती है तो लक्ष्मण सीता और शूर्पणखा के सौन्दर्य की तुलना करते हुए शूर्पणखा के सामने सीता को असुन्दर, अयोग्य और राम के लिए अनुपयुक्त बताते हैं । इससे शूर्पणखा आशान्वित हो जाती है क्योंकि वह लक्ष्मण के व्यंग्य को समझ नहीं पाती ।

अबकी बार शूर्पणखा सीधे सीताजी के पास जाकर उनको खा डालने की चेष्टा करती है ताकि उसका रास्ता साफ हो जाए । उसकी अवधारणा है कि जब तक बीच का अवरोध समाप्त नहीं किया जाए तब तक न राम उसकी बात मानेंगे न लक्ष्मण । पर राम तत्काल समझ लेते हैं कि अब हम परिहास की सीमा पार कर चुके हैं । प्राणप्रिया सीता के प्राण जब खतरे में पड़ जाते हैं तो उस असभ्य नारी को सबक सिखाने का इशारा देकर वह लक्ष्मण को सतर्क कर देते हैं । अग्रज का संकेत पाकर अनुज अपनी छुरी से शूर्पणखा के कान और नाक काट देते हैं । इस प्रकार शूर्पणखा घोर अपमान और असह्य वेदना से पीड़ित होकर रोते-बिलखते और चीखते-चिल्लाते फिर उसी स्थान पर चली जाती है जहाँ से वह आई है ।

रक्त से लथपथ शूर्पणखा की भय-विह्वल और मोह-सम्मूढ़ मुखाकृति देखकर उसका भाई खर पहले घबरा उठता है और बाद में क्रोध से तिलमिला उठता है । वह अपनी बहन को अभय प्रदान कर यह जानना चाहता है कि आखिर हुआ क्या? वह आश्वासन देता है कि जो भी इस उत्पात का कारण है, उसको तत्काल प्राणों से मुक्त किया जाएगा । पर शूर्पणखा किस मुँह से बता सकती है कि जो कुछ हुआ है, वह उसी की गलती से हुआ है । इसलिए वह कहानी गढ़कर अपने को निर्दोष और निर्दोष को दोषी सिद्ध करने का प्रयास करती है । प्राण-संकट और धर्म-संकट की इस विकट मनःस्थिति में भी शूर्पणखा के मुँह से सबसे पहले राम और लक्ष्मण के लोकोत्तर सौन्दर्य का वर्णन करने वाली मधुर पदावली ही प्रकट होती हैः—

तरुणौ रूपसंपन्नौ सुकुमारौ महाबलौ ।
पुंडरीक-विशालाक्षौ चीरकृष्णाजिनांबरौ ॥
फल-मूलाशनौ दांतौ तापसौ ब्रह्मचारिणौ ।
पुत्रौ दशरथस्यास्तां भ्रातरौ राम-लक्ष्मणौ ॥

(युवावस्था के दो सुन्दर, सुकुमार और पराक्रमी पुरुष - राम और लक्ष्मण उनके नाम हैं । राजा दशरथ के बेटे हैं । कमल की तरह खिले हुए विशाल नयन, मृगचर्म और वल्कल वस्त्र पहनकर कंदमूल फल खाते हुए ब्रह्मचर्य का कठोर व्रत पालन करते हुए दंडक वन में घूम रहे हैं ।)

शूर्पणखा के द्वारा प्रस्तुत इस संक्षिप्त वर्णन में राम और लक्ष्मण की प्रशंसा ही प्रशंसा मिलती है । कहीं कोई अपशब्द तक इस राक्षसी के मुँह से नहीं निकलता । इससे पता चलता है कि दोनों राजकुमारों के दिव्य सौन्दर्य और भव्य आचरण से वह कितनी

प्रभावित थी । पर कठिनाई केवल सीता के माध्यम के कारण होती है । फिर भी शूर्पणखा सीता की भी मुक्त कंठ से प्रशंसा करती है । "तरुणी, रूप संपन्ना, सर्वाभरण भूषिता" कहकर वह सीता के सर्वांग सौंदर्य का गुणगान करती है । पर अंत में कहती है कि इसी सुमध्यमा नारी के कारण दोनों राजकुमारों ने मेरी यह दशा कर दी है । प्रसंग बड़ा जटिल-सा प्रतीत होता है । सीता, राम और लक्ष्मणं – तीनों में से वह किसी को दोषी नहीं ठहराती, पर सीता के कारण राम और लक्ष्मण ने उसका जो अपमान किया है, उसका वह तत्काल प्रतिशोध लेना चाहती है और वह भी अत्यन्त दारुण प्रतिशोध । वह रण-भूमि में तीनों का रक्तपान करना चाहती है । इसके पीछे एक विचित्र मनौवैज्ञानिक रहस्य है । अभी कुछ समय पहले वह जिनके सौन्दर्य को आत्मसात् करना चाहती थी, उसके प्राप्त न होने पर वह उसी तत्त्व को समाप्त करना चाहती है । उसकी दृष्टि में राम और लक्ष्मण मन के भोले भाले और दिल के भले हैं । पर जो कुछ हुआ, वह सीता के कारण हुआ, यही उसकी अवधारणा है । यह धारणा सही भी है और गलत भी है । यह बात वह स्वयं जानती है । यही दुविधा पंचवटी के प्रसंग में आरम्भ से लेकर अंत तक दिखाई देती है ।

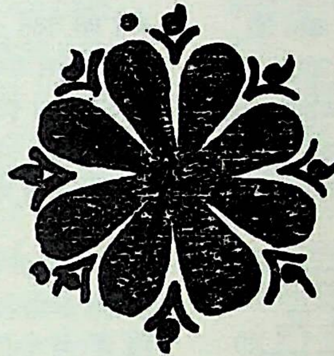
शूर्पणखा राम को सचमुच चाहती है और दिल से चाहती है । जब राम की स्वीकृति नहीं मिली तो लक्ष्मण से भी वह संतुष्ट होने को तैयार हो जाती है । पर दोनों के प्रति उसके मन में सच्चा और समान अनुराग है । भीतर ही भीतर वह इस बात को भी स्वीकार करती है कि वह राम या लक्ष्मण के योग्य नहीं है । फिर भी वह अपनी आशा नहीं छोड़ती । राक्षस-कुल में पैदा होने के कारण यह सब उसके लिए स्वाभाविक है । अंत में जब उसकी प्रेम-याचना दोनों के द्वारा ठुकरायी जाती है, वह निराश तो हो जाती है, पर उससे भी अधिक अपमानित अनुभव करती है । एक दूसरी स्त्री के सामने उसका इतना घोर अपमान उसके लिए असहनीय बन जाता है । फिर भी वह अपनी आशा एकदम नहीं छोड़ती । इसलिए वह अपने भाई से कहती है कि मैं पहले उस औरत का और बाद में उन दोनों भाइयों का रक्त पीना चाहती हूँ । (तस्यास्तयोश्च रुधिरं पिबेयमहमाइवे) । 'जब तक सांस तब तक आस' वाली बात उसकी इस दुविधा पर लागू होती है ।

इधर राम और लक्ष्मण के मन में भी एक प्रकार की दुविधा काम करती है । स्वैरविहारिणी राक्षसी जब उनसे प्रेम की याचना करती है तो वे साफ-साफ इन्कार कर सकते थे और स्पष्ट बता सकते थे कि यह बात अनुचित है । पर उनके मन में कुछ मज़ाक करने की बात सूझती है । यह बात कुछ अजीब अवश्य है, पर है कठोर वास्तविकता । यहाँ तक कि राम अपने भाई लक्ष्मण को अकेला कहकर शूर्पणखा को उनके पास जाने की सलाह देते हैं तो एक प्रकार से उनके मुँह से आधा असत्य निकलता है । लक्ष्मण विवाहित हैं । इसलिए वह एकदम अकेला नहीं हैं । कम-से-कम उस प्रयोजन के लिए अकेला नहीं हैं जिसके लिए शूर्पणखा उनके पास जा रही है । यह सब राम की परिहास-प्रियता के कारण होता है ।

परिहास हमेशा परमार्थ का विरोधी होता है । इसीलिए परिहास को एक सीमा के भीतर नियंत्रित रखना अत्यन्त आवश्यक होता है । राम इस बात को जानते हैं । पर जब सीमोल्लंघन की आशंका उनके मन में उठती है तब तक सीमा का उल्लंघन हो चुका होता है । शूर्पणखा का अपमान रामायण की भावी घटनाओं का बीजारोपण कर देता है और वह बीज भी राम और लक्ष्मण के हाथ से बाहर निकल पड़ता है । अब जो होना है सो होकर रहेगा । उसको कोई रोक नहीं सकता ।

इस अवश्यंभाविता का बीज पंचवटी के प्रांगण में प्रभात समय में ही क्रांतिदर्शी कवि को दिखाई देता है । इसीलिए सीता समेत राम का वर्णन करते हुए आदिकवि कहते हैं कि चित्रा नक्षत्र से युक्त चन्द्रमा की भांति सीता के पास बैठे रामचन्द्र दिखाई दे रहे हैं (चित्रया चंद्रमा इव) । चित्रा नक्षत्र में एक विचित्रता

है । इस नक्षत्र का आधा भाग कन्या राशि में होता है और आधा तुला राशि में । इसी प्रकार नयनाभिराम राम की रमणीयता पर एक तरफ सीता की और दसूरी ओर से शूर्पणखा की दृष्टि पड़ रही है । राम को सीता से अलग कर राम पर एकाधिकार प्राप्त करने के लिए अब शूर्पणखा प्रयत्नशील है । पर जैसे-जैसे कहानी आगे बढ़ती है, हम जानते हैं कि आगे चलकर शूर्पणखा का भाई रावण शूर्पणखा से ही प्रेरणा पाकर सीता को राम से अलग कर उनका अबाध प्रेम पाने का प्रयास करता है । इस प्रकार शूर्पणखा और रावण का यह प्रयास राम और सीता को अलग करने की दिशा में चलता है और द्विधाकरण या द्वेष भावना का बीज पंचवटी के इसी प्रसंग में बोया जाता है । अक्षर-भारती के अमर गायक वाल्मीकि अपनी इस छोटी-सी उपमा के माध्यम से न केवल इस विष-बीज की ओर संकेत करते हैं, बल्कि इस विष-वृक्ष से निकलने वाले अमृत-फल का भी हल्का - सा आभास देते हैं क्योंकि चित्रा नक्षत्र पार्थिव तत्त्व को मिटाकर पाँच भौतिक प्राणी को परमार्थ की ओर ले जाता है, विनाश के माध्यम से विकास को उपलब्ध कराता है । इन्हीं परस्पर विरोधी तत्त्वों का रहस्यमय संगम पंचवटी के इस मार्मिक प्रसंग में देखा जा सकता है ।



35. जन-स्थान निर्जन क्षण भर में

सात्विक स्वभाव के सज्जनों का परिहास भी सार्थक और कार्य-साधक होता है । स्वभाव से मृदुभाषी और संस्कार से संयमी राम और लक्ष्मण के मन में अजनबी असुरांगना के साथ मजाक करने की जो विचित्र भावना अचानक और अनायास जाग्रत हुई, इसके पीछे यही रहस्य हे । इससे न केवल भवितव्य की एक बलिष्ठ भूमिका बन गई, बल्कि डंडक-वन को असुरों के आतंक से मुक्त करने के लिए धर्मपरायण राम को एक धार्मिक आधार भी मिल गया । जब राम-पत्नी सीता के मन में यह धर्म-सन्देह उत्पन्न होता है कि राक्षस चाहे कितने भी क्रूर क्यों न हों, पर अकारण उन पर आक्रमण करना और उनका संहार करना कहाँ तक न्यायसम्मत है तब धर्म का मर्म पहचाननेवाले राम कह तो देते हैं कि दंडक-वन के ऋषि-मुनियों की रक्षा करना उनका धर्म है, पर मन ही मन वह सोचते रहते हैं कि इसके लिए कुछ न कुछ आधार मिल जाए तो अच्छा रहेगा । शूर्पणखा की हास्यास्पद प्रणय-याचना में उनको इसी का आधार मिलता है । कुशल-मति कौसल्या-नन्दन और सूक्ष्म-मति सुमित्रानन्दन प्रसंग की प्रशस्तता को एकदम पहचान लेते हैं और अपने आप प्राप्त इस अवसर का पूरा-पूरा उपयोग कर लेते हैं ।

ध्यान देने की बात है कि राम ही पहले अपना परिचय देते हुए शूर्पणखा से कहते हैं कि धर्म की कामना से धर्म का पालन करने के लिए मैं यहाँ आया हूँ । इसके बाद शूर्पणखा जब अपने बंधु-वर्ग का परिचय देती है तो राम और लक्ष्मण मन ही मन संतुष्ट होते हैं कि अब तक जिस सम्पर्क-सूत्र की प्रतीक्षा थी, वह अपने आप जुट गया है और वह भी जन-स्थान से सीधे लंका तक । इतना सुनहला अवसर कर्मठ भाई कैसे खो बैठते । इसीलिए हल्की-फुल्की बातचीत से दोनों ने इस कर्मकांड का श्रीगणेश किया । बिचारी शूर्पणखा को इतनी गहराई से बात समझने की अक्ल कहाँ है? वह तो सीधी सादी और रूखी सूखी औरत है जिसको पुरुष मात्र का प्रलोभन परुष बना सकता है ।

शूर्पणखा का भाई खर महाराज भी अपनी बहिन से कम अक्लमंद नहीं है । जैसे ही शूर्पणखा कहती है कि मैं उन दोनों राजकुमारों और राजकुमारी का रक्तपान करना चाहती हूँ तो तत्काल खर अपने चौदह साथियों को राम के पास रवाना कर देता है और कहता है कि उन दोनों दुष्टों को और उस कुलटा को मारकर उनका खून हमारी बहिन को पिलाना । वह सारी बात समझने की कोशिश भी नहीं करता औः न यह अनुमान लगा पाता है कि आखिर यह सब कैसे क्यों हुआ ।

इसके विपरीत राम का आचरण सुविचारित, सुंसयत और सुव्यवस्थित होता है । यमराज के समान भयंकर चौदह राक्षसों को आश्रम की तरफ आते हुए देखकर राम पहले लक्ष्मण को सतर्क कर देते हैं और सीता की रक्षा का भार उनको सौंप देते हैं । उसके बाद वह राक्षसों से पूछते हैं कि कंदमूल फल खाते हुए वन में तापस जीवन व्यतीत करनेवाले हम लोगों पर तुम लोग हिंसा की भावना से हमला करने क्यों आये

हो ? उनको चेतावनी भी दी जाती है कि यदि उनको उनके प्राण प्यारे हैं तो वे तत्काल वहाँ से वापस चले जाएं । पर जब वे चौदहों राक्षस अपने स्वामी खर की प्रशंसा करके उनकी आज्ञा का पालन करने के लिए अपने को कृतसंकल्प घोषित करते हैं और अकेले राम पर सभी लोग एक साथ धावा बोल देते हैं तो राम भी अपनी धनुर्विद्या के कौशल का प्रयोग करके पल भर में सबको यमराज के घर पहुँचा देते हैं । दूर खड़ी शूर्पणखा राम के इस अलौकिक पराक्रम को देखकर दंग रह जाती है और भय के कारण बेहोश हो जाती है । अब तक वह केवल राम की कोमलता से परिचित और प्रेरित थी, अब वह उनकी कठोरता से त्रस्त हो जाती है और तुरन्त अपने भाई खर के पास जाकर सारा वृत्तांत सुनाती है । पहले तो वह केवल रोती है, कुछ कह नहीं पाती, पर बाद में भाई का आश्वासन पाकर उसको यह समझाने की कोशिश करती है कि राम ऐसा वैसा आदमी नहीं है उसने देखते ही देखते चौदहों राक्षसों को धराशायी बना दिया है । फिर भी जब खर के चेहरे पर समझ-बूझ का कोई आभास तक दिखाई नहीं देता तब वह आक्रोश भरे स्वर में प्रखर निन्दा करते हुए कहती है कि अगर तुम अपने को वीर समझते हो और राम के साथ लोहा लेने की अगर तुममें हिम्मत हो तो तुम स्वयं जाकर राम से लड़ो,अन्यथा मैं शर्म के मारे प्राण छोड़कर यहीं मर जाऊँगी । राम के पराक्रम से भयभीत, प्रतिशोध की भावना से उद्विग्न और निराशा और निरुपायता से क्षुब्ध शूर्पणखा दोनों हाथों से अपनी छाती पीटती हुई फूट-फूटकर रोने लगती है ।

यह सारा परिवेश खर को खरतर बना देता है । वह अपनी प्रखर वाणी में अपने प्रचंड आवेग को प्रकट करते हुए राम को दुष्ट, दुश्चरित, दुर्विनीत आदि आदि कहकर अपने भाई दूषण के साथ चौदह हजार राक्षसों की सेना लेकर पंचवटी की ओर प्रस्थान करता है । अब सारा जनस्थान पंचवटी के पास पहुँच जाता है । आतंकवादी असुर-समूह से जनस्थान को मुक्त करने का यह अद्भुत अवसर था जिसके प्रति राम सजग और सन्नद्ध थे । जब खर का रथ खरतर स्वर से आगे बढ़ता है तो आसमान में बादल गर्दभ की सी आवाज करते हुए गरजने लगते हैं । पानी रक्त-सा दिखाई देता है । घोड़े चलते-चलते गिर पड़ते हैं । सूर्य मंडल का रंग काला और किनारे का रंग लाल बन जाता है । खर के रथ की ध्वजा पर विशालकाय गीध आकर बैठ जाता है । जंगल के जानवर अमंगल स्वर बोलने लगते हैं । अचानक आ घिरे बादलों के कारण आकाश अनवकाश और निराकाश बन जाता है । दिन में ही तारे दिखाई देते हैं । धरती काँपने लगती है, पहाड़ अस्थिर बन जाते हैं । फिर भी खर अपना साहस नहीं छोड़ता । वह घमंड से कहता चलता है कि मैं आसमान से तारों को गिरा सकता हूँ, मौत को भी मौत के घाट पहुँचा सकता हूँ तो फिर यह साधारण मानव मेरे लिए क्या हैं ।

भयंकर भवितव्यता के सूचक प्राकृतिक उत्पातों को देखकर खर तो आशंकित नहीं होता, पर राम चिंतित होते हैं कि ये सब लक्षण जन-हानि के द्योतक हैं । पर धर्म की स्थापना के लिए कृतसंकल्प राम के मन में भीतर ही भीतर प्रसन्नता होती है कि चिर-प्रतीक्षित धार्मिक अनुष्ठान आज सम्पन्न होने जा रहा है । उनकी दाहिनी भुजा बार -बार फड़कने लगती है और लक्ष्मण के मुख-लक्षण आशाजनक प्रतीत होते हैं । इन सभी बातों से राम आश्वस्त और आशान्वित हो जाते हैं कि धर्म की विजय होगी और अधर्म का अंत । पर वह अकेले ही यह युद्ध लड़ना चाहते हैं । इसके अनेक कारण हैं । पहला कारण यह है कि असुर-समाज को वह इस बात का विश्वास दिलाकर उनके मन में भय पैदा करना चाहते हैं कि अकेले राम ही असंख्य असुरों का अंत करने के लिए पर्याप्त हैं । दूसरा कारण सीता की सुरक्षा है । राम और लक्ष्मण दोनों लड़ने में व्यस्त हो जाएँ तो शूर्पणखा सीता पर आक्रमण कर सकती है । चौदह हजार राक्षसों का संहार एक तरफ है तो अकेली सीता की सुरक्षा दूसरी तरफ है । इसीलिए राम लक्ष्मण को अपने चरणों की शपथ दिलाकर कहते हैं कि तुम मेरी बात मानकर पर्वत की गुफा में जाकर सीता की रक्षा करो और मैं स्वयं अकेले ही इन राक्षसों का संहार कर सकता हूँ ।

लक्ष्मण भी स्थिति की गंभीरता को समझकर अपने अग्रज की आज्ञा का पालन करते हैं।

राम अकेले हैं और उनके विरुद्ध खर, दूषण और उनकी चौदह हजार राक्षसों की सेना खड़ी है। इस विषम और विचित्र समर में धर्मपरायण की विजय की मंगल कामना के साथ अंतरिक्ष में पुण्यात्मा ऋषि-मुनि, देव गंधर्व, सिद्ध और चारण सुखद परिणाम का सातुर निरीक्षण करते रहते हैं। खर के साथ जन-शक्ति है, राम के भीतर आत्म-शक्ति है। आत्मा और अनात्मा, आस्था और अनास्था, सात्विकता और पाशविकता के बीच का यह युद्ध सत् और असत् के पारखियों के लिए उत्कंठा और उद्विग्नता का कारण बन जाना स्वाभाविक ही है। ब्रह्म ज्ञानी और भविष्यद्रष्टा मुक्त कंठ से राम की विजय के लिए स्वस्तिवाचन करते हुए कहते हैं:—

स्वस्ति गोब्राहम्णानां च लोकानां चेति संस्थिताः।
जयतां राघवो युद्धे पौलस्त्यान् रजनीचरान्॥

संसार में पशुधन और तपोधन की मंगल कामना करनेवाला कोई भी शांतिप्रिय सज्जन राम की विजय चाहेगा। इन्हीं पवित्रात्मा परम ऋषियों की शुभ कामना आशीर्वाद का आलोक बन कर श्रीराम की मुख-मुद्रा में रुद्र का-सा तेज भर देती है। अनायास ही अत्यंत दुष्कर कार्य करने में समर्थ राम का वह अपूर्व रू धरती के प्राणियों के लिए ही नहीं बल्कि स्वर्ग के देवताओं के लिए भी सुदुर्दर्श बन जाता है। आदिकवि के शब्दों में:—

रूपमप्रतिमं तस्य रामस्याक्लिष्टकर्मणः।
बभूव रूपं क्रुद्धस्य रुद्रस्येव महात्मनः॥

रण-भूमि में अलौकिक तेज से आविष्ट श्रीरामचन्द्र का मुख-मंडल दक्ष की यज्ञभूमि में सर्वस्व का नाश करने के लिए उद्यत पिनाकधारी महादेव जी का स्मरण करा रहा है तो असुर सेना के बीच अहंकार की साकार मूर्ति के रूप में रथ पर आसीन खर तारों के बीच अंगारक ग्रह की भांति आग उगलता – सा दिखाई दे रहा है। असुर सेना समरांगण में पहुँचते ही राम पर शर-वर्षा करने लगती है और राम बड़ी गंभीर मुख मुद्रा में सतर्कता से सभी शस्त्रों को अपने बाणों द्वारा निरस्त कर देते हैं। राक्षसों के अमोघ अस्त्र राम के अनर्घ चाप में वैसे ही विलीन हो जाते हैं जैसे नदियों का प्रचंड वेग अथाह सागर में मिलकर अपने आप शांत हो जाता है। असुर संध्या में संध्याकालीन बादलों से घिरे हुए सूर्य की तरह श्रीराम निश्चल, निर्भीक और अप्रमत्त मुख-मुद्रा में अपनी प्रखर किरणों से खर सेना की शर-वर्षा का अवशोषण कर लेते हैं। दशों दिशाओं से अपने ऊपर आक्रमण करनेवाले क्रूरदर्शी राक्षसों को राम धनुष से प्रतिक्षण निकलनेवाले सैकड़ों और हजारों तीर कभी पीछे से, कभी आगे से, कभी ऊपर से और कभी नीचे से क्षत विक्षत कर देते हैं। एक अकेले राम से हजारों राक्षसों को पल भर में हताहत होते हुए देखकर खर के मन में घबराहट पैदा होती है तो उसका भाई दूषण अपने पाँच हजार सैनिकों के साथ रणरंग में प्रवेश करता है। पर कुछ ही क्षणों में श्रीराम दूषण की सेना को छिन्न-भिन्न कर देते हैं और दूषण की दोनों बाहों को आभूषण सहित खर के देखते ही देखते काट डालते हैं। खर की चौदह हजार सेना भी गई, दूषण की पाँच हजार सेना भी गई और दूषण भी गया। अब राम के सामने केवल खर और उसके बारह पराक्रमी सेनापति मौजूद हैं। भीषण युद्ध कांड देखते हुए दूर से खड़ा त्रिशिरा भी बचा है। बाकी सब राक्षस पल भर में काल-कवलित हो जाते हैं।

अब खर को खतरे में देखकर त्रिशिरा आगे बढ़ता है, पर उसकी भी वही दशा होती है जो दूषण की अभी कुछ क्षण पहले हुई है। अब अकेला खर अकेले राम के सामने खड़ा हो जाता है। अब भी वह हिम्मत नहीं हारता। दीप-शिखा की ओर बढ़ने वाले पतंगे की तरह वह राम के पास पहुँचता है और उन पर शर-वर्षा करने लगता है। खर की शर-वर्षा से राम का शरीर क्षत-विक्षत हो जाता है। फिर भी बिना धुएँ की प्रज्वलित ज्वाला की भांति राम का तेज प्रखर होता जाता है। अलौकिक शांति और आश्चर्यजनक स्थिरता के साथ राम पहले अपने शत्रु के अस्त्रों को समाप्त

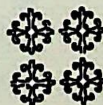
होने देते हैं और जब निरस्त्र शत्रु सामने खड़ा होता है तो उसको विरथ बनाकर अपना मनोरथ स्पष्ट करते हुए कहते हैं : हे राक्षस ! दंडकारण्य के निवासी ऋषि-मुनियों पर तुमने जो अत्याचार किए हैं उन्हीं का फल भोगने के लिए तुम मेरे पास आए हो । जन-हित में बाधा डालकर निरपराधियों की निर्मम हत्या करने के दुष्परिणाम से तुम भाग नहीं सकते । इसीलिए मेरे पिता ने मुझे यहाँ भेजा है । जिन धर्मात्माओं को तुमने परलोक भिजवाया है, वहाँ पर जाकर तुम आज उनसे मिल लोगे ।

राम के ये वचन कितने मीठे, कितने तीखे, कितने सच और कितने सार्थक हैं, यह बात खर मन ही मन महसूस करता है । पर वह करे तो क्या करे । जब तक वह पकड़ में नहीं आया तब तक दंडक वन में दंडधर बन कर स्वैर विहार करता रहा । अब कोदंडधारी राम के सामने अपने चिर संचित पाप का फल भोगने के लिए खड़ा है । अहेतुक शत्रुता, अकारण हिंसा, आक्रामक आचरण और अंधाधुंध प्रखरता – इन्हीं बातों ने खर को मुनि-कंटक बना दिया है । अब असुर-कंटक राम के सामने मुनि-कंटक राक्षस विवश होकर खड़ा है । फिर भी आखिरी सांस तक खर अपनी प्रखरता को नहीं छोड़ता और न अपनी गलती स्वीकार करता । अगर ऐसा होता तो शायद शरणागत वत्सल राम अब भी उसको क्षमा कर प्राणों से छोड़ देते । पर जो होना है सो होकर ही रहता है । क्षमा याचना करने की बात दूर, पेड़-पत्थर जो भी हथियार दिखे सबका प्रयोग कर वह राम पर प्रहार पर प्रहार करता चला जाता है और बीच में परुष भाषण भी करता है । यह सारा घटनाक्रम राम को खर – वध के दोष से एकदम मुक्त कर देता है, बल्कि खर का प्रत्येक वचन और प्रत्येक आचरण राम को अपने धर्म कार्य-निर्वहण में आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करता है । अंत में खर का वध हो ही जाता है ।

दंडक वन के तापस परम प्रसन्न हो जाते हैं । अंतरिक्ष के निरीक्षक देव, गंधर्व, सिद्ध और चारण 'आत्मना' राम का हार्दिक अभिनन्दन करते हैं । सत्यपराक्रम राम का यह अद्भुत पुण्य कर्म देखकर अगस्त्य जैसे महर्षि प्रेम से पुलक उठते हैं और मन ही मन कहते हैं:–

एतदर्थं महातेजा महेन्द्रः पाकशासनः ।
शरभंगाश्रमं पुण्यं आजगाम पुरंदरः ॥

सभी महात्माओं को मालूम है कि सीता, राम और लक्ष्मण के समन्वित अयन (संचरण) के पीछे कोई दैवी रहस्य है । दंडक वन में पहुँचते ही ऋषि-मुनियों को अभय प्रदान करना, विराध वध के बाद शरभंग, सुतीक्ष्ण और अगस्त्य के साथ सम्पर्क, शरभंग के आश्रम में देवेन्द्र का दृश्यादृश्य संदर्शन – ये सब घटनाएं किसी निश्चित योजना के अनुसार घट रही हैं । अब खर, दूषण और त्रिशिरा नाम के राक्षसों का संहार भी भविष्य का पथ प्रशस्त कर देता है । असुरों के अत्याचार से पीड़ित सात्विक जन-समाज को खर की प्रचंडता, दूषण की दारुणता और त्रिशिरा की विषाक्तता से विमुक्त करने का काम अब तक सम्पन्न हो चुका है । अब यह अभियान त्रिशिरा से दशशिरा तक व्याप्त होने जा रहा है । इस मंगलमय अयन की सूत्रधारिता शूर्पणखा जैसी अप्रतिबुद्ध और अप्रतिबद्ध असुरांगना कर रही है, इसी में रामायण की रमणीयता है ।



36. कान भर गए दशकंधर के

धर्मवीर राम के पास धर्मसम्मूढ़ शूर्पणखा क्यों आई, कैसे आई, क्या सोच कर आई और क्या लेकर गई। सीतापति राम के रूप के प्रलोभन में पड़कर उसने अपना ही रूप विरूपित करा लिया, प्रतिहिंसा की भावना से उन्मत्त होकर अपने ही लोगों का घोर संहार करा लिया, पर अब भी वह शांत नहीं है। अपने भीतर प्रज्वलित प्रतिशोध की प्रचंड ज्वाला को वह लंका तक ले जाना चाहती है। यह सब कैसे हुआ? वाक्यविशारद वाल्मीकि कहते हैं – "यदृच्छया"। ऐसा लगता है कि यह यों ही हुआ है। पर वास्तव में यह इतनी साधारण घटना नहीं है। यह संयोग अवश्य है, पर इसके पीछे एक दुर्निवार दैवयोग है। जो योग राम को अयोध्या से दंडक में ले आया था, वही दैवयोग अब शूर्पणखा को राम के पास ले आया और वही संयोग अब उसको रावण के पास ले जा रहा है। इसी योग, संयोग या दैवयोग को आदि कवि "यदृच्छा" की संज्ञा देते हैं। वास्तव में भगवदिच्छा ही यदृच्छा का रूप धारण करती है। रामकथा के संविधान में इस प्रकार की यदृच्छा के अनेक प्रसंग मिलते हैं और हर प्रसंग में वाल्मीकि इसी शब्द का प्रयोग करते हैं।

खर, दूषण और त्रिशिरा के साथ चौदह हज़ार राक्षसों का विचित्र और विस्मयकारी संहार करके जब विजय राघव अपने भाई लक्ष्मण और पत्नी सीता से मिलते हैं तो लक्ष्मण अपने अग्रज के श्री चरणों का अभिवंदन करते हैं और सीता परम हर्ष से प्रफुल्ल-चित्त होकर अपने पति का आलिंगन करती हैं – एक बार नहीं बार बार (पुनः परिष्वज्य)। यहां पर स्मरणीय है कि जब राम सीता को अपने साथ वन ले जाने में संकोच कर रहे थे तो सीता उनकी भीरुता (दिखावटी) की भर्त्सना करते हुए कहती है कि राजा जनक को शायद पता नहीं था कि उनके होनेवाले दामाद पुरुषाकार की स्त्री है (स्त्रियं पुरुष विग्रहम्) अन्यथा वह अपनी बेटी का विवाह उनसे नहीं करते। यह तीखा व्यंग्य राम जैसे धीरोदात्त के चित्त में भी काँटे की तरह चुभ जाता है। अब समय आने पर राम उस व्यंग्य का उत्तर देते हैं – अकेले असंख्य राक्षसों का अत्यल्प काल में अनायास संहार करके। राम की इस कार्यसाधक भाषा को कार्यकारिणी सीता समझती हैं और उसी समझ की पहचान है यह गाढ़ परिरंभण। ध्यान देने की बात है कि यह परिरंभण वह एकांत में नहीं बल्कि सबके सामने कम-से-कम लक्ष्मण के सामने करती हैं।

जन-स्थान का यह जन-संहार राम-परिवार के लिए मुदावह तो है ही, साथ ही असुरों के आतंक से त्रस्त ऋषि-मुनि और देवता भी इस घटना को शुभ सूचक और मंगलदायक मानकर राम का अभिनन्दन करते हैं। केवल आतंकवादी असुर-समाज अब अपने को आतंकित और असुरक्षित अनुभव करता है। यह सारा समाज एक प्रकार से लंकेश्वर रावण के सीमा सुरक्षाबल का काम कर रहा था जो देखते ही देखते समाप्त हो चुका हैं। इनमें से केवल दो प्राणी अब बच गये हैं। एक है शूर्पणखा और दूसरा है अकंपन नाम का एक राक्षस जो कि संभवतः जन-स्थान में रावण के गुप्तचर का काम कर रहा था। जैसे ही जन-स्थान शून्य

बन जाता है, अकंपन भयभीत होकर अगले ही क्षण में रावण के पास पहुँच कर सारा वृत्तांत सुनाता है। पहले वह केवल जन संहार की बात करता है, राम का नाम तक नहीं लेता। भीषण जन-संहार की बात सुनते ही रावण उत्तेजित हो जाता है और कहता है कि वह कौन अल्पायु और अहंमन्य वीर है जिसने अपने ही अविवेक से अपने मार्ग को रोक रखा है। क्रोध के आवेश में आपे से बाहर होकर अविवेकी रावण अपने प्रबल पराक्रम का प्रलाप करने लगता है। मैं काल को काल में विलीन कर सकता हूँ, मृत्यु को मरण शय्या पर लिटा सकता हूँ, आग को जला सकता हूँ, सूर्य को तपा सकता हूँ आदि आदि। असंबद्ध और अप्रस्तुत आत्मस्तुति से त्रस्त होकर अकंपन अवाक् हो जाता है। कुछ समय के बाद रावण से अभयदान पाकर आगत भय का कारण बताने का साहस करते हुए अकंपन राम के अप्राकृत पराक्रम का वर्णन करता है:-

रामो नाम महास्कंधो वृत्तायत-महाभुजः।
श्यामः पृथुयशाः श्रीमानतुल्य-बलक्रिमः॥

शत्रुओं को भी सम्मोहित करने वाले इस व्यक्तित्व का परिचय पाते ही रावण के मन में शंका उत्पन्न होती है कि यह कोई साधारण मनुष्य नहीं हो सकता, इसके पीछे कोई दैवी रहस्य अवश्य है। इसी संदेह को प्रकट करते हुए वह अकंपन से पूछता है :-

स सुरेन्द्रेण संयुक्तो रामः सर्वामरैः सह।
उपयातो जनस्थानं ब्रूहि कच्चिदकंपन॥

(क्या यह राम जनस्थान में अकेला आया है या इन्द्र आदि देवताओं के नियोग से उनको भी साथ लेकर आया है? मुझे सचमुच सही सही बात बता दो अकंपन।)

रावण का यह अनुमान निराधार नहीं है क्योंकि जब शरभंग के आश्रम में राम पहुँचे थे तब इन्द्र वहाँ मौजूद थे। राम के अयन के पग पग पर देवताओं की दृष्टि टिकी हुई है ताकि वह अभीष्ट दिशा में अग्रसर हो सकें। यह बात जन स्थान के ऋषि-मुनि भी विजयी राम का अभिनन्दन करते हुए कहते हैं:-

एतदर्थं महातेजा महेन्द्रः पाकशासनः।
शरभंगाश्रम पुण्यमाजगाम पुरंदरः॥

इससे स्पष्ट होता है कि जनस्थान की घटना केवल यादृच्छिक नहीं है, बल्कि लोककल्याण की भावना से प्रेरित भगवदिच्छा भी इसके साथ है। रावण भी क्षण भर में यह सब समझ लेता है, तभी तो वह अकंपन से यह प्रश्न पूछता है। पर अकंपन इस प्रश्न का उत्तर नहीं देता, केवल राम के पराक्रम का वर्णन करने लगता है। राम, लक्ष्मण और सीता का भी वह विस्तार से वर्णन करने लगता है। पहले राम और बाद में लक्ष्मण का नाम और गुणगान सुनकर रावण तत्काल दोनों का वध करने जन स्थान पहुँचने के लिए उद्यत हो जाता है। पर अकंपन उसको सतर्क करते हुए कहता है कि राम और लक्ष्मण पर विजय पाना इतना आसान नहीं है। आकाश और समुद्र को भी अपनी मुट्ठी में रखकर समस्त सृष्टि को नष्ट कर फिर उसे प्रतिष्ठित करने की क्षमता रखने वाले राम को इतनी आसानी से जीता नहीं जा सकता। वह स्पष्ट शब्दों में कह देता है कि युद्ध के माध्यम से राम को जीतना संभव नहीं है - 'न हि रामो दशग्रीव शक्यो जेतुं रणे त्वया'। पर चतुर गुप्तचर के रूप में अकंपन अपने स्वामी रावण को शत्रु पर विजय पाने का एक कुटिल उपाय बताता है और वह है-सीता का अपहरण। राम के लिए सीता प्राणों से भी अधिक प्यारी है और यदि उनको सीता से वियुक्त कर दिया जाए तो वह अपने आप दुर्बल हो जाएँगे और उस दशा में उन पर विजय पाना सरल होगा। यह कूटनीति रावण को तत्काल आकृष्ट कर देती है। वह सोचता है कि इस उपाय से शत्रु पर विजय तो प्राप्त होगी ही और साथ ही एक सर्वांग सुन्दरी भी स्वाधीन बन जाएगी। अधर्म के अंत का बीज यहीं बोया जाता है। वैसे देखा जाए तो यह उपाय धर्म के विरुद्ध तो है ही, पर सामान्य बुद्धि के भी विपरीत है। जन स्थान में खर, दूषण आदि का वध राम ने किया था, सीता का इसमें कोई दोष नहीं था। शूर्पणखा ने यदि राम को चाहा तो इससे भी सीता का कोई सीधा संबंध नहीं था। विरोध के इस विष-वलय में सीता कहीं भी नहीं आतीं। पर

प्रतिशोध का प्रारंभ उन्हीं निरपराधिनी के अपहरण की परिकल्पना से हो रहा है। यह असुर-निर्णय की विशेषता है।

रामायण के इतिवृत्त में रावण के चरित्र का प्रवेश इसी प्रसंग में होता है। प्रथम दर्शन में ही पता चलता है कि वह किस धातु का बना हुआ है और उसका संस्कार कितना गहरा है। रावण की पहली ही उक्ति, जो अकंपन को संबोधित थी, उसकी अहम्मन्यता को व्यक्त करती है। अपने को सर्व समर्थ और अन्य अपरिचित व्यक्ति को एकदम अयोग्य समझने में ही उसका कुसंस्कार बोल उठता है। पर साथ ही राम के पीछे दैवीशक्ति का अनुमान लगाने में उसकी सूक्ष्मबुद्धिता का भी पता चलता है। उसको मालूम है कि जनस्थान को क्षण भर में जन शून्य बनानेवाला व्यक्ति साधारण मनुष्य नहीं हो सकता। फिर भी उसके भीतर का दानव उसको इस कठोर सत्य को स्वीकार करने नहीं देता। अंतिम बात, जो सबसे महत्त्वपूर्ण है, यह है कि राम का नाम सुनकर उसकी क्रियाशक्ति इतनी जागरित नहीं होती जितनी कि सीता की बात सुनकर। उसके भीतर की यही आसुरी कामवासना उसको राम का विरोधी और द्रोही बना देती है। जनस्थान की जन-हत्या की बात सुनते ही जो रावण कहता है कि 'मैं आज ही जाकर राम और लक्ष्मण का वध करूँगा', वही रावण सीता के सौंदर्य की बात सुनकर उनके अपहरण का उपाय सोचने लगता है। रामकथा के श्रोताओं तथा रामायण के पाठकों को रावण का यह प्रथम परिचय यह सोचने के लिए बाध्य कर देता है कि आखिर यह व्यक्ति इतना दुष्ट और निकृष्ट क्यों है। इसलिए नहीं कि वह बुद्धिमान् नहीं है, श्रीमान् नहीं है या महान् नहीं है। उसके पास यह सब कुछ है। पर सत्य, शील और धैर्य का एकदम अभाव है। यही अभाव उसको राम-विमुख बना देता है। पर रावण हठधर्मी है। वह अपनी बात का पक्का है। जो भी उसके मन में आए, चाहे वह सही हो या गलत, उसको वह कार्य रूप में परिणत कर देता है और तब तक सांस नहीं लेता जब तक उसकी इच्छा पूरी न हो। यह दृढ़ संकल्प उसको मारीच के पास ले जाता है। मारीच मायावी राक्षस है, आसुरी माया में निपुण है। उसकी सहायता से वह सीता का हरण करना चाहता है। पर मारीच को राम की अप्राकृत वीरता का प्रत्यक्ष परिचय है। एक-दो बार राम के बाण की मर्मांतक पीड़ा को वह भुगत चुका है। अब वह राम का त्रस्त भक्त है, इसलिए विश्वस्त भी है। जैसे ही रावण सीता के अपरहण की बात करता है, मारीच विस्मित और विषण्ण मुख-मुद्रा में उसको समझाने लगता है कि इसमें न रावण का कल्याण है, न लंका का। सीता का अपहरण वैसे संभव ही नहीं है, पर यदि संभव हो भी गया तो राम के क्रोधानल में सारी लंका भस्म बन जायेगी। रावण को लगता है कि मारीच ठीक ही कह रहा है। बात मानकर वह वापस चला जाता है क्योंकि प्राण सबको प्रिय लगते हैं।

पर जो होना है, सो होकर रहता है। मारीच के कहने पर अकंपन की बात रावण ने टाल दी। पर जब वही सन्देश उसकी प्यारी बहिन शूर्पणखा लेकर आती है तो रावण फिर एकबार गंभीरता के साथ इस प्रस्ताव पर सोचने के लिए बाध्य हो जाता है। एक और बात यह है कि अकंपन का परामर्श मित्र-सम्मित है जबकि शूर्पणखा की बात कांता-सम्मित है। इसके अलावा शूर्पणखा राम और लक्ष्मण के निष्ठुर परिहास की निर्मम शिकार बन गई है। सबसे विशिष्ट बात है – शूर्पणखा की वाग्विदग्धता। यह देखकर आश्चर्य होता है कि वाल्मीकि ने अपने निकृष्ट नारी-पात्र शूर्पणखा को भी कितनी वाक्चतुर बना दिया है। सर्वांगसुन्दरी सीता का वह जो वर्णन करती है, उससे रावण क्या कोई भी विषयी तत्काल वासना का उपासक बन सकता है। भाई-बहिन का यह समागम और संभाषण कथा, कला, काव्य और शास्त्र-सभी दृष्टियों से विलक्षण है।

राजधानी लंका के रमणीय राज-भवन में प्रभाकर की प्रदीप्त शोभा से विराजमान दिव्य सिंहासन में सुखासीन अपने भ्रातृश्री को देखकर राजभगिनी शूर्पणखा मन ही मन पुलक उठती है और आश्वस्त हो जाती है कि जो काम खर, दूषण आदि नहीं कर सके,

वह रावण के द्वारा सम्पन्न हो सकेगा । यह वही रावण है जिसने देवताओं के अमोघ अस्त्रों का भी डटकर सामना किया था, सातों समुद्रों को अपने बल-पौरुष से विक्षुब्ध किया था, पाताल तक जाकर तक्षक को जीतकर उसकी प्रिय पत्नी का अपहरण किया था, कैलाश पर्वत पर पहुँच कर कुबेर को हराकर उनके पुष्पक-विमान को स्वाधीन कर लिया था, देवताओं पर कुपित होकर नन्दन-वन को तहस-नहस कर डाला था, घोर कठोर तपस्या से विधाता को प्रसन्न बना कर अमोघ वर प्राप्त किए थे और तीनों लोकों को अपने प्रताप से प्रपीड़ित कर लोकरावण की उपाधि प्राप्त की थी ।

लोकाभिराम राम के द्वारा विरूपित और अपमानित शूर्पणखा लोकरावण रावण के पास पहुँचकर अपनी रामकथा (काम कथा)सुनाने लगती है । पर प्रारम्भ में जन-स्थान में उत्पन्न उत्पात से एकदम अनभिज्ञ होकर अपने आमोद-प्रमोद में मस्त राजा रावण की भर्त्सना करते हुए शूर्पणखा राजनीति पर सुन्दर व्याख्यान देती है जिसे सुनकर रावण खिन्न और विषण्ण तो होता ही है, पर साथ ही चकित भी हो जाता है । रामायण के पाठक भी इस वक्तृता पर चमत्कृत हो जाते हैं और सोचने लगते हैं कि संभवतः राम के दर्शन और लक्ष्मण के शरस्पर्श से इस असुरांगना में अचानक इतनी अक्ल आई है । असुर बाला अपनी बात शुरू करती है – कामोन्मत्त रावण की अकर्मण्यता के खंडन के साथ । वह कहती है कि विशृंखल भोग-लालसा में मत्त राजा को प्रजा का सम्मान नहीं मिलता । श्मशान की अग्नि के समान प्रजा उस राजा के शासन को अमंगलकर मानकर उससे अपने को दूर रखने का प्रयास करती है । जन-स्थान में जो कुछ हुआ, उसकी जानकारी तत्काल पाकर उसका प्रतिकार करना राजा रावण का परम धर्म था, पर उसने ऐसा कुछ नहीं किया, यह उसकी अकर्मण्यता और असमर्थता का द्योतक है । शूर्पणखा अपने भाई रावण पर यह अभियोग बड़ी तीखी रूखी भाषा में लगाती है ताकि सुख-सुप्त रावण जाग उठे । वाक्यनिपुणा शूर्पणखा अपने प्रयास में पूर्ण रूप से सफल हो जाती है । धन, दर्प और बल के मोह में पड़कर वास्तविकता को समझने और क्रियाशील बनने में असमर्थ रावण एकदम प्रकृतिस्थ हो जाता है और अपनी प्यारी बहिन के विकृत रूप को देखकर दया, प्रेम और उद्विग्नता के साथ पूछता है:–

कश्च रामः कथं वीर्यः किं रूपः किं पराक्रमः,
किमर्थं दंडकारण्यं प्रविष्टश्च सुदुस्तरम् ।
आयुधं किं च रामस्य येन ते राक्षसा हताः,
तत्त्वं ब्रूहि मनोज्ञांगि केन त्वं च विरूपिता ॥

(कौन है वह राम? उसका बल-पराक्रम कैसा है? उसके पास ऐसा कौन-सा हथियार है जिससे उसने इतने राक्षसों का वध किया है? मुझे सारी बात सही और पूरी बताओ । तुम्हारा यह रूप किसने ऐसा बनाया? तुम कितनी सुन्दर थी, ऐसा विकृत रूप तुम्हारा कैसे हुआ?)

रावण की यह जिज्ञासा शूर्पणखा को अपनी बात अधिक विस्तार के साथ कहने के लिए प्रेरित करती है । अब तक परुष शब्दों में रावण को जागरण-गीत सुनानेवाली चतुरागंना अब मृदु मधुर भाषा में राम का गुणगान करने लगती है । राम के सौंदर्य, पराक्रम और प्रभाव का वर्णन करने में शूर्पणखा जो तत्परता और तादात्म्य प्रदर्शित करती है, उससे पता चलता है कि सचमुच वह राम से बहुत प्रभावित थी । लंबी-लंबी बाहें, विशाल नयन, जटा-वल्कल और तापस वेश भूषा में भी कामदेव की तरह कमनीय कांति से सुशोभित रूप सौंदर्य और सौंदर्य के अनुरूप शौर्य, वीर्य और धैर्य – सबका जीता-जागता चित्र खींचकर शूर्पणखा अपने भाई के मन में शत्रु के प्रति ईर्ष्या, द्वेष और वैर की भावना जागृत कर देती है । डेढ़ मुहूर्त की स्वल्प अवधि में चौदह हजार राक्षसों का संहार करना और वह भी इतने लाघव के साथ कि देखनेवालों को पता तक नहीं चले कि राम के चाप से तीर कब छुट रहा है और वह शत्रु को कब समाप्त कर रहा है, शूर्पणखा को क्या, किसी को भी चौंकानेवाली घटना है । यदि रावण ही वहाँ पर रहता तो वह भी स्तब्ध रह जाता । राम के

बाद राम के बाहरी प्राण की तरह अग्रज का साथ देनेवाले रामानुज लक्ष्मण का भी विलक्षण चित्र शूर्पणखा अपने नपे-तुले शब्दों में प्रस्तुत करती है । भ्रातृ-भक्ति, संयम-नियम, बल-पराक्रम सबमें राम के अनुरूप अनुज लक्ष्मण के प्रति भी शूर्पणखा समान रूप से आकृष्ट-सी प्रतीत होती है । पर उसके आकर्षण और अनुराग में अवरोध के रूप में अवस्थित सीता को भी वह सर्वांग सुन्दरी के रूप में प्रस्तुत करते हुए चित्ताकर्षक चित्र प्रस्तुत करती है – रावण को प्रलोभन के पाश में आबद्ध करने के लिए । केशादि-पाद-पर्यन्त सीता का अंग सौष्ठव वह इतना आकर्षक बताती है कि उस अपूर्व सुन्दरी को रावण अपनी पत्नी बनाने के लिए अपने आप प्रेरित हो । निष्कर्ष के रूप में वह कहती है कि वह नारी जिसकी पत्नी बने और जिसको वह अपनी इच्छा से सहर्ष आलिंगन करे, वह सभी कालों में सभी देशों में और सभी पुरुषों से सर्वश्रेष्ठ माना जाएगा । इतना कहने पर भी जब रावण जवाब नहीं देता है तो वह बात बनाकर कहती है कि मैंने तुम्हारे लिए सीता को पत्नी के रूप में मनवा कर लाने का पूरा-पूरा प्रयास किया है और इसी का परिणाम मेरी छिन्न नासिका और भिन्न कर्ण हैं । इस पर भी रावण मौन रहता है तो अपना सत्परामर्श देकर वह भी मौन हो जाती है ।

पर रावण का मौन आंतरिक आयोजन का द्योतक है, मानसिक उदासीनता का नहीं । वह शूर्पणखा से कुछ नहीं कहता, पर अपने बलाबल का मन ही मन विवेचन करके सचिव को अपहरण-अभियान के लिए उपयुक्त रथ को तैयार करने का आदेश देता है । यात्रा और यात्री के अनुरूप यान भी प्रस्तुत हो जाता है । असल में अकंपन और शूर्पणखा की बातों से दशकंधर के कान इतने भर जाते हैं कि वह मुँह से कुछ कह नहीं पाता, पर मन ही मन सोचने लगता है कि काम कैसे बन जाए और मारीच को कैसे मनवाया जाए । एक बार मारीच से हारकर वापस चला आया, पर दुबारा वहीं जाना पड़ रहा है क्योंकि और कोई चारा नहीं है । सिंधुराज के तट पर सुभद्र नामक न्यग्रोध (बरगद) वृक्ष के पास पर्ण-कुटी में तपस्या से अपने जीवन को पावन बनाने के प्रयास में दत्तचित्त मारीच रावण को पुनः अपने पास पाकर चौंक उठता है । कामार्त रावण अपने मित्र मारीच से पूछता हैः–

मारीच श्रूयतां तात वचनं मम भाषतः ।
आर्तोऽस्मि मम चार्तस्य भवान् हि परमा गतिः ॥

(मारीच, मेरी बात सुनो, मैं बहुत ही संकट में हूँ, इस संकट से मुझे बचाने में तुम, केवल तुम समर्थ हो ।)

अपनी आर्ति को प्रकट करने में रावण का कोई दोष नहीं है, पर राम के संबंध में आगे चलकर वह जो कहता है, वह निराधार और आततायी कथन है । जिस राम को उसने अभी तक देखा नहीं, उसको अशील, कर्कश, तीक्ष्ण, मूर्ख, लुब्ध, अजितेन्द्रिय, त्यक्तधर्मा, अधर्मात्मा आदि आदि कहने का रावण को कोई अधिकार नहीं है । खर-दूषण आदि का संहार करना और भगिनी शूर्पणखा का नाक-कान कटवा देना – यही राम का अपराध है, पर यह अपराध अहेतुक नहीं है । रावण के सभी तर्क मारीच काट देता है, राम के स्वरूप को समझाने का प्रयास करता है और यह स्पष्ट बता देता है कि राम से वैर मोल लेना लंका के सर्वनाश का बीज बोना है । राम-बाण का आघात एक बार सहने पर वह त्रास हमेशा के लिए मन में बना रहता है । यहाँ तक कि "र" कार से आरंभ होने वाले रथ, रत्न आदि का नाम सुनते ही मारीच के प्राण-पखेरू उड़ने लगते हैं । अंत में मारीच कहता है कि राम साधारण मानव नहीं हैं, धर्म के साकार रूप हैं (विग्रहवान् धर्म) हैं । उनकी धर्मपत्नी केवल उनकी पत्नी नहीं बल्कि धर्म की पत्नी हैं । उनका अपहरण धर्म का अपहरण है जिसका फल सामूहिक सर्वनाश होगा । मारीच अपने निजी अनुभव के आधार पर कहता है कि राम का पराक्रम भौतिक या शारीरिक बल पर आधारित नहीं है, वह आत्मबल पर अवलंबित सत्यपराक्रम हैं ।

मारीच लाख कहे, पर रावण अपने मन का पक्का है । वह आदेश के स्वर में मारीच से कहता है कि या

तो करो या मरो । अगर मेरी बात मानकर तुमने पंचवटी की पर्णकुटी के आसपास माया-मृग के वेष में विचरण कर सीता का मन नहीं लुभाया तो तुम्हारी मृत्यु यहीं मेरे हाथों में होगी । अगर मेरी बात मान ली तो मेरे राज्य का आधा भाग तुम्हारा है । पर मारीच जानता है कि रावण की बात मानने का मतलब राम के हाथों में अपने प्राणों को समर्पित करना है, ज़ीवित वापस आने का प्रश्न नहीं उठता । फिर भी मारीच रावण की अपेक्षा राम के हाथों में अपनी जीवन-लीला को समाप्त करना अधिक श्रेयस्कर समझता है और विवश होकर रावण का अनुगमन करता है । सुभद्र तरु वासी भी अभ्रद आचरण के लिए अपनी मौन अंगीकृति देता है ।

वास्तव में यह सब श्रुति की महिमा है । रावण के बीस कानों में अकंपन और शूर्पणखा ने एक के बाद एक जो अभद्र विचार भर दिए, उनके प्रभाव को मारीच के सुभद्र वचन लाख प्रयास करने पर भी मिटा नहीं पाते । अभद्र वचन कानों में और मन में जल्दी घर कर जाते हैं और सुभद्र सूक्तियाँ सुनकर भी लोग नहीं सुनते । इसी श्रुति-साधना की ओर श्रुति-परायण समाज को प्रवृत्त करते हुए ऋषियों ने मंगल कामना प्रकट की :

भद्रं कर्णेभिः श्रुणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।



37. काम बन गया सुर-मुनियों का

संसार में रूप का अपना आकर्षण है क्योंकि वह सहज सात्विक प्रेम भावना का साधक बनता है। लेकिन यही आकर्षण जब प्रलोभन का रूप धारण करता है तब प्रेम काम में बदल जाता है और रूप काम का बीज बो देता है। रूप के प्रलोभन में पड़कर काममोहित शूर्पणखा ने अपने को विरूपित कर लिया और अपने कुल के सर्वनाश का बीज भी बो दिया। अब वही प्रलोभन रावण को उन्मत्त बना रहा है। उसके उन्माद की उद्दंडता इस बात में प्रकट होती है कि वह अपने इस प्रलोभन के कारण निर्लिप्त, निरीह, निरपराधी और निष्ठावान् मारीच को भी इस पाप का भागी बनाना चाहता है। शूर्पणखा राम को देखने पर उन पर मुग्ध हो जाती है, पर रावण सीता की सौंदर्य-चर्चा मात्र से आकृष्ट होकर अभीष्ट सिद्धि के लिए व्याकुल बन जाता है। शूर्पणखा अपने कार्य में असफल होने पर अपने भाई का आश्रय लेती है जब कि रावण कार्यसिद्धि के साधन के रूप में ही मारीच की माया का सहारा लेना चाहता है। इससे स्पष्ट होता है कि रूप-लालसा तथा वासना की उपासना में बहिन से भाई अधिक अग्रसर, चतुर और धूर्त है। पर रूप-लालसा का पर्यवसान अंततः आत्मा का अवसाद ही होता है। इसलिए आत्मवान् व्यक्ति इस विषय में अप्रमत्त, सजग और सावधान रहते हैं।

पर हरि-इच्छा बलवान् है। राम जैसे आत्मवान् और आत्मसंयमी व्यक्ति के मन में भी माया-मृग के प्रति हल्का सा आकर्षण पैदा होता है। जानकी तो माया-मृग की सुनहली, रुपहली, चमकीली और दमकीली शोभा को देखकर इतनी चमत्कृत हो जाती हैं कि वह किसी भी रूप में उस विचित्र मृग को अपने तथा अपने परिवार के विनोद का साधन बनाना चाहती हैं। सीता हिरन को देखकर चकित हो जाती हैं तो सीता को देखकर राम चकित हो जाते हैं और दोनों की विचित्र मनोगति को देखकर धीर वीर लक्ष्मण भी चकित हो जाते हैं। ऐसा लगता है कि मायावी की माया ने मेधावी की मेधा को एक दम हर लिया है। अन्यथा राजभोग को ठुकराकर भयंकर वन में अपने पति के साथ पैदल चली आई सीता के मन में एक साधारण मृग के प्रति इतना प्रबल आकर्षण पैदा होना और इस भोली-भाली कामना को पूरी करने के लिए पूर्णकाम और प्रेमधाम राम का तत्काल तैयार हो जाना कैसे संभव था। माया-मृग को देखते ही लक्ष्मण पहचानते हैं कि यह वही मारीच है जो माया-मृग का रूप धारण कर अब सामने प्रकट हुआ है। वह अपने भाई राम को सतर्क भी करते हैं। पर राम इस चेतावनी की परवाह नहीं करते। सीता का मनोरथ पूरा करना उनके लिए तात्कालिक कर्त्तव्य प्रतीत होता है।

राम की इस विलक्षण मनोवृत्ति के अनेक कारण हैं। अगस्त्य के आश्रम से जब राम बिदा ले रहे थे तो सत्यद्रष्टा महर्षि सत्यपराक्रम राम से सुकुमारी सीता के संबंध में एक सारगर्भित बात कहते हैं – "यथैषा रमते राम इह सीता तथा कुरु" यह सुकुमारी सीता वनवास के जीवन से बिल्कुल अनभिज्ञ हैं। इसलिए यहाँ पर हर प्रकार से इनके मन को प्रसन्न रखने का तुम्हें प्रयास करना होगा।) महर्षि का यह आदेश राम के मन में

मननीय और माननीय बन कर प्रतिष्ठित रहता है। वैसे ही राम स्वभाव से सीता की हर इच्छा पूर्ण करने के लिए हमेशा तत्पर रहते हैं। फिर महर्षि के कहने पर यह उनके लिए अध्यादेश बन जाता है। इसके अलावा, यदि यह माया-मृग लक्ष्मण के अनुमान के अनुसार सचमुच राक्षस-माया का परिणाम है तब भी इस माया को समाप्त करना दंडक वन के ऋषि-मंडल के सामने राम द्वारा की गई प्रतिज्ञा के अनुरूप है। इसीलिए लोकाभिराम राम को माया मृग के ग्रहण में आत्मलाभ और लोक-कल्याण दोनों दिखाई देते हैं। वैसे सीता की इच्छा भी अत्यंत साधारण है। वह चाहती हैं कि वनवास के समाप्त होने के बाद अयोध्या वापस पहुँचने पर यह विचित्र मृग समस्त राज-परिवार के लिए विनोद का साधन बने। यदि जीवित मृग पकड़ में नहीं आया तो कम-से-कम उसकी आकर्षक त्वचा की चटाई बिछाकर वह राम के साथ बैठना चाहती हैं। बस, यही इच्छा है भोली-भाली बहूरानी की। यदि इतना भी काम राम से नहीं हो सका तो वह न राम के लिए शोभाप्रद है और न सीता के लिए सुखप्रद।

यह सब होते हुए भी राम मन ही मन मुस्कुराते होंगे कि आखिर यह सब क्यों हो रहा है। राम के विस्मय का कारण कुछ दूसरा है। सीता के विस्मय का कारण माया-मृग है तो राम के विस्मय का कारण तारामृग है। तारामृग ऊपर आकाश में रहकर अपनी आलोकमयी छाया से लोकवासियों को संचालित कर रहा है और वही छाया नीचे धरातल पर माया-मृग बन कर प्रबुद्ध जीवियों को भी नचा रही है। इसी विलक्षण भावभूमिका पर पहुँचकर राम कहते हैंः—

एष चैव मृगः श्रीमान् यश्च दिव्यो नभश्चरः।
उभावेतौ मृगौ दिव्यौ तारामृग-महीमृगौ॥

काननचारी मारीच और आकाशचारी मृगशिरा - दोनों मृग जैसे दिखाई देते हैं, पर वास्तव में मृग नहीं है। इसीलिए दोनों माया-मृग हैं। अंतर केवल इतना ही है कि एक देव-माया है और दूसरी असुर-माया है। असुर-माया से निर्मित मृग को देखकर दिव्यात्मा राम को देव-माया से निर्मित मृगशिरा नक्षत्र की याद आती है। पर विदितात्मा राम दोनों में दिव्यता का दर्शन कर लेते हैं। एक प्रकार से सीता भी देव माया से निर्मित अपूर्व सुन्दरी है (देवमायेव निर्मिता) जिनके सौंदर्य का आभास मात्र रावण को पंचवटी की कुटी पर छद्म परिव्राजक के रूप में खड़ा कर देता है। यह सब रूप की महिमा है, माया की छलना है, विधि की विडम्बना है और नियति नटी की अनिर्वचनीय नृत्यभंगिमा है जिसको देखकर राम के मन में भी विस्मय का उदय होता है (बभूव राघवस्यापि मनो विस्मयमागतम्)।

माया-मृग के रूप में मारीच को देख कर राम को वातापि नाम के राक्षस की भी याद आती है जो छद्म वेश में ऋषियों के उदर में पहुँच कर उनके प्राण हर लेता था। अंत में अगस्त्य ने उस राक्षस को उसी की माया का सहारा लेकर समाप्त कर दिया था। यह वृत्तांत अगस्त्य के आश्रम में प्रवेश करने से पहले सुतीक्ष्ण नाम के ऋषि राम को सुनाते हैं। अब राम उसका स्मरण करके यह निश्चय कर लेते हैं कि यदि यह सचमुच मायावी मारीच है तो इसको अभी यहीं समाप्त कर देना है क्योंकि यह माया की भी सीमा को पार कर रहा है। इन सब बातों को दृष्टि में रखकर राम सीता की रक्षा का भार लक्ष्मण को सौंपकर माया-मृग को पकड़ने के लिए उसका पीछा करते हैं। पर मारीच अपनी माया के बल पर कभी दूर, कभी पास, कभी प्रकट और कभी प्रच्छन्न चलता है। जब राम को पता चलता है कि वह अपने आश्रम से काफी दूर चले आए हैं तब वह तीव्र एवं देदीप्यमान अस्त्र से असुर मारीच का संहार करते हैं। पर मारीच रावण को दिये गए वचन के अनुसार मरते मरते "हा सीते, हा लक्ष्मण" कह कर ज़ोर से चिल्लाता है और वह भी राम की जैसी आवाज़ में।

यहाँ पर विचारणीय है कि मारीच को जब मरना ही था और रावण से डरने की अब कोई बात ही नहीं रही तो मरते-मरते उसने राम की आवाज़ में सीता और लक्ष्मण का नाम लेकर राम का अहित क्यों किया। अगर वह यों ही मरता तो लक्ष्मण आश्रम से नहीं निकलते और न रावण आश्रम में पहुँच पाता।

पर मारीच राम का भक्त है । पहले राम का विरोधी था, पर अंतिम क्षणों में वह राम का आराधक बन गया । इसीलिए वह रावण को बहुत समझाता है कि यह गलत काम नहीं करना । पर जब विवश होकर वह रावण का आदेश मान लेता है तो आदेश का पूरा-पूरा पालन करता है । सीता को प्रलोभन देना, राम को आश्रम से दूर ले जाना और अंतिम क्षण में सीता और लक्ष्मण को राम के स्वर में संबोधित करना – ये तीन बातें रावण के साथ हुई हैं और इन तीनों का राम भक्त मारीच अक्षरशः पालन करता है । संभवतः अंतिम क्षण में अभिनय के रूप में ही सही, राम की आवाज़ का अनुकरण करना और उसी स्वर में राम-पत्नी और रामानुज का नाम लेना मारीच ने अपने जीवन का परम फल और चरम सुख समझा होगा । इसके अलावा सत्यपराक्रम राम के प्रति सच्ची श्रद्धा प्रकट करने का सबसे उत्तम विधान सत्य वचन का पालन है । राम के शरस्पर्श से मारीच के मन में इतना सारा विवेक पल भर में उदित हो चुका होगा । धन्य है मारीच जिसको जीवन के अंतिम क्षणों में सत्य का साक्षात्कार हुआ ।

पर जघन्य रावण मन ही मन पुलक उठा होगा कि अब उसका आधा काम बन गया है । पर राम के वापस आने के पहले लक्ष्मण को आश्रम छोड़कर जाना है । नहीं तो बना बनाया काम फिर बिगड़ जाता है । यहाँ भी दुर्दैव दुष्ट राक्षस को ही सहारा देता है । मारीच के मुँह से सीता और लक्ष्मण का नाम लेकर निकला हुआ चीत्कार सुनकर सीता का घबराना स्वाभाविक है क्योंकि राम स्वयं इससे भयभीत हो जाते हैं । इस भयंकर चीत्कार को सुनकर सीता की क्या दशा होगी और लक्ष्मण पर क्या बीतेगा, इसकी कल्पना भी राम के लिए भयंकर लगती है । राम के अनुमान के अनुरूप ही सीता इतनी व्याकुल, भयभीत और विक्षुब्ध हो जाती हैं कि वह विवेक भी खो बैठती हैं और तत्काल लक्ष्मण को राम के पास जाने का आग्रह करती हैं । लक्ष्मण के लाख समझाने पर भी वह वस्तुस्थिति जान नहीं पातीं और मातृभाव से सीता की परिचर्या करनेवाले पूतात्मा लक्ष्मण के चरित्र पर संदेह प्रकट करती हैं । लक्ष्मण को ऐसा लगता है कि उनके दोनों कानों में लाखों शर टकराकर उनके मन को चकरा रहे हैं । अंत में विवश होकर वन देवताओं पर सीता की रक्षा का भार सौंपकर वह श्रीराम के चरणों की शरण में चल पड़ते हैं ।

अब रावण की कूट योजना पूर्ण रूप से सफल हो जाती है । अवसर पाकर वह आश्रम में पैर रखता है – परिव्राजक की वेश-भूषा में । एक हाथ में दंड और दूसरे हाथ में कमंडलु, पैरों में उपानह, सिर पर चोटी, उस पर सुन्दर छाता और जिह्वा पर सुमधुर साम गायन-यह सात्विक रूप देखकर सीता आदर के साथ अतिथि का स्वागत करती हैं और अर्घ्य, पाद्य आदि अर्पित करती हैं । पर रावण की दृष्टि बिल्कुल दूसरी दिशा में प्रसारित होती है । सर्वांग सुन्दरी सीता के अंग-प्रत्यंग सौष्ठव से रावण इतना आकृष्ट होता है कि अकंपन और शूर्पणखा के द्वारा प्रस्तुत शब्द-चित्र को अपने सामने साकार देखकर वह कुछ कुशल प्रश्नों के बहाने वैदेही के वाग्विलास का भी रसास्वादन करता है। पर राम-पत्नी रावण को संत महात्मा समझकर अपने वनवास का कारण विस्तार के साथ बताती हैं और कहती हैं कि अभी मेरे पति आनेवाले हैं, तब तक आप विश्राम करें । पर कामांध रावण को अपने काम से मतलब है, विश्राम से नहीं और राम से बिल्कुल नहीं ।

अंत में निर्लज्ज निशाचर राम-पत्नी को अपनी पटरानी बनाने का प्रस्ताव बड़ी अभद्रता की भाषा में प्रस्तुत करते हुए कहता हैः–

अहं स रावणो नाम सीते रक्षो गणेश्वरः ।
त्वां तु कांचन-वर्णाभां दृष्ट्वा कौशेयवासिनीम् ॥
रतिं स्वकेषु दारेषु नाभिगच्छाम्यनिंदिते ।
बह्वीनां उत्तमस्त्रीणां आहृतानां इतस्ततः ।
सर्वासामेव भद्रं ते ममाग्रमहिषी भव ॥

(मैं राक्षसों का राजा रावण हूँ । जब से मैंने तुम्हारा सौंदर्य देखा है, तब से मेरा मन अपनी रानियों

में रम नहीं पा रहा है । मैंने जगह-जगह से अनेक सुंदरियों को लाकर अपना अंतःपुर भर रखा है । पर उन सबमें मैं तुमको पट्ट महिषी बनाना चाहता हूँ । तुम्हारा कल्याण हो ।)

यह प्रस्ताव प्रशस्य पतिपरायण जानकी के लिए केवल अभद्र ही नहीं, बल्कि अप्रत्याशित भी है । उन्होंने कभी कल्पना तक नहीं की कि इतने भव्य वेष में इतना अभव्य व्यक्ति इतनी अभद्र कामना लेकर आ सकता है । तत्काल वह दुष्ट की दुर्भावना की भर्त्सना करते हुए उसकी अमंगल अभ्यर्थना को ठुकराती हैं और कहती हैं कि कहाँ सत्यपराक्रम राम और कहाँ मिथ्याजीवी तुम ? कहाँ शेर, कहाँ सियार? कहाँ सोना, कहाँ लोहा? अगर तुम्हें अपने प्राण प्रिय हैं तो तुरंत यहाँ से चले जाओ, नहीं तो मेरे पति राम के सामने तुम क्षणभर भी खड़े नहीं हो सकोगे ।

सीता के इस सात्विक क्रोध से रावण का आक्रोश और आवेग और अधिक बढ़ जाता है । जब रामपत्नी और रावण के बीच यह संवाद चल रहा था तब पेड़-पौधों के पत्ते हिलने में संकोच कर रहे थे, हवा रूक-रूक कर चल रही थी और गोदावरी डर के मारे धीरे-धीरे बह रही थी । रावण की आसुरी शक्ति के सामने रामपत्नी की सात्विक सत्यनिष्ठा डट कर खड़ी है । सती साध्वी सीता का यह सत्याग्रह अंतरिक्ष के सभी देवता आतंकित, आशंकित, पर आशान्वित होकर देख रहे हैं । रावण अपनी वैभव-गाथा बखानता जा रहा है और बीच-बीच में राम को अपने सामने अकिंचन सिद्ध करने का प्रयास करते हुए कहता हैः

अंगुल्या न समो रामो मम युद्धे स मानुषः ।
तव भाग्येन संप्राप्तं भजस्व वरवर्णिनि ॥

(राम साधारण मनुष्य है जबकि मैं राक्षसों का राजा हूँ । वह तो मेरी ऊँगली तक का मुकाबला नहीं कर पाएगा फिर मेरे साथ लड़कर मुझे हराने का सवाल ही नहीं उठता । मैं तो तुम्हारे पास तुम्हारे भाग्य से पहुँचा हूँ । मुझे स्वीकार करो ।)

इस पर सीता और रावण के बीच वाद-विवाद तीव्र से तीव्रतर हो जाता है । दोनों अपनी-अपनी बात पर डटे रहते हैं । पर रावण अधिक विलम्ब नहीं करना चाहता क्योंकि इस बीच में राम और लक्ष्मण वापस आ सकते हैं । इसी से पता चलता है कि वह कितना वीर है । अगर वह सचमुच वीर होता तो वीरपत्नी से इस प्रकार का व्यवहार ही नहीं करता । पर वास्तव में अब वह वीर बनकर नहीं चोर बनकर आया है । इसीलिए वह चोर के रूप में ही चोरी का माल लेकर झट से जाना चाहता है । लोकमाता के रूप में वंदनीय सीता-माता को अंततः रावण उसी प्रकार बलात् ग्रहण करता है जिस प्रकार बुध ग्रह अपनी माता रोहिणी को हथियाने का कुत्सित प्रयास करता है । लौकिक दृष्टि से सीता रावण की बेटी के समान है, अलौकिक दृष्टि से वह सबके लिए विश्वमाता हैं । दोनों दृष्टियों से रावण का यह आचरण कुत्सित, गर्हित और आत्मघातक है ।

कामातुर रावण के अंक में रामातुर सीता अपने को असहाय, अनाश्रय और अनाथ अनुभव करती हैं । राम और लक्ष्मण को संबोधित करते हुए वह अपनी करुण कहानी सुनाने का निष्फल प्रयास करती हैं । कभी गोदावरी से कहती हैं कि किसी तरह यह समाचार वह राम तक पहुँचा दें। पेड़-पौधों से भी वह रो-रोकर बताती हैं कि वे राम को रावण की धूर्तता की बात बता दें । इसी कोलाहाल से रास्ते में सोये पड़े जटायु की नींद खुल जाती है । जटायु को जागृत दशा में देखकर सीता कुछ आशान्वित हो जाती हैं और जटायु भी वह हृदय-विदारक दृश्य देखकर चकित तथा उत्तेजित हो जाता है । सीता जी के मना करने पर भी वह वृद्ध गीध रावण से घोर युद्ध करता है, पर अंत में रावण की ही विजय होती है । स्वामिभक्त जटायु स्वामिकार्य में अपने प्राण अर्पित करने में तनिक भी संकोच नहीं करता । पर नाम, कर्म और प्रभाव से जटायु होने के कारण राम-दर्शन तक अपने प्राण धारण करने का दृढ़ संकल्प लेकर वह अपनी इच्छा-शक्ति के बल पर श्री रामचन्द्र के पदाभ्याश की प्रतीक्षा में धरती माता की गोद में लेटा रहता है ।

जब रावण जटायु से युद्ध करने में व्यस्त रहता है

तब सीता युद्धस्थल से तनिक दूर खड़ी होकर राम का नाम लेकर रोती बिलखती रहती हैं। जैसे ही जटायु बेहोश होकर गिर पड़ता है, रावण तुरंत सीता के पास आता है। "छोड़ो पापी छोड़ो" कह कर चिल्लाती हुई सीता को दुरात्मा रावण केश पकड़कर जबरदस्ती अपने रथ पर बिठाकर फिर उड़ान चालू करता है। इस दारुण घटना को देखकर सूर्य का तेज मंद पड़ जता है। पर विधाता मन-ही-मन संतुष्ट हो जाता है क्योंकि अब रावण ने अपने आप अपने अंत का मार्ग तैयार कर लिया है। राम के क्रोधानल के सामने रावण के भस्मीभूत होने में तनिक भी संदेह नहीं है और धर्मात्मा राम के लिए लोक-रावंण रावण का संहार करने के लिए अब पर्याप्त आधार मिल गया है। वास्तव में इसी उद्देश्य से राम का वनवास हुआ था, दंडक में उनका पदार्पण हुआ था, दंडकवासी तपस्वियों के अनुरोध पर उन्होंने आततायी राक्षसों का संहार करने का वचन भी दिया था और अब पंचवटी में जो कुछ हुआ, वह भी इसी धार्मिक योजना के अनुरूप और अनुसरण में हुआ है।

यह बात राम भी जानते हैं। वनवास का आदेश मिलते ही उन्होंने लक्ष्मण से कहा थाः—

असंकल्पितमेवेह यदकस्मात् प्रवर्तते।
निवर्त्यारब्धमारंभैः ननु दैवस्य कर्म तत्॥

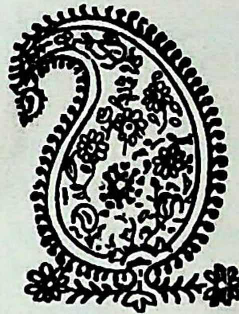
जो बात अचानक बिना पूर्व योजना के हो जाती है और प्रारंभ व परिणाम में अहेतुक विरोध पैदा हो जाता है, उसमें दैवी इच्छा काम करती है। इसी को रामायण के स्रष्टा और रामतत्त्व के द्रष्टा वाल्मीकि यदृच्छा कहते हैं। शूर्पणखा के आगमन से लेकर सीता के अपहरण तक जो भी घटनाएँ घटी हैं, उनसे इसी तथ्य की पुष्टि हो जाती है। देव-माया से अभिज्ञ होकर भी दैव-निर्णय का प्रतिरोध करने के लिए अनिच्छुक सीताराम इस तत्त्व को भलीभाँति जानते हैं। "प्रतिक्षणं सर्वत एव शंकितः" — (पल पल पर हर जगह कुछ न कुछ संदेहास्पद लक्षण दिखाई दे रहा है) — यह बात कह कर राम मारीच के पीछे चल पड़ते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि राम को भावी घटना का आभास अवश्य था, पर नियति की गति को वह अवरूद्ध करना नहीं चाहते थे क्योंकि जगत् की प्रत्येक घटना में जगदीश्वर की वाणी मुखरित होती है। कभी-कभी इस प्राकृतिक परिस्थिति को स्वीकार करने में व्यक्तिगत सुख-सुविधाओं की बात सोची जा सकती है, पर उससे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हो पाता। जीवन में पुरुषार्थ का अपना महत्व है, पर उसकी भी सीमा होती है। जहाँ प्रारब्ध या दैवी विधायन पुरुषार्थ को धिक्कारता है तो पुरुषार्थ को कुछ समय के लिए मौन रखने में ही जीवन की चरितार्थता है। इसमें व्यक्ति विशेष का हित भले ही निहित न हो, पर लोक कल्याण इसी से सिद्ध होता है।

इसी विराट् भावना से विश्व माता वैदेही रावण के अत्याचार को मूक सहिष्णुता से स्वीकार करती हैं। पर रामेक्षणी जानकी को पूरा विश्वास है कि इस अत्याचार का प्रतीकार अवश्य होगा और रावण के साथ समस्त लंका का शीघ्र ही सर्वनाश होगा। उनको चिंता केवल इस बात की रहती है कि किसी तरह राम को पता चले कि रावण ने उनका अपहरण किया है। पता चलने पर राम तनिक भी विलम्ब नहीं करेंगे, इस बात का उनको पूरा-पूरा विश्वास है।

इसी बात को सुनिश्चित करने के लिए वह रास्ते में पंपा के तट पर पांच वानर-वीरों को देखकर अपने कुछ आभरणों को अपने उत्तरीय में लपेट कर नीचे गिरा देती हैं और वे पाँचों वानर अपलक नेत्रों से रावण से ह्रियमाण सीता को देखते हैं और उनका आक्रंदन भी सुनते हैं। इससे जानकी आश्वस्त हो जाती हैं कि कम से कम पंपा के तट पर राम को वास्तविकता का पता चलेगा। पर उनको यह भी मालूम है कि जो कुछ होगा, भगवदिच्छा से होगा और पति ही उनके देवता, धाता, विधाता, संधाता, त्राता - सब कुछ हैं। इसी भरोसे वह रावण के असुर-निवेदन का निर्भीक और निरूत्तर खंडन करती हैं।

पर जटायु जैसे साधारण प्राणी यह समझ नहीं

पाते कि सीता जैसी साध्वी पर इतनी विकट विपत्ति आती है तो फिर धर्म का अर्थ क्या रह गया है । परन्तु अधर्म पर विजय पाने के लिए धर्म की ग्लानि को स्वीकारना भी आवश्यक हो जाता है । इसी स्वीकार के स्वर में पितामह ब्रह्मा अपने दिव्य नेत्रों से सीता के अपहरण को देखकर कहते हैं:– "कृतं कार्यम्" (काम बन गया) । किसका काम बना गया, यह भगवान जानें या वे जानें जिनका काम सचमुच बन गया ।



38. सीता-रहित जगत् सब सूना

प्रापंचिक जीवन में भवितव्य बहुत बलवान् होता है। जो होना है सो होकर रहता है। नियति-नटी के निष्ठुर परिहास के सामने धर्म अकर्मण्य बन जाता है, सत्य का साहस टूट जाता है और नीति-रीति का अपनयन हो जाता है। सत्यपराक्रम राम की सती साध्वी सहचरी सीता का अपहरण इसका प्रबल प्रमाण है। आत्मवान् राम की अंतरात्मा जानती थी कि अब कुछ अनर्थ होनेवाला है। पर प्राकृतिक घटना क्रम के सामने वह कुछ नहीं कर पाते, आशंकित आतंक को अपनी आँखों के सामने घटते हुए केवल देखते रह जाते हैं। यह विधि की विडम्बना नहीं तो और क्या है?

मारीच द्वारा राम का अपनयन तथा रावण द्वारा सीता का अपहरण – दोनों घटनाएँ ऐसी हैं जो स्थूल दृष्टि से देखने पर आसुरी माया से परिकल्पित प्रतीत होती हैं, पर पारमर्थिक दृष्टि से दैवी माया भी इनके पीछे अपनी सक्रिय भूमिका निभाती सी लगती है। यही कारण है कि असाधारण पराक्रम, बुद्धिमत्ता तथा कार्य कौशल से सम्पन्न दोनों भाई नियति के नियंत्रण में आ जाते हैं। श्री स्वरूपिणी सीता भी स्वर्ण-मृग की त्वचा के प्रलोभन में आकर अपने अनर्थ का आप कारण बन जाती हैं। वैसे देखा जाए तो रावण की यह कूट योजना इतनी दुर्बल है कि वह किसी भी दशा में असफल हो सकती थी। सीता के मन में हिरन के प्रति इतना आकर्षण होना अपने आप में आश्चर्यजनक घटना है। इसके बाद लक्ष्मण के वारण के बावजूद राम का उस हिरन के पीछे चला जाना दूसरा आश्चर्य है। विश्वामित्र की यज्ञवाटिका में खड़े होकर बालक राम ने जिस मारीच को एक ही शर के प्रयोग से समुन्दर पार भगा दिया, उसे पकड़ने में राम को इतना समय लगाना और इतनी दूर चलना कि रावण को अपना काम निकालने में पर्याप्त समय मिल जाए, इस घटना का तीसरा आश्चर्य है। चौथा आश्चर्य है भैया लक्ष्मण के प्रति सीता का परुष भाषण जिसने रामानुज को अपने अग्रज की आज्ञा का उल्लंघन करने के लिए बाध्य कर दिया। पंचम और अंतिम आश्चर्य है राम को आश्रम में वापस पहुँचने में घटित असाधारण विलम्ब। रास्ते में अपशकुन देखकर आशंकित होना और शून्य वदन लक्ष्मण को अपने पास आते हुए देखकर उनसे वार्तालाप करना इस विलम्ब के कारण हो सकते हैं। फिर भी भवितव्य की प्रबलता ही इन सब अनहोनी बातों को बल देती-सी प्रतीत होती है।

राम जानते हैं कि मारीच का मायावी क्रंदन सुनकर सीता का मन विचलित हो जाएगा और लक्ष्मण को वह आश्रम छोड़ने के लिए बाध्य करेंगी। वह यह भी जानते हैं कि जब से जन-स्थान में खर, दूषण आदि राक्षसों का वध हुआ है, तबसे असुर-समाज प्रतीकार के अवसर की उत्कट प्रतीक्षा में है। घटनाक्रम से स्पष्ट प्रकट होनेवाले कुतंत्र और मार्ग में सुनाई देनेवाले अपस्वर राम के मन में आतंक और आशंका की भावना को तीव्र से तीव्रतर बना देते हैं और दुगुनी चाल से वह आश्रम की ओर चल पड़ते हैं। पर लक्ष्मण का उतरा हुआ चेहरा देखकर राम की गति भी मंद पड़ जाती है। दोनों भाई एक दूसरे को

देखकर विषण्ण, हतप्रभ और दुःखभागी बन जाते हैं। दुःखी राम अपने दुःखी भाई का बायाँ हाथ पकड़कर बाहर से कड़वी, पर भीतर से मीठी (परुषं मधुरोदकं) आवाज़ में उनसे कहते हैंः–

अहो लक्ष्मण गर्ह्यं ते कृतं यत् त्वं विहाय ताम्।
सीतामिहागतः सौम्य कच्चित् स्वस्ति भवेदिति ॥

(भैया, तुमने तो बहुत बड़ी गलती की है जो सीता को अकेली छोड़कर यहाँ चले आए। क्या वह सकुशल मिलेगी?)

अगले ही क्षण में राम की यह आशंका संभाव्य सत्य का रूप धारण करती है। वह कहते हैं कि मुझे इस बात में तनिक भी सन्देह नहीं है कि इस बीच में सीता को किसी राक्षस ने खा लिया होगा, मुझे सन्देह है कि राजा जनक की दुलारी बेटी और मेरी प्राणप्रिया सीता हमको अपने समग्र रूप में जीती-जागती और चलती-फिरती दिखाई देगी। जब राम के मुँह से यह बात निकलती है तब उनकी बायीं आँख फड़कती है। वह कहते हैं कि लगता है कि सीता निश्चय ही आश्रम पर नहीं है, कोई राक्षस उसे हर ले गया होगा या वह मारी गई होगी या रास्ते में कहीं रोती बिलखती पड़ी मिलेगी (हृता मृता वा पथि वर्तते वा)।

पर लक्ष्मण कुछ बोलते नहीं, केवल सूना चेहरा लेकर अपने भाई के सामने खड़े रहते हैं। लक्ष्मण की मौन मुख-मुद्रा देखकर राम और भी आवेगपूर्ण बन जाते हैं और आतुर स्वर में पूछते हैं, "बोलो भैया, वह वैदेही कहाँ है, जिसे छोड़कर तुम इधर आ गए हो? राजभवन को छोड़कर वन में मेरे साथ चली आई वह मेरी दुःखसंगिनी कहाँ है ? जिसके बिना मैं पल भर भी नहीं जी सकता, वह मेरी प्राण प्रिया दिव्यांगना कहाँ है? क्या वह जीवित है ? इस प्रकार राम अपने शोकाकुल मन की सारी पीड़ा लक्ष्मण के सामने प्रकट करते जाते हैं। पर उससे भी अधिक व्याकुल लक्ष्मण से कुछ कहते नहीं बनता। कहें भी तो क्या कहें, कैसे कहें? इसी मानस-मंथन में पड़ कर लक्ष्मण बहुत देर तक मौन धारण करते हैं। पर जब आश्रम समीप आने लगता है तब साहस बटोरकर सांकेतिक भाषा में लक्ष्मण कहते हैंः–

न स्वयं कामकारेण तां त्यक्त्वाहमिहागतः।
प्रचोदितस्तयैवाग्रैस्त्वत्सकाशमिहागतः ॥

(भैया, मैं अपनी इच्छा से उनको छोड़कर आपके पास नहीं आया हूँ। उनके कठोर वचनों के कशाघात से पीड़ित और विवश होकर मुझे आपके यहाँ आना पड़ा)।

ये कठोर वचन क्या हैं और उनके प्रतिवचन के रूप में लक्ष्मण ने अपनी भाभी को किस प्रकार समझा-बुझाने का असफल प्रयास किया, ये सब बातें लक्ष्मण बड़े बिस्तार से अपने अग्रज को बताते हैं। फिर भी राम लक्ष्मण के आचरण से संतुष्ट नहीं होते। सीता ने अपनी स्त्री-सुलभ आतुरता के आवेश में चाहे जो कुछ कहा हो, विचक्षण बुद्धि से संपन्न लक्ष्मण को अपने विवेक का उपयोग करके सीता की सुरक्षा को प्राथमिकता देनी चाहिए थी, यही राम की धारणा है और इसको बार-बार दुहराते हुए वह अंत में कहते हैं कि भैया तुमने सीता की बातों में आकर मेरे शासन का उल्लंघन किया हैः–

सर्वथा त्वपनीतं ते सीतया यत् प्रचोदितः।
क्रोधस्य वशमागम्य नाकरोः शासनं मम ॥

(सीता की बातों से उत्तेजित होकर तुम अपने रास्ते से हट गये हो। क्रोध के क्षणिक आवेश में आकर मेरी बात भुला दी।)

ध्यान देने की बात है कि सीता के मुँह से निकले कठोर वचनों के लिए "प्रचोदित" शब्द का यहाँ प्रयोग किया गया है जिसमें गायत्री मंत्र के बीजाक्षर (धियो यो नः प्रचोदयात्) ध्वनित होते हैं। वास्तव में सीता, राम और लक्ष्मण की बुद्धि (धी शक्ति) को कोई दैवी शक्ति ही उस समय संचालित (प्रचोदित) कर रही थी। इसी का परिणाम (जो अभी दुःखद है, पर बाद में सुखद होनेवाला है।)सीता का अपहरण है।

बात करते-करते राम और लक्ष्मण आश्रम के

निकट पहुँच जाते हैं। जैसे-जैसे आश्रम समीप आने लगता है, राम के मन में सीता को देखने की उत्कंठा बढ़ती जाती है और वह बड़ी उतावली के साथ आश्रम में प्रवेश करते हैं। पर सूनी कुटिया को देखकर उनका मन एकदम उद्विग्न हो जाता है और आश्रम के चारों तरफ वह पागल की तरह चक्कर लगाने लगते हैं, पर श्रीहीन कमलिनी की तरह सारा आश्रम, सारा वन बल्कि सारा संसार सीता के बिना सूना – एकदम सूना – लगता है। इतनी भयंकर शून्यता को वह सह नहीं पाते। आश्रम की सारी सामग्री बिखरी पड़ी दिखाई देती है। चारों तरफ वृक्ष रोते से दिखाई देते हैं। पशु-पक्षी मन मारे बैठे रहते हैं। पर्णकुटी को सूनी देखकर सत्यपराक्रम राम बच्चे की तरह बार-बार रोने लगते हैं। सोचने लगते हैं कि कहीं वह इधर-उधर छिप तो नहीं गई है या बाहर फल-फूल लाने तो नहीं गई है या कहीं गोदावरी से पानी लाने तो नहीं गई है। पर वह जानते हैं कि वह कभी अकेली नहीं जाती। फिर भी वह आसपास के सभी स्थान देख लेते हैं, पर कहीं भी वह दिखाई नहीं देतीं।

एकदम अपने को सीता-रहित पाकर वह उन्मत्त-से बन जाते हैं। जो भी फूल दिखाई देता है उससे पूछ लेते हैं कि कहीं तुमने मेरी सीता को नहीं देखा है। कदंब का फूल सीता को बहुत अच्छा लगता था। अर्जुन, ककुभ, तिलक, अशोक, ताल, जामुन, कनेर, आम, कटहल, अनार आदि अनेक फूलों में सीतामति राम सीता की ही प्रतिकृति देखते हैं और उनसे पूछते हैं कि मेरी सीता कहाँ है। इसी प्रकार हिरन को देखकर पूछते हैं कि तुम्हारी ही तरह देखनेवाली मेरी मृगनयनी सीता कहाँ गई, पता हो तो बताओ। हाथी, बाघ आदि जानवरों से भी वह इसी प्रकार के प्रश्न पूछते हैं। कहीं-कहीं उनको सीता की छाया हँसती-सी, मुस्कुराती-सी, परिहास की बातें करती-सी दिखाई देती है। अचानक सीता को अज्ञात दशा में अनिश्चित स्थिति में अदृश्य पाकर राम लक्ष्मण पागल बन जाते हैं। जड़-चेतन का भेद भुलानेवाली उनकी विरहातुरता उनको विक्षिप्त बना देती है। उनके मन में भयंकर कल्पनाएँ अपना भीषण तांडव प्रदर्शित करती हैं। वह सोचने लगते हैं कि क्रूर राक्षस मेरी प्रिया का गला घोंट कर खून चूस रहे होंगे। इस प्रकार की दुर्भर मनःस्थिति में वह एक पेड़ से दूसरे पेड़ के पास, एक स्थान से दूसरे स्थान पर और एक वन से दूसरे वन में दिशामूढ़ होकर विचरने लगते हैं, पर कहीं भी उनके मन को शांति नहीं मिलती क्योंकि सारी शांति और कांति कांता के अपनयन के साथ समाप्त हो चुकी है। पास में केवल लक्ष्मण हैं जो उनके दुःख को समझकर उसका भागीदार बन सकते हैं।

दशरथ-नंदन राम बार-बार अपने भाई लक्ष्मण से विक्षिप्त स्वर में पूछते हैं:–

क्व नु लक्ष्मण वैदेही कं वा देशमितो गता।
केनाहृता वा सौमित्रे भक्षिता केन वा प्रिया॥

(भैया लक्ष्मण, मेरी वैदेही कहाँ हैं? कहाँ चली गई होगी? किधर कौन उसे हर ले गया होगा? किस क्रूर राक्षस ने उसका भक्षण कर डाला होगा?)

कितने भी स्नेहशील हों, लक्ष्मण से वह कितनी बार यह सवाल पूछ सकते हैं। इसलिए वह बीच-बीच में सीता की ही कल्पित मूर्ति से तरह-तरह के सवाल पूछने लगते हैं।

वृक्षेणावार्य यदि मां सीते हसितुमिच्छसि।
अलं ते हसितेनाद्य मां भजस्व सुदुःखितम्॥

(सीते, तुम पेड़ की आड़ में अपने को छिपाकर मेरे साथ मज़ाक क्यों कर रही हो? यह हँसने का समय नहीं है। मैं तुम्हारे लिए बहुत परेशान हूँ। हँसी-मज़ाक छोड़कर मेरे सामने आ जाओ। बस, आज के लिए इतना काफी है।)

संभवतः राम-पत्नी सीता भी राम की तरह परिहास-प्रिया हैं। इसीलिए राम के मन में सहज ही यह भ्रम होता है कि संभवतः सीता कहीं गई नहीं, इधर-उधर कहीं छिप गई है। अपने संदेह का निवारण करने के लिए जब राम इधर-उधर घूम कर देखते हैं कि उनकी प्रिया विदेहराज-तनया आँखमिचौनी खेलने के लिए कहीं छिपी तो नहीं है तो वह देखते हैं कि

जिन मृगछौनों के साथ प्रायः सीता खेला करती थी वे भी आज अपनी सहेली मालकिन को न पाकर आँखों में आँसू भर कर चिंतामग्न बैठे हैं। अगर सचमुच सीता संसार में नहीं है तो राम को प्राणों का धारण कर विरही जीवन बिताने में न तो कोई औचित्य दिखाई देता है और न अपने में इस प्रकार का कोई सामर्थ्य। परन्तु उनके मन में एक ही संदेह है। वनवास की दीक्षा पूरी किए बिना स्वर्ग में जाने पर पितृश्री के दर्शन होंगे और वे कहेंगे कि चौदह वर्ष की दीक्षा पूरी किए बिना तुम इधर कैसे आए।

कथं प्रतिज्ञां संश्रुत्य मया त्वमभियोजितः।
अपूरयित्वा तं कालं मत्सकाशमिहागतः॥

इस प्रकार सीता-दर्शन की लालसा और सीता-विरह की वेदना धीर गंभीर रघुवीर को भी विचलित कर देती हैं और वह अधीर होकर खोई हुई निधि की खोज में अपनी बाहें पसार कर नाना प्रकार से विलाप करने लगते हैं। राम को अधीर देखकर लक्ष्मण भी भीतर से अधीर हो जाते हैं, पर बाहर से राम को धीरज दिलाते हुए कहते हैं - "महामते, आपको यह विषाद शोभा नहीं देता, हम दोनों मिलकर जानकी को ढूँढने का भरसक प्रयास करेंगे।

मा विषादं महाबुद्धे कुरु यत्नं मया सह।
वनं सर्वं विचिनुवो यत्र सा जनकात्मजा॥

इस पर राम थोड़ी देर के लिए शांत हो जाते हैं और सीता का अन्वेषण आरंभ करते हैं। वन-पर्वत, सरिता-सरोवर, शिला-शिखर सब कुछ देखने पर भी कहीं जानकी का आभास तक नहीं मिलता। बार-बार राम निराश होते हैं और हर बार लक्ष्मण आशा के पुल बाँधते हुए कहते हैं कि जनकतनया मैथिली अवश्य मिलेंगी। जैसे भगवान विष्णु ने राजा बलि को बाँध कर पृथ्वी को प्राप्त किया था, वैसे ही हम सीता के अपहर्ता का पता करेंगे और सीता को प्राप्त करेंगे। जैसे ही लक्ष्मण धीरज के कुछ शब्द कहते हैं, वैसे ही राम आश्वस्त होकर अन्वेषण फिर से आरंभ करते हैं और जैसे ही सीता रहित वन-प्रदेश सूना सा लगने लगता है, फिर सीता का नाम लेकर रोने बिलखने लगते हैं।

सीता के विरह से व्याकुल राम इतने उदास बन जाते हैं कि लोकापवाद से भी वह भयभीत से लगते हैं। सीता के साथ वन में जाकर सीता के बिना अयोध्या वापस जाएँ तो लोग क्या कहेंगे? माताएँ क्या कहेंगी? महाराज जनक क्या समझेंगे? ये सब विचार धीर वीर राम को विचलित कर देते हैं। एक विचित्र मनोदशा में वह लक्ष्मण को अकेले अयोध्या वापस जाने को कहते हैं क्योंकि उनके लिए सीता के बिना अयोध्या क्या, स्वर्ग भी शांति नहीं दे सकता। इतना ही नहीं, अयोध्या में राम अपने अंतिम संदेश के रूप में अपनी माता-भ्राता आदि से क्या कहना चाहिए यह भी लक्ष्मण को बता देते हैं। इस पर लक्ष्मण का धैर्य भी ढीला पड़ जाता है। भय से जड़ीभूत मुँह से वह राम की तरफ देखने लगते हैं। राम बराबर अपने शोक सागर में बहते चले जाते हैं।

"पता नहीं, पिछले जन्म में मैंने क्या क्या दुष्कृत्य किया था, उसी का फल मैं आज पा रहा हूँ, राज्य खो दिया, स्वजनों से दूर हो गया, पिताजी परलोक सिधारे, माताजी का साथ न दे सका और अब कम-से-कम अपनी पत्नी की रक्षा तक नहीं कर सका। क्या मेरे समान अभागा और अकर्मण्य इस संसार में और कोई हो सकता है? वनवास का सारा दुःख मैंने सहर्ष स्वीकार किया है क्योंकि सीता मेरे साथ थी। जब सीता को कोई राक्षस उठाकर अंतरिक्ष में ले गया होगा तब पता नहीं कितने करुणा स्वर में मेरी जानकी ने आक्रंदन किया होगा। मेरी मैथिली के मृदुल अंग रक्तसिक्त होकर कितनी पीड़ा सह चुके होंगे या सह रहे होंगे। रक्त मांस के पिपासी घोर राक्षस मेरी पत्नी को कितनी मार्मिक वेदना पहुँचा रहे होंगे। इन सब बातों की कल्पना मात्र मेरे भीतर कंपकंपी पैदा कर रही है।"

इस प्रकार की अनेक बातों से राम अपनी आंतरिक वेदना अपने आपको और अपने पास बैठे लक्ष्मण को सुनाते जाते हैं। वह गोदावरी नदी से पूछते

हैं कि कहीं उनकी प्यारी जानकी नदी के पास तो नहीं आई है। वहाँ भी अपनी प्रिया को न पाकर राम आकाश की ओर देखते हैं तो समस्त संसार को देखनेवाला सर्वसाक्षी भगवान् भास्कर दिखाई देते हैं। संसार में कौन क्या करता है, कहाँ कब और कैसे कौन-सा काम होता है, यह सब सूर्य की जानकारी में रहता है। उनसे न कोई कार्य छिपा है और न कोई व्यक्ति। इसलिए सूर्य भगवान् से सूर्यवंश के राजकुमार राम पूछते हैं, "भगवान्, आप तो बता दीजिए कि मेरी सीता कहाँ है।" पर कहीं से कोई जवाब नहीं मिलता तो राम फिर निराश होते हैं और फिर से अपनी करुण-गाथा सबको सुनाने लगते हैं और सबसे सीता का पता पूछते जाते हैं।

गोदावरी मौन है, सूर्य भगवान् मौन हैं। वन-कानन मौन हैं। सर-सरोवर मौन हैं। मृग भी मौन हैं, पर रास्ते में बैठे हुए मृग राम को देखते ही अचानक उठ खड़े होते हैं और दक्षिण की ओर मुँह करके आकाश की ओर देखने लगते हैं। इंगितज्ञ राजकुमार मृग-निरूपित दिशा की ओर आगे बढ़ते हैं तो अचानक ज़मीन पर कुछ फूल गिरे हुए दिखाई देते हैं। हो सकता है, यहाँ पर देवताओं ने पुष्प वर्षा कराई हो। पर राम उन फूलों को पहचानते हैं। ये वे ही फूल हैं जो उन्होंने अपनी पत्नी को वन में दिए थे। अब थोड़ा-सा सहारा मिल जाता है—सीता के पद-चिन्हों को पहचानने के लिए। उसी के आसपास विशालकाय राक्षस के भी पद-चिन्ह मिल जाते हैं। ये पद-चिन्ह देखकर राम उत्तेजित हो जाते हैं और सामने खड़े पर्वतराज को धिक्कारते हुए कहते हैं—"अब तुम बताओ, मेरी सीता कहाँ है, यहाँ से किधर गई? क्या हुआ? कौन आया? कहाँ ले गया?" आदि आदि। उसी स्थान पर सीता और राक्षस के पैरों के निशान के अलावा टूटे धनुष, तरकस और रथ के टुकड़े दिखाई देते हैं। एक टूटा हुआ सोने का कवच भी वहाँ दिखाई देता है। भयंकर बाण टुकड़े-टुकड़े होकर बिखरे पड़े मिलते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि सीता को कोई राक्षस या तो हर ले गया या खा गया।

अब राम का क्रोध प्रलयानल के समान प्रज्वलित हो उठता है। वह समस्त संसार को अपने शर-ताप से संतप्त करना चाहते हैं। आवेश में आकर वह कहते हैं कि जब कोई धर्म सीता को नहीं बचा सका तो मेरा कोदंड किसी को नहीं बचाएगा। मैं पल भर में समस्त भू-मण्डल को भस्मसात् कर दूँगा। राम के इस रौद्र रूप को देखकर लक्ष्मण भी त्रस्त हो जाते हैं और उनको शांत करने का प्रयास करते हैं। स्वभाव से कोमल, लोकहित में सदा तत्पर धर्मात्मा राम को इस उग्र रूप में देखकर स्वभाव से तीक्ष्ण लक्ष्मण कहते हैं— किसी एक के अपराध से समस्त लोकों का संहार करना उचित नहीं है (एकस्य नापराधेन लोकान् हंतुं त्वमर्हसि)। जिसने यह घोर कृत्य किया है, उसका पता लगाना है और उसी को दंड मिलना चाहिए (येन राजन् हृता सीता तमन्वेषितुमर्हसि)।

लक्ष्मण के इस शांति-पाठ से शांतिमूर्ति राम धीरे-धीरे प्रकृतिस्थ बन जाते हैं। अब तक राम का जो आवेगपूर्ण आचरण था, वह उनकी सहज प्रकृति का परिचायक नहीं था। क्षणिक आवेश में आकर निर्विराम राम अविराम बन जाते हैं तो उनको अराम बनने से बचाते हैं रामानुज लक्ष्मण। शुभ लक्षणों से शोभित लक्ष्मण गुणवान् राम से कहते हैं:—

महता तपसा चापि महता चापि कर्मणा।
राजा दशरथेनासील्लब्धोऽमृतमिवामरैः॥

(भैया, हमारे पिता दशरथ ने महती तपस्या और महान् कर्म के अनुष्ठान की महिमा से तुमको पुत्र के रूप में प्राप्त किया है - जैसे देवताओं ने क्षीर - सागर का मंथन करके अमृत-लाभ किया है।)

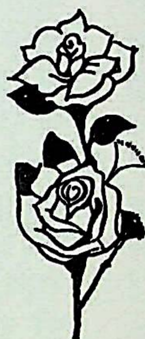
आगे चलकर लक्ष्मण अपने अग्रज की अलौकिक बुद्धि की प्रशंसा करते हुए कहते हैं—

बुद्धिश्च ते महाप्राज्ञ देवैरपि दुरन्वया।
शोकेनाभिप्रसुप्तं ते ज्ञानं संबोधयाम्यहम्॥

(आपकी बुद्धि इतनी गहरी और रहस्यात्मक है कि देवता लोग भी उसकी थाह का अनुमान नहीं लगा सकते। पर शोकाकुल चित्त प्राज्ञ की प्रज्ञा को प्रसुप्त बना देता है। शोक और मोह से मुक्त होने पर

आपका विशुद्ध विज्ञान विमल विवेक के साथ विस्तार पाता है ।)

लक्ष्मण का यह सूक्ष्म निरीक्षण क्षणिक आवेग के वशीभूत राम के विचित्र आचरणकी समग्र व्याख्या प्रस्तुत करता है । राम संसार में सब कुछ सह सकते हैं, पर सीता का क्षणिक वियोग भी उनके लिए असहनीय बन जाता है । सीता के दुःख की कल्पना मात्र से सीतापति का मन दीन, हीन, क्षीण और मलिन बन जाता है । यही कारण है कि वनवास के लिए अयोध्या से प्रस्थान करते समय भी केवल सीता को देखकर अवाङ्-मानस-गोचर किंचित् अवाङ्मुख बन गए । राम और सीता एक ही तत्व के दो अंग हैं – अभिन्न और अभेद्य । अभेद्य का भेदन अदम्य क्षोभ का कारण बन जाता है । सीता रहित राम अथवा राम रहित सीता की कल्पना ही सीताराममय जगत् के लिए भयानक उत्पात का कारण बन सकती है–जैसे परमाणु विस्फोट । परन्तु अब जो विस्फोट हुआ है, वह विनाश का नहीं, बल्कि विकास का बीज बोनेवाला सिद्ध होता है और इसे सिद्ध करने का दायित्व समय अपने ऊपर लेता है ।



39. प्राण-समर्पण पथ-प्रदर्शन

रामायण में राम के लिए प्राणों का समर्पण करनेवाले प्रशस्त पात्रों में सर्वप्रथम राजा दशरथ हैं तो दूसरे हैं चिरायु जटायु। राम के अनुराग से अणु अणु में अनुरंजित राजा दशरथ राम के वियोग में तड़प-तड़प कर अपने प्राणों का परित्याग करते हैं तो राम के लिए प्राणों से भी प्रिया जानकी को मान-संकट से बचाने के लिए अपने प्राणों को भी संकट में डाल कर राजा दशरथ के आत्म-सखा जटायु अद्भुत साहस और त्याग का परिचय देते हैं। पर दोनों में से किसी का भी त्याग भवितव्यता को न रोक सकता है और न बदल सकता है। दशरथ का दयनीय निधन न राम को वन से वापस बुला सकता है और न जटायु का साहस क्रूर कर्मा रावण को उसके दुष्कृत्य से अपवारित कर सकता है। चित्रकूट राम को वन का और भरत को भवन का राजा बना देता है तो पंचवटी सीता को लंका की प्रवासिनी बना देती है और राम को सीतान्वेषक। ध्यान देने की बात है कि ये दोनों स्थान राम के आवास के लिए परम ऋषियों के द्वारा निर्दिष्ट हैं। भरद्वाज का पथ-प्रदर्शन राम-लक्ष्मण-जानकी को चित्रकूट पहुँचा देता है तो अगस्त्य का मार्ग-दर्शन उनको पंचवटी का प्रवासी बना देता है। इससे स्पष्ट होता है कि राम का अयन अपनी निर्दिष्ट दिशा में आगे बढ़ ही रहा है, भले ही वह हमारी अभीष्ट दिशा न हो।

विधि की विडंबना यह है कि अपने पिता के ज्येष्ठ श्रेष्ठ और प्रेष्ठ पुत्र होकर भी राम उनके जीवन के अंतिम क्षणों में उनके साथ नहीं रह सके, परन्तु एकांत वन में निरंतर साथ देकर पितृवत् जानकी की रक्षा करनेवाले जटायु को कृतज्ञ राम ने न केवल अपने सान्निध्य से सांत्वना दी, पर उस द्विजोत्तम (पक्षी-प्रवर) का दाह-संस्कार तक किया है। जटायु ने राम को सीता का पता बता दिया और राम ने जटायु को परलोक में सद्गति प्रदान की। अयोध्या के राजा को जो सुख-सुविधा सहज रूप से प्राप्त हो सकती थीं, चार पुत्रों के होते हुए भी वह उनके लिए दुर्लभ बन गई जबकि विविक्त वन में एकाकी जीवन व्यतीत करनेवाले पक्षी को यह सुयोग दैवयोग से अनायास प्राप्त हो चुका है।

पर धर्मात्मा राम की उदारता इस बात में है कि वह अपने को उपकृत और जटायु को उपकारी समझकर साधारण पक्षी को साधुवाद देते हुए कहते हैं:–

सर्वत्र खलु दृश्यंते साधवो धर्मचारिणः।
शूराः शरण्याः सौमित्रे तिर्यग्योनिगतेष्वपि॥

(भाई लक्ष्मण, देखो संसार में साधुता, शूर वीरता, उदारता, परोपकारिता आदि सद्गुण केवल सीधे चलनेवाले मनुष्य तक सीमित नहीं है, ऊपर-नीचे इधर-उधर तिर्यग् गति से चलनेवाले पशु-पक्षियों में भी यह धर्मचारिता देखी जा सकती है। गति चाहे सम्यक् हो या तिर्यक्, इससे साधुता में कोई अंतर नहीं पड़ता वह प्राणी के स्वभाव और स्वरूप पर निर्भर है।)

जटायु के प्राण-त्याग और बलिदान से राम और लक्ष्मण इतने अभिभूत हो जाते हैं कि वे उस पतगेश्वर

(उड़नेवालों में उत्तम)को परम पूज्य और सम्मान्य स्थान देते हैं - केवल अपने हृदय में ही नहीं, बल्कि तपस्या से अर्जनीय परम पावन तपोलोकों में भी। इसी बात को आदेश-वाक्य के रूप में व्यक्त करते हुए राम कहते हैं:–

राजा दशरथः श्रीमान् यथा मम महायशाः।
पूजनीयश्च मान्यश्च तथायं पतगेश्वरः॥

या गतिर्यज्ञशीलानामाहिताग्नेश्च या गतिः।
अपरावर्तिनां या च या च भूमिप्रदायिनाम्॥
मया त्वं समुनज्ञातो गच्छ लोकाननुत्तमान्।

(राजा दशरथ मेरे लिए जितने मान्य और आराध्य हैं, उतने ही पूजनीय हैं यह पक्षीराज जिन्होंने मेरे लिए अपने प्राण न्यौछावर कर दिए। इसलिए मेरी आज्ञा से इस खगराज को उत्तम से उत्तम लोकों की प्राप्ति हो जिनको पाने के लिए लोग महान् यज्ञों का अनुष्ठान करते हैं, प्रतिदिन अग्निहोत्र की विधिवत् अर्चना करते हैं, युद्ध भूमि में डट कर शत्रुओं का सामना करते हैं और आवश्यक होने पर अपने प्राण-सुमन समर्पित कर देते हैं और याचकों को सर्वस्व दान में दे देते हैं।)

राम की दृष्टि में जटायु तिर्यग्योनि में जन्म लेकर भी ब्रह्मयोनि के योग्य बन गए हैं। पर करुणा-परायण राम को इस बात की चिंता है कि वह उसके प्राण नहीं बचा सके। यह विचार राम को शोकाकुल बना देता है और वह कहते हैं:–

राज्यं भ्रष्टं वने वासः सीता नष्टा मृतो द्विजः।
ईदृशीयं ममालक्ष्मीर्दहेदपि हि पावकम्॥

(राज्य गया, वन मिला, सीता गई, यह पक्षी मिला, पर इसको भी मैं बचा नहीं सका। वास्तव में मेरा जैसा अभागा इस संसार में और कोई नहीं हो सकता। मेरे इस दौर्भाग्य (अलक्ष्मी) में इतनी दाहक शक्ति है कि वह पावक (अग्नि) को भी अपना ग्राहक बना सकती है।)

जटायु के प्रसंग में राम की अप्राकृतिक दिव्यता और मानव सुलभ भव्यता एक दूसरे से आँख मिचौनी खेलती-सी दिखाई देती हैं। एक तरफ वह अपने को संसार का सबसे बड़ा अभागा अनुभव करते हैं और दूसरी तरफ वह जटायु को परलोक में उत्तम गति प्राप्त करने की अनुज्ञा देते हैं। राम की मानवीयता उनकी दिव्यता से भी अधिक मनोहर लगती है जब वह आखिरी सांस लेने वाले जटायु को गले लगाकर - पंख संवारते हुए बार-बार पूछते हैं कि बोलो जटायु, मेरी सीता ने तुमसे क्या कहा, वह किधर गई, दुरात्मा रावण उसे किधर ले गया, आखिर वह क्यों ले गया, मैंने उसका क्या बिगाड़ा है, सीता का चेहरा कैसा था, अपहरण की आकस्मिक घटना से वह बहुत डर गई होगी, वह क्या कह रही थी, मुझे क्या कहने को वह कह रही थी, तनिक विस्तार से कहो - पर जितना तुमसे हो सके उतना बता दो। राम के ये उद्‌गार उनकी उद्विग्नता को उजागर करते हैं जो बिल्कुल मानवीय हैं। इतना ही नहीं, जटायु को देखते ही उनके मन में यह सन्देह भी उत्पन्न होता है कि कहीं इसी पक्षी ने मेरी सीता को खा तो नहीं डाला। हो सकता है, पक्षी का रूप धारण करके कोई राक्षस ही इधर उधर घूम रहा हो और अवसर पाकर उसने सीता को अपना आहार बना लिया हो, यहाँ तक राम की उद्विग्नता उड़ान भरती है। इसी में राम की मधुर मनोहर मानवीयता निहित होती है।

पर जैसे ही वह जटायु के मुँह से सही जानकारी प्राप्त करते हैं तत्काल उनके हाथ से धनुष खिसक जाता है और वह जटायु को प्रेम से गले लगा लेते हैं (गृधराजं परिष्वज्य परित्यज्य महद् धनुः)। जटायु भी अपने को कृतकृत्य और कृतार्थ समझते हैं क्योंकि प्राणों का परित्याग करने के पहले राम से भेंट हो सकी और सीता के अपहरण का समाचार वह राम के कानों में डाल सके। पर अधिक विस्तार से बात नहीं होती। वह केवल इतना ही कह पाते हैं कि रावण अपनी आसुरी माया का प्रयोग कर सीता का अपहरण कर दक्षिण की दिशा में पलायन कर गया है और जाते जाते मेरे पंख तोड़कर मुझे हतप्राय छोड़कर चला गया। पर वह राम को आश्वासन देते हैं कि जिस मुहूर्त में रावण सीता को हरकर ले गया, वह मुहूर्त 'विंद'

कहलाता है और इस मुहूर्त में खोई गई संपत्ति अपने स्वामी के पास शीघ्र ही वापस पहुँच जाती है। सीता की पुनः प्राप्ति का आश्वासन देते देते जटायु अपना पार्थिव शरीर छोड़कर राम द्वारा प्रदत्त पुण्यलोक में पहुँच जाते हैं।

प्राण-समर्पण और पथ-प्रदर्शन का यह युगपत् संयोग राम और लक्ष्मण को चकित और आश्वस्त बना देता है और वे पक्षिराज द्वारा निर्दिष्ट पथ पर आगे बढ़ते हैं। पर दक्षिण की दिशा में गहन वन और सघन अंधकार को छोड़कर और कुछ नहीं दिखाई देता। थोड़ी दूर आगे जाने पर उसी अंधकार में एक गुफा दिखाई देती है जो क्रौंचारण्य की सबसे दुर्दर्श दरी है। उसी दरी के भीतर से एक लम्बोदरी अपना बीभत्स रूप प्रकट करते हुए बाहर निकल आती है। लक्ष्मण को देखकर वह कामातुर बन जाती है और उनकी बाँह पकड़ कर कहती है कि चलो हम दोनों इस सुन्दर वन में सुंदरतर सुख-सौभाग्य का आनन्द लें। लक्ष्मण तत्काल अपने खड्ग से अयोमुखी नाम की उस राक्षसी के कान, नाक और स्तन काट डालते हैं और वह भयभीत होकर उसी मार्ग में वापस चली जाती है जिधर से वह आई थी। स्त्री समझकर लक्ष्मण उसको छोड़ देते हैं अन्यथा उसके प्राण हर लेते।

अब राम और लक्ष्मण सतर्क हो जाते हैं क्योंकि इस गहन कानन में कहीं भी कुछ भी हो सकता है और कभी भी हो सकता है। उनके अनुमान के अनुरूप ही थोड़ी दूर और आगे बढ़ने पर एक विचित्र प्राणी दिखाई पड़ता है जिसका न सिर है न कंठ - केवल उदर ही उदर है। उसका एक मात्र नयन भी उसी उदर के बीच में धँसा हुआ सा दिखाई देता है। पर उसकी बाँहें बहुत लम्बी हैं। मार्ग में जो कुछ दिखाई पड़ता है, वह सब उसके उदर में चला जाता है-उसकी बाहों के घेरे में जकड़ कर। उसकी पकड़, उसकी भूख और उसकी विकटता राम और लक्ष्मण को चकित कर देती हैं। प्रारम्भ में केवल कौतुक की भावना से दोनों राजकुमार उस कबंध की विकरालता को देखकर विस्मित हो जाते हैं। पर थोड़ी ही देर में वे अपने को उस क्रूर राक्षस के बाहु-पाश में बँधे हुए पाते हैं। अब वे दोनों सक्रिय और सजग बन जाते हैं।

प्रकृत्या धैर्यसंपन्न होने के कारण राम उस कबंध को देखकर बिल्कुल नहीं घबराते हैं, बल्कि विनोद और विस्मय की मुद्रा में उस विचित्र प्राणी को देखते रहते हैं। किन्तु वयसा यवीय होने तथा अभी अभी अयोमुखी से मुक्ति पाने के कारण लक्ष्मण कुछ अधीर बन जाते हैं और अपने अग्रज को सलाह देते हैं कि भैया इस राक्षस पर मेरी बलि चढ़ाकर आप भाग जाएँ। इस पर दशरथ-नंदन सुमित्रानंदन को धीरज दिलाते हुए कहते हैं– "वीर, तुम डरो मत, तुम्हारे जैसे शूरवीर इस तरह उदास नहीं होते।"

इतने में कबंध की बांहें और समीप आती हैं और सुन्दर राजकुमारों को देखकर कबंध के मन में उनके बारे में जानने की सहज इच्छा उत्पन्न होती है। किन्तु कबंध की भाषा परिप्रश्न की नहीं, परिपीड़न की है। बहुत दिन के बाद अच्छी खुराक पाकर वह उल्लसित होता है और दोनों को अपने बाहुपाश में समेटने का प्रयास करता है। इस अवस्था में धीर वीर रघुवीर का भी चेहरा् सूख जाता है। एक एक करके जो संकट उनके मार्ग में आ खड़े हो रहे हैं, उन पर विचार, विषाद और विस्मय प्रकट करते हुए सत्यवीर राम विक्रमशाली लक्ष्मण से कहते हैंः–

कृच्छ्रात् कृच्छतरं प्राप्य दारुणं सत्यविक्रम।
व्यसनं जीवितांताय प्राप्तमप्राप्य तां प्रियाम्॥

(भैया, प्राप्य वस्तु की प्राप्ति के लिए हम वैसे ही प्रयत्नशील हैं। वह तो अभी मिली नहीं, पर संकट पर संकट अप्रत्याशित रूप से हमारे मार्ग में अवरोध उत्पन्न कर रहे हैं। अब तो हमारे प्राण ही संकट में पड़ गए।)

इस प्रकार राम और लक्ष्मण एक दूसरे को समझाते हुए, सांत्वना देते हुए और कर्त्तव्य कर्म के प्रति सजग और सक्रिय रहते हुए धीरे-धीरे कबंध की बाहों के एकदम निकट पहुँच जाते हैं और सर्वभक्षी राक्षस राजकुमारों को खाने को उद्यत हो जाता है। अविलंबित आचरण को आवश्यक समझकर दोनों भाई

तत्काल कबंध की दोनों बाहों को एक साथ अपने अपने खड्गों से विच्छिन्न कर देते हैं। दाहिनी बाँह को लक्ष्मण और बायीं बाँह को राम लगभग एक ही साथ एक ही समय काट डालते हैं तो विकराल कबंध धरती और आकाश को प्रतिध्वनित करनेवाली भयंकर ध्वनि के साथ धरती पर गिर जाता है। जैसे ही कबंध आहत होकर नीचे गिरता है, उसे अचानक एक बहुत पुरानी बात याद आ जाती है।

जीवन के प्रारम्भ काल में कबंध देखने में बहुत ही सुन्दर था। पर आसुरी प्रवृत्ति के कारण ऋषि-मुनियों को परेशान करने के लिए वह विकराल रूप धारण किया करता था। एक दिन स्थूल-शिरा नाम के ऋषि पर उसने हमला किया तो उन्होंने शाप दिया कि मनोविनोद और तापस-संत्रास के लिए तुमने जो रूप धारण किया है, वही तुम्हारा स्थायी रूप बन जाएगा। मृत्युंजय बनने का वरदान भी उसने ब्रह्मा से प्राप्त किया था। एक बार इन्द्र ने उस पर वज्राघात किया तो उसकी जाँघें और मस्तक उसके पेट में घुस गये। इस रूप में चिरकाल तक भूखा रहना कठिन था। इसलिए इन्द्र ने उसकी बाहें लम्बी बनाईं और पेट में तीखे दाढ़ोंवाला एक मुख बना दिया। इसलिए जो भी प्राणी सामने दिखाई देता है, उसे वह अपनी बाहों से अपने मुँह में खींच लेता था। स्थूलशिरा और इन्द्र दोनों ने शाप-विमोचन का उपाय बताते हुए कबंध से कहा था कि जब राम और लक्ष्मण उसकी दोनों बाहें काटकर उसे जला डालेंगे तब उसको अपना पहले का रूप प्राप्त होगा। अब अपनी बाहों को विच्छिन्न पाकर वह अनुमान लगाता है कि संभवतः राम और लक्ष्मण ही उसको शाप-मुक्त बनाने आये हैं। धरती पर लेटे-लेटे वह उन राजकुमारों का परिचय पूछता है तो उसका अनुमान सही निकलता है। शापमुक्त कबंध राम और लक्ष्मण को अपनी आंतरिक कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए कहता हैः–

स्वागतं वां नर-व्याघ्रौ दिष्टया पश्यामि वामहम्।
दिष्ट्या चेमौ निकृत्तौ मे युवाभ्यां बाहु बंधनौ॥

(हे पुरुष सिंह वीरो, आप दोनों का स्वागत है। आपके दर्शन-लाभ से मैं धन्य हो गया हूँ। मेरी दोनों भुजाएँ मेरे लिए बंधन बन कर मुझे पीड़ा पहुँचाती रहीं जिनको आप दोनों ने काट कर मेरा बहुत बड़ा उपकार किया है।)

पर शाप के सम्पूर्ण विमोचन के लिए शरीर का दाह-संस्कार भी आवश्यक है। भोग-शरीर के भस्म हो जाने पर ही इसका योग-शरीर प्रकट होगा। योग-शरीर के प्राप्त होने पर उसको भविष्यवाणी करने की क्षमता प्राप्त होगी। इसलिए वह राम से अनुरोध करता है कि जल्दी से जल्दी मेरा शरीर जला दीजिए ताकि मैं आप लोगों को आगे का मार्ग दिखा सकूँ और अच्छे मित्र का पता बता सकूँ। कबंध का यह मति-साचिव्य बड़ा विचित्र लगता है। आहत शरीर की क्षति होने पर ही उसकी अनाहत मति का प्रादुर्भाव हो सकता है, यह आसानी से समझ में आनेवाली बात नहीं है। मानव-शरीर में मूलाधार, स्वाधिष्ठान और मणिपूर के ऊपर और विशुद्धि चक्र के नीचे हृदय के सदय सदन में जो अनाहत चक्र विराजमान होता है, उसी की ओर कबंध संकेत कर रहा है। राम के अयन के छह चक्रों में प्रस्तुत प्रसंग अनाहत का द्योतक बनता है। इसीलिए आहत व्यक्ति भी अनाहत बन जाता है और आहत करनेवाले को वही आगे का रास्ता दिखाने की क्षमता भी प्राप्त करता है।

आत्मावान् राम कबंध के इस आत्म-रहस्य को अनायास पहचान लेते हैं। कबंध की इच्छा के अनुसार राम और लक्ष्मण उसके शरीर को एक पर्वत के गड्ढे में डालकर उसमें आग लगा देते हैं। चिता की आग कबंध की काया को भस्मसात् अथवा आत्मसात् कर देती है। विकराल कबंध के स्थान पर एक दिव्य रूप प्रकट होता है। अंतरिक्ष में निराधार, निर्लिप्त किन्तु निर्मल आभा से दीप्त मुख-मण्डल राम को ऐसे व्यक्ति का नाम बता देता है जो उनको सीता की खोज में सहायक बन सकता है। कबंध का वह दिव्य मुख-मण्डल यह भी बताता है कि वह व्यक्ति जिसका नाम सुग्रीव है, आपका समधर्मी है क्योंकि वह भी अपनी पत्नी के वियोग से पीड़ित है और राज्य-भ्रष्ट

है। कबंध का परामर्श राम को भी अच्छा लगता है क्योंकि दोनों भाई कुछ सहारे की तलाश में हैं और इस दशा में सुग्रीव से बढ़कर कोई सुहृद्वर नहीं हो सकता। सुग्रीव भास्कर का औरस पुत्र है और राम भी सूर्य वंश के राजकुमार हैं। इसलिए महाबली सुग्रीव से मैत्री करने का परामर्श देते हुए कबंध कहता हैः–

गच्छ शीघ्रमितो राम सुग्रीवं तं महाबलम्।
वयस्यं तं कुरु क्षिप्रमितो गत्वाद्य राघव॥

यहाँ तक रामायण के नौ हजार श्लोक समाप्त होते हैं और दशम सहस्रिका का प्रारम्भ होता है। इसीलिए कबंध बार-बार दशा भाग दशांत आदि सारगर्भित शब्दों का प्रयोग करता है। यहाँ से सचमुच रामायण की दिशा में एक नई दशा का प्रारम्भ होता है। इसीलिए कबंध इस नई दशा का दिशा – दर्शन कराते हुए राम से कहता हैः–

एष राम शिवः पंथा यत्रैते पुष्पिता द्रुमाः।
प्रतीची दिशमाश्रित्य प्रकाशंते मनोरमाः॥

(श्रीराम, सामने का यह पश्चिमी मार्ग आपके लिए मंगलमय सिद्ध होगा। इस मार्ग में सर्वत्र प्रफुल्ल तथा मनोरम प्रसून आपके मन को प्रसन्न रखेंगे।)

इसके बाद क्रौंचारण्य से लेकर पंपा सरोवर तक का जो मधुमय मार्ग है, उसका सजग, सजीव और रसात्मक वर्णन कबंध अपनी दिव्य काया का आश्रय लेकर दिव्यात्मा राम के सामने प्रस्तुत करता है। सहृदय, हृदयज्ञ और विज्ञ पाठक बड़ी सुगमता से समझ सकते हैं कि नाना प्रकार के वृक्षों, फलों, फूलों, सरों, सरोवरों, तटों, तटवर्ती उपवनों आदि का मनोरम वर्णन पार्थिव शरीर के अंतरंग की उसी परम रमणीयता की ओर संकेत करता है जो हृदय से लेकर कंठ (कबंध से लेकर सुग्रीव) तक परिव्याप्त है। पंपा का पानी कितना मीठा होता है, पानी के भीतर की मछलियाँ कितनी चमकीली होती हैं, पानी से निकले कमल कितने कोमल होते हैं, पानी के किनारे विचरनेवाले पक्षी कितने भोले-भाले होते हैं, पक्षियों की आवाज़ कितनी सुरीली होती है, संध्या के समय पंपा की शोभा कितनी अनुगम्य होती है और रात के सपने कितने मीठे और सच्चे होते हैं– यह सब सुनकर राम और लक्ष्मण 'मनसा' पंपा-तट पर पहुँच जाते हैं। पर बीच में मातंग वन की परिचारिका शबरी राम-तारिका की युगों से प्रतीक्षा करती बैठी है – केवल राम दर्शन की एक मात्र जीवन लालसा लिये। उसको भी देख कर पंपा तट पर अवस्थित ऋष्यमूक में सुग्रीव से मैत्री करने की मंगलमय मंत्रणा देकर कबंध अपनी दिव्यता में विलीन हो जाता है।

अब राम का अयन धीरे-धीरे प्रशस्त पथ की ओर अग्रसर होता – सा दिखाई देता है। जटायु का नाम-संकेत और कबंध का स्वस्त्ययन इस प्रशस्त पथ को प्रदीप्त करते हैं। ज्वाल-माला से आकुल प्रतीत होनेवाले किसी महान् आयतन की ओर ही ये सब लक्षण संकेत करते – से प्रतीत होते हैं जिस पर राम और लक्ष्मण की दृष्टि केन्द्रित है।

"ज्वालमालाकुलं भाति विश्वस्यायतनं महत्"



40. चारुभाषिणी श्रमणी शबरी

रामायण में राम के अयन की रमणीय योजना की सबसे विस्मयकारिणी विशेषता यह है कि इस अयन की सूचना आयनकार को उतनी नहीं होती जितनी कि उन अरण्यवासी ऋषि-मुनियों को होती है जो अयनकार के अभियान तथा आगमन की आतुर प्रतीक्षा में रहते हैं। महर्षि भरद्वाज से मार्ग-दर्शन पाकर जिस क्षण सीता, राम और लक्ष्मण चित्रकूट पहुँच जाते हैं, उसी क्षण दंडक वन के समस्त मुनि-समाज को इसकी सूचना मिल जाती है। इतना ही नहीं, आगे चलकर राम का आयन किस दिशा में अग्रसर होनेवाला है और कहाँ-कहाँ पर किन-किन से उनका समागम होनेवाला है, इसका भी उनको आभास मिल जाता है। तभी तो शरभंग, सुतीक्ष्ण, अगस्त्य आदि महामुनि राम के आगमन की प्रतीक्षा में बैठे थे और उनका स्वागत सत्कार करके अपने को कृतकृत्य मान रहे थे। शरभंग तो अपनी परम पद की यात्रा को भी रुकवा कर राम के सान्निध्य का आनन्द प्राप्त करने के लिए अपने आश्रम में बैठकर राम का नाम जपते रहते हैं।

इन सब घटनाओं से स्पष्ट होता है कि चित्रकूट ने ऋष्यमूक तक दूर-संचार का कोई दुर्बोध माध्यम इन ऋषि-मुनियों ने संगठित कर रखा था जो सबके भीतर के बेतार-तार से जुड़ा हुआ है। यही आंतरिक संचार-माध्यम पंपा सर के पश्चिम तट तक परिव्याप्त प्रतीत होता है जब वहाँ की निवासिनी तापसी शबरी राम से कहती हैं:—

चित्रकूटं त्वयि प्राप्ते विमानैरतुलप्रभैः।
इतस्ते दिवमारूढा यानहं पर्यचारिषम्।।
तैश्चाहमुक्ता धर्मज्ञैर्महाभागैर्महर्षिभिः।
आगमिष्यति ते रामः सुपुण्यमिममाश्रमम्।।

जिस समय राम चित्रकूट पहुँचे, उसी समय पंपा-सरोवर के पश्चिम तट पर विराजमान मतंग महावन के महर्षियों ने दिव्य कांति से सुशोभित विमानों पर बैठकर दिव्य लोकों के लिए प्रस्थान किया था। पर जाते समय उन्होंने अपनी सेवा-शुश्रूषा में आजीवन तत्पर परिचारिका शबरी को बता दिया था कि इस परम पवित्र आश्रम में परम पावन राम अपने भाई लक्ष्मण के साथ एक दिन पदार्पण करेंगे। उन्होंने यह भी कहा था कि अत्यन्त दुर्लभ अतिथि राम का आदर-सत्कार करने से शबरी को अक्षय पुण्यलोक प्राप्त होंगे।

मतंग वन के महर्षियों के इस अमोघ आदेश को शिरसा धारण कर आश्रमवासिनी शबरी राम की एकांत भावना में निमीलित होते हुए भी प्रतीक्षा की सुतीक्ष्णता से अनिमीलित प्रतीत होनेवाले प्रज्ञा-नेत्रों से प्राज्ञ राम की पल-पल प्रतीक्षा कर रही थी। अंततः वह सुदिन आ ही जाता है। दस-बारह वर्षों से निरन्तर प्रतीक्षित वह विलक्षण क्षण श्रमणी शबरी के लिए महाकाल का महालय बन जाता है। पंपा के पश्चिम तट पर सुन्दर तपोवन देखकर राम और लक्ष्मण भी कबंध के बताए मार्ग में तपस्विनी शबरी की राम-तापिनी दृष्टि को अनायास पहचान लेते हैं। शबरी का रमणीय आश्रम दृष्टि मात्र से राम को आकृष्ट कर लेता है। सिद्ध योगिनी श्रमणी दूर से ही राम और लक्ष्मण को दृष्टिगत कर लेती है और अंजलि की मुद्रा में उनके पास पहुँच

कर उनके चरणों में प्रणाम कर लेती है। उसके बाद वह गुरूजनों के आदेश के अनुसार अर्घ्य, पाद्य और आचमनीय से उनका विधिवत् स्वागत-सत्कार करती है। शबरी राम को देखती है और राम शबरी को देखते हैं तो दोनों को लक्ष्मण देखते रहते हैं। पर कोई किसी से कुछ नहीं कहता। थोड़ी देर के बाद पूर्वभाषी राम चारुभाषिणी शबरी से प्रसन्न मुद्रा में परिपृच्छा के स्वर में कहते हैंः—

कच्चित् ते निर्जिता विघ्नः कच्चित् ते वर्धते तपः।
कच्चित् ते नियतः कोप आहारश्च तपोधने॥
कच्चित् ते नियमाः प्राप्ताः कच्चित् ते मनसः सुखम्।
कच्चित् ते गुरुशुश्रूषा सफला चारुभाषिणि॥

(तपोधने ! तुम्हारी तपश्चर्या में निरन्तर जो विघ्न बाधाएँ आती हैं, उन पर तुमने क्या पूरा नियंत्रण प्राप्त कर लिया है? तुम्हारी तपस्या किसी रुकावट के बिना आगे बढ़ रही है न? तुम्हारा क्रोध तुम्हारे स्वाधीन है न? अन्न, पान, आचार-विचार, यम-नियम सब व्यवस्थित रूप से चल रहे हैं न? तुम्हारा मन प्रसन्न है न? गुरुजनों की जो सेवा शुश्रूषा तुमने की है, वह सब सफल है न? सुना है, तुम्हारी बोली बहुत मीठी होती है। बोलो, सब कुशल मंगल है न?)

सिद्ध सम्मता वृद्धा माता शबरी राम के एक-एक अक्षर को अक्षय रसायन समझकर अघा-अघा कर पी रही है। राम के सामने खड़ी होकर वह राम के रूप को निहार रही है और राम की बात को मन-ही-मन सराह रही है। जैसा रूप वैसी वाणी – फिर भी वह साधारण परिचारिणी को चारुभाषिणी कहकर सम्बोधित कर रहे हैं। शबरी का मन पुलक उठता है। वह कहती हैः—

अद्य प्राप्ता तपः सिद्धिस्तव संदर्शनान्मया।
अद्य मे सफलं जन्म गुरवश्च सुपूजिताः॥
अद्य मे सफलं तप्तं स्वर्गश्चैव भविष्यति।
त्वयि देववरे राम पूजिते पुरुषर्षभ॥

(आज मेरी तपस्या सफल हुई, आज मुझे अपनी साधना में सिद्धि प्राप्त हो गई। तुम्हारे दर्शन से मेरा जन्म सफल हुआ। अपने गुरुजनों की मैंने आजीवन जो सेवा शुश्रूषा की है, उसका फल मुझे आज मिला है। तुम देवताओं में श्रेष्ठ देवता हो और तुम्हारी अर्चना, आराधना पूजा और परिचर्या करने का मुझे यह जो अवसर प्राप्त हुआ है, वही मेरे लिए स्वर्ग है।)

जब शबरी के मुँह से ये शब्द निकलते हैं तो प्रत्येक शब्द को राम बड़े प्रेम से निरखते हैं और शब्द-सौष्ठव को सुभाषित बनानेवाले अर्थ-गौरव को आत्मसात् कर आनन्दित होते हैं। शबरी की बात सुनते समय जब राम की दृष्टि उसके पार्थिव शरीर को अभिषिक्त करती है तो उसको ऐसा लगता है कि सत्यपराक्रम राम के सौम्य नयनों के रम्य वीक्षण से उसका जीवन पावन बन गया है। उसके लिए यह नयनाभिषेक अक्षय लोक प्रदान करनेवाला अमोघ अनुग्रह बन जाता है। इसी बात को वह और भी अधिक सारगर्भित शब्दों में कहती हैः—

तवाहं चक्षुषा सौम्य पूता सौम्येन मानद।
गमिष्याम्यक्षयांल्लोकांस्त्वत् प्रसादादरिंदम॥

सोमवत् (चंद्रमा की भांति) प्रिय दर्शन राम का सौम्य होना स्वाभाविक है। शबरी की वाग्विभूति को तत्परता से सुनने और सराहने में राम की उदारता उनको "मानद" बना देती है। अपने को अकिंचन मानकर दूसरों को यथोचित मान प्रदान करनेवाले सुशील और शालीन सज्जन को "मानद" कहा जाता है। यही मानद महनीयता शबरी को राम में दिखाई देती है क्योंकि पूर्वभाषी, मितभाषी और स्मित भाषी राम शबरी को देखते ही उसको 'चारुभाषिणी' कह कर सम्बोधित करते हैं। वास्तव में शबरी की यही हृदग्र-हर्षिणी वाणी हृदयज्ञ राम को मतंग वन में ले आती है। पंपा सरोवर के पश्चिम तट पर मतंग वन के महर्षियों की परिचर्या करनेवाली यह मातंग कन्या मानव जीवन को मुखरित करनेवाली मधुर मनोहर वाणी की मंजुलता की ही उपासिका है। यह उपासना राम के दर्शन, श्रवण और अभिनन्दन से सार्थक और सफल बन जाती है।

कुशल-प्रश्न की तरह प्रतीत होनेवाली इस वाङ्मय भूमिका के पश्चात् शबरी राम के आतिथ्य के

लिए युग युग से संचित विविध वन्य पदार्थों को राम के सामने रख कर कहती हैः—

मया तु संचितं वन्यं विविधं पुरुषर्षभ।
तवार्थे पुरुषव्याघ्र पंपायास्तीरसंभवम्॥

इसी आतिथ्य को लेकर शबरी की महिमा सारे संसार में बहुचर्चित हो चुकी है। इस वन्य सामग्री में – नाना प्रकार के कंद, मूल, फल और अन्य खाद्य पदार्थ अवश्य होगें, पर शबरी के भावुक भक्तों ने इस थाली में जूठे बेर भी जोड़ दिये हैं। वाक्यविशारद वाल्मीकि ने केवल 'वन्य' शब्द से सारा 'कथ्य' कह दिया है। संसार की समस्त वाक्-संपदा ही यह 'वन्य' है जिसको चारुभाषिणी शबरी स्मितभाषी राम को सर्वात्मना समर्पित करती है। इस उपहार को राम किस रूप में ग्रहण करते हैं, इसको भी ध्यान से समझने की आवश्कता है। धर्मात्मा राम से शबरी जब आतिथ्य की बात कहती है तब राम का ध्यान रसना (जीभ) की अपेक्षा रस (परम तत्त्व) पर अधिक केन्द्रित होता है। रसना (जीभ) से दो काम होते हैं — खाने-पीने की वस्तुओं का स्वाद लेना और स्वादिष्ट वचन कहना। राम का ध्यान दूसरे तत्त्व पर अपेक्षाकृत अधिक आकृष्ट है। तभी तो धर्मात्मा राम विज्ञान के विषय में कभी भी अपने को बहिरंग न माननेवाली अंतरंगिणी शबरी से कहते हैंः—

दनोः सकाशात् तत्त्वेन प्रभवं ते महात्मनाम्।
श्रुतं प्रत्यक्षमिच्छामि संद्रष्टुं यदि मन्यसे॥

(कबंध ने इस मतंग-वन के महर्षियों के संबंध में बहुत-सी बातें बताई हैं जो पाँच भौतिक जगत् के प्रभव और विभव का तात्त्विक विवेचन प्रस्तुत करती हैं। मैंने जो कुछ सुना है, यदि कोई आपत्ति नहीं है, तो उसे मैं देखना चाहूँगा।)

राम ने यह बात एक विशिष्ट मनोभूमिका पर पहुँच कर कही है, लौकिक भाव-भूमिका से नहीं। शबरी की बातें सुनकर उनकी दृष्टि वन्य से वन की ओर जाती है, कार्य से कारण की ओर जाती है और अन्न से विज्ञान की ओर जाती है। तभी तो वाल्मीकि कहते हैं— "राघवः प्राह विज्ञाने तां नित्यम्अबहिष्कृताम्"। राम ने जो कुछ कहा, वह विज्ञान की विशोका भूमिका पर पहुँच कर कहा और उस व्यक्ति से कहा जो कभी भी, किसी भी क्षण, उस भूमिका से न नीचे उतरती है और न बाहर चलती है। नित्य निरन्तर विज्ञान की विशुद्ध भाव भूमिका में विचरण करनेवाली श्रमणी के रूप में शबरी यहाँ प्रकट होती है और उसी रूप में राम उनको संबोधित भी करते हैं। मानव-चेतना के पाँच कोशों में विज्ञान चौथा कोश है जिसके नीचे अन्नमय कोश, प्राणमय कोश और मनोमय कोश हैं और जिसके ऊपर आनन्दमय कोश विराजमान होता है। अब विज्ञानमय कोश में स्थित होकर राम शबरी से बात कर रहे हैं और शबरी तत्काल राम की जिज्ञासा का रहस्य समझ लेती है। जैसे ही राम के मुखारविन्द से यह बात निकलती है, वह दोनों भाइयों को 'तद्वन' का विभव दिखाने को ले चलती है।

यहाँ पर 'तद्वन' शब्द भी विशेष ध्यान देने योग्य है। परमानन्दमय परब्रह्म परमात्मा को उपनिषद्-भाषा में 'तद्वन' कहा जाता है जो समस्त प्राणियों का परम गम्य है। आनन्द घन रूपी उस वन का वर्णन केनोपनिषद् का एक मंत्र इस प्रकार प्रस्तुत करता हैः—

तद्ध तद्वनं नाम तद्वनमित्युपासितव्यं।
स य एतदेवं वेदाभिहैनं सर्वाणिभूतानि संवांछंति॥

(परमात्मा का वह परम कल्याणमय सदन 'तद्वन' की संज्ञा से अभिहित होता है और उसी रूप में उसकी उपासना करनी है। जो लोग उस परमानन्दमय परमगम्य परायण को जानते हैं उनके लिए संसार के समस्त प्राणी परम प्रिय लगते हैं क्योंकि सबका ध्येय, प्रेय और श्रेय वही है।)

उपनिषद् के इस वर्णन को ध्यान में रखकर शबरी का वर्णन पढ़ने से पता चलता है कि शबरी द्वारा जीवन भर नियम, निष्ठा और तत्परता के साथ संसेवित मतंग-वन वही 'तद्वन' है जिसका उपनिषद् ने उपास्य या उपासितव्य बताया है। दोनों वन महान् हैं।

इसीलिए वाल्मीकि कहते हैं:—

शबरी दर्शयामास तावुभौ तद्वनं महत्॥

शबरी ने दोनों राजकुमारों को जो वन (मतंग वन) दिखाया था, वह औपनिषदिक "तद्वन" की भांति महनीय है क्योंकि इस वन को महान् तपस्वियों ने आवासित किया था। तपस्वियों की महती साधना से महिमान्वित मतंग वन का वैभव दिखाते हुए चारुभाषिणी शबरी कहती है:—

इह ते भावितात्मानो गुरवो मे महाद्युते।
जुहवां चक्रिरे नीडं मंत्रवन्मंत्रपूजितम्॥

(महातेजस्वी राम, यह वही महद्वन है जहाँ पर मेरे परम आदरणीय गुरुजनों ने अपने मंत्रपूत उच्चारण से अपने शरीर रूपी पंजर को मंत्रवत् बना दिया है और उसी मंत्रोच्चारण पूर्वक अग्नि में उसको होम कर दिया है।)

दंडक वन में ऋषि-मुनियों की मांत्रिक महत्ता का उज्ज्वल स्वरूप मतंग वन के महर्षियों में देखा जा सकता है। वैसे कोई भी तपःपूत ऋषि पावक (अग्निहोत्र) के समान पावन होता है और मतंग वन के महर्षि तो इस पावनता की पराकाष्ठा के परिचायक हैं। उनकी महिमा का वर्णन करते करते शबरी सात्विक भक्तिभावना से गद्गद बन जाती है और आत्माराम राम आत्मविभोर बन जाते हैं। वे लोग कहाँ स्नान किया करते थे, कैसे अपने कपड़े सुखाते थे, कैसे पूजा के लिए फूल चुन-चुन कर काँपते हाथों से प्रत्यक् स्थली नाम की वेदी पर नियमित रूप से नित्य चढ़ाया करते थे, कैसे अपने दिव्य तेज से आज भी आश्रम के अणु अणु को आलोकित कर रहे हैं, कैसे उनकी गूँथी हुए पुष्प मालाएँ आज भी अम्लान और सुगन्धित दिखाई दे रही हैं और कैसे उनके संकल्प मात्र से सातों समुद्रों का जल उनके सामने प्रकट होता था, यह सब सुनकर राम चकित हो जाते हैं। उनके मुँह से अनायास 'आश्चर्यम्' शब्द निकलता है। राम के इस आश्चर्यवाचक कथन का एक और कारण है। वह है—शबरी की समर्पण भावना। शबरी के जीवन की एकमात्र लालसा थी – गुरुजनों की सेवा-शुश्रूषा। वह अपने को साधिका, आराधिका, तापसी आदि कुछ नहीं कहती। अपने को वह केवल परिचारिका मानती है और अपनी परिचर्या के फलस्वरूप ही वह राम के दर्शन को पाकर उसी में अपने जीवन को प्रतिफलित देखती है। इस आत्मयोगिनी की आत्मनिरति के सामने आत्मवान् राम महात्माओं की महती साधना को भी नगण्य समझते हैं। इसीलिए उनके मुँह से 'आश्चर्य' शब्द निकलता है। आश्चर्य शब्द का उच्चारण करते समय राम जिस प्रसन्नता का अनुभव करते हैं, उसकी कोई उपमा या तुलना नहीं हो सकती। इसीलिए वाल्मीकि कहते हैं—"प्रहर्षमतुलं लेभे आश्चर्यमिति चाब्रवीत्"।

यह प्रसंग अपने आप में आश्चर्यजनक है। श्रमजीवी समाज की साधारण परिचारिका सेवा-शुश्रूषा, सत्य-निष्ठा और जिज्ञासा के बल पर धर्म-संस्थिता, धर्म-निपुणा, सिद्ध-योगिनी, सिद्ध-सम्मता और चारुभाषिणी बन गई है, यह भी कम आश्चर्य की बात नहीं है। इतना ही नहीं, परिचारिणी परिषेवित तपस्वियों से भी एक कदम आगे बढ़ गई है क्योंकि मतंग वन के महर्षियों के परलोक के लिए प्रस्थान करने के बाद भी वह अपनी इच्छाशक्ति के बल पर राम-दर्शन तक प्राण धारण कर सकी है। दंडक में असुरों के आतंक से त्रस्त और सीता-विरह के शोक से तप्त दशरथनन्दन राम को वह अपने आश्रम में बिठाकर विश्राम दे सकी— भौतिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक तीनों दृष्टियों से। इन सबसे बढ़कर आश्चर्य की बात यह है कि दंडक और ऋष्यमूक की सीमा-रेखा पर पंपा सरोवर के पश्चिम तट पर यह सारी घटना घटती है। घटना अत्यंत साधारण है, पर इसकी गहराई में पैठकर विचार करने से पता चलता है कि यह रामायण की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना है। इस बात की पुष्टि करते हैं आश्रम-दर्शन से संतुष्ट राम के ये उद्गार जो कि उनके भाई लक्ष्मण के प्रति संबोधित हैं:—

दृष्टो मयाश्रमः सौम्य बह्वाश्चर्यः कृतात्मनाम्।
विश्वस्त मृग-शार्दूलो नाना-विहग-सेवितः॥

सप्तानां च समुद्राणां तेषां तीर्थेषु लक्ष्मण।
उपस्पृष्टं च विधिवत् पितरश्चापि तर्पिताः॥
प्रणष्टमशुभं यन्नः कल्याणं समुपस्थितम्।
तेन त्वेतत् प्रहृष्टं मे मनो लक्ष्मण संप्रति॥

(सौम्य लक्ष्मण, अनेक आश्चर्यजनक दृश्यों तथा घटनाओं से युक्त यह आश्रम मैंने देखा है। यहाँ पर हरिण और बाघ मिल जुल कर रहते हैं। यहाँ के महर्षि पूतात्मा हैं। नाना प्रकार के पक्षी इस आश्रम को अपने कल-कल नाद से निनादित करते हैं। सातों समुद्रों का जल यहाँ पर समवेत है जिसमें स्नान कर हमने अपना सारा ताप मिटा लिया। पितरों का तर्पण भी विधिवत् सम्पन्न हुआ। अब लगता है कि हमारे बुरे दिन समाप्त हो गए और शुभ समय समीप आ रहा है। यह भावी कल्याण का सूचक है।)

राम के ये उद्‌गार मतंग वन को राम के अयन का संगम-स्थल सिद्ध करते हैं। उनको लगता है कि अब उनके हृदय में कोई असाधारण शुभ विचार आविर्भूत होनेवाला है। प्रियदर्शिनी पंपा के तट पर शबरी का आतिथ्य राम के मन में एक अलौकिक आनंद उत्पन्न करता है। उधर शबरी भी अपने को कृतकृत्य समझकर राम से बड़ी विनम्रता के साथ निवेदन करती है :-

कृत्स्नं वनमिदं दृष्टं श्रोतव्यं च श्रुतं त्वया।
तदिच्छाम्यभ्यनुज्ञाता त्यक्ष्याम्येतत् कलेवरम्॥

(राम, आपने यह सारा वन देख लिया और जो कुछ सुनने लायक है, वह सुन भी लिया। अब मैं आपकी आज्ञा लेकर यह पार्थिव शरीर छोड़ना चाहती हूँ।)

शबरी की इन बातों में सबसे आश्चर्य की बात यह है कि राम का काम पूरा करने में ही वह अपने जीवन की परिपूर्णता समझती है। अपने लिए उनके जीवन में न कोई कामना है और न कोई लालसा। उनकी इस निर्लिप्त भावना में गीता का यह श्लोक प्रतिश्रुत-सा प्रतीत होता है:—

विषया विनिवर्तंते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्ज्यं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥

शबरी राम के साथ बातचीत करते समय तीन बार उनको "पुरुषर्षभ" कह कर संबोधित करती है। इनके लिए राम परम पुरुष हैं, पुरुषोत्तम हैं और पुरुषर्षभ हैं। राम का काम बन गया तो उनका काम भी बन गया (अगर उनका अपना कोई काम रहा तो)। इस प्रकार अपने को राम के साथ समेकित करने में ही उसकी सायुज्य भावना निहित है। यही सायुज्य राम-सायुज्य है जो शबरी के जीवन के जन्म-साफल्य का साधक बनता है। संसार में दर्शनीय को देखना और श्रवणीय को सुनना ही नर-जीवन का परम ध्येय है और इसी परम प्रयोजन को प्राप्त करने के लिए प्राणी को प्राणों से अनुप्राणित किया जाता है। शबरी इस परम सत्य को पहचानती है। तभी वह अपने देववर राम से देवहित आयु को सार्थक बनाने के लिए पार्थिव शरीर छोड़कर अजरामर आत्म-तत्त्व में विलीन होने की अनुज्ञा माँगती है। शबरी के इस आत्म निवेदन में उपनिषद् की यह मंगल कामना ही मुखरित होती है:—

भद्रं कर्णेभिः श्रुणुयाम देवा, भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरंगैस्तुष्टुवांसस्तनूभिः व्यशेम देवहितं यदायुः॥

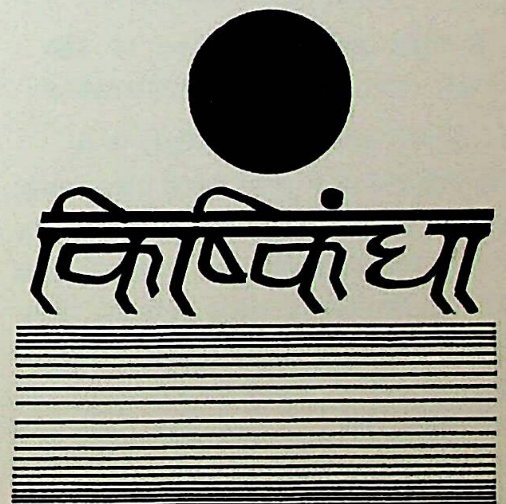
इसी उपनिषद् भावना से शबरी राम को 'देववर' कहकर संबोधित करती है और अब तक देव कार्य में समर्पित अपनी काया को अब वह आत्मार्पित करने की अनुज्ञा चाहती है। धर्मनिष्ठ राम शबरी के अंतरंग को पहचानते हैं और मंत्रपूत शब्दों में शबरी को अक्षय पुण्य लोक में प्रस्थान करने की अनुमति देते हुए कहते हैं:—

"अर्चितोऽहं त्वया भद्रे गच्छ कामं यथासुखम्॥

राम के श्रीमुख से प्रकट यह काम शब्द कितना निष्काम है, यह शबरी जानती है। राम की आज्ञा से प्राप्त काम भी राममय बन जाता है। इसी राम भावना से शबरी अपनी ही आत्मा की अनंत ज्योति में आत्मयोग से अपने को विलीन बना लेती है। दिव्य

वस्त्र, दिव्य आभरण, दिव्य हार और दिव्य शरीर से संदीप्त शबरी के अशरीरी तेज को देखकर राम और लक्ष्मण फिर एक बार "आश्चर्य" का अनुभव करते हैं और अपने भावी आचरण को ध्यान में रख कर पंपा के तट पर ऋष्यमूक की ओर अपने चरण बढ़ाते चलते हैं।




किष्किंधा



41. पंपा-तट पर पवन-समागम

दंडक वन की सीमा को पारकर पंपा-तट की ओर प्रस्थान करनेवाले कोदंडधारी राम को शबरी के आश्रम से लेकर ऋष्यमूक पर्वत तक का सारा मार्ग मंगलमय दिखाई देता है। उनका मन कहता है कि अब अमंगल के दिन समाप्त हो चुके हैं और मंगलमय क्षण समीप आ रहे हैं। इसी आंतरिक प्रसन्नता को प्रकट करते हुए वे अपने अनुज लक्ष्मण से कहते हैं:—

प्रणष्टमशुभं यन्न कल्याणं समुपस्थितम्।
तेनत्वेतत् प्रहृष्टं मे मनो लक्ष्मण संप्रति॥

(हमारा सारा अशुभ नष्ट हो चुका है। अब कल्याण का समय सन्निकट है। इसीलिए लक्ष्मण, मेरा मन अब प्रसन्न है।)

इस प्रसन्नता का आभास शाप-मुक्त कबंध के आश्वासन में ही मिलता है। प्रसन्न पुण्य सलिला, प्रिय दर्शना और शिवोदका पंपा की प्रशंसा करते हुए गंधर्व रूप कबंध कहता है— "शिवोदकं च पंपायाः दृष्ट्वा शोकं विहास्यसि" (पंपा का पुण्य तीर्थ देखने मात्र से आपका सारा शोक समाप्त हो जाएगा।) पर राम की प्रसन्नता के और भी अनेक कारण हैं। अभी-अभी उन्होंने मतंग वन के महर्षियों की महिमा का प्रत्यक्ष प्रमाण देखा है। चारुभाषिणी शबरी के आत्म निवेदन में उन्होंने भक्ति की पराकाष्ठा और संकल्प की सत्यनिष्ठा को अपनी आँखों के सामने देखा। वनवास की अवधि के लगभग तेरह वर्ष बीत चुके हैं। अब एक ही वर्ष शेष है। पर यह वर्ष चुनौती का वर्ष है। अब तक दंडक ने उनको जो अनुभव दिया है, उससे एकदम भिन्न और सबसे विशिष्ट अनुभूति इस वर्ष प्राप्त होने को है। अतीत की उपलब्धि और भविष्य की चुनौती दोनों का बार-बार स्मरण कर राम बाहर से प्रसन्न दिखाई दे रहे हैं, पर भीतर से इस चुनौती का सामना करने का उपाय सोच रहे हैं। इसलिए उनकी प्रसन्नता के पीछे विषाद की हल्की-सी रेखा भी रह-रहकर उनको विचलित करती है। प्रसन्नता इसलिए कि वनवास का अधिकांश प्रयोजन सिद्ध हो चुका है और विषाद इस बात का है कि यदि सीता समेत अयोध्या नहीं जा सके, तो यह सारा प्रयास व्यर्थ चला जाएगा।

पंपा की प्रसन्न रमणीयता प्रकृति-प्रेमी राम को प्रकृत्या रममाण बनाती है, पर सीता की स्मृति रम्य को अरम्य बना देती है। विधि का यह प्रमाद विनोद को विषाद में कैसे परिवर्तित कर रहा है, यह राम के ही शब्दों में मननीय है। विरही राम कहते हैं:—

यानि स्म रमणीयानि तया सह भवंति मे।
तान्येवारमणीयानि जायंते मे तया बिना॥

जो भी प्राकृतिक दृश्य सीतासमेत देखने में अत्यंत रमणीय दिखाई देते थे, वे ही आज प्रिया की अनुपस्थिति में अरमणीय (असुन्दर) दिखाई दे रहे हैं। वास्तव में कोई भी वस्तु अपने आपमें सुन्दर या असुन्दर नहीं होती। व्यक्ति की मनःस्थिति और परिस्थिति के अनुसार सुन्दर भी असुन्दर बन जाता है और असुन्दर भी सुन्दर। राम को अचानक याद आता है कि वस्तुतः बाह्य सौन्दर्य का क्षणिक आकर्षण ही सीता-हरण का कारण बन गया है। पंपा का शीतल

जल, मंद मंद पवन, दिल खोल कर खिले फूल, फूलों से लदे पेड़, पेड़ों पर बैठकर नाचने गाने में मस्त चिड़ियाँ, चिड़ियों को मस्ती सिखानेवाले भ्रमर—ये सभी दृश्य सीता को अत्यंत प्रिय लगनेवाले हैं। यदि इस समय साथ में सीता होती तो, राम सोचते हैं, न अयोध्या की याद आती और न स्वर्ग की इच्छा होती। आकार-विचार से कल्याणी और वाणी से कल्याणतर वादिनी सीता का राम बार-बार स्मरण करते हैं और कहते हैं:'

तच्चार्वंचित पद्माक्षं सुगंधि शुभमव्रणम्।
अपश्यतो मुखं तस्याः सीदतीव मतिर्मम॥
स्मितहास्यांतरयुतं गुणवन्मधुरं हितम्।
वैदेह्या वाक्यमतुलं कदा श्रोष्यामि लक्ष्मण॥

(सीता का सुन्दर मुखमंडल, जो कमल की तरह कोमल, सुरभिल, निर्मल और मंगलकर है, मुझे देखने को नहीं मिल रहा है, इसलिए मेरा मन उदास है। जब मेरी सीता बोलती है तो मुस्कुराहट की ओट से बोलती है, सही बात सही ढंग से बोलती है और उसकी बोली सुनने में मधुर लगती है। वह सच्ची, अच्छी, प्यारी और मीठी बोली अब मुझे कब सुनाई देगी?

राम को सबसे बड़ा दुःख इस बात का होता है कि अब तक सीता को दंडक वन के दारुण दृश्य ही देखने को मिले हैं और अब पंपा-सर जैसे मनोहर दृश्य देखने को मिल रहे हैं तो सीता साथ में नहीं है। पलभर के लिए वह सोचते हैं कि यदि पंपा के पावन पवन का सेवन सीता समेत वह कर पाते तो वे दोनों युग-युग तक जीने की संजीवनी शक्ति प्राप्त करते। पर साथ ही मन ही मन यह समाधान कर लेते हैं कि मेरा मन सीता के मन में उसी प्रकार समाविष्ट है जिस प्रकार उसका मुझ में।

मयि भावो हि वैदेह्यास्तत्त्वतो विनिवेशितः
ममासि भावः सीतायां सर्वथा विनिवेशितः॥

यह मनः संयोग केवल तात्त्विक ही नहीं, बल्कि सार्थक भी है क्योंकि पंपा सरोवर के कण-कण में राम को सीता का ही दर्शन होता है। पानी के प्रवाह में, फूलों की मुस्कान में, समीर के विहार में, मोरों के नाच में, भौरों की मस्ती में, कोयल के कूजन में और यहाँ तक कि कौए की पुकार में भी राम को सीता की कोई न कोई मुद्रा, कोई न कोई हाव-भाव, कोई न कोई लक्षण याद आता है। जब राम सीता-समेत पंचवटी में रहते थे, तब कौआ कुछ अमंगल-ध्वनि में बोलता था मानो वह भावी अनिष्ट का आभास दे रहा था। अब वही कौआ मीठी बोली बोल रहा है। इसलिए लगता है, प्राण-प्रिया वैदेही शीघ्र ही दिखाई देगी। पर वसंत, अशोक, जल-कुक्कुट आदि राम की विरह वेदना को उद्दीप्त कर रहे हैं। मोर-मोरनी और मृग-मृगी के विनोद-विहार को देखकर भी राम दुःखी हो रहे हैं, पर अपने मन में यह सोचकर अपने को आश्वस्त कर रहे हैं कि संभवतः जिस वन में सीता का हरण हुआ था, वहाँ पर ऐसा कोई मोर या हिरन नहीं था—अन्यथा ये इतनी मस्ती में घूम नहीं सकते।

पंपा के तट पर राम के लिए सबसे बड़ा आकर्षण पंपा का समीर है। कमल के केसरों का स्पर्श करते हुए एक पेड़ से दूसरे पेड़ पर छलांग मारते हुए चलनेवाली हवा में राम को सीता की निःश्वास वायु का आभास होता है (निःश्वास इव सीतायाः वाति वायुर्मनोहरः)। यही नहीं, पहाड़ की गुफाओं से निकलनेवाली सुरीली हवा पेड़-पौधों को नृत्य सिखाती है और कोकिल को स्वर का पाठ पढ़ाती है। फल भरे पौधों को हिला हिलाकर जब पवन-बाला मस्ती से आगे बढ़ती है तो उसको बिदा करने भौंरे आगे बढ़ते हैं और इस आकस्मिक आनन्द की अनुभूति प्रदान करनेवाली पवन-कुमारी को साधुवाद देते हैं। जब हवा ज़ोर से चलती है तो कुछ फूल एकदम नीचे झर जाते हैं, कुछ पेड़ पर ही टिके रहते हें और कुछ बीच में गिरते दिखाई देते हैं। इस दृश्य को देखकर ऐसा लगता है कि पवन-बाला फूलों से खेल रही है। मधुर कवि वाल्मीकि की मधुरतर पद-संपदा में यह दृश्य और भी अधिक मनोहर बन पड़ता है। श्लोक है:—

पतितैः पतमानैश्च पादपस्थैश्च मारुतः।
कुमुमैः पश्य सौमित्रे क्रीडतीव समंततः॥

पवन की यह पावन लीला पंपा-तट के प्राकृतिक सौन्दर्य को गतिशील बनाती है। वैसे वन की शोभा का आधार जल है, फूल इसकी परिणति के प्रतीक हैं, पशु-पक्षी इसके भोक्ता हैं और राम जैसे भावुक प्रेक्षक इसके अभिभावक हैं। इन सबका संयोग प्रस्तुत प्रसंग में देखा जा सकता है और सबसे अधिक ध्यान देने की बात यह है कि इन सब का आनन्द लेने के लिए पवन की पावनता सबसे अधिक आवश्यक है। वन में जीवन लानेवाला पवन ही जल की शीतलता और जलज की कोमलता का सार लेकर समस्त वायुमंडल को पावन और सुरभिल बना देता है। इसी परम तत्त्व की ओर मार्मिक संकेत करते हुए पवनमान सूक्त के परमार्थविद् राम कहते हैं:—

स एव सुख संस्पर्शो वाति चंदनशीतलः।
गंधमध्यवहन् पुण्यं श्रमापनयनोऽनिलः॥

पंपा-तट पर प्रवहमान पवन की विशेषता यह है कि वह साधारण गुंधवह नहीं है, पुण्य गंध का वहन करनेवाला विशिष्ट पवन है। सीता की खोज में लगे हुए राम को इसी पवन में शोक-विनाशक शिव-तत्त्व और क्षोभ-निवारक शुभ-तत्त्व दिखाई देते हैं। तभी तो उनका मन चाहता है कि यहीं पर, इस सुन्दर पर्वत पर, सीता को देखकर अपने को आश्वस्त बना लूँ (पश्येयं यदि तां कांतां ततः स्वस्ति भवेन्मम)। यह स्वस्ति-कामना चाहे कितने ही प्रशस्त हृदय से और कितने ही प्रशांत क्षणों में उदित हुई हो, इसको वास्तविकता में बदलने के लिए केवल पवन सक्षम नहीं बनता, बल्कि पवन-कुमार की आवश्यकता पड़ती है। पवन-कुमार के माध्यम से ही राम को सीता दर्शन का समाचार इसी स्थान पर प्राप्त होनेवाला है, इसका आभास राम की इस सात्विक आकांक्षा में मिलता है।

इस प्रसंग में एक विचित्र बात यह है कि कबंध ने केवल सुग्रीव की बात कहीं थी, पवन-तनय हनुमान् का उसमें कोई उल्लेख नहीं था। पर वास्तव में दशरथ-नन्दन राम के साथ प्रथम समागम पवन-तनय हनुमान् का ही होता है, सुग्रीव का बाद में होता है। इससे भी विचित्र बात यह है कि प्रथम समागम में राम हनुमान की बात केवल सुनते रहते हैं – प्रेम और आदर के साथ। पर बातचीत होती है – लक्ष्मण और हनुमान के बीच। इस अवसर पर राम और सुग्रीव का तटस्थ रहना कुछ अजीब-सा लगता है जबकि राम और सुग्रीव की मैत्री ही इस समागम का फलागम है। राम केवल द्रष्टा की भूमिका निभाते हैं और सुग्रीव उपद्रष्टा बन कर आशंकित और त्रस्त मन से सब कुछ देखते रहते हैं। शरचापधारी राम और लक्ष्मण को देखकर सुग्रीव के मन में इतना भय छा जाता है कि वह अपने सभी सचिवों को बुलाकर उनसे परामर्श लेते हैं कि अब क्या करना चाहिए। उनको लगता है कि दुष्ट वालि ने इन दोनों राजकुमारों को छद्मवेष में उनके विरुद्ध लड़ने के लिए भेजा है। पर हनुमान् सुग्रीव के प्रधान सचिव के रूप में उनके इस संदेह का एकदम निराकरण करते हैं और अपने स्वामी की आज्ञा को शिरोधार्य मानकर राम और लक्ष्मण से मिलकर बातचीत करने के लिए चल पड़ते हैं। सुग्रीव को हनुमान पर भी विश्वास नहीं होता। इसलिए वह उनसे कहते हैं कि मेरी तरफ मुँह करके राजकुमारों से बात करना।

इधर राम के मन में भी आशा-निराशा आँख मिचौनी खेलती-सी प्रतीत होती है। वनवास के इस अंतिम वर्ष की चुनौती का सामना करके क्या मैं सचमुच कृतकृत्य बन सकूँगा? क्या कबंध के कथन के अनुसार सुग्रीव से मैत्री होगी? सीता को राक्षस-नगरी लंका से सुरक्षित वापस पा सकूँगा? आदि अनेक शंकाएँ राम को भी आतंकित कर देती हैं। किन्तु वसन्त का प्रसन्न वातावरण, पंपा का पावन वायु मंडल, मतंग वन की महिमामयी शोभा की मन-मोहक स्मृति, शबरी की ममता और सबसे बढ़कर सौजन्य की शरीर मूर्ति सौमित्रि की सौहार्दपूर्ण आर्द्रता – सबका संबल राम का मनोबल बढ़ाने में समर्थ होता है। इसीलिए दंडक वन की सीमा को पार कर पंपा के तट पर पहुँचते ही सीताराम आत्माराम बन जाते हैं। भैया राम की इसी आत्मवत्ता की ओर संकेत करते हुए

आत्मनिष्ठ लक्ष्मण कहते हैं– "कृतात्मानं महात्मानं आत्मानं नाववुध्यसे" (तुम्हारी आत्मा कितनी महान् है, उससे कौन कौन से महान् कार्य सम्पन्न हो सकते हैं, भैया, आप स्वयं समझ नहीं पा रहे हैं।) लक्ष्मण का यह वाक्य राम को कृतकृत्यता का अनुभव कराता है और वह शोक-मुक्त होकर अपने अयन के अगले चरण की आश्वस्त प्रतीक्षा करते हैं। ठीक इसी समय, पवन-तनय हनुमान सुग्रीव का संदेश लेकर सामने उपस्थित होते हैं।

हरिपुंगव हनुमान भिक्षुरूप धारण कर राम और लक्ष्मण के सामने अपनी विनयांजलि अर्पित करते हैं। राम और लक्ष्मण की दिव्यता को हनुमान पलभर में पहचान लेते हैं जबकि संशयात्मा सुग्रीव पग-पग पर फूँक-फूक कर आगे कदम बढ़ाते हैं। हनुमान् इंगितज्ञ हैं और सुग्रीव कृतज्ञ हैं। इंगित के साथ-साथ पद-निधि को पहचान कर प्रसंग के अनुसार उपयुक्त पद-विधि का प्रयोग करने में पटु वाक्य-विशारद हनुमान अपनी बातचीत के माध्यम से ही राम और लक्ष्मण का मन मोह लेते हैं। पहले वह राजकुमारों की लोकोत्तर रूप माधुरी और प्रसन्न मुख-मुद्रा की प्रशंसा करते हैं। पंपा के तट पर पंपा के जल की शोभा बढ़ाते हुए, पेड़-पौधों की प्राकृतिक लीला देखते हुए, पशु-पक्षियों के आमोद-प्रमोद की सराहना करते हुए और आस-पास के प्राणियों के अंतरंग में आतंक, आदर और आत्मीयता को एक साथ उपजाते हुए ऋष्यमूक की ओर बढ़नेवाले आप कौन हैं–यह जिज्ञासा बड़ी सावधानी के साथ हनुमान् के मुँह से प्रकट होती है। इतनी भूमिका बाँधने के बावजूद राम और लक्ष्मण को निरुत्तर पाकर हनुमान पूछते हैं– "एवं मां परिभाषतं कस्माद् वै नाभिभाषतः?" फिर भी राम और लक्ष्मण प्रसन्न मुख-मुद्रा में सब कुछ सुनते रहते हैं, कुछ जवाब नहीं देते। संभवतः वे हनुमान् के मुँह से और कुछ सुनना चाहते हैं। इस इंगित को समझकर हनुमान् अपने स्वामी सुग्रीव की बात कहते हैं।

सुग्रीव ने हनुमान् को केवल इतना ही कहा था कि दोनों राजकुमारों के आशय को समझकर उनसे बात की जाए। उनसे मैत्री का प्रस्ताव सुग्रीव ने नहीं रखा था। पर हनुमान् अपनी तरफ से यह प्रसंगोचित प्रस्ताव प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि मेरे स्वामी सुग्रीव आप दोनों से मैत्री चाहते हैं। इस पर राम बहुत प्रसन्न होते हैं–इसलिए नहीं कि उनका काम बन गया। राम को प्रसन्न और प्रभावित करनेवाली बात हनुमान् का संदेश नहीं है, पर संदेश का संविधान है। कथ्य से कथन की ओर राम विशेष ध्यान देते हैं। जिस ढंग से हनुमान ने अपनी बात अपने अभ्यागतों के सामने रखी है, उस कला पर राम मुग्ध हो जाते हैं और कहते हैंः–

नानृग्वेद विनीतस्य नायजुर्वेदधारिणः।
नासामवेद विदुषः शक्यमेवं विभाषितुम्॥

(जो व्यक्ति ऋग्वेद की विनम्रता से विभूषित नहीं है, यजुर्वेद की धारणा से प्रेरित नहीं है और सामवेद की विद्वत्ता से विनम्र नहीं है, वह इस प्रकार बात नहीं कर सकता।)

हनुमान की वाग्विदग्धता की प्रशंसा करते हुए राम आगे कहते हैंः–

अविस्तरमसंदिग्धमविलंबितमव्ययम्।
उच्चारयति कल्याणीं वाचं हृदयहर्षिणीम्॥

(हृदय में हर्ष का उदय करानेवाली इनकी वाणी चिरकाल तक जीवित रहनेवाली कल्याणी वाणी है। इसमें कहीं कोई अनावश्यक विस्तार नहीं है। अर्थ-बोध में कहीं संदिग्धता नहीं है, अभिव्यंजना की धारा में कहीं रुकावट नहीं है और कहीं किसी शब्द का निरर्थक प्रयोग नहीं है।)

ध्यान देने की बात है कि ये सब बातें राम लक्ष्मण से कहते हैं, हनुमान् से नहीं। लक्ष्मण ही हनुमान् की जिज्ञासा का समाधान करते हुए कहते हैं।–

यथा ब्रवीषि हनुमन् सुग्रीव वचनादिह।
तत् तथा हि करिष्यावो वचनात् तव सत्तम॥

(हे सज्जन-शिरोमणि हनुमन्, सुग्रीव की तरफ से

आपने हमारे सामने जो बात कही है, वह हमारे लिए मान्य है। हम वैसा ही करेंगे जैसा आप लोग चाहते हैं।)

लक्ष्मण 'और हनुमान के संवाद से इस बात का स्पष्ट प्रमाण मिलता है कि जैसा सचिव सुग्रीव को हनुमान के रूप में मिला है, वैसा ही अनुज राम को लक्ष्मण के रूप में मिला है। दोनों गुणज्ञ हैं, हृदयज्ञ हैं और वाक्यज्ञ हैं। दोनों का वाङ्मय संगम दशरथ-नन्दन राम और सूर्यपुत्र सुग्रीव के बीच मैत्री के मंगलमय सूत्र का आधार बनता है। पंपा-तट पर पवन-समागम का परमार्थ यही है।



42. रघुपति से रवि-सुत की मैत्री

सूर्य-पुत्र सुग्रीव के संकेत पर पवन-तनय हनुमान् मैत्री का संदेश लेकर दशरथ-नन्दन राम के पास पहुँचते हैं तो मुख-मुद्रा को देखकर भाव-समुद्र को पहचानने में पारंगत राम पल भर में समझ लेते हैं कि अब काम बन गया है। जिस स्वामी का सचिव इतनी सहज, सरस, सात्विक, सार्थक और सारगर्भित वाणी में अपनी बात कह सकता है, उसके भाग्य को सराहते हुए रघुवीर अपने भाई लक्ष्मण से अपनी आंतरिक प्रसन्नता प्रकट करते हैं। इसी प्रसन्नता से प्रतिच्छायित निर्मल मन से सुमित्रा-नन्दन समानधर्मी राम और सुग्रीव की सुखद मित्रता की सहज संभाव्यता की ओर संकेतं करते हैं तो पवन-पुत्र पुलक उठते हैं और उनका मन तत्काल सुग्रीव के पास पहुँच जाता है। जिस सुग्रीव की खोज में राम और लक्ष्मण पंपा तट से पर्वत की ओर अग्रसर होते हैं, वही अपने कार्यसाधक सचिव को नवागत के मनोगत से अवगत होकर यथोचित व्यवहार करने के लिए भेजते हैं। शांतिदूत हनुमान् को जब पता चलता है कि दोनों राजकुमार सुग्रीव से मैत्री करने ही आ रहे हैं तो उनके आनन्द का अतिरेक स्वाभाविक है। शीघ्रातिशीघ्र वह अपने स्वामी सुग्रीव से मिल कर यह शुभ समाचार सुनाना चाहते हैं।

इस प्रसंग की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि राम मुक्त कंठ से हनुमान् की प्रशंसा तो करते हैं पर सीधे उनसे बात नहीं करते। वह अपनी बात लक्ष्मण से कहते हैं और लक्ष्मण उनके मन की बात हनुमान् तक पहुँचाते हैं। पर हनुमान् अपनी सारी बातें राम को संबोधित करके ही कहते हैं और उन्हीं से उत्तर की अपेक्षा भी रखते हैं। जब हनुमान् का मन बिल्कुल आश्वस्त हो जाता है कि राम स्वयं अपने ही किसी प्रयोजन से सुग्रीव के पास आ रहे हैं तो सुग्रीव का प्रयोजन अपने आप सिद्ध हो जाएगा तब हनुमान् राम के मुँह से ही वह प्रयोजन जानने की इच्छा से पूछते हैं:—

किमंर्थं त्वंवनं घोरं पंपा-कानन-मंडितम्।
आगतः सानुजो दुर्गं नाना-व्यालमृगायुतम्॥

(पंपा-सरोवर के परिसर में फैला हुआ यह सारा वन बहुत ही भयंकर और दुर्गम है। यहाँ पर नाना प्रकार के हिंसक जंतु निवास करते हैं। आप अपने भाई के साथ इस वन में किस लिए आए हैं?।

इस सीधे सवाल का जवाब भी राम सीधे नहीं देते, राम के संकेत पर लक्ष्मण ही सारी राम कहानी सुनाते हैं। जब राम से प्रेरित लक्ष्मण अपने भाई की दयनीयता और महनीयता को विस्तार से समझाते हैं तब वाक्यज्ञ, गुणज्ञ और हृदयज्ञ हनुमान् समझ लेते हैं कि राम के मौन के पीछे क्या रहस्य है। अदीनात्मा राम अपनी दीन दशा को अपने मुँह से नहीं कहना चाहते। विधिवश उनको सुग्रीव की शरण में जाना पड़ रहा है और वह भी केवल अपने लिए नहीं, अपनी ही भांति शोषित, अवमानित और विधि-वंचित मित्र की सहायता करने के लिए। यह रहस्य लक्ष्मण भी जानते हैं। इसलिए वह अश्रुपूरित नयनों से कहते हैं कि

समस्त संसार के स्वामी राम सुग्रीव को अपना आश्रय-दाता बनाना चाहते हैं, अखिल जगत् के आश्रयदाता सुग्रीव की शरण में आए हैं। जिसकी प्रसन्नता को समस्त प्रजा महाप्रसाद समझ कर पुलक उठती थी, वही रघुनाथ सुग्रीव की प्रसन्नता चाहते हैं, लोकाभिराम राम शोकातुर होकर वानरराज की शरण मांग रहे हैं और धर्म-वत्सल राजा दशरथ के धर्मात्मा पुत्र धर्म की रक्षा के लिए सूर्य-तनय को अपना सखा बनाना चाहते हैं। सुमित्रा-नन्दन की इस सारगर्भित वाणी का मर्म पहचानकर पवन-तनय कहते हैं:—

ईदृशा बुद्धिसंपन्ना जितक्रोधा जितेन्द्रियाः।
द्रष्टव्या वानरेन्द्रेण दिष्ट्या दर्शनमागताः॥

(आप जैसे बुद्धिमान, संयमी और शांति-मूर्ति बड़े भाग्य से मिलते हैं। असल में हमारे राजा सुग्रीव को आप जैसे महानुभावों के दर्शन स्वयं करने चाहिए थे। यह सौभाग्य की बात है कि आप स्वयं उनसे मिलने आए हैं।)

अब हनुमान् बिल्कुल आश्वस्त हो जाते हैं कि राम और सुग्रीव की मैत्री दोनों के लिए फलप्रद (उभय तारक) सिद्ध होगी। दोनों कृतकृत्य बन जाएंगे क्योंकि दोनों के कृत्य एक जैसे हैं। इस आश्वासन के साथ मधुर भाषी मारुति मितभाषी और स्मितभाषी राम से कहते हैं— "अब हम लोग सुग्रीव के पास चलें"। इस पर हनुमान् के आश्वासन का समर्थन करते हुए रामानुज अपने अग्रज से कहते हैं:—

प्रसन्न मुख वर्णश्च व्यक्तं दृष्टश्च भाषते।
नानृतं वक्ष्यते वीरो हनूमान् मारुतात्मजः॥

(हनुमान् का मुखमंडल देखने से ही पता चलता है कि इनके मुँह से कभी असत्य नहीं निकल सकता। ये बड़ी प्रसन्न मुख-मुद्रा में बोल रहे हैं। इनकी वाणी प्रसन्न है, मन भी प्रसन्न है और इसलिए परिणाम भी प्रसन्न ही होगा।)

अनुज के प्रस्ताव को अग्रज स्वीकार करते हैं और दोनों रघुवंशी वीरों को अपनी पीठ पर बिठाकर महावीर हनुमान् सुग्रीव के पास ले जाते हैं। राम और लक्ष्मण का परिचय पाकर सुग्रीव बहुत प्रसन्न होते हैं। पूजनीयतम राजकुमारों को देखकर वह स्वयं दर्शनीयतम बन जाते हैं। श्रीराम के पास जाकर सुग्रीव प्रेम और आदर के साथ कहते हैं:—

भवान् धर्मविनीतश्च सुतपाः सर्ववत्सलः।
आख्याता वायुपुत्रेण तत्त्वतो मे भवद्गुणाः॥

(हनुमान् के मुँह से मैंने आपके समस्त गुणों का वर्णन सुना है। आप समस्त धर्मों को जानते हैं, आपकी तपस्या ने आपको सुकृती बना दिया है। आप संसार के समस्त प्राणियों को अपनी ही संतान समझकर उनको वात्सल्य भाव से देखते हैं।)

इतने उदात्त गुणों से युक्त व्यक्ति के साथ मैत्री की कल्पना ही सुग्रीव को पुलकित कर देती है। उत्साह, उल्लास और उत्कंठा की त्रिवेणी से परिमार्जित अपना दक्षिण हस्त आगे बढ़ाते हुए वह कहते हैं:—

रोचते यदि मे सख्यं बाहुरेष प्रसारितः।
गृह्यतां पाणिना पाणिर्मर्यादा बध्यतां ध्रुवा॥

(यदि मेरे साथ मैत्री आपके लिए स्वीकार्य है तो मेरा यह आगे बढ़ाया हुआ हाथ आप अपने हाथ में ले लें ताकि हमारी मैत्री की मर्यादा निरंतर बनी रहे और बढ़ती रहे।)

सुग्रीव का यह सुभाषित सुनकर राम का हृदय प्रेम से परिपूर्ण बन जाता है और वह न केवल उनका हाथ अपने हाथ में लेते हैं, बल्कि शोकाकुल और स्नेहातुर सुग्रीव को छाती से लगा लेते हैं। पर राम अब भी मौन हैं। हनुमान् समझ नहीं पाते कि पुरुषोत्तम राम की प्रसन्न मुख-मुद्रा मौन क्यों है। पर वह मौन रहने पर भी मधुर है। उसी माधुर्य को पवित्र अग्निहोत्र के सम्मुख प्रतिष्ठित कर देखने की लालसा से हनुमान् दो काष्ठों को रगड़कर अग्नि को प्रज्वलित करते हैं। मैत्री के मधुर बंधन में अभी-अभी बंधे हुए रविकुमार और रघुकुमार अग्निहोत्र की परिक्रमा करते हैं और उसी पवित्र आलोक में एक दूसरे को देख लेते हैं और

देखते ही रह जाते हैं। सर्वसाक्षी हव्यवाहन को साक्षी बनाकर सूर्य-नंदन दशरथ-नंदन से कहते हैं:–

"त्वं वयस्यो ऽसि हृद्यो मे ह्येकं दुःखं सुखं च नौ"

(अब आप मेरे मित्र बन गए। हमारा हृदय एक है, हमारे सुख-दुःख भी एक हैं और हम एक हैं।)

अब राम और सुग्रीव की मैत्री को प्रामाणिकता प्राप्त होती है तो सुग्रीव सुप्रसन्न और सुनिश्चित मन से शाल की एक सुपुष्पित शाखा को तोड़कर उस पर राम को अपने पास बिठा लेते हैं और अपनी करुण कथा सुनाने लगते हैं जिसे सुनने की राम के मन में बड़ी उत्कंठा थी। करुणालय राम को अपना दुःख दूसरों को सुनाना कभी अच्छा नहीं लगता, इसके विपरीत दूसरों का दुःख-दर्द सुनकर उसको मिटाने का प्रयास करने में उन्हें अत्यंत प्रसन्नता का अनुभव होता है। इसीलिए वह अब तक मौन धारण कर बैठे हैं। जैसे ही सुग्रीव के मुँह से उनकी दर्दभरी कहानी सुनाई देती है तो दयामय राम मंदहास की मधुर मुद्रा में सुग्रीव को आश्वस्त करते हुए कहते हैं:–

उपकारफलं मित्रं विदितं मे महाकपे।
वालिनं तं वधिष्यामि तव भार्यापहारिणम्॥

सुग्रीव का सखा बनने के बाद राम के मुँह से निकलनेवाला यह पहला वाक्य अनायास ही आश्वासन और प्रतिज्ञा का आप्त वाक्य बन जाता है। इस वाक्य का आरंभ आदर्श आचरण के प्रतिपादन के साथ होता है। मित्रता का फलागम मित्र का उपकार करने में होता है—यह आदर्श इस श्लोक के प्रथम चरण में प्रतिपादित होता है। दूसरे चरण में राम कहते हैं कि यह उपकार किस प्रकार का होना चाहिए, यह उनको मालूम हो चुका है। सारी बातें हनुमान् बता चुके हैं और शेष जो कुछ कहना था, उसे सुग्रीव अभी-अभी कह चुके हैं। इसलिए राम को अपने आचरण की दिशा निश्चित करने में अब कुछ सोचना ही नहीं है। तत्काल समयोचित प्रतिज्ञा करते हुए कालजयी रघुनाथ कहते हैं—"मैं वाली का वध करूँगा (वालिनं तं वधिष्यामि) क्योंकि उसने तुम्हारी भार्या का अपहरण किया है (तव भार्यापहारिणम्)"। प्रस्तुत श्लोक के उत्तरार्द्ध के ये दोनों चरण शरणागत सुग्रीव को आश्वस्त बना देते हैं। इतना ही नहीं, राम का यह दृढ़ निश्चय सुग्रीव को यह सोचने के लिए बाध्य बना देता है कि वह सचमुच अपने भाई का वध चाहते हैं या इसमें किसी विकल्प अथवा संशोधन की गुंजाइश है। इसलिए सुग्रीव आश्वस्त, किन्तु आतंकित स्वर में इस प्रतिज्ञा पर अपनी आपात प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहते हैं:–

तव प्रसादेन नृसिंह वीर
प्रियां च राज्यं च समाप्नुयाम्यहम्।
तथा कुरु त्वं नरदेव वैरिणं
यथा न हिंस्यात् स पुनर्ममाग्रजम्॥

(हे वीरवर, पुरुषोत्तम, आप ऐसा प्रयत्न कीजिए जिससे मुझे अपनी पत्नी और अपना राज्य पुनः प्राप्त हो। मेरा शत्रु बनकर बैठे हुए मेरे बड़े भाई की आप ऐसी अवस्था कीजिए जिससे वह फिर मुझे परेशान नहीं कर पाए।)

राम की प्रतिज्ञा जितनी सुनिश्चित है, सुग्रीव की प्रतिक्रिया उतनी ही अनिश्चित और असंयत है। राम इस बात को जानते थे। इसीलिए उन्होंने अपनी बात इस अटल प्रतिज्ञा के साथ ही आरंभ की। धर्म की रक्षा के लिए ही वह सुग्रीव की शरण में आए थे। भार्या का अपहरण केवल अधर्म ही नहीं, बल्कि जघन्य अपचार है। राम और सुग्रीव दोनों इसके शिकार हैं। पर सुग्रीव अपेक्षाकृत अधिक पीड़ित और शोषित हैं क्योंकि उनके बड़े भाई ने स्वयं यह अपराध किया है जबकि रामपत्नी का अपहरण राक्षसराज ने किया है। इसलिए धर्मात्मा राम की दृष्टि में रावण से प्रतिशोध लेने के पहले वाली का वध करना आवश्यक है। सुग्रीव सहमत हों या न हों, अधर्म, अन्याय, अत्याचार और अविनीति का अंत करना राम अपना परम धर्म समझते हैं। इसीलिए धर्मवीर राम ने सुग्रीव की सहायता माँगने के पहले उनकी सहायता करने की बात कही है जिसको स्वीकार करने में धर्मभीरु सुग्रीव को तनिक संकोच हो रहा है। इससे स्पष्ट होता है कि सुग्रीव अपनी सुरक्षा तो चाहते हैं, पर अपने भाई की असुरक्षा

भी नहीं चाहते। हृदय से कोमल और मन से संत्रस्त सुग्रीव के इस धर्म-संकट को राम भलीभाँति पहचानते हैं। इसीलिए सुग्रीव को सुदृढ़ बनाने के लिए स्वयं कोमल बन जाते हैं।

सुग्रीव की सहायता राम स्वयं माँगते नहीं, पर सुग्रीव स्वयं सुहृद्-भाव से वचन देते हैं—"आपकी भार्या सीता देवी चाहे पाताल में हों या आकाश में, मैं उनको लाकर आपको समर्पित कर दूँगा।"

रसातले वा वर्त्तंतीं वर्तंतीं वा नभस्तले।
अहमानीय दास्यामि तव भार्यामरिंदम॥

सुग्रीव के इस वचन का आधार सीता-संदर्शन का आनुमानिक प्रमाण है। कुछ दिन पहले एक राक्षस एक स्त्री को लिए जा रहा था और अंतरिक्ष से वह स्त्री नागिन की तरह छटपटाती हुई चिल्ला रही थी—"राम, राम, लक्ष्मण।" अनुमान से सुग्रीव समझते हैं कि वह स्त्री सीता ही होंगी। यही नहीं, उस देवी ने अपने कुछ आभरणों को उत्तरीय में बाँध कर उस पहाड़ पर गिरा दिया था जहाँ पर सुग्रीव समेत पाँच बानर बैठै हुए थे। सुग्रीव जब यह सारा वृत्तांत सुनाने लगते हैं तो राम शोकाकुल बन जाते हैं और उन आभरणों को देखने की इच्छा प्रकट करते हैं। पर जब आभरण सामने आते हैं तो राम इतने भावुक और शोकमग्न हो जाते हैं कि उनको कुछ दिखाई तक नहीं देता। देखते ही वह समझ जाते हैं कि ये वही आभूषण हैं जो उनकी प्रिय पत्नी को अलंकृत करते थे। पर कुछ बारीकी से देखने के लिए वह अपने भाई लक्ष्मण से अनुरोध करते हैं तो लक्ष्मण अपनी आंशिक क्षमता प्रकट करते हुए कहते हैं:—

नाहं जानामि केयूरे नाहं जानामि कुंडले।
नूपुरे त्वभिजानामि नित्यं पादाभिवंदनात्॥

(भैया, मैं न तो इन बाजूबंदों को जानता हूँ और न इन कुंडलों को समझ पाता हूँ। इन पायलों को तो मैं भली-भाँति पहचानता हूँ क्योंकि प्रतिदिन प्रातःकाल पादाभिवंदन के समय मैं इनको देखा करता था।)

लक्ष्मण का यह वाक्य रामायण की लोकोत्तर नर संस्कृति का उज्ज्वल उद्गार है जो युग-युग तक मानव जाति के लिए मननीय रहेगा। अपनी भाभी के सौंदर्य पर लक्ष्मण का ध्यान बिल्कुल आकृष्ट नहीं होता, पर उनके श्रीचरणों की सश्रीकता उनके हृदय-पटल पर सदा के लिए अंकित रहती है। यही रामायणीय संस्कृति है जिसमें केवल भारतीय ही नहीं बल्कि समस्त मानवीय संस्कृति का मूल मंत्र उच्चरित होता है।

देवी के आभूषण देखने के बाद दिव्यात्मा राम का मन पहले शोकाकुल हो जाता है, पर दूसरे ही क्षण अपनी दयिततमा (प्रियतमा) का अपहरण करने वाले दुष्ट का संहार करने का दृढ़ संकल्प करते हैं और रोष भरे स्वर में कहते हैं:—

मम दयिततमा हृता वनाद्
रजनिचरेण विमथ्य येन सा।
कथय मम रिपुं तमद्य वै
प्लवगपते यम सन्निधिं नयामि॥

अपनी प्राणप्रिया पत्नी का अपहरण करनेवाले क्रूर राक्षस का संहार करने में राम सुग्रीव की सहायता नहीं मांगते, पर उसका पता लगाने में सुग्रीव का केवल "वचन सहाय" उनके लिए पर्याप्त है। इसीलिए वह कहते हैं—"कथय मम रिपुं"। पता लगाने पर उस क्रूरकर्मा को यम-सदन पहुँचाने का काम वह स्वयं कर सकते हैं। सत्य पराक्रम राम के ये सात्विक तथा समयोचित उद्गार समान शोक से पीड़ित सुग्रीव को विक्षुब्ध बना देते हैं। अश्रुपूरित नयनों से और गद्गद कंठ से वह अपने सखा को सांत्वना देने का प्रयास करते हैं। सर्वनाशक शोक का परित्याग कर कार्यसाधक धैर्य धारण करने की बात सुग्रीव बार-बार प्रकारांतर से कहने लगते हैं तो जन्म से महान् और संस्कार से विद्वान् राम सुग्रीव के प्रति आभार प्रकट करते हैं और उनको गले लगा लेते हैं। संकट के समय इस प्रकार के आप्त मित्र का मिलना कितना सुखद होता है, यह राम शब्दों में व्यक्त नहीं कर पाते और सुग्रीव भी इस आंतरिक आनन्द को अपने में समा नहीं पाते। दोनों अपनी-अपनी वेदना एक दूसरे को सुनाकर सांत्वना पाते हैं।

पर महाबली वाली के प्रताप से बुरी तरह से प्रताड़ित सुग्रीव को विश्वास नहीं होता कि राम सचमुच वाली का वध कर पाएँगे क्योंकि अभी तक उन्होंने वाली के बल-पराक्रम के संबंध में कुछ भी नहीं पूछा। प्रथम परिचय में ही राम पहली बात सुग्रीव से यही कहते हैं कि मैं तुम्हारी भार्या का अपहरण करनेवाले वाली का वध करूँगा। सुग्रीव और वाली में शत्रुता क्यों हुई, सुग्रीव के गुण-दोष क्या-क्या हैं और वाली से वह क्यों इतने त्रस्त हैं, यह सब जाने-समझे बिना ही राम ने ऐसी प्रतिज्ञा क्यों की, इस पर संशयात्मा सुग्रीव को संदेह होता है। स्वभाव से कोमल, व्यवहार से विनम्र तथा अत्याचार से आतंकित सुग्रीव की यह संशयशीलता स्वाभाविक है। सुग्रीव के इस संकोच को समझकर समयज्ञ राम अपनी प्रथम प्रतिश्रुति की पुष्टि करते हुए कहते हैः—

मया च यदिदं वाक्यं अभिमानात् समीरितम्।
तत्त्वया हरिशार्दूल तत्त्वमित्युपधारय॥

(कपिराज सुग्रीव, मैंने तुम्हारे प्रति अभिमान से प्रेरित होकर तुम्हारे भाई वाली का वध करने की जो बात कहीं थी, वह मैंने तत्त्व भाव से ही कही थी, यों ही नहीं कही।)

इस पर सुग्रीव प्रसन्न तो होते हैं, पर अपनी बात दिल खोलकर राम से कहना चाहते हैं और इसके लिए अनुकूल समय और उपयुक्त भूमिका भी ढूँढ लेते हैं। जब राम एकांत में मिलते हैं तो वह अपनी विवरणिका का उपक्रम करते हैं—मित्रता की प्रशस्ति के साथ। इस लम्बी भूमिका का उत्तर राम केवल दो शब्दों में देते हुए कहते हैं—"तत् तथा" (बिल्कुल ठीक)। उसके बाद सुग्रीव चारों तरफ अपनी चंचल दृष्टि दौड़ाकर पुष्पित शाखा पर राम के पास बैठकर अपनी करुण कहानी सुनाने लगते हैं। करुण कथा की प्रस्तावना में ही कथावाचक अपने प्रबुद्ध श्रोता से फलश्रुति का प्रत्यय माँगते हैं तो प्रसन्न मुख मुद्रा में बैठे राम मुस्कुराते हुए (प्रहसन्निव) और अपनी प्रतिज्ञा को फिर एक बार दुहराते हुए कहते हैं—"अद्यैव तं वधिष्यामि तव भार्यपहारिणम्" (तुम्हारी भार्या का अपहरण करनेवाले उस दुष्ट का मैं आज ही वध करूँगा।)

अब सुग्रीव निस्संकोच अपने मन की सारी बातें राम को सुनाते हैं। पहले वह शत्रुता का कारण बताते हैं और बाद में अपने अग्रज वाली के असाधारण पराक्रम का वर्णन करते हैं। शत्रुता का कारण बताते समय वह इस बात को सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि वह स्वयं निरपराधी हैं। दोनों भाइयों का गुण-दोष और बलाबल जानने की इच्छा राम के मन में भी जागरित होती है ताकि वाली का निग्रह करने योग्य अस्त्र का सृजन किया जा सके। मय का पुत्र और दुंदुभि का अग्रज मायावी नाम का राक्षस वाली को युद्ध के लिए ललकारता है। आत्माभिमानी वाली मायावी का पीछा करते-करते एक सघन बिल में प्रवेश करता है। सुग्रीव भी अपने भाई के पीछे बिल में प्रवेश करना चाहता है, पर वाली मना कर देता है और बिल के द्वार पर सुग्रीव को बिठाकर स्वयं भीतर पहुँच जाता है। एक वर्ष तक भीतर से कोई समाचार नहीं मिलता और न वाली बाहर निकलता है। अंत में बिल के भीतर से खून बहता हुआ दिखाई देता है तो सुग्रीव को संदेह होता है कि वाली की मृत्यु हो गई होगी। इसी अनुमान के आधार पर वह बिल का द्वार बन्द करके किष्किंधा वापस आता है और अपने मंत्रियों के अनुरोध पर सिंहासन पर बैठता है। पर वाली मायावी पर विजय पाकर विजय गर्व से बिल के बाहर पहुँचता है तो द्वार पर सुग्रीव तो दिखाई नहीं देता, उल्टे बहुत बड़ा पत्थर द्वार को अवरुद्ध कर वाली को क्रोधी बना देता है। किसी तरह वह द्वार तोड़ कर किष्किंधा पहुँचता है तो सुग्रीव को राजा बन बैठा पाता है। सुग्रीव सारी बात समझाने की कोशिश करता है और अपने भाई से राज्य वापस लेने का सहर्ष और ससम्मान अनुरोध करता है। पर वाली का क्रोध शांत नहीं होता। वह सुग्रीव को राज्य और स्त्री दोनों से वंचित कर घर से बाहर निकाल देता है। तब से आज तक सुग्रीव किष्किंधा में प्रवेश करने से डरता है। पर ऋष्यमूक पर्वत सुग्रीव के लिए अभयाचल बन जाता है क्योंकि मतंग वन के महर्षि के अभिशाप से वाली उसमें प्रवेश नहीं कर सकता।

वाली ने जब मायावी के छोटे भाई दुंदुभि से युद्ध कर उसका संहार किया था, तब दुंदुभि का मृत कलेवर उसके पदाघात से मतंग वन तक उछल कर दूर वन में गिर जाता है। जब मतंग वन के महर्षि का शरीर राक्षस के रक्त सी अपवित्र बन जाता है तब महर्षि वाली को यह अभिशाप देते हैं। यह दुंदुभि वही राक्षस है जिससे युद्ध करने के लिए समुद्र साहस नहीं बटोर सका और हिमाचल हिम्मत नहीं कर सका। इस दुर्दम्य राक्षस को वाली ने खेल ही खेल में पराजित किया था। इसके अलावा वाली की गतिशीलता और संचरणशीलता का सबसे बड़ा प्रमाण यह हे कि सूर्योदय से पहले वह सारी पृथ्वी की परिक्रमा करके अपने घर वापस आया करता था।

सारी कहानी सुनाकर सुग्रीव राम से अपनी आंतरिक आशंका प्रकट करते हुए कहते हैं:-

एतदस्यासमं वीर्यं मया राम प्रकाशितम्।
कथं तं वालिनं हंतुं समरे शक्ष्यसे नृप॥

(हे राम, वाली के असाधारण पराक्रम का मैंने विस्तार से वर्णन किया है। अब आप ही बताइए कि आप उस महाबली वाली का वध कैसे कर पाएंगे।)

इस पर लक्ष्मण मुस्कुराते हैं और सुग्रीव से पूछते हैं कि हे मित्र, यह बता दो कि आपको इस बात का विश्वास कैसे दिला सकें कि राम वाली का वध करने में सक्षम हैं। तब सुग्रीव दो शर्तें रखते हैं। सामने जो सात साल वृक्ष दिखाई दे रहे हैं, उनका एक साथ विच्छेद करें और दुंदुभि के कलेवर को उसी तरह दूर तक उड़ाया जाए जैसे वाली ने किया था। सुग्रीव के संकेत मात्र से राम ये दोनों काम पल भर में कर देते हैं। राम का एक ही बाण सात वृक्षों को छिन्न-भिन्न कर फिर उनकी तरकस में वापस पहुँच जाता है और दुंदुभि के कलेवर को राम अपने पैर के अंगूठे से दस योजन तक फेंक देते हैं।

अब सुग्रीव राम के अलौकिक बल-पौरुष से आश्वस्त हो जाते हैं और वाली के भय से एकदम मुक्त हो जाते हैं। सुग्रीव को अभय और वाली को भय देना ही ऋष्यमूक में रामचन्द्र के पदार्पण का परमार्थ है। सुग्रीव का समर्थन विशुद्धि चक्र से प्रसूत कल्याणकारिणी वाणी का समाराधन है जबकि वाली का निग्रह काम वासना का खंडन और कुंडलिनी का उद्धार है। इसी दृष्टि से वाली और सुग्रीव की शत्रुता का रहस्य समझना चाहिए। इसीलिए श्रीराम और सुग्रीव की मैत्री के प्रसंग में श्री स्वरूपिणी सीता के कमल-नयन, वानर-पविवार की सुनहली आँखें तथा असुर-समाज के प्रज्वलित नेत्र एक साथ फड़कने लगते हैं।

सीता कपीन्द्र क्षणदाचराणां
राजीव हेम ज्वलनोपमानि
सुग्रीव-राम-प्रणय-प्रसंगे
वामानि नेत्राणि समं स्फुरंति॥



43. धर्माधर्म विवेक-विवेचन

धर्म और अधर्म का विचक्षण रामायण का प्रतिपाद्य विषय है या नहीं, यह कहना कठिन है। पर इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि राम कथा के घटना-क्रम में ऐसे कई प्रसंग आते हैं जहाँ पर पाठक को थोड़ी देर के लिए रुककर यह सोचना पड़ता है कि यह कार्य धर्म-सम्मत हुआ है या नहीं। वास्तव में धर्म क्या है, अधर्म क्या है, इसका निर्णय करना भी कठिन हो जाता है, विशेषकर जब इस प्रकार के कार्य धर्मात्मा या धर्मज्ञ पात्र के द्वारा किए जाते हैं। सुग्रीव के साथ राम की मैत्री और राम द्वारा वाली का वध इसी प्रकार के प्रसंग हैं जहाँ पर सुहृद्-धर्म और सूक्ष्म धर्म के सामने सर्व साधारण सनातन धर्म को भी समझौता करना पड़ता है।

सुग्रीव के साथ राम की मैत्री तो समझ में आती है। इसमें धर्म का लोभ हो सकता है, पर धर्म का लोप तो बिल्कुल नहीं है। धर्म का लोभ कर्म को निर्मल बना देता है और कर्ता को निर्लिप्त। इसी निर्मल और निर्लिप्त भावना से प्रेरित होकर राम सुग्रीव को अपना आप्त मित्र बना लेते हैं। इसमें राम की अपनी निजी इच्छा का कोई विशेष योग नहीं दिखाई देता। यादृच्छिक घटनाओं का योगायोग ही इस संयोग को सुयोग बना देता है। राम को सुग्रीव का नाम तक मालूम नहीं था। अपने भावी मित्र का नाम पहली बार वे कबंध के मुँह से सुनते हैं जो सत्य-पराक्रम राम के ही प्रभाव से शाप मुक्त होकर दिव्य गंधर्व वाणी का नष्ट वैभव फिर से प्राप्त करता है। महाबली सुग्रीव के साथ मैत्री स्थापित करने का परामर्श देनेवाला कबंध भवितव्य की अवश्यंभाविता पर विशेष बल देते हुए कहता है कि जो होना है सो होकर रहेगा, उसमें फेर बदल करना किसी के लिए संभव नहीं है। अंतरिक्ष में स्थित अलौकिक मित्र के इस आप्त वाक्य को सत्यसंध राम सहज भाव से स्वीकार करते हैं। उनका मन कहता है कि इसमें धर्मलाभ की कोई महती संभावना है और इसी सहज लाभ के सात्विक प्रलोभन में आकर धर्मज्ञ राम समयज्ञ सुग्रीव के यहाँ पहुँच जाते हैं।

धर्म-लोभ की इसी मंगल भावना की ओर मार्मिक संकेत करते हुए स्वयं राम अपने मित्र सुग्रीव की शंका का समाधान करने के लिए कहते हैः—

अनृतं नोक्तपूर्वं मे चिरं कृच्छ्रेऽपि तिष्ठता।
धर्मलोभपरीतेन न च वक्ष्ये कथंचन॥

सत्य और धर्म के चरण-युगल के बल पर चलनेवाले सत्यपराक्रम और धर्मपरायण राम का यह वाक्य उनके समस्त जीवन-दर्शन को सारभूत शब्दों में प्रस्तुत करता है। राम के बल-भरोसे पर सुग्रीव अपने बलशाली अग्रज वाली से लड़ने का निश्चय कर लेते हैं। जब युद्ध शुरू होता है तो राम दोनों भाइयों का रूप-सादृश्य देखकर चकित हो जाते हैं और अनर्थ की आशंका से मर्मांतक तीर नहीं छोड़ते। इससे सुग्रीव को शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार का कष्ट होता है और सत्यसंध राम की सत्यवादिता पर शंका प्रकट करते हुए कहते हैं कि अगर आप वाली को मारना नहीं चाहते थे तो यह बात पहले ही मुझे कह देते तो

मैं इस चक्कर में ही नहीं पड़ता। इस पर राम बड़ी शांति से सुग्रीव को समझाते हैं और सुग्रीव को विश्वास नहीं होता है तो राम उनको विश्वास दिलाते हुए कहते हैं कि मैं पहले कभी झूठ नहीं बोला था और न आगे बोलूँगा क्योंकि मेरे मन में धर्म का अपार लोभ है। धर्म को प्राप्त करने के लिए सत्य का पालन करना कितना आवश्यक है, यह राम के इस वचन से स्पष्ट होता है।

राम ने अपने जीवन में अब तक जो कुछ किया, वह केवल धर्म-लोभ से किया है, अपने लाभ के लिए नहीं। धर्म-लोभ ही एक प्रकार से उनके लिए आत्मलाभ बनता रहा। पिता की आज्ञा पर विश्वामित्र के साथ चले तो यज्ञ की रक्षा हुई और साथ-साथ अस्त्र-शस्त्र की शिक्षा मिली। विश्वामित्र का संकेत पाकर शिवधनुष को तोड़ा तो जानकी जैसी सहधर्मचरी मिली। कैकेयी की कामना को सफल बनाने के लिए राज्य छोड़कर वन का आश्रय लिया तो ऋषि-मुनियों का आशीर्बल मिला और दंडकवन असुरों के आतंक से मुक्त हो गया। परिहास की भावना से शूर्पणखा के साथ मजाक किया तो चौदह हजार राक्षसों का पल भर में संहार हो गया। प्राण-प्रिया जानकी को संतुष्ट करने के लिए मायामृग मारीच का पीछा किया तो उसका संहार ही हो गया और उसी संहार में समस्त राक्षस जाति का और राक्षसराज रावण का भी संहार समाहार का रूप धारण कर रहा है। इसी परिवेश में सुग्रीव के साथ राम की मैत्री को भी देखना चाहिए और राम स्वयं इस घटना को इसी परिप्रेक्ष्य में देखते हैं।

धर्म-लोभ से प्रेरित होकर ही दोनों भाई इधर चले आए। धर्म जिधर पलता है, राम उधर चलते हैं। राम के उपर्युक्त वचन में "परीत" शब्द से इसी तथागत गति का बोध होता है। इधर-उधर (परितः) घूमते हुए इधर (इतः) ही चला आना जिधर धर्म का क्षेत्र बनता, फलता और पनपता है, यही 'परीति' या 'पर्यटन' या 'पर्ययन' है। राम के अयन में इसी "पर्ययन" की भावना पग-पग पर मिलती है जिसकी ओर राम इस सारगर्भित वचन में संकेत कर रहे हैं।

यदि संकल्प सत्य है, स्वच्छ है, शुभ है और शिवात्मक है तो मार्ग सन्मार्ग ही बनता है, कर्म धर्म-सम्मत बनता है और प्रभव प्रभावशाली बनता है। इसी दृढ़ विश्वास से राम सुग्रीव के साथ मैत्री स्थापित कर लेते हैं ताकि अधर्म धर्म का रूप धारण करे, असत्य सत्य बने, अन्याय न्याय को स्वीकार करे और अत्याचार शिष्टाचार में बदल जाए। यही धर्म-लोभ राम को ऋष्यमूक और किष्किंधा के मार्ग में सप्तजनाश्रम का दर्शन कराता है। पहली बार जब राम और लक्ष्मण को साथ लेकर सुग्रीव वाली को युद्ध के लिए ललकारने जाते हैं तब भी मार्ग में यह सप्तजनाश्रम रहा होगा। परन्तु उस समय उस पर न राम-लक्ष्मण का ध्यान जाता है और न सुग्रीव उसकी ओर राम और लक्ष्मण का ध्यान दिलाने की बात सोचते हैं। उस समय सुग्रीव बिलकुल आश्वस्त थे कि वाली को देखते ही राम उस पर अपना अमोघ शर छोड़कर उसको मारेंगे। इसी आश्वासन में स्वर भरते हुए वह राम से कहते भी हैं कि आज मेरा सारा शोक नष्ट हो गया, मैं भीतर ही भीतर परम प्रसन्न हूँ क्योंकि मुझे आप जैसे मित्र मिल गए हैं जिनके सामने महेन्द्र, वरुण आदि देवता भी नगण्य हैं।

अद्य मे विगतः शोकः प्रीतिरद्य परा मम।
सुहृदं त्वां समासाद्य महेन्द्र वरुणोपमम्॥

इसी राम-निर्भर आत्म-विश्वास के साथ सुग्रीव वाली को ललकारते हैं। पर वास्तव में जब विकट संकट उपस्थित हो जाता है और राम की सहायता का कोई आभास तक नहीं मिलता तो बिचारे सुग्रीव दीन-हीन मुखमुद्रा में वापस चले आते हैं और दयामय राम से अपनी दयनीयता का निवेदन करते हैं। इसके बाद राम का सुनिश्चित पुनराश्वासन पाकर कंठ में गजपुष्पी माला पहनकर राम-लक्ष्मण समेत जब सुग्रीव किष्किंधा की ओर चल पड़ते हैं तब उनका ध्यान रास्ते में दिखाई देने वाले सप्तजनाश्रम पर जाता है और राम भी उसके बारे में जानने की इच्छा प्रकट करते हैं। "दुख में सुमिरन सब करैं" वाली बात सुग्रीव के साथ घटित होती है। वह न केवल श्रमनाशक उस आश्रम की महिमा राम को बताते हैं, बल्कि राम से निवेदन करते

हैं कि धर्मात्मन्, इस आश्रम को अध्यात्म-दीप से आलोकित करनेवाले दिव्यात्मा ऋषि-मुनियों का स्मरण कर उनको नमन कीजिए ताकि अशुभ का शमन हो। धर्मात्मा राम उसी प्रकार करते हैं। यह आश्रम उस समय भी था जब सुग्रीव पहली बार युद्ध के लिए जा रहे थे और अब भी वही आश्रम है जिसको नमन करने और कराने की बात उनके मन में सूझ रही है।

वास्तव में यह आश्रम लोकोत्तर महिमा से सुशोभित सकालाक्षर समाहार है। इस आश्रम के सात दिव्यात्मा तपस्वी वाणी के सात स्वर हैं जिन का श्रवण, मनन, ध्यान, अवगाहन और आस्वादन मन को पावन बना देता है। यही आश्रम का अंतरंग है जिससे राम अपने अंतरतम को आलोकित कर लेते हैं और धर्माधर्म के विचक्षण का विवेकशील आधार अपने मन में दृढ़ कर लेते हैं। सुग्रीव केवल इसके बहिरंग से परिचित हैं। अशुभ का निवारण उनके लिये पर्याप्त था। पर राम अपने धर्मलोभ की मीमांसा में मग्न थे और इस मीमांसा को यह सप्तजनाश्रम बल, संबल और सत्त्व प्रदान करता है। सुग्रीव के मन में अशुभ के निवारण की बात थी तो राम के मन में अधर्म के परिहार की भावना बलवती होती जा रही थी। इसी अवस्था में योद्धा सुग्रीव और सहयोद्धा राम किष्किंधा की ओर चलते हैं। जिस प्रकार महाभारत के युद्ध में योद्धा अर्जुन का सारथी बनकर उनके सखा कृष्ण ने अपनी सहयोद्धा की भूमिका निभाई थी, लगभग उसी प्रकार सुग्रीव को शर-सहायता प्रदान करने के लिए राम उनके साथ चल रहे हैं। लड़ना तो सुग्रीव को ही है, पर हार-जीत राम की सहयोगिता पर निर्भर है। जब धर्म स्वयं सत्य को आश्रय देता है तब सत्य की विजय अवश्यंभावी है और धर्म भी साथ-साथ धरती में जड़ जमाए प्रतिष्ठित हो जाता है।

इसी भाव भूमिका के आधार पर सुग्रीव के साथ राम की मैत्री तथा राम द्वारा वाली का वध – इन दोनों प्रसंगों को समझने का प्रयास करना चाहिए। पहली बार जब वाली और सुग्रीव के बीच युद्ध होता है तो उस समय इतनी सारी बातें सबके मन में एक साथ नहीं आतीं। पर दूसरी बार युद्ध का अवसर सामने आता है तो सब लोग अपने-अपने स्वभाव और संस्कार के अनुसार सोचने लगते हैं। सुग्रीव के मन में शुभ परिणाम की चिंता रहती है। राम के मन में धर्म-लोभ के पर्याय परिक्रमा करते रहते हैं। वाली के मन में प्रतिक्रिया का प्रचंड वेग प्रस्फुटित हो जाता है। पर तारा के मन में एक विलक्षण विवेक भावना का उदय होता है जिसको कविवर "साधुता" कहना पसंद करते हैं। साधुता की आराधिका बनकर वह अपने पराक्रमी पति से अनुरोध करती है कि वह इस अकारण शत्रुता को सहेतुक मित्रता में परिणत कर दें। तारा का तर्क यह है कि सुग्रीव छोटा भाई है और छोटे पर बड़ों का अनुग्रह होना चाहिए, विग्रह नहीं। अगर उसने कुछ गलत काम भी किया तो भी वह क्षंतव्य है। पर वास्तव में उसने ऐसी कोई गलती नहीं की है। अगर गलती हुई है तो वाली द्वारा ही। आत्म-सुख और अहंकार की माया में पड़कर वाली इस विवेक को खो बैठा है। इस आत्म-घातक आवरण से अपने पति को बचाने का बहुत ही कुशल प्रयास करती है – साध्वी तारा। वह अपने पति को सतर्क करते हुए कहती है कि अब सुग्रीव अकेला नहीं है, अजेय राम उसके साथ हैं और राम धर्मात्मा है। इसलिए अब सुग्रीव के साथ मुकाबिला करना धर्म के विरुद्ध लड़ना होगा जिसका परिणाम भयंकर हो सकता है। पर काल से प्रेरित वाली के कान इस बात को सुनकर भी समझ नहीं पाते। अंत में वाली सुग्रीव के साथ लड़ने के लिए मैदान में आ खड़े हो जाता है। धर्मात्मा राम पेड़ों की आड़ में धर्मतोष के लिए समुचित अवसर की प्रतीक्षा में शर संधान किए बैठे हैं।

राम की रणनीति भी विलक्षण है रण सुग्रीव के सामने हैं, पर प्रहरण राम के हाथ में है। "सर्व प्रहरणायुध" राम पाप के प्रहरण की पहर की प्रतीक्षा में अप्रमत्त होकर खड़े हैं। यदि पहले ही मुकाबले में वह वाली का वध कर देते तो सुग्रीव केवल पुतला बन जाता। पर राम यह नहीं चाहते थे। सुग्रीव के पौरुष पर कोई कलंक नहीं लगना चाहिए और दोनों योद्धाओं में से किसी को भी यह अनुमान नहीं होना

चाहिए कि यह युद्ध प्रदर्शन मात्र है। सहयोद्धा का अदर्शन इस प्रदर्शन को स्वाभाविकता प्रदान करता है। वास्तविक जगत् में भी प्रत्येक जीव योद्धा है। और परमात्मा सहयोद्धा बनकर सबका साथ देता है और हार-जीत अपने हाथ में रखता है। लगभग इसी प्रकार की भूमिका इस प्रसंग में राम निभा रहे हैं।

तारा की मंगल कामना लेकर महाबली वाली महासर्प की भांति रोष के आवेश में रणरंग में कूद पड़ते हैं और युद्ध का अभिनय करने के लिए समागत सुग्रीव को देखकर उन पर टूट पड़ते हैं। आत्म-रक्षण के लिए सुग्रीव भी अपने रण-कौशल का प्रदर्शन करते हैं। जब राम देखते हैं कि अब सुग्रीव का तेज मंद पड़ रहा है तभी वे वाली के वध के लिए अभिकल्पित महाबाण का प्रयोग करते हैं। वह अमोघ शर व्रजपात की तरह वाली के वक्षस्थल पर जैसे ही लगता है तत्काल महापराक्रमी वाली महीतल पर पूर्णिमा के दिन भूपतित इन्द्रध्वज की तरह गतश्रीक और हतचेता बनकर गिर पड़ता है।

इन्द्रपुत्र वाली को क्षणभर में धराशायी पाकर राम और लक्ष्मण मन ही मन आश्वस्त हो जाते हैं, पर बड़ी संतुलित शालीनता के साथ दोनों राजकुमार अर्द्धचेतन अवस्था में अवसुप्त वाली के पास पहुँचते हैं – कुछ कहने के आशय से। पर आकस्मिक और अप्रत्याशित आतंक से त्रस्त और किंचित् रुष्ट मुद्रा में वाली ही रणगर्वित राम से अपने मन की ग्लानि प्रकट करने का प्रयास करता है। सबसे पहले वह कहता हैः–

त्वं नराधिपतेः पुत्रः प्रथितः प्रियदर्शनः।
पराङ्मुख वधं कृत्वा कोऽत्र प्राप्तस्त्वया गुणः॥

(राम, तुम चक्रवर्ती के पुत्र हो, यशस्वी हो, देखने में अच्छे लगते हो। फिर लुकछिपकर मेरा वध करने में तुमको कौन-सा गुण दिखाई दिया? इससे तुमको क्या लाभ हुआ?)

वाली का यह वाक्य सूत्र-शैली में उनकी धर्म-संहिता का सार-कथन है। इसीलिए वाल्मीकि कहते हैं – "अब्रबीत् परुषम् वाक्यम् प्रश्रितं धर्मसंहितम्" वाली की वाणी में कठोरता भी है और विनम्रता भी क्योंकि उसके मन में आक्षेप की भावना भी है और थोड़ी सी आशंका भी है कि राम जैसे धर्मात्मा ने यह जघन्य कार्य क्यों किया। उसने सुन रखा था कि राम करुणा के आगर हैं, प्रजा के अनुरागी है, सत्यपराक्रमी हैं, शुद्ध अंतःकरण और पवित्र आचरण के हैं। वास्तव में जब तारा ने उसे सतर्क कर दिया था, तब वह राम की सदाचारिता और सच्चरित्रता पर गहरी आस्था प्रकट करता है। पर राम के बारे में अब तक उसका जो भी अनुमान था, अब वह सही प्रतीत नहीं हो रहा है। इसीलिए उसे संदेह होता है कि क्या यही दशरथ-नन्दन राम हैं जिनके बारे में उसने बहुत कुछ सुन रखा था। लाख सोचने पर भी यह बात उसकी समझ में नहीं आती कि धर्मपरायण राम ने यह अधर्म कर्म क्यों किया है। यदि सीता का पता लगाने में सुग्रीव की सहायता प्राप्त करने के लिए ऐसा किया तो यह काम वह खुद कर सकता था और एक ही दिन में देखते ही देखते सीता को राम के सामने खड़ा कर सकता था। राजा लोग बंदर का मांस नहीं खाते और बंदर का चमड़ा भी उनके लिए अस्पृश्य है। फिर किस उद्देश्य से राम ने वाली का वध किया जबकि वाली ने उनका कुछ नहीं बिगाड़ा और न उनके सामने खड़े होकर युद्ध किया। काफी समय तक वाली आक्षेप के स्वर में राम से अनेक बातें कहता है। जब उसका गला सूख जाता है तभी वह शांत होकर शांति-मूर्ति राम से कुछ सुनने की अपेक्षा करता है।

राम पहले ही वाक्य में वाली के आक्षेप का पूरा समाधान प्रस्तुत करते हुए कहते हैंः–

धर्ममर्थं च कामं च समयं चापि लौकिकम्।
अविज्ञाय कथं बाल्यान्मामिहाद्य विगर्हसे॥

(धर्म, अर्थ, काम, लोकाचार, काल, गति आदि सभी बातों पर सम्यक् विचार किए बिना तुम अविवेक से मेरी भर्त्सना कर रहे हो।)

इसके बाद राम वाली के एक-एक आक्षेप का खंडन करते जाते हैं। सबसे पहले वह कहते हैं कि

किष्किंधा इक्ष्वाकु-वंश के राजाओं के अधिकार-क्षेत्र के अंतर्गत है और भरत इसके राजा हैं जिनका आदेश लेकर हम दोनों राजकुमार धर्म का उत्थान और अधर्म का निवारण करने जगह-जगह घूम रहे हैं। इसके बाद वाली ने अपने छोटे भाई सुग्रीव के साथ जो अन्याय किया है और उसकी पत्नी के साथ जो दुर्व्यवहार किया है, इसकी ओर वाली का ध्यान आकृष्ट करते हुए राम कहते हैं कि इसके लिए शास्त्र में मृत्यु दंड विहित है। अब रही बात परोक्ष रूप से मारने की। वाली तो वानर है और राम नर। नर-वानर का मुखामुखी युद्ध हो भी कैसे सकता है? एक क्षत्रिय राजकुमार जैसे मृगया में शाखामृग का वध करता है, वैसे ही राम ने वाली का वध किया। इसके अलावा एक और धर्म-रहस्य है। राज दंड पाकर पापी भी पुण्यात्मा बन जाता है क्योंकि राजदंड और यमदंड में कोई तात्त्विक भेद नहीं है। इस दृष्टि से वाली का संहार करके राम ने उनका उद्धार ही किया है। अंत में निष्कर्ष के रूप में राम कहते हैं कि मैंने तो अपने सनातन धर्म का ही अनुसरण करते हुए यह काम किया है, जबकि तुम केवल रोष के आवेश में आकर धर्म और अधर्म का विवेक खो बैठे हो, इसीलिए मेरी निन्दा कर रहे हो। पापी को पाप-कृत्य करते समय पता नहीं चलता कि वह गलत काम कर रहा है, पर पाप का फल भोगते समय पाप के ताप से मुक्त करनेवाले निर्लिप्त और निरपराध निमित्त को दोष देने लगता है।

सच्ची, प्यारी और हितकारी बात कहनेवाले राम का उद्बोधन वाली का नेत्रोन्मीलन कर देता है। जब वाली अपने एकमात्र पुत्र अंगद के भविष्य के संबंध में चिंता प्रकट करता है तो राम उनको आश्वासन देते हुए बड़ी आत्मीयता के स्वर में कहते हैं:—

यथा त्वय्यंगदो नित्यं वर्तते वानरेश्वरः।
तथा वर्तेत सुग्रीवे मयि चापि न संशयः॥

(अंगद तुम्हारे लिए जितना प्रिय है, सुग्रीव का भी उतना ही प्यारा बनकर रहेगा और मेरे लिए भी वह उतना ही प्रिय रहेगा।)

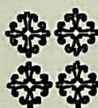
इस पर वाली का मन पूर्णरूप से प्रशांत, विश्वस्त और प्रसादित हो जाता है। हाथ जोड़कर क्षमा-याचना करते हुए वह राम से कहता है:—

शराभितप्तेन विचेतसा मया
प्रभाषितस्त्वं यदजानता विभो।
इदं महेन्द्रोपम भीम विक्रम
प्रसादितस्त्वं क्षम मे नरेश्वर॥

(शर की पीड़ा से संत्रस्त होकर अर्द्ध चेतन अवस्था में अज्ञान के कारण मैंने कई बातें कही हैं जो मेरे लिए शोभा नहीं देतीं। स्वामी, मुझे क्षमा करो, प्रसन्न बनो, आप मेरे पिता महेन्द्र के समान हो और मैं आपका पुत्र हूँ। मुझे क्षमा कर दो, स्वामी, क्षमा कर दो।)

वाली के मुँह से जब यह बात निकलती है तब वह वास्तव में धर्म-अधर्म, न्याय-अन्याय, सत्य-असत्य, कृत्य-अकृत्य और भूत-भविष्य आदि समस्त लौकिक परिधियों को पारकर एक अलौकिक भावभूमिका में प्रेम परायण राम के सायुज्य का अनुभव कर रहा होगा जिसको जानने के लिए बालयोगी नचिकेता को यमराज के पास जाकर यह माँगना पड़ा कि धर्म और अधर्म से परे, कर्म और अकर्म से परे तथा अतीत और भविष्य से परे जो कुछ दिखाई देता है, उसे देखने की क्षमता दें:—

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात् अन्यत्रास्मात्कृताकृतात्
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत् पश्यसि तद्वद॥



44. हरि-नगरी का पुनरावासन

धर्म की साधना से साध्य शुभ जीवन को प्रदान करनेवाले गोप्ता और शास्ता श्री रामचन्द्र के हाथ में वाली का निधन होने से किष्किंधा कालुष्य से दूर तो हो गई, पर वानर-जाति के मन में विक्षोभ, वालि के मन में विद्रोह, तारा के मन में संताप और सुग्रीव के मन में परिताप का एक साथ उदय हुआ है। रणवीर, पर गुणधीर राम एक-एक करके सबकी मानसिक व्याकुलता को शांत कर कपि-नगरी को हरि-नगरी बना देते हैं।

सबसे पहले वाली की बारी आती है। आकस्मिक और अप्रत्याशित शराघात से मर्माहत वाली के मन में विक्षोभ और विद्रोह का विस्फोट होना स्वाभाविक है। परन्तु राज्य-लालसा और काम-वासना के मोह-मद में मग्न होकर उसने स्वधर्म, परधर्म और परम धर्म की जो घोर अवहेलना की है, उसका वह तत्काल स्मरण नहीं कर पाता। धर्म-परायण राम के प्रवचन से उसका धर्मसम्मूढ मन आत्म-बोध को प्राप्त कर लेता है और विक्षोभ विवेक में बदल जाता है। देर से ही सही, उसके मन में विवेक का सूर्योदय हुआ है, इस पर रविकुलतिलक राम अपने को कृतकृत्य पाते हैं और किंचित् गर्व का भी अनुभव करते हैं क्योंकि जिस कारण से इस रण में उन्होंने पदार्पण किया है, वह कार्य का रूप धारण कर लेता है। वास्तव में यह विजय विकार पर विवेक की विजय है, स्वार्थ बुद्धि पर परार्थ बुद्धि की विजय है और वासना पर उपासना की विजय है। इसीलिए इसको इन्द्रपुत्र पर सूर्यपुत्र की विजय के रूप में कालजयी कवि-पुंगव ने प्रस्तुत किया है।

आत्मबोध से आंतरिक नेत्रोन्मीलन प्राप्त करने वाले वानरराज वाली के मन में सबसे अधिक चिंता अंगद की रहती है और उसके बाद तारा की। पर क्रूर शासक होने के साथ कुशल प्रशासक वाली भली-भांति जानता है कि अंगद की सुरक्षा और तारा की स्वरक्षा राम की कृपा पर निर्भर है, सुग्रीव की सुहृद् भावना पर नहीं ; क्योंकि सुग्रीव स्वयं राम के धनुर्बल के सहारे राज्य प्राप्त कर रहा है। इसीलिए कुशाग्रबुद्धि वाली पश्चात्ताप के स्वर में सबसे पहले राम से कहते हैं:—

न चात्मानमहं शोचे न तारां नापि बांधवान्।
यथा पुत्रं गुणज्येष्ठं अंगदं कनकांगदम्॥

(मुझे न अपनी चिंता है, न अपनी साध्वी पत्नी तारा की चिंता है और न अपने बंधु-बांधवों की है। मेरी चिंता केवल सुनहले अंग-लावण्यवाले और सर्वगुण संपन्न मेरे प्यारे बेटे अंगद के बारे में है।)

यहाँ पर विचारणीय प्रश्न यह है कि जो तारा अपने स्वामी को प्राणहारी युद्ध से वारित करने का हर प्रयास करती है और जो तारा अंगद जैसे सौ पुत्रों से भी अधिक अपने स्वामी को सर्वात्मना प्रियतम समझती है, उसकी भी अपेक्षा वाली अंगद के अभ्युदय के लिए क्यों चिंतित है। इसका कारण है-वाली के मन में उसके निधन के बाद अव्यवस्था और अराजकता फैलने की आशंका। वाली का उत्तराधिकारी अंगद होना चाहिए या सुग्रीव, इस बात में प्रजा के प्रबुद्ध नेताओं में मतभेद हो सकता है। सुग्रीव ने अपने बल-पराक्रम के आधार पर वाली को पराजित नहीं किया है। सुग्रीव

के लिए गोप्ता (रक्षक) तथा वाली के लिए शास्ता (शिक्षक) बनने के लिए कृतसंकल्प राम ने वाली के प्राण हर लिये। इसमें सुग्रीव का अपना कोई पुरुषार्थ नहीं है जिसके बल पर वह किंष्किधा के राज्य का अधिकारी बन सके। इसके विपरीत वाली के निधन के बाद उसका एकमात्र पुत्र अंगद राज्य का सहज अधिकारी बन जाता है। वास्तव में वाली के निधन के कुछ ही क्षण बाद रणभूमि में मरण-शयूया पर लेटे हुए अपने स्वामी को देखने के लिए अंतःपुर से बाहर निकलकर पागल की तरह रोते-बिलखते चल पड़ी तारा को देखकर किष्किंधा की प्रजा इस संभावना की ओर संकेत भी करती हैः–

जीवपुत्रे निवर्तस्व पुत्रं रक्षस्व चांगदम्।
अंतको रामरूपेण हत्वा नयति वालिनम्॥
रक्ष्यतां नगरी शूरैः अंगदश्चाभिषिच्यताम्।
पदस्थं वालिनः पुत्रं भजिष्यंति प्लवंगमाः॥

(तारा देवी, शुक्र करो तुम्हारा बेटा अंगद बाल-बाल बच गया। देखते ही देखते राम ने यमराज की तरह वाली के प्राण हर लिये। तुम अपनी नगरी की रक्षा करो, अपने राजा बेटे को गद्दी पर बिठाओ, सारी प्रजा अपने नये राजा का समर्थन करेगी, साथ देगी और हाथ मजबूत करेगी।)

जनता की इस वाणी में विद्रोह के बीज मिलते हैं, अव्यवस्था का आभास होता है और अराजकता की आशंका उत्पन्न होती है। पर पतिप्राणा और धर्म-परायणा तारा प्रजा की भीरुता की भर्त्सना करती है और महाबली वाली के निधन पर शोक-मूर्च्छित होकर कहती हैः'

पुत्रेण मम किं कार्यं राज्येनापि किमात्मना।
कपिसिंहे महाभागे तस्मिन् भर्तरि नश्यति॥

(हे मूढ़ वानरो, जब मेरे महामति पतिदेव वानर राज वाली ही सदा के लिए नष्ट हो रहे हैं तो मुझे अपने पुत्र से, राज्य से या अपने जीवन से भी क्या प्रयोजन है?)

सती साध्वी तारा की यह पतिनिष्ठि देखकर सुग्रीव का मन भी विचलित हो जाता है। जहाँ पर वाली के म्रियमाण प्राण मरण-शयूया पर विश्राम कर रहे हैं,वहाँ एक ओर धनुर्धर राम अपने धुरंधर भाई लक्ष्मण के साथ गंभीर मुखमुद्रा में दिखाई देते हैं और दूसरी ओर वाली के वैरी भ्राता सुग्रीव तारा और अंगद को वाली की ओर बढ़ते हुए देखकर विषाद-सागर में डूब जाते हैं। जब तारा अपने पति के गतायु शरीर के पास बैठ कर करुण क्रंदन करने लगती है, तो सुग्रीव के मन में पश्चात्ताप की ज्वाला भभकने लगती है। तारा का संताप सुग्रीव के परिताप में परिणत होने लगता है। सुग्रीव कभी वाली को देखते हैं जो प्रतीकार का शिकार बनकर जीवन के अंतिम क्षण गिन रहा है, कभी राम और लक्ष्मण को देखते हैं जो आदर्श भ्राता बनकर सामने खड़े हैं, कभी तारा और अंगद को देखते हैं जो दूसरों के अपराध के कारण स्वयं दंड भोग रहे हैं और फिर अपने को देखते हैं जो अपने ताप और अपमान से मुक्त होने के लिए अपने ज्येष्ठ भ्राता को प्राणों से मुक्त करा रहा है। सुग्रीव के मन में संताप, परिताप और पश्चात्ताप की जो लहरें उठ उठ कर उनके मनोबल को शिथिल बना रही हैं उनको हनुमान् पहचान जाते हैं। पल भर में वह समझ जाते हैं कि तारा को सांत्वना देने से ही इस ताप का उपशमन संभव है। इसी उद्‌देश्य से बुद्धिमान् हनुमान् तारा को विवेक, वैराग्य और विधि-विधेयता के प्राज्ञ वचनों से उद्‌बोधित करने का प्रयास करते हैं। पवन-तनय के प्रवचन में दर्शन, सांत्वना, धीरज, व्यवहार और लोकाचार की सारी बातें आ जाती हैं। पर तारा का मन कुछ नहीं मानता। वह केवल अपने पति को चाहती है और पति की बात सुनना चाहती है। पतिपरायणा पत्नी की इस मनोभावना को जानकर उसके स्वामी वाली सुग्रीव को अपने पास बुलाकर स्नेहभाव से क्षमा-याचना करता है और तारा तथा अंगद की रक्षा का भार उनको सौंप देता है। साथ ही वह अपने लाडले बेटे अंगद को भी शिक्षा देता है कि वह देश-काल को ध्यान में रखकर सुग्रीव का वशवर्ती बना रहे।

देशकालौ भजस्वाद्य क्षममाणः प्रियाप्रिये।

सुखदुःख सहः काले सुग्रीव वशगो भव॥

वाली का यह उपदेश-वाक्य किष्किंधा के समस्त कालुष्य, क्लेश और कश्मल को दूर कर देता है। तारा को सांत्वना मिलती है कि उसको अपने पति का अंतिम संदेश सुनने का अवसर मिला है। अंगद को पिता का आशीर्वाद मिलता है और साथ ही जीवन को दिशा दर्शनिवाला संदेश भी। सुग्रीव को अपने अपराध का बोध होता है, पर साथ-साथ बड़े भाई का स्नेह उसे संसिक्त बना देता है। राम का मन भी आश्वस्त हो जाता है कि धीरे-धीरे परिस्थिति प्रशांत और सुखांत बनती जा रही है। शारीरिक तेज की रक्षा करनेवाला कनक-हार जब वाली अपनी इच्छा से अपने भाई सुग्रीव के कंठ में डालकर आखिरी सांस लेता है तो तारा विलाप से विह्वल हो उठती है और सुग्रीव स्नेह से व्याकुल हो जाते हैं। सारा वातावरण स्नेह, सौहार्द, संताप, अनुताप, परिताप, पश्चात्ताप आदि कोमल तथा करुणार्द्र भावनाओं से आप्लावित हो जाता है।

तारा की अश्रुधारा देखकर सुग्रीव का मन उद्विग्न हो जाता है, दिल पिघल जाता है। समस्त जीवन की मनस्विता और तपस्विता पल भर में जवाब दे बैठती है। इस दिशामूढ दशा में उसे राम का इशारा पथप्रदर्शन का एकमात्र सहारा, प्रतीत होता है। समस्त नगरी का शोक-संताप अपने हृदय में लेकर वह राम के पास पहुँच जाता है और दीन-हीन स्वर में अपने प्रभु से विनम्र निवेदन करता है कि हे राम , मेरा मन राज्य में रम नहीं रहा है (न राम राज्ये रमते मनो मे)। राज्य-लालसा से पुरस्कृत अपनी कुत्सित मनोवृत्ति पर उसे बार-बार दया आती है, घृणा होती है और पश्चात्ताप से परिपीडित होकर राम से कहते हैंः—

अचिंतनीयं परिवर्जनीयं
अनीप्सनीयं अनवेक्षणीयम्
प्राप्तोऽस्मि पाप्मानमिदं वयस्य
भ्रातुर्वधात् त्वाष्ट्रवधादिवेन्द्रः ॥

(अपने भाई का वध कराने से मैं जिस पाप का भागी बन गया हूँ, उसके बारे में सोचना ही भयावह है। ऐसे पापी के पास कोई नहीं पहुँचेगा, उसको कोई नहीं चाहेगा और उसकी तरफ आँख उठाकर कोई नहीं देखेगा। वृत्र के वध से इन्द्र को जो पाप मिला, उसी प्रकार मैं भी घोर पापी बन गया हूँ।)

सुग्रीव की यह आत्मग्लानि पराकाष्ठा पर तब पहुँचती है जब वह इस पाप से मुक्त होने के लिए अपने पार्थिव शरीर को प्रज्वलित वह्नि से युक्त करना चाहता है। परिस्थिति के इस विषम विपर्यय को देखकर राम का मन भी कुछ विमन हो जाता है, पर इस अवस्थिति से ऊपर उठने और शोक-सागर में डूबे हुए वानर-परिवार को ऊपर उठाने में उनको अधिक समय नहीं लगता। समयोचित सतर्कता और सक्रियता से सचेत रामचन्द्र सुग्रीव से कुछ नहीं कहते, पर धीरे धीरे तारा की ओर चल पड़ते हैं। वह जानते हैं कि सुग्रीव के दुःख का कारण तारा का ही दुःख है और इसलिए तारा को शांत करने से सुग्रीव अपने आप शांत हो जाएँगे। वास्तव में राम शोकमग्न तारा की ओर दयार्द्र नयनों से केवल देखते हैं, उसकी ओर अपने चरण बढ़ाते नहीं। पर तारा के लिए इतना इशारा पर्याप्त था। समस्त संसार के स्वामी रामचन्द्र की रमणीय दृष्टि को अपनी ओर प्रसारित पाकर वह पुलक उठती है मानों वह स्वयं रामाक्षी बन गई हो। विशालाक्षी तारा विशालनयन राम को विस्फरित नेत्रों से विस्मय की मुद्रा में देखती है और देखते ही रह जाती है। वह अपने शरीर की सुध-बुध खो बैठती है जैसे समाधि लगाए बैठी हो। उसी समाधिस्थ दशा में तारा के मुँह से राम के लोकोत्तर लावण्य तथा गुण-वैभव का संकीर्तन निकलता है। वह राम को सम्बोधित कर कहती हैः'

त्वमप्रमेयश्च दुरासदश्च
जितेन्द्रियश्चोत्तम धर्मकश्च।
अक्षीण कीर्तिश्च विचक्षणश्च
क्षितिक्षमावानूक्षतजो पमाक्षः॥

(रघुनन्दन राम, आप देश, काल और वस्तु की सीमा से परे हैं, आपको कोई पहचान नहीं पाता। इसलिए आपके यहाँ तक पहुँचने का प्रश्न ही नहीं

उठता। आपको अपने आप पर पूरा नियंत्रण है और आप जो कुछ करते हैं, वह उत्तम धर्म का उदाहरण बन जाता है क्योंकि धर्म पालन करना आपका सहज स्वभाव है। आपका यश कभी क्षीण नहीं होता, आपके साथ-साथ वह भी प्रतिदिन बढ़ता ही रहता है। आप अत्यंत दूरदर्शी हैं। आप जो कुछ करते हैं, सब की भलाई के लिए करते हैं। धरती माता में जितनी सहिष्णुता है, उतने ही सहिष्णु आप भी हैं। फिर भी अन्याय, अधर्म और अत्याचार को आप सह नहीं सकते। आपके क्रोध का एकमात्र कारण यही हो सकता है।)

यह देखकर आश्चर्य होता है कि अपने पति का वध करनेवाले व्यक्ति का यह गुणगान तारा जैसी पति-परायणा पत्नी के मुँह से कैसे निकल रहा है। यह बात केवल रामायण के श्रोताओं और पाठकों को ही नहीं, बल्कि किष्किंधा के प्रबुद्ध वानर-वीरों को भी चकित कर देती है। यहाँ तक कि तारा भी स्वयं समझ नहीं पाती कि उसके मुँह से अचानक ये प्रशंसा-वाक्य कैसे निकले। इसका कारण धर्मात्मा राम की सत्यनिष्ठा का अलौकिक वर्चस्व अवश्य है जो उनकी मुख-मुद्रा पर तारा को स्पष्ट झलकता सा दिखाई देता है। पर साथ ही तारा की गुणग्राहकता भी उसको इस प्रकार के भव्य उद्गारों की उत्तम उद्गात्री बना देती है। तभी तो वह कहती है, "अमल कमलदल लोचन राम," आपका यह शरीर साधारण सांसारिक शरीर नहीं है, आप किसी अलौकिक आभा से युक्त दिव्य शरीर धारण कर इस धरातल पर अवतरित हुए हैं।"

श्रीराम के दिव्य तेज से अभिभूत होकर भी तारा अपनी आंतरिक वेदना की उपेक्षा नहीं कर पाती। वह राम से निवेदन करती है कि जिस बाण से आपने मेरे पति वाली का वध किया है, उसी के प्रयोग से मुझे मेरे पति के पास पहुँचा दें ताकि स्वर्ग में भी हम दोनों साथ रहें। धर्मात्मा राम को वह इस बात का विश्वास दिलाना चाहती है कि इसमें उनको पाप नहीं लगेगा क्योंकि पत्नीदान सबसे बड़ा दान है। बड़ी विनम्रता और शालीनता के साथ वह अपनी और अपने पति की वियोग-वेदना की असहनीयता को समझाने का प्रयास करते हुए कहती है कि सीता-वियोग से संतप्त आप इस पीड़ा को भली भांति समझ सकते हैं। ध्यान देने की बात है कि वाली और तारा दोनों राम के शर के शिकार बनते हैं। अंतर केवल इतना ही है कि वाली का शरीर उससे आहत होता है जबकिं उसका प्रहार तारा के कोमल नारी हृदय पर पड़ता है। दोनों की भर्त्सना भरी बातों में भी यह अंतर स्पष्ट दिखाई देता है। वाली कठोर शब्दों में राम के दुष्कृत्य का खंडन करता है जबकि तारा कांता-सम्मित स्वर में अपनी करुण कथा राम को निवेदित करती है। धर्म और अधर्म के मर्मज्ञ राम का स्पष्टीकरण सुनने के बाद ही वाली के मन में विवेक का उदय होता है जबकि तारा राम को देखते ही उनके लोकोत्तर व्यक्तित्व को पहचान लेती है। राम भी तारा की धीरता और गंभीरता को क्षण भर में समझ लेते है और अपनी बात शुरू करते ही कहते हैं– "मा वीरभार्ये विमतिं कुरूष्व" (तुम वीर पत्नी हो, इस प्रकार की बात तुमको सोचनी ही नहीं चाहिए।) इसके बाद संसार में सुख दुःख, संयोग-वियोग आदि को विधि के अधीन बताकर राम जो सांत्वना देते हैं, उससे तारा एकदम शांत हो जाती है। जैसे ही राम कहते हैं कि वीर-पत्नियाँ इस प्रकार विलाप नहीं करती हैं तो तारा के मुँह से तत्काल चीत्कार की ध्वनि बंद हो जाती है। वाल्मीकि के शब्दों में –"सा वीरपत्नी ध्वनता मुखेन सुवेषरूपा विरराम तारा"। श्रीराम का संबोधन तारा को न केवल वीरपत्नी की धीरता से युक्त बनाता है, बल्कि उसकी मानसिक विह्वलता पर एकदम पूर्ण विराम चिह्न लग जाता है। राम का यह आश्वासन कि तुम परम प्रेम को प्राप्त करोगी (प्रीतिं परां प्राप्स्यसि तां तथैव) तारा के लिए अमोघ आशीर्वाद बन जाता है। तत्काल वह मन-ही-मन परम प्रेम का अनुभव करती है जिसके सामने समस्त लौकिक प्रेम न तुल्य और नगण्य बन जाता है।

तारा को आश्वस्त करने के बाद सुग्रीव और अंगद की बारी आती है जिनको राम तदनंतर कर्तव्य

के प्रति सजग बनाते हुए कहते हैंः—

न शोक-परितापेन श्रेयसा युज्यते मृतः।
यदत्रानंतरं कार्यं तत्समाधातुमर्हथ ॥

(शोक-संताप करने से दिवंगत आत्मा का कोई कल्याण नहीं होता। अब जो काम करना शेष है, उसमें तत्काल सबको लग जाना चाहिए।)

इसके बाद राम लोकाचार, काल-गति, नियति, स्वभाव, दैव-निर्णय आदि कई बातों पर बहुत ही गंभीर विचार व्यक्त करते हैं जिनके आधार पर यह सिद्ध होता है कि वाली के निधन पर शोक करने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि उन्होंने अपने अच्छे-बुरे सभी कर्मों का फल भोग कर अपने धर्म-संयोग से पुण्य लोकों को प्राप्त किया है। काल की अविलंघनीयता को समझाते हुए राम कहते हैं कि संसार में न कोई किसी का कर्त्ता है, न कारक, न कारण और न कार्य। सबका एकमात्र आधार काल है। "तस्य कालः परायणम्"। काल भी स्वयं काल का उल्लंघन नहीं कर पाता। काल का स्वभाव अद्भुत है। वह न किसी को अपना-पराया समझता है और न उस पर किसी का प्रभाव काम कर सकता है। काल सबका कारण है और वह स्वयं अकारण है। इसी काल की गति में विलीन वाली के लिए सोचना विचारना व्यर्थ है और तात्कालिक कर्तव्य का पालन करना ही उचित है।

राम के इस दार्शनिक विवेचन को लक्ष्मण क्रिया में रूपांतरित करते हुए सुग्रीव को कर्तव्य कर्म की ओर प्रेरित करते हैं। लक्ष्मण की देख रेख में सुग्रीव, अंगद और तारा द्वारा वाली के दाह-संस्कार का आयोजन किया जाता है। वाली का पार्थिव शरीर रखने के लिए जो पालकी बनाई जाती है उसका इतना रमणीय वर्णन वाल्मीकि करते हैं जितना किष्किंधा नगरी का भी नहीं हुआ है। कविकोकिल की दृष्टि कभी-कभी लौकिक दृष्टि से अत्यंत साधारण मानी जाने वाली वस्तुओं पर इतनी आकृष्ट होती है कि देखनेवाले (पाठक) दृश्य की अपेक्षा दर्शक के दर्शन पर मुग्ध हो जाते हैं।

महाबली वाली की महायात्रा के लिए सुसज्जित शिबिका दिव्य रथ के समान दिखाई देती है जिस पर राजा के बैठने के लिए एक भद्रासन है। उत्तम शिल्पियों द्वारा बनाये गये कृत्रिम पक्षी और वृक्ष शिबिका की शोभा बढ़ाते हैं। देखने में सिद्धों के विमान-सी लगती है और उसमें कई खिड़कियाँ बनी हुई हैं और जालियाँ भी लगी हुई हैं, पुष्पहारों से अलंकृत और लाल चंदन द्वारा आलिप्त उस सुन्दर शिबिका को देखकर राम तत्काल दाह-संस्कार कराने को कहते हैं। वानरराज की प्रतिष्ठा और यशस्विता के अनुरूप दाह-संस्कार संपन्न होता है। संसार की सारी संपन्नता को छोड़कर आत्मा के अनन्त आलोक की ओर प्रस्थान करने वाले वाली की इस महायात्रा का इतना बढ़ा चढ़ा वर्णन करने में वाणी के मर्मज्ञ वाल्मीकि का क्या आशय था, इस बात को चित्रकूट की ओर चल पड़े भरत के सम्मान में भरद्वाज द्वारा आयोजित महाभोज के वर्णन से परिचित पाठक आसानी से समझ सकते हैं। रस शिल्पी वाल्मीकि अपने मुँह से कुछ नहीं कहते, अपने पात्रों के स्वर में स्वर मिलाकर उसी स्वर में रस का संचार करते हैं। वस्तु-जगत् की सारहीनता और सत्कर्मजनित संस्कार की सारवत्ता, मतिमत्ता और गुणवत्ता की ओर यह प्रसंग इतना मार्मिक संकेत करता है कि सुग्रीव, अंगद और तारा का समस्त मनोमालिन्य पल भर में प्रक्षालित हो जाता है और समस्त वानर-समाज नतमस्तक होकर राम के आदेश की प्रतीक्षा में खड़ा होता है।

पर राम से कुछ कहने का साहस केवल हनुमान् ही कर सकते हैं। सुग्रीव को वानर-समाज के बीच समासीन बनाकर हनुमान् राम की वंदना करते हैं और नपे तुले शब्दों में निवेदन करते हैं कि प्रभो, आपकी कृपा से यह महान राज्य प्राप्त हुआ है, आपके प्रसाद से यह महान् कार्य सिद्ध हो चुका है और अब आपकी आज्ञा से यह राज्य सुव्यवस्थित हो सकेगा। इसलिए आज्ञा दीजिये। हनुमान् के इस प्रस्ताव-वाचन में कहीं भी सुग्रीव का उल्लेख नहीं मिलता है। वाली के निधन से शून्य बनी नगरी पर किसका शासन होना चाहिए, इस बात का निर्णय वही कर सकते हैं जिन्होंने इसको शून्य बना दिया है। परिपूर्णता को शून्य बनानेवाला ही

शून्य को परिपूर्ण बना सकता है। इसके अधिकारी राम हैं और अधिकरण हरिनगरी है जिसका पुनरावासन सांप्रतिक आवश्यकता है।

बुद्धिमान् हनुमान् की इस संबुद्धि को राम बड़े ध्यान से सुनते हैं, पर तत्काल कुछ कहते नहीं। इस मौन की महत्ता को समझकर हनुमान् फिर यह निवेदन करते हैं कि यह (सुग्रीव) विधिवत् मंगल स्नान करके आपकी सेवा में प्रस्तुत हैं, आप किष्किंधा की सुन्दर नगरी में पधार कर इन्हें स्वामित्व से संबद्ध बना कर वानर समाज को आनन्द प्रदान करें। यहाँ भी हनुमान् सुग्रीव का नाम नहीं लेते हैं। "स्नातोऽयं" में जो "अयम्" शब्द है वह सुग्रीव भी हो सकता है और अंगद भी। इसमें राजतिलक की बात भी नहीं है, केवल "स्वामि-संबंध" का उल्लेख है। इतनी मार्मिक अभ्यर्थना के प्रत्युत्तर में राम अपना निर्णय देते हुए कहते हैं—

सुसमृद्धां गुहां दिव्यां सुग्रीवो वानरर्षभः
प्रविष्टो विधिवद् वीरः क्षिप्रं राज्येऽभिषिच्यताम्॥

(वानरश्रेष्ठ वीर सुग्रीव इस समृद्धिशालिनी दिव्य गुफा में प्रवेश करें और शीघ्र ही वहाँ पर इनका राज्याभिषेक सम्पन्न हो।)

हनुमान् से कहने के बाद राम सुग्रीव से कहते हैं:—

वृत्तज्ञो वृत्तसंपन्नं उदारबल-विक्रमम्।
इममप्यंगदं वीरं यौवराज्येऽभिषेचय॥

(मित्र, तुम सब कुछ जानते हो। यह कुमार अंगद सदाचार सम्पन्न है, उदार है, पराक्रमी है और वीर कहलाने योग्य है। इसलिए इसको भी युवराज पद पर अभिषिक्त करो।)

श्रीराम के निर्णय में जितनी निश्चयात्मिकता है, उतनी निर्लिप्तता भी है। राज्याभिषेक की अनुज्ञा तो वह देते हैं, पर राज्याभिषेक के समारोह में उपस्थित होने में अपनी विवशता प्रकट करते हुए कहते हैं कि चौदह वर्ष तक मैंने वनवास की दीक्षा ग्रहण की है, इसलिए किसी नगर या ग्राम में प्रवेश नहीं कर सकता। अपने मित्र के दुःख में साथ देना और सुख के समय उनको अकेले छोड़ने में न केवल निर्लिप्तता है बल्कि असाधारण उदारता भी है। राज्य और रुमा से दूर इतने वर्षों से अपमान और कष्ट सहने के कारण सुग्रीव के मन में राजभोग की लालसा का जाग्रत होना स्वाभाविक है। यह भी राम जानते हैं। इसलिए वह अपने मित्र को चार मास की अवधि देते हैं – विश्राम और पुनरावासन के लिए। बरसात का मौसम था, इसलिए सीता की खोज में सेना को भेजना भी संभव नहीं है। इन सब बातों को दृष्टि में रखकर राम अपने सखा सुग्रीव को चार मास तक सुख-सुविधा का पूरा अवसर देते हैं और कहते हैं कि कार्तिक महीने में सीता का अन्वेषण आरंभ किया जाएगा।

राम की इस उदारता, निर्लिप्तता और निश्चयात्मकता पर समस्त वानर-समाज आश्चर्यचकित हो जाता है और सुग्रीव तो अपने वरेण्य मित्र की वदान्यता के सामने नत-मस्तक हो जाते हैं। राज्याभिषेक का समारोह राम के आदेश और आशीर्वाद से सफलतापूर्वक संपन्न होता है। सारी प्रजा नवागत राजा का स्वागत करती है और विगत को कुछ ही दिनों में विस्मृत कर देती है। कपिनगरी किष्किंधा को हरिनगरी बनाकर फिर से बसाने वाले राम प्रस्रवण पर्वत की एक एकांत गुफा को अपना शांति-सदन बनाकर विश्राम करते हैं – भाई लक्ष्मण के साथ। उपकृत मित्र राजभोग में मस्त हैं और उपकारी मित्र सती-वियोग में विरह की घड़ियाँ गिनते हुए बैठे हैं। इसी में राम की रामणीयकता है जो अपने सुख के प्रति आतुरता की अपेक्षा दूसरों के दुःख के प्रति कातरता अधिक रखती है। राम का जन्म ही पुनर्वसू नक्षत्र में हुआ है जिसका स्वभाव पुनर्वासन या पुनरावासन है।



45. राजभोग में राम-रागिनी

अपने सुख में मस्त होकर आप्तजनों के संकट की उपेक्षा करना मानव-मात्र की दुर्बलता है जबकि आप्त जनों को सुखी पाकर अपने दुःख को भूल जाना महामानव का लक्षण है । आत्मभोग और आत्मयोग को आरेखित करनेवाली ये दोनों प्रवृत्तियाँ सुग्रीव के राजतिलक के बाद क्रमशः किष्किंधा और प्रस्रवण पर्वत क्षेत्र में परिलक्षित होती हैं । नवागत राज्यलक्ष्मी एवं गृहलक्ष्मी का यथेष्ट उपभोग करने में तल्लीन वानरराज सुग्रीव अपने उपकारी मित्र को दिए गए वचन का समय पर पालन करने के दायित्व पर यथोचित ध्यान नहीं दे पाते । इसके लिए उपकारी मित्र को उपकृत का ध्यान दिलाना पड़ता है । पेड़ की डाल पर आराम से सोनेवाले अविवेकी प्राणी को आत्म-बोध तभी होता है जब वह पेड़ से गिर पड़ता है । राजभोग में प्रमत्त राजा सुग्रीव की लगभग यही स्थिति हो गई, पर रामरागिनी की अनुराग-माधुरी उनको इस प्रमाद से बचाती है ।

धीर-गंभीर राम की उदारता इस बात में है कि उन्होंने न केवल अपने मित्र को संकट से मुक्त बनाकर सुख प्रदान किया बल्कि स्वयं अपने को संकट में डालकर उनको सुख भोगने के लिए पर्याप्त समय भी दिया । आषाढ से लेकर आश्विन तक के चार महीने आराम से बिताकर कार्तिक मास के आरंभ होते ही सीता के अन्वेषण के लिए उद्यत होने का आदेश देकर राम सुग्रीव को बिदा करते हैं । पर चातुर्मास्य की इस अवधि में सुग्रीव न कभी राम के पास आने का कष्ट करते हैं और न इस बीच संपन्न कार्य का निवेदन करने की आवश्यकता अनुभव करते हैं । इस बीच में हनुमान् अवश्य सुग्रीव को याद दिलाते हैं और वानर-सेना को एकत्रित करने का सुझाव देते हैं । हनुमान् के प्रस्ताव को सुग्रीव सहर्ष स्वीकार करते हैं । पर उसके कार्यान्वयन का समस्त भार वह हनुमान् के ऊपर छोड़कर फिर विलासिता में विलीन हो जाते हैं । "स्वयं चानंतरं कार्यं भवानेवानुपश्यतु" (इसके बाद हमें जो भी करना है, उस पर तुम स्वयं ध्यान दो) कहकर वह संतुष्ट हो जाते हैं । वह अपने सुख में दूसरों का दुःख भुला देते हैं जबकि राम अपने दुःख को भी भूलकर अपने मित्र के सुख का पूरा-पूरा ध्यान रखते हैं । इसी में राम की असाधारण सहिष्णुता और अलौकिक प्रभविष्णुता है ।

मानव-जीवन के सुख-दुःख के प्रति राम का दृष्टिकोण प्रस्रवण पर्वत पर स्पष्ट परिलक्षित होता है । सुख-दुःख की अनुभूति केवल मानव-मन में ही नहीं बल्कि प्रकृति के हास-विलास, तथा विनोद-विषाद में भी होती है, इसी रहस्य को यह प्रसंग उद्घाटित करता है । इसीलिए इस प्रसंग में राम के मुँह से निकलनेवाला प्रत्येक वाक्य समयोचित और सार्थक बनता है जिसे महर्षि वाल्मीकि 'कालयुक्त' और 'महद्वाक्य' कहते हैं (कालयुक्तं महद्वाक्यं उवाच रघुनंदनः) । वास्तव में यह महाकाल का महाभाष्य है जो एक महामानव के द्वारा सम्पन्न हो रहा है । बाह्य दृष्टि से यह केवल प्रकृति का निरीक्षण है, पर तत्त्वतः यह प्रकृति और पुरुष के तादात्म्य को एक मधुमती भावभूमिका में प्रस्तुत करता है जहाँ प्रकृति परा-प्रकृति बनती है और पुरुष परमपुरुष बनता है । पर महाकाल का

महाभाष्यकार मनन की इस महनीयता से परिचित नहीं है। सहज रूप से उसकी वाणी में यह सात्विकता अपनी निसर्ग सारगर्भिता के साथ प्रकट होती है।

उधर किष्किंधा में सुग्रीव अपने राजभोग में मस्त हैं और इधर अयोध्या के राजकुमार राम और लक्ष्मण प्रस्रवण पर्वत पर वर्षा ऋतु की जलधाराओं में अपनी विचार-धाराओं को प्रतिबिंबित पाकर सुख-दुःख की मिली-जुली अनुभूति में व्यस्त हो रहे हैं। पर प्रकृति की रमणीयता में रममाण राम को पर्वत की गुफा अत्यंत रमणीय दिखाई देती है। विशाल गुफा, खुली हवा, रंग-बिरंगे छोटे-बड़े और तरह-तरह के प्रस्तर-खंड, नाना प्रकार की खानें, शिलाओं को सलिल से संसिक्त बनाकर मस्ती में मंद मंद बहनेवाली मादक नदियाँ, अहेतुक आनन्द से उछलते-कूदते आगे बढ़ने वाले मेंढक, समस्त प्रान्तर की शोभा बढ़ाने वाले नाना प्रकार के वृक्ष, पक्षी, बादल, जलचर-वनचर, मुनिगण आदि एक से बढ़कर एक रघुनंदन के रमणीय अंतरंग को आह्लादित कर देते हैं। पारिस्थितिकी द्वारा परिकल्पित प्रसन्न रमणीयता से पुलक उठकर राम का अंतरंग कहता है:—

अहो सुरमणीयोऽयं देशः शत्रुनिषदून।
इदं रंस्याम सौमित्रे साध्वत्र निवसावहे॥

(यह स्थान कितना सुन्दर और कितना रमणीय है। यहाँ पर हमारा मन अवश्य लग जायेगा क्योंकि यह बाहर और भीतर के शत्रुओं को नष्ट करनेवाला 'सुमित्रास्पद' स्थान है और हमारे लिए उपयुक्त और वास योग्य है।)

सुमित्रा के प्रियनंदन और शत्रुघ्न के भ्राता लक्ष्मण को संबोधित करते हुए राम यह बात कह रहे हैं। इससे स्पष्ट होता है कि लौकिक सुख-दुःख को भुलाकर अलौकिक आत्मबोध करानेवाली प्राकृतिक सुषमा को देखकर राम पहले भीतर के शत्रुओं को शांत कर रहे हैं ताकि बाहर के शत्रु का संहार करने में सुविधा हो। इस शांति-साधना में राम और लक्ष्मण एक-दूसरे के सहायक और सहसाधक बन जाते हैं। सीता की स्मृति जब राम को विक्षुब्ध कर देती है तो लक्ष्मण अपने देवतुल्य अग्रज को आत्मबोध कराते हुए कहते हैं:—

भवान् क्रियापरो लोके भवान् देवपरायणः।
आस्तिको धर्मशीलश्च व्यवसायी च राघवः॥

(आप संसार में सक्रियता के साकार रूप हैं। आप अपनी दिव्यता को पहचानकर उसका पोषण करनेवाले दिव्यपुरुष हैं। आपको अपने ऊपर विश्वास है। आप धर्म का पालन करनेवाले कर्मठ कार्यकर्त्ता हैं।)

लक्ष्मण का यह अभिभाषण राम को प्रकृतिस्थ बना देता है। वर्षा का समय उद्यम के लिए अनुकूल नहीं पड़ता, इसलिए शरत् के निर्मल वायुमंडल की प्रतीक्षा में वह अपने आपको आश्वस्त करते हुए कहते हैं कि सुग्रीव का मनोवेग और नदियों का प्रवाह-वेग जब तक शांत न हों तब तक मैं शांत चित्त होकर शरत् की प्रतीक्षा करूँगा (सुग्रीवस्य नदीनां च प्रसादमभिकांक्षयन्)।

वर्षा की गतिशीलता में जहाँ राम को अपनी कार्यसिद्धि में अल्पकालीन गतिरोध दिखाई देता है, वहाँ वह शरत् के शुभागमन की प्रतीक्षा में अभीष्ट की प्राप्ति को स्पष्ट रूप से प्रतिभासित पाते हैं। आशा और निराशा के इस विलक्षण झूले में उनकी विचार-लहरी कभी भौरों के प्रणय-गीत में अपना प्रणव-नाद मिलाकर गाती है तो कभी वन-मयूरों के साथ सम पर ताल मिलाकर नाचती है। कभी गजराज की मदमाती चाल में वह अपने को गतिशील, पर अप्रमत्त पाने का प्रयास करते हैं तो कभी प्रिया के विरह में व्याकुल चक्रवाक के स्वर में स्वर मिलाकर सीता के ध्यान में एकदम खो जाते हैं। एक पर्वत को दूसरे पर्वत से मिलानेवाले बादलों और दावानलों को देखकर राम के मन में भी सीता-संगम की आशा, अभिलाषा और आकांक्षा जाग उठती है।

धीरे-धीरे वर्षा के बादल बिखर जाते हैं। आकाश निर्मल बन जाता है। चन्द्र-मंडल स्वच्छ दिखाई देता है। पर राजभोग में मस्त सुग्रीव न बाहर निकलते हैं और न कोई संदेश ही भेजते हैं। शारदीय

शोभा से चारों तरफ फुल्ल और उल्लसित प्रकृति को देखकर विरही राम को विरहिणी सीता का बार-बार स्मरण आता है और सुग्रीव के मौन से यह स्मरण धीरचित्त रघुवीर के लिए और भी मर्मांतक प्रतीत होता है । चन्द्रमा के कोमल कर-स्पर्श से पुलकित होकर अपने आप अंबर को छोड़नेवाली रागवती संध्या-सुन्दरी को देखकर सीतापति को अपनी अर्द्धांगिनी की स्निग्ध शीतलता का अचानक स्मरण हो आता है । हंस, मयूर, गजेन्द्र, गवेन्द्र आदि चराचर समस्त प्राणियों को प्रणयप्रवण बनानेवाली शरदृऋतु के उन्मुक्त हास-विलास की ओर भी ध्यान न देने वाले सुग्रीव पर दोनों राजकुमारों के मन में सात्विक क्रोध का उदय होता है । लक्ष्मण लक्षणा का आश्रय लेकर सीता के अन्वेषण की सत्वर आवश्यकता की ओर श्रीराम का ध्यान आकृष्ट करते हैं तो सुमित्रानन्दन के सौम्य संकेत को तत्काल ग्रहण कर मर्यादापुरुषोत्तम राम कहते हैं:–

चत्वारो वार्षिका मासा गता वर्षशतोपमाः ।
अहं वानरराजस्य परिभूतः परंतपः ॥

(बरसात के चार महीने सौ वर्षों की तरह बड़ी कठिनाई के साथ बीत चुके हैं । पर वानरराज सुग्रीव मुझे वचन देकर मेरा अपमान कर रहा है । उसे पता नहीं कि मैं शत्रुओं को संताप देने वाला परंतप भी हूँ ।)

ग्राम्य-सुख में मग्न होकर अपने मित्र को दिए गए वचन को विस्मृत करनेवाले दुरात्मा सुग्रीव को सबक सिखाने के लिए राम लक्ष्मण के द्वारा एक तीखा संदेश भेजते हैं जो राम के अमोघ बाणों से भी अधिक तीक्ष्ण होता है । संदेश है:–

न स संकुचितः पंथा येन वाली हतो गतः ।
समये तिष्ठ सुग्रीव मा वालिपथमन्वगाः ॥

(सुग्रीव ! जिस मार्ग से वाली परलोक चला गया, वह इतना छोटा नहीं है कि उसमें और किसी के लिए स्थान ही न मिले । उस पर और भी लोग जा सकते हैं । इसलिए तुम अपने वचन पर डटे रहो । वाली के मार्ग पर चलने की गलती मत करो ।)

जैसे ही राम के मुँह से यह प्रखर शब्द तीर के समान निकलता है, लक्ष्मण के भीतर प्रच्छन्न क्रोध एकदम प्रकट हो जाता है और वह तत्काल यमराज के पास पहुँचाने की बात करते हैं । इस पर आत्मवान् राम अपने भाई को जित-क्रोध बनने का उपदेश देकर किष्किंधा भेजते हैं । अपराधी के अपराध का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त किए बिना किसी को दंड देना कोदंडधारी राम के लिए अभीष्ट नहीं है । इसलिए वह वस्तुस्थिति को समझकर कार्यसाधक भूमिका निभाने के लिए लक्ष्मण को सुग्रीव के पास भेजते हैं ।

वास्तव में सुग्रीव पूर्ण रूप से अपराधी नहीं है । सूक्ष्मबुद्धि हनुमान् के कहने पर उन्होंने चारों दिशाओं से वानर सेना को एकत्रित करने की दिशा में सक्रिय कदम उठाया है । पर इसकी सूचना राम के पास नहीं पहुँचाई गई, यही उनकी गलती है । इसीलिए राम अपना क्रोध केवल वाणी में प्रकट करते हैं, आचरण में नहीं । पर रामानुज अपने अग्रज से कुछ आगे बढ़कर कहते हैं कि असत्यवादी सुग्रीव को आज ही समाप्त कर देता हूँ तो राम अपने भाई को शांत भाव से काम लेने की सलाह देते हैं । राजभोग में प्रमत्त राजा सुग्रीव के कानों में रामरागिनी समुचित स्वर में सुनाना ही लक्ष्मण का काम है ताकि सुग्रीव अपनी तंद्रा से जाग उठे ।

राम का संदेश लेकर प्रज्वलित प्रलयानिल की भांति, क्रोधमूर्च्छित नागराज की तरह लक्ष्मण सुग्रीव के राजभवन में प्रवेश करते हैं तो सारे वानर त्रस्त हो उठते हैं और सुग्रीव के पास जाकर आसन्न संकट की सूचना देते हैं । पर कामवासना में निमज्जित सुग्रीव के कानों में वानरों की बात पहुँचती तक नहीं । इसी बीच युवराज अंगद का लक्ष्मण से साक्षात्कार होता है । अंगद के माध्यम से लक्ष्मण अपने आगमन की सूचना सुग्रीव के पास पहुँचाते हैं । संदेशवाहक अंगद स्वयं लक्ष्मण के आवेगपूर्ण स्वर से उद्विग्न हो जाता है और भयभीत होकर पहले सुग्रीव, फिर तारा और अंत में रूमा के चरणों में प्रणाम करते हैं । अब सुग्रीव की समझ में आता है कि वास्तव में वह संकट में हैं ।

बाहर का कोलाहल और भीतर शय्या तक पहुँचा हुआ मर्मांतक संदेश सुग्रीव को आसन से हिला देता है। थोड़ी देर तक उनकी समझ में नहीं आता कि उन्होंने ऐसा क्या काम किया है जिससे लक्ष्मण को इतना क्रोध आया। वह समझते हैं कि मैंने न तो कोई अनुचित बात कही और न कोई अनुचित कार्य किया (न दुर्व्याहृतं किंचित् नापि मे दुरनुष्ठितम्)। पर बुद्धिमान् हनुमान् सुग्रीव को समझाते हुए कहते हैं कि राम या लक्ष्मण के इस क्रोध का कारण उनका प्रेम ही है (सर्वथा प्रणयात् क्रुद्धो राघवो नात्र संशयः)। पर दूसरे ही क्षण में वह सुग्रीव को उनके अपराध का भी बोध कराते हुए कहते हैं– "त्वं प्रमत्तो न जानीषे कालं कालविदां वर" (आप स्वभाव से समयोचित कार्य करनेवाले हैं, पर इन दिनों प्रमादवश आपको समय का बोध नहीं रहा।) फिर अंत में वह अपने स्वामी को सतर्क करते हुए और सात्विक स्वर में उनको सत्परामर्श देते हुए कहते हैं:–

तस्य मूर्ध्ना प्रणम्य त्वं सपुत्रः ससुहृज्जनः।
राजन् तिष्ठ स्वसमये भर्तुर्भार्येव तद्वशे॥

(राजन्, आप अपने परिवार तथा मित्रों के साथ जाकर उनके चरणों पर अपना मस्तक झुकाकर उनको प्रणाम कीजिए और साथ ही अपने दिए वचन का पालन कीजिए। जैसे पत्नी अपने पति के अधीन रहती है, वैसे ही आपको श्रीराम के अधीन रहकर उनकी आज्ञा का पालन करना चाहिए।)

हनुमान् के इन वचनों से सुग्रीव का न केवल नेत्रोन्मीलन होता है, बल्कि वह श्रीराम से क्या, उनके भाई लक्ष्मण से भी मिलने का साहस नहीं कर पाते। लक्ष्मण की रूप-कल्पना मात्र से वह त्रस्त हो उठते हैं और उन्हें शांत करने के लिए तारा को भेजते हैं क्योंकि वीरागंनाओं का वीर-पुरुष सदा आदर करते हैं। अब वीर-वनिता तारा इस महत्त्वपूर्ण भूमिका को बड़ी सावधानी और शालीनता से निभाती है। लक्ष्मण को देखते ही वह बड़ी विनम्रता से पूछती है:–

किं भेदमूलं मनुजेन्द्रपुत्र।
कस्ते न संतिष्ठति वाङ् निदेशे॥
कः शुष्कवृक्षं वनमापतंतं
दावाग्निमासीदति निर्विशंकः॥

(राजकुमार ! आपके क्रोध का कारण क्या है? आपकी आज्ञा का पालन किसने नहीं किया? किसमें इतना साहस है कि वह सूखे पेड़ों से भरे वन में आग लगा कर उसमें आराम से घुस सके।)

तारा की बातों में सांत्वना और सात्विकता की सहज अभिव्यक्ति पाकर प्रकृत्या सदय हृदय लक्ष्मण तनिक शांत हो जाते हैं, पर सुग्रीव की विषयलोलुपता के कारण घटित धर्मलोप और अर्थलोप की तारा के सम्मुख वह निर्भीक व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। धर्म और अर्थ को समूल नष्ट करनेवाली असंयत कामवासना की भर्त्सना करते हुए संदेशवाहक लक्ष्मण तारा को सतर्क कर देते हैं। पर तारा लक्ष्मण को इस बात का विश्वास दिलाने का प्रयास करती है कि सुग्रीव का अंतःकरण शुद्ध है। केवल चिरकाल से संचित सुख-लालसा के वशीभूत होकर वानरराज समय का ज्ञान खो बैठे हैं। जाति से वानर होने के कारण इस प्रमाद के लिए वह क्षंतव्य हैं क्योंकि वासना का उन्माद महर्षियों को भी धर्म और अर्थ के संग्रह से वंचित कर देता है। इसके लिए तारा विश्वामित्र का उदाहरण देती है जो मेनका में आसक्त होकर समय की सुध-बुध खो बैठे थे। फिर साधारण वानर की क्या स्थिति हो सकती है, यह लक्ष्मण की कल्पना पर छोड़ देती है। पर साथ ही वह लक्ष्मण को इस बात की सूचना भी देती है कि रावण जैसे दुर्जेय शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिए जो अपार वानर सेना आवश्यक है, उसे एकत्रित करने का प्रयास किया जा रहा है और वह सारी सेना आजकल में किष्किंधा पहुँचने वाली है। इतनी विस्तृत भूमिका बाँधने के बाद तारा लक्ष्मण को राजमहल के भीतर सुग्रीव के पास ले जाती है।

सुग्रीव को विषय-वासना के उन्मुक्त उपभोग की मुद्रा में देखकर लक्ष्मण की आँखें लंबी-चौड़ी हो जाती हैं और लक्ष्मण को देखकर सुग्रीव की आँखें भी भय के कारण लंबी-चौड़ी हो जाती हैं। दोनों एक दूसरे को अपने विशाल नेत्रों से देख लेते हैं। संवाद का आरंभ

सुमित्रानन्दन ही करते हैं । राजनीति की कुछ सैद्धान्तिक बातें करने के बाद लक्ष्मण शुद्ध यथार्थ पर आते हैं और स्पष्ट शब्दों में सुग्रीव पर कृतघ्नता, मिथ्यावादिता, अशिष्टता आदि दोषों को आरोपित करते हैं । अंत में राम का वह शरतुल्य वाक्य भी सुनाते हैं जिसमें वाली के मार्ग का अनुसरण करने से होनेवाले घोर अनर्थ की ओर मार्मिक संकेत किया जाता है और प्रतिज्ञापूर्वक राम को दिये गये वचन का विधिवत् पालन करने का उपदेश दिया जाता है ।

लक्ष्मण के इस तीक्ष्ण, रूक्ष और कटाक्षभरे आक्षेप का समाधान सुग्रीव दे नहीं पाते । पर तारा अपनी अनुनय-विनय के साथ फिर एक बार लक्ष्मण को प्रसन्न बनाने का प्रयास करते हुए कहती हैः—

प्रसादये त्वां धर्मज्ञ सुग्रीवार्थं समाहिता ।
महान् रोष-समुत्पन्नः संरंभस्त्यज्यतामयम् ॥

(धर्म के आप सम्यूक ज्ञाता हैं । सुग्रीव की भलाई के लिए मैं एकाग्र चित्त से आपसे क्षमा माँगती हूँ । आप उन पर प्रसन्न होकर इस अदम्य क्रोध को त्याग दीजिये ।)

तारा की यह धर्म सम्मत अभ्यर्थना लक्ष्मण को क्षणभर के लिए शांत बना देती है। प्रशांत लक्ष्मण को देखकर सुग्रीव मुँह खोलकर कुछ कहने का साहस करते हैं । पहले वह अपना आसन छोड़ देते हैं, फिर कंठहार फेंक देते हें और धीरे-धीरे लक्ष्मण के पास पहुँच कर अपनी लघुता और श्रीराम की गुरुता का सश्रद्ध निवेदन करते हुए कहते हैंः—

कः शक्तस्तस्य देवस्य ख्यातस्य स्वेन कर्मणा ।
तादृशं प्रतिकुर्वीत अंशेनापि नृपात्मज ॥

(राजकुमार लक्ष्मण ! दिव्य शक्ति से संपन्न राम अपने ही तेज और पराक्रम से अपना कार्य सिद्ध करने में सर्वथा समर्थ हैं । उनके द्वारा किए गए उपकार का प्रत्युपकार करने की शक्ति इस संसार में किसी में नहीं है । आंशिक रूप से ही सही, मैं उस उपकृति की प्रतिकृति नहीं कर सकता ।)

अंत में विश्वास और प्रेम के कारण हुई त्रुटि के लिए क्षमा-याचना करते हुए सुग्रीव कहते हैंः—

यदि किंचिदतिक्रांतं विश्वासात् प्रणयेन वा ।
प्रेष्यस्य क्षमितव्यं मे न कश्चिन्नापराध्यति ॥

(यदि मुझसे कोई अपराध हुआ है तो इसका कारण केवल श्रीराम के प्रति मेरे मन में प्रतिष्ठित विश्वास या प्रेम ही हो सकता है । इसलिए इस अनुचर का अपराध क्षम्य है । संसार में शायद ही कोई सेवक हो जिससे कभी कोई भूल नहीं होती हो ।)

सुग्रीव की इस विनीत क्षमा-याचना पर लक्ष्मण प्रसन्न होते हैं और उनको शीघ्र ही श्रीराम के पास जाकर उन्हीं से क्षमा-याचना करने का परामर्श देते हैं । तदनुसार राजकीय परिवेश तथा रामाश्रयी मनोयोग के साथ सुग्रीव लक्ष्मण के साथ श्रीराम के पास पहुँच जाते हैं । इस बीच हनुमान् वानर सेनापतियों को एकत्रित करते हैं । जैसे ही सेनापति सुग्रीव की सेवा में उपस्थित होते हैं, करोड़ों वानर नाना प्रकार के वन्य उपहार लेकर आते हैं । अपनी समस्त वानर-सेना को एकत्रित पाकर सुग्रीव परम प्रसन्न मन से श्रीराम की सेवा में उपथित हो जाते हैं । नय, विनय, भय, प्रणय आदि समस्त भाव-संपदा को लेकर भावुक सुग्रीव भाव-योगी दाशरथी के श्रीचरणों में नतमस्तक हो जाते हैं तो करुणासिंधु अपार प्रेम और अभिमान के साथ अपने सखा को अपनी बाहों में बाँध लेते हैं । बस, पलभर के आलिंगन में चार मास से घनीभूत भोग-लालसा पिघल-पिघल कर राम-रसायन में परिणत हो जाती है । जैसे इन्द्र का स्वभाव सकाल वर्षा से धरती को सस्य श्यामला बनाना है, सूर्य का धर्म अंधकार को हटाकर प्रकाश फैलाना है और चन्द्रमा का लक्षण प्राणियों के मन को आह्लादित करना है, उसी प्रकार मित्रों का उपकार करना और प्रियवादिता तथा हितकारिता के द्वारा उनके मन को प्रसन्न रखना श्रीराम का नैज गुण है । पर हाथ जोड़कर अपने सामने खड़े हुए आप्त मित्र को वह इन गुणों से सम्पन्न बताकर अपने को ही उनका ऋणी मानते हैं । रामरागिनी की स्वरलहरी में मुखरित अक्षर इस प्रकार हैंः—

त्वत्सनाथः सखे संख्ये जेतास्मि सकलानरीन् ।
त्वमेव मे सुहृन्मित्रं साहाय्यं कर्तुमर्हसि ॥
(हे मित्र, तुम्हारे साथ रहने से मेरा मनोबल इतना सशक्त बन जाता है कि मैं संसार के समस्त शत्रुओं पर विजय पा सकता हूँ । मित्र हो तो तुम्हारा जैसा होना चाहिए । इसलिए मुझे तुम्हारी सहायता की परम आवश्यकता है ।)

भोग और त्याग का अंतर मिटाकर एक विलक्षण भाव-योग का सृजन करनेवाली यह राम-रागिनी बाह्य और अभ्यंतर - दोनों प्रकार के शत्रुओं को सम्मोहित कर उनके मन में सात्विक समर्पण की भावना को जागरित कर सकती है । यही रागिनी आगे चलकर आत्म-विजय के आनन्दवर्द्धन में सहयोगिनी सिद्ध होने वाली है ।



46. अन्वेषण आरंभ चतुर्दिक्

राजभोग में निमज्जित वानर-राज सुग्रीव को मोह की निद्रा से जगाकर तदनंतर कर्त्तव्य के प्रति सजग और प्रजागर बनाने में राम-रागिनी महत्तर सफलता प्राप्त करती है । सुग्रीव के संकेत मात्र से पल भर में समस्त वानर-सेना राम की सेवा में प्रस्तुत हो जाती है । सेना के संचरण-वेग से धरती काँप उठती है, आकाश गरज उठता है और बीच का सारा अवकाश हाथी जैसे वानरों के पद-रज से धूसरित हो जाता है । धरती में, समुद्र में और आकाश में स्वच्छंद विचरण करने में समर्थ करोड़ों वानर अपने स्वामी सुग्रीव की आज्ञा की प्रतीक्षा में अप्रमत्त रहते हैं और राजा सुग्रीव अपने प्रभु राम के संकेत की सातुर प्रतीक्षा में रहते हैं । देश के नाना प्रदेशों से समागत तथा समुचित स्थानों पर सन्निविष्ट समरवीर वानरों का राम से परिचय कराकर सुग्रीव समयोचित आदेश की अभ्यर्थना करते हुए कहते हैं:

यन्मन्यसे नरव्याघ्र प्राप्तकालं तदुच्यताम् ।
तव सैन्यं त्वद्वशे युक्तमाज्ञापयितुमर्हसि ॥

(हे नर-पुंगव, इस समय आप जो आचरण उचित समझते हैं, उसी का आदेश दीजिए । यह सारी सेना आपकी है और आपके अधीन है । इसलिए आप उपयुक्त तथा समयोचित आज्ञा दीजिए ।)

सुग्रीव की इस सर्वसमर्पण भावना से संतुष्ट होकर दशरथनंदन राम अपने आत्मसखा को आत्मीयता के साथ प्रगाढ़ आलिंगन का परम सुख प्रदान कर कहते हैं:—

नाहमस्मिन् प्रभुः कार्ये वानरेन्द्र न लक्ष्मणः ।
त्वमस्य हेतुः कार्यस्य प्रभुश्च प्लवगेश्वर ।
त्वमेवाज्ञापय विभो मम कार्य-विनिश्चयम् ।
त्वं हि जानासि मे कार्यं मम वीर न संशयः ॥

(हे कपिराज सुग्रीव, इस मामले में मेरी कोई प्रभुता नहीं है और न मेरे भाई लक्ष्मण की । इस समय जो काम करना है, उसका पूरा पूरा अधिकार तुम्हें प्राप्त है । तुम ही प्रभु हो, विभु हो । प्रकृत्या वीर होने के कारण तुम जानते हो कि कैसी आज्ञा देने से मेरा कार्य सिद्ध हो सकेगा ।)

फिर भी समयज्ञ राम समयोचित कार्य की ओर संकेत करते हुए कहते हैं कि अब पहले यह पता करना चाहिए कि सीता जीवित है या नहीं और यदि जीवित है तो कहाँ है और उसका अपहर्ता रावण कहाँ हैं । राम की इस रमणीय वाग्वैखरी में सुग्रीव के लिए आचरण-सूत्र भी मिलता है और साथ-साथ मनोबल भी । क्या करना चाहिये, इतना भर राम बता देते हैं और वह काम कैसे करना चाहिए, इस को सुग्रीव की प्रज्ञा पर छोड़ देते हैं । सुग्राही सुग्रीव भी संकेत मात्र से समझ जाते हैं कि आततायी रावण पर आक्रमण करने से पहले सीता-माता का अन्वेषण करना आवश्यक है क्योंकि इस अन्वेषण के माध्यम से ही सीता की स्थिति और रावण की गति का एक साथ समग्र बोध हो सकेगा और आगे का मार्ग भी प्रशस्त हो जायेगा ।

सुग्रीव का मन जितना सूक्ष्मग्राही है, उतना शीघ्रगामी भी है । क्षणभर में वह निर्णय कर लेते हैं कि

यह अन्वेषण किस प्रकार, किस दिशा में, किन-किन वीरों के द्वारा संपन्न कराया जा सकता है। उनको इस बात का निर्णय करने में तनिक भी देर नहीं लगती कि यह अन्वेषण चारों दिशाओं में एक साथ होना चाहिए ताकि कूट योद्धा रावण को कहीं भाग जाने या अपनीता सीता को कहीं छिपा कर रखने का अवसर नहीं मिले। पूरब, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर-चारों दिशाओं में चार-चार दलों को सुविचारित मार्ग पर भेजा जाता है।

सबसे पहले पूर्व दिशा में विनत नाम के यूथपति को शतसहस्र वानर सेना के साथ प्रस्थित किया जाता है। वन, कानन, दुर्ग, पर्वत, नद, नदी, सागर, नगर, नागरिक, ऋषि-मुनि आदि जितनी दूर दिखाई देते हैं, उतनी दूर जाकर सीता की स्थिति और रावण की गति का पता लगाने का आदेश दिया जाता है। यूथपति विनत को सुग्रीव केवल दिशा-दर्शन नहीं करते बल्कि उस मार्ग में दिखाई देनेवाले स्थलों की ओर भी संकेत करते हैं और अन्वेषण में आनेवाले अवरोधों के प्रति भी उनको सतर्क कर देते हैं। पर यह दिशा-दर्शन कभी कभी कुछ रहस्यात्मक और दुर्बोध बन जाता है। ऐसा लगता है कि यह मार्गण (अन्वेषण) केवल भौगोलिक प्रदेशों तक सीमित नहीं है बल्कि लोक के आलोक के विस्तार तक व्याप्त है। उदाहरण के लिए पूर्व दिशा की सीमा उदयाचल है जिसका सौमनस नाम का शिखर सुनहली आभा से शतयोजन पर्यंत व्याप्त है। कहा जाता है कि वामन अवतार में भगवान त्रिविक्रम ने अपना पहला चरण इसी पर रखा था। इस बीच में पन्नग नाम का पर्वत, सुदर्शन नाम का सरोवर, गरुड़ का भवन आदि विनत के लिए सुपरिचित रहे होंगे, पर हम जैसे विनीत श्रोताओं के लिए कुछ विस्मयकारी अवश्य प्रतीत होते हैं। सुग्रीव की आज्ञा के अनुसार वानर-सेना को उस सीमा तक पहुँचना है जिसके आगे न लोक है और न आलोक-चाहे दिशा कुछ भी हो। प्रत्येक दिशा के वर्णन के अंत में सुग्रीव कहते हैं—अभयास्करममर्यादं न जानीमस्ततः परम्" (इसके आगे न सूर्य का प्रकाश है और न भूगोल की सीमा-रेखाएँ हैं और इसलिए इनके बारे में हमें कोई जानकारी नहीं है।) लोकोत्तर भूगोल के अलौकिक ज्ञाता होते हुए भी सुग्रीव बड़ी विनम्रता के साथ कहते हैं कि मैं जितना जानता हूँ उतना मैंने बता दिया, पर इसके अलावा अन्य स्थानों पर भी आप लोगों को सीता-माता का अन्वेषण करना है। (ये च नोक्ता मयोद्देशा विचेया तेषु जानकी)। पर सीमा केवल समय की है, दूरी की नहीं। कहीं भी जाएँ, कुछ भी करें, एक मास के भीतर सबको वापस आना है। समय का नियम इतना कठोर है कि इस अवधि के भीतर जो वापस नहीं आता है, उसे जीवित नहीं छोड़ा जाता। सुग्रीव बड़े कठोर शब्दों में कहते हैं कि एक मास से अधिक आप लोगों को बाहर नहीं रहना है और अगर रह गया तो हमेशा के लिए रह गया। पर यह बात दक्षिण दिशा में प्रेषित वानर-सेना के संबंध में नहीं कही जाती। इस में कुछ विशेष रहस्य अवश्य है।

ऐसा लगता है कि दक्षिण-दिशा के प्रति सुग्रीव के मन में कुछ विशेष दाक्षिण्य की भावना थी और यह स्वाभाविक भी था क्योंकि जटायु के अंतिम वाक्य के अनुसार रावण सीता को लेकर दक्षिण की ही दिशा में गया था। इसलिए अन्वेषण में सब से अधिक ध्यान दक्षिण दिशा पर ही जाना चाहिए। यही कारण है कि अंगद, हनुमान्, जांबवान् आदि प्रमुख वानर-वीरों को उस दिशा में भेजा जाता है। विंध्याचल से आरंभ होकर यमराज की राजधानी तक इस मार्ग का विस्तृत वर्णन किया जाता है। बीच में नर्मदा, गोदावरी, कृष्णवेणी, कावेरी, ताम्रपर्णी आदि नदियाँ आती हैं, जिनको पार करने के बाद अपार सागर मिलता है। पर आश्चर्य इस बात का होता है कि आंध, पुंड्र, चोल, पांड्य आदि के साथ-साथ वंग, कलिंग, कौशिक आदि का भी इसी दिशा में उल्लेख किया जाता है। लगता है कि यह भूगोल आधुनिक भूगोल से कुछ भिन्न है। हो सकता है कि वानर अपनी गति और विधि के अनुरूप एक नया मार्ग बना चुके हों। पर दक्षिण-दिशा में प्रस्थित वानर सेना के संबंध में विशेष ध्यान देने योग्य

बात यह है कि उनको एक मास की अवधि के भीतर वापस न आने पर कठोर दंड की चेतावनी नहीं दी जाती है। वास्तव में उनको बड़े प्रेम से कहा जाता है कि जो इस मास की अवधि के भीतर सीता के दर्शन कर वापस आता है, उसको राजभोग, राजसुख और राजबंधुत्व का गौरव मिलेगा। इतना ही नहीं, सीता के संदर्शन का समाचार लेकर आनेवाले उस द्रष्टा के सभी अपराध क्षम्य बताए जाते हैं। बल, पराक्रम, मति, गति, गुण, गौरव आदि सभी दृष्टियों से इन वीरों की विशिष्टता की मुक्त कंठ से प्रशंसा करते हुए सुग्रीव कहते हैं:–

अमित-बल-पराक्रमा भवंतो
विपुल-गुणेषु कुलेषु च प्रसूताः।
मनुज-पति-सुतां यथा लभध्वं
तदधिगुणं पुरुषार्थमारभध्वम्॥

(आप सब लोग उच्च कुल में पैदा हुए गुणवान, बलवान और असाधारण शक्तिसंपन्न शूर, वीर और धीर हैं। इसलिए आप लोग ऐसे पुरुषार्थ को अपनाकर अपना अन्वेषण-कार्य आरंभ करें जिससे जनकनंदिनी सीता उपलब्ध हो सकें)।

तारा के पिता सुषेण को पश्चिम की दिशा में भेजा जाता है। श्वशुर के प्रति अपनी आदर भावना प्रकट करते हुए सुग्रीव उनको आज्ञा नहीं देते हैं, बल्कि हाथ जोड़ कर उनसे बिनती करते हैं। प्राची और प्रतीची में कुछ रूप-सादृश्य दिखाई देता है। प्राची में उदयाचल है तो प्रतीची में अस्ताचल है। दोनों संध्या के संगम-स्थल हैं। पूर्व दिशा में विनत को भेजा जाता है तो पश्चिम में सुषेण को। विनत में विनम्रता है तो सुषेण में सुयोद्धा की क्षमता है। विनय-संपन्न वीरता के संसाधक हैं—विनत और सुषेण। प्राची की तरह प्रतीची में भी पर्वत, नदियाँ, नगर, सागर, देव, गंधर्व, यक्ष, राक्षस, समुद्र, द्वीप आदि सब होते हैं और प्रायः सभी में वही रहस्यात्मकता भी है। सौराष्ट्र, बाह्लीक, चंद्रचित्र आदि देशों से गुजरना पड़ता है और पश्चिम की ओर बहनेवाली नदियों को पार करने के बाद पश्चिमी महासागर दिखाई देता है। सागर के भीतर पारियात्र नामक पर्वत परिलक्षित होता है। नरकासुर द्वारा शासित प्रागूज्योतिष का भी यहीं पर अवस्थान बताया जाता है हालांकि यह कुछ आश्चर्यजनक-सा लगता है। प्रागूज्योतिष का पश्चिम में होना प्राची और प्रतीची के अभेद को व्यक्त करता है। इसी समुद्र में चक्रवान नाम का पर्वत भी है जहाँ पर विश्वकर्मा द्वारा निर्मित सहस्रार चक्र निरंतर प्रकाशित होता हे। इसी समुद्र में सोमगिरि नाम का पर्वत भी है जिसके सौ शिखर हैं और जहाँ पर चौबीस करोड़ गंधर्व धर्मसम्मत काम का सेवन करते रहते हैं। मेरु पर्वत भी इसी दिशा में हैं जहाँ पर ब्रह्म तेज से विराजित मेरु सावर्णि का निवास है। विश्वेदेवता, आठ वसु, मरुद्गण आदि इसी पर्वत पर रह कर भगवान् भास्कर की आराधना करते हैं। मेरु पर्वत से थोड़ी दूर पर अस्ताचल है। इन दोनों के बीच एक सुनहला वृक्ष है जिसकी दस शाखाएँ हैं और जिसका मूल चित्र-विचित्र वेदिका से सुशोभित है। वहीं पर पाशहस्त वरुण देव का भव्य भवन है। मेरु सावर्णि की वंदना करके उनके आशीर्वाद लेकर एक मास के भीतर वापस आने का आदेश मिलता है – पश्चिम-वाहिनी को।

अंत में उत्तर दिशा की ओर प्रस्थित किया जाता है—शतबलि नाम के वानर-वीर को। दिव्य शरीर धारण करनेवाले देवताओं को अपने भीतर आवासित करने वाले हिमवान इस दिशा के अधिष्ठाता देवता हैं जो शंकर का श्वशुर होने के कारण सुख, शांति और मंगल प्रदान करते हैं। इस दिशा का वर्णन करते हुए दिग्विशारद सुग्रीव यहाँ भी समुद्र को दर्शाते हैं जिसके भीतर सोमगिरि नाम का एक पर्वत स्थित बताया जाता है। यह सारा वर्णन उत्तर दिशा को लोकोत्तर बना देता है। कहा जाता है कि इस पर्वत को तीनों लोकों के देवता नित्य निरंतर देखा करते हैं। वहाँ पर सूर्य का प्रकाश तो नहीं है, पर उसी के प्रकाश से सूर्य, चंद्र, अग्नि आदि प्रकाश प्राप्त करते हैं। यहाँ तक पहुँचने में अनेक नदियों को पार करना पड़ता है। कुबेर का भवन भी इसी दिशा में है। हेमगर्भ, सुदर्शन, देवसखा आदि अनेक पर्वतों को पार करने के बाद

कैलास का दर्शन होता है । क्रौंच, मानस, मैनाक आदि पर्वत मानव मात्र को दिखाई नहीं देते हैं, पर राम-कार्य से प्रेरित होकर चारों दिशाओं में राम-पत्नी का अन्वेषण करनेवाली हरिसेना के लिए अदृश्य भी दृश्य बन जाता है और असंभव भी संभव बन जाता है । आत्महित, लोकहित और रामहित-तीनों की साधना वानर-सेना के वरणीय मार्ग को स्पृहणीय त्रिवेणी का रूप प्रदान करती है । उत्तर की इस लोकोत्तर भूमिका में पहुँचने पर सिद्धाश्रम नाम का पुण्य क्षेत्र मिलता है जहाँ पर सूर्य नहीं होता, पर प्रकाश होता है; आग नहीं होती, पर ऊष्मा होती है; चंद्र नहीं होता, पर शीतलता होती है । वहाँ पर जब चाहें तब फूल खिलते हैं, फल निकल आते हैं, पानी बहता है, कला खुलकर खेलती है, त्याग और भोग अनुराग के बंधन में बँधकर समता और समरसता का स्वाद लेते हैं । शतबली को आदेश मिलता है कि वह अपनी वानर-सेना के साथ इस उत्तर दिशा के कण कण में रामपत्नी का अन्वेषण करें और सीतापहारी का पता लगाएँ ।

इस प्रकार पूरब, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर—चारों दिशाओं में वानर-वाहिनी अपने स्वामी सुग्रीव की सुष्पस्ट आज्ञा को शिरोधार्य मान कर आगे बढ़ने लगती है । अपनी-अपनी दिशा में अग्रसर वानरसेना को देखकर सुग्रीव मन ही मन संतुष्ट हो जाते हैं कि अब राम-कार्य के सुसंपन्न होने का शुभ समय आ चुका है । पर उनका मन कहता है कि इन सबमें कार्यसाधक केवल हनुमान् हैं । शेष सभी वानर अपनी अपनी निष्ठा, श्रद्धा और कर्तव्य-भावना का परिचय देने के लिए नियत मार्ग पर जा रहे हैं । सुग्रीव को भली भाँति मालूम है कि पवन-तनय हनुमान् की पृथ्वी, जल और अंतरिक्ष में अबाध गति है । गति में, मति में, बल में, पराक्रम में, प्रज्ञा में, प्रतिभा में, नय में, विनय में, ओज में, तेज में अथवा और किसी भी गुण में हनुमान् अनुपमान हैं । इसीलिए सुग्रीव बार बार हनुमान् की ओर बड़ी आशा भरी आँखों से देखते हैं और इस दृष्टि-भंगिमा को पहचान कर राम आंजनेय को अपने पास बुला लेते हैं । राम का मन इस बात से पूर्णतया आश्वस्त हो जाता है कि निश्चितार्थ की साधना में केवल हनुमान् ही सफलता प्राप्त कर पायेंगे । इसलिये उनको पास बुलाकर स्वनामांकित मुद्रिका उनके हाथ में रखकर अंतरंग के पारखी राम कहते हैं:—

अनेन त्वां हरिश्रेष्ठ चिह्नेन जनकात्मजा ।
मत्सकाशादनुप्राप्तमनुद्विग्नानुपश्यति ॥

(हे हरिश्रेष्ठ हनुमान्, यह अंगूठी तुम्हारे लिए मेरे अभिज्ञान का काम देगी । इसे देखकर जनकनंदिनी तुमको पहचान लेगी । उनको यह विश्वास हो जाएगा कि तुम मेरे ही पास से गए हो । इस विश्वास के बल पर वह अनुद्विग्न मन से तुम्हारी ओर देखेगी) ।

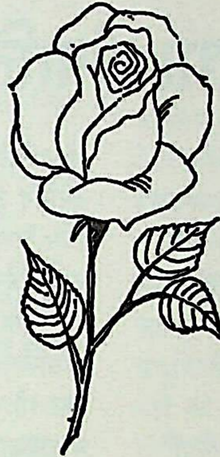
राम के इस आश्वासन में "अनुपश्यति" क्रिया बहुत ही सार्थक है । सीता जहाँ भी हो, राम का विश्वास है, वह केवल राम को ही देखना चाहेगी और राम को छोड़कर अन्य किसी को देखने की बात तक नहीं सोच सकती । वह रामनयना है । इसलिए राम-नाम से अंकित मुद्रिका ही सीता की दृष्टि को हनुमान् की तरफ आकृष्ट कर सकती है । रामनाम को देखकर अंगूठी की ओर और अंगूठी को देखकर हनुमान् को देखने की इच्छा सीता के मन में जागरित होगी, यह बात राम इस वाक्य में बताने का प्रयास कर रहे हैं । वास्तव में सीता का संदर्शन किसी व्यक्ति का दर्शन नहीं है और न वह किसी सुंदर नारी का दर्शन है-चाहे वह सौंदर्य कितना ही लोकोत्तर क्यों न हो । यह दर्शन अदर्शन को अनुदर्शन बनानेवाला सुदर्शन है जो हनुमान् जैसे अपूर्व द्रष्टा के लिए ही संभव है और वह भी राम के नाम के बल पर ।

इसी परिप्रेक्ष्य में सुग्रीव की आज्ञा के आंतर्य को समझना चाहिये । यह आज्ञा केवल एक राजा की आज्ञा नहीं है, बल्कि एक साधक की साधना है जो मानव शरीर के ललाट के अभ्याश (आस-पास) में आज्ञाचक्र का रूप धारण कर परम सत्य को खोजने का निरंतर प्रयास करती है । यह खोज बाहरी दृष्टि नहीं कर पाती । इसके लिए अंतर्दृष्टि की आवश्यकता है ।

परम सत्य का यह अन्वेषण प्रत्येक प्राणी में निरंतर चलता रहता है । कुछ लोग यह काम समझ बूझकर करते हैं और कुछ लोग अनजान में । आंजनेय इस अन्वेषण के अधिकारी अभिकर्ता हैं ।

अंतर्यामी राम का अमोघ आशीर्वाद आंजनेय को वह आत्मशक्ति प्रदान करता है जिसके बल पर वह द्रष्टव्य को दृष्टिगत कर पाते हैं । राम का यह आशीर्वचन हनुमान् के मन में बार-बार जागरण गीत का यह मधुर स्वर सुनाने लगता है:-

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्यवरान्नि बोधत



47. स्वयंप्रभा संपाति सहायन

उग्र शासक सुग्रीव की समुद्रग्र आज्ञा लेकर वानर-सेना के चारों दल चारों दिशाओं में प्रस्थान करते हैं। सबसे पहले उत्तर-वाहिनी का प्रस्थान होता है और उसके पश्चात् पूर्व, दक्षिण और पश्चिम के दल चल पड़ते हैं। अपार धैर्य, अदम्य साहस और असीम आत्म-विश्वास के साथ सभी लोग अपनी-अपनी दिशाओं में अपने-अपने अधिनायक के अधीन सीतान्वेषण के कार्य में प्रवृत्त होते हैं। परन्तु कहीं भी न तो सीता माता का पता चलता है और न रावण के निवास का आभास मिलता है। एक मास की अवधि के समाप्त होने पर सबसे पहले पूर्व दिशा में प्रस्थित विनत का दल अपनी अनुपलब्धि को निवेदित करने सुग्रीव के पास आ पहुँचता है और उसके पश्चात् उत्तर वाहिनी निरुत्तर स्थिति में आ खड़ी होती है। पश्चिम दल भी इसी विवशता का विषण्ण वदन लेकर सुग्रीव के सामने उपस्थित होता है। पर दक्षिण की दिशा में चल पड़े वीरवर अंगद, महावीर हनुमान् और वयोवृद्ध जांबवान् अभी तक वापस नहीं आए। सबकी आशा उन्हीं पर टिकी हुई है।

सब लोग सुग्रीव, राम तथा लक्ष्मण के मन की बात जान कर उन्मुक्त कंठ तथा समवेत स्वर में कहते हैं:—

उदार सत्वाभिजनो हनूमान्
स मैथिलीं ज्ञास्यति वानरेन्द्र।
दिशं तु यामेव गता तु सीता
तामास्थितो वायुसुतो हनूमान्॥

(हे वानरराज सुग्रीव। गुणवान्, बलवान् और बुद्धिमान् हनुमान् अवश्य ही मैथिली का पता लगा लेंगे क्योंकि जिस दिशा में सीता-माता गईं, उसी दिशा में हनुमान् उनके अन्वेषण में तत्पर हैं।)

यह बात सुग्रीव को पहले से मालूम थी। इसलिए सीतान्वेषण केवल दक्षिण दिशा में कराना पर्याप्त था। फिर भी मायावी रावण की सर्व समर्थ माया को ध्यान में रखकर सुग्रीव ने सर्वत्र अन्वेषण की प्रक्रिया को एक साथ प्रवर्तित किया। इस पर राम प्रसन्न हो जाते हैं और उनको इस बात पर आश्चर्य भी होता है कि पर्वतवासी सुग्रीव को समस्त भू-मंडल का इतना विस्तृत ज्ञान कैसे प्राप्त हुआ। उनकी इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए सुग्रीव कहते हैं कि जब उनके भाई वाली ने क्रोध के आवेश में आकर उनका पीछा किया तब उनको सारे भू-मंडल में भ्रमण करना पड़ा और इसी से उनका भौगोलिक ज्ञान-वर्द्धन हुआ। ध्यान देने की बात यह है कि सुग्रीव को देश का ज्ञान तो था, पर दिशा का ज्ञान नहीं था। वाली के भय से त्रस्त होकर सभी दिशाओं में अस्त व्यस्त गति से भागे-भागे फिरते समय सुग्रीव को सभी स्थानों का तो पता लगा, पर कौन सा स्थान किस दिशा में है, इसका सही ज्ञान उनको नहीं हुआ। यही कारण है कि सुग्रीव के दिशा-दर्शन में कहीं-कहीं कुछ अपनिरूपण भी देखने में आता है। परन्तु इस अपनिरूपण को प्रतिबोध का स्वर देकर सत्यपराक्रम राम समीकृत कर देते हैं और सुग्रीव की सूक्ष्मबुद्धिता की प्रशंसा करते हैं।

अब पूर्व, पश्चिम और उत्तर से लौटी समस्त

वानर-सेना की दृष्टि पवन-तनय की वापसी की प्रतीक्षा करती रहती है। राम, लक्ष्मण और सुग्रीव भी इसी आशा और प्रत्याशा को लेकर दक्षिण की दिशा पर अपनी दृष्टि केन्द्रित कर बैठे रहते हैं। सबकी सद्भावना और शुभकामना का संबल लेकर हनुमान्, अंगद, जांबवान्, तार आदि वानर दक्षिण दिशा में विंध्या के परिसर में वैदेही के अन्वेषण में अहोरात्र को समीकृत कर संचरण करते हैं। पर कहीं भी न तो दशानन का आभास मिलता है और न सीता माता के पदाभ्याश का। मिलते हैं केवल गहन गुफाओं से गंभीर बने वन, उपवन, निर्जन पर्वत, नीरव कानन, निर्मल निर्झर ओर निर्लिप्त आकाश। दिगंत तक व्याप्त एकांत कांतार में एक स्थान पर एक भयंकर राक्षस को देखकर अंगद उसी को रावण समझकर उसका संहार करता है। पर न तो वह रावण सिद्ध होता है और न आसपास कहीं रावण द्वारा अपहृत सीता दिखाई देती हैं।

दिन-रात लगातार निर्जन वन में निराहार और निर्विराम घूमते रहने से वानर सेना थक जाती है। सुग्रीव द्वारा निर्धारित एक मास की अवधि भी लगभग समाप्त होने के कारण अंगद के मन को राज-दण्ड का भय आतंकित करता है। पर कोई विकल्प नहीं दिखाई देता। जब तक जनक-नंदिनी के दर्शन न हों तब तक अन्वेषण जारी रखना ही है। तन्द्रा, निद्रा, भय, शोक, आलस्य – सबको अपने अपरिमेय मनोबल से जीतनेवाले हनुमान् को आगे बढ़ाकर सारी वानर-सेना उनका अनुनयन करती है। बीच-बीच में किसी पेड़ की छाया में थोड़ी देर बैठकर फिर पर्वत गुफाओं में, मरुस्थल में, निर्जन कानन में सीता-माता के चरण-चिन्हों की खोज में सभी वानर चल पड़ते हैं।

सुग्रीव द्वारा सुनिर्दिष्ट होने पर भी संप्रति संकट के समय अनिर्दिष्ट प्रतीत होनेवाले अन्वेषण-मार्ग पर चलते-चलते अचानक उनको एक महाबिल का दर्शन होता है। निर्जन और निर्जल प्रान्त में उस महान् बिल के खुले द्वार से कुछ पक्षी बाहर निकलते से दिखाई देते हैं। उनके पंखों पर पानी की बूँदें और फूलों की पंखुड़ियाँ देखकर वानर-वीर आश्वस्त हो जाते हैं। इससे उनको इस बात का आभास होता है कि बिल के भीतर पानी है और पानी में पलनेवाली हरियाली भी होनी चाहिए। पानी, फल, फूल आदि की कल्पना मात्र से कपि-सेना में खोई हुई चेतना जाग उठती है, जीने की आशा सिहर उठती है और अन्वेषण के लिए एक नया आयाम प्रस्तुत होता है।

जैसे ही वानर-वीर बिल के द्वार पर पहुँचते हैं, भीतर से आत्म-पोषक और मन-मोहक सुगंध उनको आमंत्रित करती है। पर द्वार के पश्चात् सारा मार्ग दुर्दर्श और दुर्गम दिखाई देता है। भीतर पहुँचने के बाद बाहर निकलना संभव होगा या नहीं, इसमें उनको संदेह होता है। फिर भी जब इतना पुष्टिवर्द्धक सौरभ भूख और प्यास से परिपीड़ित कपि-समाज को भीतर बुलाता है तो वे हर्ष, उल्लास और आनन्द के इस यादृच्छिक स्रोत से लाभान्वित होने का लोभ संवरण नहीं कर पाते। कम-से-कम क्षुत्-पिपासा का उपशमन तो होगा, इसी आशा से सभी लोग बिल के भीतर घुस जाते हैं। अंधकार में सुगंध का आस्वादन करते हुए एक दूसरे को अवलंब और आश्वासन देते हुए और भीतर से रहस्यमय सौंदर्य के साथ सामीप्य और सायुज्य के सुन्दर स्वप्न देखते हुए सभी लोग अंततः बिल के भीतर पहुँचते हैं तो एकदम प्रकाश का प्रवाह उनके नेत्रों को चमत्कृत कर देता है। उनकी समझ में नहीं आता कि इतना प्रचुर प्रकाश इस अंधकार के गर्भ में अब तक कहाँ छिपा पड़ा था। चारों तरफ सुन्दर सरोवर, उच्छल जल, उत्तम फल, स्वर्णिम वन और मधुमय उपवन कपि-समाज के मन में उल्लास की उमंगे भरते हैं। सुनहले भवन, रूपहले द्वार, मणिमय गवाक्ष, मन मोहक यान, सौंदर्य के दिव्य प्रसाधन, भव्य वस्त्र और अमूल्य आभरण—इन सबको देखते-देखते जब वानर वीर बिल के भीतर पहुँच जाते हैं तो वहाँ पर एक भद्र महिला दिव्य शोभा से विराजमान दिखाई देती है।

सात्विक सौजन्य तथा समयोचित साहस के धनी हनुमान् उस साध्वी महिला के पास पहुँचकर विनम्र स्वर

में पूछते हैं: "संसार की समस्त सम्पदा से संपन्न होकर भी तापसी का जीवन व्यतीत करनेवाली और अपनी अलौकिक शोभा से बिल के समस्त वायुमंडल को आलोकित करनेवली आप कौन हैं? यह बिल किसका है? ये भवन, वन, उपवन, रत्न आदि किसके हैं?" तापसी से तत्काल कोई उत्तर न पाकर हनुमान् समझ जाते हैं कि अपरिचित स्थान पर पहुँचकर पहले अपना ही परिचय देना चाहिए था। फिर भी अनजान व्यक्ति को अपना सारा वृत्तांत बताना भी वह उचित नहीं समझते। इसलिए बहुत ही संतुलित शैली में अपने और अपने सहचरों का संभ्रम, संतोष और सात्विक कुतूहल मात्र व्यक्त करते हैं।

इस पर धर्मचारिणी तापसी अपने आश्रम के बारे में संक्षेप में बताते हुए कहती है—"यह आश्रम मेरी सहेली हेमा का है। ब्रह्मा से वरदान पाकर विश्वकर्मा ने यह कांचन-वन बनाया था और इसी में इस सुन्दर भवन का निर्माण किया था जिसमें मैं रहती हूँ और जिसकी मैं रखवाली भी करती हूँ। विश्वकर्मा ने यह सुन्दर भवन बनाकर इसमें मेरी सहेली के साथ इंद्रिय-सुख भोगना चाहा था। इस पर इन्द्र ने अपने वज्र के आघात से उसको भगा दिया और ब्रह्मा ने यह भवन मेरी सहेली हेमा को सौंप दिया। मेरी सखी हेमा सकल-कला-विशारदा है और मैं मेरू सावर्णि की प्रिय तनया स्वयंप्रभा हूँ। मेरी सखी ने इस कांचन-वन और इस कला-निलय की रक्षा का भार मेरे ऊपर सौंपा है और इसके लिए आवश्यक तपोबल भी मुझे उसी से मिला है। आत्मबल, तपोबल और मनोबल के सहारे मैं इस महाबिल की रक्षा करती हूँ।"

इस अलौकिक आत्म-परिचय के बाद स्वयंप्रभा हनुमान् से यह जानने की इच्छा प्रकट करती है कि वे लोग इस एकांत प्रांत में कैसे आए। साथ ही वह उनसे अनुरोध करती है कि पहले वे अपनी प्यास और भूख को शांत करने के लिए वहां पर प्रचुर मात्रा में उपलब्ध फल, मूल, जल आदि का यथेष्ट सेवन करें और उसके बाद यदि कोई कहने योग्य बात हो उसे सुनने की यदि वह अधिकारिणी हो तो अवश्य कहें। स्वयंप्रभा की इस सात्विक, संतुलित और संयत जिज्ञासा में उच्च संस्कारों की जो उदात्त अभिव्यंजना होती है उसको पल भर में समझकर पवन-तनय हनुमान् अपनी और अपने प्रभु राम की कथा बहुत संक्षेप में बताते हैं और क्षुधाग्रस्त वानर-सेना को आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक शांति प्रदान करने के लिए तापसी के प्रति आभार व्यक्त करते हैं। उपकारी का प्रत्युपकार करना उपकृत व्यक्ति का परम कर्तव्य होता है। इसी कर्तव्य-भावना से प्रेरित होकर पवन-कुमार स्वयंप्रभा से कहते हैं कि यदि हमारे योग्य कोई सेवा हो तो अवश्य आज्ञा दें। इस पर स्वयंप्रभा मुस्कुराकर कहती है:—

सर्वेषां परितुष्टास्मि वानराणां तरस्विनाम्
चरन्त्या मम धर्मेण न कार्यमिह केनचित् ॥

(वन-जीवन व्यतीत करनेवाले आप वानरों के आगमन से मैं संतुष्ट हूँ। केवल धर्म चाहनेवाली और धर्म का आचरण करनेवाली मैं किसी से कोई अपेक्षा नहीं रखती हूँ।)

पर वानर-सेना को स्वयंप्रभा के सहयोग की अपेक्षा है। यह बात केवल हनुमान् ही समझते हैं। दूसरे वानर मीठे-मीठे फल खाकर मन ही मन सोचने लगते हैं कि शेष जीवन यहीं व्यतीत हो जाए तो कितना अच्छा होगा। राम अपनी जगह सुखी रहें, सुग्रीव अपने सुख में मस्त रहें और हम यहाँ पर भर पेट खा-पी कर आराम की सांस लेते रहें, यही वांछा सबके मन में सुप्त स्वार्थ को जगाने लगती है। पर हनुमान् जानते हैं कि जल्दी से जल्दी इस बिल से बाहर निकलने में ही सबका श्रेय है क्योंकि राम-कार्य को सम्पन्न करने में अब और विलम्ब नहीं होना चाहिए और बिल से बाहर निकलना स्वयंप्रभा के सहयोग के बिना संभव नहीं है। यह सब सोच-समझकर हनुमान् स्वयंप्रभा से प्रार्थना करते हैं कि वह अपने तपोबल से समस्त वानर-सेना को बिल से बाहर पहुँचा दें। स्वयंप्रभा इस अनुरोध को तत्काल स्वीकार करती है, पर यह शर्त लगाती है कि सभी वानरों को अपनी आँखें एकदम बंद कर लेनी चाहिए क्योंकि एक बार इस बिल में प्रवेश करने के बाद कोई भी प्राणी जीते जी बाहर नहीं निकल सकता।

इससे सभी वानर भयभीत हो जाते हैं और बड़ी सतर्कता से आँखें बंद कर लेते हैं। दूसरे ही क्षण वे सब लोग अपने को बिल से बाहर समुद्र के तट पर पाते हैं। सबको बिदा करते हुए स्वयंप्रभा कहती हैः—

"स्वस्ति वोऽस्तु गमिष्यामि भवनं वानरर्षभाः"

(हे वानर वीरो, आप लोगों का कल्याण हो, मैं अपने भवन में फिर प्रवेश करती हूँ।)

यह सारी घटना वानर-सेना के लिए एक सुनहले स्वप्न का सा आनन्द प्रदान करती है। हनुमान् जैसे बुद्धिमान् और प्रज्ञावान् व्यक्तियों को छोड़कर शेष सभी की समझ में नहीं आता है कि यह सब क्या हुआ और कैसे हुआ। वास्तव में स्वयंप्रभा का वृत्तांत रामायण की सबसे रहस्यात्मक घटना है जिसका भेद तभी प्रकट होता है जब बाहर के नेत्र बंद हों और भीतर के नेत्र खुल जाएँ। केनोपनिषद् में पल भर में प्रकट होकर दूसरे ही क्षण तिरोहित होनेवाली जिस अंतःप्रभा का वर्णन "यदेतद् विद्युतो व्यद्युतदा इतीन्यमीमिषदा" कह कर मांत्रिक और मार्मिक शब्दों में किया गया, उसी की आभा स्वयंप्रभा के इस उपाख्यान में मिलती है। यह वही आभा है जो शरीर को अशरीर से, काल को अकाल से, ससीम को असीम से और दृश्य को अदृश्य से मिलाती है। इसी आभा का आभास स्वयंप्रभा में मिलता है जिसके सहारे अशोक वाटिका में विराजमान विदेह-राज-कन्या सीता-माता का दर्शन सम्भव हो सकेगा।

सीता और स्वयंप्रभा में बहुत साम्य है। अयोनिजा सीता भी एक प्रकार से स्वयंप्रभा ही है। दोनों का जीवन तपोमय है। अंतर केवल यही है कि स्वयंप्रभा सहज तापसी है और सीता संस्कार और संयोग से तापसी बन गई हैं। पौराणिक प्रमाण इस बात की पुष्टि करता है कि सीता अपने पिछले जन्म में बृहस्पति के पुत्र कुशध्वज की वाङ्मयी कन्या थी जिसका नाम था वेदवती। वेदवती भगवान नारायण को अपने पति के रूप में वरण कर लेती है और इसी सौभाग्य की सिद्धि के लिए तीव्र तपस्या में लीन रहती है। पर कामांध रावण उसके सौंदर्य पर मुग्ध होकर उसको अपनी अर्धांगी बनाने की चेष्टा करता है तो वेदवती योगानल में अपने शरीर को भस्मसात् कर रावण को शाप देती है कि अगले जन्म में वह उसकी प्राणहारिणी बनकर जन्म लेगी। वह वेदवती अब सीता बनकर जन्मी है। उसी वेदवती का वाङ्मय रूप स्वयंप्रभा है। स्वयंप्रभा की तपस्या का फल न केवल हनुमान् तथा अन्य वानरों को मिलता है, पर उसी का संबल पतिप्राणा सीता का मनोबल बढ़ाने में सहायक होता है। यह संधान-सूत्र समझना साधारण बुद्धिमत्ता का काम नहीं है। केवल हनुमान् जैसे अंतमुर्खी प्रज्ञाचक्षु ही इस भेद को समझ पाते हैं।

इसके विपरीत, अंगद की मनोवृत्ति स्वयंप्रभा के आश्रम से बाहर आने के बाद एकदम निराशा, निर्ममता और नैष्कर्म्य की ओर प्रवृत्त होती है। सुग्रीव की आज्ञा हनुमान् के लिए शिरोधार्य बनती है और इसीलिए उनको राम के नाम से अंकित मुद्रिका प्रसाद और प्रत्यभिज्ञान के रूप में प्राप्त हुई। पर अंगद इस आज्ञा को हमेशा आशंका की भावना से देखते हैं। उनका मन कहता है कि सुग्रीव का दृष्टिकोण उनके प्रति कभी भी वात्सल्यपूर्ण नहीं हो सकता क्योंकि वह उनके विरोधी भ्राता वाली का पुत्र है जिसको युवराज का पद केवल राम की कृपा से मिला है। इसलिए उनके मन में विचार आता है कि अवधि की समाप्ति के बाद खाली हाथ किष्किंधा वापस जाकर सुग्रीव के दुर्वार क्रोध का शिकार बनने की अपेक्षा महाबिल या महासागर के आसपास कहीं विश्राम करने या जीवन से चिर-विश्राम लेने में ही श्रेय है। अपनी इस विचारधारा की ओर अपनी सेना को आकृष्ट करके उनके साथ एक दूसरी किष्किंधा बसाने का भी उनके मन में विचार आता है। अंगद की इस विद्रोह भावना और कूटनीति को पवन-कुमार पल भर में भाप लेते हैं और उनको कर्तव्य कर्म के प्रति सतर्क करते हुए कहते हैं कि हम कहीं भी जाएँ राम, लक्ष्मण और सुग्रीव की उग्रता हमारा पीछा करना चाहे तो उससे बचने का कोई उपाय नहीं है, इसलिए निर्दिष्ट कार्य का उद्दिष्ट

निर्वहण ही हमारा कर्तव्य है। इस बात को नाना प्रकार से समझाने के बाद राजकुमार अंगद को पवन-कुमार हनुमान् आदरपूर्वक आज्ञा देते हुए कहते हैं–
"तस्मादंगद गम्यताम्" (इसलिए, अंगद, चलो।)

आंजनेय के इस आदेश-वाक्य में जितनी स्पष्टता है, उतनी रुष्टता भी है। पर यह रोष सात्विक है, अकर्मण्य को कर्मठ बनाने वाली कर्कशता है। फिर भी अंगद हनुमान् के आशय को समझ नहीं पाते। वह अपनी समस्त वाहिनी के साथ पर्वत के नीचे प्रायोपवेश का प्रदर्शन करने लगते हैं। जब मरना ही है तो इसके लिए किष्किंधा तक जाने की क्या आवश्यकता है? हनुमान् अधिष्ठाता हैं और अंगद नेता हैं। अधिष्ठाता की वाणी आत्मीय होती है और नेता की वाणी नीति निदेशक और कभी-कभी भीति-प्रदर्शक भी होती है। इसलिए अंततः सभी वानर अंगद के साथ स्वैच्छिक मरण को वरणीय मानकर प्रायोपवेश की दीक्षा ग्रहण करते हैं।

इसी समय आपातकाल की आकस्मिक घोषणा के समान एक अचिंत्य घटना घटती है। पहाड़ के ऊपर से एक गृध्रराज नीचे शय्या पर लेटे वानरों को पंक्तिबद्ध देखकर बहुत प्रसन्न होता है और सोचता है कि चिर काल से प्रवर्द्धित बुभुक्षा को शांत करने का उपयुक्त अवसर अपने आप समीप आया है। एक दिन एक वानर के क्रम से अनेक दिन तक पर्याप्त आहार अन्नदाता के अनुग्रह से अनायास मिला है, इस विचार से वह वृद्ध गृध्र नीचे आने लगता है तो अंगद सहित सभी वानर भयभीत होते हैं। हनुमान् का मन भीतर ही भीतर पुलक उठता है। यह देखकर उनका मनोविनोद होता है कि मरने के लिए कृत संकल्प वानर मरण को आसन्न पाकर भयभीत क्यों हो रहे हैं। मरने के लिए जीना कितना दुर्भर होता है, इस बात का अंगद और उनके अनुचरों को भी पता चलता है। तब जाकर उनके मन में यह विवेक पैदा होता है कि अगर मरना ही है तो राम का काम करते-करते राम के काम आते-आते और राम का नाम लेते लेते मरना ही अच्छा है–जैसा कि पक्षिराज जटायु ने प्रभु की सेवा में अपने प्राण समर्पित कर दिए थे। तिर्यग् योनि जटायु की इस राम-कार्य-परायणता की बात सुनकर वृद्ध गिद्ध के रोंगटे खड़े हो जाते हैं और वह एकदम नीचे आकर वानरों से पूछता है कि जटायु के संबंध में वे कुछ और जानते हों तो अवश्य बता दें। बातचीत में पता चलता है कि वह वृद्ध गृध्र और कोई नहीं है, जटायु का बड़ा भाई संपाति है। इसलिए अपने छोटे भाई जटायु की वार्ता ज्येष्ठभ्राता संपाति को आपात मधुर प्रतीत होती है और प्रश्न पर प्रश्न पूछ कर वह जटायु का सारा वृत्तांत जान लेता है और प्रासंगिक रूप से वनवासी राम के पत्नी-वियोग की बात का भी पता चल जाता है। वास्तव में रावण द्वारा सीता का जब अपरहाण हुआ था, उस समय आकाश मार्ग में आक्रंदन करती हुई रावण के साथ चलने वाली सीता-माता को संपाति ने भी देखा था। संयोग की बात है कि छोटे भाई ने जिस साध्वी को बचाने के लिए अपने प्राण न्यौछावर कर दिये, उसी रामा के अन्वेषण में चल पड़े वानरों को माता का पता बताने का अवसर बड़े भाई को मिला है। वृद्धावस्था में भी संपाति पूरे सौ योजन तक अपनी दृष्टि फैलाकर दूर-दूर के दृश्यों को देख सकता है। दूर-दर्शन की इसी शक्ति का उपयोग कर संपाति कहता हैः–

इहस्थोऽहं प्रपश्यामि रावणं जानकीं तथा।
अस्माकमपि सौपर्णं दिव्यं चक्षुर्बलं तथा॥

(यहीं से मैं रावण और जानकी को देख रहा हूँ। दिव्य पक्षी गरुड़ की भांति हमको भी दिव्य दृष्टि प्राप्त है।)

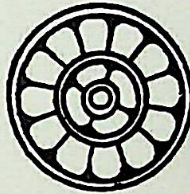
सीता और रावण का अवस्थान बताने के पश्चात् संपाति वानरों के सहारे सागर-तट पर जाता है और वहाँ पर सागर के जल से अपने छोटे भाई को धर्मोदक अर्पित करता है। उसके बाद जांबवान्, हनुमान् आदि की सीता संबंधी जिज्ञासा का समाधान प्रस्तुत करते हुए संपाति अपनी सारी जानकारी देता है और साथ ही अपनी जीवन-गाथा का भी वर्णन करता है। बचपन में जटायु की रक्षा करने के लिए उन्होंने कैसे अपने

पंख जला लिए और राम-कार्य में वाक्-सहायता प्रदान करने से फिर उन पंखों में प्राण कैसे आ गए – ये सारी बातें वानरों के कुतूहल को शांत कर देती हैं। निशाकर नामक महर्षि की सेवा-शुश्रूषा से संपाति ने अपरिमेय आत्मबल प्राप्त किया था और उसी महर्षि ने राम के किंकरों के उस दिशा में आगमन की भविष्यवाणी की थी। राम-कार्य में यत्किंचित् सहयोग प्रदान करने का सौभाग्य पाकर संपाति अपने जन्म को सफल और जीवन को सार्थक समझता है। ऋषि-वचन के अनुसार, जिस समय संपाति के मुँह से लंका में स्थित सीता का आँखों देखा हाल शब्दों का रूप धारण करता है, बिल्कुल उसी समय और उसी क्षण संपाति के शरीर पर नये पंख उग आते हैं। यह चमत्कार देखकर वानर तो विस्मित होते ही हैं, स्वयं संपाति भी असाधारण आनन्द का अनुभव करता है और कहता है:–

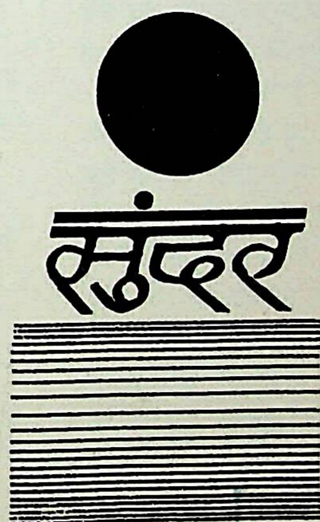
सर्वथा क्रियतां यत्नः सीतामधिगमिष्यथ।
पक्षलाभो ममायं वः सिद्धिप्रत्ययकारकः॥

(वानर-पुंगवो, आप लोग अपनी कार्य-साधना में आगे बढ़िये। आप लोगों का कार्य अवश्य ही सफल होगा। मुझे राम का नाम लेते ही जो पक्ष-लाभ हुआ है, इसी से आप लोगों की कार्यसिद्धि पर विश्वास उत्पन्न हो गया है।)

स्वयंप्रभा और संपाति के सहयोग से दक्षिण वाहिनी दक्षिण महासागर तक पहुँच जाती है। अब सागर पार करने से रावण की राजधानी लंका मिलेगी और सीता माता के दर्शन होंगे। पर समस्या यह है कि इतने विशाल सागर को पार कौन करेगा? समस्या के साथ ही समाधान भी प्रस्तुत होता है। स्वयंप्रभा और संपाति का सहायन राम के जिस सहज अयन ने संभव कर दिया, वही अयन सागर पर किसी अग्रणी के अग्रहायण को भी घटित कर देगा। इसी आशा और विश्वास से समस्त वानर-सेना सागर के तट पर एकत्रित हो जाती है। सभी लोग अपने – अपने बल का अनुमान लगाते हुए अपनी-अपनी शक्ति का वर्णन करते हैं। पर आत्माराम के आत्मबल पर आश्रित आंजनेय एकांत में अपने अभियान के बारे में न सोच कर राम के सहयान को सहगान बनानेवाली किसी अदृश्य शक्ति के बारे में शून्य को पूर्ण बनानेवाली चित्तशुद्धि के साथ सोचते रहते हैं। उन्हें पूरा विश्वास है कि अंत में होगा वही, जो 'राम रचि राखा'।






सुंदर



48. आंजनेय का आत्म-विवर्द्धन

नियत कर्म को अपना कर्तव्य समझकर कर कर्तृत्व की भावना से अपने को दूर रखकर निर्लिप्त भाव से काम करना आत्मवान् का लक्षण है। यही लक्षण आंजनेय हनुमान् को अन्य वानरों से अलग एकांत चिंतन में मग्न आत्मयोगी बना देता है। सीता-माता के अन्वेषण में अवरोध के रूप में उपस्थित उद्वेलित महासागर को पार करने के लिए जब सभी वानर अपने-अपने बल का आत्म-निरीक्षण करने लगते हैं तो आत्माराम को आत्मबल का एकमात्र आधार मानकर हनुमान् अपने आप में संतुष्ट होकर आराम से बैठे रहते हैं। अन्यान्य वानर-वीर अपने-अपने स्वत्व और सत्त्व को परखने लगते हैं तो महावीर हनुमान् आत्मतत्त्व की अपार शक्ति का मन-ही-मन अनुमान लगाकर आत्म-विभोर हो जाते हैं।

जब युवराज अंगद अपने अनुयायी वानर वीरों से यह पूछते हैं कि इस विशाल सागर को पार कर सीता माता का समाचार लाने की शक्ति किसमें है और किसकी कार्यशूरता के बल पर हम कृतकृत्य होकर सकुशल किष्किंधा वापस जा सकते हैं तो हनुमान् वहाँ पर थे ही नहीं। जो लोग वहाँ पर मौजूद थे, उनमें से जिसने अपने को जिस सीमा तक शक्तिशाली समझा, उसी सीमा का वह उल्लेख करता है। इस प्रकार गज, गवाक्ष, गवय, शरभ, गंध मादन, मैंद, द्विविद् और जांबवान् अपनी-अपनी शक्ति का वर्णन करते हैं। पर इनमें से कोई भी शत योजन विस्तार वाले सागर को पार करने मेंअपने को सक्षम नहीं समझता। कोई दस, कोई बीस, कोई तीस, कोई चालीस, कोई पचास, कोई साठ, कोई सत्तर - इसी प्रकार सब अपनी-अपनी क्षमता बताते हैं। अंत में अंगद अपनी शक्ति का वर्णन करते हुए कहते हैं कि वह सौ योजन का सागर पार तो कर सकते हैं, पर लौट आने में संदेह है। पर यह सारी चर्चा वाणी और समय का अपव्यय है क्योंकि इस बात का निर्णय पहले ही हो चुका है कि सागर-लंघन और सीता-दर्शन का कार्य कौन सम्पन्न कर सकता है। दक्षिण वाहिनी के प्रस्थान के समय राम ने हनुमान् को अपने पास बुलाकर उनको निज नामांकित मुद्रिका देकर यह आशीर्वाद भी दिया था कि यह कार्य तुम्हारे द्वारा ही सम्पन्न होगा। उसी समय यह निर्णय हो चुका था और राम का आशीर्वाद महाबली हनुमान् के लिए अमोघ मनोबल बनकर उनका साथ देता रहा और संकट के प्रत्येक क्षण में हनुमान् ही त्राता और संधाता की भूमिका निभाते रहे।

जिस प्रकार संसार में साधारण जीवधारी अपनी आत्मा को पहचानते हुए भी बार बार आत्म-तत्त्व को भूल जाते हैं, उसी प्रकार वानर-वीर अपनी कार्यशूरता के अहंकार में आंजनेय की आत्मशक्ति को भूल जाते हैं। विशेषकर अंगद इस प्रकार का प्रमाद करने में प्रवीण हैं। पर जांबवान् को अचानक याद आता है कि यह कार्य जिनको सौंपा गया है, वह तो एकदम मौन हैं। इसीलिए वयोवृद्ध जांबवान् एकांत में मौन धारण कर बैठे हुए हनुमान् के पास पहुँच कर उनको आत्मबोध और कर्तव्यबोध की ओर प्रेरित करते हुए कहते हैं:—

वीर वानर लोकस्य सर्वशास्त्रविदांवर।
तूष्णीमेकांतमाश्रित्य हनूमन् किं न जल्पसि॥

(हे वानर-वीर हनुमान्, तुम समस्त शास्त्रों के ज्ञाता हो। इस समय तुम यहाँ चुपचाप क्यों बैठे हो? कुछ बोलते क्यों नहीं?)

आत्मनिष्ठ और कर्तव्य-परायण हनुमान् में एक कमजोरी है। जब तक उनको कुछ करने को नहीं कहा जाता है, तब तक वह अपने आप कुछ नहीं करते और जब तक उनको उनकी शक्ति का बोध नहीं कराया जाता है तब तक वह अपनी शक्ति को पहचान नहीं पाते। आत्मा की भी यही स्थिति है। जब तक शरीर मन और वाणी के माध्यम से अपने भीतर विराजमान आत्म-वैभव को नहीं पहचान पाता तब तक उसको आत्मलाभ नहीं होता। यही बात आत्मवान् आंजनेय के संबंध में भी चरितार्थ होती है। इसीलिए जांबवान् हनुमान् की स्तुति करते हुए कहते हैंः—

हनूमन् हरिराजस्य सुग्रीवस्य समोह्यसि।
राम लक्ष्मणयोश्चापि तेजसा च बलेन च॥

(हनुमन्, तुम तो वानर-राज सुग्रीव के समान शक्तिशाली हो। इतना ही नहीं, आंतरिक तेज और बाहरी बल में तुम राम और लक्ष्मण से भी कम नहीं हो।)

विराट् विश्व के प्रतिबिंब के समान वानर-सेना के सम्मुख अन्वेषण के मार्ग को अवरुद्ध करते हुए प्रतिष्ठित विशाल सागर को पार करने की शक्ति केवल दो व्यक्तियों में है। इनमें से एक महाबली गरुड़ हैं और दूसरे महावीर हनुमान्। यह बात जब जांबवान् के मुँह से निकलती है तब हनुमान् को विश्वास होता है कि वह सचमुच यह कार्य सम्पन्न करने में समर्थ हैं। इस विश्वास को दृढ़तर बनाने के लिए जांबवान् हनुमान् को उनकी जन्म-गाथा का भी स्मरण कराते हैं। हनुमान् की माता अंजना पुंजिकस्थला नाम की अप्सरा का प्रतिरूप है और वायु देवता के प्रभाव से उन्होंने हनुमान् को जन्म दिया है। पैदा होते ही हनुमान् वायुवेग से सूर्य मंडल तक जाते हैं और उसी यात्रा में इन्द्र के वज्राघात से उनकी ठोडी का बायाँ भाग खंडित हो जाता है। इसीलिए उनका नाम हनुमान् पड़ा। अंजना देवी का पुत्र होने से आंजनेय के नाम से भी वह प्रसिद्ध हुए। पिता के समान गतिशील होने के कारण वह समस्त ब्रह्मांड में स्वच्छंद विचरण करने में समर्थ हैं।

जांबवान् की ये बातें सुनकर हनुमान् सत्वर कार्य-साधना में तत्पर होते हैं। इसके लिए आवश्यक आत्म-विवर्द्धन की प्रक्रिया तत्काल प्रारंभ होती है। वानर-वाहिनी को अपार हर्ष प्रदान करनेवाला विराट् रूप हनुमान् के आत्म-विवर्द्धन का ही परिणाम है। वामन के अवतार में भगवान विष्णु के त्रिविक्रम रूप-विस्तार की भांति हनुमान् के क्षण-क्षण प्रवर्द्धमान रूप को देखकर वानर सेना हर्ष और विस्मय से प्रफुल्लित हो उठती है। जैसे-जैसे वीर वानर हनुमान् की स्तुति करने लगते है, वैसे-वैसे संस्तूयमान हनुमान् का शरीर बढ़ने लगता है। पर्वत की विशाल कंदराओं में अंगड़ाई लेनेवाले सिंह की भांति, निर्धूम और प्रज्वलित ज्वाला की भांति आत्मवान् हनुमान् का रूप-विस्तार समस्त वानर सेना के लिए नयन-मनोहर और उत्साह-वर्द्धक प्रतीत होता है। उनकी इस प्रतीति को अधिक प्रस्फुट रूप देते हुए विवर्द्धमान हनुमान् अपने साथियों से कहते हैंः—

उत्सहेयमतिक्रांतुं सर्वानाकाशगोचरान्।
सागरान् शोषयिष्यामि दारयिष्यामि मेदिनीम्॥
पर्वतांश्चूर्णयिष्यामि प्लवमानः प्लवंगमः।
हरिष्याम्युरुवेगेन प्लवमानो महार्णवम्॥

(मेरे मन में जो उत्साह उमड़ रहा है, उससे मुझे लगता है कि मैं आकाशचारी समस्त ग्रह-नक्षत्रों को पार कर आगे बढ़ सकता हूँ। आवश्यक होने पर मैं सागर का शोषण कर सकता हूँ, पृथ्वी को विदारित कर सकता हूँ, पर्वतों को चूर-चूर कर सकता हूँ। मेरे वेग के सामने यह सागर पल भर भी नहीं टिक सकता।)

आत्मवान् हनुमान् का यह उत्साह केवल वाचिक नहीं है, उनका मन भी कहता है कि वह अवश्य अपने अभीष्ट को प्राप्त कर सकेंगे। मन को उन्मन बनानेवाली अपनी विशुद्ध बुद्धि के नयनों से भावी शुभ का दर्शन करते हुए वह कहते हैंः—

बुद्ध्या चाहं प्रपश्यामि मनश्चेष्टा च मे तथा।
अहं द्रक्ष्यामि वैदेहीं प्रमोदध्वं प्लवंगमाः॥

(मेरी बुद्धि मुझे जिस मंगलमय परिणाम का मंजुल आभास दे रही है, उसी के अनुरूप मेरा मन भी मुझे प्रेरित कर रहा है। बुद्धि की सिद्धि विशुद्ध मन की चेष्टाओं में प्रतिभासित हो रही है। मैं अपने मनोनयनों से जनकनंदिनी का दर्शन कर रहा हूँ। इसलिए मेरे मित्र प्रसन्न रहें।)

हनुमान् के इन वचनों पर प्रसन्न होकर सेनापति जांबवान् आशीर्वाद के रूप में हनुमान् से कहते हैं:—

तव कल्याणरुचयः कपिमुख्याः समागताः।
मंगलान्यर्थ-सिद्धयर्थं करिष्यंति समाहिताः॥

(यहाँ पर जो वानर-वीर एकत्रित हुए हैं, वे सब के सब तुम्हारे कल्याण की कामना कर रहे हैं। तुम्हारी कार्य-सिद्धि की मंगल कामना करते हुए ये सभी लोग स्वस्ति वाचन आदि मंगल कृत्यों का अनुष्ठान करते रहेंगे।)

सहयोगियों की निष्ठा से आत्मयोगी की साधना को बल मिले, इसी उद्देश्य से जांबवान् हनुमान् से कहते हैं:—

स्थास्यामश्चैकपादेन यावदागमनं तव।
त्वद् गतानि च सर्वेषां जीवनानि वनौकसाम्॥

(जब तक तुम लौट कर यहाँ नहीं आओगे तब तक सब लोग तुम्हारी प्रतीक्षा में एक पैर से खड़े रहेंगे। आखिर हम सब वानरों का जीवन तुम्हारी कृतकृत्यता पर ही निर्भर है।)

सबकी शुभकामना का संबल लेकर महाबली हनुमान् सागर को पार करने के लिए महेन्द्र पर्वत पर चढ़ जाते हैं। पर्वत के उच्चतम शिखर पर पहुँचकर तरस्वी मनस्वी बन जाता है और अपने मन से लंका तक पहुँच जाता है।

स वेगवान् वेगसमाहितात्मा
हरिप्रवीरः परवीरहंता।
मनः समाधाय महानुभावो
जगाम लंकां मनसा मनस्वी॥

महेन्द्र पर्वत पर महावीर हनुमान् का अधिरोहण रामकथा के अयन में एक सुन्दर संविधान का संधायन करता है। सामने लंका है, बीच में सागर है। सागर को पार करने पर क्षणभंगुर सौंदर्य से परिवेष्टित परम सौंदर्य की पराकाष्ठा सीता-माता का संदर्शन प्राप्त होगा और राम-कार्य की सिद्धि का श्रीगणेश होगा। इस महासंहिता का पूर्व रूप सीता माता हैं, उत्तर रूप जगत्पिता राम हैं, सागर संधि है, लंघन संधान है और संधाता हनुमान् हैं। इस संविधानक में कोई भी अंश, कोई भी अंग असुन्दर नहीं है, सब कुछ सुन्दर है, सर्वांग सुन्दर है। इसीलिए इस कथा-खण्ड को, जिसको वास्तव में कला-खण्ड कहना अधिक समीचीन है, सुन्दर-काण्ड की संज्ञा दी गई है। सीता तो सुन्दर हैं ही, राम भी तो कम सुन्दर नहीं हैं, दोनों के सौन्दर्य को दोनों नेत्रों से अघा-अघा कर आत्मसात् करने में अखंड आनन्द का अनुभव करनेवाले वानर-वीर हनुमान् का तन-मन सुन्दर से सुन्दरतर बन जाता है। कथा भी रोमांचक होने से सुन्दर ही लगती है। वाक्य-कोविद वाल्मीकि की भाषा भी इस प्रसंग में सुन्दरतम रूप धारण करती है। सीता-माता से आवासित लंका-नगरी भी सुन्दर दिखाई देती है। इस सर्वतोमुखी सौन्दर्य के संसाधक हनुमान् की साधना सबसे अधिक सुन्दर है।

सुन्दर कांड के प्रथम श्लोक में ही इस सुन्दर सर के सारस्य का आभास मिलता है। पवन-तनय का पावन संकल्प ही इस श्लोक का प्रतिपाद्य विषय है। कपिशेखर के संकल्प को कविपुंगव कमनीय शब्द-परिधान देते हुए कहते हैं:—

ततो रावणनीतायाः सीतायाः शत्रुकर्षणः।
इयेष पदमन्वेष्टुं चारणाचरिते पथि॥

राम की सम्मति, सुग्रीव की सन्मति तथा सहयोगियों की सहमति का संबल लेकर शत्रुओं का संहार करने में समर्थ शूरवीर हनुमान् रावण द्वारा हर ली गई सीता के पदाभ्याश की खोज में चारणों द्वारा

संचारित मार्ग पर चलने का संकल्प कर लेते हैं। रावण द्वारा सीता का अपनयन सीता-पद के अन्वेषण का कारण बनता है। अन्वेषक सीतापति राम नहीं, रामदूत हनुमान् हैं। अन्वेष्यमाण पद जितना प्रधान है, अन्वेषण का पथ भी उतना ही प्रशस्त है। पद और पथ को भलीभांति पहचानने वाले पवन-नंदन "ततः पदं तत् परिमार्गितव्यं" वाली श्रुति-सूक्ति के अनुसार स्व-निर्दिष्ट पथ पर सुनिर्दिष्ट पद का अन्वेषण प्रारंभ करते हैं। ध्यातव्य है कि यह वास्तव में सीता का अन्वेषण नहीं है, सात्विक सीता-पद का तात्त्विक अन्वेषण है जिसके लिए चारणों द्वारा आचरित पथ ही उपयुक्त बन सकता है।

सागर को पार करने के लिए अंतरिक्ष में उड़ान भरने के पहले वायु-नन्दन हनुमान् महेन्द्र पर्वत की हरियाली पर विचरण करने लगते हैं क्योंकि इसी धरती-माता की प्रिय तनया सीता का ही पद उन्हें खोजना है। नीली, लाल, सफेद, काली, मजीठ, केसर नाना प्रकार की धातुओं से मंडित पर्वतभाग पर प्रचरण करनेवाले पवन-कुमार कभी हृष्ट-पुष्ट वृषभ की भांति दिखाई देते हैं और कभी विशालकाय हाथी की मदमाती चाल से मंद-मंद विचरने लगते हैं। आत्मयोगी आंजनेय अपने इस अंतरिक्ष-यान को आत्म-निर्भर बनाने के लिए अपने जन्मदाता पवन, प्राणदाता सूर्य, ज्ञानदाता महेन्द्र तथा पाँच महाभूतों को प्राङ्मुख होकर प्रणाम करते हैं और फिर अपने शरीर को अनन्त की ओर बढ़ाते हैं। आंजनेय के इस आत्म-विवर्द्धन का एकमात्र लक्ष्य राम का संवर्द्धन है, राम-कार्य की सिद्धि है, सीता-पद की प्राप्ति है। जैसे-जैसे हनुमान् का शरीर बढ़ने लगता है, वानर-वीर प्रसन्न मन से उनका अभिनन्दन करते हैं। और सहयोगियों की सद्भावना से हनुमान् वैसे ही वर्द्धमान बन जाते हैं जैसे पूर्ण चन्द्र को देखकर सागर उमड़ पड़ता है।

अपने शरीर को ही अंतरिक्ष-यान बनाकर जैसे हनुमान् उड़ान भरते हैं, चारों तरफ उथलपुथल मच उठती है। महेन्द्र पर्वत एकदम विचलित हो जाता है। मस्तक और ग्रीवा को उदग्र बनाकर अपने कर-चरणों से जब कपिवर पर्वत को प्रपीड़ित करते हैं तो पर्वत पर उगे सभी वृक्ष हिल जाते हैं और उनके फूल झर जाते हैं। अनेक वृक्ष हनुमान् के पीछे-पीछे निकल पड़ते हैं मानों वे आप्त बंधु को बिदा करने जा रहे हों। पर्वत की शिलाएँ टूट कर बिखर जाती हैं, भीतर के झरने बाहर फव्वारे बनकर फूट पड़ते हैं। अचानक मच गई इस हलचल से पर्वतवासी जीव-जन्तुओं में घबराहट पैदा हो जाती है। पर्वत पर विचरनेवाले विषैले सर्प अपने दांतों से शिलाओं को डसने लगते हैं। इस ज्वाला को बुझाने में पर्वत की समस्त औषधियाँ विफल हो जाती हैं। पर्वत की गुफाओं में गुप्त स्थान पर बैठकर प्रेम-प्रसंग में प्रमत्त विद्याधर त्रस्त होकर अपनी स्त्रियों के साथ अंतरिक्ष में जाकर इस अद्भुत दृश्य को देखने लगते हैं। भय-संभ्रम में प्रगाढ़ परिरंभण का सुख लेनेवाली विद्याधरियाँ पहले विस्मित रह जाती हैं और बाद में सस्मित वदन से महासत्त्व हनुमान् के इस अद्भुत कार्य की सराहना करती हैं। पर्वत पर तपस्या में लीन महर्षि महावीर हनुमान् के साहस की प्रशंसा करते हैं। इस कोलाहल का रहस्य जानकर सिद्ध और चारण अतुलित बल प्रकट करनेवाले पवन-नन्दन का गुणगान करते हैं।

धरती को आकाश से मिलाने वाले इस अद्भुत परिवेश में हनुमान् अपने कर-चरणों को कटि में समाकर अपनी पूँछ को ध्वजा बनाकर, महामेघ की भांति जोर-जोर से गरजते हुए आगे के मार्ग का अवलोकन करते हुए, अपनी दोनों भुजाओं को गर्दन के साथ समेटते हुए और फैलाते हुए अंतरिक्ष में मुखार्पण करते हैं। छलांग मारते समय महावीर हनुमान् अपने साथियों से कहते हैं: "जैसे ही रामचन्द्र का निर्मुक्त बाण श्वास की गति से चलता है, वैसे ही मैं कुछ ही क्षणों में लंका-नागरी में पहुँच जाऊँगा। कुछ भी हो, मैं सर्वथा कृतकृत्य बनकर ही लौटूँगा, खाली हाथ वापस नहीं आऊँगा।"

इस आशापूर्ण वाणी के साथ सुपर्ण (गरुड़) की भाँति हनुमान् अंतरिक्ष में अपनी उड़ान आरंभ करते

हैं। उत्साह, उल्लास और उमंग के साथ उड़ान भरने वाले हनुमान् के साथ-साथ रंग बिरंगे फूल उनके शरीर को अलंकृत करते हैं। ऐसा लगता है कि 'फूला हुआ और फूलों से लदा हुआ' सुन्दर पर्वत आकाश में जा रहा है। कुछ दूर जाने के बाद वे फूल सागर में गिर जाते हैं तो सागर तारों से सजाया गया अंबर (आकाश)बन जाता है। जहाँ-जहाँ हनुमान् का पर्वताकार शरीर पहुँचता है, वहाँ वहाँ पर सागर का जल बादल बनकर ऊपर उछल पड़ता है। हनुमान् की छाया भी सागर पर बहुत सुन्दर दिखाई देती है और छाया गतिशील होने के कारण और भी सुन्दर छवि छोड़कर आगे बढ़ती जाती है। लाल लाल नासिका के कारण हनुमान् का मुख-मण्डल उदीयमान सूर्यमंडल के समान समस्त ब्रह्मांड को अपनी लालिमा में निमज्जित करता-सा दिखाई देता है। सागर की उत्ताल तरंगों की गणना करते हुए, रास्ते में मिलने वाले बादलों से बातें करते हुए, सागर और आकाश को समीकृत करते हुए विशालकाय हनुमान् पंख वाले पर्वत के समान वायुमार्ग में निरालंब आगे बढ़ते जाते हैं। बीच में रंग-बिरंगे बादल अभ्यागत यात्री को भी रंगीन बना देते हैं। कभी बादलों के बीच में, कभी बादल के ऊपर और कभी बादल के नीचे उड़नेवाले पवन कुमार शरत्काल के मेघों के बीच में से गुजरनेवाले प्रभाकर की भांति सुशोभित होते हैं। राम-कार्य को सम्पन्न करने के लिए प्रस्थित पवन-कुमार को पवन तो शीतल सुगंधित वायु से प्रसन्न रखता ही है, पर स्वभाव से प्रखर तेज वाला प्रभाकर भी उनको तपाता नहीं, बल्कि अपनी सुखद शीतल किरणों से सुख-संचरण का आनन्द प्रदान करता है।

अब हनुमान् की अंतरिक्ष यात्रा में कुछ अवरोध भी सामने आते हैं। सबसे पहले समुद्र की प्रेरणा से हनुमान् को थोड़ी देर के लिए विश्राम देने के उद्देश्य से मैनाक पर्वत सागर से ऊपर उठकर हनुमान् से कहता है:—

दुष्करं कृतवान् कर्म त्वमिदं वानरोत्तम।
निपत्य मम शृंगेषु क्षणं विश्रम्य गम्यताम्॥

(हे वानर वीर, आपने बहुत बड़ा कार्य अपने ऊपर ले लिया है जो और किसी के लिए संभव नहीं है। सागर पार करने में काफी समय लगेगा। इसलिए मेरी सुनहली चोटियों पर थोड़ी देर विश्राम कर आगे बढ़िये।)

मैनाक पर्वत के इस अनुरोध में अवरोध उपस्थित करने की भावना बिल्कुल नहीं है, बल्कि आगे की यात्रा को अधिक सुकर बनाने के लिए दुष्कर कार्य में प्रवृत्त हनुमान् के सामने यह प्रस्ताव रखा गया है। इसके अलावा सागर और मैनाक दोनों का राम और रामदूत हनुमान् से गहरा संबंध है। इक्ष्वाकुवंश के राजा सगर की ही देन है – सागर। उसी इक्ष्वाकुवंश के वीर हैं – रघुवीर। इसलिए राम के कार्य में सहायक बनना सागर का कर्तव्य बनता है। इसी प्रकार इन्द्र के प्रकोप से मैनाक पर्वत को वायुदेवता ने बचाया था। प्राचीन काल में पर्वतों के पंख होते थे। इससे पहाड़ों के उड़ते रहने से जन-जीवन त्रस्त हो जाता था। इससे कुपित होकर देवराज इन्द्र सभी पर्वतों के पंख काटने लगे। जब इन्द्र अपना वज्रायुध लेकर मैनाक के पास पहुँचे तब वायुदेवता ने तत्काल उसको समुद्र में गिरा दिया और मैनाक बाल-बाल बच गया। इसलिए मैनाक पर्वत वायुदेव का आभार मानता रहा और अब वायुनन्दन हनुमान् को सहारा देने का उसे सुअवसर मिला है। इस प्रकार सागर और मैनाक दोनों हनुमान् की सहायता करना चाहते थे। परन्तु कार्यसाधना में तल्लीन हनुमान् के लिए यह अवरोध ही प्रतीत होता है क्योंकि आराम, पल भर का ही सही, दुस्साध्य कार्य में बाधक ही बनता है, साधक नहीं। इसलिए हनुमान् कहते हैं:—

त्वरते कार्यकालो मे अहश्चाप्यवितर्तते।
प्रतिज्ञा च मया दत्ता न स्थातव्यमिहान्तरा॥

(मुझे जो कुछ करना है, बहुत जल्दी ही करना है। दिन भी समाप्त होता जा रहा है। मैंने अपने सहचरों के सामने यह प्रतिज्ञा कर ली है कि मैं रास्ते में कहीं नहीं रुकूँगा।)

यह कहकर हनुमान् अपने हाथ से मैनाक का

स्पर्श मात्र कर आगे बढ़ जाते हैं। इन सभी घटनाओं को प्रत्यक्ष देखनेवाले समस्त देवता, सिद्ध और महर्षि हनुमान् की प्रशंसा करते हैं। उनको विश्वास हो जाता है कि हनुमान् की कर्तव्यनिष्ठा अनोखी है जिसके बल पर वह अपने दुष्कर कार्य-साधन में अवश्य सफल हो जाएंगे।

प्रथम गतिरोध को पारकर जैसे ही पवन-तनय अपने पिता के पथ (वायुमार्ग) पर आगे बढ़ते हैं, देवताओं से प्रेरित नागमाता सुरसा अपना विशाल और विकराल मुँह खोल कर हनुमान् के सामने प्रकट होती है और उनको निगलना चाहती है। हनुमान् बड़ी चतुराई से तत्काल सूक्ष्म रूप धारण कर सुरसा के मुँह से बाहर निकल आते हैं। वास्तव में सुरसा हनुमान् के बुद्धि-कौशल की परीक्षा कर रही थी। इसलिए वह संतुष्ट होकर हनुमान् को आशीर्वाद देती हैः–

अर्थसिद्ध्यै हरिश्रेष्ठ गच्छ सौम्य यथासुखम्।
समानय च वैदेहीं राघवेण महात्मना॥

(वानर-पुंगव, तुम श्रीराम का कार्य सम्पन्न करने में समर्थ हो, आराम से जाओ और राम से सीता का समागम करा दो।)

इस दूसरे गतिरोध को पार करने पर श्रीराम के शुभचिंतक अंतरिक्षवासी सिद्ध हनुमान् की फिर से भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं। इतने में फिर एक और अवरोध सामने आता है। सिंहिंका नाम की छायाग्राही राक्षसी हनुमान की छाया को ग्रस लेती है और छाया के साथ-साथ हनुमान् भी सिंहिंका के मुँह में प्रविष्ट होने लगते हैं। पर थोड़ी ही देर में हनुमान् आसुरी माया को समझ लेते हैं और अपने पराक्रम, कौशल, तेज और दैवी अनुग्रह के बल पर सिंहिका के हृदय को विदीर्ण कर देते हैं। यह तीसरा अवरोध वास्तव में गतिरोध मात्र नहीं था, भयंकर उत्पात था। इसको भी जब हनुमान् अतिलंघित कर लेते हैं तो अपार पारावार को ही वह पार कर जाते हैं। धीरे-धीरे समुद्र का तट दिखाई देता है जो तटवर्ती वनराजी जनजीवन का आभास देती है।

अब लंका दूर नहीं है। पर लंका में प्रवेश करने के पहले आत्मवान् आंजनेय अपने आकार को फिर से संक्षिप्त, संगृहीत और संवृत बना लेते हैं जैसे आत्मा का बोध होने पर जीवन का मोह अपने आप देह में समा जाता है। तदर्थ कार्य-साधन के लिए संवर्द्धित स्वरूप अर्थ-सिद्धि के बाद सहजाकार में परिणत हो जाता है। विशिष्ट प्रयोजन से स्वयंधृत विकृति प्रयोजन के सिद्ध होने पर स्वाभाविक प्रकृति बन जाती है।

ततः शरीरं संक्षिप्य तन्महीधर संनिभम्।
पुनः प्रकृतिमापेदे वीतमोह इवात्मावान्॥



49. लंका नगरी का सर्वेक्षण

आत्मवान् आंजनेय अपने अपरिमेय आत्मबल तथा आत्माराम के आशीर्बल के सहारे अपार पारावार को पारकर लंका-तट तक पहुँच जाते हैं। शतयोजन् व्यापी महासागर को पार करने पर भी महावीर हनुमान् थकान का तनिक भी अनुभव नहीं करते। त्रिकूट-पर्वत पर उतरने के बाद वह गहरी साँस तक नहीं खींचते। असल में उनको लगता ही नहीं कि उन्होंने इतना दुष्कर कार्य किया है। इसके विपरीत, उनको इस बात का विश्वास हो जाता है कि ऐसे सैकड़ों सागर वह अनायास पार कर सकते हैं। इसलिए वह विश्राम की बात तक नहीं सोचते जबकि पहली मंज़िल में ही मैनाक-पर्वत उनको क्षणिक विश्राम देने के लिए तत्पर, व्याकुल और उत्सुक था। पर श्रीराम का अभ्युदय और सीता-माता का संदर्शन हनुमान् को अनवरत कार्य-निरति में दीक्षित कर देते हैं। मन में राम हैं तो तन को आराम की क्या आवश्यकता है !

राक्षसराज रावण की राजधानी लंका को देखकर शांतिदूत हनुमान् को हर्ष और अमर्ष दोनों का सुखद और दुखद अनुभव एक साथ होता है। सुखद इसलिए कि वह सीता-माता से आवासित है और दुःखद इसलिए कि वह असुरों के अत्याचार से आतंकित है। अपने को इस आतंक से बचाकर किसी एकांत शांत आवास में निवास करनेवाली सुवासिनी का दर्शन-लाभ करना अब हनुमान् का सत्वर कर्तव्य है। इसके लिए सबसे पहले समस्त नगरी का स्थूल सर्वेक्षण करना आवश्यक है और उसके पश्चात् कुछ निश्चित स्थलों का सूक्ष्म निरीक्षण करना होगा।

लंबे-लंबे तीन शिखरों से समावृत्त होकर लंबे बादल के समान अंतरिक्ष में निलंबित त्रिकूट-पर्वत पर खड़े होकर वानर-वीर हनुमान् अपनी पैनी दृष्टि को लंका पर प्रसारित करते हैं तो रावण की राजधानी देवधानी अमरावती की भांति शोभायमान, देदीप्यमान और विलक्षण वैभव से विराजमान दिखाई देती है। पेड़-पौधों और फल-फूलों को सबसे अधिक पसंद करने वाले कपीश्वर की दृष्टि सबसे पहले लंका की वनराजी की ओर जाती है। चीड़-चिरौंजी, छितवन-जंबीरी, केवड़े-कोविदार, पिप्पली-कदंब, असन-करवीर आदि हरे-भरे पेड़, उनकी डालियों पर बैठकर मस्ती में गा-गाकर झूमनेवाले पक्षी, उन वृक्षों के आस-पास विचरनेवाले चित्र-विचित्र जानवर, बीच-बीच में तन-मन की प्यास बुझानेवाले सुन्दर सरोवर, उन जलाशयों में स्वच्छंद विचरनेवाले रसजीवी जलचर, रंग-बिरंगे फूल, मीठे-मीठे फल आदि देखकर कपींश्वर का मन प्रसन्न हो जाता है। पर सीता-संदर्शन तक इन सबका रसास्वादन करने का लोभ संवरण कर कर्तव्य-परायण कपिवीर लंकापुरी की अभेद्य व्यूह-रचना को समझने का प्रयास करते हैं।

लंका-नगरी सोने की चहारदीवारी से घिरी हुई और पहाड़ के समान अचल तथा बादल के समान तरल धवल सौधों से भरी हुई दिखाई देती है। साफ-सुथरी सड़कें, अलंकृत अट्टालिकाएँ, उल्लास और उमंग से उन्नति को नापनेवाली ऊँची पताकाएँ, सुनहली दीवारें, मणिमय द्वार, सुसज्जित मंडप, सुखावह आसन, मुदावह आनन, अनुपम उपवन और मंजुल

मधुवन राजधानी की रामणीयकता को बढ़ाते हैं। पर साथ ही विकराल आयुध धारण कर बड़ी-बड़ी दाढ़ों से शत्रु सेना को त्रस्त करनेवाले विरूपाक्ष राक्षस उस महानगरी की रखवाली करते-से दिखाई देते हैं। भयंकर सर्पों से परिवेष्टित और परिरक्षित पाताल लोक की भाँति लंका नगरी सभी प्रकार से सुरक्षित दिखाई देती है। विशेषकर सीता का अपहरण कर उनको लंका में प्रतिष्ठित करने के पश्चात् नगर की सुरक्षा का दायित्व अधिक गुरूतर बन जाता है। ऐसी स्थिति में बाहर से किसी व्यक्ति का आकर लंका में घुस जाना असंभव है। यहाँ तक कि हवा और पानी को भी लंका में प्रवेश करने के लिए राजकीय अनुमति आवश्यक प्रतीत होती है।

अब हनुमान् थोड़ी देर के लिए चिंतित हो जाते हैं कि इतनी भारी चौकसी में चारों तरफ समुद्र की खाई से घिरी हुई महानगरी में यदि वानर-सेना प्रवेश कर भी जाए तो क्या लाभ है क्योंकि ये राक्षस एक से बढ़कर एक क्रूर, घातक और दुर्जेय प्रतीत होते हैं। इनको न युद्ध में पराजित किया जा सकता है और न बुद्धि से। हनुमान् को घोर संदेह घेर लेता है कि स्वयं सत्यपराक्रम राम भी यहाँ आकर कुछ कर पाएँगे या नहीं। वह अपने आप में तर्क करने लगते हैं:-

इमां त्वविषमां लंकां दुर्गां रावणपालिताम्।
प्राप्यापि सुमहाबाहुः किं करिष्यति राघवः॥

रावण द्वारा पालित लंका को धर्म का पालन करनेवाले राम कैसे पराजित कर सकेंगे, इसी बात पर हनुमान् ऊहापोह करने लगते हैं। जन्म, कर्म, शिक्षा, साधना और संस्कार से ये राक्षस हैं। सात्विकता, शालीनता, सौजन्य आदि जीवन-मूल्यों से ये बिलकुल अपरिचित हैं। इसलिए पहला उपाय साम यहाँ काम नहीं आएगा। फिर उनको कोई पार्थिव प्रलोभन देकर स्वाधीन करना भी संभव नहीं है क्योंकि उनके पास लौकिक वैभव की कोई कमी नहीं है। उनमें भेद-भाव पैदा करना भी सुकर नहीं है क्योंकि उनकी संगठन-शक्ति दुर्भेद्य ही नहीं, बल्कि दुर्बोध्य भी है। अंतिम उपाय दंड भी यहाँ निरर्थक है क्योंकि उनकी शस्त्रास्त्र-संपदा अत्यंत परिमार्जित, परिरक्षित और परीक्षित है।

यह सब सोचकर बुद्धिमान् हनुमान् भी पलभर के लिए विक्षुब्ध हो जाते हैं। पर दूसरे ही क्षण उनकी विचार-सरणी में राम का अपरिमेय पराक्रम और लक्ष्मण का विलक्षण लाघव बिजली की तरह चमक जाते हैं और उनका आत्म-विश्वास फिर सुदृढ़ बन जाता है। उनके मन में विचार आता है:-

यावज्जानामि वैदेहीं यदि जीवति वा न वा।
तत्रैव चिंतयिष्यामि दृष्ट्वा तां जनकात्मजाम्॥

(पहले यह तो पता चले कि जनकनंदिनी जीवित हैं या नहीं? यदि जीवित हैं तो कहाँ हैं? वहाँ तक मैं कैसे पहुँचूँ? पहुँच कर उनको कैसे देखूँ? एक बार उनको देख लिया तो बस, बाकी सब काम अपने आप बन जाएगा। इसलिए पहले उनको देखूँ और फिर सोचूँ कि क्या करना है।)

पर वास्तविक समस्या तो वही है। राक्षस का रूप धारण करके भी लंका में कोई बाहर का व्यक्ति प्रवेश नहीं कर सकता तो वानर-वेश में महाकाय हनुमान् भीतर कैसे घुसें? उनको चाहिए कि वह सीता जी को इस प्रकार देखें ताकि कोई दूसरा व्यक्ति उनको देख नहीं पाए। परम सत्य के द्रष्टा की भांति परम सुंदरी के द्रष्टा भी दूसरों के दृष्टिपथ में आना नहीं चाहते हैं। यदि किसी कारण से प्रमादवश सीता-दर्शन के पहले हनुमान् को किसी ने देख लिया तो सारा काम चौपट हो जाएगा। न राम का काम बनेगा और न हनुमान् सुरक्षित रहेंगे। इसलिए अपने समस्त बुद्धि-कौशल का उपयोग कर हनुमान् निर्णय कर लेते हैं कि "मैं श्री रघुनाथ जी का कार्य सिद्ध करने के लिए अपने निजी रूप को ही संक्षिप्त बनाकर रात में लंका में प्रवेश करूँगा।"

तदहं स्वेन रूपेण रजन्यां ह्रस्वतां गतः।
लंकामभिपतिष्यामि राघवस्यार्थसिद्धये॥

हनुमान् के इस निर्णय में कुशल दूत के लिए आवश्यक नय, विनय, अभय, आत्मविश्वास आदि

सभी लक्षण परिलक्षित होते हैं। अपने निर्णय के अनुसार सूर्यास्त होते ही पवनकुमार अपने शरीर को संक्षिप्त बनाकर, बिल्ली के बराबर होकर, बिजली की तरह लंका में प्रवेश करते हैं। सोने की जालियाँ, चाँदी की दीवारें, नीलम के फाटक, हीरे-जवाहिरात से जड़े हुए बंदनवार, मणिमय सोपान आदि देखकर हनुमान् चकित हो जाते हैं। शरत्काल के मेघों के समान श्वेत कांति से सुशोभित बहुमंजिले भव्य भवन वायुनंदन को बहुत ही अच्छे लगते हैं। इस सुन्दर नगरी की रखवाली करनेवाले महानाग, मदमाते हाथी और महावीर राक्षस देखने में भयंकर लगते हैं, पर हनुमान् के मन में केवल हर्ष और विषाद का अनुभव होता है, भय का नहीं क्योंकि उनके मन में राम की प्रसन्न मुद्रा और सीता की अभिकल्पित भावमुद्रा अंकित हैं। सीता-माता के संदर्शन की प्रत्याशा उनको हर्ष प्रदान करती है और लंका की भीषण सुषमा देखकर उनके मन में कभी-कभी विषाद छा जाता है - यह सोचकर कि इस दुर्भेद्य नगरी में वानर-सेना कैसे प्रवेश कर सकेगी। इस मिली-जुली अनुभूति को लेकर हनुमान् धीरे धीरे लंका में प्रवेश करने लगते हैं तो पहला कदम रखते ही एक विकराल राक्षसी हनुमान् को ललकार कर कहती है—"रुक जा। पहले बताओ तुम कौन हो, यहाँ किस काम से आए हो, यदि तुम्हें अपने प्राण प्रिय हैं तो सारी बातें ठीक-ठीक बता दो।"

हनुमान् के मार्ग में अवरोध पैदा करनेवाली यह असुरांगना अपने को स्वयं लंका बताती है और कहती है कि रावण की आज्ञा से वह इस समस्त नगरी की रक्षा करती है और उसकी अनुमति के बिना कोई लंका के भीतर प्रवेश नहीं कर सकता। यह सुनकर हनुमान् हँसी-मजाक में कहते हैं—"मैं तो यह सुन्दर नगरी देखने आया हूँ, सुन्दरी। ये भवन, ये वन, ये उपवन देखकर मेरा मन करता है कि एकबार इस नगरी में घूम लूँ और जीवन को धन्य बना लूँ।" इस पर भी जब कामरूप धारण करनेवाली लंका हनुमान् के लिए मार्ग नहीं छोड़ती है, तो हनुमान् बड़ी ईमानदारी के साथ कहते हैं कि मैं भीतर सब देखकर इसी रास्ते से बाहर आ जाऊँगा। अब लंकेश्वरी समझती है कि यह वानर मेरी हँसी उड़ा रहा है। इसका जवाब देने के लिए राक्षसी के पास शब्द नहीं हैं। इसलिए वह भयंकर गर्जना करके वानरवीर को बड़े जोर से एक थप्पड़ मारती है। तब हनुमान् सतर्क हो जाते हैं। स्त्री समझकर वह केवल बायें हाथ की अंगुलियों को मोड़कर मुट्ठी बाँध लेते हैं और लंका को एक मुक्का जमा देते हैं। लंकिनी तत्काल बेहोश होकर गिर पड़ती है और होश आने पर हाथ जोड़कर हनुमान् से कहती है—

"अब तुम्हारे लिए लंका का द्वार एकदम खुला पड़ा है। अब तुम जहाँ जाना चाहो वहाँ जाओ और अपनी मनोकामना पूरी करो।" वास्तव में लंका को ब्रह्मा का एक कथन याद आता है। एक बार ब्रह्मा ने उससे कहा था कि एक दिन एक वानर लंका में प्रवेश करेगा और जिस दिन उससे तुम्हारी हार होगी, उसी दिन से लंका का सर्वनाश आरंभ होगा। यह बात लंका स्वयं हनुमान् से कहती है और उनके लिए लंका का द्वार उन्मुक्त कर देती है। इस प्रकार हनुमान् अपने आत्मबल से अनात्मनगरी पर प्रारंभिक विजय प्राप्त कर लेते हैं और लंका में द्वार-निरपेक्ष मार्ग से (फाटक की परवाह किए बिना) प्रवेश करते हैं।

इस प्रसंग में हनुमान् के लंका-प्रवेश का वर्णन करते समय वाल्मीकि अत्यंत मननीय शब्दों का प्रयोग करते हैं:—

स निर्जित्य पुरीं श्रेष्ठां लंका तां कामरूपिणीम्।
विक्रमेण महातेजा हनुमान् कपिसत्तमः॥

अद्वारेण महावीर्यः प्राकारमवपुप्लुवे।
निशि लंकां महासत्त्वो विवेश कपिकुंजरः॥

महासत्त्व, महावीर्य, महातेज और महावीर हनुमान् अपने पराक्रम के बल पर लंका पर विजय प्राप्त कर लेते हैं और कामरूपिणी लंका में रात के समय द्वार की उपेक्षा कर प्राकार को पार लेते हैं, मानों वह शत्रु के सिर पर अपना बायाँ पैर रख रहे हैं (चक्रेऽथ पादं सव्यं च शत्रूणां स तु मूर्द्धनि)। आत्मवान् आंजनेय के अनात्मनगर में इस आत्म-निर्भर प्रवेश के रहस्य को आत्मज्ञानी ही समझ

सकते हैं। लंका में लौकिक सुख की कमी नहीं है, पार्थिव वैभव की कमी नहीं है, शारीरिक बल की कमी नहीं है और बुद्धि कौशल की भी कमी नहीं है, पर सबसे बड़ी कमी है – आत्म दृष्टि की। अर्थ और काम की आत्यंतिक लालसा ने लंका की आत्मा को आच्छादित कर रखा है। इसी आत्म-सौंदर्य की खोज में आत्मवान् आंजनेय लंका के कोने-कोने को छान डालते हैं। अनात्मा का निराकरण आत्मा के आविष्करण में सहायक बनता है। इस आध्यात्मिक अभियान में राम-दूत को राम-नाम एक मात्र सहारा बनकर उनका पथ-प्रदर्शन करता है ताकि रामेक्षणी की रमणीयता उनके लिए प्रत्यक्ष बन सके। इस अभियान में हनुमान् के मार्ग को आलोकित करने के लिए अंतरिक्ष में अमृत-कलश लेकर चन्द्रमा का उदय होता है और वह भी पूर्ण-चन्द्र है, परिपूर्ण चन्द्र जो रामचन्द्र का प्रतिरूप बनकर हनुमान् का मनोबल बढ़ाने में सहायक होता है।

ततः स मध्यंगतमंशुमतं
ज्योत्स्ना-वितानं मुहुरुद्वमंतम् ।
ददर्श धीमान् भुवि भानुमंतं
गोष्ठे वृषं मत्तमिव भ्रमंतम् ॥

जैस ही हनुमान् लंका में प्रवेश करते हैं, लगभग उसी समय श्रीमान् सुधाकर समस्त वसुधा को अपनी स्निग्ध शीतल चंद्रिका से आप्लावित करते हुए प्राची में प्रकट होते हैं। गोशाला में वृषभ की भांति तारामंडल में उडुपति अपने प्राभव के साथ आगे बढ़ते हैं। अंधकार को हटा कर आनंद प्रदान करनेवाले चंद्रमा के पूर्ण बिंब को देखकर सागर लहर उठता है तो सीतान्वेषी हनुमान् को अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते हुए देखकर समस्त देवताओं के मन में आनंद का सागर उमड़ पड़ता है। संसार की सश्रीकता बढ़ानेवाली मंगल देवता लक्ष्मी जो प्रभात में कमल के पास, प्रदोष में सागर की लहरों में, दिन में पहाड़ों में और रात को घर-घर में विराजमान होती है अब ऊपर चंद्रमा में और नीचे हनुमान् में विराजित है। इस प्रकार श्रीमान् सुधाकर और श्रीमान् आंजनेय आत्मप्रत्यय तथा आंतरिक आनंद के तेज से लंका नगरी में सात्विक सौंदर्य की खोज में अग्रसर होते हैं। ऐसा लगता है कि परम सुंदरी के अन्वेषण में पवनकुमार का साथ देने के लिए रामचंद्र ने ही इस चंद्रमा को भेजा है।

अभी तक हनुमान् लंका को बाहर से देख रहे थे, अब भीतर से देखने लगते हैं। परम तत्त्व को अनुप्राणित करनेवाली परमेश्वरी भी 'अन्तर्मुखी आराधना' से ही सुलभ होती है। बहिर्मुखी साधना साधक को वहाँ तक पहुँचा नहीं पाती। लंका का अंतरंग आमोद-प्रमोद की अस्थिर तरंगों से उच्छल तथा उद्वेलित प्रतीत होता है। कहीं किसी घर में वीणा बज रही है तो किसी दूसरे घर में सदाचारिणी स्त्रियाँ पतियों के साथ सो रही हैं। कहीं वेदघोष सुनाई देता है तो कहीं निशाचरों का जयघोष। कहीं शास्त्रार्थ को लेकर वाद-विवाद चल रहा है तो कहीं असुर योद्धा अपनी भुजाओं को हिलाते हुए अपने-अपने पराक्रम की गाथाएँ बखान रहे हैं। कुछ स्त्रियाँ अपने को अलंकृत कर रही हैं तो कुछ सो रही हैं और कुछ अभी-अभी सो कर उठी हैं। कुछ स्त्रियाँ अकेली हैं तो कुछ अपने पतियों के साथ हैं और कुछ प्रणय-कलह से विकल होकर लंबी-लंबी सांसें खींच रही हैं। कुछ दंपति बहुत सुंदर हैं और कुछ बे-जोड़ हैं। कहीं आनंद और अनुराग है तो कहीं आक्रोश और असंतोष है। रंग-बिरंगे फूलों से सजी हुई, वन-लक्ष्मी की तरह लंका की प्रणय-श्री अपनी बहुरंगी शोभा प्रदर्शित कर रही है। किन्तु इनमें से पतिप्राणा जानकी कहीं नहीं दिखाई दे रही है। उन्हीं को देखने के लिए हनुमान् को इन सबको देखना पड़ रहा है।

पवित्र वंश में जन्म लेकर प्रशस्त पथ पर स्थिर रहनेवाली जनकनंदिनी को देखने की लालसा से हनुमान् राक्षस-नगरी के घर-घर में प्रवेश करते हैं। पर कहीं भी रामपत्नी दिखाई नहीं देती। अंतरिक्ष में चंद्रमा को देखकर हनुमान् कल्पना करते हैं कि संभवतः रामचंद्र की साध्वी सती इसी चंद्रलेखा की तरह कहीं अव्यक्त छिपी पड़ी है। धूल में लिपटी हुई स्वर्ण रेखा की तरह, कराघात से उभरनेवाली वर्णलेखा की तरह अथवा शराघात से प्रकट होनेवाली रक्त-रेखा की तरह या हवा के तीव्र संचलन से विचलित मेघ-रेखा की तरह

अस्थान में विस्थापित चंद्रमुखी की रूप-रेखा को देखने के लिए हनुमान् का मन उत्कंठित होता है।

अव्यक्तलेखामिव चंद्र रेखां
पांसुप्रदिग्धामिव हेम रेखाम्,
क्षतप्ररूढामिव वर्ण रेखां
वायुप्रभुग्नामिव मेघरेखाम् ॥

इस रेखा-चित्र को अपने मन में प्रतिष्ठित कर कामरूपधारी कपीश्वर लंका नगरी के प्रत्येक भवन को, वन को, उपवन को और सरोवर को बाहर से, भीतर से और अगल-बगल से देखने-परखने लगते हैं। पर कहीं भी जानकी के दर्शन नहीं होते।

अचानक दूर से रावण का राजगृह दिखाई देता है। वहाँ तक पहुँचने के मार्ग पर और भी अनेक भवन दिखाई देते हैं। प्रहस्त , कुंभकर्ण, विभीषण, इंद्रजित्, महोदर, महापार्श्व, वज्रदंष्ट्र, विरूपाक्ष, शुक, सारण, जंबुमाली, सुमाली, धूम्राक्ष, शोणिताक्ष आदि अनेक राक्षस-प्रवरों के भवन पार करने के पश्चात् रावण का भव्य भवन दिखाई देता है। बाहर से भवन की रखवाली करनेवाली राक्षस-सेना भयंकर अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित होकर सतर्कता के साथ खड़ी हुई है। हाथी, घोड़े आदि किसी भी क्षण किसी भी प्रकार के उत्पात का सामना करने के लिए तैयार हैं। भवन के भीतर सुन्दर वन, क्रीडांगन, शय्यागृह, भोजन-कक्ष, पानशालाएँ, पक्षियों के आकर्षक चित्र आदि प्रचुर मात्रा में सर्वत्र दिखाई दे रहे हैं। इसी विशाल भवन के एक कोने में पुष्पक विमान भी दिखाई देता है। रावण ने अपने पराक्रम के बल पर इस विमान को अपने भाई धनेश से अर्जित कर लिया था। सारा भवन एक विशाल पर्वत के समान दिखाई देता है।

धीरे-धीरे हनुमान् रावण के अंतःपुर में प्रवेश करते हैं जहाँ परम सुंदरी स्त्रियाँ आकाश में नक्षत्रों की तरह जगह-जगह पर बिखरी पड़ी हैं। सबकी सब निर्लज्ज निद्रा की गोद में सोई पड़ी हैं। कोई गायिका वीणा को हाथ में लेकर काल्पनिक परिरंभ का आनन्द ले रही है तो कोई नर्तकी पैरों से खिसक गई पायलों तथा छाती से गिरे हुए हारों की परवाह किए बिना निर्लिप्त सुख में निमग्न होकर अचेत अवस्था में सो रही हैं। किसी का तिलक पुछ गया तो किसी का वस्त्र खिसक गया। इस प्रकार रावण के अंतःपुर में अस्त-व्यस्त पड़ी हुई असंख्य अंगनाओं को देखने पर हनुमान् को वह स्त्री-वन सा प्रतीत होता है। नींद की मस्ती में एक दूसरे की भुजाओं से लिपटी हजारों नारियों का वह दृश्य रावण के द्वारा गूँथी हुई स्त्री-माला की तरह लग रहा था। इन स्त्रियों में अनेक सुंदरियाँ भी हैं और साध्वी ललनाएँ भी हैं। सब रावण के लोभ में आकर अंतःपुर को अलंकृत कर रही हैं।

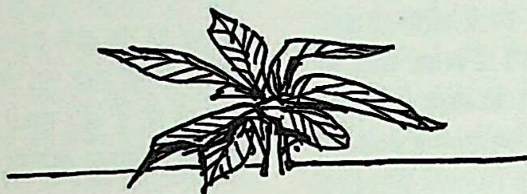
पर हनुमान् का ध्यान श्रीराम की इष्ट सुंदरी सीता पर केन्द्रित है। वह तो इनमें से कहीं भी दिखाई नहीं दे रही हैं। हाँ, रावण जिस शय्या पर सो रहा है, उसी के पास एक परम सुन्दरी सोई हुई है। वह एकांत में बिछी हुई सुन्दर शय्या पर सो रही है और अपनी शोभा से समस्त भवन को विभूषित कर रही है। वह गोरे रंग की है। उसकी शारीरिक शोभा स्वर्णिम है। उस भद्र महिला को देखकर हनुमान् थोड़ी देर के लिए अनुमान लगाते हैं कि संभवतः यही रामपत्नी सीता है। फिर क्या था? उनका मन-मयूर तत्काल आनन्द से नाच उठता है। वह अपनी पूँछ को पटकने और चूमने लगते हैं, गाने-नाचने लगते हैं, इधर-उधर आने जाने लगते हैं और न जाने क्या-क्या करते हैं। पर सब कुछ करने के बाद अपनी वानर-बुद्धि पर उनको स्वयं दया आती है। वह सोचने लगते हैं कि यदि यह सचमुच रामपत्नी हैं तो रावण के अंतःपुर में इतनी सुखद निद्रा में वह कैसे सो सकती हैं। तुरंत उनको पता चलता है कि यह राम की नहीं, रावण की पत्नी है।

अब वह नकली सीता को छोड़कर असली सीता को खोजने लगते हैं जो राम के वियोग में न सो सकती हैं, न खा सकती हैं और न अपने को इस प्रकार सजा सकती हैं।

न रामेण वियुक्ता सा स्वप्तुमर्हति भामिनी ।
न भोक्तुं नाप्यलंकर्तुं न पानमुपसेवितुम् ॥

इस निष्कर्ष के पश्चात् हनुमान् का आत्मान्वेषण फिर नये सिरे से आरम्भ होता है। जहाँ तक हनुमान् का अनुमान प्रसारित हो सका, वहाँ तक परम सुन्दरी का प्रत्यक्षीकरण संभव नहीं हो सका। अब अनुमान की सीमा को पार कर किसी आप्त वाक्य का सहारा लेना पड़ेगा। यह वाक्य राम नाम से अंकित मुद्रिका ही प्रदान कर सकती है। इसलिए हनुमान् की दृष्टि राम-नामांकित मुद्रिका पर जाती है।

"मुद्रेयं भद्रमंगला"



50. सीता माता का संदर्शन

मंदोदरी को सीता समझ कर पुलकित होने में सीता-संदर्शन के लिए अत्यंत आतुर आंजनेय का कोई विशेष दोष नहीं है। यदि दोष है तो केवल मंदोदरी की कल्पनातीत रूप माधुरी और अप्रत्याशित पवित्र मूर्तिमत्ता में है। राक्षसराज रावण की राज-महिषी इतनी सौम्य, सुमुख, सुवर्ण और सुप्रभ हो सकती है, हनुमान् इसका अनुमान तक नहीं लगा सके और यह बिलकुल स्वाभाविक है। अंतःपुर की अन्यान्य वनिताओं की अस्त-व्यस्त आकृतियों को देखने के बाद मंदोदरी को देखते ही मारूतात्मज हनुमान् का मन-मयूर नाच उठता है। पर प्रकृत्या बुद्धिमान्, विवेकशील, आत्म-विधेय और आत्मनिर्भर होने के कारण दूसरे ही क्षण उनको वास्तविकता का बोध होता है। मंदोदरी पर्वतराज की पुत्री पार्वती के समान पवित्र अवश्य है, पर वह रामपत्नी सीता नहीं बन सकती। रावण की शय्या के निकट एकांत निद्रा का आनन्द लेनेवाली स्त्री सीता नहीं हो सकती चाहे वह कितनी ही रूपवती हो और चाहे कितनी ही गुणवती क्यों न प्रतीत हो।

इस प्रकार हनुमान् अपने को समझाकर अपगत बुद्धि को तदनंतर कर्त्तव्य की ओर उपगत बना लेते हैं। अब सीता-माता का अन्वेषण नये सिरे से, नई दिशा में और नई स्फूर्ति के साथ करना है। पर अन्तःपुर को छोड़ने से पहले वहाँ के हर प्रदेश को बारीकी से देखना आवश्यक है ताकि इस बात का समाधान हो जाए कि जनक-नंदिनी रावण के अंतःपुर में तो नहीं हैं। इसी दृष्टि से हनुमान् अंतःपुर की पानशाला के प्रत्येक दृश्य को ध्यान से देखते हैं – चाहे वह दर्शनीय हो या दुर्दर्श हो। हजारों महिलाएँ अंतःपुर में यत्र तत्र अनेक रूपों में, अनेक अवस्थाओं में और अनेक मुद्राओं में दिखाई देती हैं। अमूल्य आभूषणों से उनके शरीर विभूषित हैं। कुछ स्त्रियाँ सौंदर्य की चर्चा में लगी हुई हैं। कोई थकी मांदी सोई पड़ी है और कोई अपनी सखी को रावण समझकर उसके परिरंभ में परवश हो रही है। किसी का वस्त्र किसी दूसरी ने ओढ़ लिया है और किसी का हार किसी दूसरी के कंठ को सजा रहा है। कोई निद्रा के वश में है तो कोई मदिरा के वश में। इस प्रकार रावण की कामवासना में न्यस्त जीवन व्यतीत करनेवाली अबलाओं को अभद्र मुद्रा में देखकर हनुमान् पछताते हैं कि जिनको देखना था वह रामेक्षणी तो मिली नहीं हैं, उल्टे इन असुरांगनाओं को देखना पड़ा। अब तक उन्होंने कभी पराई स्त्रियों को इस प्रकार देखा नहीं था। इस लिए धर्म-लोप के भय से वह व्याकुल हो जाते हैं। पर क्या करें? सीता का दर्शन स्त्रियों में ही हो सकता है। वन्य मृगों के बीच उनको ढूँढने से क्या लाभ है? जब तक दूसरी स्त्रियों को ध्यान से देखा न जाए तक तक पता कैसे चलेगा कि जानकी इनमें से नहीं हैं। इसी प्रकार के विचारों से वह अपने मन को समझा लेते हैं कि अंतःपुर में अन्वेषण का जो भी कार्य हुआ है, उसमें उनका कोई दोष नहीं है। सबसे बड़ी बात यह है कि जब तक मन शुद्ध है तब तक कोई दोष मन को छू नहीं सकता। अपने अंतःकरण की शुद्धता पर आत्मवान् आंजनेय को अपार और अखंड विश्वास है। इसी आत्म-विश्वास को

प्रकट करते हुए वह कहते हैं:—

काामं दृष्टा मया सर्वा विश्वस्ता रावणस्त्रियः।
न तु मे मनसा किंचिद् वैकृत्यमुपपद्यते॥
मनो हि हेतुः सर्वषामिंद्रियाणां प्रवर्तने।
शुभाशुभास्ववस्थासु तच्च मे सुव्यवस्थितम्॥

इस प्रकार मन का समाधान तो हो चुका है, पर लंका-यात्रा का प्रयोजन अभी तक सिद्ध नहीं हो सका। सीता-माता को देखकर उनको स्वामी का संदेश पहुँचाने में ही सागर-लंघन की सार्थकता है। इसलिए हनुमान् अपना अन्वेषण जारी रखते हैं। अंतःपुर के आसपास जितने उपवन, निकुंज, कला-मंदिर, विश्राम-गृह, निशा-निकेतन, क्रीड़ांगण, सभागार, लता-वितान, विमान आदि हैं – सब को हनुमान् देख लेते हैं—एक बार नहीं, बार-बार देख लेते हैं। पर कहीं भी जनकनंदिनी का आभास तक नहीं मिलता। उनको संदेह होता है कि कहीं दुष्ट रावण ने अपने शील और सम्मान की रक्षा में तत्पर सीता-माता के प्राणों का हरण तो नहीं किया है। अथवा विकट और विकराल असुरांगनाओं ने उसे खा लिया हो या उनकी भयंकर आकृति को देखकर कोमल हृदया मैथिली के प्राण रुँध गए हों या उनके हृदय की गति रुक गई हो। कुछ भी हो सकता है। पर जो कुछ हो, जानकी को देखे बिना किष्किंधा जाना असम्भव है क्योंकि इससे महान् अनर्थ होगा। जानकी कहीं दिखाई नहीं दीं, इस समाचार को लेकर यदि हनुमान् किष्किंधा पहुँचे तो सबसे पहले राम अपने प्राण छोड़ेंगे, उसके बाद लक्ष्मण, बाद में भरत, शत्रुघ्न, कौशल्या सुमित्रा और यहाँ तक कि सुग्रीव, अंगद आदि भी नहीं बच पाएँगे। इतने बड़े अनर्थ से अयोध्या और किष्किंधा को बचाने के लिए या तो सीता-माता का पता लगाना है या किष्किंधा वापस नहीं जाना है। इसी पशोपेश में पड़कर महावीर हनुमान् थोड़ी देर के लिए विषाद, निराशा और निर्वेद की छाया से ग्रस्त हो जाते हैं। पर प्रकृत्या धीर, गंभीर, और कार्यशूर होने के कारण अबकी बार वह दृढ़ संकल्प कर लेते हैं कि सीता-माता का पता लगा ही लेना है, अन्यथा रावण को लंका से उठाकर राम के चरणों में ले चलना है।

इस प्रकार चित्त को उन्मत्त बनानेवाली विचार तरंगों की विभीषिका में वानरवीर हनुमान् बहते चले जाते हैं, कभी भटकते हैं, कभी अटकते हैं और कभी अंतरंग की आशा-रेखा से आश्वस्त भी हो जाते हैं। इतने में अचानक अशोक वन का विशाल भू-भाग दिखाई देता है जिसकी ओर अब तक हनुमान् का ध्यान नहीं गया। आंजनेय का अंतर्मन कहता है कि वन-संचार कुशला मैथिली यहीं कहीं अवश्य दृष्टिगोचर होंगी। इसी आशा से हनुमान् समस्त देवताओं को प्रणति-वाचन से प्रसन्न कर अन्वेषण का अगला और अंतिम अभियान आरंभ करते हैं। इस प्रणति-वाचन में सबसे पहले दशरथनंदन, बाद में रामानुज लक्ष्मण, उसके बाद जनकनंदिनी सीता और अन्त में रुद्र, इन्द्र, यम, अनिल, चंद्र, सूर्य, मरुद्गण आदि का स्मरण किया जाता है। पवन-तनय हनुमान् द्वारा प्रस्तुत यह प्रणति-पाठ किसी भी प्रशस्त मार्ग के अनुयायी के लिए स्मरणीय, मननीय और अनुसरणीय है। पल भर के लिए ध्यान मग्न होकर मारुतात्मज हनुमान् नमस्क्रिया की मुद्रा में खड़े होकर अपने आराध्य देवताओं का आशीर्वाद प्राप्त करने के लिए यह अमोघ अक्षरांजलि अर्पित करते हैं:—

नमोऽस्तु रामाय स लक्ष्मणाय
नमोऽस्तु देव्यै जनकात्मजायै।
नमोऽस्तु रुद्रेंद्रयमानिलेभ्यो
नमोऽस्तु चंद्रार्कमरुद्गणेभ्यः॥

तारक मंत्र का-सा महत्त्व रखनेवाले इस प्रणति-वाचन में प्रस्तुत देवता पवनकुमार के लिए तत्काल अनुकूल बन जाते हैं और स्तोत्र में प्रकारांतर से प्रस्तुत और अप्रस्तुत देवताओं का भी वरद हस्त वानरवीर को सीता-माता की संभावित रूप-माधुरी की ओर सांकेतिक मार्ग दर्शाता है। वायुनंदन को उनके पूज्य पिता वायुदेवता का विशेष रूप से वरदान मिलता है और उसी के फलस्वरूप अचानक शीतल सुखद समीर का संचार होने लगता है। मन की प्रसन्नता माता की रूप-कल्पना में मंजुल सहयोग प्रदान करती है। हनुमान् मन ही मन सोचने लगते हैं—"उन्नत

नासिका, उज्ज्वल मंदहास, निर्मल दंतावली, अक्षत शरीर, उत्फुल्ल नयन आदि प्रशस्त लक्षणों से अभिलक्षित होकर चंद्र-मंडल की मंगलमय ज्योति से जगमगानेवाला वह प्रसन्न मुखमंडल मेरे लिए नयनगोचर कब होगा?"

तदुन्नसं पांडुरदंतमव्रणं
शुचिस्मितं पद्मपलाशलोचनम्।
द्रक्ष्ये तदार्यावदनं कदान्वहं
प्रसन्न ताराधिपतुल्यवर्चसम्॥

रामेश्वरी की रमणीय रूप-कल्पना जैसे ही रामदूत हनुमान् के मन में उद्भासित होती है उनका रोम-रोम राममय हो जाता है। अंग-अंग में आनन्द का रसालय रह-रह कर लहर उठता है। सीता-संदर्शन की सहज सात्विक लालसा अब कुछ ही समय में फलवती होने जा रही है, इसी आशा से हनुमान् अंतःपुर के प्राकार को पार कर अशोक वाटिका के रंग-बिरंगे फूलों को, रस-भरे फलों को और हरे-भरे पौधों को देख लेते हैं। वहाँ पर केवल अशोक के नहीं, बल्कि साल, निंब, चंपा, आम्र, नागकेसर आदि अनेक प्रकार के वृक्ष आँखों की प्यास बुझा रहे हैं। अनेक वृक्ष देखने में सोने-चाँदी के-से लग रहे हैं। अनेक प्रकार के पक्षी नाना प्रकार के मंजुल निनाद से अशोक-वन को आनंदवर्द्धक ध्वन्यालोक बना रहे हैं। कुसुम-रस और मधुर फलों के रसास्वादन में मत्त मधुप और कोकिल भी मंजुल गीत सुना रहे हैं।

समस्त वन को नयन-मनोहर और श्रुति-सुभग पाकर पवन-तनय का हृदय पुलक उठता है। एकदम वह वाटिका के बीच में प्रत्यंचा से अचानक छूटे बाण की भांति झपट पड़ते हैं। हनुमान् के इस आकस्मिक आपात से घोसलों में सोई हुई चिड़ियाँ जाग उठती हैं। जाग उठी चिड़ियों के उड़ने से चल पड़ी हवा के लगने से पेड़ फूल बरसाने लगते हैं और फूलों से लदे हुए हनुमान् फूलों के पहाड़ की भांति दिखाई देने लगते हैं। वन वसंतमय बन जाता है और वानर-वीर वन-धीर बन जाते हैं। जगह-जगह पर सुन्दर सरोवर यह आभास देते हैं कि यहीं कहीं वह विश्व-सुन्दरी अवश्य मिलेंगी जिनकी खोज में सारी रात बीत चुकी है।

इसी आशा से आंजनेय अशोक-वाटिका में इधर-उधर घूमने लगते हैं तो अचानक बादल के आकार का एक पहाड़ दिखाई देता है जिसके शिखर बड़े विचित्र लगते हैं। पहाड़ के अन्दर अनेक गुफाएँ हैं और ऊपर अनेक वृक्ष हैं। उस पर्वत से एक नदी इस प्रकार गिरती हुई दिखाई देती है जैसे अपने प्रियतम की गोद से कोई प्रेयसी रूठकर चली जाती है। पर नीचे गिरते ही नदी के दोनों कूलों पर उगे पेड़ों की शाखाएँ जब नदी के मार्ग को रोक लेती हैं तो फिर वह नदी अपनी गलती सुधारने का प्रयास करती-सी दिखाई देती है। उस पर्वत के आस-पास अनेक जलाशय हैं—कुछ प्राकृतिक और कुछ कृत्रिम। इन्हीं जलाशयों, उपवनों, और शिलागृहों के बीच एक शिंशपा (अशोक) वृक्ष दिखाई देता है जो पर्णों से आपूर्ण और फूलों से परिपूर्ण है और वर्ण उसका स्वर्णिम है। उस वृक्ष के चारों तरफ स्वर्णमयी वेदिकाएँ बनी हुई हैं। इस स्वर्णिम वातावरण में कांचन-पर्वत की भांति कमनीय शोभा से विभूषित हनुमान् अपने को भी कांचन समझने लगते हैं। स्वर्ण पर्णमय वृक्ष की शाखाओं पर बैठकर हनुमान् सोचने लगते हैं कि विदेह-राज की कन्या, राजा दशरथ की पुत्रवधू, और रघुनाथ की हृदयेश्वरी सीता-माता यदि जीवित हैं तो प्रभात के समय इस पवित्र स्थान पर वह अवश्य आएँगी। प्रातःकाल की संध्या उपासना का समय है और सीता जैसी साध्वी के लिए इससे बढ़कर उपासना-स्थल मिलना कठिन है। स्वर्ण-पर्ण-बहुल सुंदर तरुवर और तरुवर के पास ही सरस सरोवर - इससे बढ़कर रमणीय स्थान लंका में क्या, समस्त वसुंधरा में दुर्लभ है। इसीलिए सीता-संदर्शन की सन्निकट संभावना के संबंध में संपूर्ण रूप से आश्वस्त आंजनेय का मन कहता है:—

यदि जीवति सा देवी ताराधिप-निभानना।
आगमिष्यति सावश्यं इमां शीतजलां नदीम्॥

हनुमान् के इस आंतरिक आश्वासन से ऐसा

लगता है कि उनका मन तो जानकी को देख चुका है और अब केवल उस मनोनीत सुषमा को नयनगोचर बना लेना है। इसी सुमुहूर्त की प्रतीक्षा में पवन-पुत्र उस सघन तरु की शाखाओं में लीन होकर समस्त परिसर पर प्रखर दृष्टिपात करते हैं। पारिजात की लताओं से परिशीलित परिमल, नाना प्रकार के पक्षियों का मनमोहक गायन, मत्त कोकिल का मंजुल कूजन, भव्य रम्य भवन, स्वर्णिम सरोवर, मनोहर सुमन, सरस मधुर फल आदि उस रमणीय स्थान को नंदन वन अथवा चैत्ररथ से भी अधिक कमनीय बना रहे हैं। प्राभातिक प्रकाश में खिले हुए फुल्ल-कुसुमों की शोभा से सारा वन दूसरे आकाश की भांति आलोक-मधुर दिखाई दे रहा है। नाना प्रकार के पुष्प-रत्नों से विराजित वनराजी रत्नाकर का रूप धारण कर पंचम सागर की स्वर-विपंचिका सुना रही है। ऋतु-भेद को भूलकर सभी कुसुम एक साथ विकसित हो रहे हैं और सभी पक्षियों का समवेत स्वर सहज साम का सुस्वर वाचन प्रस्तुत कर रहा है। दिव्य परिमल से पुलकित पर्वत गंधमादन का स्मरण करा रहा है।

अशोक-वाटिका की इसी विशोक भूमिका में एक भव्य प्रासाद दिखाई दे रहा है जिसमें हजार खंभे हैं। कैलाश पर्वत की भांति हिम-धवल कांति से विराजमान इस पांडुर भवन के सोपान प्रवाल की प्रभा से भासुर हैं और वेदिकाएँ सुनहली आभा से आलोकित हैं। उस प्रासाद को एक बार देखने पर देखनेवालों के नयन लुट जाते हैं, वापस आना नहीं चाहते। हनुमान् के नयन भी इसी प्रकार उस भव्य आयतन की ओर केन्द्रित हो जाते हैं जिनको उधर से विकेन्द्रित करने की शक्ति केवल आकाश को रेखांकित करने वाली उस प्रासाद-रेखा में अंतर्लीन एक विशिष्ट बिन्दु में है जो किसी सुन्दरी की धूमिल विभावरी जैसी दिखाई दे रही है। निराहार दीक्षा से नितांत दुर्बल दिखाई देनेवाली वह सुन्दरी मलिन वस्त्र धारण कर बार-बार सिसकें भर रही है। उस सुन्दरी के चारों तरफ असुरांगनाएँ पहरा दे रही हैं। शुक्ल पक्ष की नवोदित चन्द्ररेखा की भांति उस रमणी की रूप-रेखा निर्मल तो है, पर पहचानने में कुछ कठिनाई हो रही है। उस अपूर्व सुन्दरी को परिवेष्टित करनेवाला पीत वस्त्र उत्तम सूत्र का है, पर परिमार्जन में पुरातन सा लग रहा है। धुएँ से लिपटी हुई अग्नि-शिखा की तरह उस कांता की कमनीयता धूमिल मालूम हो रही है। आभूषण धारण किए बिना ही वह सर्वाभरण भूषिता सी लग रही है। कीचड़ से लिपटे हुए कमल की भांति उस कमलनयना की शोभा पंकिल, पर निर्मल दिखाई दे रही है। अंगारक ग्रह से आच्छन्न रोहिणी की भांति वह चंद्रमुखी कांतिहीना, मलिन-वदना और परिक्षीणा प्रतीत हो रही है। उसकी आँखों से अविरल अश्रुधारा बह रही है। वह किसी दुख में डूबी हुई है और उसका सारा ध्यान किसी अदृष्ट, पर क्लिष्ट बिंदु पर केन्द्रित है। ऐसा लग रहा है कि वह अपनें प्रियजनों से बिछुड़ कर अप्रिय परिवेश में बंद पड़ी है। घुटनों तक फैली हुई वेणी वर्षा के बादलों से मुक्त वनराजी की भांति रमणीय लग रही है। उसकी मुख-मुद्रा से पता चलता है कि वह किसी राजवंश में राजभोग में पली कोमलांगी है जो विधि की विडंबना से अब अनभ्यस्त दुःख पा रही है।

इन सभी लक्षणों से हनुमान् यह अनुमान लगाते हैं कि अब तक अन्वेषष्यमाणा सीता-माता संभवतः यही हैं। उस विशालाक्षी को पवन-पुत्र बड़े विशाल नयनों से देखते हैं और उनका प्रत्येक वीक्षण इस बात की पुष्टि करता है कि यह वही जनकनंदिनी है जिनको दुष्ट रावण चुराकर ले आया। जब रावण सीता का अपहरण कर आकाश मार्ग से ले जा रहा था, उस समय अन्य वानरों के साथ हनुमान् ने भी उनको देखा था। उसी रूप को आज वह अशोक-वाटिका में देख रहे हैं-वही वस्त्र हैं, वही आभरण हैं। राम-पत्नी ने उस दिन अपने आभूषण लपेटकर नीचे गिराने के लिए जिस वस्त्र के आंचल का उपयोग किया था, वही वस्त्र अब इस वरांगना को सुवासित कर रहा है। जो आभरण नीचे गिरा दिए, उनको छोड़कर शेष आभरण इनके शरीर को अलंकृत कर रहे हैं। इसलिए यह निस्सन्देह वही विदेह-राजतनया हैं जिनका पता लगाने के लिए श्रीराम और सुग्रीव के आदेश पर वानर सेना ने इतना

प्रयास किया है।

अपनी धारणा को सुदृढ़ बनाने के लिए आत्मवान् आंजनेय अपनी आत्म-बुद्धि से आत्मा की ही आकृति लेकर सामने प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाली सीता-माता के सौंदर्य को मन से, हृदय से और नेत्रों से आत्मसात् करने का प्रयास करते हैं। अंग-अंग में अंतर्लीन अपने अनंत लावण्य से यह अपूर्व सुंदरी समस्त दिशाओं को आलोकित कर बाह्य और अंतर के अंधकार को दूर कर रही है। सिर से पैर तक जहाँ देखें वहाँ सौंदर्य, सौष्ठव, संयम और सात्विकता का अपूर्व समन्वय उस आकार को असाधारण सश्रीकता से अलंकृत कर रहा है। समस्त संसार को सुधा से सरसानेवाली राका की तरह, कामदेव की कांता रति की तरह, संदेह में पड़ी स्मृति की तरह, ढीली पड़ी श्रद्धा की तरह, टूटी पड़ी सिद्धि की तरह, बिगड़ी हुई आशा की तरह, बिखरी पड़ी समृद्धि की तरह, दैन्य से भ्रष्ट बुद्धि की तरह, कलंक से खोई हुई कीर्ति की तरह, बादलों से घिरे हुए चंद्रमा की तरह, अभ्यास के अभाव से अस्तंगत विद्या की तरह रामचन्द्र के सान्निध्य से वंचित रामाक्षी राक्षसियों के बीच शुष्क धरातल पर बैठकर रह-रहकर लंबी-लंबीं साँसे खींच रही हैं। जैसे संस्कार से शून्य वाणी अभिप्रेत अर्थ के स्थान पर अनभीप्सित अर्थ को प्रकट करती है, उसी प्रकार राक्षस-राज रावण से अपहृत और अपनीत अनिंदिता सीता राक्षसियों के परुष वचनों को सुनकर अप्ने को सँभाल रही है।

अब धीरे-धीरे हनुमान् को विश्वास हो रहा है कि उनके सामने जो दिव्य मंगल मूर्ति विराजमान है, वह रामपत्नी सीता ही हैं। श्रीराम ने अपनी साध्वी पत्नी के जो भी लक्षण हनुमान् को बिदा करते समय बताये थे, वही लक्षण अब इस देवी में परिलक्षित हो रहे हैं। परन्तु सबसे अधिक आश्चर्यजनक बात यह थी कि सीतादेवी का रूप श्रीरामचन्द्र के रूप से इतना साम्य रखता था कि हनुमान् बार-बार देखकर भी समझ नहीं पा रहे थे कि यह कैसे हुआ। विस्मय की मुद्रा में वह अपने मन में कहते हैं:—

अस्या देव्या यथारूपं अंगप्रत्यंगसौष्ठवम्।
रामस्य च यथारूपं तस्येयमसितेक्षणा॥

ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों एक दूसरे के प्रतिरूप हैं। केवल रूप ही नहीं, बल्कि दोनों के मन में भी साम्य है। मुख-मंडल को देखकर मन की प्रवृत्ति समझनेवाले मनस्वी हनुमान् बड़ी गंभीरता के साथ सोचकर कहते हैं:—

अस्या देव्या मनस्तस्मिन्-तस्य चास्यां प्रतिष्ठितम्।
तेनेयं स च धर्मात्मा मुहूर्तमपि जीवति॥

इन देवी का मन जैसे सदा उनके पतिदेव के मानस में प्रतिष्ठित है वैसे ही उनका मन इनमें प्रतिष्ठित है। इसीलिए ये दोनों इतनी दुर्भर वेदना को सहकर भी कुछ समय के लिए ही सही, अपने प्राणों की रक्षा कर पा रहे हैं। तन से दूर होने पर भी मन से दोनों एक दूसरे के निकट हैं।

सीता-माता के संदर्शन से हनुमान् का मन फूला नहीं समाता और वह तत्काल मन से राम के पास पहुँच जाते हैं। सम्भवतः मन की भाषा में रामदूत अपने स्वामी से अपने कार्य की सफलता निवेदित कर रहे हैं। संसार की प्रशस्त साध्वी स्त्रियों में प्रशस्यतम सीता-माता की मन ही मन प्रशंसा करते हुए तत्त्वदर्शी हनुमान् गुणाभिराम राम का भी गुणगान करने लगते हैं क्योंकि अब उनकी समझ में आ रहा है कि ये दोनों एक दूसरे के लिए इतने तड़पते क्यों रहे। दोनों एक ही तत्त्व के दो पहलू हैं, यह बात अब हनुमान् हृदयंगम कर रहे हैं। यदि इस सती साध्वी के लिए लोकाभिराम राम ने विराध, खर, दूषण, कबंध, वाली जैसे भयंकर प्राणियों का संहार किया था, तो उन्होंने उचित ही किया था। इसी आत्मसुन्दरी का पता लगाने के लिए यदि सुग्रीव ने करोड़ों वानरों को चारों दिशाओं में भेजा तो उन्होंने भी यह कार्य ठीक ही किया था। शत योजन व्यापी सागर को हनुमान् ने पार किया तो इसी माता की मंगलमय मूर्ति का साक्षात्कार करने के लिए किया गया यह दुष्कर कार्य सर्वथा उचित ही था। यदि सीता-माता के उद्धार के लिए जगत्पिता राम को सागर

तक व्याप्त समस्त वसुंधरा को उलटना भी पड़े तो उसमें कोई अनुचित बात नहीं होगी। भू-माता के गर्भ से स्वयं प्रकट हुई इस दिव्य नारी के सामने तीनों लोकों का वैभव नगण्य है। सीता-माता की इस आत्मकला का वर्णन करते हुए कवीश्वर की भाषा में कपीश्वर कहते हैं:–

राज्यं वा त्रिषु लोकेषु सीता वा जनकात्मजा।
त्रैलोक्यराज्यं सकलं सीताया नाप्नुयात् कलाम्॥

सीता-माता का सौंदर्य किसी पार्थिव सौंदर्य के साथ न तोला जा सकता है और न समझा जा सकता है। वह आत्मिक सौंदर्य है, आत्मा की कला ही सीता की प्रभा है। इसलिए वह स्वयंप्रभा है। लेकिन राजा जनक की प्रिय तनया, राजा दशरथ की ज्येष्ठ पुत्रवधू और धर्मज्ञ राम की धर्मपत्नी सीता राक्षसियों के बीच व्यस्त और त्रस्त मुद्रा में बैठी हुई हैं, इससे बढ़कर विधि की अधिक विडंबना नहीं हो सकती। राजभवन के समस्त भोग - भाग्य को ठुकराकर अपने पतिदेव की सेवा-शुश्रूषा के लिए वन-वास के कष्ट को स्वीकार करनेवाली इस साध्वी को आसुरी आतंक को भी सहना पड़ रहा है। अच्छे लोगों को कष्ट पर कष्ट क्यों होते हैं और दुष्ट लोग आराम से कैसे बैठे रहते हैं, यह बात हनुमान् को क्षणभर के लिए अत्यंत व्याकुल कर देती है। इसी चिंता में मग्न हनुमान् की दृष्टि सीता के निर्निमेष नयनों की ओर आकृष्ट होती है। सीता-माता के सात्विक नयन अशोक-वाटिका की वनराजी को देखकर प्रसन्न होते हैं और चारों तरफ बैठी हुई राक्षसियों को देखकर त्रस्त होते हैं। उनकी दृष्टि राम पर एकाग्र है और राम के साथ एकाकार होकर वह सदा उन्हीं को अपनी आँखों में बसा लेती हैं। इस लोकोत्तर दृश्य को देखकर आत्मद्रष्टा आंजनेय कहते हैं:–

नैषा पश्यति राक्षस्यो नेमान् पुष्प फलद्रुमान्।
एकस्थ हृदया नूनं राममेवानुपश्यति॥

सीता-माता के इस भावात्मक तादात्म्य को देखकर पुलकित हो रहे हैं–अशोक वाटिका में हनुमान् और आकाश में पूर्ण चन्द्र। सीता के अन्वेषण में हनुमान् को अब तक जो राकेश साहचर्य और सहारा दे रहे थे, वही अब कृतकृत्य होकर धीरे-धीरे अस्ताचल पर विश्राम करने जा रहे हैं और हनुमान् राम, लक्ष्मण और सीता को मानसिक नमन समर्पित कर अपनी आंतरिक प्रसन्नता को अभी अपने भीतर ही समेटकर माता के मंगलमय लावण्य का मन ही मन मनन कर रहे हैं:–

नमस्कृत्वाथ रामाय लक्ष्मणाय च वीर्यवान्।
सीता-दर्शन संहृष्टो हनुमान् संवृतोऽभवत्॥



51. रावण का निर्लज्ज प्रलापन

अशोक-वाटिका में शोकाकुल सीता-माता को देखकर जब पवन-पुत्र के नेत्र हर्ष और विषाद की मिली जुली अनुभूति से बाष्प-पर्याकुल बन जाते हैं तो रजनी के पिछले पहरों में रात भर की विकलता को भुला देनेवाली भोली भाली उषा भी आंजनेय के अंतरंग को अनिर्वचनीय आनंद से तरंगित कर देती है। प्राभातिक प्रसन्नता से अनुप्राणित इस अमृत वेला में सीता-माता के संदर्शन से संतुष्ट हनुमान् माता की मंगलमय दृष्टि को अपनी ओर अभिमुख बनाने का सात्विक प्रयास करने लगते हैं तो अचानक वेद-वेदांग में पारंगत असुर-पुरोहितों का सस्वर सामगायन समीर-कुमार को विस्मित और सस्मित बना देता है।

ब्रह्म राक्षसों के ब्रह्म घोष से ब्राह्मी मुहूर्त में जगाया गया राक्षसराज रावण नींद खुलते ही अनिंद्य सुंदरी जानकी का सस्पृह स्मरण कर उनके दर्शन-लाभ से अपने नेत्रों को सफल बनाने अशोक वाटिका की ओर अग्रसर होता है। मस्ती से सोने के कारणअस्त व्यस्त हुए वस्त्रों और आभरणों को सँवारे बिना ही भाग्यशाली रावण, भोग-लालसा से ही सही, विदेह राजनंदिनी को अपनी विरह वेदना निवेदित करने चल पड़ता है। मदन-पराधीन रावण के पैर अनायास अशोक-वाटिका की ओर बढ़ते हैं जहाँ पर नाना प्रकार के स्वादिष्ट फलों से लदे हुए और फूलों की सुगंध से सिहरे हुए वृक्षराज राक्षसराज का स्वागत करते हैं। पेड़ों पर बैठी चिड़िया वन की सघनता को सस्वन बनाती है और जगह-जगह पर चित्र विचित्र क्रीड़ा-मृग वनसेवियों का मन बहलाते हैं। इस सुन्दर वाटिका में सुंदरतर वेषभूषा से सुशोभित होकर परम सुंदरी के पदाभ्याश को प्राप्त करने की प्रगाढ़ कामना से धीरे धीरे कदम बढ़ानेवाले कंदर्पदास लंकेश्वर के पीछे पीछे सैकड़ों सुंदरियाँ छत्र-चामर, रस-कलश, मणिमय प्रदीप आदि साधन-प्रसाधन लेकर चल पड़ती हैं। बादल के पीछे चलनेवाली बिजलियों की तरह रावण के पीछे चलनेवाली चपलाक्षियाँ अभी नींद के नशे से मुक्त नहीं हो पाई हैं, पर कामातुर रावण रामेश्वरी पर आसक्त होने के कारण नींद को ही नहीं, बल्कि अपने को भी भूलकर मंदगति से आगे बढ़ता है। मति से मंद होने के कारण वह गति से भी मंद बन जाता है, पर अपने ध्येय को नहीं भूलता। धीरे धीरे अशोक-वाटिका के द्वार तक आ पहुँचे रावण को देखकर शिंशपा वृक्ष के पत्तों की आड़ में अपने को छिपा कर बैठे कपिवर चौंक उठते हैं। टेढ़ी, लाल और बड़ी-बड़ी आँखों से कामदेव की तरह स्निग्ध गंभीर और परम कमनीय प्रतीत होनेवाले रावण को निकट से देखने पर हनुमान् को वह रूप कुछ कुछ परिचित-सा जान पड़ता है। वह सोचने लगते हैंः-

रावणोऽयं महाबाहुरिति संचिंत्य वानरः
"सोऽयमेव पुरा शेते पुरमध्ये गृहोत्तमे"

(यह वही महाबली रावण है जो नगर के बीच बड़े महल में सोया हुआ था।)

यह सोचकर वानवीर हनुमान् राक्षसवीर रावण को और निकटता से देखने की इच्छा से एक डाली नीचे उतर आते हैं, पर अपने को छिपा रखने में सजग

रहकर पत्तों में छिप जाते हैं। इधर रावण त्रिलोक-सुन्दरी सीता साध्वी के काले बाल, कजरारे नयन, पतली कमर और सटे हुए स्तन देखकर अपने को काबू में नहीं रख पाता और धीरे-धीरे उनकी ओर बढ़ता है। पर जैसे जैसे रावण समीप आने लगता हैं, वैसे-वैसे पतिपरायणा जानकी ज़ोरदार हवा में हिलनेवाली कदली के समान काँप उठती हैं और अपने उदर को जाँघों से और स्तनों को भुजाओं से आच्छादित कर भीतर ही भीतर भयभीत होने लगती हैं। समुद्र में डूबी हुई नौका की भांति दुःख के सागर में डूबी हुई सीता अपनी दयनीय दशा को देखकर रो पड़ती हैं। कीचड़ में सनी हुई कमलनाल की तरह वह सुकुमारी अपनी नैसर्गिक सुषमा से सुशोभित होने पर भी चारों तरफ जमी हुई कीचड़ के समान प्रच्छन्न तन्वी-सी प्रतीत होती है। पेड़ से कटी हुई शाखा के समान वह गतिहीन होने पर भी अपने मनोरथ पर चढ़कर 'मनसा' श्रीराम के पदाभ्याश पर पहुँच जाती है। दुस्तर दुःख की दुर्दान्त तरंगों से दुर्लंध्य शोक सागर को पार करने के सपने देखती हुई जनकनंदिनी पल-पल को दृग-जल-धार से काट रही हैं। मंत्र-बद्ध नाग-कन्या की भांति, केतु-ग्रस्त रोहिणी की तरह, अपगत यश की भांति, तिरस्कृत श्रद्धा की भांति, परिक्षीण बुद्धि की भांति, टूटी हुई आशा की भांति, उल्लंघित आज्ञा की भांति, दहकती हुई दिशा की भांति, अपरिपूरित पूजा की भांति, ग्रहण से ग्रस्त शरत्-पूर्णिमा की भांति, बुझी हुई अग्निशिखा की भांति, अपवित्र आचरण से अनुपयुक्त पड़ी यज्ञ-वाटिका की भांति, सूखी सरिता की भांति, फीकी कमलिनी की भांति, मदमाते हाथियों के स्वैर बिहार से व्याकुल जलाशय की भांति अशोक-वाटिका में व्याकुल रामपत्नी कामातुर रावण के सामने श्रीहीन दिखाई देती हैं। रत्नजटित राजमहल में रहने योग्य राजकुमारी सीता ने अपने पति के प्रति अनन्य प्रेम में परिनिष्ठित होने के कारण वनवास को सहर्ष स्वीकार किया था। पर भाग्य की विडम्बना है कि वह राजभवन से तो दूर हो ही गई, पर वनवास में पति के साहचर्य से भी वंचित हो गई। निराहार दीक्षा से निरानंद मुद्रा में निरीह क्षण व्यतीत करनेवाली निसर्ग सुंदरी सीता को पार्थिव सुख का प्रलोभन देने की आसुरी आकांक्षा लेकर काम-मोहित तथा कालचोदित रावण कालसर्पिणी की भांति अपने घर में आ बैठी कालस्वरूपिणी की ओर कदम बढ़ाता है।

कामवासना अपनी सीमा के भीतर रहने पर भी कामी को मुखर बनाती है। यदि सीमा को पार कर जाए तो वह कामांध को निर्लज्ज भी बना देती है। यही स्थिति धीरे-धीरे काममोहित रावण की हो रही है। सबेरे सोकर उठते ही परम सुन्दरी सीता का स्मरण हो आना उसकी तपस्या का फल है। किन्तु सीतासक्त मन में पूज्य भावना के स्थान पर भोग-लालसा का जागृत होना उसकी आसुरी उद्दंडता का परिचायक है जो कि उसकी सारी तपस्या को निरस्त बना देती है और वह समझ नहीं पाता कि वह क्या कह रहा है, किससे कह रहा है और उसका परिणाम क्या होगा। रावण को देखते ही अपने अंग-लावण्य को छिपाने की चेष्टा में तत्पर तपस्विनी सीता को संबोधित कर कामातुर रावण कहता हैः—

कामये त्वां विशालाक्षि बहुमन्यस्व मां प्रिये।
सर्वांगगुण-संपन्ने सर्वलोकमनोहरे ॥

रावण के भीतर की ब्राह्मी भावना सीता-माता के लोकोत्तर सौंदर्य में कल्याणकारी साद्‌गुण्य और समस्त संसार को साथ लेकर चलनेवाली सार्वभौम मांगल्य-भावना का दर्शन करती है, पर साथ ही उसकी आसुरी लालसा सीता के विशाल नयनों में कामवासना की कजरारी कोठरी में प्रवेश करने का कुरुचिपूर्ण मार्ग ही देखती है। रामपत्नी को "प्रिया" कहकर संबोधित करते समय वह यह समझ नहीं पाता है कि इतने लोकोत्तर सौंदर्य को चुराकर ले आना और उसको एकांत में प्रतिष्ठित कर असंयत सुख-साधन बनाने का उसका प्रयास कहाँ तक न्याय सम्मत है। उसका सारा विवेक कामवासना से नष्ट हो जाता है। धर्म की परिभाषा भी वह अपनी सुविधा के अनुसार करने लगता है। वह निर्लज्ज स्वर में कहता हैः—

स्वधर्मो रक्षसां भीरु सर्वदैव न संशयः।
गमनं वा परस्त्रीणां हरणं संप्रमथ्य वा॥

(पगली, तुम मुझे देखकर क्यों डरती हो? तुम्हारे भय का कोई आधार नहीं है क्योंकि मैंने कोई धर्म-विरुद्ध कार्य नहीं किया है। परायी स्त्रियों के पास जाना, उनसे प्रेमयाचना करना और अगर वे राजी न हों तो उनको चुराकर ले आना – यह सब हमारा कुल-धर्म है। राक्षस जाति का यही स्वभाव है।)

इस प्रकार स्वधर्म के प्रति अपनी आस्था और निष्ठा का परिचय देने के बाद कार्यकुशल रावण परधर्म के प्रति अपनी सहिष्णुता का भी प्रतिपादन करते हुए कहता है कि यद्यपि मैं अपनी असुर संस्कृति के अनुसार अभी तुमको स्वाधीन बनाकर तुम्हारा यथेष्ट उपभोग कर सकता हूँ, फिर भी मैं अपनी शालीनता को कलंकित बनाना नहीं चाहता। जब तक तुम अपनी इच्छा से मुझे नहीं चाहोगी, तब तक मैं तुम्हारा स्पर्श तक नहीं करूँगा, भले ही कामवासना मेरे अंग अंग में कूट कूट कर भर जाए। निर्लज्ज रावण की निरीहता का यह झूठा अभिनय उसके वचन को जूठा बना देता है। वह बार-बार सीता को संबोधित कर 'भीरु' कहता है, पर वास्तव में भीरु वह स्वयं है, सीता नहीं। यदि वह भीरु नहीं होता तो वह राम के साथ युद्ध करके सीता को ले आता। रामपत्नी को अपनी राजधानी में प्रतिष्ठित करने के बाद भी वह राम के पराक्रम से त्रस्त है। इसीलिए वह जल्दी से जल्दी सीता को अपने अनुकूल बनाना चाहता है ताकि बाद में यदि राम ने आक्रमण कर भी दिया तो भी वह निरुपयोग सिद्ध हो जाए।

जैसे रावण अपने भय को सीता पर आरोपित करता है, वैसे ही स्वयं महामोह का शिकार बनकर सीता को मोह छोड़ने का परामर्श देता है–"भव मैथिलि भार्या मे मोहमेतं विसर्जय" (मेरी पत्नी बनकर यह मोह छोड़ दो)। एक दृष्टि से रावण का कथन सही है। उसकी धारणा के अनुसार सीता के मन में भी मोह है। अंतर केवल यही है कि रावण काम से मोहित है तो सीता राम से मोहित।

इस आंतरिक भय और आत्मवंचक मोह के कारण वह अपने बल, पराक्रम, वैभव, प्रभाव आदि का वाचिक प्रदर्शन करने लगता है। जीवन में प्राकृतिक वरदान के रूप में कुछ ही समय के लिए प्राप्त होनेवाले मधुमय यौवन को व्यर्थ न जाने देने की सलाह देते हुए वह रामपत्नी को अपने अंतःपुर की असंख्य सुंदरियों की अग्रमहिषी बनने का प्रलोभन देता है। सीता के सौंदर्य का वर्णन कर वह उनका मन जीतना चाहता है। वह कहता है कि विधाता ने सीता जैसी त्रिलोकसुंदरी की सृष्टि करने के बाद चिर-विश्राम लिया होगा क्योंकि इतनी सुंदर सृष्टि दुबारा करना असंभव है। सीता के अंग-प्रत्यंग पर अपनी कुदृष्टि डालकर दुष्ट रावण कहता है कि उसकी दृष्टि जिस अंग पर पड़ती है, वह वहीं पर बँध जाती है, वापस नहीं आती।

यद्यत् पश्यामि ते गात्रं शीतांशु-सदृशानने।
तस्मिंस्तस्मिन् पृथुश्रोणि चक्षुर्मम निबध्यते॥

यह सब फिर भी क्षम्य है क्योंकि प्रेम और सौंदर्य के आराधक के रूप में हम रावण की प्रशंसा कर सकते हैं। लेकिन राम की निंदा और अपनी स्तुति करने में जब रावण अपनी जघन्यता की पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है तो हमें आश्चर्य होता है कि रावण जैसा मेधावी, शूर-वीर, ब्रस्मवेत्ता इतनी निकृष्ट भाषा का प्रयोग कैसे कर पाता है। यह सब काम की करतूत है। कामातुर व्यक्ति धर्म और अधर्म का विचार नहीं कर पाता क्योंकि उसकी भीतर की आँखें एकदम बंद हो जाती हैं और बाहर की आँखें भी कामितार्थ को छोड़कर और कुछ नहीं देख पातीं। इसी अर्द्धांध दशा में रावण राम को अपनी तुलना में तुच्छ और नगण्य सिद्ध करते हुए कहता है:–

निक्षिप्त-विजयो रामो गतश्रीर्वनगोचरः।
व्रती स्थण्डिलशायी च शंके जीवति वा न वा॥

(राम की विजय असंभव है। वह श्रीहीन और दिशामूढ़ होकर जंगल में भटक रहा है। उसको न खाने के लिए भोजन मिलता है और न सोने के लिए शय्या।

वह भूखा रहता है और सूखी ज़मीन पर सोता है। क्या पता, वह जीवित भी है या नहीं।)

अपने त्रिलोकविजयी, सत्यपराक्रम, महाव्रती और सर्वगुण संपन्न पतिदेव के बारे में इस प्रकार की निरादर सूचक और निंदात्मक बातें सुनकर जनक-नंदिनी भीतर ही भीतर न मालूम कितनी व्याकुल हो रही होंगी। पर विधि की विडम्बना है। सर्वसमर्थ और विशुद्ध सत्त्व की स्वामिनी होकर भी उनको सब कुछ सहना पड़ता है। पर वह रावण की वाचालता का प्रत्युत्तर प्रलाप से नहीं, प्रबोधन से देती हैं, निर्लज्जता का समाधान निर्भीकता से करती है और प्रलोभन को प्रतिश्रुति से परिमार्जित कर देती हैं। लंकेश्वर के अट्टहास के सामने रामेश्वरी का मंदहास कितना प्रखर, परिष्कृत और प्रभावशाली है, यह मंदमति रावण समझ नहीं पाता, पर पेड़ के पत्तों के पीछे छिपे हुए महामति मारुति हृदयंगम कर लेते हैं। सीता-माता के दर्शन होते ही उसी स्थान पर रावण को भी देखकर उसकी परुषभाषिता को प्रत्यक्ष सुनने का सुयोग पाकर हनुमान् भीतर ही भीतर पुलक उठते हैं। अशोक-वाटिका में शिंशपा वृक्ष की छाया में शोकाकुल रामपत्नी राममय नयनों से शून्य जगत् को राम भावना से भरने का भरसक प्रयास कर रही हैं। ऊपर रामदूत हनुमान् संयत मन से सब कुछ देख रहे हैं और सत्य को समझने में तत्पर हैं। सामने काममोहित रावण कालचोदित वाणी में महाकाल की मूर्तिमती माता को अपने निर्लज्ज प्रलापन से निर्जित करने की निकृष्ट चेष्टा कर रहा है। समय प्रभात की प्रशांत वेला है। कितना विचित्र संयोग है कि सत्य के परम सौंदर्य अथवा सौंदर्य में निक्षिप्त सत्य की एक तरफ स्वार्थ और दूसरी तरफ परम पावन परमार्थ। इधर पूज्य भावना और उधर भोज्य भावना। एक में आराधना और दूसरे में आस्वादन की आसुरी लालसा। कितना विचित्र संयोग है जिसका रहस्य समझने के लिए परम योगियों का पावन हृदय चाहिए। पवनपुत्र को यह पावन हृदय सहज रूप से प्राप्त है जबकि रावण के भीतर का भैरव रव इस पावनता को अपने हृदय में प्रवेश तक नहीं करने देता।

रावण का निर्लज्ज प्रलापन बड़ी धीरता के साथ सुनकर रामनयनी जानकी धीरे धीरे अपने मन की बात कहने का प्रयास करती हैं। पर विचित्र बात यह है कि शुचिस्मिता सीता अपनी बात विलक्षण मंदहास से आरंभ करती हैं। यह मंदहास मंदमति को महामति में परिवर्तित कर सकता है। यदि ऐसा न हुआ तो वह मंदमति को भस्मसात् भी कर सकती हैं। इसीलिए रावण के साथ बातचीत करने के लिए उपक्रम करनेवाली साध्वी सीता को आर्षकवि वाल्मीकि 'शुचिस्मिता' कहते हैं। 'शुचि' शब्द पवित्रता का बोध भी कराता है और सर्वभक्षी अग्निदेवता का भी। अग्निदेव के समान पवित्र आचार-विचार से सम्पन्न जानकी के हृदय में करुणा भी है। रावण जैसे नीच राक्षस पर भी वह दया दिखाती हैं। इसीलिए वह उससे सीधे बात नहीं करती हैं। जानकी की दीप्तानल जैसी दृष्टि रावण पर सीधे पड़ जाए तो वह पल भर में भस्म हो जाएगा। इसीलिए वह तिनके की ओट करके (तृणमंतरतः कृत्वा) रावण को जवाब देती हैं। इसके अलावा रावण सीता के साथ बातचीत करने की योग्यता नहीं रखता है। संभाषण समानधर्मियों के बीच ही संभव हो सकता है। इसलिए भी रावण और अपने बीच तिनके को रखकर सीता अपनी बात आरंभ करती हैं। जानकी के कर-स्पर्श से तिनका भी महान् बन सकता है। इसलिए उसी को साधन या दुभाषिया बना कर विदेहनंदिनी बात करती हैं। वह साधारण तृण एक प्रकार से जगज्जननी के लिए संप्रेषण यंत्र (माइक) बनता है जिसके माध्यम से सारा संसार धरती माता की लाडली बेटी की बात सुन पाता है। पेड़ के ऊपर बैठे हनुमान् सीता माता की इस संप्रेषण पटुता को देखकर पुलक उठते हैं। उनका मन कहता है कि ये सारी बातें राम तक पहुँच जाएँ तो कितना अच्छा होगा। संभाषण-कला में कुशल रामपत्नी का पहला वाक्य है:-

"निवर्तय मनो मत्तः स्वजने प्रीयतां मनः"

इस एक ही वाक्य में वाक्यविशारदा शारदा की भांति सीता-माता अपने मन का सर्वस्व बता देती हैं।

बात केवल इतनी है कि "तुम अपना मन मुझसे लौटा लो और उसे अपने सगे-संबंधियों में लगा लो।" पर यह बात जिस ढंग से जानकी के मुँह से निकलती है, उसमें इतनी शब्द-शक्ति समाहित होती है कि उसके सामने अभिधा, लक्षणा और व्यंजना अपने अभिधान, लक्षण और व्यंजन को भूल बैठती हैं। रावण के निर्लज्ज प्रलापन के आधार पर सीता उसके मन का सूक्ष्म विश्लेषण कर उसके मनोविकार का एकमात्र उपाय इस वाक्य में बता देती हैं। मन के रोगी रावण का उपचार करने के लिए मनस्विनी जानकी तिनके के सहारे उसके कानों तक यह नुस्खा पहुँचा देती हैं और कहती हैं कि तुम अपना मन ठीक कर लो, सब कुछ ठीक हो जाएगा। मन को सही दिशा में प्रवर्तित करो। दूसरे शब्दों में वह कहना चाहती हैं कि मुझे तुम्हारा मन नहीं चाहिए, नमन चाहिए और तुम्हारे स्वजन तुम्हारे मन की प्रतीक्षा में हैं, उनको अपना मन दे दो। इस बात में एक अद्भुत रहस्य यह है कि मन को निवर्तित (उल्टा) करने की सलाह यहाँ दी गई है। मन को उल्टा करने से 'नम' बनता है। प्रणम्य सौंदर्य के सामने खड़े होकर भी प्रणय-पराधीन रावण परम सुंदरी की प्रणम्यता पहचान नहीं पा रहा है। प्रणम्य के प्रति प्रणय भावना प्रदर्शित करना रावण के मनोविकार का परिणाम है। इसी विकृति को प्रकृति-स्वरूपिणी सीता-माता परिष्कृत करनेका प्रयास करती हैं। सीता प्रकृति हैं, रावण विकृति है और राम प्रकृति को प्राण प्रदान करनेवाले प्रधान पुरुष हैं। प्रकृति, विकृति और पुरुष की कूटत्रयी के विचित्र चित्रकूट को सामने चित्रवत् देखकर मारुति मंत्र-मुग्ध हो जाते हैं और सीता-माता के प्रत्येक अक्षर को आत्मसात् करने का प्रयास करते हैं जबकि यह अक्षरभारती साक्षर होने पर भी रावण के कानों तक भी नहीं पहुँच पाती।

पर रामेश्वरी काममोहित रावण को अपनी बात पूरी कह देती है चाहे वह समझ सके या नहीं। उनके मन में यह संदेह भी उत्पन्न होता है कि लंका में लंकेश्वर को हित की बात बतानेवाला कोई है या नहीं है, अगर है तो क्या उसके कानों में यह बात पहुँच नहीं पाती। यह संदेह विदेहराजतनया के शब्दों में सुंदर अंगभंगिमा धारण कर प्रकट होता है:

"इह संतो न वा संति सतो वा नानुवर्तसे"

पद, वाक्य और प्रमाण में पारंगत पंडितप्रवर भी यह बात इतनी सरलता, सुगमता, सात्विकता, शालीनता और सरसता के साथ नहीं कह सकते जैसे जानकी सहज भाव से कह देती हैं।

रावण की प्रेम (काम) याचना को ठुकराते हुए सीता-माता स्पष्ट शब्दों में कहती हैं कि मैं मानव जाति की हूँ तुम राक्षस जाति के हो, मैं राम की पत्नी हूँ, तुम काम के गुलाम हो, इसलिए तुम मेरी इच्छा तक करने योग्य नहीं हो। वह साफ-साफ बता देती हैं कि जैसे पापी को सिद्धि कभी प्राप्त नहीं हो सकती वैसे तुमको मेरे बारे में सोचना तक नहीं चाहिए।

एक बात रावण के दिल को चुभनेवाली सीता के मुँह से निकलती है। रावण सबसे पहले साधु का वेष धारण कर सीता के पास आया था। उस वेष का स्मरण दिलाते हुए सीता उससे कहती हैं–

"साधु धर्ममवेक्षस्व साधु साधुव्रतं चर"

गलती से ही सही या छल-कपट से बहाना बनाकर ही सही, तुमने एक बार साधु का वेष अपना लिया था। इसलिए उसी वेष को उत्तम और हितकर मानकर उस वेष के अनुरूप आचरण करना अच्छा है। इस बात में जितना व्यंग्य है, उतना विवेक भी है। संसार भर का प्रलोभन भी सीता को विचलित नहीं कर सकता, यह बात स्पष्ट करते हुए रामपत्नी पुनः कहती हैं:

शक्या लोभयितुं नाहमैश्वर्येण धनेन वा।
अनन्या राघवेणाहं भास्करेण यथा प्रभा" ॥

(प्रभुता, धन-वैभव आदि दिखाकर तुम मुझे जीत नहीं सकते। मैं राम की हूँ और राम मेरे हैं। संसार में कोई भी शक्ति हमको अलग नहीं कर सकती। जैसे सूर्य और प्रकाश एक दूसरे से अलग नहीं किए जा

सकते, वैसे ही हम दोनों दो होकर भी एक हैं)

अपने इस अटल निश्चय को स्पष्ट करने के बाद मनस्विनी जानकी रावण को कल्याणकारी परामर्श भी देती है, कहती हैं:–

साधु रावण रामेण मां समानय दुःखिताम्।
वने वसितया सार्धं करेण्वेव गजाधिपम्॥
विदितः सर्वधर्मज्ञः शरणागत–वत्सलः।
तेन मैत्री भवतु ते यदि जीवितुमिच्छसि॥

(यदि तुम जीवित रहना चाहते हो और साधु जीवन व्यतीत करना चाहते हो तो मुझे मेरे स्वामी के पास ले जाओ और उनसे मित्रता कर लो। मेरे स्वामी सब कुछ जानते हैं, धर्म के परम रहस्य को जानते हैं और शरण में आए हुए शत्रु पर भी दया दिखाते हैं। इसलिए गजराज के पास उसकी सहचरी को पहुँचाने से जैसे वन प्रशांत रहता है उसी प्रकार मेरे राम से मुझे मिलाने पर ही तुम्हारी लंका में शांति रहेगी।)

इसके साथ–साथ सत्यपराक्रम राम की अजेयता को रेखांकित करते हुए देवी सीता राक्षसराज को चेतावनी देती हैं:–

एवं तव भवेत् स्वस्ति संप्रदाय रघूत्तमे।
अन्यथा त्वं हि कुवर्णिः परां प्राप्स्यसिचापदम्॥

(तुम मेरी बात मानकर मेरी सलाह के अनुसार चलोगे तो तुम्हारा भला होगा। अगर तुम मेरी बात पर ध्यान न देकर मुझे राम के हाथों में नहीं सौंपोगे तो तुम्हारा और तुम्हारी लंका का सर्वनाश हो जाएगा और इसका पूरा दायित्व तुम्हारे ऊपर आएगा।)

सीता का सत्य वचन सुनकर अधर्म का अनुयायी रावण क्रोध से मूर्च्छित हो जाता है और रोष के आवेश में चेतावनी देता है:–

द्वौ मासौ रक्षितव्यौ मे योऽवधिस्ते मया कृतः।
ततः शयनमारोह मम त्वं वर वर्णिनि॥
द्वाभ्यामूर्ध्वं तु मासाभ्यां भर्तारं मामनिच्छतीम्।
मम त्वां प्रातराशार्थे सूदाश्छेत्स्यंति खंडशः॥

(मैंने तुमको जो अवधि दे रखी है, उसमें अब केवल दो ही महीने रह गए हैं। इन दो महीने के भीतर अगर तुम शय्या पर नहीं आओगी तो तुमको काट–कूटकर मेरे सेवक सबेरे के भोजन में तुम्हारे अंगों को परोसेंगे।)

इतनी भयानक चेतावनी पर भी पतिव्रता साध्वी भयभीत नहीं होतीं, बल्कि दुगुनी निर्भीकता से रावण की उद्दंडता पर आश्चर्य प्रकट करते हुए कहती हैं:– "तुम्हारे ये निष्ठुर नयन मुझे देखते ही टूटकर धरती पर क्यों न गिर पड़े।" अंत में वह रावण को पल भर में भस्मसात् करने की अपनी आत्मशक्ति को भी व्यक्त करती हैं। पर राम को जो काम करना है, वह स्वयं करना नहीं चाहती हैं, इसलिए वह क्षमा कर उसकी उपेक्षा कर रही हैं।

इस पर रावण क्रोध से विह्वल नेत्रों से सीता पर आक्रमण करने तलवार खींच लेता है, पर दूसरे ही क्षण न जाने क्यों अपना निर्णय बदल लेता है। सीता की रखवाली करनेवाली राक्षसियों को फिर से आदेश देकर वह अपने भवन में वापस चला जाता है। जब रावण वापस चलने लगता है तो धान्यमालिनी नाम की एक राक्षसी उसके गले में बाँहें डालकर कहती है:–

मया क्रीड महाराज सीतया किं तवानया।
विवर्णया कृपणया मानुष्या राक्षसेश्वर॥

(राक्षसराज रावण, तुम मेरे साथ जितना सुख भोगना चाहो, भोगो। इस दुबली–पतली, पीली–मीली मानुषी के पीछे क्यों पड़े हो?)

धान्यमालिनी रावण को सांत्वना देने के लिए जो बात कह रही है, उसमें सत्य और सौन्दर्य की कितनी विलक्षण और विपरीत व्याख्या है, यह आदिकवि वाल्मीकि की अनर्घ वाणी के मर्मज्ञ ही पहचान सकते हैं।

52. सपने में साकार बना सच

पतिप्राणा जानकी की फटकार सुनकर निर्लज्ज रावण भीतर से लज्जित तो होता है, पर बाहर से रोष का आवेश प्रदर्शित करते हुए अपने भवन की ओर प्रस्थान करता है। अहम्मन्य पराक्रमी रावण का यह प्रत्यावर्तन उसकी पराजय का प्रथम चरण है। सीता-माता की पद-निधि से प्रत्यावर्तित रावण के पाप-पंकिल चरणों को पूर्ण रूप से अशोक-वाटिका से बहिर्गत देखकर आंजनेय का मन आश्वस्त हो जाता है। अब माता से मिलकर बात करने को उनका मन करता है पर अभी तक रामेक्षणी जानकी की दृष्टि ऊपर पेड़ के पत्तों की ओट में लुक छिपकर बैठे वानरवीर हनुमान् की ओर उन्मुख तक नहीं हुई है। इसी शुभ मुहूर्त की प्रतीक्षा में पवन-पुत्र, प्रभात के पावन क्षण गिन-गिन कर व्यतीत कर रहे हैं।

इतने में रावण के आदेश के अनुसार जानकी को राज़ी करने के लिए अशोक-वाटिका में आठों पहर पहरा देनेवाली असुरांगनाएँ रामपत्नी को डराने-धमकाने लगती हैं। त्रिलोक-सुन्दरी सीता की चारों तरफ विकराल और विकट रूप धारण कर बैठी राक्षसियों में से किसी के कान लंबे हैं, किसी की आँखें टेढ़ी हैं, किसी की तोंद उभरी है, किसी के पैर फटे हैं और किसी की नाक कटी है। रावण के अपने अंतःपुर की ओर प्रस्थान करते ही ये सब राक्षस-वनिताएँ जानकी को घेर लेती हैं और एक एक करके सब अपने प्रवचन परामर्श और प्रताड़न से रावण की बात मानने के लिए उनको बाध्य करने का हर संभव प्रयास करने लगती हैं।

एकजटा नाम की एक राक्षसी कहती है कि प्रजापतियों के प्रशस्त वंश में उत्पन्न प्रतापी रावण की प्रिय पत्नी बनने में संकोच करना निरी मूर्खता है। हरिजटा नाम की एक दूसरी राक्षसी अपनी बिल्ली की-सी आँखें दिखाकर इस बात पर आश्चर्य प्रकट करती है कि देवताओं को भी पराजित कर दिव्य जीवन व्यतीत करने वाले देवतुल्य रावण की हजारों रानियों में अग्रस्थान पाने का सुनहला अवसर खो बैठना बुद्धिमत्ता का काम नहीं है। विकटा नाम की एक और राक्षसी कहती है कि देव, दानव, गंधर्व आदि को अपने अधीन बनाकर तीनों लोकों में शत्रु-रावण का यश प्राप्त करने वाले राक्षसराज रावण के वाम भाग में खड़े होने का सौभाग्य बहुत कम स्त्रियों को मिलता है और ऐसा सुयोग अनायास मिलने पर भी उसको नाखून के अग्रभाग से ठुकरा देना पागलपन है। इसके पश्चात् दुर्मुखी नाम की एक और राक्षसी रावण के प्रताप का वर्णन करते हुए कहती है कि लोकरावण रावण की आज्ञा के बिना सूर्य भी उदित होने में संकोच करता है, हवा भी चलने से डरती है और पेड़ उनको देखते ही फूल बरसाते हैं। इतने पराक्रम, वैभव और प्रभुता से संपन्न राजाधिराज रावण की छोटी-सी इच्छा पूरी करने में यह पगली सीता क्यों आगा-पीछा कर रही है, यह बात बिचारी दुर्मुखी की समझ में नहीं आती।

जब बात समझ में नहीं आती है, तो रामेश्वरी अपने ढंग से अपने मन की बात समझाने का प्रयत्न करते हुए कहती हैं:—

न मानुषी राक्षसस्य भार्या भवितुमर्हति।

कामं खादत मां सर्वा न करिष्यामि वो वचः ॥
दीनो वा राज्यहीनो वा यो मे भर्ता स मे गुरुः ।
तं नित्यमनुरक्तास्मि यथा सूर्यं सुवर्चला ॥

(सीधी सादी बात यह है कि मानव की कन्या दानव की पत्नी नहीं बन सकती, नहीं बन सकती, नहीं बन सकती। तुम सब लोग मिलकर मुझे भले ही खा जाओ, पर मैं तुम लोगों की बात नहीं मानूँगी, नहीं मानूँगी, नहीं मानूँगी। मेरे पति मेरे लिए हमेशा आदर, अनुराग और आराधना के योग्य होंगे, चाहे वे दीन हों या महान् हों, राजा हों या वनवासी। मेरा उनके साथ सदा सर्वदा यह रागात्मक संबंध बना रहेगा। मैं उनकी हूँ और वे मेरे हैं। हम दोनों एक हैं – जैसे सूर्य और सुवर्चला।)

शची, सावित्री, अरुंधती, रोहिणी, दमयंती, मदयंती, श्रीमती, लोपामुद्रा, सुकन्या, केशिनी आदि अनेक पतिव्रता स्त्रियों का उदाहरण देकर सती साध्वी सीता राक्षसियों को समझाने का प्रयास करती हैं कि रावण को वह दाएँ पैर की उँगली से भी छूने को तैयार नहीं है। पर केवल अस्थि-चर्म-मय देह में आस्था रखनेवाली असुरांगनाएँ इन आदर्श वाक्यों को कैसे समझ सकती हैं। आक्रोश, आतंक और अत्याचार की भाषा में वे अपने दुष्प्रवचन फिर आरंभ करती हैं।

विनता नाम की राक्षसी अपनी चतुराई का परिचय देते हुए कहती है कि अब तक तुमने अपने पतिदेव के प्रति जिस निष्ठा और स्नेह का प्रदर्शन किया है, वह पर्याप्त है और अब समस्त राक्षस-समाज के स्वामी रावण की सहभागिनी बनने में ही तुम्हारा कल्याण है। इस पर भी सीता को मौन देखकर वह आपे से बाहर हो जाती है और कहती है:–

एतदुक्तं च मे वाक्यं यदि त्वं न करिष्यसि ।
अस्मिन् मुहूर्ते सर्वास्त्वां भक्षयिष्यामहे वयम् ॥

(यदि तुम मेरे कहे अनुसार नहीं करोगी तो हम सब लोग इसी क्षण तुमको खा डालेंगी।)

यही बात दुहराते हुए विकटा नाम की राक्षसी राम-पत्नी को यह समझाने की कोशिश करती है कि वह राम से कितनी दूर है और राम क्या, साक्षात् देवेन्द्र भी लंका में प्रवेश नहीं कर सकता। ऐसी स्थिति में उनकी सलाह यही है कि अस्थिर यौवन की आर्द्रता के सूख जाने के पहले ही वह रावण की प्रणय-याचना को शालीनता से स्वीकार कर लंका में समस्त सांसारिक सुख भोग का यथेष्ट अनुभव करे। पास में बैठी चंडोदरी नाम की राक्षसी भी यही बात कहती है और भयानक शूल दिखाकर उससे सीता के हृदय को उत्पाटित करने की धमकी देती है। इससे आस-पास की असुरांगनाओं की रसना में पानी भर आता है। प्रघसा नाम की राक्षसी चंडोदरी के प्रस्ताव का तत्काल समर्थन करते हुए कहती है, "यह बिल्कुल ठीक है, हम इसको काट काटकर इसके माँस के टुकड़े बाँट बाँट कर खा लेंगे और लंकेश्वर को बता देंगे कि वह बिचारी दुःख से तड़प-तड़प कर मर गई। इस पर अजामुखी नाम की राक्षसी की प्रतिक्रिया बहुत विचित्र लगती है। वह तत्काल यह मानकर चलती है किं सीता का मरना निश्चित है और कहती है कि मृत शरीर का माँस आपस में बाँटने में कोई विवाद नहीं होना चाहिए, सबको बराबर बराबर के हिस्से मिलने चाहिए। अंत में शूर्पणखा सबकी सम्मिलित राय से सहमत होकर माँस के साथ मदिरा को भी मँगवाने की मंत्रणा देती है। ये सब बातें वाक्य-विशारद हनुमान् 'निर्वाक्य' बनकर सुनते रहते हैं। सीता-माता के शोकाकुल हृदय के संताप का अनुमान लगाकर वह समुचित समय की प्रतीक्षा में जिस वृक्ष पर बैठे रहते हैं, उसी वृक्ष के पास जनकनंदिनी जा पहुँचती है और राम-वियोग से देह-वियोग को अधिक श्रेयस्कर समझकर वह नाना प्रकार के विचारों से अपने को संबोधित कर लेती हैं।

पर मानव-जीवन में मरण भी सुलभ नहीं है। उसका भी अपना समय होता है। "हा राम, हा लक्ष्मण, हा कौसल्ये, हा सुमित्रे", कहकर वह बार-बार अपनी दयनीय दशा पर स्वयं दयार्द्र बन जाती हैं कभी शोकमग्न बन जाती हैं और कभी कर्तव्यमूढ़ बन जाती हैं। पागल की तरह वह कभी कभी अपने आपको कोसने लगती हैं कभी दुष्ट रावण की भर्त्सना करती

हैं, कभी अपने दृढ़ निश्चय को आस-पास की असुरांगनाओं के सामने दुहराती हैं, कभी संदेह प्रकट करती हैं कि विराध, खर, दूषण आदि भयंकर राक्षसों का पल भर में संहार करने में समर्थ सत्यपराक्रम राम इतने दिन से क्यों मेरी उपेक्षा कर रहे हैं मेरा ठिकाना शायद उनको जटायु नहीं बता पाए हों अथवा क्रूर रावण ने अपनी असुरी माया के बल पर दोनों राजकुमारों पर अत्याचार किया हो अथवा पत्नी-वियोग से पीड़ित होकर प्रेमपरायण राम ने अस्त्र संन्यास किया हो। इसी प्रकार के विचित्र विचारों की विक्षिप्त धारा में बहकर विदेह-नंदिनी अपने प्राणों का परित्याग करने का संकल्प कर लेती हैं। दुःख-सुख से परे जीवन की प्रत्येक घटना को जीवनदाता के पावन संकल्प का परिणाम समझकर निश्चिंत, निर्लिप्त एवं निर्विकार जीवन व्यतीत करनेवाले महात्माओं की प्रशंसा करते हुए साध्वी सीता कहती हैंः—

धन्याः खलु महात्मानो मुनयः सत्यसम्मताः।
जितात्मानो महाभागा येषां न स्तः प्रियाप्रिये॥

नाना प्रकार की आशंकाओं से आतंकित जानकी के मुँह से जब प्राण-त्याग की बात निकलती है, तो उनका पहरा देनेवाली प्रौढांगनाएँ त्रस्त होकर रावण को इस भयानक परिणाम की संभावनाओं से अवगत करने के लिए राजभवन की ओर चल पड़ती हैं। पर जानकी के आसपास बैठी असुरांगनाएँ अपनी वही पुरानी बात बार-बार दुहराकर अशोक-वाटिका को अधिक शोकसंतप्त बनाने की चेष्टा करती हैं। अनर्थकर अर्थ को प्रतिपादित करनेवाली असुरांगनाओं की एकार्थ परुषभाषिता से प्रपीडित राममहिषी अप्रिय को प्रिय और प्रिय को अप्रिय मानने में जब अपने को अक्षम पाती हैं तब एक विचित्र घटना घटती है।

सीता-माता को डरा-धमकाकर उनके प्राणों को आतंकित करनेवाली असुरांगनाओं को अपवारित करते हुए एक प्रबुद्ध वृद्ध महिला त्रिजटा सबको चमत्कृत करनेवाला एक स्वप्न-वृत्तांत सुनाने लगती है। यह त्रिजटा सीता की रखवाली करनेवाली राक्षसियों में से ही एक है, पर उसकी प्रकृति आसुरी नहीं है। जब अन्य राक्षसियाँ सीता के प्राणों का हरण करने के षडयंत्र में तत्पर रहती हैं तब त्रिजटा एक सुन्दर स्वप्न देखती है जिसमें रामचन्द्र की अमोघ विजय और रावण की घोर पराजय का आभास मिलता है। यह स्वप्न प्रभात के समय दिखाई देता है, इसलिए इसका सत्य शीघ्र ही साकार होने जा रहा है। इस बात का विश्वास दिलाते हुए वह अपनी सहेलियों को स्वप्न का सार बताने का प्रयास करती है। अचानक सोकर उठी त्रिजटा के मुँह से ये रोमांचक बातें सुनकर सारी असुरांगनाएँ त्रिजटा के चारों तरफ स्वप्न का वृत्तांत सुनने के लिए उत्कंठित मुद्रा में बैठ जाती हैं।

त्रिजटा अपना स्वप्न-वृत्तांत सुनाने लगती है। उसने स्वप्न में देखा था कि अंतरिक्ष में निराधार चलनेवाली दिव्य शिबिका पर, जो हाथी दाँत से बनी हुई है और हजारों घोड़े जिसको चला रहे हैं, श्वेत वस्त्र और श्वेत हार पहने राम और लक्ष्मण बैठे हुए हैं। त्रिजटा ने यह भी देखा था कि समुद्र के बीचों बीच सुन्दर, स्वच्छ और उत्तुंग शिखरों से युक्त उदात्त पर्वत पर श्वेत वस्त्र पहने सीता विराजमान हैं और उनकी बगल में श्रीराम भी हैं, जैसे प्रभा के साथ भगवान भास्कर। यहाँ पर स्वप्न का पहला खण्ड समाप्त हो जाता है। थोड़ी देर के लिए त्रिजटा का स्वप्न भंग हो जाता है। फिर स्वप्न का दूसरा खंड आरंभ होता है।

स्वप्न के दूसरे खण्ड में त्रिजटा देखती है कि अंतरिक्ष में विचरण करनेवाली शिबिका को छोड़कर राम और लक्ष्मण पर्वत की भांति प्रतीत होनेवाले एक गजराज पर जा बैठते हैं और थोड़ी ही देर में जानकी भी वहाँ आ पहुँचती हैं। इसके पश्चात् अंतरिक्ष में अपनी ही आभा से आलोकित राजकुमारों के पास बैठी जानकी अचानक राम के कंधे का सहारा लेकर ऊपर उड़ने का प्रयास करती हैं और उनकी उड़ान उनको सूर्य और चंद्रमा तक ले जाती है जहाँ पहुँच कर शुभ्र वस्त्रोत्तरीया जानकी सूर्य और चंद्र को अपने दिव्य कर-कमलों से परिमार्जित कर देती दिखाई देती हैं।

बाद में गजराज सीता, राम और लक्ष्मण को अपने कंधे पर बिठाकर लंका के ऊपर आ जाता है। पर कुछ ही क्षणों में वहाँ गजराज के स्थान पर एक नहीं, आठ वृषभ-राज प्रकट होते हैं जिनके द्वारा संचालित रथ पर विशालाक्षी सीता के साथ रघुकुल-तिलक राम विराजमान होते हैं। यह स्वप्न का दूसरा खंड है।

स्वप्न के तीसरे खण्ड में त्रिजटा देखती है कि राम, सीता और लक्ष्मण अंतरिक्ष यान को छोड़कर सीधे लंका में उतर आते हैं और पुष्पक विमान को सुशोभित कर उत्तर की ओर प्रस्थान करते हैं। यह बात कहते हुए त्रिजटा गद्‌गद हो जाती है और राम को पुरुषोत्तम कह कर वह अपनी आंतरिक श्रद्धा व्यक्त करती है। वह स्पष्ट शब्दों में कहती हैः—

न हि रामो महातेजाः शक्यो जेतुं सुरासुरैः।
राक्षसैर्वापि चान्यैर्वा स्वर्गः पापजनैरिव ॥

(महातेजस्वी श्रीराम को कोई पराजित नहीं कर सकता। सुर-असुर सबको उनके सामने नतमस्तक होना पड़ता है। राक्षसों के लिए उन पर विजय पाना उसी प्रकार असंभव है जैसे पापी पुरुष के लिए स्वर्ग की प्राप्ति।)

ये तीनों खंड मिल कर त्रिजटा के स्वप्न का प्रथम चरण बनते हैं। इस चरण में सीता-माता, श्रीराम और लक्ष्मण के श्रीचरण बार-बार दिखाई देते हैं—कभी शिबिका पर, कभी गजराज पर, कभी पर्वत पर, कभी वृषभ पर और कभी पुष्पक में। श्रीराम के श्रीचरणों की सश्रीकता का वर्णन करते करते त्रिजटा तन्मय बन जाती है और किसी तरह फिर प्रकृतिस्थ होकर अपने स्वप्न का दूसरा चरण सुनाने लगती है।

त्रिजटा अपने स्वप्न के दूसरे चरण के प्रथम खंड में श्रीराम, सीता और लक्ष्मण को देखती है तो दूसरे चरण में रावण, कुंभकर्ण, इंद्रजित् और विभीषण को देखती है। उसके भी फिर तीन खंड हैं। प्रथम खंड में सबसे पहले मूँड़ मुँड़ाए, तेल लगाए, मदिरा पिए, करवीर की माला और लाल लाल कपड़े पहने रावण दिखाई देता है जो अचानक पुष्पक विमान से गिर पड़ता है। लाल चंदन, लाल हार और लाल कपड़े धारण कर विमान से गिर पड़े रावण को एक स्त्री घसीट कर ले जाती है और गधेवाले रथ पर बिठा देती है। वह रथ दक्षिण की ओर चल पड़ता है। थोड़ी ही देर में रावण गधे से नीचे गिर पड़ता है और सिर के बल गिरने से डर जाता है। पर दूसरे ही क्षण वह उठ खड़ा होता है और पागल की तरह व्यवहार करता है, नंगे बदन गंदी बातें करता है और अंधकार से भरे हुए अगाध कुंड में वह जा गिरता है जहाँ से उसे एक बदसूरत औरत दक्षिण की ओर ले जाती है।

स्वप्न के दूसरे खंड में कुंभकर्ण और इंद्रजित् भी इसी रूप में दिखाई देते हैं। अंत में रावण सुअर पर, कुंभकर्ण ऊँट पर और इंद्रजित् सूँस पर चढ़कर चलते दिखाई देते हैं।

स्वप्न के इस चरण के तीसरे खण्ड में विभीषण निरापद और प्रसन्न मुद्रा में दिखाई देते हैं। श्वेत वस्त्र, श्वेत माला और श्वेत छत्र से सुशोभित विभीषण का शरीर चंदन से चर्चित और सुंदर दिखाई देता है। चारों तरफ नृत्य-गीत का मंगलमय स्वर और सात्विक संपन्नता का स्पृहणीय दृश्य वायुमंडल को पावन बनाते हैं। बादल की तरह गरजनेवाले गजराज पर आरूढ विभीषण की सेवा में उनके आज्ञाकारी सचिव विनय की मुद्रा में उपस्थित दिखाई देते हैं।

स्वप्न के तीसरे चरण में वानरवीर हनुमान् दिखाई देते हैं जो श्रीराम के शांतिदूत बनकर लंका में प्रवेश करते हैं और सीता-माता के शोकानल को शांत बनाकर उसी ज्वाला से समस्त लंका को भस्मासात् कर देते हैं। गजबल, हयबल, रथबल आदि समस्त सामरिक बल समेत लंका को ध्वस्त, त्रस्त और भयंकर विपदा में ग्रस्त पाकर राक्षस स्त्रियाँ विकट अट्टहास करती हैं और तेल पीकर नाचती हैं। यह त्रिजटा के स्वप्न का अंतिम चरण है। स्वप्न के तीन चरणों में तीन प्रकार के दृश्य दिखाई देते हैं जो क्रमशः श्रीराम की विजय, रावण की पराजय और हनुमान् की आत्मजय दर्शाते

हैं। स्वप्न जैसे प्रतीत होने वाले इन तीनों सत्यों को त्रिजटा अपनी तीन जटाओं में बाँधकर परम सत्य का साक्षात्कार करती है जिससे वह स्वयं प्रबुद्ध बनकर अपनी सहेलियों को भी मोह की निद्रा से जगाती है। त्रिजटा के इस स्वप्न में उसका नाम भी सार्थक और साकार बन जाता है। स्वप्न में साकार बनकर प्रकट सत्य पर उसको पूरा-पूरा विश्वास है और उसको इस बात का भी पूरा विश्वास है कि परम कल्याणमयी जानकी इतनी मृदुल प्रकृति की है कि जो लोग उनकी शरण में एक बार अपने को समर्पित करते हैं, उन पर वह अवश्य प्रसन्न होंगी चाहे वे कितने ही दुष्ट और दुराचारी क्यों न हों। यही बात वह अपनी सहेलियों से कहती है और उनको सलाह देती है कि अब हम लोगों के लिए सीता-माता के पावन चरण ही एकमात्र शरण हैं।

त्रिजटा की बात मानकर उसकी सभी सहेलियाँ सीता के पैरों पड़कर क्षमा माँगती हैं और रामेक्षणी भी अपने शरीर में शुभसूचक चिह्नों को सचेष्ट पाकर प्रसन्न होती हैं। उनकी बाई आँख और बाँई बाँह अचानक फड़क उठती हैं। सामने पेड़ पर बैठा हुआ पक्षी मीठी-मीठी बोली सुनाता है। प्रकृत्या प्रसन्न और प्रशांत सीता कहती हैं कि यदि यह सही है तो तुम लोगों को डरने की कोई बात नहीं है। यह आश्वासन देते समय श्रीमती सीता ह्रीमती बन जाती हैं। ऐसा लगता है कि श्रीदेवी की बहन ह्रीदेवी के मुँह से ये बातें निकल रही हैं। श्रीसूक्त को सुभाषित करनेवाला ह्रीभाष्य आदिकवि की अनर्घ वाणी में अत्यन्त मननीय बन पड़ता है। स्वामी की विजय की संभावना से आश्वस्त होकर ह्रीमती बाला अपनी शरण में असुरांगनाओं को अभय प्रदान कर रही हैं तो कवि कहते हैं: —

ततः सा ह्रीमती बाला भर्तुर्विजयहर्षिता।
अवोचद् यदि तत् तथ्यं भवेयं शरणं हि वः॥

इस श्लोक में प्रयुक्त 'ह्रीमती' और 'बाला'—इन दो शब्दों से ऐसा प्रतीत होता है कि त्रिजटा ने स्वप्न में सीता के जिस लोकोत्तर लावण्य को देखा था, वह महालावण्य की निधि बाला त्रिपुर सुंदरी का ही था जिसको 'ह्री' छाया प्रदान करती है और 'श्री' शोभा। इसी परम सौंदर्य से दूर रहने पर भी सत्यपराक्रम राम सात्त्विक और तात्त्विक दृष्टि से उसे देख लेते हैं जबकि रावण अत्यंत निकट रहकर भी उसके वास्तविक स्वरूप को पहचान नहीं पाता। दोनों की दृष्टि में जो अंतर है, उसको अपने अंतरतम नयनों से आत्मसात् करते हुए अशोक-वाटिका में वृक्ष की शाखाओं के बीच लक्ष्यालक्ष्य सजगता के साथ बैठे हैं— आत्मद्रष्टा आंजनेय। इस प्रकार राम की तात्त्विक दृष्टि, रावण की तामसिक दृष्टि तथा आंजनेय की अंतर्दृष्टि को त्रिजटा अपने स्वप्न में प्रतिफलित कर लेती है। इसलिए वह धन्य है और उसकी दृष्टि धन्य है जो कि स्वप्न में भी सत्य को देख पाती है।

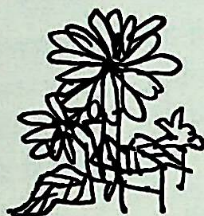
इतना होने पर भी माधवी मही की महीयसी तनया सीता को विश्वास नहीं होता कि यह स्वप्न सत्य होगा। जो कठोर यथार्थ प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है, उसकी वह उपेक्षा नहीं कर पातीं। इसलिए अपनी वर्तमान दयनीय दशा की ओर दृष्टिपात कर वह बार-बार विलाप करने लगती हैं:—

हा राम हा लक्ष्मण हा सुमित्रे
हा राममातः सह मे जनन्यः।
एषा विपद्यामहमल्पभाग्या
महार्णवे नौरिव मूढवाता॥

बवंडर में पड़कर महासागर के बीच मंझधार में डूबनेवाली नौका की भांति शोकाकुल सीता-माता बार-बार राम, लक्ष्मण, सुमित्रा, कौशल्या आदि का स्मरण कर रोने लगती हैं। उनको अपने दुख की इतनी चिंता नहीं है जितनी कि इस बात की होती है कि जीवन भर प्रेम और नियम से पालित धर्म का कोई महत्त्व नहीं रहा है। आत्महानि से धर्महानि धर्मशीला जानकी के लिए अधिक हानिकारक प्रतीत होती है। शोक से संतप्त होकर वह फिर एक बार प्राण-त्याग का प्रयत्न करती हैं। पर इतने में फिर उनके शरीर में

शुभसूचक लक्षण परिलक्षित होते हैं। उनकी बाँकी बरौनियों से घिरा हुआ मनोहर वाम नयन फड़कने लगता है जैसे मछली के आघात से लाल कमल हिलने लगता है। उनकी बायीं भुजा भी प्रियतम के काल्पनिक स्पर्श से स्फुरमाण होकर फड़कने लगती है। उनकी बायीं जाँघ भी तनिक हिलने लगती है और उसके ऊपर का मलिन पीतांबर भी किंचित् खिसक-सा जाता है। इन शुभ सूचक लक्षणों से आश्वस्त होकर भूतनया जानकी पुलक उठती हैं और उनको लगता है कि आनेवाले क्षण कुछ अभीप्सित आनंद लानेवाले सिद्ध होने जा रहे हैं। संसार चाहे कितना भी झुठलाने का प्रयास करे, पर आत्मा उसे सुनहले सपने दिखाकर कभी न कभी परम सत्य बनकर प्रकट होकर ही रहेगी। इसी तात्त्विक सत्य की सात्त्विक अनुभूति से आलोकित सीता-माता का स्निग्ध रमणीय हृदय अपने अधिष्ठाता राम से मानों कह रहा होः—

"तुम सत्य रहे चिर सुंदर मेरे इस मिथ्या जग के"



53. स्वामी का संदेश-निवेदन

नंदन वन की आनंदनंदिनी की भांति अशोक वाटिका में शोकाकुल बैठी सीता माता को पवनपुत्र ने प्रत्यक्ष तो कर लिया, पर माता की दृष्टि अभी पुत्र की ओर प्रसारित नहीं हुई। उस पावन क्षण की प्रतीक्षा में शिंशपा वृक्ष की शाखा पर फूलों और पत्तों की ओट में बैठे हुए हनुमान् को प्रत्येक क्षण नेत्रोन्मीलक, विचारवर्द्धक तथा प्रयोजनमूलक सिद्ध हो रहा है। सीता-रावण का संवाद, रावण की निर्लज्जता, माता की निर्भीकता, त्रिजटा की भविष्यवाणी, असुरांगनाओं की आशंका आदि से आत्मयोगी आंजनेय का मन कभी उन्मन, कभी उद्विग्न, कभी उत्फुल्ल और कभी उत्कंठित होने लगता है। इसी विचार-लहरी के घात-प्रतिघात के पश्चात् सुप्रभात की सुमधुर वेला राममहिषी से बात करने के लिए रामदूत को प्रभा-भास्वर प्रेरणा और चित्प्रसूतिका शक्ति प्रदान करती है।

पर समस्या यह है कि बात कैसे करें, कहाँ से आरंभ करें, करें या न करें। मारुतनंदन का यह मानस-मंथन निराधार नहीं है। असल में बात करनी है या नहीं करनी है, यह भी मीमांसा का विषय है क्योंकि दोनों हानिकारक सिद्ध हो सकते हैं और दोनों लाभदायक भी बन सकते हैं। राम-पत्नी से बात करने का मतलब है रावण को और लंका को भड़काना। इससे तत्काल संकट पैदा हो सकता है। यदि सीता और हनुमान् के बीच वार्तालाप का लंकावासियों को पता चला तो हनुमान् पर लंकावासी आक्रमण करेंगे और उनके प्राण भी खतरे में पड़ सकते हैं। यह एक पहलू है जिसमें सुरक्षा की भावना प्रमुख है। पर दूसरा पहलू संभाषण के पक्ष में है। इतनी दूर आकर सीता-माता से बात किए बिना वापस जाना बुद्धिमता का काम नहीं है क्योंकि रामदूत का कार्य केवल राममहिषी को देखकर वापस जाना नहीं है, बल्कि राम का संदेश विरहाकुल सीता को सुनाना, उनको राम-नामांकित मुद्रिका देना और उनका प्रतिसंदेश (और हो सके तो प्रत्यभिज्ञान) साथ लेकर राम के पास जाना भी रामदूत से अपेक्षित है। यदि चुपचाप वापस चला जाए तो राम से कहने के लिए क्या रह जाता है सिवाय इसके कि मैंने सीताजी को अशोक वाटिका में शोकमग्न देखा है। यदि देखा है तो किया क्या? सीता ने क्या कहा? यह सारी जिज्ञासा समाधान की अपेक्षा रखती है। इसके अलावा क्रूर रावण द्वारा निर्धारित दो मास की अवधि को तिल-तिल काटने वाली विरहिणी सीता को राम का संदेश सुनाना और उनको आश्वस्त करना नितांत आवश्यक है क्योंकि अन्यथा वह निराश होकर प्राण त्याग कर सकती हैं। इसलिए विवेकशील हनुमान् सोचने लगते हैं कि सीता-माता से बातचीत करने में भी दोष है और न करने में भी दोष हैः—

एषदोषो महान् हि स्यान्मम सीताभिभाषणे।
प्राणत्यागश्च वैदेह्या भवेदनभिभाषणे ॥

साथ ही कुशल संदेशवाहक के रूप में हनुमान् इस बात के प्रति स्वयं सजग और सावधान भी हो जाते हैं कि अर्थ और अनर्थ के बीच विवेकपूर्ण निर्णय

करने में असफल होकर बना बनाया काम अपने हाथों बिगाड़ न बैठें। अपने को कार्यकुशल समझने वाले अन्यान्य साधारण दूतों की भांति वह जल्दबाजी में कोई काम करना नहीं चाहते। इसलिए अंत में शांतिदूत हनुमान् का प्रशांत मन कहता है कि रामगत चेतना से राम और केवल राम को अपने जीवन का एकमात्र आधार बनाकर राम की प्रतीक्षा करने वाली रामनयनी की दृष्टि अपनी ओर आकृष्ट कर उनको राम की संजीवनी वाणी सुनाना परम आवश्यक है।

पर बात कहाँ से आरंभ करें? किस प्रकार की भाषा का प्रयोग किया जाए? उपक्रम कैसे हो? इन सब बातों पर बड़ी गंभीरता के साथ सोचकर मनस्वी हनुमान् रामचन्द्र के मधुर कथामृत और मनमोहक गुणगान के साथ अपनी बात आरंभ करते हैं। शिंशपा वृक्ष के पत्तों की ओट से अचानक सीता-माता को ये वाक्य सुनाई देते हैंः

"एक राजा थे। उनका नाम दशरथ था। उनके पास बहुत बड़ी सेना थी। वह पुण्यात्मा थे, यशस्वी थे, सत्य और धर्म का पालन करने में निरंतर तत्पर रहा करते थे। पराक्रम में इन्द्र के समान शक्तिशाली होकर भी शांति और अहिंसा में वह विश्वास रखते थे। पृथ्वी के कोने-कोने में उनका नाम पहुँच चुका था। उनके ज्येष्ठ पुत्र राम सौन्दर्य में प्रियदर्शी और सौजन्य में समदर्शी थे। सत्यसंध पिता की सत्यनिष्ठा को बनाये रखने के लिए वह अपनी पत्नी और अनुज को लेकर दंडक वन में पहुँचे। वहाँ पर उन्होंने हज़ारों राक्षसों का संहार किया। यह सुनकर दुष्ट रावण ने उनकी पत्नी जनकनंदिनी का अपहरण किया। अपनी पत्नी का अन्वेषण करते हुए वह किष्किंधा पहुँचे जहाँ पर वानरराज सुग्रीव के साथ उनकी मैत्री हुई। सुग्रीव के अग्रज होकर भी उनसे परम शत्रुता रखने वाले वाली का राम ने संहार किया और सुग्रीव को वानर राज्य पर प्रतिष्ठित किया। प्रत्युपकार के रूप में सुग्रीव ने सीता का अन्वेषण करने के लिए चारों दिशाओं में वानर-सेना भेजी। इसी अभियान में मुझे दक्षिण दिशा में भेजा गया। रास्ते में जटायु के बड़े भाई संपति से मार्गदर्शन प्राप्त कर मैं लंका में आ पहुँचा। जिस साध्वी के अन्वेषण में मैंने रात भर बिताई, वह मेरे सामने दिखाई दे रही हैं। यह रूप, यह रंग और ये लक्षण बिल्कुल वही हैं जो मैंने राम के मुँह से सुने हैं और जो मैंने बहुत समय पहले दूर से देखे थे। जो पहले सुनने में आया था, अब वह प्रत्यक्ष देखने में आ रहा है। मैं सचमुच भाग्यशाली हूँ।"

वानरवीर हनुमान् की यह वाग्विभूति सीता-माता के अवनत वदन को उन्नत बना देती है। वह इधर-उधरअपनी दृष्टि प्रसारित कर अन्त में पेड़ की शाखा में संवृताकार बैठे हनुमान् को देख लेती हैं। उदयाचल पर उदीयमान उदय-भास्कर की भांति हृदय-कमल को आह्लादित करने वाली मधुर मनोहर वार्ता उच्चारित करने वाले हनुमान् को सुकेशी सीता अपने केश-संवृत मुख को उन्मुख करके देखती है और देखती ही रह जाती है। उनके मन को प्रसन्नता तो होती है, पर यह विश्वास नहीं होता कि यह वास्तव में कोई रामदूत है जो राम का संदेश लेकर यहाँ आ पहुँचा है। थोड़ी देर के लिए वह सोचने लगती हैं कि यह कोई स्वप्न तो नहीं है। पर दूसरे ही क्षण वह अपने को समझा लेती हैं कि जब राम की विरह में रात को नींद ही नहीं आती है तो स्वप्न कैसे आ सकता है। फिर मन में आशंका उत्पन्न होती है कि यह कोई आसुरी माया तो नहीं है। कभी भय, कभी शोक, कभी मोह और कभी क्षोभ – इस प्रकार उनका मानससागर उद्विग्न विचार-तरंगों के घात-प्रतिघात से आलोडित हो जाता है। एक तो सबेरे बन्दर का रूप देखने को मिलता है और बन्दर भी बन्दर की तरह न बोलकर रामभक्त महात्मा की तरह मधुर कंठ से मनोहर शैली में मार्मिक और महत्त्वपूर्ण वार्ता सुना रहा है। यह सब क्या हो रहा है, उनकी समझ में नहीं आता। पर उनका मन चाहता है कि जो कुछ दिखाई दे रहा है, वह सत्य और यथार्थ निकले। इसलिए वह इंद्र, अग्नि, बृहस्पति और ब्रह्मा से बिनती करती हैं कि स्वप्न-सा प्रतीत होने वाला यह दृश्य सत्य साबित हो।

नमोऽस्तु वाचस्पतये सवज्रिणे,

स्वयंभुवे चैव हुताशनाय ।
अनेन चोक्तं यदिदं ममाग्रतो,
वनौकसा तच्च तथास्तु नान्यथा ॥

वन में विचरण करने वाले वानरवीर हनुमान् का वचन सत्य हो, यही सती साध्वी सीता की मंगलकामना है। परन्तु इस वचन का सत्यापन तर्क-वितर्क या ऊहापोह से नहीं हो सकता। इसके लिए प्रत्यक्ष प्रमाण चाहिए जो आप्त वाक्य को अवगत कराने में समर्थ होता है। दिन रात राम का नाम रट-रट कर उसी राम-भावना में रमकर समस्त संसार को राममय देखने वाली राममहिषी को लगता है कि जैसा विचार वैसा आकार सामने प्रकट हुआ है। पर जैसा आकार वैसा व्यवहार और व्याहार भी प्रत्यक्ष हो जाए तो वचन की अनिर्वचनयता सुगम्य और सरम्य बन सकेगी। जिस पावन क्षण की प्रतीक्षा में अब तक शिंशपा वृक्ष की शाखा पर बैठकर पवन-पुत्र माता को अपनी ओर उन्मुख बना लेने का प्रयास कर रहे थे, वह शुभ मुहूर्त अब आ गया है, यह जानकर समीरकुमार तत्काल पेड़ से नीचे उतर कर माता के सामने अंजलि बाँधकर अत्यन्त विनम्र और मधुर स्वर में कहते हैं:-

अहं रामस्य संदेशाद् देविदूतस्तवागतः ।
वैदेहि कुशली रामः स त्वां कौशलमब्रवीत् ॥

(देवी, मैं श्रीरामचन्द्र का दूत हूँ। मैं प्रभु का संदेश लेकर आपके पास आया हूँ। विदेहनंदिनी माते, श्रीरामचंद्र सकुशल हैं और आपका कुशल समाचार जानना चाहते हैं।)

राममहिषी के सामने आते ही हनुमान् यह बात नहीं कहते हैं। श्रीराम के इस संदेश को निवेदित करने के पहले आत्मवान् आंजनेय देवी का परिचय देवी के ही मुँह से जानना चाहते हैं और इसीलिए तदनुरूप जिज्ञासा प्रकट करते हुए कहते हैं:-

का नु पद्मपलाशाक्षि क्लिश्टकौशेयवासिनि ।
द्रुमस्य शाखामालम्ब्य तिष्ठसि त्वमनिंदिते ॥
किमर्थं तव नेत्राम्यां वारि स्रवति शोकजम् ।
पुंडरीक पलाशाम्यां विप्रकीर्णमिवोदकम् ॥

कमलदल के समान कमनीय नयनवाली आप कौन हैं? आप इस प्रकार अकेली पेड़ के नीचे शाखा का सहारा लेकर क्यों खड़ी हैं? आपका मुखमंडल देखने से आपकी पवित्रता बोलती सी दिखाई देती है। फिर आपकी आँखों से ये आँसू कैसे? कमल के पत्तों से झरने वाले जल-बिन्दुओं की तरह आपकी आँखों से टपकने वाले ये अश्रुकण मुझे अधीर बना रहे हैं। यक्ष, किन्नर, गन्धर्व, वसु, रुद्र, आदित्य, मरुत् आदि किसी देवगण की दिव्य नारी हैं आप? चन्द्रमा से बिछुड़कर पृथ्वी पर आ गई रोहिणी देवी तो नहीं हैं? आप वशिष्ठ से रूठ कर वन में चली आई अरुधंती तो नहीं हैं? कल्याणी, आपके पति, पिता, पुत्र, भ्राता आदि कौन हैं जिनसे बिछुड़कर आप शोकसंतप्त हो रही हैं? आप लंबी सांस खींच रही हैं और पृथ्वी का स्पर्श कर रही हैं, इसलिए देवता स्त्री नहीं हो सकतीं। शारीरिक लक्षणों से आप कोई राजकुमारी मालूम पड़ रही हैं। आप कहीं जनस्थान के निर्जन वन में रावण द्वारा हर ली गई राममहिषी सीता तो नहीं हैं? यदि आप रामपत्नी हैं तो आपका कल्याण हो, आप मुझे अपनी सारी बातें बता दें, सारी कथा सुना दें। आपकी यह व्यथा ही आपके यथार्थ को अव्यक्त रीति से व्यक्त कर रही है। मेरा मन कहता है कि आप सचमुच श्रीरामचन्द्र की सहधर्मचारिणी सीता हैं।

हनुमान् की इस प्रश्न-परंपरा का उत्तर देते हुए रामपत्नी अपना सारा वृत्तांत संक्षेप में सुनाती हैं। तब जाकर हनुमान् को विश्वास होता है कि जो देवी उनके सामने स्थित हैं, वह सचमुच प्रभु राम की पत्नी सीता हैं और तभी वह राम का संदेश उनको सुनाने लगते हैं। राम और लक्ष्मण का कुशल समाचार सुनकर सीता का रोम-रोम रामभावना से पुलक उठता है। उनको लगता है कि वे राम को प्रत्यक्ष देख रही हैं और अतिलोक आनन्द के माध्यम से राम स्वयं अपने दर्शन दे रहे हैं। इस आनंद के आविर्भाव की अनिर्वचनीयता को व्यक्त करती हुई हनुमान् से कहती हैं:-

कल्याणी बत गाथेयं लौकिकी प्रतिभाति मा ।
एति जीवंतमानंदो नरं वर्ष-शतादपि ॥

(संसार में यह उक्ति प्रचलित है कि मनुष्य जीवित रहे तो सौ वर्ष के बाद ही सही, उसे आनन्द की प्राप्ति हो जाएगी। लगता है, यह उक्ति मेरे लिए भी कल्याणकारिणी बन रही है। प्राण-धारण का प्रयोजन आज मेरे सामने प्रत्यक्ष हो रहा है।)

इस प्रकार बात करते-करते जब आंजनेय आश्वस्त होकर आगे बढ़ने लगते हैं तो सीता का अधीर मन फिर शंकाकुल होने लगता है। उनको संदेह होता है कि कहीं मायावी रावण इस वेष में आकर उनको सता तो नहीं रहा है। वह अपनी इस आशंका को हनुमान् के सामने प्रकट भी कर देती हैं और उनको चेतावनी भी देती हैं कि यदि ऐसी बात है तो तुम्हारे लिए यह अच्छी बात नहीं है। पर साथ ही उनका मन यह भी कहता है कि यह वानरवीर हनुमान् सचमुच रामदूत ही हैं क्योंकि उनको देखते ही उनका मन प्रसन्न हो उठा। फिर भी वह सतर्क रहती हैं, तनिक संत्रस्त भी हो जाती हैं और अपने को आश्वस्त बनाने के लिए वह राम के बारे में हनुमान् के मुँह से और भी कुछ बातें सुनने की इच्छा प्रकट करती हैं। शोक-संतप्त सीता की संत्रस्त मनोदशा को समझकर हृदयवेदी हनुमान् श्रवण-सुभग वचनों से श्रीराम की सश्रीकता का वर्णन करते हुए कहते हैं– श्रीरामचन्द्र सूर्य के समान तेजस्वी हैं, कुबेर के समान समस्त संसार के स्वामी हैं, बृहस्पति के समान वाग्मी और सत्यवादी हैं, भगवान् विष्णु के समान यशस्वी और पराक्रमी हैं और दुष्टों को दण्ड देने में दुर्दम्य यम हैं। अपनी माया से श्रीराम के आश्रम को शून्य बनाकर रामपत्नी का अपहरण करने का दण्ड रावण को अचिरकाल में ही मिलने वाला है। मैं उन्हीं यशस्वी और तेजस्वी श्रीरामचन्द्र का दूत हूँ। उनका संदेश लेकर मैं आपके यहां आया हूँ। महामहिम लक्ष्मण ने अभिवादन पूर्वक आपको अपना कुशल निवेदित किया है और आपका कुशल-मंगल पूछा है। वानर-राज सुग्रीव ने भी आपको नमस्कार कहा है और कुशल-मंगल पूछा है। मैं राजा सुग्रीव का सचिव हूँ। मुझे हनुमान् कहते हैं। श्री राम के कहने पर हमारे राजा सुग्रीव ने मुझे आपके पास भेजा है। रामाज्ञा के बल पर मैंने सागर पारकर लंका में प्रवेश किया और मेरा यह परम सौभाग्य है कि मैंने आपको यहाँ पाया। इतनी सारी बातें कहने के बाद वाक्य-विशारद हनुमान् सीता की आशंकाओं को दूर करने के लिए कहते हैं:

नाहमस्मि तथा देवि, यथा मामवगच्छसि।
विशंका त्यज्यतामेषा श्रद्धत्स्व वदतो मम॥

(देवी, आप मुझे जैसा समझ रही हैं, वैसा मैं नहीं हूँ। मेरी बात पर विश्वास कीजिए और अपने मन में किसी प्रकार की शंका को स्थान मत दीजिए।)

इस पर जनकनंदिनी दशरथ-नदन के बारे में विस्तार से जानने की इच्छा प्रकट करती हैं क्योंकि वह अपने प्राणनाथ के सम्बन्ध में जितनी बातें सुनती हैं, उतनी और सुनने की इच्छा का होना स्वाभाविक है। साथ ही वह यह भी जानना चाहती हैं कि राजकुमार राम ओर वानरराज सुग्रीव के बीच में सम्बन्ध कैसे जुड़ गया– 'वानराणां नराणां च कथमासीत् समागमः।" इतना ही नहीं, राम और लक्ष्मण के शारीरिक लक्षणों के संबंध में भी वह विस्तार से जानना चाहती हैं ताकि उनको विश्वास हो जाए कि राम और लक्ष्मण को हनुमान् निकटता से जानते हैं। माता की इस सारी जिज्ञासा का समाधान करते हुए हनुमान् सारा पूर्ववृत्त इस प्रकार सुनाते हैं कि माता के मन में केवल आश्वासन ही नहीं, बल्कि अनुराग भी उत्पन्न होता है।

सत्यपरायण राम और लक्ष्मिवर्द्धन लक्ष्मण रावण द्वारा अपहृत देवी सीता को खोजते-खोजते कैसे किष्किंधा पहुँचे, किष्किंधा में समानधर्मी ओर समान शोक से संतप्त सुग्रीव कैसे मिले, किस प्रकार से उनसे मैत्री हुई, इस मैत्री में मारुतनंदन का माध्यम कैसे सहायकारी रहा, हरीश्वर सुग्रीव और नरेश्वर राम के बीच क्या-क्या विचार-विनिमय हुआ, उसके फलस्वरूप सुग्रीव के अग्रज वाली का राम ने क्यों संहार किया, वालि-वध के पश्चात् सुग्रीव को किष्किंधा का राजसिंहासन कैसे मिला, चिरकाल के बाद प्राप्त सुख में सुग्रीव कैसे मस्त बने, उस मस्ती से उनको जगाने में

राजकुमार लक्ष्मण ने रोमांचक भूमिका कैसे निभाई, मोह निद्रा से जागकर सुग्रीव ने समस्त वानर सेना को सीता के अन्वेषण में कैसे भेजा, अंगद के नेतृत्व में हनुमान् आदि वानरों ने दक्षिण की ओर कैसे प्रस्थान किया, मार्ग में क्या क्या बाधाएँ हुईं, जटायु के अग्रज संपाति का किस प्रकार सहायन मिला, उनके मार्ग-दर्शन में कैसे समस्त वानर-समूह सागर के तट पर पहुँच गया, सागर-लंघन के लिए हनुमान् को कैसे चुना गया, लंघन किस प्रकार सम्पन्न हुआ, लंका में क्या-क्या देखा और क्या नहीं देखा और अन्त में दर्शनीय का दर्शन कैसे हुआ, ये सब बातें फूलों से माला बनाने की तरह हनुमान् ने सीता को विस्तार से बतायीं।

अपने बारे में इतनी बातें बताने के बाद हनुमान् को आत्मश्लाघा के अपराध का बोध होता है। इसलिए वह इस बात को स्पष्ट करते हैं कि विश्वास दिलाने के लिए इतना सारा कहना पड़ा (विश्वासार्थं तु वैदेहि भर्तुरुक्ता मया गुणाः)। एक और विशेषता यह है कि जो कुछ कहा गया है, उसमें सीतापति का ही संकीर्तन है। आत्मस्तुति बिल्कुल नहीं है। फिर भी हनुमान् संकोच का अनुभव करते हैं। हनुमान् की इस विनम्रता, सात्विकता, शालीनता, प्रियवादिता और मृदुभाषिता पर कलभाषिणी जानकी अत्यन्त प्रसन्न हो जाती हैं, पर मुँह खोलकर कुछ कह नहीं पातीं। उनके नयनों में आत्मानन्द की अजस्रधारा के रूप में अश्रुधारा बहने लगती है। वह सब कुछ देखकर भी कुछ नहीं देख पाती हैं, सब कुछ सुनकर भी कुछ नहीं कह पातीं।

आनंदनंदिनी की इस अद्‌भुत मनोदशा को देखकर हनुमान् ही फिर अपनी बात आगे बढ़ाते हुए कहते हैं:—

एतत् ते सर्वमाख्यातं समाश्वसिहि मैथिलि।
किं करोमि कथं वा ते रोचते, प्रतियाम्यहम्॥

(मिथिलेश कुमारी माते, आपने जो कुछ पूछा, सब मैंने बता दिया। अब आप निस्संदेह मेरे ऊपर विश्वास कर सकती हैं। आपकी आज्ञा मेरे लिए शिरोधार्य है। आप अपनी रुचि की बात बता दें, मैं तत्काल आपकी आज्ञा का पालन करूँगा। यदि आपकी अनुमति हो तो मैं श्री रामचन्द्र के पास लौट जाऊँगा।)

अब भी पतिप्राणा सीता बोलने का साहस बटोर नहीं पातीं। इस दशा में हनुमान् राम नामांकित मुद्रिका सीता को समर्पित करते हुए कहते हैं:—

वानरोऽहं महाभागे दूतो रामस्य धीमतः।
रामनामांकितं चेदं पश्य देव्यंगुलीयकम्।
प्रत्ययार्थं तवानीतं तेन दत्तं महात्मना।
समाश्वसि हि, भद्रं ते, क्षीणदुःखफलाह्यसि॥

(महाभागे, मैं धीरवीर राम का संप्रेषित दूत हूँ। महात्मा राम ने आपको मेरे ऊपर विश्वास दिलाने के लिए अपने नाम से अंकित यह मुद्रिका दी है। यह अंगुलीयक देखने से आपको मेरे ऊपर ही नहीं बल्कि अपने ऊपर भी पूरा विश्वास हो जाएगा। अब आपके दुःख के दिन दूर हो गए और मंगलमय दिन आरम्भ होने जा रहे हैं।)

अपने स्वामी के सुभग हस्त को अलंकृत करने वाली उस मुद्रिका को अपने हाथ में लेकर रामदयिता सीता इतनी प्रसन्न हो गईं कि उनको लगा कि उनके स्वामी ही उनको मिल गए। लाल, सफेद और विशाल नेत्रों से मंडित उनका मुख-मंडल ग्रहण से मुक्त चंद्र-मंडल की भांति निर्मल बन कर हर्ष और आह्लाद से खिल उठा। अब वह ह्रीमती बाला अपनी श्रीमती वाणी में महामति मारुति की प्रशंसा करते हुए कहने लगीं:—

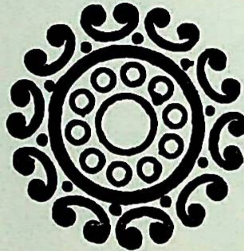
विक्रांतस्त्वं समर्थस्त्वं प्राज्ञस्त्वं वानरोत्तम।
येनेदं राक्षसपदं त्वयैकेन प्रधर्षितम्॥

(हे कपिश्रेष्ठ, तुम वास्तव में महान् हो, पराक्रमी हो, समर्थ हो और बुद्धिमान् हो। अन्यथा अकेले इस राक्षस नगरी में पहुँचना और इस पर विजय पाना साधारण प्राणी के लिए संभव नहीं है।)

स्वामी की मुद्रिका पर स्वामी के नाम को अंकित देखते ही साध्वी सीता के मन में एक ऐसे सात्विक

प्रत्यभिज्ञान का प्रादुर्भाव होता है जिससे वह समस्त संसार को सही परिप्रेक्ष्य में देख पाती हैं और आंजनेय के आत्मदर्शन को भी इसी आलोक में अवगत कर पाती हैं। यह एक ऐसी दृष्टि है जिससे द्रष्टा के बारे में कहा जाता हैः—

"यः पश्यति स पश्यति ।"



54. अभिज्ञान, प्रत्यय, आश्वासन

मर्यादा पुरुषोत्तम राम का मधुर कथामृत रामनयनी जानकी की दृष्टि को रामकथा गायक हनुमान् की ओर आकृष्ट तो कर लेता है, पर रामपत्नी से बातचीत करने का सुयोग रामदूत को इतनी आसानी से नहीं मिलता। हनुमान् को देखते ही सीता-माता का मन प्रसन्नता से पुलक उठता है, पर लंका के कण-कण को शंका की दृष्टि से देखने के लिए विवश विदेहनंदिनी हनुमान् से बातचीत करते समय अक्षर अक्षर पर आशंका से आतंकित हो जाती हैं। जनस्थान में जटायु के प्राण-त्याग से लेकर लंका में हनुमान् के प्रवेश तक का सारा वृत्तांत वानरवीर हनुमान् के मुँह से सुनने के बाद भी रामपत्नी को पूरा विश्वास नहीं होता कि यह मारुतनंदन सचमुच स्वामी का संदेश लेकर ही यहाँ आए हैं या कोई आसुरी माया नया रूप धारण कर सामने आई है। लेकिन जैसे ही हनुमान् राम-नाम से अंकित मुद्रिका सीता के हाथ में देते हैं तत्काल जानकी को न केवल हनुमान् पर विश्वास हो जाता है, बल्कि उनको साक्षात् अपने स्वामी राम का संदर्शन प्राप्त करने का-सा आनन्द मिलता है। अब तक संदेह से कर्शित उनका मुखमंडल अब संदेश से हर्षित होकर ग्रहण से मुक्त पूर्णचंद्र की भांति निर्मल मंदहास से कोमल कांत दिखाई देता है। अब उनकी समझ में आता है कि यह वानर साधारण वानर नहीं है क्योंकि इनके शील-पराक्रम आदि से पूर्णरूप से आश्वस्त होकर भी राम ने इनको मेरे पास भेजा होगा।

हनुमान् की हज़ारों बातें जो काम नहीं कर पाती हैं वह स्वामी के नाम से अंकित तथा उनके कोमल कांत कर-स्पर्श से मंडित मुद्रिका पल भर में कर देती है। इसी प्रयोजन से राम ने निज नामांकित मुद्रिका भेजी है। इस अभिज्ञान से उत्पन्न आत्म-प्रत्यय का आश्रय लेकर आश्वस्त स्वर में वह आंजनेय से कहती हैं:—

अर्हसे च कपिश्रेष्ठ मया समभिभाषितुम्।
यद्यसि प्रेषितस्तेन रामेण विदितात्मना॥

(अपनी आत्मा और अंतरात्मा को पहचाननेवाले मेरे स्वामी ने तुमको मेरे पास भेजा है, इसलिए तुम मुझसे बात करने योग्य हो।)

इतना कहकर वह मन ही मन प्रसन्न होती हैं कि सौभाग्य से राम और लक्ष्मण सकुशल हैं। पर दूसरे ही क्षण उनके मन में फिर यह संदेह उत्पन्न होता है कि यदि राम और लक्ष्मण स्वस्थ और सानन्द हैं तो सागर पारकर उन्होंने लंका में प्रवेश क्यों नहीं किया और दुष्ट रावण को यथोचित दंड देकर मेरा उद्धार करने का प्रयास क्यों नहीं किया। दोनों भाई प्रलयानल की तरह समस्त संसार को पल भर में नष्ट करने में समर्थ हैं। देवता लोग भी उनके क्रोध के सामने नहीं टिक सकते। ऐसे पराक्रमी राजकुमार असहाय और अकर्मण्य होकर चुपचाप क्यों बैठे हैं। फिर उनको लगता है कि संभवतः उनके दुःख के दिन अभी समाप्त नहीं हुए। पतिप्राणा पत्नी के रूप में जानकी अपने शोक से इतनी संतप्त नहीं हैं जितनी कि राम और लक्ष्मण के

संभावित संताप से। इसीलिए वह बार-बार वानरवीर हनुमान् से पूछती हैं कि क्या रामचंद्र अपने दैनंदिन कार्य नियमित रूप से कर पा रहे हैं या विरह-व्यथा से व्याकुल होकर अपने नियत कार्यनिर्वहण में व्यतिक्रम या विलंब कर रहे हैं। काम करते करते बीच में वह अपने को उद्विग्न या अन्यमनस्क तो नहीं पा रहे हैं, अपने मित्रों से आत्मीयता के साथ बातचीत करने में उदास तो नहीं हो रहे हैं, विरोधियों के अनुरोध पर भी सावधानी और समवेदना के साथ विचार करने में असंयम के शिकार तो नहीं हो रहे हैं, देवताओं को प्रसन्न रखने में कोई अनवधान तो नहीं हो रहा है, कहीं मुझसे दूर होने के कारण मेरे प्रति ममता और स्नेह में न्यूनता तो नहीं आई है, दुख-सुख में समानरूप से औचित्य को निबाहने वाले गुणधीर राम कहीं अधीर तो नहीं हो रहे हैं। क्या वह किसी न किसी समय सचमुच मेरा उद्धार करेंगे, अयोध्या से कभी कोई कुशल समाचार प्राप्त हो रहा है, कभी भरत और शत्रुघ्न अपनी अपार सेना को लेकर राम और लक्ष्मण के साथ यहाँ आएँगे, कभी मुझे इस आसुरी माया से मुक्ति मिलेगी आदि आदि अनेक प्रश्न सीता के सघन कंठ से सजग वर्षा की तरह निकलते हैं तो सती के समान शोकाकुल समीरकुमार माता को सान्त्वना देते हुए कहते हैं—"माते, श्रीरामचन्द्र को अभी तक पता नहीं चला कि आप यहाँ पर इतने दुःख में मग्न और उद्विग्न हैं, अन्यथा देखते ही देखते वे क्षणभर में राक्षस कुल का संहार कर आपका उद्धार कर देते। अब चूंकि मैं यहाँ आ गया हूँ, मेरे द्वारा आपके स्वामी को आपका पता लग जाएगा और शीघ्र ही वे अपने भाई लक्ष्मण और समस्त वानर सेना के साथ यहाँ आकर आपको शोक-मुक्त कर देंगे।"

अपने प्राणों में समाहित सीता देवी के शोक की कल्पना मात्र से श्रीराम कितने शोकाकुल हो रहे हैं, इसका विस्तृत वर्णन करते हुए हनुमान् कहते हैं—"देवी, आपके विरह से व्याकुल श्रीरामचंद्र को न अन्न का आनन्द मिलता है और न निद्रा का सुख। स्वादिष्ट व्यंजन भी उनके लिए अरुचिकर प्रतीत होते हैं और शय्या पर लेटकर भी वे सो नहीं पाते। आपकी स्मृति में तल्लीन प्रभु को इस बात का पता तक नहीं चलता कि उनके शरीर पर डाँस, मच्छर, साँप आदि चढ़कर रेंग रहे हैं। उनका ध्यान सदा आप ही में संलग्न रहता है। उनको तो नींद आती ही नहीं, पर यदि संयोग से थोड़ी देर के लिए पलकें झप भी गईं तो भी तुरन्त 'सीता-सीता' कहकर मृदु-मधुर वाणी के साथ वे जाग उठते हैं।"

स्वामी की इस अनन्यता और आतुरता को जानकर जानकी प्रसन्नता से मिश्रित विषण्णता का अनुभव करती हैं—जैसे अमृत में विष मिला दिया गया हो। पति के अनन्य प्रेम की अधिकारिणी बनने पर वह गर्व का अनुभव करती हैं, पर विधि के वैपरीत्य पर विचार कर विषाद में विलीन भी हो जाती हैं। क्रूर रावण ने जानकी को अपने मन को समझाने के लिए एक वर्ष का समय दिया है जिसमें दसवाँ महीना अब चल रहा है। इसलिए दो मास के अंदर अंदर रावण का संहार और सीता का उद्धार हो जाना चाहिए। यह कैसे संभव हो सकेगा, इसी बात पर सोचते सोचते सीता का मन आशा और निराशा के बीच दोलायमान हो जाता है। हनुमान् के आगमन से वह आश्वस्त हो जाती हैं और अच्छे दिन आरंभ होने का आभास प्राप्त कर लेती हैं। अपने अंतःकरण की शुद्धता और पतिदेव की गुणवत्ता पर अटल विश्वास रखने वाली मैथिली अपने मन की बात मारुति के सामने प्रकट करते हुए कहती हैं:—

आशंसेयं हरिश्रेष्ठ क्षिप्रं मां प्राप्स्यते पतिः ।
अंतरात्मा हि मे शुद्धस्तस्मिंश्च बहवो गुणाः ॥

हरिवर हनुमान्, मेरा मन कहता है कि मेरे स्वामी मेरे पास शीघ्र ही आ जाएँगे। मेरा अंतःकरण इसका प्रमाण है। निर्मल अंतःकरण में भविष्य का रूप स्पष्ट प्रतिभासित होता है। इसके अलावा, मेरे पति श्रीराम सर्वगुण संपन्न हैं। उनमें उत्साह, पौरुष, पराक्रम, करुणा, कृतज्ञता, प्रभविष्णुता आदि अनेक गुण विद्यमान हैं:—

उत्साहः पौरुषं सत्वमानृशंस्यं कृतज्ञता।
विक्रमश्च प्रभावश्च संति वानर राघवे ॥

लोकस्वामी राम के अलौकिक गुण-वैभव के अतिरिक्त जनस्थान में खर-दूषण समेत चौदह हज़ार राक्षसों के संहार का स्मरण कर रामपत्नी आश्वस्त तो हो जाती हैं, पर केवल दो मास की अवधि की बात मन में आते ही वह अधीर हो जाती हैं। वीरपत्नी की इस अधीरता को समझकर समीरकुमार कहते हैं– 'माता जी, आपका समाचार पाते ही श्रीराम तत्काल वानरसेना के साथ यहाँ आकर आपको असुरों के इस आतंक से मुक्त कर देंगे। यदि आप सहमत हों तो मैं आज ही आपको श्रीराम के श्रीचरणों तक पहुँचा सकता हूँ। आपको अपनी पीठ पर बिठाकर मैं समुद्र को पार कर सकता हूँ और पल भर में आप अपने पतिदेव के पदाभ्याश में पहुँच जाएँगी। मैं समस्त लंका को रावण समेत अपनी पीठ पर उठाकर सागर पार सकता हूँ। इसलिए संकोच न करें, मेरे साथ चलिए। जैसे चंद्रमा के साथ रोहिणी का संयोग घटित होता है, वैसे ही मैं आपको श्रीराम से युक्त बना सकता हूँ।'

पृष्ठमारोह मे देवि मा विकांक्षस्व शोभने।
योगमन्विच्छ रामेण शशांकेनेव रोहिणी ॥

हनुमान् के इस अद्भुत प्रस्ताव को सुनकर जानकी चकित हो जाती हैं। हर्ष और आश्चर्य से रोमांचित मैथिली मारुतनंदन को मधुर शब्दों में समझाने लगती हैं: 'वत्स हनुमन्, लंका से मेरे स्वामी तक का मार्ग काफी लंबा है और तुम इतने लघुकाय हो। इसलिए अपनी कपि-सुलभ भावुकता छोड़ दो।' हँसी में ही सही, माता के कहे इन वचनों से मारुतनंदन अपने को अपमानित अनुभव करते हैं। पर इसमें माता का कोई दोष नहीं है। अभी तक माता को मालूम नहीं है कि समुंदर-पारकर लंका का चप्पा चप्पा घूमकर अशोक-वाटिका में आ घुसा यह बंदर वास्तव में कितना पराक्रमी है। इसलिए हनुमान् अपने वास्तविक स्वरूप को प्रकट करने लगते हैं। सोने के पहाड़ की तरह अपने शरीर को बढ़ाकर महावीर हनुमान् सीता-माता से कहते हैं:–

सपर्वत-वनोद्देशां साट्टप्राकारतोरणाम्।
लंकामिमां सनाथां वा नयितुं शक्तिरस्ति मे ॥

(माता, मैं केवल आपको ही नहीं, बल्कि आवश्यकता पड़ने पर समस्त लंका को भी यहाँ के वन-उपवन, पर्वत-प्राकार भवन-बंदनवार आदि के साथ अपने कंधों पर उठाकर रावण-सहित सारी नगरी को श्रीराम के चरणों में रख सकता हूँ।)

हनुमान् के मुँह से ये बातें सुनकर कमलनयनी जानकी अपने विशाल नेत्रों से समीरकुमार को आपादमस्तक देखती हैं और मुस्कुराते हुए कहती हैं:– "महाकपे, मैं जानती हूँ कि तुम कितने समर्थ हो और सशक्त हो। अनिल के समान तुम गतिशील हो और अनल के समान तेजस्वी हो। तुम्हारे सत्वर गमन तथा सक्षम नयन में मुझे पूरा विश्वास है। फिर भी इस समय इस प्रकार तुम्हारे साथ मेरा यहाँ से चल देना उचित नहीं है:–

अयुक्तं तु कपिश्रेष्ठ मया गंतुं त्वया सह

यह कार्य अयुक्त क्यों हैं, इसके लिए जनकनंदिनी जो तार्किक और तात्त्विक कारण प्रस्तुत करती हैं, वे अत्यंत मननीय हैं। सबसे पहले अपनी स्त्री-सुलभ भीरुता का ललित गंभीर परिचय देते हुए धर्मशीला जानकी कहती हैं: 'हनुमन्, तुम तो बलवान् हो, पर मैं अबला हूँ। जब तुम मुझे अपनी पीठ पर बिठाकर वायुवेग से आकाश के मार्ग पर चल पड़ोगे तो अंतरिक्ष में मैं अपने को असुरक्षित पाकर डर के मारे समुद्र में गिर सकती हूँ। महासागर के भयानक जीव मुझे खा जाएँगे। यह भी संभव है कि मुझे तुम्हारे साथ जाते हुए देखकर रावण के किंकर तुम्हारा पीछा करें और भयंकर युद्ध का तुम्हें सामना करना पड़े। उस दशा में तुमको अपनी और मेरी दोनों की रक्षा करना दुष्कर हो जाएगा। ऐसी स्थिति में मैं फिर रावण के बंधन में पड़कर पहले से भी अधिक दयनीय दशा में

पहुँच सकती हूँ। ये घोर राक्षस मुझे कहीं गुप्त स्थान में भी रख सकते हैं जहाँ पर आप लोग पहुँच ही न पाएँ। इसलिए मेरा तुम्हारे साथ जाना उचित नहीं है।'

राम-मिलन के क्षणिक प्रलोभन में आकर हनुमान् के साथ चलने में अनौचित्य का एक और कारण बताते हुए पतिप्राणा जानकी कहती हैं: वानरवीर हनुमान्, मुझे तुम्हारे बल, पराक्रम और साहस का पूरा पूरा भरोसा है। पर मेरी एक विवशता है। मैं अपने स्वामी राम को छोड़कर और किसी का अपनी इच्छा से स्पर्श नहीं कर सकती। दुष्ट रावण ने बलात् मेरे शरीर को अपने कुटिल स्पर्श से पांसुल बनाया था। उस समय मैं असहाय और निरुपाय थी। इसलिए मेरे स्वामी स्वयं यहाँ आकर रावण को रण में मारकर मुझे ले जाएँ तो सर्वथा उचित होगा।' विदेहनंदिनी का विवेकशील वाक्य है:—

यदि रामो दशग्रीवमिह हत्वा सराक्षसम्।
मामितो गृह्य गच्छेत तत् तस्य सदृशं भवेत्॥

रामपत्नी को पूरा विश्वास है कि उनके स्वामी के लिए वह कोई दुष्कर कार्य नहीं है। देव, गंधर्व, नाग, यक्ष, राक्षस आदि रणरंग में राम के सामने खड़े तक नहीं हो सकते। इन्द्रतुल्य पराक्रम वाले रामचन्द्र अपने भाई लक्ष्मण के साथ युद्ध क्षेत्र में खड़े हो जाएँ तो प्रभंजन और पवन के संयोग से प्रकट होनेवाला प्रलयकालीन दृश्य प्रस्तुत होगा। इसलिए सीता-माता मारुतनंदन से अनुरोध करती हैं कि ऐसा कोई उपाय करें जिससे स्वामी राम अपने भाई लक्ष्मण और समस्त वानरसेना के साथ लंका में पहुँचे और अपनी पीड़ित पत्नी को आसुरी आतंक से मुक्त करें।

जनकनंदिनी के ये सात्विक वचन सुनकर समीरकुमार केवल प्रसन्न ही नहीं हो जाते हैं, बल्कि उनको पूरा पूरा विश्वास हो जाता है कि उनके सामने जो देवी विराजमान हैं, वे साक्षात् राममहिषी ही हैं। अपने इस आत्मप्रत्यय को प्रकट करते हुए वे कहते हैं:—

एतत् ते देवि सदृशं पत्न्यास्तस्य महात्मनः।
का ह्यन्या त्वामृते देवि ब्रूयाद् वचनमीदृशम्॥

(यह बात महात्मा राम की महीयसी पत्नी के ही योग्य है जो आपने कही है। इस प्रकार की वाणी और किसी के मुँह से निकल ही नहीं सकती।)

वाणी में प्राणी का व्यक्तित्त्व कैसे व्यंजित हो पाता है, यह हनुमान् जैसे वाणी के मर्मज्ञ ही समझ पाते हैं। आंजनेय का मन प्रकृत्या अन्वेषणशील है, तभी तो सर्वांतर्यामी राम ने समीरज को सर्व समर्थ समझकर सीतान्वेषण में समायुक्त किया है। अन्वेषण के प्रथम चरण में हनुमान् अन्वेष्यमाण व्यक्ति — सीता को आश्वस्त करने का प्रयास करते हैं और दूसरे चरण में स्वयं अपने को इस बात से आश्वस्त करने की चेष्टा करते हैं कि लंका में जिस देवी का उन्होंने साक्षात्कार कर लिया है, वह साक्षात् रामपत्नी सीता हैं। इसी चेष्टा के उपक्रम के रूप में वह जानकी के सामने यह प्रस्ताव रखते हैं कि वह चाहें तो उनकी पीठ पर बैठकर तत्काल राम के पास पहुँच सकती हैं। जब मैथिली बड़ी कुशलता के साथ इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर देती हैं तब हनुमान् को विश्वास हो जाता है कि यह सचमुच श्रीराम की सहधर्मचारिणी सीता हैं।

अपनी इस धारणा को और सुदृढ़ बनाने के लिए रामदूत रामपत्नी से अभिज्ञान का कोई प्रतीक माँगते हैं जिसे देखकर या सुनकर श्रीराम को विश्वास हो जाए कि हनुमान् सचमुच सीता का संदर्शन कर आए हैं। इस पर जानकी चित्रकूट का एक ऐसा मार्मिक प्रसंग हनुमान् को सुनाती हैं जो जानकीवल्लभ राम और रामपत्नी जानकी को छोड़कर और किसी को मालूम नहीं है। चित्रकूट पर्वत के निम्न भाग में प्रागुत्तर दिशा के एक रमणीय स्थान पर सीता और राम आराम कर रहे थे। मधुर वनराजी की रमणीयता पर मुग्ध होकर दोनों बारी-बारी से एक दूसरे की गोद में विश्राम करते हैं। इतने में इंद्र का पुत्र जयंत कौए का रूप धारण कर वहाँ पहुँचता है और रामपत्नी के मनमोहक लावण्य को देखकर काममोहित होता है। वह बहाना बनाकर

बार-बार सीतादेवी के अंग अंग पर चोंच मारने लगता है। काफी देर तक रामपत्नी उसकी उपेक्षा करती हैं और राम इसे परिहास समझते हैं। लेकिन अचानक अपनी प्रिय पत्नी के स्तनांतर से रक्त की बूदें टपकते हुए देखकर राम क्रोधाविष्ट हो जाते हैं और उस कौए के छद्मवेष को समझकर उस पर ब्रह्मास्त्र का प्रयोग करते हैं। तीनों लोकों में उसको कहीं चैन नहीं मिलता है और अन्त में राम की शरण में आना पड़ता है। दयामय राम उसकी एक आँख को नष्ट कर प्राण दान करते हैं। इस घटना का वर्णन करते करते वैदेही को संदेह होता है कि अपनी पत्नी की मान रक्षा के लिए साधारण कौए पर ब्रह्मास्त्र का प्रयोग करनेवाले राम रावण की उपेक्षा क्यों और कैसे कर रहे हैं। इस आशंका का समाधान प्रस्तुत करते हुए पवन-कुमार कहते हैं, कि :–

त्वच्छोकविमुखो रामो देवि सत्येन मे शपे
रामे दुःखाभिपन्ने च लक्ष्मणः परितप्यते।

(देवी, मैं सत्य की शपथ लेकर कहता हूँ कि आपके स्वामी श्रीराम को इस बात का बिल्कुल पता नहीं है कि आप कहाँ हैं और कितनी शोकाकुल हैं। फिर भी आपके शोक की परिकल्पना से राम का मन लौकिक सुख से पराङ्मुख हो चुका है। वे अपने भाई लक्ष्मण के साथ आपकी और केवल आपकी चिन्ता में डूबे हुए हैं।)

इसके पश्चात् आश्वासन के स्वर में अंजनानंदन कहते हैं:–

कथंचिद् भवती दृष्टा न कालः परिशोचितुम्।
इमं मुहूर्त्तं दुःखानां द्रक्ष्यस्यंतमनिंदिते॥

(किसी तरह अब आप का पता लग गया है। मैंने आपके दर्शन कर लिए हैं। अब चिन्ता की कोई बात नहीं। इसी क्षण आपका दुःख दूर हो जाएगा। अब आप निंदा की शिकार न बनकर अभिनंदन की ओर अग्रसर हो जाएँगी।)

अन्त में हनुमान् जानकी से संदेश के कुछ वाक्य माँगते हैं जिनको सुनकर राम आश्वस्त हो जाएँ। इस पर राजकुमारी सीता अपने स्वामी राम और देवर लक्ष्मण को संबोधित कर अभिवादन, अभिनंदन, आश्वासन, अनुनय, अधियाचना आदि अनेक मनोभूमिकाओं को प्रकट करनेवाले मार्मिक वचन कहती हैं। इस संदर्भ में विशेष ध्यान देने की बात यह है कि रामपत्नी अपने स्वामी राम को संबोधित कर जितनी बातें कहती हैं, उनसे अपेक्षाकृत बहुत अधिक बातें कहती हैं रामानुज लक्ष्मण को संबोधित कर। इसके पीछे रहस्य यह है कि मारीच की पुकार सुनकर सीता ने लक्ष्मण से जो दारुण वचन कहे थे, उन्हीं का परिणाम था – रावण द्वारा सीता का अपहरण। यदि सीता के मुँह से इतनी कड़वी बातें नहीं निकलतीं तो लक्ष्मण सीता को अकेली छोड़ कर नहीं जाते और न रावण को आश्रम में प्रवेश करने का अवसर मिलता। ये सब बातें रामपत्नी के मन में बार-बार पश्चात्ताप की भावना उत्पन्न करती हैं और विशेषकर लक्ष्मण को संदेश प्रेषित करते समय यह अनुताप उनको और अधिक परितप्त बना देता है। इसीलिए राजभोग, राजभवन, माता, पिता सबको छोड़कर राम के साथ स्वेच्छा से वन की ओर प्रस्थान करने वाले लक्ष्मण को वह धर्मात्मा, मनस्वी, प्रियदर्शन, महाबाहु, कोमल, पावन, सक्षम, सेवापरायण आदि अनेक विशेषणों से विभूषित करती हैं और अन्त में अपने अंतरंग में यह मानती हैं कि राम के मन में लक्ष्मण के प्रति सर्वाधिक प्रेम है और इस परम प्रेम की पात्रता स्वयं अपने में भी उतनी मात्रा में नहीं है जितनी कि लक्ष्मण ने अपने शुभ लक्षणों से अर्जित कर ली है।

लक्ष्मिवर्द्धन लक्ष्मण की भूरि-भूरि प्रशंसा करने के बाद राममयी जानकी अपने स्वामी से यह कहने को हनुमान् से कहती हैं:–

इदं ब्रूयाश्च मे नाथं शूरं रामं पुनः पुनः।
जीवितं धारयिष्यामि मासं दशरथात्मज॥
ऊर्ध्वं मासान्न जीवेयं सत्येनाहं ब्रवीमि ते॥

(हनुमान्, मेरे स्वामी से कहना कि मैं एक मास

तक अपने प्राणों का धारण कर सकती हूँ, उससे आगे मैं जीवित नहीं रह सकती। दशरथनंदन इसको सत्य वचन समझकर मेरी रक्षा करें।)

इतना कहकर शोकाकुल मिथिलेशकुमारी भावविभोर होकर अपने वस्त्र में निक्षिप्त चूड़ामणि को निकालती हैं और उसे राम को देने के लिए हनुमान् को सौंपती हैं। इस पर हनुमान् अत्यंत प्रसन्न होते हैं। जानकी के करकमलों से प्रदत्त दिव्य चूड़ामणि को वह अपनी उँगली में सँजो लेते हैं, सीता की परिक्रमा करते हैं और हाथ जोड़कर माता के पार्श्व भाग में आज्ञा की प्रतीक्षा में खड़े रहते हैं। महार्ह मणि को पाकर महान् हर्ष से पुलकित पवनसुत अपने को कृतकृत्य अनुभव करते हैं और उनका अपरिमेय हर्ष उनको तत्काल मनसा राम और लक्ष्मण के पास पहुँचा देता है। सीतापति के आशीर्वाद का संबल लेकर सीता-पद की खोज में चल पड़े आंजनेय का अन्वेषण इसी बिन्दु पर सफल प्रतीत होता है।

चूड़ामणि की महिमा का वर्णन करते हुए नारीमणि सीता कहती हैं:—

मणिं दृष्ट्वा तु रामो वै त्रयाणां संस्मरिष्यति।
वीरो जनन्या मम च राज्ञो दशरथस्य च॥

(इस मणि को देखकर राम को तीन व्यक्तियों का एक साथ स्मरण हो आएगा – मेरी माता का, मेरा और अपने पिता का।)

वास्तव में यह मणि सीताराम के पाणिग्रहण का परम पावन स्फुरण कराता है। इस दृष्टि से धरती और आकाश, गंध और माधुर्य तथा सत्य और सौन्दर्य के प्राकृतिक समागम की भांति प्रापंचिक यथार्थ को अपार्थिव परमार्थ का रूप प्रदान करनेवाले सीता-राम समागम का यह दिव्य चूड़ामणि भव्य प्रतीक है।

लंका-यात्रा के फलस्वरूप प्राप्त परम फल को प्राप्त कर पवनपुत्र हनुमान् प्रस्थान के लिए अपने मन को तैयार कर लेते हैं और माताजी से आज्ञा माँगते हैं। पर जैसे ही हनुमान् प्रस्थान की बात कहते हैं, जानकी फिर शोकाकुल होती हैं। अब तक आंजनेय के मुँह से श्रीरामचन्द्र की बातें सुनकर उनका मन आश्वस्त हो रहा था। अब उनके चले जाने के बाद फिर वही वेदना. वही शून्यता और वही प्रतीक्षा आरंभ होगी। लेकिन जब तक हनुमान् सीता की कुशल वार्ता लेकर श्रीरामचन्द्र के पास नहीं पहुँचेंगे तब तक श्रीराम का लंका में आगमन संभव नहीं है। इसीलिए रामपत्नी किसी प्रकार अपने मन को समझाकर हनुमान् को बिदा करने के लिए अपने को तैयार कर लेती हैं। अपने को राम से मिलाने में सक्षम एकमात्र सूत्र हैं – पवनपुत्र। यह बात कई शब्दों में कई बार कहकर भी जनकनंदिनी थकती नहीं और अन्त में फिर एक बार कहती हैं:—

यथा च स महाबाहुर्मां तारयति राघवः।
अस्माद् दुःखांबु संरोधात् त्वं समाधातुमर्हसि॥

(हनुमन्, कृपया ऐसा कुछ उपाय सोच लेना जिससे जल्दी से जल्दी राम मेरा इस शोकसागर से उद्धार कर मुझे फिर अपना बना लें। यह कैसे संभव है, तुम जानो और मेरे स्वामी राम जानें।)

माता की उद्विग्न मनस्थिति को ठीक ठीक पहचानकर पवन-पुत्र अनेक प्रकार के आश्वासन के शब्दों से उनको सांत्वना देते हुए एक मार्मिक बात कहते हैं:

मद्विशिष्टाश्च तुल्याश्च संति तत्र वनौकसः।
मत्तः प्रत्यवरः कश्चिन्नास्ति सुग्रीव-सन्निधौ॥

(माँ, मेरी बात पर विश्वास करो, सुग्रीव के अधीन जितने वानर हैं, वे साधारण वानर नहीं हैं। वे मुझसे अधिक बलशाली हैं, कुछ मेरे समान पराक्रमी हैं, पर कोई भी मुझसे कम नहीं है।)

सांत्वना का यह वाक्य एक तरफ हनुमान् की सात्विक विनम्रता को मृदु मधुर भाषा में व्यक्त करता है तो दूसरी तरफ माता के मनोबल को बढ़ाने में यह मंत्र का काम करता है। इसके साथ-साथ हनुमान् राम और लक्ष्मण की भी यथोचित प्रशंसा करते हुए कहते

हैं:—

रामाद् विशिष्टः कोऽन्योऽस्ति कश्चित् सौमित्रिणा समः ।
अग्नि-मारुत-कल्पौ तौ भ्रातरौ तव संश्रयाद्॥

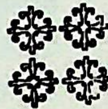
(इस संसार में राम से बढ़कर महान् और कोई नहीं है और सुमित्रानन्दन लक्ष्मण की समता करनेवाला भी कोई नहीं है। दोनों आग और हवा के समान प्रोज्ज्वल और प्रचंड हैं और दोनों आपके लिए सब कुछ करने के लिए तैयार हैं।)

अन्त में विदाई के समय जानकी फिर एक बार चित्रकूट के विचित्र प्रसंग का स्मरण कराती हैं और साथ ही एक और छोटे प्रसंग की याद दिलाती हैं जब राम ने सीता के ललाट पर मनःशिला से तिलक लगाया था। हनुमान् भी अपने आश्वासन और सांत्वना को बार-बार दुहराते हुए माता जी को विश्वास दिलाते हैं कि अब दिन बदलते हुए देर नहीं लगेगी।

जब हनुमान् प्रणतिपूर्वक आज्ञा लेकर प्रस्थान करने लगते हैं तो माता अपनी मंगलमय वाणी में उनको आशीर्वाद देते हुए कहती हैं:—

इदं च तीव्रं मम शोक वेगं
रक्षोभिरेभिः परिभर्त्सनं च ।
ब्रूयास्तु रामस्य गतः समीपं
शिवश्च तेऽध्वास्तु हरिप्रवीर ॥

(असुर-समाज के आतंक से ग्रस्त मेरा यह शोक अत्यंत तीव्र और गतिशील है। यह बात राम के पास जाकर ठीक-ठीक बताना। तुम्हारा मार्ग मंगलमय हो।)



55. जयनिनाद, त्रासन, प्रियबंधन

प्रणति मात्र से प्रसन्न होनेवाली परम साध्वी सीता की प्रशस्त वाणी से प्रतिपूजित होकर लौटने की बात सोचते सोचते पवनपुत्र के मन में एक विचित्र विचार उत्पन्न होता है। वह सोचने लगते हैं— जैसे आया, वैसे गया तो क्या हुआ? कुछ ऐसा काम करके जाना चाहिए जिससे लंकावासी समझ जाएँ कि कौन आया है और क्यों आया है। इसके अलावा, राक्षसराज रावण को भी पता लगना चाहिए कि श्रीराम का संदेश लेकर उनका दूत लंका में आया है और अब जल्दी ही सत्यपराक्रम राम से लंका आक्रान्त होने वाली है। रामदूत हनुमान् की लंका-यात्रा पूर्ण रूप से सफल तभी होगी जब सीता माता के आश्वस्त होने के साथ-साथ लंका नगरी संत्रस्त हो। दोनों कार्य एक दूसरे के पूरक हैं। इसीलिए हनुमान् ने संकल्प किया कि श्रीराम द्वारा सौंपे गए प्रधान कार्य में बाधा उत्पन्न किए बिना उसे आगे बढ़ाने का प्रयास किया जाए। अपने निश्चितार्थ को निश्चित शब्दों में व्यक्त करते हुए कार्यशूर महावीर अपने आपसे कहते हैं :—

कार्ये कर्मणि निवृत्ते यो बहून्यपि साधयेत् ।
पूर्व कार्याविरोधेन स कार्यं कर्तुमर्हति ॥

जब प्रधान कार्य विधिवत् सम्पन्न हो जाता है तब एक साथ अनेक कार्य सम्पन्न करने में सक्षम कार्यसाधक को चाहिए कि वह कर्तव्य कर्म के पूर्वार्द्ध में विरोध या अवरोध उत्पन्न किये बिना ; अपने कार्य को बहुलार्थ साधक बनाने का प्रयास करे।

इससे हनुमान् की सूक्ष्मबुद्धिता, कार्यकुशलता और प्रत्युत्पन्न मति का पता चलता है। पर जो कुछ करना है, जल्दी करना है क्योंकि सम्पन्न कार्य के संबंध में स्वामी को अविलम्ब निवेदित करना भी आवश्यक है। सारी रात लंका की छानबीन करने में बीत चुकी है। प्रभात के समय प्रभावती माता के दर्शन हुए हैं। अब दिन बढ़ने लगा है। संध्या से पहले प्रतिप्रयाण समाप्त कर अपने इष्ट मित्रों के पास पहुँचना चाहिए जो कि हनुमान् के पुनरागमन तक एक ही पैर के बल खड़े रहने का संकल्प कर उनकी प्रतिक्षण सातुर प्रतीक्षा कर रहे हैं।

इन सब बातों को दृष्टि में रखकर कुशाग्रमन हनुमान् पलभर में सारी योजना बना लेते हैं जिससे लंका की जनता भयभीत हो, रावण संत्रस्त हो और सीता माता के शोक-निवारण का मार्ग सुकर बने। सामने सुंदर प्रमदावन दिखाई देता है। हरे-भरे वृक्ष, मीठे मीठे फल और उनकी रखवाली करने वाले सायुध राक्षस-राक्षसियों को देखकर हनुमान् सोचते हैं कि इस वन का विध्वंस किया जाए ताकि उनकी भूख मिटे और राक्षस-समाज में आतंक छा जाए। जैसे ही इस आकस्मिक आतंक का समाचार रावण तक पहुंचेगा, वैसे ही उनको रावण से मिलकर बातचीत करने का अवसर मिलेगा।

इस समस्त योजना का श्रीगणेश प्रमदावन के विध्वंस से होता है। प्रभंजन की भांति पवनपुत्र प्रमदावन में प्रवेश कर प्रहरियों के देखते ही देखते समस्त वन को उजाड़ डालते हैं और उस महावन के बंदनवार पर भोले शंकर की तरह बैठ जाते हैं। रावण

के किंकर उस भोले बंदर को देखकर चकित हो जाते हैं। राक्षसियाँ त्रस्त होकर सीता के पास जाकर अभ्यागत वानर के सम्बन्ध में जानने का प्रयास करती हैं। समस्त वन का सर्वनाश कर सरस मंदहास की दुस्सह वर्षा करने वाले रामदूत से भी अधिक भोलीभाली मृखाकृति धारण कर रामपत्नी कहती हैं :–

रक्षसां कामरूपाणां विज्ञाने का गतिर्मम।
यूयमेवास्य जानीत योऽयं यद्वा करिष्यति।।

अपनी इच्छा से मनमानी आकृति धारण करने वाले इन राक्षसों की माया मैं क्या जानूँ। आप लोग इनके बारे में मुझसे अधिक जानती होंगी। मुझे क्या पता कि यह वानर कौन है, क्यों आया और क्या करने जा रहा है।

वीर-वानर की विध्वंसलीला की बात धीरे धीरे जन-कंठ से दशकंधर तक पहुँच जाती है। सौंदर्य-प्रेमी रावण लंका के सबसे रमणीय उपवन के विनाश का समाचार सुनकर पहले ग्लानि, फिर क्षोभ और अंत में भय का शिकार होता है। उसके दोनों नेत्रों से आँसू की बूँदें टपक पड़ती है। फिर दूसरे ही क्षण में अपने सत्वर कर्तव्य के प्रति सजग होकर वह अपने पराक्रमी किंकरों को आज्ञा देता है कि वे तत्काल जाकर उस उद्धत वानर को पकड़कर ले आएँ। कुछ ही क्षणों में वानर वीर हनुमान् को क्रूरकर्मा असुरयोद्धा भंयकर मारण-आयुध लेकर घेर लेते हैं। इससे रामदूत त्रस्त नहीं होते, बल्कि आश्वस्त हो जाते हैं कि अब अभीष्ट की सिद्धि में विलंब नहीं होगा। इसी आश्वासन को आनंदमय अक्षरों में संग्रथित कर समीरज कहते हैं :–

जयत्यतिबलो रामो लक्ष्मणश्च महाबलः।
राजा जयति सुग्रीवो राघवेणाभिपालितः।।
दासोऽहं कोसलेन्द्रस्य रामस्याक्लिष्ट कर्मणः।
हनुमान् शत्रुसैन्यानां निहंता मारूतात्मजः।।
न रावण सहस्रं मे युद्धे प्रतिबलं भवेत्।
शिलाभिश्च प्रहरतः पादपैश्च सहस्रशः।।
अर्दयित्वा पुरीं लंकां अभिवाद्य च मैथिलीम्।
समृद्धार्थो गमिष्यामि मिषतां सर्वरक्षसाम्।।

अतिबलशाली राजा राम की जय हो, महाबली लक्ष्मण की जय हो, राम के संरक्षण में सुरक्षित वानरराज सुग्रीव की जय हो। सत्यपराक्रम राम का किंकर मैं हनुमान् नाम का वानर अपने राजा सुग्रीव की आज्ञा का पालन करते हुए स्वामी रघुवीर का कार्य सम्पन्न करने यहाँ आया हूँ। मैं पवन-पुत्र हूँ। शत्रुओं का संहार करना मेरे लिए अत्यंत सुगम कार्य है। जब मैं रणभूमि में खड़ा होकर पत्थर और पेड़ बरसाने लगूँगा तो हजार रावण भी मेरा सामना नहीं कर पाएँगे। सारी लंका को समाप्त कर जनकनंदिनी को सान्त्वना देकर उनका अभिनंदन करूँगा और उनका आशीर्वाद लेकर मैं उनके स्वामी के पास पहुँच जाऊँगा। इस कार्य-निर्वहण में मेरी सफलता अवश्यंभावी है। मैं कृतार्थ, चरितार्थ और समृद्धार्थ बनकर लौटूँगा।

हनुमान् का यह जयजयकार सारी लंका में गूँज उठता है। इस जयघोष के साथ साथ वह अपनी पूँछ फटकार कर सारी लंका को प्रतिध्वनित करने लगते हैं। इन चार श्लोकों को महावीर हनुमान् बार-बार दुहराते हैं और विशेषकर शत्रुओं पर आक्रमण करते समय आवेशित स्वर में यह आत्मगीत सुनाते हैं। इससे दुहरा प्रयोजन सिद्ध होता है– अपना आनंदवर्द्धन और अपने सामने उपस्थित शत्रुवर्ग के मन में आतंक का प्रसारण। रावण के किंकर भी अपने प्रभु की आज्ञा का पालन करने में तत्पर होकर हनुमान् पर तीर पर तीर बरसाते हैं। पर बुद्धिशाली पवनपुत्र प्रमदावन के फाटक पर पड़ा हुआ एक भयंकर परिघ उठाकर पलभर में सबको समाप्त कर देते हैं। बचे खुचे राक्षस अपने स्वामी के पास जाकर वानर-वीर के असाधारण पराक्रम का वर्णन करते हैं। राक्षसराज रावण को संदेह होता है कि यह कोई साधारण वानर नहीं है। इसीलिए प्रहस्त के पुत्र जंबुमाली को वानरवीर को पराजित कर पकड़ लाने के लिए भेजा जाता है।

इस बीच में वन-विशारद हनुमान् प्रमदावन के साथ साथ चैत्यप्रासाद को भी नष्ट कर देते हैं। अशोक-वाटिका का समस्त वातावरण आशंका, आतंक और हाहाकार से पर्याकुल हो जाता है। पवनपुत्र अपने

ऊपर प्रहार करने के लिए प्रचंड अस्त्र शस्त्रों के साथ आए हुए चैत्यपालों को सतर्क करते हुए सुग्रीव की सेना के अपरिमेय बल तथा श्रीरामचन्द्र के अप्राकृतिक पराक्रम का गुणगान करते हैं और बार-बार अपने विजय-मंत्र को दुहराते हैं।

इतने में प्रहस्तपुत्र जंबुमाली भी चैत्यपालों के बीच आ खड़े होते हैं। शत्रुसंहार में सिद्धहस्त प्रहस्त-पुत्र को देखकर पवनपुत्र प्रसन्न हो जाते हैं और उनके द्वारा प्रयुक्त अस्त्र-शस्त्रों से आहत होकर हतोत्साहित नहीं होते बल्कि समरवीर का सामना करने में उल्लास का अनुभव करते हैं। जिस परिघ को सौ बार घुमाकर अभी अभी वातात्मज ने चैत्यप्रासाद तथा चैत्यपालों को भस्मसात् कर दिया है, उसी परिध से वे जंबुमाली को भी यमराज के दरबार में पहुँचा देते हैं।

प्रहस्त-पुत्र की पराजय तथा मृत्यु का समाचार पाकर लोकरावण रुष्ट हो जाता है और अपने अमात्य के सात पुत्रों को रण-रंग में भेज देता है। परन्तु बजरंगबली के सामने ये अमात्य पुत्र भी टिक नहीं पाते। मंत्रिपुत्रों की शर-वर्षा की परवाह किए बिना पर्वतराज के समान बलिष्ठ हनुमान् अंतरिक्ष में विचरण करने लगते हैं और वहीं से सातों कुमारों को समाप्त कर देते हैं। कुछ लोग उनके प्रहार से, कुछ लोग उनके निनाद से और कुछ लोग उनके भीकर आकार के दर्शन मात्र से हताहत हो जाते हैं।

अमात्य-पुत्रों की असफलता पर दुखी होकर राक्षसराज रावण अपने पाँच सेनापतियों को हनुमान् से लड़ने के लिए भेजते हैं और उनको रणनीति के रहस्यों से अवगत कराता है ताकि पवन-पुत्र के प्राणों का हरण करने में वे अपने प्राणों को खतरे में न डालें। अलौकिक बल-पराक्रम, रणकौशल तथा महती मनीषा का परिचय देने वाले महावीर हनुमान् का प्राण-हरण राक्षसराज के लिए अभीष्ट नहीं है, बल्कि उनका सजीव निग्रह और साक्षात् संदर्शन उनकी मनोकामना है। अपने स्वामी के इसी सुचिंतित संकल्प को साकार बनाने के लिए समरशूर पाँच सेनापति समीरज के पास पहुँचते हैं। पाँच सेनापतियों के नाम हैं— विरूपाक्ष, यूपाक्ष, दुर्धर, प्रघस और भासकर्ण। पाँचों सेनापति पाँच अग्नियों के समान पवनपुत्र पर सहसा आक्रमण करते हैं। पर महावीर हनुमान् भी बल, पराक्रम, बुद्धि, कौशल, उत्साह, उद्यम आदि किसी में उनमें से किसी से कम नहीं हैं। इसलिए सेनापतियों को देखते ही वह अपना जयघोष पुनः एक बार सुनाते हैं और फिर अपना शरीर बढ़ाने लगते हैं। सबसे पहले वह दुर्धर के रथ पर टूट पड़ते हैं जैसे पहाड़ पर बिजली टूट पड़ती है। देखते ही देखते दुर्धर का रथ चूर चूर हो जाता है और उसके प्राण महाप्राण में समा जाते हैं। कुछ ही क्षणों में अन्य चार सेनापतियों की भी यही दुर्दशा हो जाती है और यह दुरंत उदंत रावण के कानों तक पहुँच जाता है। सेनापतियों के संहार में समीरकुमार जिस समर-तंत्र का प्रयोग करते हैं, वह रावण के लिए भीतावह प्रतीत होता है। अश्वों को अश्वों से, हाथियों को हाथियों से, सिपाहियों को सिपाहियों से और रथों को रथों से नष्ट करने की विचित्र रणनीति असुर-सेना के लिए एकदम नई-सी लगती है, पर है बहुत सरल। बिना किसी हथियार के समस्त सेना का सर्वनाश हो जाता है।

अबकी बार राक्षसराज रावण अपने कुमार अक्ष को दुर्वार वानरवीर हनुमान् के निग्रह कार्य में नियुक्त करते हैं। समरवीर अक्षकुमार भी समाहित चित्त होकर समरांगण में प्रवेश करता है। समरभूमि को अपने स्वैर विहार से सुखद बनाने वाले समीरकुमार को देखते ही अक्षकुमार उनको तीन तीखे तीरों से युद्ध के लिए आमंत्रित करता है। कपिपुंगव और असुर कुमार के बीच घोर युद्ध होता है जिससे भयभीत होकर धरती काँप उठती है, सागर क्षुब्ध हो जाता है, आकाश गरज उठता है, सूर्य का तेज मंद पड़ जाता है, पहाड़ हिल जाते हैं और हवा अचानक रुक जाती है। जब अक्षकुमार समीरकुमार पर शर-वर्षा करने लगता है तो ऐसा लगता है कि किसी महान् पर्वत पर मूसलधार पानी बरस रहा हो। पर सूक्ष्मबुद्धि हनुमान् असंख्य तीरों के बीच में से रास्ता बनाकर अतंरिक्ष में पहुँच

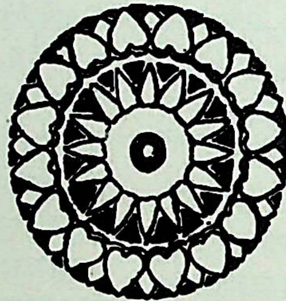
जाते हैं— अपने मनोवेग से अपना प्रचंड पराक्रम दिखाते हुए। अंतरिक्ष से ही अनिलात्मज अपने अपरिमेय भुज-बल से कुमार अक्ष के रथ को नष्ट कर देते हैं। फिर अक्षकुमार भी अंतरिक्ष में पहुँचकर युद्ध करने लगता है। अंतरिक्ष में चलने वाले इस युद्ध में मारुतनंदन अचानक अक्ष के पैर पकड़कर उसे धरती पर पटक देते हैं। इंद्रकुमार की तरह अनंत बल से युक्त अक्षकुमार को समरांगण में समाप्त कर समीरकुमार सुप्रसन्न मुखमुद्रा में प्रमदावन के तोरण पर जा बैठते हैं।

अब इंद्रजित् को छोड़कर रावण के सामने कोई विकल्प नहीं दिखाई देता। इंद्र पर विजय प्राप्त करने वाला असुरेन्द्र ही कपीन्द्र को काबू में पा सकता है, यही सोचकर राक्षसेन्द्र रावण इंद्रजित् को इस दुष्कर कार्य में नियुक्त करता है। अपने पिता की आज्ञा को शिरोधार्य मानकर असुरशिरोमणि इंद्रजित् पिता की परिक्रमा कर समरांगण की ओर प्रस्थान करता है। लंकानगरी की समस्त सेना में इंद्रजित् के समान योद्धा और कोई नहीं है। उसकी समरशूरता के सामने अमर-सेना भी नहीं टिक पाती। ब्रह्मा की आराधना कर उसने अमोघ अस्त्र-शस्त्रों का ज्ञान प्राप्त किया है। स्वयं रावण भी रणविद्या में इंद्रजित् की समता नहीं कर सकता। इसीलिए रावण अजेय आंजनेय को पराजित करने के लिए इंद्रजित् को भेजता है। पर्व दिन में अपार हर्ष और उल्लास से उमड़ उमड़ कर आकाश की ओर बढ़ने वाले सागर की भांति रावण का रणगर्वित पुत्र इंद्रजित् समरांगण में जाकर समीरज को देखता है।

इंद्रजित् का दर्प और दुर्दम्य तेज देखकर हरिवीर हनुमान् अपूर्व हर्ष का अनुभव करते हैं। जैसे ही रणपंडित इंद्रजित् अपने धनुष को खींचकर बिजली की गड़गड़ाहट से भी भयंकर घोष उत्पन्न करता है, वैसे ही हनुमान् अपने जलद-गंभीर स्वर से श्रीराम का विजय-घोष करते हैं। जब दोनों एक दूसरे के बल-पराक्रम को आंक कर अपने अपने वेग का प्रयोग करने लगते हैं तब सारी दिशाएँ धूलि-धूसरित हो जाती हैं। इंद्रजित् के धनुष से निकले हुए बाण जैसे ही मारुतनंदन को बेधने लगते हैं, वैसे ही बड़ी चतुराई और कौशल के साथ पवनपुत्र तीरों के बीच में से निकल जाते हैं और फिर इंद्रजित् पर हमला करने लगते हैं। पर दोनों में से कोई भी कभी भी पकड़ में नहीं आता। अंत में निराश होकर निशाचर वीर इंद्रजित् वानरवीर पर ब्रह्मास्त्र का प्रयोग करता है। आजंनेय जैसे अवध्य वीर को बाँधने का और कोई उपाय नहीं है, इसीलिए यह मार्ग अपनाया गया है। पर ब्रह्मास्त्र भी हनुमान् को अधिक समय तक बंधन में नहीं रख सकता। थोड़ी देर के लिए वह निश्चेष्ट होकर पृथ्वी पर गिर पड़ते हैं। लेकिन इंद्रजित के साथी इस रहस्य को नहीं जानते हैं। महावीर हनुमान् को सचमुच बंधन में ग्रस्त समझकर वे फूले नहीं समाते और आसुरी आनन्द के आवेग में जाकर वे अस्त्र-बंधन को अधिक सुदृढ़ बनाने के लिए हनुमान् को रस्सी आदि से भी बांध देते हैं। उनको मालूम नहीं है कि लौकिकबंधन के संसर्ग में ब्रह्म-बंधन कार्यकर नहीं होता। इंद्रजित् इस रहस्य को भलीभांति जानता है। इसलिए अपने सहयोद्धाओं के अविवेक पर पछताता है। पर साथ ही वह मन ही मन प्रसन्न होता है कि हनुमान् ब्रह्मास्त्र से मुक्त होकर भी सहर्ष अपने शत्रु के साथ रावण के राजभवन की ओर चल रहे हैं। किन्तु इसका परम रहस्य केवल पवनपुत्र को मालूम है।

सीता-माता का संदर्शन कर उनको सांत्वना के वचन सुनाकर किष्किंधा वापस जाने से राम की आज्ञा का पालन तो अवश्य होता है, पर रात ही रात में काम पूरा कर लंकेश्वर से बात किए बिना वापस चला जाना कायरता का लक्षण है। इसके अलावा रामदूत हनुमान् एक कुशल राजदूत भी हैं। स्वामी का संदेश केवल सीता-माता को सुनाने से काम नहीं चलता। दुष्ट रावण को शिष्टता की ओर प्रेरित करने वाला हितबोध कराकर उनको सुधरने का अवसर देना भी रामदूत का राजकीय दायित्व है। इसी दायित्व को निभाने के लिए पवनपुत्र रावणपुत्र के साथ राजभवन में पहुँचते हैं।

राजभवन में रावण का पूरा दरबार बैठा है – विचित्र वानर के साक्षात्कार की प्रतीक्षा में। राक्षसराज रावण का पार्थिव वैभव देखकर महावीर हनुमान् मन ही मन प्रसन्न होते हैं क्योंकि यह सारा वैभव अब दिन में देखने को मिल रहा है। रात के समय जो दृश्यादृश्य रूप में दिखाई पड़ा था अब प्रत्यक्ष हो गया है। दिन में देदीप्यमान तेज से विराजमान होने वाले प्रत्यक्ष देवता भास्कर की आभा से विभूषित राक्षसराज को वानरवीर देखते हैं और रावण भी अपने अभीष्ट बंधन में आप बँधकर आए हनुमान् को भी सस्पृह तथा सतर्क नेत्रों से देखता है। दोनों का संभाषण पहले नयनों के माध्यम से होता है और बाद में यह काम वचन कर लेते हैं। दोनों से जो काम नहीं हो पाता, वह उच्छ्वास और निःश्वास के माध्यम से हो जाता है।



56. संभाषण, संदीपन, संभ्रम

पवन-पुत्र हनुमान् राक्षसराज रावण के अपूर्व रूप-लावण्य, असाधारण धैर्य, अप्राकृत पराक्रम और अपरिमेय तेज को देखकर पहले विस्मित हो जाते हैं, पर थोड़ी ही देर में उनको लोकरावण पर दया आती है क्योंकि यह सारा वैभव सात्विकता, विनम्रता और साधुता के अभाव में गुण के स्थान पर दोष बन जाता है। रत्नजटित सिंहासन हिंसा का आसन बन जाता है। मणिमंडित किरीट क्रूरता का द्योतक बनता है। मंत्रियों की मंत्रणा मन के प्रदूषण से अमंगल की भूमिका बन जाती है। तीनों लोकों का स्वामित्व प्रदान करने में समर्थ रावण का पार्थिव वैभव धर्म के लोप से उसको अधःपतन की ओर ले जाता है। इसी दयनीयता की ओर संकेत करते हुए समीरकुमार कहते हैं:—

अहो रूपमहो धैर्यमहोसत्वमहोद्युतिः।
अहो राक्षसराजस्य सर्वलक्षणयुक्तता।।
यद्यधर्मो न बलवान् स्यादयं राक्षसेश्वरः।
स्यादयं सुरलोकस्य सशक्रस्यापि रक्षिता।।

धार्मिक बुद्धि के लोप से लोकरक्षक बनने में समर्थ रावण लोकभक्षक बन बैठता है। पर मदांधता के कारण वह प्रकृति का यह नियम समझ नहीं पाता कि रक्षा करनेवाले की सदा रक्षा होती है और भक्षण करनेवाला अपनी ही बुभुक्षा के अधीन स्वयं भक्षित बन जाता है। प्राकृतिक प्रशासन का यही पाठ पढ़ाने के लिए पवन-पुत्र राम-रक्षा का आश्वासन लेकर राक्षस राज के पास पहुँचते हैं। प्रमदावन का विध्वंस, ब्रह्मास्त्र का ग्रहण आदि इसी लक्ष्य को प्राप्त करने के नैमित्तिक साधन थे। पर महाकाल के मायाजाल में बँधा हुआ रावण इस विवेक को खो बैठता है और हनुमान् को अपना शत्रु समझता है।

पर रावण एकदम संस्कार-शून्य नहीं है। शंकर के अनन्य उपासक रावण को हनुमान् की मुखमुद्रा में नंदीश्वर की आकृति का आभास होने लगता है। उनका मन कहता है कि यह साधारण वानर नहीं है। या तो यह शंकर द्वारा प्रेषित नंदी है या बाणासुर है या इंद्र, वरुण, यम, कुबेर आदि में से किसी का भेजा हुआ दूत है। वह अपनी इस शंका को अपने मंत्री प्रहस्त के माध्यम से पुछवाता है। वह सीधे हनुमान् से बात करना नहीं चाहता, अपने मंत्री को माध्यम बनाकर बात करना चाहता है। पर हनुमान् सीधे रावण को संबोधित कर उसकी इस शंका को निराधार बताते हुए कहते हैं —"मैं न इंद्र का दूत हूँ, न यम का, न वरुण का और न धनेश का और न मुझे भगवान विष्णु ने अपनी माया का मूर्त रूप बनाकर यहाँ भेजा है। मैं केवल वानर हूँ, आपका सुन्दर वन और सुन्दर मुख देखने यहाँ आया हूँ। मेरे मार्ग में जो राक्षस बाधक बन गए, उनका मैंने संहार कर दिया। इसमें मेरा कोई दोष नहीं है। मुझे ब्रह्मास्त्र से बाँधने का प्रयास किया गया, पर उससे मैं कुछ ही क्षणों में छुटकारा पा गया। फिर भी आपके दर्शन की लालसा मुझे यहाँ ले आई। राम के काम से उन्हीं का दूत बनकर मैं यहां आया हूँ। उनका कुछ खास संदेश लेकर यहाँ आया हूँ जिसमें आपका और सबका कल्याण है।"

हरिपुंगव हनुमान् की ये बातें सुनकर अरिभीकर रावण चकित हो जाता है। पर हनुमान् निःसंकोच अपनी बात कहते जाते हैं —"सुग्रीव की आज्ञा लेकर राम का संदेश सुनाने मैं यहाँ आया हूँ। आपके लिए भ्रातृतुल्य सुग्रीव आपके कुशल-मंगल की कामना करते हैं। आपके अभ्युदय और निःश्रेयस की शुभ कामना से प्रेरित होकर हमारे स्वामी सुग्रीव ने आपके लिए कुछ हित की बातें कहीं है जिनको आपके यहाँ तक पहुँचाने मैं यहाँ आया हूँ। धर्म और अर्थ से युक्त यह संदेश आपके लिए इहलोक और परलोक का संसाधक बनेगा। इसलिए ध्यान से मेरी बात सुनें।

इस संक्षिप्त तथा सारगर्भित भूमिका के साथ हनुमान् अपनी संतुलित वाणी में स्वामी का संप्रेषित संदेश सुनाने लगते हैं। योग्य पिता के योग्य पुत्र दशरथनंदन राम ने पिता के संकेत मात्र से किस प्रकार राज्य का लोभ छोड़कर वनवास का वरण कर लिया, वनवास के समय रामपत्नी सीता का अपहरण किस प्रकार हुआ, पत्नी के अन्वेषण में राम अपने भाई लक्ष्मण के साथ ऋष्यमूक कैसे पहुँचे, वहाँ पर वानरवीर सुग्रीव के साथ उनकी मैत्री किस प्रकार हुई, अपने छोटे भाई सुग्रीव का राज्य और उनकी पत्नी को हड़पकर वीर्योत्सिक्त वाली ने कैसा जघन्य आचरण किया और उसके फलस्वरूप धर्मात्मा राम ने एक ही तीर से उसको प्राणों से मुक्त कैसे किया, ये सब बातें संक्षेप में समीरकुमार राक्षसराज रावण को सुनाते हैं। राज्यदाता, प्राणदाता और पत्नीप्रदाता राम के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करने के लिए सुग्रीव ने सीता के परिमार्गण हेतु चारों दिशाओं में असंख्य वानरसेना भेजी और इसी योजना के कार्यान्वियन में हनुमान् ने लंका में प्रवेश किया है, यह बात भी धीरवीर हनुमान् धीरे-धीरे रावण के कानों में डाल देते हैं। यह बात केवल साधारण बात नहीं है, पर वातात्मज के द्वारा प्रवर्तित महान् चक्रवात है जो रावण के अंतर्मन को तो विचलित कर ही देता है, पर साथ ही समस्त लंका को सर्वनाश की आशंका से आतंकित बना देता है। बात आगे बढ़ाते बढ़ाते वातात्मज यह भी कह देते हैं कि शतयोजन व्यापी सागर पारकर वह लंका में पहुँचे और अशोक वाटिका में उन्हें सीता माता के दर्शन भी हो चुके हैं। इसी सूचना के साथ समीरकुमार राक्षसराज को सतर्क और सावधान करते हुए यह भी बता देते हैं कि परदारा का अपहरण करना रावण जैसे पराक्रमी और बुद्धिमान् के लिए शोभा नहीं देता और सत्यपराक्रम राम से शत्रुता मोल लेना खतरे से खाली नहीं है। राम की अजेयता का रोमांचक वर्णन करते हुए पवनपुत्र कहते हैं कि राम के सम्मुख खड़े होकर लड़ने की क्षमता रखनेवाला तीनों लोकों में कोई नहीं है। चतुरानन ब्रह्मा, त्रिनयन रुद्र और सहस्राक्ष इंद्र भी राम की क्रोधाग्नि का उपशमन नहीं कर पाते। समरांगण में राम साक्षात् काल का प्रतिरूप बनकर अपने लक्ष्य को वेधकर ही रहते हैं और राम का जो शिकार बन जाता है उसकी रक्षा कोई नहीं कर सकता। इसलिए हनुमान् रावण को हित की बात बताते हुए कहते हैं —"काल सर्प की भांति घर में बैठी रामपत्नी को ससम्मान राम को वापस करने के सिवा और कोई उपाय नहीं है। यदि ऐसा नहीं किया गया तो लंकेश्वर-समेत समस्त लंका का सर्वनाश अवश्यंभावी है।" धर्म का मर्म पहचाननेवाले पवनपुत्र धर्मशास्त्र का प्रमाण देकर धर्मविमुख रावण को समझाने लगते हैं कि तुमने जो धर्म-कार्य किया है, उसने तुमको सुकर्म का फल दिया है और साथ ही तुम्हारे अधर्म मूलक दुष्कर्ष से भी तुमको बचा दिया है। पर अब धर्म का सारा हिस्सा समाप्त हो चुका है, इसलिए अधर्म का फल अब अविलंब मिलनेवाला है। अपनी तपोनिष्ठा के बल पर रावण ने सुरों से और असुरों से अवध्यता का जो अमोघ वर प्राप्त किया है, उसको भी निरुपयोग बताते हुए हनुमान् कहते हैं कि सुग्रीव न देवयोनि के हैं और न असुर-योनि के। वह न यक्ष है, न गंधर्व। वह केवल वानर है और राम नर है। इन दोनों से बचना रावण के लिए संभव नहीं है क्योंकि ये दोनों रावण को प्राप्त वरदान में सम्मिलित नहीं हैं।

लोकरावण रावण की तनिक भी परवाह किए बिना महावीर हनुमान् ये सब बातें बड़ी निर्भीकता से कह देते हैं तो रावण पहले चकित होता है, पर थोड़ी

ही देर में इतना कुपित हो जाता है कि वह तत्काल हनुमान् को मृत्यु-दंड की आज्ञा दे देता है। हनुमान् ने जो भी कहा है, वह रावण के लिए अप्रिय अवश्य लगता है पर वह सत्य है और हितकारी है। लोक कल्याणकारिणी इस वाणी के मर्मज्ञ विभीषण अपने बड़े भाई रावण को समझाने की चेष्टा करते हैं कि आंजनेय के इस आचरण में उनका कोई दोष नहीं है, अपने स्वामी सुग्रीव और आराध्य राम के संदेशवाहक दूत के रूप में उन्होंने केवल अपने कर्त्तव्य का पालन किया है, इसलिए उनको मृत्युदण्ड देना न्याय सम्मत नहीं है। नीतिशास्त्र के अनुसार भी दूत का वध निषिद्ध है। यह केवल नीति-विरुद्ध और धर्मविरुद्ध ही नहीं, बल्कि लोक-विरुद्ध भी है क्योंकि दूत का वध करने से दूत को भेजने वालों का कुछ नहीं बिगड़ता और सम्भवतः यह समाचार भी उनके यहाँ तक पहुँच नहीं पाता – विशेषकर सौ योजन लंबा सागर बीच में जब व्यवधान के रूप में खड़ा है। यदि रोष दिखाना है तो सीधे शत्रु पर दिखाना रावण जैसे पराक्रमी राजा के लिए शोभा देता है। रावण को युद्ध के लिए प्रोत्साहित करते हुए विभीषण कहते हैं कि राम जैसे पराक्रमी के साथ युद्ध करने में जो आनन्द है उससे रावण अपने को वंचित न करें। फिर शास्त्रों का हवाला देते हुए विभीषण दूत के लिए विहित नाना प्रकार के दण्डों का उल्लेख करते हैं जिनमें अंग-भंग, कशाघात, मुंडन आदि शामिल हैं। स्वभाव से युद्धप्रेमी और संस्कार से परपीडक रावण को अब बात समझ में आती है।

अंततः रावण विभीषण की सलाह मानकर यह निर्णय करता है कि हनुमान् की पूँछ जलाकर उन्हें वापस भेज दिया जाए ताकि जली-कटी पूँछ के साथ वापस जाकर वह अपने मित्रों के बीच अपमान का शिकार बने। तदनुसार वह आज्ञा देता हैः—

कपीनां किल लांगूलं इष्टं भवति भूषणम्।
तदस्य दीप्यतां शीघ्रं तेन दग्धेन गच्छतु॥

(बंदर को सुन्दर बनानेवाला अंग उसकी पूँछ है। तभी बंदर को अपनी पूँछ अच्छी लगती है। इसलिए जल्दी से जल्दी इसकी पूँछ जलाई जाए और जलती हुए पूँछ से वह वापस जाए।)

रावण की आज्ञा का तत्काल पालन हो जाता है। हनुमान् की पूँछ को असुर-किंकर फटे पुराने कपड़ों से बाँधकर उस पर तेल डालते हैं ताकि वह जल्दी जल जाएँ और आग तेज़ी से बढ़े। इससे हनुमान् तनिक भी भयभीत नहीं होते। बल्कि वह मन ही मन सोचते हैं कि इससे दिन में लंका को अच्छी तरह देखने का अवसर मिलेगा क्योंकि रात के अँधेरे में उन्होंने लंका को ठीक-ठीक देखा नहीं था। जैसे-जैसे राक्षस हनुमान् की पूँछ को कपड़ों से बाँधते जाते हैं और पूँछ और बढ़ती जाती है। पूँछ जलाने से पहले लंकावासियों का मन बहलाने के लिए हनुमान् को सारी नगरी में घुमाया जाता है। इससे हनुमान् को लंका की नगर-निर्माण-योजना का पूरा-पूरा परिचय मिल जाता है जो बाद में काम आ सकता है। इसका कुछ पूर्वाभ्यास अभी कुछ ही क्षणों में करके देखने का भी विचार हनुमान् के मन में उत्पन्न होता है। हनुमान् को सबसे अधिक आश्चर्य तब होता है जब उनकी पूँछ में लगाई गई आग की लपटें उनको मलय पवन की लहरों की तरह शीतल और कोमल लगती हैं। वह मन ही मन सोचते हैं कि यह या तो रघुनाथ का प्रभाव है या मैथिली की महिमा है।

वास्तव में जब लंका की कुछ महिलाएँ इस घटना का समाचार देवी सीता को सुनाती हैं तो रामपत्नी अग्नि-देवता से अनुरोध करती हैं कि वह हनुमान् के ऊपर अपना प्रभाव प्रदर्शित न करें। मंत्र की महिमा रखनेवाले उनके मंगलवाक्य हैंः—

यद्यस्ति पति शुश्रूषा यद्यस्ति चरितं तपः।
यदि वात्वेकपत्नीत्वं शीतो भव हनूमतः॥
यदि किंचिदनुक्रोशः तस्य मय्यस्ति धीमतः।
यदि वा भाग्यशेषो मे शीतो भव हनूमतः॥
यदि मां वृत्तसंपन्नां तत्समागम-लालसाम्।
स विजानाति धर्मात्मा शीतो भव हनूमतः॥

(यदि मैंने अपने पति की विधिवत् सेवा-शुश्रूषा

की है, यदि मैंने तपोमय आचरण किया है और यदि हम दोनों के बीच अनन्य अनुराग है तो अनिल-पुत्र हनुमान् के लिए अनल शीतल बने। यदि मेरे स्वामी मेरे प्रति दयालु हों और यदि मेरा भाग्य कुछ शेष रह गया हो तो अग्नि-देवता हनुमान् को ताप न दें। यदि धर्मात्मा राम मेरे चरित्र को पवित्र मानकर मुझसे मिलने की इच्छा रखते हों तो यह पावक पवन-पुत्र के लिए दाहक न बनकर सहायक बने।)

रामपत्नी और सीतापति की महिमा से भलीभांति परिचित पवनकुमार को यह समझने में देर नहीं लगती कि जिसकी महिमा से सागर के बीच से उठकर मैनाक पर्वत ने अपने अतिथि का आदर सत्कार किया था, उसी की महिमा इस ज्वाला को चंदन की माला बना रही है। सीता-माता की सात्विकता तथा सत्यपराक्रम राम की सद्भावना के बल पर प्रज्वलित वह्नि का भयंकर स्पर्श परम सुखद बन जाता है तो पिता की प्रेरणा से पवन का वेग बढ़ जाता है जिससे सारी लंका उस भीषण ज्वाला में भस्म हो जाती है। अवसर पाकर अनिल-पुत्र लंका के प्रमुख स्थानों में संचरण कर भव्य भवनों को अग्नि देवता की आहुति के रूप में समर्पित कर देते हैं। एक घर से दूसरे घर पर, एक वन से दूसरे वन में, एक मार्ग से दूसरे मार्ग पर उछल-कूदकर हनुमान् समस्त लंका को अग्निकुंड बना देते हैं। प्रलयानल की भांति भड़क उठी उस ज्वाला में इंद्रजित्, कुंभकर्ण, जंबुमाली, नरांतक, निकुंभ, कुंभ आदि अनेक राक्षस-प्रमुखों के भवन भस्म हो जाते हैं। भवन में रहने वाले लोग बाल-बच्चों समेत भयभीत होकर बाहर निकल आते हैं। सारी लंका में हाहाकार मच जाता है। इस भीषण कांड में रावण का भवन भी नहीं बच पाता। सोने-चाँदी की दीवारें, खिड़कियाँ, तस्वीरें पिघलकर नदियों की तरह लंका की सड़कों पर बहने लगती हैं। लंकावासी आतंकित स्वर में आपस में कहने लगते हैं कि यह बंदर नहीं है, बंदर का रूप धारण कर अग्निदेवता ने लंका पर हमला किया है।

महावीर हनुमान् की इस महाप्रलय लीला को देखकर लंकावासी त्रस्त हो जाते हैं तो देवता भी आश्चर्य से चकित हो जाते हैं। पल भर में प्रलय का दृश्य लंकानगरी में प्रस्तुत हो जाता है। जलती हुए पूँछ को जलनिधि में डुबोकर शांतिशीतलता प्राप्त करने वाले समीरकुमार को भी भस्मीभूत लंका का भयंकर दृश्य देखकर आश्चर्य होता है। इस आश्चर्य में पहले आनन्द का ही समावेश होता है, पर थोड़ी ही देर में वह आशंका और चिंता का रूप धारण कर लेता है। सारी नगरी को अग्निदग्ध पाकर पवनपुत्र को संदेह होता है कि कहीं विदेह नंदिनी सीता-माता भी इस अग्निकांड में आहुति तो नहीं हो गई हैं। आशंका निराधार नहीं है और चिंता भी स्वाभाविक है। पर हनुमान् का मन कहता है कि यह संभव नहीं है क्योंकि सीता-माता स्वयं अग्नि तुल्या हैं। पावक पावक को प्रभावित नहीं कर सकता। लंका को नष्ट करनेवाली ज्वाला असुरहारिणी है, कल्याणकारिणी है - इसलिए कल्याणी शीतल ज्वाला की मूर्ति सीता-माता को वह नष्ट नहीं कर सकती, बल्कि उनकी प्रभविष्णुता को अधिक स्पष्ट और परिपुष्ट बना देगी। हनुमान् की इस अंतर्वाणी को पुष्टि प्रदान करते हुए लंका के नागरिक इस बात पर आश्चर्य प्रकट करते हुए दिखाई देते हैं कि सारी लंका जल गई, पर अशोक-वाटिका में सीता अक्षत और सुरक्षित हैं। अंतरिक्ष में विचरण करनेवाले सिद्ध, चारण, यक्ष, गंधर्व आदि का वार्तालाप भी हनुमान् की इसी अवधारणा की पुष्टि करता है। अब आंजनेय आश्वस्त हो जाते हैं। यदि सीता-माता के आत्म-तेज से और श्रीराम की शिवभावना के बल पर ऐसा नहीं होता तो कितना अनर्थ हुआ होता, इस बात की कल्पना भी कपीश्वर को भयंकर प्रतीत होती है। श्रीराम का शौर्य, सीता देवी का धैर्य, सुग्रीव की मित्रता और स्वयं आंजनेय की अभीष्ट सिद्धि सबके लिए यह बात घातक सिद्ध हो जाती पर ऐसा नहीं हुआ। इस पर हनुमान् अपने को भाग्यशाली तथा कृतकृत्य समझकर एकबार फिर सीता-माता के दर्शन करने की इच्छा से अशोक-वाटिका में जाते हैं।

पुनरागत हनुमान् को देखकर पतिप्राणा सीतादेवी के प्राण उनके शरीर में फिर से आ जाते हैं। अब तक

वह हनुमान् की सुरक्षा के लिए चिंतित बैठीं थीं और उधर हनुमान् सीता के कुशल-मंगल की कामना लिए व्याकुल थे। दोनों की व्याकुलता अशोकवाटिका में उनके पुनर्मिलन, पुनदर्शन और पुनः संभाषण से शांत बन जाती है। यह मिलन केवल सीता और आंजनेय का नहीं है, बल्कि वात्सल्य और भक्ति का है। यह भूख और प्यास का मिलन है, ज्ञान और जिज्ञासा का मिलन है, दृष्टि और दिदृक्षा का मिलन है, वाणी और विवक्षा का मिलन है तथा प्राण और प्रणव का मिलन है। सुंदर कांड का सबसे सुन्दर तथा मार्मिक प्रसंग यही है जहाँ पर मारुतनंदन और विदेहनंदिनी अपने मुँह से नहीं बल्कि अपने हृदय से, मन से और आत्मा से बातचीत करते हैं।

शिंशपा-वृक्ष की शीतल छाया में परिनिष्ठित मुद्रा में बैठी हुई जानकी को देखते ही मारुतनंदन मनसा और शिरसा प्रणाम कर कहते हैं — दिष्ट्या पश्यामि त्वामिहाक्षताम् (सौभाग्य से मैं आपको यहाँ पर अक्षत देख रहा हूँ।) आंजनेय की इस अक्षत आराधना से जनकनंदिनी पुलक उठती हैं, पर उनको उसी क्षण प्रस्थान के लिए प्रस्तुत देखकर फिर शोकाकुल हो जाती हैं। मन कहता है कि उनको कुछ क्षण और रोक लें, पर दिल चाहता है कि वह प्रभु रामचंद्र के पास जितनी जल्दी पहुँच पाएँ उतनी ही जल्दी राम का लंका में आगमन होगा। इसी पशोपेश में पड़कर अंततः अवनितनया कहती हैं —"तुम्हारे स्वामी ने तुमको जो काम सौंपा है, उसे संपन्न करने में तुम, केवल तुम, समर्थ हो। प्रभु का आशीर्वाद तुम्हारे साथ है। तुम्हारे बल-पराक्रम का शीघ्र ही फलोदय होनेवाला है।"

माता की इस मंगल कामना में हनुमान् को अक्षय संबल का आश्वासन मिलता है और उसी आश्वासन को अपनी सांस बनाकर श्वसन-विक्रम हनुमान् माता जी को आश्वस्त करते हुए कहते हैं:—

क्षिप्रमेष्यति काकुत्स्थो हर्यृक्षप्रवरैर्वृतः ।
यस्ते युधि विजित्यारीन् शोकं व्यपनयिष्यति ॥

(काकुत्स्थ वंश के उद्धारक राम शीघ्र ही वानर-सेना को लेकर यहाँ आएँगे और शत्रुओं का संहार कर आपको अशोक वाटिका से मुक्त करेंगे।)

अशोक-वाटिका को शोकमुक्त करने का यह प्रयास वीतमोह आत्मवान् के द्वारा ही संभव है। प्रस्तुत प्रसंग में शोक और मोह का स्थान ग्रहण करते दिखाई देते हैं-विवेक और स्नेह। आत्मा के अनावरण का यह द्योतक है और इसी शुभ सूचक लक्षण को लक्ष्मण और लक्ष्मणाग्रज तक पहुँचाने के लिए सुग्रीव का वित्तसचिव व्यग्र है।



57. प्रतिप्रयाण, मधुमय संक्षेपण

माता का मंगलमय आशीर्वाद लेकर मारुतनंदन कृतकृत्य भावना से किष्किंधा लौट जाने के लिए अपने मन को तैयार कर लेते हैं। लंका में उनको जो कुछ करना था, वह लगभग समाप्त हो चुका है। सारी लंका की छानबीन कर अंत में अशोक-वाटिका में शोकाकुल सीता-माता को देखना, सुनना और पहचानना, राम का संदेश सुनाना, अपनी पहचान और राम की सुखद स्मृति के प्रतीक के रूप में राम के नाम से अंकित मुंद्रिका रामपत्नी के हाथ में देना, विदेहनंदिनी की विषाद गाथा की गहराई और सुघराई में स्पष्ट अभिव्यक्त होनेवाली उनकी राम- रमणीयता को हृदयंगम कर उसी भाषा में उसे राम के सामने व्यक्त करने की क्षमता का संचय कर लेना, शोकाकुल सीता-माता के शोकानल को ही साधन बनाकर लगभग समस्त लंका को भस्मसात् करना, रावण को निकट भविष्य में घटित होने वाले प्रचंड उत्पात की आशंका से आतंकित करना और प्रस्थान के पहले एक बार फिर जनकनंदिनी को अक्षत, कुशल और समग्र देखकर आश्वस्त होना-ये सारी घटनाएँ एक पूरी रात और एक दिन के आलोक में संपन्न हो पाती हैं। वह रात कितनी सजग और सार्थक रही और यह दिन कितना सक्रिय और सफल रहा, इस पर मनन करते करते मारुतनंदन अरिष्ट नामक पर्वत पर पहुँच जाते हैं जहाँ से वापसी उड़ान आरंभ होती है। आते समय स्वामी की मुद्रिका का सहारा था। अब जाते समय देवी की दिव्य चूड़ामणि का भव्य पाथेय पवन-पुत्र के पावन मार्ग को प्रशस्त करता है।

प्रतिप्रयाण का प्राचेतस द्वारा प्रस्तुत वर्णन पढ़ते समय ऐसा प्रतीत होता है कि वापसी उड़ान में वायुनंदन को अपेक्षाकृत बहुत कम समय लगा है क्योंकि पूरी उड़ान का वर्णन केवल चालीस-बयालीस श्लोकों में समाप्त होता है जबकि पहली उड़ान में इतनी ही दूरी की यात्रा का वर्णन दो सौ श्लोकों में किया गया था। पहली यात्रा में हनुमान् को अनेक अवरोधों का सामना करना पड़ा था जबकि वापसी यात्रा में मार्ग एकदम निरवरोध था और परिचित भी था। इसके अलावा हनुमान् की मनोदशा में भी अंतर का होना स्वाभाविक है। लंका की ओर प्रस्थान करते समय मन में आशंका और अनिश्चितता थी जबकि किष्किंधा की ओर वापस आते समय उत्सुकता, उल्लास और उमंग ने वायुवेग को मनोवेग बनाया होगा। इन सभी बातों को ध्यान में रखकर ही रसशिल्पी वाल्मीकि ने प्रतिप्रयाण का वर्णन संक्षिप्त और सारगर्भित किया है। वास्तव में वाल्मीकि की दृष्टि में और उन्हीं के शब्दों में पवनकुमार ने नीचे लवणार्णव को देखते हुए ऊपर से गगनार्णव को ही पार किया है।

स लिलंघयिषुर्भीमं सलीलं लवणार्णवम् ।

** ** **

हनुमानपरिश्रांतः पुप्लुवे गगनार्णवम् ॥

नीचे सागर और ऊपर अंबर दोनों अर्णव आंजनेय के लिए दो अंचल बन जाते हैं जिनके बीच में से पंखवाले पर्वत के समान पवनतनय पलभर में पारावार को पार कर लेते हैं। अरिष्ट पर्वत, सामने का

सागर और ऊपर का आकाश–सारा पर्यावरण पवनपुत्र को प्रभूत प्रेरणा प्रदान करता–सा प्रतीत होता है। पेड़–पौधों को अंगवस्त्र और बादलों को चादर बनाकर सोनेवाले अरिष्ट पर्वत को भगवान् भास्कर की भास्वर किरणें प्यार से जगाती–सी प्रतीत होती हैं, धातुओं की चमक–दमक के सहारे पर्वतराज आँखें खोलता हुआ–सा लगता है, झरनों का कलकल निनाद नगेन्द्र के कानों में जागरण गीत बनकर गूँजता है। नाना प्रकार की धातुओं को लोचन बनाकर आलोक–मधुर पर्वत नेत्रोन्मीलन करता–सा दिखाई देता है। लंबे लंबे वृक्षों को बाहों की तरह फैलाकर पर्वतराज अंगड़ाई लेता है। बादल जम्हाई लेने में सहायक होते हैं तो ओस की बूँदे ध्यान को सुगम बना देती हैं। जैसे ही उस पर्वत से ऊपर उठकर पवनपुत्र मारुत गति से उड़ान भरने लगते हैं तो समस्त पर्वतवासी त्रस्त हो जाते हैं और स्वयं पर्वत रसातल में पहुँच जाता है।

आकाश को अर्णव बनाकर आंजनेय अपनी आत्मा के बल पर अंतरिक्ष में उड़ते उड़ते कुछ ही समय में दक्षिण से उत्तर तट पर पहुँच जाते हैं। बीच में सुनाभ पर्वत को भी परामृष्ट कर धनुष से निकले हुए तीर की भांति महेन्द्र पर्वत पर उतरने की उतावली में वह एक ऐसा महान् नाद उत्पन्न करते हैं जिसे सुनकर उनके साथी वानर उल्लास से उछल पड़ते हैं। अंतरिक्ष से आंजनेय का आत्मनाद सुनाई पड़ते ही उनके साथी समझ जाते हैं कि अब हमारे हनुमान् कृतकार्य होकर वापस आ रहे हैं। महामेघ के गंभीर निनाद को स्फुरित करने वाला वह नाद नक्षत्र–मंडल से लेकर वनराजी से विराजित पर्वत–मंडल तक समस्त वायुमंडल को अनुनादित करने लगता है। नाद–वेद के मर्मज्ञ जांबवान् उस उद्घोष को परिभाषित करते हुए अपने साथियों से समाश्वस्त स्वर में कहते हैं:–

सर्वथा कृतकार्योऽसौ हनूमानं नात्र संशयः ।
न ह्यस्याकृतकार्यस्य नाद एवं विधो भवेत् ॥

(अवश्य ही हमारे आंजनेय अपने कार्य में सफलता प्राप्त कर वापस आ रहे हैं। यदि कार्य सफल नहीं हुआ होता तो उनके कंठ से ऐसा नाद नहीं निकलता।)

इस पर सभी वानर परम संतोष तथा अदम्य उल्लास की अनुभूति से फूले नहीं समाते और एक पेड़ से दूसरे पेड़ तक, एक शिखर से दूसरे शिखर तक, एक छोर से दूसरे छोर तक उछल–कूद करने लगते हैं जो कि कपियों के लिए स्वाभाविक होता है। सब की आँखें आकाश से उतरने वाले हनुमान् की ओर लगी हुई हैं। प्रतीक्षा करने वाली आँखों का निर्निमेष निरीक्षण करते हुए सबके देखते ही देखते समीरकुमार महेन्द्र पर्वत पर ऐसे उतरते हैं जैसे कोई शिलाखंड आ गिरा हो। सबके मन हनुमान् को ध्यान से देखने, उनकी बात सुनने और उन से कई प्रश्न पूछने के लिए उत्सुक हैं। इस उत्सुकता को व्यक्त करने के लिए सब लोग हनुमान् को चारों ओर से घेर लेते हैं। समागत समीरज का स्वागत करने के लिए उपागत मित्रों के चेहरों पर मंदहास और हाथों में कंदमूल फल के उपहार उनकी परम प्रीति को प्रकट कर रहे हैं। हनुमान् को आराम से बिठाने के लिए कई वानर बड़े–बड़े वृक्षों की विशाल शाखाएँ तोड़ कर ला रहे हैं। परम हर्ष के प्रसन्न वातावरण में साथियों के स्वागत–सत्कार से संतुष्ट होकर पवनपुत्र ने "दिख गईं देवी" (दृष्टा देवी) कहकर संक्षेप में संमाचार का सार सुनाते है। "दिख गईं" शब्द सुनते ही सब लोग परम संतोष लाभ करते हैं और "देवी" शब्द सबको अमृत की धारा से आप्लावित कर देता है। संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित समाचार को थोड़ा अधिक विस्तृत करते हुए हनुमान् कहते हैं:–

अशोकवनिका संस्था दृष्टा सा जनकात्मजा ।
रक्ष्यमाणा सुघोराभी राक्षसीभिरनिंदिता ॥
एकवेणीधरा बाला रामदर्शनलालसा ।
उपवासपरिश्रांता मलिना जटिला कृशा ॥

(जनकनंदिनी सीता–माता को मैंने अशोक–वाटिका में रामदर्शन की लालसा में शोकाकुल बैठी देखा है। विरूपाक्षी राक्षसियाँ उनकी रखवाली कर रही हैं। रामविरह से व्याकुल रामा खाना, पीना, सोना आदि

सब कुछ भूलकर निरंतर राम का ही चिंतन करने से बहुत कमज़ोर हो गई हैं। वह अपने बाल भी नहीं संवारती हैं और हमेशा खोई खोई-सी और थकी-माँदी-सी दिखाई देती हैं।)

जिस किसी भी स्थिति में हो, सीता-माता को मारुतनंदन ने देखा तो सही, इसी से समस्त वानर आश्वस्त होकर लंका का सारा वृत्तांत और विस्तार से सुनने के लिए उत्सुक होकर हनुमान् को चारों तरफ से घेर कर बैठ जाते हैं। कोई पत्थर पर बैठा है, कोई पेड़ पर और कोई परिसर के सरोवर के तट पर। कोई हर्षनाद से अपने आंतरिक आनंद को प्रकट करता है तो कोई सिंहनाद से अपनी उपलब्धि पर गर्व को व्यक्त करता है। कोई किलकारियाँ भरता है तो कोई बादल की तरह गरजने लगता है और कोई गर्जन का उत्तर प्रतिगर्जन से देने लगता है। कोई अपनी पूँछ ऊपर उठाकर खुशी से नाचने लगता है तो कोई अपनी लंबी और मोटी पूँछ को घुमाते फिराते हुए छलांग भरने की चेष्टा करता है। इस प्रकार महेन्द्र पर्वत का सारा वातावरण हर्ष और उल्लास से आपूरित हो जाता है। सब लोगों की दृष्टि हनुमान् के वचनामृत की ओर उन्मुख है। पर्वत के शिखर पर युवराज अंगद की भुजा के सहारे बैठे हनुमान् के चेहरे पर आनंद की सश्रीकता को विराजमान देखकर वृद्ध जांबवान् ने पूछा :
"कार्यसाधक हनुमान्, बोलो, तुमने सीता जी को कहाँ देखा है, कैसे देखा है, कहाँ कहाँ ढूँढा है, उनकी शारीरिक और मानसिक स्थिति कैसी है, रावण के साथ वह कैसा व्यवहार कर रही हैं, उन पर क्या-क्या बीत रहा है, सब कुछ विस्तार से कहो ताकि हम आगे के कर्त्तव्य पर विचार कर सकें।"

जांबवान् की यह जिज्ञासा हनुमान् को बोलने की प्रेरणा प्रदान करती है और वह सीता-माता की दिशा (दक्षिण) की ओर मुँह कर मन से उनका नमन कर अपना प्रवचन प्रारंभ करते हैं:

"आप लोगों के सामने ही मैं महेन्द्र पर्वत से उड़ान भर कर अंतरिक्ष में पहुँचा था। थोड़ी दूर आगे बढ़ते ही मैनाक पर्वत ने अपने स्वर्णिम शिखरों पर विश्राम करने का प्रलोभन देकर मेरा मार्ग रोक दिया था। उनकी दृष्टि में यह प्रलोभन नहीं था, केवल अतिथि सत्कार का शिष्टाचार था। परन्तु राम-कार्य पर सागर-लंघन करने वाला मैं आराम की बात तब तक नहीं सोच सकता था जब तक राम का काम पूरा न हो। इसीलिए मैंने सौजन्य-मूर्ति मैनाक पर्वत को समझा-बुझाकर उनकी बात टाल दी और अपने मार्ग का अनुसरण किया। प्रारंभ में मैंने अपने मार्ग को प्रशस्त करने के लिए मैनाक पर्वत के शिखर को अपने लांगूल के आघात से चूर चूर कर दिया तब मैनाक ने बड़ी विनम्रता से मेरे पिताजी के साथ अपनी पुरानी मैत्री की बात बतायी और मुझे अपना अतिथि बनाकर मित्र के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने की बात कही तो मैंने भी उनके प्रति आभार प्रकट किया। इस प्रकार मेरे मार्ग का पहला अवरोध अनुरोध बन गया।

पर दूसरा अवरोध सचमुच आक्रामक सिद्ध हुआ। मैनाक पर्वत से आज्ञा लेकर मैं आगे बढ़ा तो सामने अपना विकराल मुख खोलकर नागमाता सुरसा प्रकट हुई। वह मुझे सचमुच निगलना चाहती थी। बड़े अरसे के बाद अच्छी खासी खुराक पाकर वह मन ही मन खुश हो रही थी। अपना विशाल मुँह खोलकर वह मुझे अपने मुँह में आमंत्रित कर रही थी। मेरी समझ में नहीं आ रहा था कि इस स्थिति में क्या किया जाए। थोड़ी देर सोचने के बाद मैं भी अपना शरीर बढ़ाने लगा। जैसे-जैसे मैं अपना शरीर बढ़ा रहा था, वह भी अपना मुँह फैलाने लगी। जब उसका मुँह सौ योजन लंबा हो गया तब मैंने अपने को एकदम छोटा बनाकर उसके मुँह में घुस कर कहा, 'देवी, अब आपकी इच्छा के अनुसार मैं आपके मुँह में तो घुस गया हूँ, अब मुझे छोड़ देना'। मेरी बुद्धिमत्ता पर सुरसा को आश्चर्य हुआ। वह बोली, वास्तव में मैं तुम्हारी बुद्धिमत्ता की परीक्षा करने ही आई थी। अब तुम निश्चिंत होकर अपने कार्य में आगे बढ़ो और अपना कार्य सफल बनाकर वापस होओ। इस प्रकार नागमाता का आशीर्वाद लेकर मैं आगे बढ़ा।

जब मैं गरुत्मान्‌की तरह अंतरिक्ष में आगे बढ़ रहा था तो कोई छाया जैसे मुझे नीचे खींच कर ले जा रही थी। थोड़ी देर में पता चला कि वह सिंहिका नाम की भयंकर राक्षसी थी जो समुद्र-गर्भ में रहकर छाया के सहारे प्राणियों को अपनी ओर खींच लेती है। जैसे ही मैं अपनी छाया के साथ उस राक्षसी के पास खिंचकर चला गया तो वह मुँह खोलकर मुझे खाने के लिए उद्यत हो गई। यहाँ भी मैं पहले का उपाय अपनाकर अपना शरीर बढ़ाने लगा और वह भी अपना मुँह फैलाने लगी। अंत में मैं लघुकाय बनकर अंतरिक्ष में उड़कर भागा – पर सिंहिका का विदारित दिल तोड़ने के बाद। भग्न-हृदया सिंहिका लवणार्णव में निष्प्राण होकर गिर पड़ी।

इस प्रकार सागर और आकाश के बीच की मेरी यात्रा में तीन विघ्न उपस्थित हुए और तीनों को मैं रामकृपा के बल पर पार कर सागर के दक्षिण तट पर पहुँच गया। जब मैं लंकापुरी के समीप पहुँचा तब सूर्यास्त हो रहा था। लंका के द्वार पर लंकानगरी की रखवाली करनेवाली राक्षसी ने मुझे रोका तो बायें हाथ से उस पर मुष्टिघात कर नगरी के भीतर मैंने प्रवेश किया। लंका की रखवाली करने वाली उस राक्षसी का नाम लंका था। उसने मेरे पराक्रम की प्रशंसा करते हुए कहा कि जो भी प्राणी मुझे पराजित कर सकता है, वह सारी लंका को जीत सकता है। उस राक्षसी की इस भविष्यवाणी से आश्वस्त होकर दुगुने मनोबल से प्रदोष काल में मैंने लंका में प्रवेश किया।

रात भर मैंने लंका के कोने कोने में घूमकर सीता माता की खोज की, कोई मकान नहीं छोड़ा, कोई उपवन नहीं छोड़ा। अंत में रजनी के पिछले पहरो में प्रभात के समय अशोक-वाटिका में शिंशपा वृक्ष के नीचे वरवर्णिनी राममहिषी को शोकाकुल दशा में देखा। कमल-नयना जानकी दुर्बल पर सुंदर, मलिन पर कोमल, शोकाकुल पर ध्यान मग्न और राम केवल राम की चिंता में दत्तचित्त दिखाई दी। श्रीराम की ही भांति सर्वांगसुंदरी सीता-माता को मैं पेड़ की आड़ से देखता रहा और देखता ही रह गया। इतने में गंभीर कोलाहल सुनाई पड़ा। जिसके बीच से असुरांगनाओं के साथ राक्षसवीर रावण का वहाँ पर आगमन हुआ। रावण को देखकर सीता माता काँप उठीं और अपने शरीर को समेट कर बैठी रहीं, पर रावण के अशिष्ट वचनों का बड़ी दृढ़ता के साथ विरोध किया। सीता माता और क्रूर राक्षस का सारा संभाषण मैंने बड़े ध्यान से सुना। अपने स्वामी राम को छोड़कर और किसी को अपने मन में स्थान देने से साफ इन्कार करने वाली साध्वी सीता-माता को दो मास की अवधि देकर रावण क्रोध-मूच्छित मुद्रा में वहाँ से चल पड़ा। यदि इस अवधि में रावण की बात मानकर उसको स्वीकार नहीं किया तो सीता को मृत्युदंड की धमकी दी गई। जब रावण अशोक-वाटिका से निकल चला तब उसके द्वारा नियुक्त भयंकर राक्षसियाँ उनको डराने-धमकाने लगीं। पर रामपत्नी तनिक भी विचलित नहीं हुईं। राम के ध्यान में लीन होकर कभी आशा के सुनहले स्वप्न देखतीं और कभी निराश होकर निस्पृह नेत्रों से आँसू बहातीं।

इस दीनहीन दशा में जानकी को देखकर मेरा हृदय द्रवीभूत हो रहा था कि इतने में एक वृद्ध राक्षसी प्रबुद्ध स्वर में अपने स्वर्णिम स्वप्न की सुखद कथा सुनाने लगी। उस राक्षस स्त्री का नाम था – त्रिजटा। त्रिजटा का स्वप्न सीता-माता के समस्त ताप को शांत करने वाला था। उस महिला ने स्वप्न में देखा था कि लंका पर वानर-सेना को साथ लेकर सीतावल्लभ राम ने हमला किया और रावण को न केवल पराजित किया, बल्कि उनका वध कर दिया था और विभीषण को लंका का राजा बनाकर वह सीता-समेत अयोध्या वापस चले गए। इस अद्भुत स्वप्न ने एक ओर सीता-माता को आश्वस्त किया और दूसरी ओर उनकी रखवाली करने वाली सभी असुरांगनाओं को आसन्न आतंक से त्रस्त कर दिया। इस आशंका से भयभीत होकर सभी राक्षसियों ने सीता-माता की शरण माँगी।

सीता-माता से मिलकर उनसे बातचीत करने के लिए यही उपयुक्त समय समझकर राम का गुणगान करते हुए जब मैं उनके पास पहुँचा तो वह बहुत प्रसन्न

हा उठीं। प्रारंभ में कुछ संशय और संदेह की दृष्टि से मुझे देखा, पर कुछ ही देर में मेरी वास्तविक स्थिति को पहचानकर विश्वास के साथ मुझसे बात करने लगीं। इससे आश्वस्त होकर मैंने राम के नाम से अंकित मुद्रिका उनके हाथ में दी। इस पर वह अपनी करुण कथा सुनाने लगीं और अपने स्वामी से कहने को कहा कि जल्दी से जल्दी वे आकर अपनी शोकाकुल साध्वी पत्नी का उद्धार करें। मैंने उनको पूरा पूरा आश्वासन देकर यह समझाने का प्रयास किया कि अब इस कार्य में तनिक भी विलंब नहीं होगा। मैंने यह भी कहा कि यदि आप चाहें तो मैं अपनी पीठ पर बिठाकर अभी आपको प्रभु के पास पहुँचा सकता हूँ। पर माता ने यह प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया। श्रीराम स्वयं आकर रावण को सबक सिखाकर अपनी पत्नी को ले जाएँ तो यही उचित है। जब मैंने आज्ञा माँगी तो उन्होंने सजल नेत्रों से अपना संदेश सुनाया और अपने सिर पर से एक चूड़ामणि निकालकर अभिज्ञान के रूप में मुझे दिया।

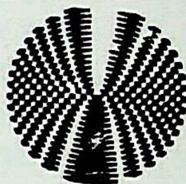
फिर मैंने सोचा कि दिन में सारी लंका में घूमकर नगर की रचना और नागरिकों के साहस का परिचय प्राप्त करूँ और किसी न किसी बहाने रावण से भेंट भी करूँ। इसके लिए मैंने तत्काल एक विचित्र योजना बनाई। लंका के सुंदर वन को मैं ध्वस्त करने लगा तो सभी राक्षसों ने मेरे ऊपर हमला किया। एक एक करके अनेक राक्षस मेरे साथ लड़ने आए। सबको मैंने हराया। अंत में रावण के वीरपुत्र इंद्रजित् ने मेरे ऊपर ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया। पितामह के प्रति पूज्य भावना के कारण मैंने उस अस्त्र के प्रभाव को मान लिया। मुझे बंदी बनाकर इंद्रजित् रावण की सभा में ले गया। रावण से मैंने खुलकर बातचीत की। उसको हित की बात बताई, सीता-माता को वापस करने की सलाह दी और सत्यपराक्रम राम की अप्राकृत और अपराजेय शक्ति का उल्लेख किया। पर भाग्य का मारा और काल का जकड़ा रावण मेरी बात समझ नहीं पाया, मुझे मृत्युदंड देना चाहा। पर उसके भाई विभीषण के कहने पर मृत्युदंड का हठ छोड़कर मेरी पूँछ जलाकर मुझे लंका में घुमाने का अपने अनुचरों को आदेश दिया। पर इससे मुझे दो लाभ हुए। एक तो दिन में आराम से सारी लंका को देखने का अवसर मिला और पूँछ में लगी आग को भड़काकर सारी लंका को भस्मसात् करने में भी सुविधा हुई। इस भीषण अग्निकांड को देखकर लंकावासी त्रस्त हो गए, सब जगह हाहाकार मच गया। पर जानकी एकदम अक्षत और सुरक्षित रही। सबसे आश्चर्य की बात यह थी कि पूँछ में लगी आग मेरे लिए चंदन की तरह शीतल लगने लगी। मैंने सोचा, यह राम की कृपा है और मैथिली की महिमा है।

फिर मैं एक बार माँ मैथिली से मिला। उनका आशीर्वाद लेकर मैं संध्या तक यहाँ वापस चला आया। कल की संध्या से आज की संध्या तक आप लोग एक पैर पर खड़े होकर मेरी प्रतीक्षा करते रहे, इसमें आपकी निष्ठा बोल रही है जिसने मुझे सागर-लंघन और सीता-दर्शन की शक्ति प्रदान की।

आत्मयोगी आंजनेय के इस अमोघ अभियान का सुखद और रोमांचक वृत्तांत सुनकर सभी साथियों ने परम हर्ष का अनुभव किया। सबने समीरज को सहस्र कंठों से सराहा। थोड़ी देर के लिए सबके मन में यह विचार आया कि एक बार प्रयास करके सब लंका चले जाएँ और सीता-माता को साथ लेकर ही श्रीराम के पास पहुँचे। "देवी को देखा है" केवल यह सूखा समाचार सुनाने के बजाए साक्षात् देवी को प्रभु के सामने प्रस्तुत करना अधिक प्रशंसनीय होगा। पर विवेकशील जांबवान् ने सबको समझाया कि हमें जो काम करने को कहा गया, बस वही हमें करना है और प्रभु के पास जाकर यह निवेदन करना है कि हमने अपने कर्त्तव्य का पालन किया है।

पर वानरों में जो अदम्य उत्साह था वह शांत नहीं हो रहा है। इसी को शांत बनाने के लिए सबने मधुवन में प्रवेश किया और सारे वन के मीठे-मीठे फलों को तोड़कर सबने जीभर कर खाये। वास्तव में यह मधुरिमा मारुतनंदन की महिमा की ही मधुमय अभिव्यंजना थी। इस प्रकार मारुतनंदन का लंका-

अभियान मधुवन के मधुमय सेवन के साथ संपन्न हुआ। मधु-सेवन के इस आनंद में आंजनेय के मित्र इतने आप्लावित हो गए कि मधुवन के पालक दधिमुख को सुग्रीव के पास जाकर यह शिकायत करनी पड़ी कि आपके वानरों ने सारे मधुवन को ध्वस्त कर दिया है। पर सुग्रीव इससे रुष्ट नहीं हुए, बल्कि प्रसन्न हुए क्योंकि उनका अनुमान था कि नियत कार्य में सफल होने पर आंजनेय और उनके अनुयायी यह साहस कर सकते हैं। सुग्रीव की आज्ञा पाकर दधिमुख वापस जाकर आंजनेय के सखावृंद से कहते हैं कि प्रभु राम और राजा सुग्रीव आप लोगों की प्रतीक्षा कर रहे हैं। मारुतनंदन के संक्षेपण का यह मधुर समापन समस्त वातावरण को मधुमय बना देने वाली मधुमती भूमिका का ही ज्ञापक और परिचायक है। वातात्मज के वार्तालाप से समस्त वायुमंडल का मधुर बन जाना स्वाभाविक घटना है।



58. मारुतनंदन का अभिनंदन

मारुतनंदन की महती उपलब्धि पर अंगद तथा अन्य वानर-वीरों के मन में इतनी उच्छल तरंगें उमड़ पड़ीं कि सबने एक साथ मधुवन की समस्त मधुरिमा को एक ही घूँट में अघा-अघाकर आस्वादन करने का आक्रामक प्रयास किया। इससे मधुवन के वृद्ध संरक्षक दधिमुख का विक्षुब्ध होना बिल्कुल स्वाभाविक था। पर जैसे ही यह समाचार सुग्रीव के उदग्र कानों में पहुँचता है, वह रुष्ट न होकर प्रहृष्ट स्वर में इस घटना का स्वागत करते हैं क्योंकि उनका अनुमान था और यह अनुमान सही भी था कि देवी जानकी का पता लगाए बिना वानर-वीर इस प्रकार की धृष्टता नहीं सकते और उनको सौंपे गए कार्य में सफलता प्राप्त करने पर उनका यह आचरण केवल क्षम्य ही नहीं, बल्कि अभिनंदनीय है। इसी सुनिश्चित धारणा के आधार पर वह दधिमुख को प्रसन्न मुख मुद्रा में यह आदेश देते हैं कि अंगद, आंजनेय आदि समस्त वानरवीरों को शीघ्रतिशीघ्र श्रीराम के पास भिजवा दें और साथ ही श्रीराम और लक्ष्मण को अपने सुखद अनुमान का आश्वासन देते हुए कहते हैं:—

दृष्टा देवी न संदेहो, न चान्येन हनूमता।
न ह्यन्यः साधने हेतुः कर्मणोऽस्य हनूमतः॥
जांबवान् यत्र नेता स्यात् अंगदश्च महाबलः।
हनूमांश्चाप्यधिष्ठाता न तत्र गतिरन्यथा॥

(देवी अवश्य दिख गई हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है और इसमें भी संदेह नहीं है कि हमारे महावीर हनुमान् ने ही देवी को देखा होगा। इस प्रकार का कार्य हनुमान् को छोड़कर और कोई नहीं कर सकता। जहाँ जांबवान् जैसे अनुभवी नेता हों, अंगद जैसे महाबली उनका साथ दे रहे हों और हनुमान् जैसे कार्यसाधक अधिष्ठाता हों, वहाँ पर कार्यसिद्धि में कोई संदेह नहीं हो सकता।)

सुग्रीव का सुमुख संदेश सुनाने जब तक दधिमुख मधुवन पहुँचते हैं तब तक वानरवीर भी मधुसेवन से परितुष्ट होकर स्वामी के पास पहुँचने के लिए तैयार हो जाते हैं। दधिमुख का मधुमय वचन सुनकर सभी वानर किलकारियाँ भरते हुए आकाश के मार्ग से अपने स्वामी सुग्रीव के पास पहुँच जाते हैं। सुखद स्वर में शुभ समाचार सुनाने के लिए सब लोग अंगद और आंजनेय को आगे करते हैं। "पातिव्रत्य के नियमों का पालन करने वाली अक्षतगात्रा सीता को मैंने अपनी आँखों से देखा है।" —यह वाक्य वानरवीर हनुमान् के मुँह से निकलते ही अमृत की धारा की तरह वह राम, लक्ष्मण और सुग्रीव के कानों में पहुँचता है और तीनों का हृदय हर्ष से आप्यायित हो जाता है। "दृष्टा देवी" —ये दो शब्द कार्यकुशल हनुमान् की कृतकृत्यता को संक्षेप में प्रकट करते हैं। सीता की समग्रता का समाचार सुनने के लिए व्यग्र सुग्रीव, राम और लक्ष्मण के लिए इन दो शब्दों के आठ अक्षर अष्टपदी का आनंद प्रदान करते हैं। अक्षर-भारती का यह विशिष्ट ईक्षण रामानुज और लक्ष्मणाग्रज की विचक्षण मुखमुद्रा में परिलक्षित होता है। एक अनिर्वचनीय बहुमान-भावना से लक्ष्मण सुग्रीव की ओर देखते हैं तो राम हनुमान् की ओर देखते हैं। सीता को देख आए हनुमान् पर राम का

दृष्टिपात होता है और कार्यशूर हनुमान् को देखकर संतुष्ट होने वाले सुग्रीव पर लक्ष्मण का शक्तिपात होता है। दृष्टि और शक्ति का यह अपूर्व संगम इस क्षण की विशिष्टता है जो देश, काल और व्यक्ति के अंतर को समाप्त कर सबको समेकित कर देती है। तन मन में तन्मय हो जाता है और मन आत्मा में उन्मन बन जाता है। इस भावभूमि का वर्णन वाल्मीकि की वाणी में भव्य से भव्यतर बन जाता है।

दृष्टा देवीति हनुमद् वदनादमृतोपमम् ।
आकर्ण्य वचनं रामो हर्षमाप स लक्ष्मणः ॥
निश्चितार्थं ततस्तस्मिन् सुग्रीवं पवनात्मजे ।
लक्ष्मणः प्रीतिमान् प्रीतं बहुमानादवैक्षत ॥
प्रीत्या च परयोपेतो राघवः परवीरहा ।
बहुमानेन महता हनूमंतमवैक्षत ॥

(दोनों राजकुमारों ने दोनों वानरवीरों को जिस बहुमान और प्रेम से देखा है, उसमें कर्ता की चरितार्थता, कर्म की महत्ता और कारक की संस्कारिता की ओर कोमल, कमनीय और गौरवमय संकेत मिलता है।)

देवी का कुशलमंगल संक्षेप में सुनने के बाद विस्तार से सारा वृत्तांत सुनने के लिए सभी लोग प्रस्रवण पर्वत पर पहुँचते हैं। रावण की राजधानी लंका में रामपत्नी किस प्रकार निवास कर रही है, किस प्रकार की यातना सहकर क्षण-क्षण की गणना करते हुए कैसे अपने को संभाल रही है, राम के ध्यान में निरत होकर वह कैसे अपने को समझा रही है आदि सभी बातें विस्तार से सुनाने के लिए सभी वानर महावीर मारुति को आगे बढ़ाते हैं तो सीतावल्लभ की जिज्ञासा का समाधान करते हुए हनुमान् लंका-यात्रा का समस्त विवरण समग्र भाव से निवेदित करते हैं। अपना प्रतिवेदन प्रारंभ करने से पहले वह दक्षिण की ओर मुड़कर मानसिक रूप से माता को प्रणाम करते हैं और फिर श्रीराम को अपनी गुणज्ञता, उचितज्ञता और पदज्ञता का पूरा-पूरा ध्यान रखते हुए अक्षत और निष्ठारत वैदेही की विषाद गाथा सुनाने लगते हैं।

सबसे पहले सीता-माता की दी हुई दिव्य चूड़ामणि को श्रीराम के हाथ में देकर फिर सागर-लंघन से लेकर प्रतिप्रयाण तक की सारी बातें बताते हैं। रावण की नगरी लंका में रावण द्वारा नियुक्त राक्षसियों के मध्य त्रस्त किंतु सुरक्षित स्थिति में सीता-माता किस प्रकार अपने शील की रक्षा करते हुए अपनी अश्रुधारा को एकमात्र सहारा बनाकर अपने स्वामी की प्रतीक्षा कर रहीं हैं, इसके सजग, सजीव और संयत चित्र प्रस्तुत करते हैं—समयज्ञ समीरकुमार। बातचीत की कला में कुशल वायुनंदन लंका से लौटकर आते ही अपने साथियों को लंका की लगभग सभी बातें बताते हैं, पर अपने स्वामी सुग्रीव के सामने प्रभु राम को केवल चुने हुए प्रसंग चुने हुए शब्दों में सुनाते हैं और बड़ी शालीनता के साथ। साथ ही वह राम को कुछ ऐसे प्रसंग सुनाते हैं, जो प्रारंभिक प्रसंग में प्रकट नहीं होते। किस को कौन सी बात किस ढंग से और कितने विस्तार से कहनी है, इस मर्यादा का मारुतनंदन पूरा-पूरा ध्यान रखते हैं। चूड़ामणि देने के पहले सीता-माता हनुमान् को चित्रकूट का जो विशिष्ट प्रसंग सुनाती हैं, उसका उल्लेख वह केवल राम के सामने करते हैं, और वह भी पहले संक्षेप में और बाद में राम की इच्छा पर विस्तार से। यह प्रसंग केवल राम और सीता तक सीमित है और इसीलिए सीता-माता इसको अपनी पहचान के रूप में राम को सुनाने के लिए हनुमान् से कहती हैं। इससे पता चलता है कि वायुनंदन केवल कार्यकुशल ही नहीं, बल्कि वाक्य-कुशल भी हैं।

शोकाकुल जानकी की विरहवेदना का वर्णन करते समय भी समीरकुमार अत्यंत संयम और सावधानी से काम लेते हैं ताकि राम का दुःख सीमा को पार न कर जाए। फिर भी अपनी प्राणप्रिया विदेहनंदिनी की दी हुई चूड़ामणि को देखकर राम का हृदय द्रवीभूत हो जाता है और उनकी आँखों से अविरल अश्रुधारा बहने लगती है—लगभग उसी प्रकार जिस प्रकार अपने बछड़े को देखने पर गोमाता दूध की धारा बहाती है। वास्तव में यह चूड़ामणि लौकिक आभूषण नहीं है, जल में

प्रकट दिव्यमणि है जिसको देवराज इंद्र ने राजा जनक को प्रेम के उपहार के रूप में दिया था और जिसको राजा जनक ने अपनी बेटी सीता के विवाह की मंगलमय वेला में कन्यादान के साथ दिया था। इसीलिए उस दिव्य चूड़ामणि को देखते ही दशरथनंदन राम को अपने पिता, श्वसुर और जानकी की एक साथ याद आती है। नारीरत्न सीता के शिरोरत्न के रूप में चिरशोभित उस दिव्यमणि के स्पर्श के माध्यम से राम अपनी साध्वी पत्नी सीता के ही स्पर्श का अनुभव करते हैं। भावुकता से विह्वल होकर भावनारारण रामभद्र हनुमान् से आतुर स्वर में पूछते हैंः—

किमाह सीता वैदेही ब्रूहि सौम्य पुनः पुनः।
परासुमिव तोयेन सिंचंती वाक्यवारिणा॥

(प्रिय हनुमान्, मेरी प्रिय सीता ने और क्या कहा? जो कुछ कहा, याद कर बार-बार मुझे वे बातें विस्तार से सुनाना क्योंकि तुम्हारी ये बातें मेरे सूखते जा रहे प्राणों पर पानी छिड़काकर उन्हें जिला रही हैं।

बार-बार चूड़ामणि को देखकर और रह-रहकर हनुमान् की बातें सुनकर श्रीराम की चेतना नई स्फूर्ति को प्राप्त करने लगती है। जब उनको सीता देवी की यह बात याद आती है कि वह केवल एक ही मास तक अपने प्राण धारण कर सकती है तब वह अपनी इससे भी दयनीय दशा की ओर हनुमान् का ध्यान आकर्षित करते हुए कहते हैंः—

चिरं जीवति वैदेही यदि मासं धरिष्यति।
क्षणं वीर न जीवेयं बिना तामसितेक्षणाम्॥

(जानकी यदि एक मास जीवित रही तो वह चिरकाल तक जीवित रह सकेगी। परन्तु मैं अपनी प्राणेश्वरी को देखे बिना क्षणभर भी जीवित नहीं रह सकता।)

अपनी भावुकता में गुणधीर और रणवीर राम भी इतने अधीर हो जाते हैं कि पागल की तरह वह पवनपुत्र से अनुरोध करते हैं कि मुझे भी वहीं ले चलो जहाँ तुमने मेरी मैथिली को देखा है। राजभवन में न सही, कम से कम राम के सान्निध्य में स्वांतस्सुख का अनुभव करते हुए आराम से दिन बिताने की अधिकारिणी वैदेही राक्षसियों के बीच अपने को कैसे संभाल पा रही है, इस बात की कल्पना ही काकुत्स्थ-वंश के स्वामी को कातर बना देती है। बार-बार वह चूड़ामणि की ओर देखते हैं, पर बिना सीता की यह चूड़ामणि उनके लिए पीड़ामणि बन जाती है। स्वभाव से मधुर और संभाषण में मधुरतर मैथिली की मीठी मीठी बातें सुनने के लिए सीतावल्लभ का मन लालायित हो उठता है। सीतातुर राम की इस चिंता-जड़ दशा को देखकर अनिलात्मज नाना प्रकार से उनको सांत्वना देने का प्रयास करते हैं। कभी कही हुई बात फिर से दुहराते हैं, कभी देवी की बात दूसरे शब्दों में सुनाते हैं और कभी कभी देवी के धैर्य की सराहना करते हुए अपने स्वामी का मनोबल बढ़ाते हैं। इसी शृंखला में हनुमान् अपने एक समयोचित प्रस्ताव की बात दुहराते हुए कहते हैं "प्रभु, मैंने तो देवी के सामने यह भी प्रस्ताव रखा कि वह मेरी पीठ पर बैठ जाएँ तो क्षण भर में उनको आपके पास पहुँचा सकता हूँ। पर इस प्रस्ताव को परम साध्वी जानकी ने इस आधार पर स्वीकार नहीं किया कि यह कार्य न राम की प्रतिष्ठा के योग्य है और न राम-पत्नी की मर्यादा के अनुकूल है। इस पर मुझे पूरा विश्वास हुआ कि जिस देवी के मैंने दर्शन किए हैं, वह आपकी और केवल आपकी सहधर्मचरी बनने की अधिकारिणी है।"

जैसे-जैसे हनुमान् लंका यात्रा का वर्णन करने लगते हैं और विषाद-नंदिनी वैदेही की करुण कथा सुनाने लगते हैं, श्रीराम और अधीर बनते जाते हैं। इसलिए अपने उपनिवेदन का उपसंहार करने का प्रयास करते हुए पवनपुत्र लंका के प्रतिप्रयाण के समय वैदेही ने जो बातें कहीं उन्हीं को दुहराते हैं और साथ-साथ यह भी बताते हैं कि उन्होंने किन शब्दों में माता के मन को आश्वस्त कर दिया है। आंजनेय की कार्यशूरता पर अवनितनयाँ को पूरा विश्वास है। परंतु उनको यह नहीं मालूम कि इतनी विशाल वानर सेना को लेकर उनके स्वामी राम लंका में कैसे प्रवेश कर पाएँगे, सागर

कैसे पार कर पाएँगे और लंका के भयंकर राक्षसों की माया पर कैसे विजय कर पाएँगे। इस सहज आशंका का सबल निराकरण करते हुए हनुमान् कहते हैंः—

मद्विशिष्टाश्च तुल्याश्च संति तत्र वनौकसः।
मत्तः प्रत्यवरः कश्चिन्नास्ति सुग्रीव सन्निधौ ॥

(माते, सुग्रीव के दरबार में जितने वानर हैं, उनमें से कई लोग मेरे समान वीर शूर हैं और कुछ तो मुझसे बढ़कर भी हैं। पर कोई भी वानर ऐसा नहीं है जो मुझसे कमज़ोर है। इसलिए आप निश्चिंत रहें।)

हनुमान् के इस कथन में उनकी विनम्रता का स्पष्ट प्रमाण तो मिलता है, पर साथ ही उन्होंने अपनी विनम्रता के माध्यम से मैथिली के मनोबल को बढ़ाने में कितनी सहजता से सफलता प्राप्त की है, यह देखकर उनके स्वामी राम ही नहीं, रामायण के पाठक भी मुग्ध हो जाते हैं। यह एक वाक्य पर्याप्त है हनुमान् को हनुमान् सिद्ध करने के लिए, आत्मयोगी की अपरिमेय अलौकिकता को लौकिक भाषा में परिभाषित करने के लिए और सुंदरकांड की सुंदरता का सुंदरतम विवेचन प्रस्तुत करने के लिए।

इतनी प्रसन्न गंभीर वाणी के धनी होते हुए भी हनुमान् हास्यप्रिय भी हैं। अपनी इस उक्ति में केवल शिष्टाचार की विनम्रता नहीं है, यह बात सिद्ध करने के लिए कुशल वक्ता कपिपुंगव कहते हैं कि तभी तो सबसे पहले नमूने के तौर पर मुझे भेजा है। सबसे पहले प्रायः सबसे समर्थ व्यक्ति को नहीं भेजा जाता है, इस समराचार के आधार पर वह अपनी बात का समर्थन भी कर लेते हैं। उक्ति-वैचित्र्य का यह ज्वलंत उदाहरण पवनपुत्र को पद-निधि का परम योग्य अधिकारी बना देता है—केवल शब्दों से निष्पन्न पद-निधि का नहीं, बल्कि सीता और राम की पावन पद-निधि को भी प्राप्त करने का उनको सौभाग्य मिलता है।

सीता-माता से विदा लेते समय हनुमान् ने उनको आश्वासन देने के लिए जो बातें कही हैं, उनमें न केवल लंका पर श्रीराम की विजय की अवश्यंभाविता की ओर सुखद संकेत मिलता है, बल्कि अयोध्या में श्रीराम के राजतिलक की निकट संभावना भी प्रकट होती है। मारुतनंदन के ये मधुराक्षर कविकोकिल की काकली में सुनने योग्य हैंः—

मम पृष्ठगतौ तौ च चंद्रसूर्याविवोदितौ।
त्वत्सकाशं महाभागे नृसिंहावागमिष्यतः ॥
शैलांबुद निकाशानां लंकामलयसानुषु।
नर्दतां कपिमुख्यानां न चिरात् श्रोष्यसे स्वनम्।
निवृत्त वनवासं च त्वया सार्द्धमरिंदमम्।
अभिषिक्तमयोध्यायां क्षिप्रं द्रक्ष्यसि राघवम् ॥

(भाग्यशालिनी सौभाग्यवती माते, नरसिंह के समान पराक्रमी वीर राजकुमार राम और लक्ष्मण मेरी पीठ पर चढ़कर देखते ही देखते सूर्य और चंद्र के समान यहाँ आ पहुँचेंगे। लंका के सुशीतल शैल शिखरों पर कुछ ही दिनों में पर्वत के समान आकारवाले वानरवीर आकर अपना सिंहनाद सुनाएँगे। वनवास की दीक्षा समाप्त कर विजयी राघव अपनी राजधानी अयोध्या में प्रवेश करेंगें और वहाँ पर राजतिलक की रमणीय शोभा में लोकाभिराम राम पट्टाभिराम बन जाएँगें।)

अंत में हनुमान् एक सुंदर छंद में अपने सुंदर अभियान का सुंदर समन्वय करते हुए सुंदरतम शब्दों में कहते हैंः—

ततो मया वाग्भिरदीनभाषिणी
शिवाभिरिष्टाभिरभिप्रसादिता।
उवाह शांतिं मम मैथिलात्मजा
तवातिशोकेन तथाति पीडिता ॥

(कभी भूल से भी दीन वचन न कहने वाली सुमधुर भाषिणी कल्याणी माता को मैंने मंगलमय और ममतामय वचन सुनाकर उनको परम शांति प्रदान करने का यथेष्ट प्रयास किया है।)

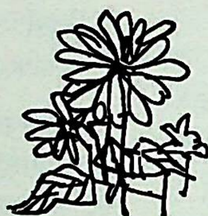
शांतिदूत हनुमान् के ये शांति वचन सुंदरकांड में शांति-पाठ का प्रयोजन सिद्ध करते हैं। राक्षसराज रावण

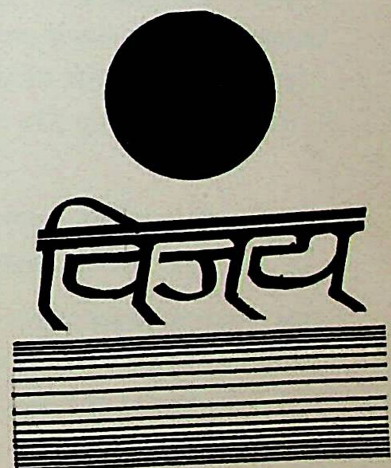
द्वारा अपनीत सीता-माता के सुभग पदाभ्याश के परिमार्गण में सर्वथा और सर्वात्मना सफल समीरज को सर्वज्ञ राम अपने स्वात्मज के समान देखकर अपने प्रगाढ़ और निगूढ़ आलिंगन में उनको आत्मलीन बना लेते हैं और कहते हैं कि यही मेरा सर्वस्व है।

एष सर्वस्वभूतस्तु परिष्वंगो हनूमतः।
मया कालमिमं प्राप्य दत्तस्तस्य महात्मनः॥

(इस समय मेरे पास यह आलिंगन ही मेरा सर्वस्व है और इसी को महावीर हनुमान् के सम्मान में मैं समर्पित करता हूँ।)

समर्पण की यह भावना जितनी उदात्त है, उतना ही उदार समर्पण का यह क्षण है जो युग को क्षण बना सकता है और क्षण को युग भी।




विजय



59. तदनंतर कर्तव्य विचारण

एक, केवल एक ही दिन में अकेले आंजनेय ने अपने आत्मयोग और सीताराम के भावयोग के बल पर जो दुष्कर कार्य सुगमता से संपन्न किया था, उसने उधर लंका में और इधर किष्किंधा में अनेक वीरों को अनेक दिन अनेक बातों पर अनेक प्रकार से सोचने के लिए बाध्य कर दिया। लंका में रावण-समेत सभी राक्षस रामदूत के अलौकिक पराक्रम को देखकर त्रस्त और आतंकित हो गए और इधर किष्किंधा में सीता-माता का पता लग जाने से आशा, आश्वासन, हर्ष और उल्लास की लहरें उमड़ पड़ीं। अब पता चला कि शत्रु कहाँ है, किस धातु का बना हुआ है, उसका आशय क्या है और वह अपने आशय में कितना अटल है। यह सब जानने पर भी कर्तव्य कर्म का निर्धारण कर उसमें अभीष्ट सफलता प्राप्त करने की दिशा में आगे बढ़ना इतना सरल नहीं है जितना समझा जाता है। यह बात महात्मा राम अच्छी तरह जानते हैं। इसीलिए वह एक ओर कार्य-शूर हनुमान् का हृदय से अभिनंदन करते हुए उनके द्वारा संपन्न कार्य को अनन्य साध्य और अत्यंत दुष्कर बताते हैं और दूसरी ओर भावी कार्यक्रम की गुरुता और दुस्साध्यता को देखते हुए तनिक उदास भी हो जाते हैं। राम की इस अप्रत्यय भावना को समझना सुग्रीव के लिए संभव नहीं हो पाता। अपनी वानरीय वाचालता और चपलता का परिचय देते हुए सरल हृदय सुग्रीव सहदृय राम को यह समझाने का प्रयत्न करते हैं कि राम जैसे अप्राकृत पराक्रमी को उदास नहीं होना चाहिए क्योंकि अपार वानर-सेना को साथ लेकर उनका लंका में पहुँचना भर काफी है, विजय अपने आप हस्तगत हो जाएगी। राम के दर्शन मात्र से रावण निस्तेज बन जाएगा।केवल सागर को पार करना है, शेष सब वानर-वीरों के लिए बाएँ हाथ का खेल है। पर सागर कैसे पार करना है, यह बात सुग्रीव नहीं बताते। इसका उपाय राम को सोचना है। इस बात को बड़ी सावधानी से बताते हुए सुग्रीव कहते हैं:—

कथंचित् परिपश्यामि लंघितं वरुणालयम्।
हतमित्येव तं मन्ये युद्धे शत्रुनिबर्हण ॥

किसी न किसी प्रकार मेरी समस्त सेना इस महासागर को पार कर जाए तो शत्रुसूदन, हम अपने शत्रु को क्षण भर में समाप्त कर सकते हैं।

लगभग चौबीस श्लोकों में सुग्रीव जो परामर्श देते हैं, उसका सार यही है कि समुद्रलंघन के बिना शत्रु पर विजय पाना संभव नहीं है। इसलिए सबसे पहले सागर को पार करने का उपाय सोचना चाहिए। इसी समस्या को लेकर राम भी चिंतित होते हैं। अपनी चिंता को स्पष्ट शब्दों में व्यक्त करते हुए दशरथ-नंदन कहते भी हैं:—

सर्वथा सुकृतं तावत् सीतायाः परिमार्गणम्।
सागरं तु समासाद्य पुनर्नष्टं मनो मम ॥

सीता का पता लगाकर हनुमान् ने सचमुच बड़ा सराहनीय कार्य किया है। पर इससे हमारी समस्या का कोई विशेष समाधान नहीं हुआ है। अभी केवल हनुमान् ने सागर का लंघन किया है जो कि अन्य

वानरों के लिए सुकर नहीं है। इसके लिए सागर पर सेतुबंधन करना परम आवश्यक है। इसीलिए सागर की बात सोचते ही मेरा मन फिर से उदास हो रहा है।

राम के इस कथन के बाद ही सुग्रीव ने अपना विस्तृत परामर्श दिया। पर बात वहीं की वहीं रह गई। सागर कैसे पार करना है, यह समस्या समस्या ही रह गई। फिर भी धीरवर राम आश्वस्त हैं। उनको अपनी तपस्या और साधना पर पूरा विश्वास है। इसी विश्वास को प्रकट करते हुए वह कहते हैंः—

तपसा सेतुबंधेन सागरोच्छोषणेन च।
सर्वथापि समर्थोस्मि सागरस्यास्य लंघने॥

मैं अपनी तपस्या के बल पर या तो समुद्र पर पुल बनवा दूँगा या आवश्यकता पड़ने पर उसको सुखा भी सकता हूँ। इसलिए सागर का लंघन कोई खास समस्या नहीं है।

फिर समस्या क्या है? व्यवहारकुशल राम जानते हैं कि लंका की नगरयोजना, सामरिक क्षमता, बलाबल की सीमा और संभावना सब जाने समझे बिना केवल सागर पार करने से कोई लाभ नहीं होगा हालांकि सागर-लंघन अपने आप में एक दुर्लंघ्य समस्या अवश्य है। दूसरों के सामर्थ्य को पहचानने में पटु राम भलीभांति जानते हैं कि इन दोनों कार्यों में आवश्यक मंत्रणा देने में मारुतनंदन ही सर्वथा समर्थ हैं क्योंकि उन्होंने अभी अभी सागर का लंघन भी किया है और लंका का सर्वेक्षण भी किया है। इसीलिए राम उन्हीं से पूछते हैंः—

कति दुर्गाणि दुर्गाया लंकाया ब्रूहि तानि मे।
ज्ञातुमिच्छामि तत्सर्वं दर्शनादिव वानर॥
बलस्य परिमाणं च द्वारदुर्गक्रियामपि।
गुप्तिकर्म च लंकाया रक्षसां सदनानि च॥
यथासुखं यथावच्च लंकायामसि दृष्टवान्।
सर्वमाचक्ष्व तत्त्वेन सर्वथा कुशलो ह्यसि॥

लंका को दुर्गम बनानेवाले दुर्ग वहाँ पर कितने हैं। सबके बारे में मुझे सारी बातें विस्तार से बताना। इन दुर्गों को आपने जैसा देखा है, वैसा ही वर्णन करना ताकि मैं सही बात सही ढंग से समझ जाऊँ। लंका में कितनी बड़ी सेना है, उसको कहाँ कहाँ पर किस प्रकार स्थापित किया गया है, वहाँ पर सुरक्षा और प्रतिरक्षा की क्या व्यवस्था है, रहस्य की बातें कैसे सुरक्षित रखी जाती हैं, राक्षस-वीरों के भवन किस प्रकार के हैं, इन सभी बातों को आपने वहाँ पर बड़े ध्यान से और आराम से देखा होगा। जो भी देखा, वह सब मुझे बताओ क्योंकि आप केवल कार्यकुशल ही नहीं, बल्कि वाक्य-कुशल भी हैं।

प्रबुद्ध राम की इस प्रासंगिक जिज्ञासा का समाधान करते हुए पवनपुत्र हनुमान् बहुत ही प्रशांत और प्रसन्न स्वर में अपनी लंका-यात्रा में आँखों देखा हाल अत्यन्त संक्षिप्त, संयत तथा संगत शैली में सुनाने लगते हैं। निर्लिप्त और व्यक्ति-निरपेक्ष भाव से पवननंदन सबसे पहले लंका-नगरी की समृद्धि तथा वृद्धि का वर्णन करते हैं। लंका का वैभव, वहाँ के मदमाती हाथियों,महारथियों के मनमोहक रथों, विशाल भवनों, भव्य द्वारों तथा दुर्गम दुर्गों से आंका जा सकता है। सारी नगरी में चार प्रमुख द्वार हैं जो बड़े बड़े हैं, मज़बूत हैं और मोटी मोटी अर्गलाओं से अभिरक्षित हैं। प्रत्येक द्वार पर विस्मयकारी यंत्र हैं जो आवश्यक होने पर शरवर्षा से शत्रुसेना को रोक सकते हैं। इनके अतिरिक्त द्वार द्वार पर भयानक शतघ्नियाँ हैं जिनको उपयुक्त समय पर उचित प्रयोग के लिए सजा कर रखा गया है। नगर के चारों ओर सोने का बना हुआ परकोटा है जिसको तोड़ना साधारण योद्धा के लिए संभव नहीं है। इन परकोटों पर मणिमय चित्र और बहुमूल्य रत्नों की कलाकृतियाँ हैं। परकोटों के चारों ओर भयंकर और गहरी खाइयाँ हैं जिनका जल शीतल है और जिनमें भयंकर मकर मत्स्य निवास करते हैं। प्रत्येक द्वार पर कृत्रिम सेतु हैं जिनको संक्रम कहा जाता है। इन पर चलनेवाले शत्रुओं को राजभवन में प्रवेश करने से रोकने के लिए यंत्रों के माध्यम से उनको गिराया जाता है। ये संक्रम संहार और संरक्षण दोनों के साधन बनते हैं। इनमें से एक संक्रम सबसे

अधिक दृढ़ और सुसज्जित है।

लंका की साज-सज्जा तथा सामरिक और सांसारिक समृद्धि का वर्णन करने के बाद हनुमान् अपने प्रभु को यह भी बताते हैं कि रावण के अनुयायी अपने स्वामी के प्रति बहुत ही निष्ठावान् हैं और रावण अपने तेज, ओज और प्रेम से सबको अपने अधीन बनाए रखता है। सबसे आश्चर्य की बात यह है कि त्रिकूट पर्वत पर आवासित लंका का कोई आधार नहीं है। शून्य में वह निराधार और निरालंब दूर से लटकती सी दिखाई देती है। नौकाएँ वहाँ तक पहुँच नहीं पाती हैं। अमरावती की भांति अपूर्व शोभा से विराजमान लंका परम दुर्जेय है। इसी भरोसे दुरात्मा रावण अपनी मनचाही भोगलालसा में मस्त होकर धर्म और न्याय की उपेक्षा करता है। लंका में प्रत्येक द्वार पर असंख्य सेना तैनात है। इसलिए किसी भी द्वार से किसी भी साधन से कोई भी नगर में प्रवेश नहीं कर पाता।

इतना कहने के बाद वाक्यकुशल वायुनंदन अपनी कार्यकुशलता के संबंध में विनम्र निवेदन करते हुए कहते हैं: प्रभो, आप चिंता न करें। मैंने लंका के सभी कीलक स्थानों को विस्थापित कर दिया है और प्रतिरक्षा के प्रकृष्ट उपकरणों को नष्ट कर दिया है। आधी लंका तो मेरी पूँछ की आग से दग्ध हो गई और अनेक वीर मेरे सामने वीरगति को प्राप्त कर चुके हैं। इसलिए लंका में जो कुछ बचा है, उसको समाप्त करना आप के लिए अत्यंत सुगम हो जाएगा। केवल सागर पार करना है, शेष सब पानी में खेलना जैसा है। किसी न किसी प्रकार वानरसेना को समुद्र के उस पार पहुँचा दिया जाए तो लंका नगरी का सर्वनाश सहज संभाव्य है। कुछ नहीं तो अंगद, द्विविद, मैंद, जांबवान्, पनस, नल और नील वायुमार्ग से लंका में पहुँचेंगे और रावण को पराजित करने में इतने ही वीर पर्याप्त और सक्षम हैं।

इस प्रकार राम का मनोबल बढ़ाने वाले मनोज्ञ वाक्यों से अपना मनमोहक विवरण समाप्त कर मारुतनंदन दशरथनंदन को तदनंतर कर्त्तव्य के संबंध में सुझाव देते हैं:—

एवमाज्ञापय क्षिप्रं बलानां सर्वसंग्रहम्।
मुहूर्तेन तु युक्तेन प्रस्थानमभिरोचय॥

इसलिए आप सभी सैनिकों को आज्ञा दें कि वे अपने अपने साधन बटोर कर समर-यात्रा के लिए सन्नद्ध हो जाएँ और रणयात्रा के लिए आप उपयुक्त समय भी निर्धारित करें।

पवनपुत्र के इस प्रतिवेदन से पता चलता है कि सत्य को हितकर बनाकर प्रिय शब्दों में कहने का सामर्थ्य उनमें कितना है। राम की पत्नी के अपहरणकर्ता के बल, पराक्रम, वीर्य, शौर्य और वैभव का निरपेक्ष भाव से वर्णन करना, और वह भी राम के सान्निध्य, में साधारण कार्य नहीं हैं। पर यह परम आवश्यक था क्योंकि भावी योजना बनाने में और कार्य की गुरुता समझने में राम के लिए इन सब बातों की सही और पूरी जानकारी आवश्यक है। फिर भी राम का मनोबल बढ़ानेवाली बातें भी साथ साथ कहकर मारुतनंदन ने अपने को सौंपे गए कार्य के कुशल निष्पादन तथा दूत की मर्यादा के पालन दोनों को एक साथ निभाया है।

आंजनेय के आत्मनिवेदन से आश्वस्त होकर आत्मवान् राम कहते हैं:—

यं निवेदयसे लंकां पुरीं भीमस्य रक्षसः।
क्षिप्रमेनां वधिष्यामि सत्यमेतद् ब्रवीमि ते॥

आपने इस भयंकर राक्षस की राजधानी लंका के बारे में जो कुछ कहा है वह सब सत्य है और यह भी सत्य है कि वह मेरे हाथों से शीघ्र ही संहार की पात्रता प्राप्त कर चुका है।

सत्यपराक्रम राम की इस प्रतिज्ञा में उनकी प्रज्ञा स्वयं भारती बनकर बोलती है और उनका आत्मविश्वास कार्यनिवेदन आंजनेय और कार्य निदेशक सुग्रीव दोनों को कार्योन्मुख बना देता है। रण-यात्रा के लिए उपयुक्त समय निर्धारित करने का हनुमान् ने राम से जो अनुरोध किया था, उसके उत्तर में समयज्ञ राम

सुग्रीव से कहते हैं:—

अस्मिन् मुहूर्ते सुग्रीव प्रयाणमभिरोचय।
युक्तो मुहूर्ते विजये प्राप्तो मध्यं दिवाकरः॥

इसके लिए यही समय, यही क्षण और यही मुहूर्त मेरी दृष्टि में सबसे अनुकूल है। अभी हमारी सेना के अभियान की तैयारी आरम्भ हो। भगवान् भास्कर आकाश में बिलकुल शिरोभाग पर है। इसी को कालज्ञ विजय नाम का मुहूर्त बताते हैं। इसलिए यही मुहूर्त हमारे प्रस्थान के लिए सर्वथा उपयुक्त है।

"शुभस्य शीघ्रम्"। कोई भी अच्छा काम करने के लिए वही क्षण सबसे उपयुक्त होता है जिस क्षण वह विचार मन में आता है जब कि गलत काम करने में जितना विलम्ब किया जा सके, उतना अच्छा है क्योंकि विलम्ब से उसका हल निकल आने की संभावना रहती है। इसीलिए राम अपने सत्कार्य का शुभारंभ तत्काल करवाना चाहते हैं। वास्तव में रावण पर राम की विजय आत्म विजय है, व्यक्तिगत विजय नहीं है। शुभ की प्राप्ति इस विजय का लक्ष्य है। इस दृष्टि से विजयराघव राम की रणयात्रा शुभ की शोभायात्रा है जिसमें सार्वजनिक शुभ निहित है।

लंका की ओर तत्काल प्रस्थान करने की बात सोचने में राम का यह भी आशय था कि अशोक-वाटिका में शोकाकुल बैठी सीतादेवी के मन में इससे आशा का उदय होगा। राम की इस रण-यात्रा का समाचार सीता के लिए अमृत-पान का सा आनंद प्रदान करेगा और दो मास की अवधि के संकट में ग्रस्त उन के प्राणों में संजीवनी शक्ति का संचार होगा। इसके अलावा, संयोग से उस दिन उत्तराफल्गुनी का नक्षत्र था जो कि सूर्य का नक्षत्र है और सूर्य इक्ष्वाकुवंश के लिए परम आराध्य देवता हैं। निर्मल मन में जो निश्छल संकल्प उदित होता है, उसके उदित होने का क्षण भी निर्मल होता है। संकल्प और संयोग का यह सहज सामंजस्य प्रस्तुत प्रसंग में सद्दर्शी, समदर्शी और समयदर्शी राम के सामने प्रत्यक्ष होता है। काल की गति को कलात्मक मति से परखनेवाले राम यह बात इस ढंग से कहते हैं कि मानों वह उत्तराफल्गुनी को अपनी आँखों के सामने देख रहे हों। वह चाहते हैं कि 'हस्त' के आगमन से पहले ही सेना की समरयात्रा आरम्भ हो। उनके शब्द हैं:—

उत्तराफल्गुनीह्यद्य श्वस्तु हस्तेन योक्ष्यते।
अभिप्रयाम सुग्रीव सर्वानीकसमावृताः॥

(सुग्रीव, आज उत्तराफल्गुनी है और कल हस्त का योग होगा। इसलिए हम अपनी समस्त सेना के साथ आज ही यहाँ से प्रस्थान करेंगे।)

इस संयोग में एक और रहस्य भी है। ज्योतिः शास्त्र के अनुसार पूनर्वसू नक्षत्र में जन्मे राम के लिए उत्तराफल्गुनी कार्यसाधक नक्षत्र होता है और हस्त निधनकारक। लक्ष्मण के लिए भी उत्तराफल्गुनी क्षेम विधायक होता है। इन सब बातों को ध्यान में रखकर राम ने यह मुहूर्त निर्धारित किया हो, ऐसी बात नहीं है। वास्तव में बात यह है कि राम के मन में जो भी विचार आया उसके साथ समय और संयोग का पूरा पूरा सहयोग अपने आप अनायास बैठ रहा है। सज्जनों के संकल्प की यही विशेषता है। इसी संकल्प-सिद्धि को प्राप्त करने के लिए साधारण मनुष्य हमेशा चाहते हैं कि मेरा संकल्प शिवात्मक हो, कल्याणकारी हो (तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु)। शिवभावना में स्वतःसिद्ध राम का संकल्प सदा शिवात्मक ही होता है। इसीलिए यह सारी संगति सहज भाव से बैठ रही है।

शुभ समय में बाहर के लक्षण भी शुभ होते हैं। राम की दाहिनी आँख का ऊपरी भाग फड़कने लगता है। उनको सभी शकुन शुभावह प्रतीत होते हैं। इन शकुनों की ओर संकेत करते हुए जैसे राम कहते हैं कि ये सभी लक्षण आत्मविजय को सूचित करते हैं वैसे लक्ष्मण भी अपनी विचक्षण दृष्टि से जो भी शुभ लक्षण देखते हैं उनका वर्णन करते हुए कहते हैं:

समस्त सेना के पीछे-पीछे सुहावनी, कोमल और हृदय को आनंद से स्पंदित करनेवाली हवा चल रही है। मार्ग में ज़मीन पर चलनेवाले जानवर और आकाश में

उड़नेवाले पक्षी मंगल-मय स्वर में मंगल गीत गा रहे हैं। सारी दिशाएँ निर्मल हैं। सूर्य की कांति स्वच्छ है। शुक्र-तारा प्रसन्न है। ध्रुव तारा ब्राह्म तेज से विराजमान है। हमारे पितामह त्रिशंकु आकाश में आलोक से पुलकित हो रहे हैं। इक्ष्वाकुवंश के लिए परम इष्ट विशाखा का युगल नक्षत्र निरुपद्रव और निरापद शोभा से हमारा स्वागत कर रहा है। मूल नक्षत्र असुर जाति को समूल नष्ट करने की तैयारी में लगा हुआ है। सरिता, सरोवर आदि का जल प्रसन्न और रमणीय है। वन फलों की सुगंध से महक रहे हैं। लगता है कि हम शीघ्र ही अपने कार्य में सफल होकर सकुशल अयोध्या लौटेंगे।

लक्ष्मण की इस विलक्षण वाणी से पता चलता है कि दोनों भाई अपनी समयज्ञता में एक दूसरे से बढ़कर हैं। पर सच्चाई यह है कि समय दोनों के साथ-साथ चल रहा है, समय के साथ वे नहीं जा रहे हैं। यहाँ पर समय सत्य का साथ दे रहा है। इसी में समय की सत्य-निष्ठा है। जहाँ पर सत्य समयनिष्ठ हो और समय सत्यनिष्ठ हो वहाँ पर सत्य की विजय अवश्यंभावी है। समय और सत्य की यही समरसता सत्यपराक्रम राम की समरयात्रा के पग-पग पर परिलक्षित होती है।

वानर सेना की समर-यात्रा का समय निर्धारित करने के पश्चात् धर्मपरायण और अर्थकोविद राम वनमार्ग के विशेषज्ञ नील को मार्ग-दर्शक बनाकर उनसे कहते हैं कि समुद्र की ओर समस्त वानर-सेना को सही मार्ग पर सावधानी से ले जाना है। जहाँ पीने के लिए अच्छा पानी मिले और खाने के लिए स्वादिष्ट फल उपलब्ध हों, ऐसे मार्ग का अनुसरण करना है। साथ ही इस बात पर विशेष ध्यान देना है कि कहीं हमारे शत्रुओं ने जल और फलों को विषाक्त तो नहीं कर दिया है क्योंकि इन मायावी राक्षसों का कोई भरोसा नहीं है। वन, उपवन, दुर्ग आदि को बड़े ध्यान से परख-निरखकर आगे बढ़ना है। कहीं भी शत्रुसेना लुक-छिपकर हम पर हमला कर सकती है। सेना के आगे गज, गवाक्ष और गवय रहेंगे, दाहिनी ओर ऋषभ रहेंगे और बाईं ओर गंधमादन रहेंगे। बीच में हनुमान् पर आरूढ़ होकर मैं स्वयं रहूँगा और मेरे साथ इसी प्रकार अंगद पर आरूढ़ मेरे भाई लक्ष्मण होंगे। अंत में राम जांबवान्, सुषेण और वेगदर्शी को सेना के कुक्षिभाग की रक्षा करने को कहकर आगे बढ़ते हैं।

महाप्रभु राम के आदेश पर जब वानर सेना दक्षिण की ओर प्रस्थान करती है, वह दृश्य देखने योग्य बनता है। समरोल्लास सभी वानरों को उच्छल गति से चलने की प्रेरणा देता है। कोई गरजता हुआ चलता है, कोई गाता हुआ चलता है, कोई जयजयकार करता चलता है और कोई फल खाता, मधु पीता, पेड़ गिराता, बल खाता इठलाता हुआ चलता है। राम के आदेश के अनुसार परिसर के जनपद को छोड़कर सारी सेना एकांत मार्ग पर चलती है ताकि साधारण जनता की शांति में बाधा न पड़े। सागर की ओर बढ़नेवाली वह सेना स्वयं एक और सागर का रूप धारण करती है। अंतर केवल यही है कि सामने के सागर का जल खारा है जब कि रामसागर का जल प्रसन्न और मधुर है। कोलाहल, विक्षोभ, उल्लास और उमंग दोनों में समान है।

मार्ग में सह्य पर्वत को पार करने के बाद सागर निकट दिखाई देता है। दिन रात उस दुर्गम पथ को पार करते करते दुर्ललित सेना कई दुर्लभ-दृश्यों को, वृक्षों को, वनों को और जलाशयों को देख कर प्रसन्न हो जाती है। मार्ग में मिले नाना प्रकार के मीठे मीठे फलों का सेवन करने से उनकी थकावट दूर हो जाती है और नियुक्त कार्य में कृतकृत्यता की आशा और आकांक्षा बलवती होती जाती है। बीच के जलाशयों से उनकी प्यास भी बुझ जाती है और मनोरंजन भी हो जाता है। धीरे धीरे सारी सेना सागर के तट पर पहुँच जाती है। अब सागर पार करने की समस्या सामने उपस्थित है।

सागर के तट पर महेन्द्र पर्वत दिखाई देता है जहाँ से हनुमान् ने उड़ान भर कर सागर पार किया था। उसी महेन्द्र पर्वत के शिखर पर खड़े होकर महात्मा राम भी महान् सागर का गंभीर गर्जन सुनने लगते हैं। सेना-सागर और जल-सागर में राम-सागर को कोई

विशेष अंतर नहीं दिखाई देता है। दिन ढलते ढलते आकाश की ओर दृष्टि जाती है तो अंबर और सागर में भी बहुत कम अंतर दिखाई देता है। नीचे के सागर में लहरों का कोलाहल और ऊपर के अंबर में तारागण का कुतूहल समान आकर्षक दिखाई देते हैं। प्रकृत्या प्रकृति के प्रेमी होने पर भी रणवीर राम संयत और व्यवहार-कुशल हैं। इसलिए प्राकृतिक सौंदर्य को देखकर उनका मन प्रसन्न तो होता है पर दूसरे ही क्षण उनका ध्यान तदनंतर कर्तव्य की ओर आकृष्ट हो जाता है। वरुणालय के तट पर खड़े होकर करुणालय राम अपने आप्त मित्र सुग्रीव से कहते हैं:—

अतः परमतीरोऽयं सागरः सरितां पतिः।
न चायमनुपायेन शक्यस्तरितुमर्णवः॥
तदिहैव निवेशोऽस्तु मंत्रः प्रस्तूयतामिह।
यथेदं वानरबलं परं पारमवाप्नुयात्॥

वानरसेना अपनी समरयात्रा की एक ऐसी सीमा पर पहुँच गई है जिसके आगे अपार सागर को छोड़कर और कोई मार्ग दिखाई नहीं देता। इसलिए यहीं पर सेना को निविष्ट कर समुद्र को पार करने का उपाय सोचना चाहिए। यह मनन और मंत्रणा का समय है। इसके साथ-साथ राम समस्त वानर-सेना को शत्रुओं के संभावित आतंक से सतर्क करते हुए कहते हैं कि सारी सेना अपने नियत स्थान पर सावधानी के साथ स्थित रहे, कोई इधर-उधर न जाए क्योंकि किसी भी समय किसी भी सूत्र से कोई भी उत्पात हो सकता है। राम की आज्ञा का पालन तत्काल हो जाता है और सारी सेना अग्रेतर आदेश की प्रतीक्षा में नीचे सागर और ऊपर आकाश की सुषमा देखती रहती है। सागर और अंबर की समरसता को देखकर प्रसन्नराघव कहते हैं:—

सागरं चांबरप्रख्यं अंबरं सागरोपमम्।
सागरं चांबरं चेति निर्विशेषमदृश्यत।

(सागर अंबर के समान है और अंबर सागर के समान है। इन दोनों में से एक को दूसरे से अलग कर देखना-पहचानना संभव नहीं है।)

सागर को आकाश की आँखों से और आकाश को सागर की आँखों से बारी-बारी से देखने के पश्चात् वियोगी राम के मानस-सागर में भी उद्वेलित तथा विक्षुब्ध तरंगें उठ-उठकर कुछ भूली बिसरी बातों की याद दिलाती हैं। रावण के द्वारा जब सीता का अपहरण हो रहा था, उस समय न मालूम कितनी पीड़ा से सीता ने अपने प्राणनाथ राम का स्मरण किया होगा। इस बात की कल्पना ही राम को विह्वल कर देती है। प्रेमस्वरूपिणी जानकी की स्मृति परम प्रेमी राम को प्रणयाकुल बना देती है। दिन-रात पीड़ा की इसी ज्वाला से उनका शरीर तपता जाता है। उनको देखकर आश्चर्य होता है कि उनका दुख दिन प्रति दिन बढ़ता जा रहा है जब कि साधारणतया समय के साथ दुख की तीव्रता कम हो जाती है। उनको इस बात की विशेष चिंता रहती है कि उनकी पत्नी ने अपने प्राण धारण के लिए जो अवधि बताई है वह धीरे-धीरे समाप्त होती जा रही हे। सागर के उस पार उनकी साध्वी पत्नी है और इस पार वह स्वयं उनके लिए तड़प रहे हैं। इसलिए अपनी पत्नी के साथ सत्वर और सांप्रतिक संपर्क स्थापित करने के लिए वायु और चंद्रमा का आश्रय लेते हुए वह आर्त स्वर में इन दोनों संधाताओं से अनुरोध करते हैं:—

वाहि वात यतः कांता तां स्पृष्ट्वा मामपि स्पृश।
त्वयि मे गात्रसंस्पर्शः चंद्रे दृष्टिसमागमः॥

(प्रिय वायु, तुम कृपा करके उस दिशा में प्रसारित होने का कष्ट करो जहाँ मेरी कांता सीता है। वहाँ जाकर पहले मेरी कांता का स्पर्श करो और फिर मेरे पास आकर मुझे भी उस कोमल स्पर्श का अनुभव करा दो। इस प्रकार मैं तुम्हारे माध्यम से अपनी प्रिया का स्पर्श करने का सुख प्राप्त करूँगा और रात को चन्द्रमा को देखकर उसी चंद्रमा को सागर के उस पार बैठकर देखनेवाली चंद्रमुखी सीता के साथ दृष्टिसंगम प्राप्त करूँगा।)

अपनी जीवन-संगिनी जानकी की लंका में संभावित दुःस्थिति का अनुमान लगाकर कमललोचन राम करुणलोचन बन जाते हैं। स्वभाव से दुर्बल, वैदेही

राक्षसियों के मध्य निराहार और निरानंद दशा में रह रहकर और दुर्बल बन गई होगी। कहाँ मिथिलेश की सुकुमारी तनया और कहाँ अशोक-वाटिका में शोकाकुल विरहिणी। विधि की विडंबना है कि राजा जनक की बेटी, महाराज दशरथ की बहू और राम की पत्नी होकर भी सती साध्वी सीता असहनीय और अशोभनीय पीड़ा सह रही है। इन सब बातों पर सोचते सोचते राम का मन अपनी साध्वी पत्नी को शीघ्रातिशीघ्र प्राप्त करने के लिए उत्कंठित, उद्वेलित और उन्मन बन जाता है। पर समय आने पर ही सत्य की विजय होती है। समय पाकर ही सागर का वेग शांत होता है। समय को समयबद्ध और सत्य को सत्यनिष्ठ बनाने की क्षमता रखनेवाले राम भी समय की प्रतीक्षा में सागर के तट पर बैठे हैं। वास्तव में समय ही सत्य का सार है, समय ही सत्य का सूत्र है और समय ही संसार का आधार है। इसलिए सत्यसंध राम समयबद्ध होकर सागर के तट पर समय और समुद्र की प्रसन्नता की प्रतीक्षा कर रहे हैं।



60. परामर्श परमंत्र-विभेदन

आंजनेय ने अपने आत्मयोग के बल पर जिस असाध्य को सुसाध्य बनाकर दिखाया, उससे सीतावल्लभ राम जितने आश्वस्त हुए, उतना ही आतंकित हुआ सीतासक्त रावण। दोनों अपने अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने में सहायक साधनों को संपन्न बनाने में लगे हुए हैं। इसके लिए आवश्यक मंत्रणा और परामर्श को आमंत्रित करते हुए दोनों अपने सहयोगियों के कार्यसाधक सुझावों का स्वागत करते हैं। इस संदर्भ में राम और रावण दोनों के वाक्यों में मंत्रणा के अर्थ में 'मंत्र' शब्द का मार्मिक प्रयोग मननीय है। समुद्र-तट पर पहुँचते ही राम अपने आप्तबंधु सुग्रीव से कहते हैंः "संप्राप्तो मंत्रकालो नः सागरस्येह लंघने" (समुद्र को पार करने के लिए उपयुक्त मंत्र पर विचार करने का समय आ गया है)। इसी प्रकार रावण भी अपने अनुयायी निशाचरों को बुलाकर पूछता हैः—

मंत्रमूलं च विजयं प्रवदंति मनस्विनः।
तस्माद्वै रोचये मंत्रं रामं प्रति महाबलाः ॥

(महाबली साथियो, मनस्वी लोग कहते हैं कि मंत्र ही विजय का मूल कारण होता है। इसलिए मैं आप लोगों से परामर्श कर एक ऐसे मंत्र का आविष्कार करना चाहता हूँ जिसके बल पर मैं राम को पराजित कर सकूँ।)

स्पष्ट है कि दोनों एक दूसरे पर विजय प्राप्त करने के लिए सशक्त मंत्रों की खोज कर रहे हैं और इस खोज में दोनों अपने सहयोगियों की स्वबुद्धि और सुबुद्धि का लाभ उठाना चाहते हैं। अंतर केवल इतना ही है कि राम की विजय का मूल मंत्र सत्य है और रावण का स्वत्व। सत्य और स्वत्व के बीच का यह संघर्ष उसी मंत्र को सफल बनाता है जिसमें धर्म का बल हो क्योंकि धर्म ही कर्म का प्रबल आधार है। सत्य और धर्म का समीकरण राम की समर-योजना का अधिकरण है जब कि रावण का स्वत्व धर्म सम्मत हो या न हो, कर्म के फल की कामना से प्रेरित है। इसीलिए यह मंत्रणा जो कि दोनों पक्षों में सक्रिय है परामर्श से आरंभ होकर परमंत्र विभेदन तक अपनी अपनी गति और मति के अनुसार आगे बढ़ती है।

यह नहीं है कि रावण मंत्र की महिमा नहीं जानता हो। वास्तव में वह राम से भी अधिक मंत्रज्ञ है और मंत्रणा के तंत्र का मर्मज्ञ भी है, पर यह मंत्रज्ञता और मर्मज्ञता उसे गुणज्ञता प्रदान नहीं कर पाती क्योंकि वह धर्म को अपने साथ लेकर नहीं चल रहा है। फिर भी मंत्रणा के मार्मिक रहस्य की व्याख्या करता हुआ मंत्रज्ञ रावण कहता है —मंत्र तीन प्रकार का होता है—उत्तम, मध्यम और अधम। उत्तम मंत्र वह है जो सब की सहमति से एक वाक्य बनकर उभर आता है। मध्यम वह है जो बहुमत के होते हुए भी अंत में ऐकमत्य को निष्पन्न बना देता है। अधम मंत्रणा वह है जो बहुमत का खंडन कर अल्पमत को बहुमत का कृत्रिम रूप देती है। मंत्रणा अथवा मंत्रित्व के प्रमुख आधार को स्पष्ट करने के पश्चात् राजनयज्ञ

रावण इस बात की संभावना ही नहीं बल्कि अवश्यंभाविता की ओर अपने परामर्शदाताओं का ध्यान आकृष्ट करता है कि असंख्य वानर सेना को लेकर सागर के उस पार आ पहुँचे राम अपने पराक्रम के बल पर समुद्र को पार कर लंका में अवश्य प्रवेश करेंगे। इस बात को भी वह स्पष्ट कर देता है कि शत्रु को अमोघ और अपराजेय मानकर ही हमें आगे की योजना बनानी चाहिए। साथ ही वह अपने सहयोगियों की बुद्धिमत्ता पर प्रबल विश्वास भी प्रकट करते हुए कहता है:—

तस्मात् सुमंत्रितं साधु भवंतो मतिसत्तमाः।
कार्यं संप्रतिपद्यंतं एतत् कृत्यं मतं मम॥

(आप सब बुद्धिशाली हैं। आप लोग इस बात पर भलीभांति सोच विचार कर मुझे बताएँ कि इस परिस्थिति में मुझे क्या करना है।)

परिस्थिति की विषमता की ओर स्पष्ट संकेत करता हुआ लोकरावण रावण लज्जित और भयभीत स्वर में कहता है कि आप लोगों ने अपनी आँखों से देखा कि एक साधारण वानर ने आकर लंका में क्या हलचल मचायी, भव्य प्रासाद धराशायी हो गए, सुंदर उपवन नष्ट हो गए और सारी लंका भस्मीभूत हो गई। इसलिए हमें बहुत सतर्क रहना है।

इतनी लंबी भूमिका के पश्चात् आलोच्य विषय पर गंभीर विचारविनिमय आरंभ होता है। सभा में उपस्थित अधिकांश राक्षस अत्यंत बलशाली अवश्य हैं, पर उनमें नैतिक बल नहीं है। इसलिए अपने स्वामी को प्रसन्न करने के लिए वे अपने मन की बात मन में ही रखकर झूठी प्रशंसा के साथ अपना परामर्श प्रारंभ करते हैं। वे कहते हैं: "राजन्, आपके पास इतनी विशाल सेना है, इतने अमोघ आयुध हैं, विजय के अनेक प्रसंग आप के यश को सारे संसार में फैला चुके हैं, फिर भी आप क्यों इतने चिंतित और उदास हैं? स्वर्ग, मर्त्य और पाताल-तीनों लोकों को आपने अपने बल-पराक्रम से मुग्ध कर दिया है और फिर आपसे तो मृत्यु भी भयभीत होती है। मायावी मय को मंत्रमुग्ध बनाकर आपने मंदोदरी को प्राप्त किया और धनेश को धमकी देकर उससे पुष्पक विमान हथिया लिया। आप के लिए ये वानर और ये राजकुमार कुछ नहीं हैं। आपके सुपुत्र इंद्रजित् इस कार्य को संभाल लेंगे। आप को चिंतित होने की कोई आवश्यकता नहीं है।)

रावण को भलीभांति मालूम है कि उस के सहयोगियों के इन उद्‌गारों में भावुकता अधिक और व्यावहारिकता कम है। शत्रुपक्ष की सामरिक क्षमता और स्वपक्ष की नैतिक दुर्बलता पर ध्यान दिए बिना केवल चाटुकारिता से राजा को रंजित करने का मिथ्या प्रयास ये लोग कर रहे हैं। फिर भी हितवादिता की अपेक्षा प्रिय भाषिता को अधिक पसंद करने वाले अविवेकी रावण को यह परामर्श प्रशंसात्मक होने के कारण अच्छा लगता है। सभासदों के इस सामूहिक गुणगान के बाद प्रहस्त, दुर्मुख, वज्रदंष्ट्र आदि कुछ विशिष्ट व्यक्ति भी अपनी अपनी प्रशस्ति प्रस्तुत करते हैं। निकुंभ, रभस, सूर्यशत्रु, सुप्तघ्न, यज्ञकोप, महापार्श्व, महोदर, अग्निकेतु, रश्मिकेतु, इंद्रजित् आदि राक्षसवीर भी इसी मुखर प्रशस्ति के स्वर में स्वर मिलाते हुए आत्मबल से वंचित रावण का मनोबल बढ़ाने का प्रयास करते हैं। उनकी चाटुकारिता पराक्रम-प्रदर्शन की विकट लालसा तक बढ़ जाती है। सब लोग अपने अपने आयुध उठाकर शत्रु-संहार के लिए निकलने लगते हैं।

इस दशा में विवेकशील विभीषण असुरसेना की उद्दंडता को रोकने का प्रयास करते हुए पहले सब को शांति से बिठाते हैं और फिर अपने बड़े भाई रावण को न्यायसंगत और धर्मसम्मत कर्त्तव्य की ओर प्रेरित करते हुए कहते हैं: "कोई भी कार्य सिद्ध करने के लिए पहले साम, फिर दान और भेद का आश्रय लेना चाहिए और जब ये तीनों असफल हों तभी दंड का प्रयोग करना चाहिए। जहां तक राम, लक्ष्मण, हनुमान् और वानर सेना का प्रश्न है, उनके सामने बल-पराक्रम का प्रदर्शन निरर्थक है क्योंकि वे सभी प्रकार से अपने प्रतिद्वंद्वी से अधिक सुसज्जित और सुव्यवस्थित हैं। जिस हनुमान् ने विशाल सागर को पार कर लंका में प्रवेश किया और अकेले ही राक्षस-वीरों के साथ लड़कर लंका को

भस्मीभूत कर दिया, उसके पराक्रम की कल्पना भी नहीं की जा सकती। फिर हनुमान् तो रामकिंकर है, सुग्रीव का सचिव है और वानर-सेना के अग्रगण्य नायकों में से एक है। इसलिए बिना सोचे समझे शत्रु पर आक्रमण करना ठीक नहीं है, बल्कि ऐसे शत्रु से मित्रता स्थापित करने में ही बुद्धिमत्ता है। वास्तव में अयोध्या के राजकुमार राम ने हमारा कुछ नहीं बिगाड़ा है, बल्कि हम ही लोगों ने उनकी पत्नी का अपहरण कर उनके प्रति अपराध किया है। खर, दूषण आदि राक्षसों का संहार भी राम ने अकारण नहीं किया। प्रतिरक्षा के रूप में आक्रामक का संहार करना केवल क्षत्रियों का ही नहीं, बल्कि प्राणिमात्र का धर्म है। परंतु परस्त्री का अपहरण करना अर्थ, धर्म और यश सभी दृष्टियों से आत्म-विनाशक पाप है। इसलिए अपने किए गए पाप-कर्म के प्रायश्चित्त के रूप में मिथिलेश की पुत्री सीता को दशरथनंदन राम की सेवा में प्रत्यर्पित करने में ही हमारा कल्याण है। अन्यथा राम और लक्ष्मण के बाणों से सारी लंका नष्टभ्रष्ट हो जाएगी, जन-जीवन अस्त-व्यस्त हो जाएगा और जैसे ही राम के बाण शरत् काल के सूर्य की किरणों के समान लंका में प्रवेश करेंगे, उसी क्षण समस्त लंका का अस्तित्व समाप्त हो जाएगा। इसलिए मेरी बात सुनकर युद्ध का विचार छोड़ें। दाशरथी से क्षमा माँगकर उनकी मैथिली उन को वापस दे दें।"

विभीषण का यह अभिभाषण, जिसमें 'प्रदीयतां दाशरथाय मैथिली' (दाशरथी को मैथिली प्रत्यर्पित की जाए) वाली बात बार बार दुहराई जाती है, रावण को क्षण भर के लिए सोचने को बाध्य कर देता है। लगता है विभीषण के इस हितोपदेश ने राम-बाण की भांति रावण के हृदय के कोमलतम कोण में जाकर कठोरतम आघात कर दिया है। थोड़ी देर के लिए रावण के अंतर्मन में आत्मबोध का आलोक झलकता है। इसीलिए वह सभा को विसर्जित कर अपने अंतःपुर में चला जाता है। उस का मन कहता है कि विभीषण ने जो कुछ कहा है, सही कहा है – उसे इन्कार नहीं किया जा सकता। पर उस का दशमुख शरीर हार मानना नहीं चाहता। वह सोचता है, पर समझ नहीं पाता। पर विभीषण को लगा कि अब उन के भाई साहब कुछ-कुछ समझने लगे हैं। इसलिए उनको मनवाना विभीषण के शुभाभियान का अगला कदम है।

सारी रात रावण विचार-शर्वरी में डूबता उतरता और तैरता रहता है। सुप्रभात की सुनहली रेखाओं में भी उस को आशा की कोई रुपहली रेखा दिखाई तक नहीं देती। कभी आशंका से ग्रस्त और कभी अहंकार से दृप्त वह सारी रात सोचता रहता है। दिन निकलते ही फिर विभीषण राजभवन में उपस्थित है। अपने बड़े भाई को अनर्थ से बचाने के यादृच्छिक अवसर को वह खोना नहीं चाहते थे। इसलिए सूर्योदय के होते ही वह अपने अग्रज के आलय में जाते हैं। राजभोग तथा पार्थिव वैभव से विराजित और सुशोभित भवन में वेद-घोष और स्वस्ति-वाचन से समीरित वायुमंडल में सुखासीन अग्रज का अभिवादन कर विभीषण अपना सविनय निवेदन प्रारंभ करते हैं। अब की बार वह लंका-नगरी में दिखाई देने वाले अशुभसूचक लक्षणों की ओर रावण का ध्यान आकृष्ट करते हुए कहते हैं—"जब से जानकी लंका में बंदिनी बन कर आई, तब से यज्ञशालाओं में अग्नि प्रज्वलित नहीं हो रही है, मंत्रों के उच्चारण का कोई महत्त्व नहीं रह गया है, बल्कि यज्ञशालाओं में और पाकशालाओं में सांप और बिच्छू दिखाई देने लगे हैं और यज्ञ की सामग्री में चींटियाँ घुसने लगी हैं गायें पहले की तरह दूध नहीं दे रही हैं, घोड़े तेज़ी से दौड़ नहीं पा रहे हैं, कौए झुंड के झुंड महलों के ऊपर इकट्ठे होकर विकट ध्वनि करने लगे हैं, गीध और सियार भी अशुभसूचक ध्वनियाँ कर रहे हैं। इसलिए अब इस अकरणीय कार्य का प्रायश्चित्त करने का समय आ गया है। यदि आप मेरी बात मान लें तो तत्काल मैथिली को राम के पास पहुँचा दें। इसमें आपका, मेरा और समस्त लंकावासियों का कल्याण है। मैं यह बात मोह या लोभ के कारण नहीं कह रहा हूँ। आप के मंत्री आपसे डर कर यह बात आपसे नहीं कह रहे हैं। मैंने जो कुछ देखा और सुना और मन में जो आया, उसे आप से

इसलिए कह रहा हूँ क्योंकि इसी में आपकी भलाई है। भूत, भविष्य और वर्तमान को मंगलमय बनाने वाला मेरा यह वचन आप अवश्य सुनेंगे, ऐसी मेरी आशा है।

पर भाग्य का मारा और काल का प्यारा रावण इस प्रस्ताव को एकदम ठुकराते हुए कहता हैः—

भयं न पश्यामि कुतश्चिदप्यहं
न राघवः प्राप्स्यति जातु मैथिलीम्।
सुरैः सहेंद्रैरपि संगरे कथं
ममाग्रतः स्थास्यति लक्ष्मणाग्रजः ॥

(मुझे किसी से कोई भी भय नहीं दिखाई देता। यह तो बात निश्चित है कि राम फिर अपनी मैथिली को प्राप्त नहीं कर पाएगा। रणभूमि में मेरे सामने खड़े होने की शक्ति राम में बिल्कुल नहीं है, चाहे अमरेन्द्र के साथ सारे देवता भी उसका साथ दें।)

रावण के इस कथन में आत्मप्रत्यय की अपेक्षा अहंकार की ही मात्रा अधिक है क्योंकि वह स्वयं जानता है कि उसने सही काम नहीं किया है और उसका परिणाम अच्छा नहीं हो सकता। इसीलिए अभी एक दिन पहले जब विभीषण ने यही बात पहली बार कही, उस समय वह मौन था, विभीषण की बात सुनकर वह चुपचाप अन्तःपुर में चला गया था। अब साहस बटोरकर वह कुछ कह रहा है—केवल अपना मान बनाए रखने के लिए। पापी अपने पाप को पहचानता है, पर स्वीकार नहीं करता। यही स्थिति रावण की है। कामी तो साधारण पापी से भी एक कदम आगे बढ़ जाता है। वह विवेक भी खो बैठता है, सत्य को देखते हुए भी नहीं देख पाता। यहाँ पर रावण प्रकृत्या पापी है और प्रसंग से कामी है। इसलिए दोनों के लक्षण उस में एकत्रित हो जाते हैं। कामी की तरह वह शरीर से दुर्बल होता जा रहा है और पापी के रूप में वह पापी से पापिष्ठ बनता जा रहा है। कुछ दिन बाद वह फिर सभा बुलाने की इच्छा से राजमहल में जाता है—पूरे ठाठबाट के साथ। सोने, चाँदी, जवाहिरात, मोती, हीरे, मणिमय आसन आदि से सुशोभित दरबार में वह अपने सभी सलाहकारों को आमंत्रित करता हैं। राजा की आज्ञा पाकर कुछ ही क्षणों में सब लोग एकत्रित होते हैं। यह आपातकालीन सभा होने के कारण विभीषण भी उस सभा में अपने बड़े भाई के पास जाकर बैठते हैं।

इस सभा के वैभव का वर्णन करने में वाल्मीकि विशेष आसक्ति दिखाते हैं। इसी प्रकार रावण और विभीषण जिन रथों पर आरूढ़ होकर राजपथ से राजसभा में आते हैं, उन रथों का, उन पथों का और उस यात्रा का विस्तार से वर्णन किया जाता है। राजभवन के राजभोग तथा राजवैभव का भी मनोहर शब्दों में वर्णन किया जाता है। यह सब इसलिए कि बाहर का सारा वैभव भीतर की रिक्तता के कारण कितना सारहीन प्रतीत होता है, यह दर्शाना है। रसशिल्पी वाल्मीकि की वाग्विदग्धता इसी में है। भरी सभा में पहुँचते ही विभीषण अपने बड़े भाई के चरणों में अपना मस्तक झुकाकर निर्दिष्ट आसन पर बैठ जाते हैं। सारा सभागार चंदन, अगरबत्ती और पुष्पमालाओं की सुगंध से महक रहा है। पर कोई किसी से कुछ नहीं कह रहा है। सब लोग अपलक नयनों से सिंहासन पर विराजमान रावण की ओर देख रहे हैं। इसलिए रावण ही परिचर्चा का प्रवर्तन करते हुए प्ररोचक भाषण प्रस्तुत करता है।

सभा में चर्चा का मुख्य विषय यह है कि राम को पराजित कर सीता को स्वाधीन बना लेना है या अपने अपराध को स्वीकार कर राम की पत्नी को राम के चरणों में समर्पित करना है। इन दोनों में से एक विकल्प को चुनना है। पहला विकल्प स्वाभिमान का समर्थन करता है और दूसरा आत्मबोध का। पहला प्रेय को प्राप्त कराता है और दूसरा श्रेय को साध्य बनाता है। पहला रावण का अपना मत है, अभीष्ट मंत्र है और दूसरा उस के भाई विभीषण का सुझाया गया सुमंत्र है। स्वमंत्र को छोड़कर सुमंत्र को स्वीकार करने की उदारता रावण में नहीं है। इसलिए वह सुमंत्र को परमंत्र मानकर उसका निराकरण करने का मार्ग खोज रहा है। इसीलिए उसने अपने अभीष्ट मित्रों की इतनी बड़ी सभा बुलाई है ताकि बहुमत उसके पक्ष में हो। पर

संयोग से वहाँ विभीषण और कुंभकर्ण रावण के अभिमत से भिन्न विचार लिये बैठे हैं। इसीलिए रावण अपने प्रारंभिक अभिभाषण में अपने कृत्य का समर्थन करते हुए बहुत-सी बातें कहते हैं जिन में मिथ्याभिमान आत्माभिमान का प्रच्छन्न रूप धारण कर सामने आता है।

सबसे पहले रावण अपने सेनानी को लंकानगरी के अंतरंग और बहिरंग की सुरक्षा को सुनिश्चित करने के लिए कहता है। राजा की आज्ञा के अनुपालन का निवेदन जब प्रहस्त द्वारा प्रस्तुत किया जाता है तभी सभा का कार्यक्रम आरंभ होता है। प्रारंभ में राजनीति-विशारद रावण अपने सहकर्मियों के सतत सहयोग की प्रशंसा करते हुए कहता है कि अब तक शासन में जो भी सफलता मिली है, उसका कारण अमात्यों तथा अन्य कार्यकर्त्ताओं के संपूर्ण सहयोग के कारण ही मिली है। इसलिए अभी जो संकट आया है, उस में भी वह उनका पूरा पूरा सहयोग चाहता है। पर संकट का कारण वह साफ-साफ नहीं बताता है, बात घुमा फिराकर अपनी ही बात सही सिद्ध करने का प्रयास करता है। दंडक वन से राम की पत्नी सीता को चुराकर ले आना न तो शालीनता का काम हो सकता है और न बहादुरी का। यही सारी समस्या का मूल है। इसके अलावा यह जघन्य अपराध करते समय उसने किसी से सलाह-मशविरा नहीं किया था और न मारीच की मंत्रणा मानी। लेकिन अब उसका फल भोगने का समय आ चुका है तभी वह अपने मंत्रियों की मंत्रणा को आमंत्रित कर रहा है। इसके लिए वह एक बहाना ढूँढ़ लेता है कि उस समय कुंभकर्ण के सोने का समय था। पर कुंभकर्ण सो रहा था तो क्या हुआ? विभीषण तो जगा हुआ था और सारा मंत्रिमंडल मंत्रणा के लिए उपलब्ध था। परदारा के अपहरण के समर्थन में वह सीता के अपूर्व सौंदर्य का वर्णन कर यह सिद्ध करना चाहता है कि इतनी अनुपम लावण्यवती के प्रति आसक्त होना किसी भी शूरवीर के लिए स्वाभाविक है। पर भीतर ही भीतर वह महसूस करता है कि क्रोध, हर्ष, संताप और शोक सबको समाप्त करने वाली कामवासना का वह शिकार हो गया है। इस प्रलंबित प्रवचन में रावण के मुँह से एक ही बात सही निकलती है और वह हैः—

क्रोध-हर्ष-समानेन दुर्वर्णकरणेन च।
शोक-संताप-नित्येन कामेन कलुषीकृतः॥

कामवासना से कलुषित व्यक्ति को पता नहीं चलता है कि वह गुस्से में है या खुशी में। शोक और संताप की दशा में कामी को उसकी वासना नहीं छोड़ती। इतना तो वह मान लेता है, पर शेष सब वह अपने पक्ष में कर लेता है। इसी भूमिका में वह एक हल्का-सा झूठ भी बोलता है। वह कहता है कि सीता ने अपने मन को समझाने के लिए एक वर्ष का समय माँगा है और उसने वह समय दिया है। पर यह सरासर झूठ है। सीता ने समय नहीं माँगा था, समय रावण ने दिया था—साध्वी सीता को डराने धमकाने के व्यर्थ प्रयास में। अंत में वह अपनी विजय पर दृढ़ विश्वास प्रकट करते हुए आशावादी स्वर में कहता हैः—

न हि शक्तिं प्रपश्यामि जगत्यन्यस्य कस्यचित्।
सागरं वानरैस्तीर्त्वा निश्चयेन जयो मम॥

(हनुमान् को छोड़कर इस महान् सागर को पार करने की शक्ति और किसी में नहीं है। इसलिए वानर सेना के साथ सागर पार कर राम का लंका में प्रवेश करना असंभव है, इसलिए मेरी विजय अवश्यंभावी है।)

वास्तव में इस बात की स्थापना के बाद परामर्श के लिए कोई गुंजाइश ही नहीं रहती है। यदि युद्ध करना ही है तो परामर्श किस बात का? इस एकांगी दृष्टिकोण को और अधिक संगीन बनाते हुए प्रसंगपरायण रावण कहता हैः—

अदेया च यथा सीता वध्यौ दशरथात्मजौ।
भवद्भिर्मन्त्र्यतां मंत्रः सुनीतं चाभिधीयताम्॥

(आप लोग सोच विचार कर ऐसी मंत्रणा दें जिससे सीता को वापस देना नहीं पड़े और राम और लक्ष्मण का वध सुलभ हो। इसी लक्ष्य की ओर ले जाने वाली कोई नीति आप लोग मिलकर बना लें।)

इससे स्पष्ट होता है कि रावण परामर्श नहीं चाहता है, बल्कि परमंत्र विभेदन का कोई न कोई उपाय चाहता है, चाहे वह सीधा हो या टेढ़ा। सभा में बैठे सभी शूरवीर इस प्रस्ताव की सारहीनता को समझ तो लेते हैं, पर समझाने का साहस किसी में नहीं होता। यह साहस रावण का छोटा भाई कुंभकर्ण करता है। कामातुर रावण का अप्रशस्त प्रलाप सुनकर कुंभकर्ण सहज क्रोध में आकर कहता हैः "इस संबंध में तुमको पहले ही सोच-समझकर आगे कदम बढ़ाना चाहिए था क्योंकि कर्म का फल प्रत्येक प्राणी को भोगना ही पड़ता है। निरपराध और निरीह राम की पत्नी का अपहरण तुमको नहीं करना चाहिए था। उस समय हम लोगों में से किसी से विचार-विमर्श तक नहीं किया। अब तक राम ने तुम्हारे इस अपराध के लिए तुम को मृत्युदंड नहीं दिया, यही आश्चर्य की बात है। आगे-पीछे और अच्छे बुरे का ख्याल किए बिना तुमने जो कुकर्म किया है, उसका फल केवल तुमको नहीं बल्कि हम सबको सामूहिक रूप से भोगना पड़ेगा क्योंकि तुम हम सब के शासक, पालक और नियामक हो। इसलिए तुम्हारा भाई होने के नाते मैं तुम्हारे लिए लडूँगा ओर तुमको विजयी बनाने का वीरोचित प्रयास करूंगा।

कुंभकर्ण के ये गंभीर, गौरवपूर्ण, सात्विक और शालीन शब्द सभी सभासदों के कान खड़े कर देते हैं और विशेषकर रावण के। विभीषण के विनीत वचन नें रावण के केवल दो कान खड़े कर दिए थे, पर मितभाषी कुंभकर्ण के इन मरणोपम वाक्यों से दशकंधर के बीसों कान एकदम खड़े हो जाते हैं। वह केवल सुनता है, कुछ कह नहीं पाता क्योंकि कुंभकर्ण के वाक्यों में सच्चाई है और सच्चाई हमेशा पचाने योग्य नहीं होती। इस दशा में जब रावण के मन में उदासी छा जाती है, महापार्श्व नाम का राक्षस अपने स्वामी का मनोबल बढ़ाने के लिए एक घटिया सुझाव देता है कि रावण तो राजाओं के राजा हैं, ईश्वर के भी ईश्वर हैं, इसलिए वह एक साधारण नारी सीता से क्यों डरें। निर्भीक होकर वह सीता को बलपूर्वक स्वाधीन कर लें और अभीष्ट सुख का यथेष्ट उपभोग करें। साधारण अवस्था में कामातुर रावण को यह परामर्श पसंद आता, पर वह एक असाधारण अवस्था में है जिसके कारण वह किसी भी स्त्री को जबरदस्ती उपभोग की वस्तु नहीं बना सकता। एक बार रावण ने विधाता के घर जाने वाली एक अप्सरा को विवसन बनाकर बलपूर्वक उसका उपभोग किया था। इस पर ब्रह्मा ने कुपित होकर रावण को शाप दिया था कि आगे चलकर उसने कभी किसी भी स्त्री के साथ ऐसा व्यवहार किया तो उसके मस्तक के सौ टुकड़े हो जाएँगे। इसी शाप के भय से वह सीता पर बलात्कार नहीं कर रहा है। पर यह बात किसी को मालूम नहीं है। इसीलिए वह महापार्श्व की मंत्रणा को टालकर अपने बल-पराक्रम का अपने आप गुणगान करने लगता है और अपनी विजय पर पुनः विश्वास प्रकट करते हुए कहता हैः—

सागरस्येव मे वेगो मारुतस्येव मे गतिः।
नैतद् दाशरथिर्वेद आसादयति तेन माम्॥

(मैं सागर की तरह वेगवान् हूँ और प्रभंजन की भांति गतिशील हूँ। इसलिए मुझे कोई रोक नहीं सकता, दबा नहीं सकता। किन्तु यह बात दशरथ का बेटा राम नहीं जानता है, इसीलिए वह मेरे साथ लड़ने के लिए आ रहा है।)

अंत में जब रावण को इंद्र, वरुण, कुबेर आदि दिक्पालकों से भी अधिक बलशाली घोषित किया जाता है तब विभीषण से रहा नहीं जाता। अब तक दो बार विभीषण ने अपने भाई को समझाने की कोशिश की। अभी अभी कुंभकर्ण ने धीर गंभीर वाणी में उसे सतर्क करने का प्रयास किया। पर ये सारी बातें रावण के कानों तक जाकर असफल बनकर वापस आ गईं। उस के मन में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ। आत्म-बोध की बात तो दूर, कम से कम उसे अपने अपराध का भी बोध नहीं हो रहा है। फिर भी भाई की भलाई चाहने वाले विभीषण अपने विनम्र स्वर में फिर एक बार हित की बात कहने का प्रयास करते हैं। धर्मात्मा राम की धर्मपत्नी सीता का अपहरण करके कालचोदित रावण ने कालसर्पिणी को ही अपने गले में बाँध रखा है जिसके दशन से समस्त लंका विषाक्त

और ध्वस्त हो जाएगी। इसलिए विभीषण भावी उत्पात की आशंका का भय दिखाकर एक बार फिर अपने भाई को समझाते हैं कि असमान धनुर्धर राम के प्रखर बाणों से लंका के भस्मीभूत होने के पहले उन के पास उनकी पत्नी मैथिली को प्रेषित करने में ही सब का श्रेय है। इस प्रसंग में वह अपना चर्वित मंत्र 'प्रदीयतां दाशरथाय मैथिली' दो बार दुहराते हैं। फिर भी यह परमंत्र-विभेदन में सफल नहीं हो पाता।

अबकी बार सेनापति प्रहस्त इस प्रस्ताव का प्रबल प्रतिरोध करते हुए कहता है कि साधारण मानव राम का सामना करने की शक्ति रावण की सेना में पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। पर विभीषण प्रहस्त के प्रगल्भ का खंडन और सत्यपराक्रम राम की समरशूरता का संकीर्तन करते हुए अत्यंत सात्विक स्वर में कहते हैं कि अभी तक रावण, कुंभकर्ण, इंद्रजित्, महोदर, महापार्श्व, अकंपन, देवांतक, नरांतक आदि वीरों ने राम के तीखे बाणों का स्वाद नहीं देखा है, इसीलिए आप लोग बढ़- चढ़कर बातें कर रहे हैं। इसके अलावा स्वामी जब संकट में हों तो उनको संकट से मुक्त करने के लिए कड़वी बातें कहकर, अथवा उनके केश पकड़ कर ही सही, उनका उद्धार करना चाहिए। अब ऐसा ही विकट समय आ गया है, इसीलिए मैं अपना सुचिंतित विचार फिर दुहरा रहा हूँ। यह कहकर विभीषण अपना सुभाषित फिर से सुनाते हैं:—

इंद्रं पुरस्यास्य सराक्षसस्य
राजश्च पथ्यं ससुहृज्जनस्य।
सम्यग्घि वाक्यं स्वमतं ब्रवीमि
नरेन्द्रपुत्राय ददातु मैथिलीम्।

(मैं इस महापुरी की सुरक्षा, पुरवासियों की भलाई राजा की रक्षा और मित्रों की मंगल कामना से प्रेरित होकर अपना अभिमत अंतिम बार आप लोगों के सामने रखना चाहता हूँ और वह यह है कि राजकुमार राम को राजकुमारी मैथिली प्रत्यर्पित हो।)

विभीषण के इस अंतिम और सुचिंतित विचार का विरोध करते हुए इंद्रजित् कहता है कि ये बातें लंकेश्वर के भाई को शोभा नहीं देती हैं क्योंकि लंकेश्वर के लोकोत्तर पराक्रम के सामने साधारण मनुष्य क्या, असाधारण देवता भी नहीं टिक सकते। वह स्वयं अपने बल-पराक्रम का वर्णन करते हुए कहता है कि उसने इंद्र के वाहन ऐरावत के दाँत उखाड़कर उसे स्वर्ग से पृथ्वी पर उतार गिराया है और स्वयं इंद्र उसके तेज से भयभीत है। अपने मिथ्याभिमान में मस्त इंद्रजित् अपने चाचा का उपहास तक करते हुए कहता है कि उनको लंकेश्वर के वंश में पैदा नहीं होना चाहिए था और वह कनिष्ठ भ्राता होने के कारण अपने वचन और आचरण में भी उसी कनिष्ठता का परिचय दे रहे हैं। पर विभीषण इस उपहास को बुरा नहीं मानते हैं, और उस की किशोर-बुद्धि की तीव्र भर्त्सना करते हुए कहते हैं कि तुम रावण के पुत्र नहीं हो, शत्रु हो क्योंकि उनको तुम गलतमार्ग पर ले जा रहे हो। इंद्रजित् को अविवेकी, अपरिवक्व, अविनीत, आत्मद्रोही और अनर्थकारी कहकर विभीषण अपना अंतिम अभिमत फिर एक बार रावण को निवेदित करते हैं:—

धनानि रत्नानि सुभूषणानि
वासांसि दिव्यानि मणींश्च चित्रान्।

सीतां च रामाय निवेद्य देवीं
वसेम राजन्निह वीतशोकाः॥

(हे राजन्, हमें चाहिए कि हम धन, रत्न, आभरण, दिव्य वस्त्र, मणिमय पदार्थ आदि अपनी सारी संपत्ति के साथ देवी सीता को श्रीराम के चरणों में समर्पित कर दें तभी हम निश्चिंत होकर इस राज्य में निवास कर सकते हैं।)

परंतु बृहस्पति के समान बुद्धिमान् विभीषण के इस सुभाषित पर किसी का ध्यान नहीं जाता, बल्कि उसका उपहास किया जाता है। 'सांच कहे तो मारन धावै, झूठे जग पतियाना' वाली स्थिति रावण की राजसभा में परिचर्चा के पर्य्यवसान में उपस्थित हो जाती है। सुमंत्र नियंत्रित हो जाता है और दुर्मंत्र सम्मानित। जैसा मंत्र वैसा तंत्र अब प्रारंभ हो जाता है।

61. शरणागत का हार्दिक स्वागत

कामवासना से कलुषित और मोह निद्रा में निमग्न लंकेश्वर अपने जीवन के अंतिम चरण में रामेश्वरी का अपहरण कर राम का विरोधी बन जाता है। वास्तव में यह उस के जीवन की विराम दशा है, इसलिए विवेक काम नहीं करता। कुंभकर्ण का गंभीर गर्जन और विभीषण का विनम्र निवेदन उसे अपराध का बोध करा नहीं पाते। इसके विपरीत स्तुति-परायण अमात्यों की प्रस्तुति, प्रहस्त का प्रगल्भ आश्वासन, महापार्श्व का महामोह, इंद्रजित् का चपल प्रलाप-ये सब उसको अच्छे लगते हैं। जब विनाश का समय आता है तब आत्मबोध इसी प्रकार अस्त-व्यस्त हो जाता है। यही कारण है कि प्रज्ञा और पराक्रम से संपन्न रावण के द्वारा भी जाने-अनजाने एक के बाद एक गलतियाँ ही गलतियाँ होती जा रही हैं और वह धीरे धीरे सुधार के मार्ग से दूर होता जा रहा है। अन्यथा अपने छोटे भाई विभीषण का हितवादी उपदेश बार बार सुनकर भी वह उससे पराङ्मुख नहीं होता। उसके धूर्त पुत्र इंद्रजित् ने जब अपने चाचा को 'कनिष्ठ बुद्धि' कहकर उनकी कटु निंदा की तब भी रावण की मोह-निद्रा नहीं टूटी। अपने बेटे को समझाने के बजाए वह अपने भाई को डाँटने लगता है और वह भी अत्यन्त परुष वाक्यों में। आप्त वचन सुनाने वाले अनुज को वह अनार्य कहकर भरी सभा में उनकी भर्त्सना करता है। अब विभीषण की विनय-विधेयता भी जबाब देने लगती है। वह भी अपने अग्रज को परिमार्जित करने के प्रयास को छोड़कर परित्यक्त करने का मार्ग अपनाने का संकल्प करते हैं।

प्रहस्त, महापार्श्व और इंद्रजित् के महेन्द्रजाल में मस्त होकर हितभाषी विभीषण को जब रावण अनार्य, कुलपांसन आदि कर कर दूषित और निंदित करता है तब न्यायवादी विभीषण न्यायोचित मार्ग का अनुसरण करने का संकल्प कर अपने अग्रज को फटकारते हुए कहते हैं:-

स त्वं भ्रांतो ऽसि मे राजन् ब्रूहि मां यद् यदिच्छसि ।
ज्येष्ठो मान्यः पितृसमो न च धर्मपथे स्थितः ॥

(राजन्, तुम मेरे बड़े भाई हो, इसलिए मेरे पिता के समान हो। पर तुम्हारी बुद्धि भ्रष्ट हो गई है। इसीलिए उचित अनुचित का विवेक छोड़कर अपनी इच्छा के अनुसार मुझ पर मिथ्यारोप कर रहे हो। तुम जो चाहो कहो, जैसा चाहो करो। तुम ने धर्म को छोड़ दिया है। इसलिए मैं तुमको छोड़ रहा हूँ।)

यह कहकर विभीषण तत्काल अपने चार अनुचरों के साथ अंतरिक्ष में खड़े होकर अपने अग्रज को अंतिम चेतावनी देते हुए कहते हैं:-

बद्धं कालस्य पाशेन सर्वभूतापहारिणः ।
न नश्यंतमुपेक्षेत्वां प्रदीप्तं शरणं यथा ॥

(भैया, तुम सचमुच काल के पाश में बँध चुके हो जो सभी प्राणियों का किसी न किसी दिन प्राण हरण कर ही लेता है। इसीलिए तुम मेरी हित की बातों पर ध्यान नहीं दे रहे हो। तुम ऐसे घर में बैठे हो जिस में आग लग चुकी है। इसलिए तुम्हारा बचाव संभव नहीं है।)

क्रोध, ग्लानि और दया के वशीभूत होकर विभीषण अपने बड़े भाई से ये परुष वचन अवश्य कहते हैं, पर दूसरे ही क्षण बिदा लेते समय अपनी मंगल कामना भी प्रकट करते हुए कहते हैं:—

आत्मानं सर्वथा रक्ष पुरीं चेमां सराक्षसाम्।
स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि सुखी भव मया विना॥

(तुम अपनी रक्षा का ध्यान रखो और साथ ही इस महानगरी लंका की और यहाँ के रहने वाले राक्षस-समाज की भी रक्षा करने का प्रयास करो। मैं तो जा रहा हूँ। पर मैं तुम्हारे साथ रहूँ या न रहूँ, तुम्हारा कल्याण हो।)

इतना कहकर रावण की हठबुद्धिता से मुँह मोड़कर क्षणभर में विभीषण श्रीराम के चरणों में शरण माँगने समुद्र के उत्तरी तट पर पहुँच जाते हैं। मेरु पर्वत के शिखर का-सा आकार लिए अंतरिक्ष में खड़े हुए विभीषण को देखकर वानर-वीर विस्मित और भयभीत हो जाते हैं। विभीषण के साथ उनके चार अनुचर भी हैं। वे भी देखने में भयंकर पराक्रम से युक्त दिखाई दे रहे हैं। इसलिए स्वभाव से शंकालु सुग्रीव इस आकस्मिक घटना से अधिक आतंकित हो जाते हैं यद्यपि विभीषण की आकृति में भीषणता की अपेक्षा दिव्य तेज विराजमान है फिर भी चार अनुचरों के साथ एक विशालकाय राक्षस को देखते ही वानरराज सुग्रीव अपने अनुचरों को सतर्क करते हुए कहते हैं:—

एष सर्वायुधोपेतः चतुर्भिस्सह राक्षसैः।
राक्षसोऽभ्येति पश्यध्वमस्मान् हंतुं न संशयः॥

(यह देखो, यह कोई राक्षस सभी प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित होकर हमें मारने आ रहा है। इसमें कोई संदेह नहीं है क्योंकि इस के साथ चार राक्षस और भी हैं। इसलिए हमें सावधान रहना है।)

अपने स्वामी सुग्रीव के ये संशयात्मक वचन सुनकर वानर-वीर सतर्क और सावधान हो जाते हैं और चारों वीरों का यह वार्तालाप सुनकर विभीषण अंतरिक्ष में ही खड़े होकर संक्षेप में अपना परिचय देते हुए कहते हैं: "मैं रावण का छोटा भाई विभीषण हूँ। अपने बड़े भाई को मैंने समझा-बुझाकर कहा कि रामपत्नी सीता देवी का अपहरण कर उन्होंने बहुत बड़ी गलती की है, इसलिए सीता को शीघ्र लौटा दें। पर उन्होंने मेरी एक न सुनी, उल्टे मेरा अपमान किया। इसलिए मैं अपने दुष्ट भाई को छोड़कर शरणागत वत्सल राम की शरण में आया हूँ। आप लोग कृपया मेरे आगमन से श्रीराम को अवगत करा दें।"

विभीषण के इस स्पष्टीकरण ने सुग्रीव के संशय को और अधिक सबल बना दिया। साक्षात् शत्रु का भाई शत्रु के यहाँ से आया है, इसए इसमें कोई न कोई रहस्य छिपा हुआ है। निश्चय ही यह अपने भाई के कहने पर ही छल-कपट से उसका प्रयोजन सिद्ध करने के लिए यहाँ आया है। इसलिए इस पर विश्वास नहीं करना चाहिए। सुग्रीव अपना यही विचार मन में पक्का कर लेते हैं और अपने स्वामी राम के हित को ध्यान में रखकर यह सलाह देते हैं कि इस कपटी राक्षस का वध करने में ही हमारा श्रेय है। अन्यथा यह हमारे बीच में रहकर हमारा विश्वास प्राप्त करने के बाद हमारा ही अहित करेगा। इसलिए हमें अपने को बचाने के लिए इसको समाप्त कर देना है।

विभीषण के आगमन से सुग्रीव जितने व्यग्र दिखाई देते हैं उतने ही शांत, समग्र और संतुष्ट प्रतीत होते हैं-प्रसन्नराघव राम। शरणागत को आश्रय देना रघुकुलनंदन राम अपना कर्त्तव्य समझते हैं। फिर भी शत्रुभय से आतंकित सुग्रीव की चेतावनी को वह बड़ी गंभीरता के साथ सुनते हैं। इस स्थिति में क्या करना है और क्या नहीं करना है, इस संबंध में वह केवल सुग्रीव के सुझाव को अंतिम निर्णय के रूप में स्वीकार न कर अन्य वानर-वीरों का भी अभिमत आमंत्रित करते हुए कहते हैं:—

सुहृदामर्थ-कृच्छ्रेषु युक्तं बुद्धिमता सदा।
समर्थेनोपसंदेष्टुं शाश्वतीं भूतिमिच्छता॥

(जब कभी उपयुक्त और अनुपयुक्त आचरण के संबंध में मित्रों के बीच धर्मसंकट उत्पन्न हो तब अपने

आप्त मित्रों के परम कल्याण की कामना करने वाले बुद्धिमान् और समर्थ सहयोगियों को चाहिए कि वे अपने मन की बात निर्भीक और निस्संकोच कहें।)

बुद्धिमान्, नीतिमान् और व्यवहारकुशल राम के ये संकेत वचन सुनकर अंगद, जांबवान् आदि अपने अपने विचार प्रकट करने का प्रयास करते हैं। सब से पहले अंगद कहते हैं—"शत्रुपक्ष से आया हुआ शत्रु का ही भाई साधारण परिस्थिति में विश्वास का पात्र नहीं होता। उसके गुण-दोष की सम्यक् परीक्षा करने के बाद ही उसको अपने यहाँ स्थान देना उचित है। गुणी है तो अपनाना चाहिए और दोषी है तो दूर रखना चाहिए।

अंगद का यह अभिमत गुण-दोष के परीक्षण की अपेक्षा रखता है और इस प्रकार के परीक्षण के लिए अब न तो समय है और न साधन हैं। इसलिए अंगद का वाक्य कर्त्तव्य-निर्णय में सहायक नहीं होता। "गुणतः संग्रहं कुर्यात् दोषतस्तु विसर्जयेत्"— अंगद का यह वचन नीतिशास्त्र का सुंदर सिद्धांत अवश्य है, पर प्रस्तुत परिस्थिति में इससे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता।

अब शरभ की बारी आती है। राजनीति-विशारद शरभ एक सुंदर सुझाव देते हैं कि विभीषण की सत्यनिष्ठा पर निगरानी रखकर उस के मन के वास्तविक स्वरूप पर निवेदन प्रस्तुत करने के लिए एक गुप्तचर को नियुक्त किया जाए। विचार अच्छा है, पर यह बात टालने का बहाना बन जाता है। तात्कालिक समस्या को सुलझाने में इससे कोई लाभ नहीं मिलने का है।

फिर जाबंवान् कुछ कहने का प्रयास करते हैं। बद्धवैर और परमपापी रावण के यहाँ से आया हुआ उस का भाई है—विभीषण। इसलिए उस पर बिल्कुल विश्वास नहीं करना चाहिए। यह लगभग वही बात है जो सुग्रीव ने कही थी। पर वयोवृद्ध जांबवान् ने उसी बात को निश्चयात्मक ढंग से स्पष्ट कह दिया है, इसमें संशयात्मिकता बिलकुल नहीं है चाहे वह धर्मज्ञ राम के लिए ग्राह्य हो या नहीं।

जांबवान् के बाद मैंद अपनी मृदु मधुर वाणी में कहते हैं कि रावण के भ्राता विभीषण अपनी इच्छा से यहाँ आए हैं ; इसलिए उनसे स्नेह और सौहार्द के स्वर में पूछा जाए कि उनका आशय क्या है। यदि उनका उत्तर सौम्य, सात्विक और संतोषजनक है तो उनको अपना लिया जाए। अन्यथा उनको त्याग दिया जाए। इसका निर्णय रघुनंदन राम स्वयं अपनी मतिमत्ता के बल पर करेंगे।

अंत में मारुतनंदन अपना अभिमत प्रकट करते हैं। हनुमान् की वाणी में,जो कि संस्कार से संपन्न है, सबसे पहले प्रभु राम की प्रभविष्णुता की प्रशस्ति स्थान पाती है। वह कहते हैं:—

न भवंतं मतिश्रेष्ठं समर्थं वदतां वरम्।
अतिशाययितुं शक्तो बृहस्पतिरपि ब्रुवन्॥

(स्वामी, आपका चिंतन बुद्धिमत्ता का प्रमाण प्रस्तुत करने वाला होता है, आचरण सामर्थ्य का द्योतक होता है और वचन उत्तमता का उद्घोषक होता है। इसलिए आपको जो बात नहीं सूझती हो, वह आप से कहने की शक्ति बृहस्पति में भी नहीं होती, फिर हम लोगों की क्या गिनती है।)

विशुद्ध विनय की इस मधुर मनोहर सात्विक और संक्षिप्त भूमिका के बाद हनुमान् अपने मन की बात कहते हैं:—

"न वादान्नापि संघर्षान्नाधिक्यान्न च कामतः।
वक्ष्यामि वचनं राजन् यथार्थं रामगौरवात्॥

(मैं जो कुछ आपसे निवेदन करना चाहता हूँ, वह वाद-विवाद या तर्क की दृष्टि से नहीं कह रहा हूँ और न किसी की कही हुई बात को काटने के लिए कहता हूँ। दूसरों की बात को आगे बढ़ाकर उनको नीचा दिखाने के उद्देश्य से भी कोई बात नहीं कहता हूँ। मैं केवल कार्य-गौरव, आत्म-गौरव और प्रभु-गौरव को ध्यान में रखकर अपनी अल्पमति के अनुसार अपना विचार आपके सामने रखता हूँ।

यह भी एक प्रकार से आंजनेय के अभिभाषण

की उपभूमिका है जिममें उनकी वाक्यकुशलता, अंतःकरण की सात्विक निर्मलता और परीक्षण-पटुता का प्रमाण मिलता है। अब असली बात पर आकर हनुमान् कहते हैं: "अब तक हमारे सामने जो भी प्रस्ताव आए हैं, वे कार्यकारी नहीं हैं। उनमें ऊहापोह अधिक और व्यावहारिकता कम है। शरणागत के अंतःकरण की शुद्धता का पता लगाने के लिए उनको किसी कार्य में नियुक्त कर देखना वांछनीय तो हो सकता है, पर संभव नहीं है क्योंकि अपरीक्षित व्यक्ति को सहसा किसी काम में लगा देना अनर्थ का कारण बन सकता है। अपरिचित की परीक्षा के लिए किसी गुप्तचर को नियुक्त करने की बात भी इसीलिए नहीं जँचती है क्योंकि इस प्रकार का परीक्षण दूरस्थ व्यक्ति का होता है, एकदम सामने आकर खड़े शरणार्थी का परीक्षण न संभव है और न समीचीन। अपने बड़े भाई को छोड़ कर उनके शत्रु की शरण में आए हुए विभीषण का समागम देश और काल के सर्वथा विपरीत बताया गया है। पर यह सही नहीं है। दुष्टबुद्धि रावण को समझा बुझाकर यह भोला भाला और भला आदमी उसी भाई से अपमानित होकर यहाँ आया है। आप की शरण में आने का यही सही समय है और इस शरणागत के लिए आप से बढ़कर कोई उत्तम आश्रयदाता मिल नहीं सकता। एक सुझाव यह भी था कि शरणागत से ही पूछा जाए कि वह क्यों आया है और उसका आशय कहाँ तक शुद्ध है। पर इस प्रकार पूछने से न प्रश्नकर्ता को लाभ होगा और न आगंतुक को। इससे दोनों के मन दूषित हो जाएँगे और संशय की भावना और बढ़ेगी। इसलिए नवागत व्यक्ति की स्वरभंगिमा और मुखवैखरी को देखकर आप स्वयं निर्णय करें कि यह किस धातु का बना हुआ है और यहाँ पर किस हेतु आया हुआ है। कभी-कभी कुछ कपटी व्यक्ति अपने अंतरंग को छिपाकर बहिरंग को स्वच्छ और निर्मल दिखाने का प्रयास करते हैं। पर आपके सामने कोई इस प्रकार का प्रदर्शन नहीं कर पाता। आप सब के बाहर-भीतर को पल भर में पकड़ सकते हैं। इसलिए प्रस्तुत प्रकरण में प्रभु का अंतःकरण ही प्रमाण है। जहाँ तक मैंने देखा है, इस व्यक्ति के वचन और वदन में कोई कलंक या कपट नहीं दिखाई दे रहा है। आप भी अपने ढंग से इनको देखें-परखें और आपको जो उचित लगे वही करें।

कार्यकुशल राम के कार्यकारी संसेवक हनुमान् अपने मंतव्य का उपसंहार करते हुए सारगर्भित शब्दों में कहते हैं:—

यथाशक्ति मयोक्तं तु राक्षसस्यार्जवं प्रति।
प्रमाणं त्वं हि शेषस्य श्रुत्वा बुद्धिमतांवर ॥

(आप बुद्धिमानों में श्रेष्ठ हैं। आपने मेरी सम्मति जानने की इच्छा प्रकट की तो मैंने यथामति अपनी बात निवेदित की। शरणागत राक्षस की सात्विकता के संबंध में जो कुछ मेरी समझ में आया, मैंने कह दिया है। अब शेष आप के ऊपर है।)

शरणागत के स्वागत के संबंध में रघुकुलनंदन राम के उपसंदेष्टाओं में जो उपादेय विचार-विनिमय हुआ है और उसका जो सुंदर, सुरुचिपूर्ण और संतुलित समन्वय मारुतनंदन ने प्रस्तुत किया, यह सब सुनकर राम को बड़ी प्रसन्नता हुई, विशेषकर वायुनंदन की वाणी सुनकर। अब उनको भी कुछ कहना है - केवल कहना नहीं, करना है। वास्तव में करना उन्हीं को है, बाकी सब केवल कहने-सुनने वाले हैं। परिचर्चा का सार प्रस्तुत करते हुए और साथ-साथ अपना निर्णय भी प्रकट करते हुए समयज्ञ उचितज्ञ और धर्मज्ञ राम कहते हैं:—

मित्रभावेन संप्राप्तं न त्यजेयं कथंचन।
दोषो यद्यपि तस्य स्यात् सतामेतदगर्हितम्॥

(मित्र बनने की इच्छा से जो व्यक्ति हमारे पास आता है, उसकी सुहृद् भावना को ठुकराना नहीं चाहिए, चाहे इसका कुछ भी परिणाम हो। संभव है कि समागत सखा सदाशय का नहीं हो, उसमें दोष हो, वह गुणी न हो। फिर भी गुण-दोष की विवक्षा किए बिना शरणागत मित्र का स्वागत करना ही सज्जनता का लक्षण है।)

शरणागत वत्सल राम का यह उदार कथन सुग्रीव को फिर एक बार चौंका देता है। उनका संशयशील मन अभी शुद्ध नहीं हो पाया। उनके मन में अब भी शंका है कि धूर्त रावण का यह भ्राता किसी समय हमारे सर्वनाश का कारण बन सकता है। इसलिए संक़ोच और साहस दोनों के बल पर वह फिर एक बार अपने मित्र राम को परामर्श देते हैं कि विभीषण को आश्रय देना निरापद नहीं है। उनका तर्क यह है कि विभीषण दुष्ट हो या न हो, वह दुष्ट राक्षस रावण का सगा भाई है। इसके उत्तर में उदार हृदय राम अत्यंत लौकिक तर्क देते हुए कहते हैंः—

न सर्वे भ्रातरस्तात भवंति भरतोपमाः।
मद्विधा वा पितुः पुत्राः सुहृदो वा भवद्विधाः॥

(भाई सुग्रीव, संसार में सभी भाई एक जैसे नहीं होते हैं। कुछ लोग मेरे जैसे हैं, कुछ लोग आप जैसे हैं और बहुत कम लोग भरत जैसे भी होते हैं।)

इस वाक्य में जितना सत्य है, उतना व्यंग्य भी है। सुग्रीव की ग्रीवा को अव्यग्र बनाने के लिए यह एक वाक्य पर्याप्त है। फिर भी सुग्रीव अपने मन की आशंका और एक बार प्रकट करते हुए कहते हैं कि क्रूर रावण का भाई विभीषण समय पाकर हम लोगों का प्राणहरण कर सकता है, इसलिए यह सर्वथा त्याज्य है।

अब सत्यपराक्रम राम स्पष्ट शब्दों में अपना दृढ़ संकल्प व्यक्त करते हुए सुग्रीव से कहते हैं— "वानर-राज सुग्रीव, यह विभीषण चाहे कितना ही दुष्ट हो, हमारा कुछ नहीं बिगाड़ सकता। संसार की समस्त आसुरी शक्तियों को संकल्प मात्र से मैं समाप्त कर सकता हूँ। इसलिए शरणागत को अभय प्रदान करना मेरा धर्म ही नहीं, बल्कि सहज लक्षण है। फिर इस रावण-भ्राता का स्वर शुद्ध है, इसलिए अंतःकरण भी शुद्ध होना चाहिए। शुद्ध हो या न हो, इसकी मुझे कोई चिंता नहीं। जो एक बार मेरी शरण में आता है, वह मेरा बनता है और मेरा बनकर ही रहेगा। यह मेरा जीवन-सिद्धांत है, व्रत है।

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥

प्रपन्न पारिजात राम के ये वचन अशोक-वाटिका में शोकाकुल दिन काटने वाली जानकी के संबंध में स्वप्न देखकर जाग्रत राक्षसी त्रिजटा के मुँह से निकले सत्यवाक्य का स्मरण कराते हैं जिस में जनकनंदिनी मैथिली को वह 'प्रणिपात-प्रसन्ना' कहती है। शरणागत प्राणी के प्रणाद (स्वर) को पहचान कर प्रपन्न को प्रसन्न बनाने वाली प्रकृति दोनों की है। स्वयं संकट में रहकर भी अशरण को शरण देने का यह स्वभाव सत्यपराक्रम राम को लोकोत्तर व्यक्ति बना देता है। इसलिए राम का यह वाक्य इस प्रसंग की प्राणनाड़ी है।

अभय का वचन देकर राम सुग्रीव से कहते हैंः—

आनयैनं हरिश्रेष्ठ दत्तमस्याभयं मया।
विभीषणो वा सुग्रीवो यदि वा रावणः स्वयम्॥

(इसलिए हे कपिराज सुग्रीव, इस शरणागत को भीतर ले आओ — चाहे वह विभीषण हो या स्वयं रावण हो। मैंने अभयदान दे दिया है।)

अब सुग्रीव की बुद्धि ठिकाने आती है। अब कोई विकल्प नहीं है क्योंकि राम का संकल्प सबल है। इसलिए कपीश्वर नरोत्तम राम का गुणगान करते हुए उनके निर्णय का सहर्ष स्वागत करते हैं और कहते हैंः—

किमत्र चित्रं धर्मज्ञ लोकनाथ शिखामणे।
यत्त्वमार्य प्रभाषेथाः सत्ववान् सत्पथे स्थितः॥

(धर्मपरायण राम, आपने बिलकुल ठीक कहा है और ऐसी बात केवल आप ही कह सकते हैं क्योंकि आप केवल पृथ्वीपाल नहीं है, बल्कि लोकपाल अथवा लोकपालों के सिरमौर हैं। इसलिए आप के इस कथन में आश्चर्य की बात नहीं है। यह तो आपका सहज लक्षण है। आप का पराक्रम आप का सत्य है और आपका सत्य आपके मार्ग को प्रशस्त बना देता है।)

राम और सुग्रीव जैसे ही शरणागत विभीषण का

स्वागत करने के लिए आगे बढ़ते दिखाई देते हैं, अंतरिक्ष में स्थित विभीषण धरती पर आते हैं और अपने चारों अनुचरों के साथ राम के चरणों में नत मस्तक हो जाते हैं। समर्पण के स्मरणीय क्षणों की इस अनिर्वचनीय अनुभूति को व्यक्त करते हुए विभीषण राम से कहते हैं:–

अनुजो रावणस्याहं तेन चास्म्यवमानितः।
भवंतं सर्वभूतानां शरण्यं शरणागतः॥

(मैं रावण का छोटा भाई विभीषण हूँ। मेरे भाई ने मेरा अपमान किया है। उससे दुःखी होकर मैं आपकी शरण में आया हूँ। मुझे विश्वास है कि संसार के समस्त प्राणियों को आश्रय प्रदान करने वाले आप मुझे भी अपने चरणों में स्थान देंगे।)

अपनी भौतिक सुख-समृद्धि, बंधु-बांधव, घर-परिवार सब कुछ छोड़कर श्रीराम के चिद्विलास की शरण में आए हुए विभीषण का हार्दिक स्वागत करते हुए करुणासागर राम अपनी कुसुम कोमल और मृदु मधुर वाणी में उनको सांत्वना देकर उन पर अपनी दृष्टि इस प्रकार प्रसारित करते हैं मानो वह अपने नेत्रों से उनका रसास्वादन कर रहे हों।

इस मधुर मिलन के बाद राम विभीषण के हृदय की परीक्षा करने के लिए लंकावासी राक्षसों के बलाबल के संबंध में उनसे कुछ जानना चाहते हैं। विभीषण तत्काल अपने भाई रावण और कुंभकर्ण, सेनापति प्रहस्त, रावण के अपराजेय पुत्र इंद्रजित् तथा महोदर, महापार्श्व आदि अन्य राक्षसवीरों के संबंध में विस्तार से बताते हैं। विभीषण की बातों पर ध्यानपूर्वक विचार करने के पश्चात् सत्यनिष्ठ राम यह प्रतिज्ञा करते हैं:–

अहं हत्वा दशग्रीवं सप्रहस्तं सहात्मजम्।
राजानं त्वां करिष्यामि सत्यमेतच्छृणोतु मे॥

(मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं तुम्हारे भाई रावण का, सेनापति प्रहस्त का तथा रावण के आत्मज इंद्रजित् का संहार कर तुमको लंका का राजा बना दूँगा। यह मेरा सत्य वचन है।)

राम की यह प्रतिज्ञा विभीषण को विस्मित और सस्मित बना देती है। विस्मय इसलिए कि इतनी कम अवधि में – अवधि क्या, कुछ ही क्षणों में – राम ने इतना अमोघ वचन कह दिया है। कृतज्ञता और प्रतिज्ञता की भावना से नतमस्तक विभीषण भी अपनी गरिमा के अनुरूप प्रतिवचन देते हुए कहते हैं:–

राक्षसानां वधे साह्यं लंकायाश्च प्रधर्षणे।
करिष्यामि यथाप्राणं प्रवेक्ष्यामि च वाहिनीम्॥

(मैं भी राक्षसों का संहार करने और लंका को पराजित करने में आपकी भरपूर सहायता करूँगा और इस के लिए मैं सेना में प्रवेश कर तब तक लड़ूँगा जब तक मेरे शरीर में प्राण हों।)

इस प्रतिकृति पर प्रसन्न होकर प्रेमस्वरूप राम विभीषण को गले लगा लेते हैं और लक्ष्मण से कहते हैं कि "समुद्र का जल लाकर विभीषण का राज्याभिषेक करो। यह मेरी प्रसन्नता का प्रकट पारितोषिक है।" तत्काल वानरसेना के बीच राजसम्मान के साथ महाप्रज्ञ विभीषण का राजतिलक संपन्न हो जाता है। श्रीराम के इस आकस्मिक और आपात मधुर अनुग्रह पर विभीषण को तो विस्मय होता ही है बल्कि सारा वायुमंडल हर्ष, उल्लास और आश्चर्य से आप्लावित हो जाता है। वचन को क्रिया का रूप देने में पुरुषोत्तम राम का पुरुषार्थ कितना सजग, सत्वर और सहज है, इस बात का जीता जागता प्रमाण है – शरणागत विभीषण का हार्दिक स्वागत और तत्क्षण प्रसाद के रूप में उनका राजतिलक। स्वागत और सम्मान की इस समन्वित और समेकित घटना में केवल राम की शरणागत वत्सलता का ही नहीं, बल्कि भावी घटना-क्रम पर उनके अविचल विश्वास का भी प्रमाण मिल जाता है। संसार में साधारण व्यक्ति तभी कुछ सोचता है, जब कुछ होता है। पर राम जैसे लोकोत्तर महापुरुषों के निर्मल अंतःकरण में कुछ विचार आता है तो वह तत्काल आचरण बन जाता है। जब कुछ होता है, तभी हम सोचते हैं। पर महात्मा लोग कुछ सोचते हैं, इसीलिए वह ऐसा होता है। बस यही अंतर है – भूतात्मा और महात्मा के बीच जिसको पहचान कर विश्वामित्र जैसे तपस्वी ने बहुत पहले कहा था:–

"अहं वेद्मि महात्मानं रामं सत्यपराक्रमम्"

62. शरसंधान, शरधि का बंधन

शरणागत विभीषण का केवल स्वागत ही नहीं, बल्कि भावी लंकेश्वर के पद पर भव्य राज्याभिषेक भी संपन्न हुआ तो समस्त वानर सेना में हर्ष और उल्लास की लहर फैल गई और सब लोग प्रभु-प्रसाद की प्रशंसा करने लगे। विभीषण के आगमन से पहले सागर-लंघन की जो समस्या सबको चिंतित कर रही थी, वह समस्या अब भी ज्यों की त्यों बनी हुई है। इसका समाधान शीघ्र से शीघ्र निकालना परम आवश्यक है। अब चूंकि विभीषण का भी सहयोग प्राप्त है, इसलिए हनुमान् और सुग्रीव उनसे इस संबंध में सलाह माँगते हुए पूछते हैं:-

कथं सागरमक्षोभ्यं तराम वरुणालयम्।
सैन्यैः परिवृताः सर्वे वानराणां महौजसाम्॥

प्रतिभा और पराक्रम से संपन्न विशाल सेना के साथ इस अपार सागर को हम कैसे पार करें, यही अब विचारणीय विषय है। इस पर धर्म और कर्म का मर्म समझकर कार्यकारी उपाय सुझाते हुए विभीषण कहते हैं:-

समुद्रं राघवो राजा शरणं गंतुमर्हति।
खनितः सगरेणायमप्रमेयो महोदधिः॥
कर्तुमर्हति रामस्य ज्ञातेः कार्यं महोदधिः।

(इस स्थिति में सर्वोत्तम उपाय यही है कि रघुकुल- तिलक राम अगाध सागर का आश्रय लेकर उस के सहयोग की प्रार्थना करें। शरणागत राम का काम उदार सागर अवश्य करेगा क्योंकि रघुवंश के राजा सगर ने ही सागर का खनन करवाया था। इसलिए यह पारावार सकृतज्ञ होकर राम की सहायता करेगा।)

विभीषण का यह वाक्य सुनते ही किसी भी समझदार आदमी को हँसी आती है क्योंकि अभी-अभी राम की शरण में आकर राज्याभिषेक का गौरव प्राप्त करने वाले विभीषण का यह परामर्श है कि राम सागर की शरण लें। शरणागति की महिमा पहचानने वाले की यह सलाह उनकी दृष्टि से ठीक है, पर राम जैसे महान् व्यक्ति को शरणागति का परामर्श देने में विभीषण को कुछ सोचना चाहिए था। पर तत्काल उनके मन में जो विचार आया, पहले वही कह दिया और फिर सोचने लगे कि इस में अनुचित कुछ नहीं है क्योंकि राजा सगर द्वारा खनित महासागर महामानव राम का आग्रह अवश्य मान जाएगा। विभीषण की इस विचारधारा पर विवेचन करने का प्रयास तक सुग्रीव और हनुमान् ने नहीं किया। जैसे ही विभीषण ने यह बात कही, सुग्रीव तत्काल इस मंत्रणा को लेकर राम और लक्ष्मण के पास जाते हैं। स्वभाव से धर्मशील राम ने सुग्रीव के माध्यम से विभीषण का विचार जानकर मंदहास के साथ उस मंगलमय प्रस्ताव का स्वागत किया। यह वही मंदहास है जिसने अभी कुछ समय पहले विभीषण का स्वागत किया है। अब उसी मंदहास से नवागत विभीषण के नवीन विचार का भी वह सहर्ष स्वागत कर रहे हैं। पर इस प्रस्ताव को कार्यरूप देने से पहले वह सुग्रीव और लक्ष्मण के

सुचिंतित विचार को आमंत्रित करते हुए कहते हैं– "भैया लक्ष्मण, तुम मंत्रणा की मार्मिकता को भलीभांति पहचानते हो और सुग्रीव तो राजनीति में पारंगत विद्वान् हैं। आप दोनों जैसा कहें, वैसा मैं करूँगा।"

श्रीराम की इस प्रतिक्रिया में जितनी सतर्कता है, उतनी सश्रीकता भी है। अपनी ओर से विभीषण के इस विवेकशील प्रस्ताव को स्वीकार करने में उनको कोई आपत्ति नहीं है, पर इसमें वह अपने भाई लक्ष्मण और प्रिय मित्र सुग्रीव को भी सम्मिलित करना चाहते हैं क्योंकि यह शरणागति का प्रश्न है और प्रस्ताव एक नवागत आप्त मित्र का है। वैसे राम का धनुष इस समस्या का समाधान कर सकता है। पर धनुष-बाण का आश्रय तभी लेना उचित है जब अन्य उपाय निरुपयोग हो जाएँ। इस दृष्टि से विभीषण के इस प्रस्ताव में विनम्रता है, विद्वत्ता है और विवेक है जो कि एक राक्षसवीर में सहज रूप से नहीं होते। इन मानवीय लक्षणों से अभिलक्षित होने के कारण ही विभीषण अपने भाई रावण को छोड़कर यहाँ आए थे और इधर रामचंद्र के संसर्ग में जितने क्षण व्यतीत हुए उतने ही कम समय में उन्होंने राम की धर्मशीलता को हृदयंगम कर लिया है। दशरथनंदन राम विभीषण के इस प्रस्ताव में विचारों का यही विस्तार और प्रस्तार देखकर भीतर ही भीतर प्रसन्न हुए, तभी तो उन्होंने 'मुस्कुराकर' इस प्रस्ताव का स्वागत किया। अब वह चाहते हैं कि सुग्रीव और लक्ष्मण भी इस सूक्ष्मता को पहचानने का प्रयास करें। इसीलिए उन्होंने उनका अभिमत माँगा।

धर्मात्मा राम की इस कर्म-विचिकित्सा में जो सात्विकता और शालीनता है, उसको भलीभांति पहचानने में सुमतिशील सुग्रीव तथा सुमित्रानंदन लक्ष्मण को न देर लगती है और न कठिनाई होती है। समयोचित जिज्ञासा का सत्वर समाधान प्रस्तुत करते हुए दोनों कहते हैं:–

विभीषणेन यत् तूक्तं अस्मिन् काले सुखावहम्।
अलं कालात्ययं कृत्वा सागरोऽयं नियुज्यताम्॥

(विभीषण ने जो कहा है, वह समय के अनुकूल है और परिणाम में सुख देने वाला है। इस विचार को कार्यरूप देने में हमें अधिक विलंब नहीं करना चाहिए। इस कार्य में सागर का सहयोग हमें जितनी जल्दी मिल जाए, उतना ही अच्छा होगा।)

इस पर श्रीराम निश्चिंत और निर्लिप्त भावमुद्रा में समुद्र के तट पर कुश बिछाकर उस पर बैठ जाते हैं – जैसे यज्ञ की वेदी पर अग्निदेव प्रतिष्ठित होते हैं। इतने में अचानक एक घटना घटती है जो राम की दीक्षा में बाधक बन सकती थी। राक्षसराज रावण का एक गुप्तचर शार्दूल नाम का राक्षस समुद्र-तट पर दशयोजन तक व्याप्त वानर सेना को देखकर आँखों देखा हाल रावण को सुनाकर उसे सतर्क करते हुए कहता है कि आप अपने दूतों को भेजकर सत्वर सुग्रीव को अपने पक्ष में मिलाने का प्रयास करें, अन्यथा सीता को लौटा दें। परिस्थिति की गंभीरता को पहचान कर रावण तत्काल शुक नामक राक्षस को सुग्रीव के पास भेजकर उनमें और राम में फूट पैदा करने का प्रयास करता है। जैसे ही राम सागर के तट पर कुशासन पर बैठ जाते हैं, उसी समय शुक का रूप धारण कर यह कामरूपी दूत वानरसेना में प्रवेश करता है। पर वानर- वीर हर प्रकार से और हर दिशा से सावधान होने के कारण अंतरिक्ष में से सुग्रीव को संबोधित करने वाले उस रावण-दूत को तत्काल पहचान लेते हैं और सुग्रीव भी रावण का संदेश सुनकर चकित और सजग हो जाते हैं। रावण का संदेश था:–

त्वं वै महाराज कुलप्रसूतो
महाबलश्चर्क्षरजः सुतश्च।
न कश्चनार्थस्तव नास्त्यनर्थः
तथापि मे भ्रातृसमो हरीश।

(वानरराज सुग्रीव, आप तो मेरे भाई के समान हैं। मैंने आपका कभी कुछ नहीं बिगाड़ा हालांकि मैंने कभी आपका उपकार भी नहीं किया। आप तो महाराज के कुल में उत्पन्न हुए हैं। आपके पिता ऋक्षरजा महाबली के रूप में प्रसिद्ध हैं।)

अपने संदेश के इस उपक्रम में रावण केवल सुग्रीव की प्रशंसा करता है और बाद में मतलब की बात कहता हैः—

अहं यद्यहरं भार्यां राजपुत्रस्य धीमतः।
किं तत्र तव सुग्रीव किष्किंधां प्रतिगम्यताम्॥

(माना कि आपके मित्र बड़े बुद्धिमान् हैं। पर यदि मैंने उसकी पत्नी का अपहरण किया तो इसमें मैंने आपका क्या बिगाड़ा है? इसलिए आप हम दोनों के इस आपसी संघर्ष में न आकर चुपचाप किष्किंधा वापस चले जाएँ इसी में हम दोनों की भलाई है।)

शुक के मुँह से ये संदेश वाक्य निकल ही रहे थे कि इस बीच वानर सेना ने उस पर आक्रमण कर उसके पंख नोच डाले। वह परेशान होकर रोते बिलखते राम के पास गया। राम ने उसको क्षमा कर छोड़ने की आज्ञा दी। पर वह दुष्ट राक्षस सुग्रीव का उत्तर लेकर ही वापस जाना चाहता था। सुग्रीव ने स्पष्ट शब्दों में रावण को सतर्क और सावधान करने वाला उत्तर देकर उसको जीवित वापस भेज दिया वह भी राम के आदेश के कारण। अन्यथा वह पंखहीन क्या, प्राणहीन होकर वहीं अपनी अंतिम सांस लेता।

इस घटना से न राम की दीक्षा में कोई बाधा पहुँची और न सुग्रीव की सत्यनिष्ठा में कोई क्षति हुई। केवल रावण की क्षुद्रता का पता चला है और बिचारा दूत अपनी जान हथेली में लेकर वापस चला गया। यह राम की उदारता थी कि धूर्त को दूत मानकर उन्होंने उसको जीवित जाने दिया।

इस आकस्मिक घटना से तनिक भी विचलित न होकर कार्यसाधक रघुनाथ सागर के तट पर कुशशय्या पर निष्ठा के साथ लेटे रहे। अपनी दाहिनी भुजा को तकिया बनाकर लेटे हुए कोसलपति की कोमल कांत मुखमुद्रा दर्शनीय थी और उससे भी अधिक दर्शनीय उनकी दक्षिण बाहु थी जिसको अयोध्या की माताएँ अपने मणिमय, सुवर्णखचित और मोतियों से अलंकृत करकमलों द्वारा नहलाते धुलाते समय सहलाती और दबाती थीं, जिसको सिरहाने रखकर सीता अपने जन्म जन्मांतर के सुनहले स्वप्न देखा करती थीं, जो समर-भूमि में शत्रुसेना को संताप का शोक संगीत सुनाया करती है और दीन-दुखियों का दर्द मिटाने के लिए अभीप्सित वर प्रदान किया करती है। यह वही विशाल दाहिनी भुजा है जिसका आश्रय लेकर समस्त संसार को आश्रय देने में समर्थ सत्यपराक्रम राम आज सागर के भीकर गर्जन से स्वर भिड़ाकर कह रहे हैं – "अद्य मे तरणं वाथ मरणं सागरस्य वा" (आज या तो मैं समुद्र को पार करूँगा या फिर हठी समुद्र का संहार करूँगा।) इस दृढ़ निश्चय के साथ आजानुबाहु राम अत्यधिक संयम से अपने को नियंत्रित करते हुए अपार सागर के तट पर विधिपूर्वक धरना देकर लेटे रहे।

कुशाच्छादित भूमि पर श्रीराम को इस प्रकार कृत संकल्प होकर लेटे तीन रातें व्यतीत हो गईं। पर मंदमति महासागर ने महाव्रती राम की नयज्ञता, धर्मज्ञता और विनम्रता पर ध्यान नहीं दिया। प्रेमसागर राम की प्रयतिपूर्ण उपासना का जडजलधि पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। सरिताओं की रस-रंजकता में मस्त महासागर की इस घोर उपेक्षा को देखकर करुणा-सागर राम के कमललोचन लाल लाल हो जाते हैं। शांति और संयम के मान-सागर में क्रोध और आक्रोश की आँधी अचानक भड़क उठती है। किन्तु यह अकारण नहीं है। जब सात्विकता अक्षमता समझी जाती है और उपासना का दुरन्वय किया जाता है तभी शांति और सौजन्य के साकार रूप रामचंद्र धनुषबाण का सहारा लेने के लिए विवश होकर भाई लक्ष्मण से कहते हैंः—

प्रशमश्च क्षमा चैव आर्जवं प्रियवादिता।
असामर्थ्यं फला ह्येते निगुर्णेषु सतां गुणाः॥

(प्रशांतता, क्षमाशीलता, सरलता, मधुरभाषिता – ये सब सज्जनों के सात्विक गुण गुणहीन व्यक्तियों के प्रति व्यक्त होने पर असमर्थता के द्योतक हो जाते हैं।)

समुद्र की उदासीना से उद्विग्न होकर लोकाभिराम राम को सात्विकता का महत्त्व पहचानने में असमर्थ संसार पर दया आती है और समुद्र की इस उपेक्षा को

सात्विकता को चुनौती के रूप में स्वीकार कर, चुनौती का उत्तर चुनौती के रूप में देते हुए सत्यपराक्रम राम कहते हैं:—

अद्य मद्बाणनिर्भिन्नैर्मकरैर्मकरालयम्।
निरुद्धतोयं सौमित्रे प्लवद्भिः पश्य सर्वतः॥

(सुमित्रानंदन लक्ष्मण, आज मेरे बाणों के आघात से इस दुष्ट सागर में रहने वाले मगर-मत्स्य आदि प्राणी प्रताड़ित होकर समुद्र के ऊपर निकल आएँगे और विकल होकर चारों ओर बिखर जाएँगे। सारा जल स्तंभित हो जाएगा और हमारी सेना स्वयं नौका बनकर इस जलराशि को पार करेगी। यह दृश्य तुम अपनी आँखों से देखोगे।)

सागर बाहर से जितना विक्षुब्ध दिखाई देता है, भीतर से वह उतना ही अक्षोभ्य, अविचल और अविकल होता है। सागर की इस प्रकृति से भलीभांति परिचित रामचंद्र इसीलिए सौम्य और सौजन्यपूर्ण विधान से सागर को अपने अनुकूल बनाने का प्रयास करते हैं। वास्तव में राम की प्रकृति भी बहुत कुछ इसी प्रकार की है। क्रोध की दशा में वह प्रलयानल बनकर समस्त संसार को भस्मसात् करने की क्षमता रखते हैं और क्षमा करने में वह माँ धरती से भी अधिक उदार होते हैं। गांभीर्य में एक दूसरे की समता करने वाले सागर और राम एक दूसरे की थाह ले रहे हैं। जब तीन रातें प्रतीक्षा में व्यतीत हो गईं तब तपस्वी राम की तितिक्षा (सहिष्णुता) भी जवाब दे जाती है। फिर भी वह समुद्र से सीधे कुछ नहीं कहते, जो कुछ मन में उफन कर बहने लगा, वह लक्ष्मण को साक्षी बनाकर प्रवहमान होता है। आत्मश्लाघी, अहंकारी, अत्याचारी और अतिचारी व्यक्तियों का सम्मान करने में संलग्न संसार के अविवेक पर सहज सात्विक शालीनता के स्वामी रामभद्र को दया आती है और इस बात का दुःख होता है कि इक्ष्वाकुवंश का हितैषी सागर भी इसका अपवाद नहीं रहा। इसलिए राम के भीतर का क्षोभ अब बाहर प्रकट होने लगता है। पर सागर स्वर को नहीं पहचानता, केवल शर को पहचानता है क्योंकि वह शरधि है। इसलिए उसी भाषा का प्रयोग करते हुए राम अपने भाई से फिर वही बात दूसरे शब्दों में कहते हैं:—

न दर्शयति साम्ना मे सागरो रूपमात्मनः।
चापमानय सौमित्रे शारांश्चाशीविषोपमान्॥
समुद्रं शोषयिष्यामि पद्भ्यां यांतु प्लवंगमाः।
अद्याक्षोभ्यमपि क्रुद्धः क्षोभयिष्यामि सागरम्॥

(सुमित्रानंदन लक्ष्मण, यह समुद्र सामनीति से मेरी बात नहीं मान रहा है। इतनी अनुनय-विनय करने पर भी वह साकार होकर मेरे सामने उपस्थित नहीं हो रहा है। इसलिए इस मूर्ख समुद्र को सुखा देने के अतिरिक्त मेरे पास और कोई उपाय नहीं है। मुझे मेरा धनुष और विषधर सर्पों के समान भयंकर बाण दे दो। अभी मैं इस जलनिधि को निर्जल बना दूँगा ताकि हमारे वानर मित्र समुद्र को पैदल पार करें। मैं जानता हूँ कि सागर में क्षोभ उत्पन्न नहीं किया जा सकता, पर मैं अपने क्रोध के बल पर अक्षोभ्य सागर को भी विक्षुब्ध कर दूँगा।)

अपनी इस भीषण घोषणा को कार्यरूप देते हुए महाधन्वी राम हाथ में धनुष लेकर भयंकर शर-संधान करते हैं। जैसे ही धनुष पर बाण चढ़ाया जाता है, धरती थर-थर काँप उठती है और जैसे ही खिंची हुई प्रत्यंचा से प्रचंड बाण पांचभौतिक जगत् में प्रवेश करते हैं समुद्र के जलचर, पृथ्वी के पर्वत और आकाश के नक्षत्र अस्त-व्यस्त और संत्रस्त हो जाते हैं। राम के विशाल नेत्रों से प्रलयानल प्रकट होने लगता है। सागर की लहरें प्रचंडवेग से भूभाग को आक्रांत करने लगती हैं। रत्नाकर के भीतर से शंखों, सीपियों और बहुमूल्य रत्नों के साथ-साथ सर्प, मत्स्य, मकर आदि भयंकर प्राणी ऊपर उछलने लगते हैं। सारा सागर उत्तुंग तरंग-मालाओं से आलोडित, आवर्तित और आक्रंदित होकर अंबर की ओर निरालंब नेत्रों से ताकने लगता है।

इतना होने पर भी राम का क्रोध शांत नहीं होता और न सागर राम को शांत करने का प्रयास करता। इसी आवेग में राम अपने उग्रवेग से युक्त अप्रमेय

धनुष को फिर खींचने लगते हैं तो पास खड़े लक्ष्मण अपने अग्रज के धनुष को पकड़कर उनको समझाने का प्रयास करते हुए कहते हैं: "बस भैय्या, बस, अब और नहीं, बस करो और संसार को बचाओ। आप महावीर ही नहीं, बल्कि महामेधावी भी हैं। इसलिए आप इसके लिए कोई दूसरा उपाय सोच सकते हैं। आप को इस प्रकार क्रोध के अधीन नहीं होना चाहिए, बल्कि क्रोध को अपने अधीन रखना चाहिए।" लक्ष्मण की इस विचक्षण वाणी से साहस बटोरकर अंतरिक्ष में एकत्रित महर्षि और देवर्षि भी राम को समझाने का प्रयास करते हैं। 'हा कष्टम्', 'मा मा' आदि महान् शब्दों से महाकाश गूँज उठता है। परन्तु संतों की यह स्वर-लहरी भी राम के शर-संधान को रोक नहीं पाती। सागर भी साकार होकर शरचापधारी के सम्मुख प्रकट नहीं होता।

अब राम सीधे सागर को ही संबोधित कर कठोर शब्दों में, संभवतः अंतिम चेतावनी देते हुए कहते हैं:—

मत्कार्मुक-विसृष्टेन शरवर्षेण सागर।
परं तीरं गमिष्यंति पद्भिरेव प्लवंगमाः॥

(सागर, अब मेरे धनुष से निकलने वाले तीखे बाणों की वर्षा से तुम्हारा सारा जल सूख जाएगा और मेरे साथी वानर पैदल ही तुमको पार कर उस पार पहुँच जाएंगे।)

शर-वर्षा से भी प्रखर इस स्वर-वर्षा का भी जड़ सागर पर कोई असर नहीं पड़ता। अब विवश होकर कोंदडधारी राम दंडधर का-सा प्रचंड रूप धारण कर अपने नेत्रों को कानों तक फैलाकर अमोघ ब्रह्मास्त्र का प्रयोग करने के उद्देश्य से एक बार और धनुष अपने हाथ में लेते हैं। जैसे ही राम के हाथ में धनुष और बाण दिखाई देते हैं वैसे ही ब्रह्मदंड के समान भयंकर उस सर्वनाशी अस्त्र के प्रभाव की कल्पना से ही सारी पृथ्वी काँप उठती है, पर्वत हिलने लगते हैं, आकाश फटने को तैयार हो जाता है, चारों ओर अंधकार छा जाता है, दिशाएँ अपनी सुध-बुध खो बैठती हैं, सूर्य, चंद्र और नक्षत्र पथभ्रष्ट हो जाते हैं, बिजलियाँ चमकने लगती हैं, विशाल वज्र एक दूसरे से टकराने लगते हैं और आसपास का सारा वातावरण भीषण भैरवता से आतंकित हो जाता है। सत्यपराक्रम राम के धनुष की प्रत्यंचा पर ब्रह्म-तेज से संपन्न शर के चढ़ने मात्र से जब इतना उत्पात मच जाता है तो जड़ समुद्र भी सचेत हो जाता है और अपनी सीमा को पार कर श्रीराम के चरणों का स्पर्श करने के लिए आगे बढ़ता है। पर राम अविचल रहते हैं।

इतने में अचानक सागर के भीतर से समुद्र-मुद्रा में महार्णव का महामहिम और मंगलमय रूप प्रकट होता है जोकि अमूल्य रत्नों से सुसज्जित, सभी प्रकार के पुष्पहारों से अलंकृत और नाना प्रकार की रसात्मकता और ध्वन्यात्मकता से युक्त नदियों से संसिक्त था और सामने खड़े हुए सत्यस्वरूप राम को अपने सजल नयनों से संप्रोक्षित करता है। चापधारी राम से सात्विक और सारगर्भित शब्दों में अपनी विवशता प्रकट करता हुआ महासागर कहता है:—

पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च राघव।
स्वभावे सौम्य तिष्ठंति शाश्वतं मार्गमाश्रिताः॥
तत्स्वभावो ममाप्येष यदगाधोऽहमप्लवः।
विकारस्तु भवेद गाध एतत् ते प्रवदाम्यहम्॥

(सौम्यमूर्ति रघुनंदन! आप सब कुछ जानते हैं। आप से छिपी हुई कोई बात नहीं है। आप जानते हैं कि इस पाँचभौतिक जगत् के पाँच तत्त्व — पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश अपने अपने स्वभाव में सुस्थित और सुस्थिर होते हैं और इसी स्थिति और स्थैर्य में संसार की शाश्वत प्रतिष्ठा निहित है। इनमें से कोई भी तत्त्व अपनी प्राकृतिक मर्यादा का उल्लंघन नहीं कर सकता और मैं इन्हीं में से एक - जल हूँ। मैं केवल जल ही नहीं, बल्कि जलनिधि हूँ। संसार का सारा जल मुझ पर निर्भर है। इसीलिए मैं निरन्तर अपनी अगाध प्रकृति को सँभाल कर अपनी सीमा में रहता हूँ। अगाध का गाध बनना विकार है। इसलिए मैं अपने स्वभाव को विकार का शिकार बनने दिए बिना आप के कार्य को संपन्न बनाने के लिए उपयुक्त उपाय बताता हूँ।)

इस प्रशस्त प्रस्तावना के साथ प्रचंड राघव को प्रसन्न बनाकर सागर पार करने का उपाय सुझाने के लिए जब सागर स्वयं प्रस्तुत होता है तब राम स्वयं अपनी विवशता प्रकट करते हुए सागर से पूछते हैं : "मैं अपना यह शर कहाँ छोड़ूँ क्योंकि मैं जिस शर का संधान करता हूँ, वह व्यर्थ नहीं जा सकता।" इस पर सागर अपने ही अंगीभूत एक प्रदेश का निर्देश करता है जो 'द्रुमकुल्य' के नाम से प्रसिद्ध है और राम के चरित्र की भांति पवित्र भी है। अभी वह क्षेत्र क्षुद्रकर्मा पापियों के आवास से कलुषित है। इसलिए राम के शर-संधान से वह अपनी पवित्रता को पुनः अर्जित कर पाएगा। सागर के इस प्रस्ताव को करुणा-सागर राम सहर्ष स्वीकार कर द्रुमकुल्य को अपने शर-स्पर्श से पावन बनाते हैं जो मरुस्थल की मंदाकिनी का रूप धारण कर मरुकांतार के नाम से प्रसिद्ध हो जाता है।

अब रही सागर-लंघन की बात। इसके लिए सागर जो उपाय बताने जा रहा था, वास्तव में उसका आधार-सूत्र राम के समीप और वानर सेना के बीच में ही विद्यमान था। परन्तु किसी को इसका पता नहीं था। यहाँ तक कि उस व्यक्ति को भी इसका बोध नहीं था जिससे यह कार्य सुगमता से सम्पन्न हो सकता था। उस व्यक्ति का नाम था - नल जो कि विश्वकर्मा का पुत्र था और वानरसेना में ही एक साधारण वीर के रूप में विद्यमान था। उस साधारण वानर-वीर की असाधारण क्षमता को आविष्कृत करते हुए सरिताओं का स्वामी सागर कहता है:—

अयं सौम्य नलो नाम तनयो विश्वकर्मणः।
पित्रा दत्तवरः श्रीमान् प्रीतिमान् विश्वकर्मणः॥
एष सेतुं महोत्साहः करोतु मयि वानरः।
तमहं धारयिष्यामि यथा ह्येष पिता तथा॥

(सौम्यमूर्ति रघुनंदन, आपकी सेना में नल नाम का जो वानर है, वह साक्षात् विश्वकर्मा का पुत्र है और अपने पिता के ही समान शिल्पकार्य में निपुण है। पिता का वरदान भी इसको प्राप्त है और आपका प्रेम भी। इन दोनों के बल पर यह मेरे ऊपर सेतु का निर्माण करने में समर्थ होगा और इस सेतु को मैं सहर्ष धारण करूँगा।)

सेतु-बंधन का यह सूत्रपात अत्यन्त रहस्यात्मक प्रतीत होता है क्योंकि यह सूत्र अपरिचित नहीं है, पर सुपरिचित होने पर भी अपनी सूक्ष्मता के कारण सब के लिए गोचर नहीं था। अब यह 'गोचारण' सागर द्वारा संपन्न हुआ है। इस सूत्र के आविष्कार की रहस्यात्मकता इस घटना से और भी स्पष्ट हो जाती है कि राम-कार्य के साधक के रूप में प्रकट सागर यह बात कह कर दूसरे ही क्षण अदृश्य हो जाता है। सामने केवल जल है, जलजात पुरुष फिर जल में विलीन हो जाता है। इस जलजात सत्ता द्वारा प्रतिपादित साधक सूत्र है - नल, केवल दो अक्षरों का नल जो कि अपार सागर पर पुल बनाने की क्षमता रखता है। यह नल नया नहीं है, कहीं बाहर से आया हुआ भी नहीं है, पास में ही था और परिचित भी था, पर उसको अब तक पहचाना नहीं गया, अब पहचाना गया है। जब 'अनल' शांत होता है तो 'नल' अपने आप प्रकट हो जाता है। प्राकृतिक शक्ति की अपराजेयता पर आक्रोश प्रकट करने वाले राम का क्रोधानल प्रकृति की मर्यादा और निष्ठा को देखकर जब योगानल का रूप धारण कर प्रशांत हो जाता है तो सागर का बडवानल भी अभयानल बनकर नल को आविष्कृत करता है। अनल का अदर्शन ही नल है जो विश्वकर्मा का औरस पुत्र होने के कारण सब कुछ कर सकता है। नल द्वारा संपन्न होने वाला यह सेतु-बंधन कठोपनिषद् में यमाचार्य द्वारा प्रतिपादित वही सेतु-बंधन है जिसके बारे में श्रुतिमाता कहती हैं:—

यः सेतुरीजानानां अक्षरं ब्रह्म यत्परम्।
अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेतं शकेमहि॥
(कठ 1-3-2)

जीव को ब्रह्म से अलग करने वाले सागर पर सेतु बाँधने का जो कार्य नचिकेता जैसे साधक निरन्तर करते रहते हैं, उसी का समसामयिक संदर्भ है सीतावल्लभ राम का यह सेतुबंधन का प्रयास। ध्यान देने की बात

है कि जिस प्रकार यमाचार्य के आश्रम में (यमसदन में) परमयोग के साधक नचिकेता ने तीन रात्रियाँ बिताई थीं, उसी प्रकार संतरण साधक राम सागर के तट पर तीन रातें बिताते हैं जिसके बाद तपस्या के अनल से नल प्रकट होता है। इस दृष्टि से सेतुबंधन का यह सूत्रपात मानव-इतिहास की एक चिरंतन घटना है जिसका भव्य रूप महाकवि की दिव्यवाणी में यहाँ प्रस्तुत होता है। इसलिए यह सेतु केवल लंका और किष्किंधा के बीच का नहीं है, सात्विकता और जघन्यता के बीच का भी है, सौजन्य और धूर्तता के बीच का भी है और तात्विक दृष्टि से जीव और ब्रह्म के बीच का भी है। इसलिए यह सेतु सर्वदा, सर्वथा और सर्वधा वंदनीय है।

सागर पार करने का उपाय बताकर जब सागर की जलमूर्ति जल में लीन हो जाती है तब सबकी दृष्टि नल पर पड़ती है। नल भी सबको देखकर राम को संबोधित कर कहते हैं:—

अहं सेतुं करिष्यामि विस्तीर्णे मकरालये।
पितुः सामर्थ्यमासाद्य तत्त्वमाह महोदधिः॥

(महाप्रभु राम, महासागर ने जो कुछ कहा ठीक ही कहा है। मैं अपने पिताजी के आशीर्वाद के बल पर विशाल सागर पर सेतु-बंधन कर सकता हूँ।)

पर विचारणीय बात यह है कि यह बात नल ने पहले क्यों नहीं कही। इसके दो कारण हैं जिनको नल स्वयं स्वीकार करते हैं। पहला कारण यह है कि राम की महिमा के सामने नल अपनी क्षमता की बात बिल्कुल भूल गए। सागर ने आकर उसको आत्मबोध कराया। दूसरा कारण विनम्रता और शिष्टाचार है। अपने आप अपनी क्षमता के संबंध में कुछ कहने में नल को संकोच हो रहा था। जो भी हो, नल की सक्रियता का अब समय आ चुका है। तत्काल सेतु-बंधन का कार्य संरंभ के साथ आरंभ हो जाता है। पत्थर, पहाड़ और पेड़ जो मिले, जहां मिले सबको उखाड़ कर समस्त वानर नल के पास ले आते हैं और विश्वकर्मा के विख्यात पुत्र नल विस्मयकारी शिल्प चातुरी का प्रमाण देते हुए सेतु का निर्माण करते हैं। सेतुबंधन का सारा कार्य पाँच दिन में समाप्त होता है। पहले दिन १४, दूसरे दिन २०, तीसरे दिन २१, चौथे दिन २२, और पांचवें दिन २३ योजन का पुल बन जाता है। जैसे जैसे पुल बनता जाता है, वैसे ही वानर समुद्र को पार करते जाते हैं। अंतरिक्ष में यह अद्भुत कार्य देखने के लिए देव, गंधर्व, सिद्ध आदि महापुरुष एकत्रित हो जाते हैं। दस योजन चौड़े और सौ योजन लंबे पुल को पार कर सारी वानर-सेना समुद्र की दूसरी ओर लंका की सीमा पर पहुँच जाती है। आगे धर्मात्मा और धन्वी राम हनुमान् की बाहों पर आरूढ़ होकर चलते हैं और उनके साथ अंगद पर आरूढ़ अनुज लक्ष्मण भी चलते हैं। सुग्रीव हर्ष से उद्ग्रीव होकर सागर-लंघन का संचालन करते दिखाई देते हैं। इस सागर-समारोह के समापन पर समागत महर्षिगण, सिद्ध और चारण साधुवाद से सत्यपराक्रम राम का अभिनंदन करते हुए कहते हैं:—

जयस्व शत्रून् नरदेव मेदिनीम्
ससागरां पालय शाश्वतीः समाः

(मनुष्य के आकार में महीतल पर विराजमान् महादेव राम, आप शत्रुओं को पराजित कर सागर की सीमा तक विस्तृत इस विशाल पृथ्वी पर अनेक वर्षों तक ही नहीं, बल्कि अनंत काल तक शासन करते रहें, पालन करते रहें, यही हमारी मंगल कामना है।)



63. शुक सारण शार्दूल नियोजन

अब सीतावल्लभ राम लंका में पहुँच गए। इसलिए लंकेश्वर के प्राण राम की मुट्ठी में हैं। यह बात रावण का अंतरंग भलीभांति जानता है, पर उसके दस मस्तक, बीस हाथ और आशा-विष से आरक्त नयन इस कठोर सत्य को मानने को तैयार नहीं होते। इसलिए लंका का वायुमंडल उत्पात के लक्षणों से आतंकित दिखाई देता है। लंका में पर्दापण करते ही राम इस परम सत्य को पहचानते हैं और अपने अनुज लक्ष्मण से कहते हैं:—

लोकक्षयकरं-भीमं-भयं-पश्याम्युपस्थितम्।
प्रबर्हणं प्रवीराणमृक्षवानर रक्षसाम् ॥

(चारों तरफ प्राणहानि के भयंकर लक्षण दिखाई दे रहे हैं। शीघ्र ही भीषण उत्पात होने वाला है, ऐसा मुझे लग रहा है। इधर रीछ और बंदर और उधर शूरवीर राक्षस दोनों का घोर-संहार होने वाला है)।।

लोकाभिराम राम के इन शब्दों में जनसाधारण के प्रति राम की कारुण्य भावना स्पष्ट होती है। लंका में पहुँचते ही उन्हें अपनी प्राणप्रिया सीता की चिंता होनी चाहिए थी। परन्तु परार्थपरायण जनकीवल्लभ को अपनी पत्नी की अपेक्षा अपने लिए प्राण समर्पित करने के लिए समागत वानर-वीरों तथा रावण के कारण अपने प्राण गँवाने के लिए प्रस्तुत राक्षस-वीरों की अकारण प्राणहानि की अधिक चिंता होती है। राम के मन में इस बात को लेकर जो क्षोभ उत्पन्न होता है, उसी की छाया प्रकृति में प्रतिफलित दिखाई देती है। धरती का काँप उठना, पर्वत का विचलित होना, काले बादलों का आग बरसाना, पवन का प्रभंजन बन जाना, संध्या की लाली में रक्त की विभीषिका दिखाई देना, पशु-पक्षियों का सूर्य की ओर मुँह कर आर्तनाद करना, चाँदनी में ताप का प्रकट होना आदि लक्षण देखकर धरती माता के जामाता राम भयंकर भविष्य का सही अनुमान लगाते हैं।

धरती जितनी त्रस्त दिखाई देती है, आकाश भी उतना ही आतंकित प्रतीत होता है। सूर्यमंडल में काला धब्बा दिखाई देता है। सूर्य के चारों ओर छोटा, रूखा, तीखा और लाल घेरा छा जाता है। सारे तारे धूमिल दिखाई देते हैं। आकाश में विचरने वाले पक्षी विकराल स्वर निकालने लगते हैं। धरती और आकाश में ये जो उत्पात दिखाई देते हैं, उनमें सीता-माता और प्रजावत्सल राम का मानसिक क्षोभ ही व्यंजित हो रहा है। इसी रहस्य की ओर संकेत करने के लिए आदिकवि अपने आदर्श मानव के मुँह से इन लक्षणों का विस्तार से वर्णन कराते हैं। पर सुख-दुख को समान भाव से देखने वाले समदर्शी राम का मानसिक संतुलन विचलित नहीं होता। उनके धीर गंभीर चरण अपरिमेय आत्मविश्वास के साथ अरिनगरी लंका में प्रवेश करते हैं।

श्रीराम की विजय के लिए सर्वथा कृतसंकल्प वानर-सेना लंका की ओर आगे बढ़ती है तो शरत्काल की पूर्णिमा की तरह रामचंद्र का मुख- मंडल प्रसन्नता से सुशोभित होता है। परम प्रसन्नता की इस रमणीय मनोदशा में समदर्शी राम को लंका का सौंदर्य भी स्पृहणीय दिखाई देता है। विश्वकर्मा की विचित्र

अभिकल्पना के आधार पर त्रिकूट पर्वत के शिखर पर निर्मित लंका-नगरी की नभस्पर्शी शोभा सौंदर्यप्रेमी राम को मंत्र- मुग्ध कर देती है। पर दूसरे ही क्षण में इस सुन्दर नगरी में शोकाकुल, विरहातुर और रामासक्त बैठी हुई परम सुन्दरी, पतिप्राणा और प्रांणवल्लभा सीता का स्मरण आते ही राम का मन व्याकुल हो उठता है। लंका में अपने प्रवेश का प्रयोजन शीघ्राति-शीघ्र सिद्ध करने के लिए समरांगण सार्वभौम राम वानर-सेना को सभी दृष्टियों से सन्नद्ध, समृद्ध और सतर्क कर देते हैं। एक ओर शरत् पूर्णिमा की भांति सुशोभित वानर-सेना को देखकर राम स्वयं को आश्वस्त कर लेते हैं, पर दूसरी ओर मंगल ग्रह से पीड़ित रोहिणी की भांति लंका नगरी में राक्षसियों की भर्त्सना से त्रस्त मृगनयनी सीता को मानसिक नेत्रों से देखकर कमलनयन राम करुणनयन बन जाते हैं। पर अपनी हृदयेश्वरी सीता को शोकमुक्त करने का एकमात्र उपाय अब युद्ध ही रह गया है। इसलिए समस्त वानरसेना को व्यूह-बद्ध करने का दायित्व राम स्वयं अपने ही ऊपर लेते हैं। सारी सेना को मानव-शरीर के आकार में सुनियोजित कर उसमें अंगद और नील को हृदय के स्थान पर, ऋषभ को दाहिनी ओर, गंधमादन को बाई ओर, जांबवान्, सुषेण और वेगदर्शी को कुक्षिभाग में और सुग्रीव को जघन भाग की रक्षा में प्रतिष्ठापित कर स्वयं लक्ष्मण के साथ व्यूह के मस्तक की रक्षा का भार संभाल लेते हैं।

जब सारी सेना व्यवस्थित हो जाती है तब राम के आदेश के अनुसार सुग्रीव रावण के दूत शुक को बंधन से मुक्त कर देते हैं। अत्यंत भयभीत शुक राम के मधुर बंधन से मुक्त होकर राक्षसराज रावण के घोर बंधन में प्रवेश करता है। बँधे हुए और बुरी तरह से नोच लिए गए पंखों से वापस आए शुक की शोचनीय दशा को देखकर लंकेश्वर को अपने दूत पर दया आनी चाहिए। पर उसे हँसी आती है। शुक का उपहास करते हुए रावण अपनी शत्रुसेना का विवरण पूछता है। इस पर शुक वास्तविक भयानक स्थिति का वर्णन करते हुए वानरों की दुर्जेयता और राजकुमारों की रणवीरता का जीता जागता चित्र प्रस्तुत करता है। अपने निवेदन के अंत में निष्कर्ष के रूप में वह अपने प्रभु को परामर्श देता है कि इससे पहले कि राम लंका पर आक्रमण करें, उनकी सीता उनके पास लौटा दी जाए, यही उत्तम है। अन्यथा युद्ध के लिए सन्नद्ध होना पड़ेगा। इस पर अहंकारी रावण आग-बबूला हो जाता है और कहता हैः—

यदि-मां-प्रति-युद्धेरन् देव-गंधर्व-दानवाः।
नैव-सीतां-प्रदास्यामि-सर्वलोकभयादपि॥

(देवता, गंधर्व और राक्षस एकजुट होकर मेरे विरुद्ध युद्ध करने के लिए भले ही तैयार हो जाएँ और सारा संसार मुझे डराने धमकाने का भले ही प्रयास करे, मैं सीता को लौटाने वाला नहीं हूँ)।

अपने पराक्रम के प्रति अखंड विश्वास रखने वाला रावण समझता है कि राम को वास्तव में पता नहीं कि वह किस के साथ लड़ने जा रहा है, अन्यथा इतना साहस बटोर कर यहां तक नहीं आता। सागर की भांति अक्षोभ्य और मारुत की भांति गतिशील अपने पराक्रम का वह राम को परिचय देना चाहता है। इसीलिए वह युद्ध के लिए कृतसंकल्प होकर वानरसेना का संपूर्ण विवरण प्राप्त करने के लिए अपने दो प्रधान अमात्यों – शुक और सारण को फिर राम के पास भेजता है। उसे इस बात का पूरा पूरा विश्वास है कि चाहे इंद्र हो, वरुण हो, कुबेर हो या साक्षात् यमराज ही क्यों न हो, रणरंग में रावण का सामना करने में इनमें से किसी का भी साहस नहीं। इसलिए अब यह पता करना है कि क्या सामान्य मानव राम और लक्ष्मण अथवा साधारण वानर सुग्रीव आदि इनसे भी शूरवीर हैं। इसी का पता करने के लिए शुक और सारण को गुप्तचर बनाकर वानर-सेना के बीच भेजा जाता है। सागर पर सेतु-बंधन कैसे संभव हुआ, राम और लक्ष्मण के मन में क्या इरादा है और वानर-सेना में मुख्य मुख्य वीर कौन हैं, इन सब बातों का पता लगाना इन गुप्तचरों का कर्तव्य है।

रावण के आदेश के अनुसार शुक और सारण

प्रच्छन्न रूप में वानर-सेना में घुस जाते हैं। उस समय सारी सेना अपनी अपनी तैयारियों में व्यस्त रहती है। कुछ लोग पहाड़ों के ऊपर हैं, कुछ लोग गुफाओं में हैं, कुछ लोग समुद्र पार कर रहे हैं, कुछ लोग पार कर चुके हैं और कुछ लोग छावनियाँ डाल रहे है। इनके बीच शुक और सारण को संचरण करते हुए देख विभिषण तत्काल उनको पहचान लेते हैं और उन्हें पकड़ कर राम के पास ले जाते हैं। राम को देखते ही शुक और सारण भयभीत हो जाते हैं और काँपते हुए स्वर में अपने कार्य का निवेदन करते हैं। धीर गंभीर राम उनको आश्वस्त करते हुए मंदहास के साथ मधुर शब्दों में कहते हैं- "बस, इतनी सी बात है, आप लोग हमारी सेना का बलाबल देखने आए हैं? देखो, खूब देखो। अगर और देखना बाकी है तो हमारे विभीषण आप को सब कुछ समझाते हुए दिखा देंगे।" राम की यह उदारता केवल शुक और सारण को ही नहीं, बल्कि विभीषण को भी चौंका देती है। आश्चर्य से चकित विभीषण से श्रीराम कहते हैं– इन गुप्तचरों को मुक्त कर दो क्योंकि इनका भेद तो खुल गया है। फिर गुप्तचरों को दूतों की मर्यादा देते हुए मर्यादापुरुषोत्तम राम उनके माध्यम से रावण को एक संदेश भी भेजते हैं। संदेश में वह इस बात को स्पष्ट कर देते हैं कि जिस बल का भरोसा देखकर वह सीता को हर ले आया, उस बल को रणभूमि में दिखाने का अब समय आ गया है और यह समय बहुत ही निकट है। श्रीराम का यह संदेश सुनकर शुक और सारण मन ही मन बहुत प्रसन्न हैं और बाहर से धर्मवत्सल राम का जय जयकार कर रावण के पास पहुँच जाते हैं।

राम, लक्ष्मण, सुग्रीव और विभीषण के मनोबल, आत्मबल और भुजबल का यथार्थ चित्रण करते हुए शुक और सारण रावण को आगाह करते हैं कि समस्त लंका का सर्वनाश करने के लिए अकेले राम ही पर्याप्त हैं, इसलिए लंकेश्वर को इस आपातकालीन परिस्थिति के लिए प्रतिक्षण तैयार रहना होगा। इतना ही नहीं, वे दोनों अमात्य अपने स्वामी को सलाह देते हुए बिलकुल वही बात दुहराते हैं जो कुछ दिन पहले विभीषण कह कर राम की शरण में चले गए थे। मंत्रणा हैः–

प्रहृष्टयोधां ध्वजिनीं महात्मनां
वनौकसां संप्रति योद्धुमिच्छताम्।
अलं विरोधेन शमो विधीयतां
प्रदीयतां दाशरथाय मैथिलीम्॥

महान् पराक्रमी वीर अपनी सशक्त सेना को लेकर लंका पर आक्रमण करने के लिए अत्यंत उत्सुक हैं। सबके चेहरे पर प्रसन्नता झलक रही है। इसलिए अब विरोध करने से कोई लाभ नहीं। अपनी विवशता समझकर संधि कर लें और श्रीराम की सेवा में सीता को प्रत्यर्पित कर दें, इसी में कल्याण है।

पर रावण रावण है। वह अपने संकल्प में किसी प्रकार विकल्प लाने नहीं देगा–चाहे कुछ भी हो। इसलिए वह सारण और शुक को साथ लेकर अपने प्रासाद के ऊपर पहुँच जाता है–वानरसेना को दूर से प्रत्यक्ष देखने के लिए। समुद्र-तट से लेकर लंका की भूमि तक सभी पहाड़ों और वनों को आच्छादित करनेवाली अपार वानरसेना को देखकर रावण क्रोध से मूर्च्छित हो जाता है। पर सारण से सारा विवरण भी जानना चाहता है कि इस विशाल सेना में कौन कौन हैं और वे कहाँ कहाँ हैं। सबसे पहले सारण वानरराज सुग्रीव के सामने एक लाख वानरसेना के बीच खड़े हुए वानर-वीर नील का परिचय देता है जिसकी आवाज़ से सारी लंका गूँज उठती है। उसके बाद युवराज अंगद का रोषावेशित मुख-मंडल दर्शाया जाता है जो बार बार अपनी पूछ पटकते हुए पृथ्वी पर टहलता रहता है और जिसकी पूछ के पटकने की आवाज़ से सारी धरती काँप उठती है। फिर लंका के लिए सुपरिचित रामदूत हनुमान् की ओर संकेत किया जाता है क्योंकि उनका परिचय कराने की कोई आवश्यकता नहीं है। उसके बाद सेतुबंधन के श्रेयोभाजक नल का परिचय कराया जाता है। फिर एक एक करके कुमुद, चण्ड, रम्भ, शरभ, पनस, विनत, क्रोधन, गवय, हर, धूम्र, जांबवान्, दंभ, संनादन, क्रथन, प्रमाथी, गवाक्ष, केसरी, शतबली आदि अनेक वानर-वीरों का विस्तार से परिचय देकर

सबके पराक्रम का संक्षेप में वर्णन करते हुए कहता है:—

सर्वे महाराज महाप्रभावाः
सर्वे महाशैल निकाश कायाः।
सर्वे समर्थाः पृथिवीं क्षणेन,
कर्तुं प्रविध्वस्त विकीर्ण शैलाम्॥

महाराज, ये सबके सब महान प्रभावशाली योद्धा हैं। सबके सब उत्तुंग पर्वतों के समान विशालकाय हैं। सबके सब सबकुछ करने के लिए समर्थ हैं। वे चाहें तो पल भर में सभी पहाड़ों को चूर चूर कर सकते हैं और सारी धरती को ध्वस्त कर सकते हैं।

इस प्रकार सारण कहता जाता है और रावण सुनता रहता है। स्वामी की इस जिज्ञासा को आत्मनिरीक्षण का अच्छा अवसर मानकर शुक भी वानरसेना की अजेयता और अपारता का वर्णन करने लगता है। मदमाते हाथियों की तरह अपनी इच्छा से मनचाहे रूप धारण कर धरती–आकाश को एक बनाने में सक्षम ये वानर करोड़ों की संख्या में यहाँ आ गए हैं। इनमें से मैंद और द्विविद नाम के दो वानर हैं जिन्होंने ब्रहमा के अनुग्रह से अमृत–पान किया है। युद्ध में इनका कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता। इनसे भी महान् योद्धा हनुमान् का तो कहना ही क्या? उनका पराक्रम सारी लंका ने पहले ही देख लिया। सूर्य को भी निगलने में समर्थ यह समीरकुमार, अक्षोभ्य सागर को भी क्षुब्ध बना सकते हैं। इन्हीं का अभिनंदन करते हुए दशरथनंदन राम आत्मविश्वास और आत्मानंद की अमोघ मुद्रा में बैठे हुए हैं। उन्हीं के पास उनके अनुज लक्ष्मण उनकी दाहिनी बाँह बनकर बैठे हैं और अपने अग्रज के लिए अपना सर्वस्व सर्मपण करने के लिए तैयार हैं। राम, लक्ष्मण और हनुमान् के पास ही आपके भाई विभीषण हैं जिनको राजाधिराज राम ने हाल ही में लंका राज्य पर अभिषिक्त किया है। पास में वानरराज सुग्रीव हैं जिन्होंने अभी अभी अपने भाई वालि की स्वर्गति के पश्चात् श्रीराम की ही कृपा से किष्किंधा का स्वामित्व प्राप्त किया है। यह सारा वर्णन सुनाने के पश्चात् राम के गुणगान में तल्लीन शुक रावण को देश–काल के अनुकूल मंत्रणा देते हुए कहता है:—

इमां महाराज समीक्ष्य वाहिनीं
उपस्थितां प्रज्वलित ग्रहोपमाम्।
ततः प्रयत्नः परमो विधीयतां
यथा जयः स्यान्न परैः पराभवः॥

महाराज, जाज्वल्यमान ग्रह की भांति सामने उपस्थित इस महती सेना को ध्यान से देखिए, निहारिए और अच्छी तरह समझ लीजिए। उसके बाद आप तदनुरूप कोई महान् प्रयत्न करने की बात सोचिए जिसमें आपकी विजय अवश्यंभावी हो और परों के हाथ आपकी पराजय न हो।

शुक और सारण की सारी बातें रावण बड़े ध्यान से सुनता है और सुवेल पर्वत पर प्रतिष्ठित वानरसेना को बारीकी से देखता है। पर यथार्थ को स्वीकार करने के लिए उसका मन तैयार नहीं होता। मन अशांत बन जाता है। अंतरंग बहिरंग से विद्रोह करने लगता है। इसीलिए शुक और सारण की हित की बातें रावण को रुचिकर प्रतीत नहीं होतीं। शत्रुपक्ष की प्रशंसा करने वाले अपने अमात्यों को दोषी ठहराते हुए रावण उनकी भर्त्सना करने लगता है। राजा तो राजा है, चाहे वह दोषी हो या गुणी हो। राजा का मनोरंजन करना प्रजा का कर्तव्य है और विशेषकर अमात्यों का। रावण की राजनीति यही कहती है। पर राजा के हितैषी अमात्य अनर्थ के मार्ग पर चलकर अपने और अपने राज्य को सर्वनाश की ओर ले जाने वाले राजा को सही समय पर सतर्क करना अपना परम कर्तव्य समझते हैं। इसलिए दोनों में संघर्ष उत्पन्न होता है। रावण की राजनीति प्रीति पर नहीं, भीति पर आधारित है। वह स्वयं भयभीत है, इसलिए अपनी प्रजा तथा अमात्यों को भय दिखाकर उन्हें अपने नियंत्रण में रखना चाहता है। इसी नीति के अनुसार वह शुक और सारण को शत्रुपक्ष की प्रशंसा करने का दोषी ठहराकर उनको मृत्युदंड का भय दिखाता है। पर पहले किए गए अच्छे कामों को देखते हुए उनको क्षमा कर देता है। बिचारे शुक और

सारण अपने प्राण हथेली पर रखकर रावण का जय जयकार कर चुपचाप घर चले जाते हैं।

पर इससे रावण का मन और अशांत बन जाता है। उसको एक ऐसे गुप्तचर की आवश्यकता है जो सत्य को नकारकर प्रिय वाक्य कहे, आने वाली विपत्ति के प्रति उसको सर्तक न करे और झूठी प्रशंसा कर सुख की नींद सोने में उसका सहायक बने। रावण की आज्ञा के अनुसार उसके अमात्य महोदर ऐसे ही गुप्तचरों का एक मंडल बना देता है जो शार्दूल नाम के राक्षस के नेतृत्व में सुवेल पर्वत पर जाकर शुत्रसेना के सामर्थ्य का पूरा पूरा पता लगा लाए। अब तक दो बार गुप्तचर भेजे जा चुके हैं। अब शार्दूल के नेतृत्व में अंतिम प्रयास किया जा रहा है। इसलिए रावण अपने शूर, वीर, चतुर और कार्यकुशल गुप्तचरों को अपने पास बुलाकर अपनी विशेष अपेक्षा को स्पष्ट करता हुए कहता है कि अब आप लोगों को पता लगाना है कि राम का आशय वास्तव में क्या है, वे कहाँ सोते हैं, कैसे सोते हैं, कैसे जागते हैं, कैसे सोकर उठते हैं और दिनचर्या क्या है आदि आदि। इन प्रश्नों से स्पष्ट होता है कि रावण का इरादा केवल युद्ध में विजय पाना नहीं है, बल्कि कुछ और है। आसुरी माया का प्रयोग कर वह अपना कार्य सिद्ध करना चाहता है। इसीलिए उसको इन बातों की जानकारी आवश्यक प्रतीत होती है। रावण का आशय समझ कर शार्दूल और उसके अनुचर स्वामी की परिक्रमा कर रामस्वामी के पास पहुँच जाते हैं।

जैसे ही शार्दूल और अन्य गुप्तचर वानर-सेना में घुसते हैं, तत्काल विभीषण उनको पहचान लेते हैं और उनको पकड़कर राम के पास ले जाते हैं। मार्ग में विभीषण उनको काफी पीड़ा और त्रास पहुँचाते हैं ताकि वे अपने कुकृत्य पर पश्चात्ताप करें। पर राम स्वभाव से सात्विक, सत्वसम्पन्न और परम कारुणिक होने के कारण शार्दूल तथा अन्य राक्षसों को क्षमा कर वापस भेज देते हैं। श्रीराम की कृपा से अक्षत और सुरक्षित दशा में जब शार्दूल वापस लंका में जाकर रावण से राम के बल-पराक्रम, सौजन्य और सौहार्द के सम्बन्ध में बताते हैं तो रावण परम उद्विग्न हो जाता है। शार्दूल और अन्य राक्षसों को निस्तेज, निष्प्रभ और निर्विण्ण दशा में देखकर रावण उनसे पूछता है कि आखिर तुम लोगों को क्या हो गया? कहीं शत्रुओं के वश में तो नहीं पड़ गए थे? इस पर शार्दूल कहता है कि श्रीराम के संरक्षण में सुव्यवस्थित वानरसेना की गतिविधि का पता लगाना गुप्तचरों के लिए संभव नहीं है क्योंकि वहाँ पर जो कुछ है, सब प्रत्यक्ष है, कोई दुराव-छिपाव नहीं है। वहाँ बल ही बल है, सत्य ही सत्य है और धर्म ही धर्म है। वहाँ पर पहुँचते ही हम पकड़े गए और बुरी तरह पिट गए यह तो दयामय राम की कृपा है कि सुरक्षित वापस आ गए। इतना तो हम बता सकते हैं कि आज कल में ही राम लंका पर आक्रमण करने वाले हैं, उनकी सारी सेना अभी सुवेल पर्वत के आसपास है। इसलिए आपको जो कुछ करना है, अभी इसी समय करना है। मार्ग केवल दो हैं—या तो सीताजी को लौटा दें या युद्ध के लिए सन्नद्ध हो जाएँ।

यह पर्याप्त था रावण को राम की ओर उन्मुख करने के लिए। परंतु भाग्य और समय जिसके विरुद्ध चल रहा है, उसके कानों में राम का गुणगान कैसे पहुँच सकता है ! काल और काम सबसे बलवान हैं जो राम को भी भुला देते हैं।

इतना कहने पर भी रावण स्थिति की गंभीरता पर ध्यान न देकर अपना दृढ़ संकल्प फिर दुहराते हुए कहता है कि देव, दानव, गंधर्व आदि भी मेरे साथ युद्ध करने आ जाएँ तो भी मैं सीता को राम के हाथ में नहीं दूँगा। यह कहकर वह फिर शार्दूल से पूछता है कि शत्रुसेना के बलाबल के बारे में और कुछ बताओ। इस पर शार्दूल बड़ी विनम्रता के साथ जांबवान्, सुषेण, सुमुख, नील, अंगद, गज, गवाक्ष, गवय, शरभ, गंधमादन आदि प्रख्यात वानरों के प्रशस्त पराक्रम के बारे में विस्तार से बताकर अन्त में राम और लक्ष्मण के अपरिमेय और अप्रतिम पराक्रम की ओर मार्मिक संकेत करते हुए कहता है—इस संसार में श्रीराम की समता करने में समर्थ पराक्रमी कोई नहीं है और अब वह सुवेल पर्वत पर आ खड़े हैं।

64. माया-मोह-निवारण, सान्त्वन

शुक, सारण और शार्दूल मुक्त कंठ से राम की प्रशंसा करते हैं और स्पष्ट शब्दों में रावण को सलाह देते हैं कि राम के साथ युद्ध करना बुद्धिमत्ता का काम नहीं है और सीताजी को लौटाने में ही सबका कल्याण निहित है। रावण भी मन ही मन यही सोचता है, पर उसकी कामातुरता और अहम्मन्यता उसकी मेधा को असत् और अनर्थ की ओर ले जाती है। वास्तव में वह जितना मेधावी है, उससे अधिक मायावी है। उसकी मेधा सदा माया का ही सहारा लेकर अपना स्वार्थ सिद्ध करने का प्रयास करती है। सीता को अपनी सहवासिनी बनाने के प्रयास में भी वह माया का ही प्रयोग करने की बात सोच रहा है। इसीलिए वह शार्दूल से कोई वाद-विवाद न कर चुपचाप अंतःपुर में चला जाता है और अपने अंतरंग मित्रों के साथ मिलकर उपयुक्त मायाजाल फैलाने की बात सोचता है।

अपहरण के समय मारीच को माया-मृग बनाकर सीता को और सीतापति को भी अपनी माया के जाल में डालने में रावण को सफलता मिली थी। अब उसी सफलता से प्रेरित होकर श्रीराम के छिन्न मस्तक का एक मायाकार बनवाने का काम वह अपने आप्त मित्र और मायाकर्म विशारद विद्युत्-जिह्व को सौंपता है। राक्षसराज रावण की आज्ञा को शिरोधार्य मानकर मायावी विद्युत्-जिह्व राम के मस्तक की एक प्रतिकृति के साथ एक महोज्ज्वल धनुष बाण लेकर अपने प्रभु के सामने उपस्थित होता है। महामायावी विद्युत्-जिह्व की सुप्रयुक्त माया को देखकर रावण परम प्रसन्न होता है और उसे एक आभूषण भेंट करता है। उसके बाद दोनों मिलकर अशोकवन में जाते हैं जहाँ पर शोकाकुल सीता सिर नीचा किए दीन दशा में अपने पतिदेव की चिंता में मग्न बैठी दिखाई देती हैं। इसके बिलकुल विपरीत अत्यंत प्रसन्न मुखमुद्रा में मायावी रावण रामपत्नी का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करते हुए कहता हैः—

सान्त्व्यमाना मया भद्रे यमाश्रित्य विमन्यसे।
खरहंता स ते भर्ता राघवः समरे हतः॥

कल्याणी, बार बार मेरे समझाने-बुझाने पर और सांत्वना देने पर भी जिसका सहारा देखकर तुमने मेरी बात नहीं मानी, वह तुम्हारा पति, जिसने खर का वध किया था, अब युद्धभूमि में मारा गया।

संक्षेप में यह सफेद झूठ बोलने के बाद क्रूर रावण पतिप्राणा जानकी का मन अपनी ओर खींचने का प्रयास करते हुए कहता है-"अब राम की बात बिलकुल भूल जाओ। मरा हुआ वापस कहाँ आ पाएगा? अब तुम्हारी भलाई इसी में है कि तुम मेरी बात मानकर मेरी सभी रानियों की स्वामिनी बन जाओ।" रामपत्नी को यह विश्वास दिलाने के लिए कि राम सचमुच युद्ध में मारे गए रावण पूरा परिवेश बाँधकर मिथ्या को सत्य सिद्ध करने का प्रयास करता है। समस्त वानर-सेना और सुग्रीव के साथ राम का समुद्र के उत्तर तट पर पहुँचना, सूर्यास्त के बाद थके माँदे राम और लक्ष्मण का गहरी नींद में अपने को

खोकर सो जाना और अवसर पाकर अर्द्धनिशा के समय प्रहस्त की सेना का आकस्मिक आक्रमण करना और अंत में प्रहस्त के हाथ से राम के मस्तक का कट जाना आदि घटनाओं का कल्पित क्रम रावण की वाक्-चातुरी में इतना सजीव, रोमांचक और मर्मांतक बन जाता है कि सीधी सादी साध्वी सीता सचमुच इस घटना-क्रम पर विश्वास कर लेती हैं। राम के शिरच्छेद के साथ साथ लक्ष्मण का जान हथेली पर लेकर भाग जाना, सुग्रीव का ग्रीवा-भंग, हनुमान् का हनुरहित हो जाना, जांबवान् के दोनों घुटनों का कट जाना, मैंद, द्विविद आदि वानर-वीरों का बुरी तरह से हताहत होना, अंगद का रक्तसिक्त अंगों से विकल होकर धराशायी हो जाना, कई वानरों का सागर में डूब जाना, कइयों का आकाश का आश्रय लेना आदि आनुषंगी घटनाओं का भी इतना जीता-जागता चित्र रावण द्वारा प्रस्तुत किया जाता है कि सीता चिंता और शोक से जड़ीभूत हो जाती हैं। इस दशा में रावण अपने मायावी मित्र विद्युत्-जिह्व को भीतर बुलाता है जो रघुवीर का छिन्न मस्तक लेकर सीता के सामने उपस्थित हो जाता है और राम का जैसा धनुष भी पास में रखकर अदृश्य हो जाता है।

यह सारा दृश्य सीता को चकित कर देता है, पर भोली भाली देवी को तनिक भी संदेह नहीं होता कि इसमें कोई आसुरी माया हो सकती है। सीता देवी के अबोध मन को यह माया उसी प्रकार मोह लेती है जैसे अपहरण के समय स्वर्ण हरिण ने मोह लिया था। उस समय राम और लक्ष्मण भी उस माया के मोह का आवरण नहीं हटा सके। अब तो इस माया के निवारण का कोई साधन ही यहाँ नहीं है। जनकनंदिनी स्वभाव से प्रत्यक्ष को प्रामाणिक माननेवाली है क्योंकि वह छल-कपट की कल्पना तक नहीं कर सकती। पर यह आसुरी माया का दूसरा प्रसंग है। दूध का जला मठ्ठा भी फूँक फूँक कर पीता है। पर सीता के लिए दूध दूध है और मठ्ठा मठ्ठा है। इसीलिए उस साध्वी को अपनी सात्विकता का दंड भोगना पड़ रहा है।

अपने पतिदेव राम का छिन्न मस्तक और निष्प्रभ धनुष देखकर सती सीता शोकाकुल हो जाती हैं और कैकेयी की निंदा करने लगती हैं क्योंकि यह सारा अनर्थ उसी नारी के घोर स्वार्थ का परिणाम है। अपने सामने रखे गए मस्तक में बिलकुल वही कमनीय नेत्र, मंजुल मुख-मुद्रा, मंगलमय नयन, लावण्यमय ललाट, कोमल केश आदि चिर परिचित लक्षण देखकर रामाक्षी राम-वियोग से विक्षुब्ध हो जाती हैं। क्षण भर के लिए वह बेहोश हो जाती हैं, पर कुछ ही देर में होश संभालकर राम के लिए विलाप करने लगती हैं। सर्वथा समर्थ, शूर और समर-तंत्र में विशारद राम को इस प्रमाद ने कैसे घेर लिया, यह बात बार बार सोचने पर भी उनकी समझ में नहीं आती। अंत में यही सोचकर अपने मन को समझाने लगती हैं कि यह काल की गति है जो न तो प्रज्ञा को पहचानती है और न पराक्रम को प्रश्रय देती है। श्रीराम की श्रीपताका के रूप में विराजमान धनुष को देखकर श्रीस्वरूपपिणी सीता गतश्रीक बन जाती हैं। इस शोकाकुल अवस्था में भी धर्मशीला सीता के मन में दो बातें धर्म-संशय उत्पन्न करती हैं। धर्मात्मा राम ने अपने पिता को सत्यसंध बनाने के लिए चौदह वर्ष के वनवास की दीक्षा ग्रहण की है तो फिर इस दीक्षा में भंग कैसे हो सकता है? दूसरा संदेह यह है कि विवाह के समय पत्नीव्रती ने अपनी पतिव्रता पत्नी के साथ चिर साहचर्य की प्रतिज्ञा की है। इस प्रतिज्ञा में बीच में कैसे बाधा आ सकती है? एक और संदेह सीता के मन में उत्पन्न होता है कि ज्योतिषियों ने श्रीराम को दीर्घायु बताया था, फिर वह अल्पायु कैसे हो सकते हैं?

इसी ऊहापोह तथा शोक-मोह की विभीषिका से विक्षुब्ध वैदेही रावण से अनुरोध करती हैः—

साधु घातय मां क्षिप्रं रामस्योपरि रावण।
समानय पतिं पत्न्या कुरु कल्याणमुत्तमम्॥

रावण, तुम कम से कम अब एक अच्छा काम करो जिससे तुम्हारा साधु-वेष सार्थक बन जाए। राम के पास मुझे ले जाओ और उनके शरीर पर मुझे डालकर वहीं पर मेरा भी वध कर डालो ताकि पत्नी को पति

का समागम प्राप्त हो। इससे बढ़कर मेरे लिए कल्याण की बात और कुछ नहीं हो सकती। इस उत्तम कल्याण का श्रेय तुमको मिलेगा।

कल्याणवादिनी सीता की यह कल्याणतर भावना कठोर कष्ट के समय भी उनको मन और वचन से कल्याणी सिद्ध करती है। सीता की इस क्षुब्ध शीतल वाणी में कितना सत्य है और साथ ही कितना व्यंग्य है, यह 'साधु' और 'कल्याण' दो शब्दों के सार्थक और सारगर्भित प्रयोग से स्पष्ट होता है। 'साधु' शब्द का प्रयोग रावण को संबोधित करते हुए साध्वी सीता अनेक बार करती हैं क्योंकि सबसे पहले रावण को उन्होंने साधु के रूप में ही देखा था। सुन्दरकांड में रावण के असुन्दर मन को असत् से सत् की ओर प्रवर्तित करने के लिए सीता रावण से कहती हैं—"साधु धर्ममवेक्षस्व साधु साधुव्रतं चर" (धर्म क्या है, साधुता क्या है, तनिक देखो-पहचानो, तुम साधु का रूप धारण कर मेरे पास आए हो, इसलिए सचमुच साधु बनने का प्रयास करो)। उसी 'साधु' शब्द की यहाँ पर पुनरावृत्ति है। इसमें शुद्धशीला साध्वी का हृदय कहता है कि इसमें कहीं कुछ असाधुता है। दूसरा शब्द 'कल्याण' सीता और राम के चिर साहचर्य की ओर संकेत करता है। देश-काल की सीमाओं को पार कर सब की भलाई के लिए सब के साथ सब जगह विराजमान होनेवाली कल्याण भावना का प्रतीक ही सीताराम का समागम है। इनमें से किसी एक को दूसरे से अलग करना किसी के लिए संभव नहीं है। रामपत्नी की यह अविराम भावना इस 'कल्याण' शब्द में 'कला-यान' बनकर प्रकट होती है।

जैसे ही सीता के मुँह से यह कल्याण-भावना मुखरित होती है, उसी क्षण प्रहस्त का संदेश लेकर कोई राक्षस रावण के पास पहुँचता है और कहता है कि कुछ अत्यंत आवश्यक कार्य पर प्रहस्त आप के दर्शन की प्रतीक्षा कर रहा है। यह समाचार सुनते ही रावण का मन उद्विग्न हो जाता है और वह तत्काल अशोक वन को छोड़कर प्रहस्त से मिलने वहाँ से चल देता है। जैसे ही रावण वहाँ से जाता है, वैसे ही राम का वह मस्तक और धनुष अदृश्य हो जाते हैं। इससे सीता के मोह का आवरण तनिक हट जाता है, पर काम-मोहित रावण वास्तविक कार्य-संकट में फँस जाता है। वानरसेना के आक्रमण को एकदम आसन्न देखकर चिंताग्रस्त प्रहस्त रावण से मंत्रणा करने आ जाता है। जिस राम के मिथ्या वध का समाचार सुनाकर मायावी रावण रामपत्नी को अपने मायाजाल में फँसाने का प्रयास कर रहा था, वही राम अब सुवेलाचल पर विराजमान हैं और किसी भी क्षण वह अपने दल-बल के साथ लंका पर आक्रमण कर सकते हैं। इसमें न तो कोई माया है, न मोह है और न भ्रम है। इसमें केवल शुद्ध वर्तमान और विशुद्ध पराक्रम की चुनौती है जिसका सामना करने का साहस बाहर से दंभी, पर भीतर से भीरु रावण को नहीं हो रहा है।

उधर कालचोदित रावण द्वार पर आ खड़ी विपत्ति का सामना करने के लिए अपने मंत्रियों से मंत्रणा कर रहा है और इधर कालमोहित वैदेही को सत्य का बोध करा कर सांत्वना देने का प्रयास कर रही है—सखी सरमा। बाहर युद्ध भेरी बज रही है और भीतर क्षुब्ध हृदय को आशा से आलोकित किया जा रहा है। सरमा वैदेही की प्रिय सखी है जोकि रावण के आदेश पर सीता को अपनी सखी मानकर उनकी देखभाल करती रहती है। सरमा अपने कर्तव्य का पालन केवल रावण के भय से नहीं करती है, पर सीता के प्रति सहज प्रेम से करती है। वास्तव में सरमा के हृदय में राज-भय की अपेक्षा सखी-प्रेम अधिक है। इसीलिए जब रावण अपनी माया के जाल में मैथिली को फँसाने का प्रयास कर रहा था, उस समय सरमा अशरीरी बनकर सब कुछ देख रही थी और दोनों की बातें सुन रही थी। जैसे ही रावण आकस्मिक कार्य से अशोक वन से बाहर चला जाता है, सरमा अवसर पाकर सीता के पास पहुँचती है और वस्तुस्थिति समझाने का प्रयास करती है। सबसे पहले वह सीता को इस बात का विश्वास दिलाती है कि राम सुरक्षित हैं, सोते समय विदितात्मा राम का वध करना रावण जैसे पापात्मा के लिए संभव नहीं है। सत्यपराक्रम राम की छत्रछाया में सुरक्षित

वानरसेना का भी कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता। इसलिए चिंता की कोई बात नहीं है। धर्मात्मा राम अपने अनुज लक्ष्मण और अन्य अनुयायियों के साथ एकदम सुरक्षित हैं। यह सब क्रूरकर्मा रावण की माया है। इस प्रकार मोह और शोक का निराकरण करने के पश्चात् सात्विकता की प्रतिमूर्ति सरमा अपनी सखी सीता को आनेवाले भावी समय को आशान्वित और शुभसूचक बताते हुए कहती हैः–

शोकस्ते विगतः सर्वः कल्याणं त्वामुपस्थितम्।
ध्रुवं त्वां भजते लक्ष्मीः प्रियं प्रीतिकरं श्रृणु॥

अब तुम्हारे दुख के दिन समाप्त हो गए। मंगलमय समय समीप है। सचमुच अब आनेवाले दिनों में माँ लक्ष्मी तुम को सुखी रखकर तुम्हारी सेवा करेगी। अब तुम्हारे लिए जो अच्छे दिन आ रहे हैं, उनके बारे में प्यारी मीठी बातें बताती हूँ, प्यार से सुनो।

इसके बाद सरमा श्रीराम और लक्ष्मण के संबंध में अपने प्रत्यक्ष ज्ञान का परिचय देते हुए कहती है कि श्रीराम अपनी समस्त सेना के साथ समुद्र को पारकर दक्षिण तट पर आ बसे हैं। इसी समाचार से संत्रस्त होकर रावण अपने मंत्रियों से गुप्त परामर्श कर रहा है और कुछ न कुछ माया का सहारा लेने का प्रयास कर रहा है क्योंकि श्रीराम का सामना करने का साहस उस में नहीं है। जब सरमा के मुँह से ये सारी बातें निकल रही होती हैं, उसी समय बाहर तुमुल कोलाहल का भैरव स्वर सुनाई देता है। रणभेरी का यह गंभीर घोष सुनकर सरमा अपनी मान्यता का समर्थन करते हुए कहती है कि जैसा मैंने कहा है, वैसा ही वातावरण बाहर उत्पन्न हो रहा है। शीघ्र ही वानरसेना और असुरसेना के बीच घोर संग्राम होने वाला है। इसी की अब तैयारी हो रही है। तुम्हारे पतिदेव श्रीराम रावण का संहार कर तुम्हें प्राप्त कर लेंगे। उन के प्रेमपूर्ण आलिंगन में तुम जल्दी ही आनंद के आँसू बहाकर अपना सारा शोक भूल जाओगी। श्रीरामचंद्र का मुख-मंडल तुम्हें फिर से श्रीस्वरूपणी बना देगा। श्रीदेवी शीघ्र ही तुमको अशोकवन के शोक से मुक्त कर सश्रीकता प्रदान करेगी।

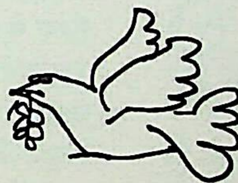
सरमा के इन सांत्वना भरे शब्दों में सर्वकल्याण, लक्ष्मी और श्री शब्दों का प्रयोग विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। स्मरणीय है कि श्रीराम का छिन्न मस्तक देखते ही रामपत्नी ने रावण से अनुरोध किया था कि राम के साथ मेरा भी वध कर मेरा कल्याण करो। इस प्रसंग में जिस कल्याण की कामना शोकाकुल सीतादेवी के मन में उत्पन्न हुई थी, उससे बिलकुल विपरीत सही कल्याण की संभावना ही नहीं, बल्कि अवश्यंभाविता की ओर सरमा का मार्मिक संकेत 'सर्वकल्याण' शब्द में व्यंजित होता है। लौकिक हानि-लाभ की परवाह किए बिना जीवन-काल में ही नहीं, बल्कि जीवन के बाद भी पतिजीविता को चाहने वाली पतिमती की कल्याण कामना इसी प्रकार कल्याण को कल्याणतर और उत्तम कल्याण को सर्वकल्याण बनानेवाली होती है।

कुल मिलाकर सरमा की सांत्वना सीता के शोक-संतप्त मन को सुशीतल बना देती है। अपनी सखी को प्रसन्नमुखी देखकर सरमा अत्यंत प्रसन्न हो जाती है और चाहती है कि श्रीराम के पास एक बार फिर जाकर उनको सीता का कुशल समाचार सुना दूँ क्योंकि वह यह काम प्रच्छन्न रूप से कर सकती है और वायुवेग से अंतरिक्ष में संचरण कर सकती है। वह अपनी इस इच्छा को अपनी सखी सीता के सामने प्रकट भी कर देती है। पर संयम और संतुलन की अधिष्ठात्री देवी सीता सरमा से कहती हैं कि यदि तुम मेरे लिए सचमुच कोई प्रिय कार्य करना चाहती हो तो एक बार रावण के पास जाकर इस बात का पता लगाकर आओ कि वह क्या कर रहा है और क्या करने जा रहा है। यदि रावण अपने मंत्रियों से परामर्श कर रहा है तो सरमा अदृश्य रूप में वहाँ जाकर सारी बातचीत सुन सकती है और सारा वृत्तांत यथावत् अपनी सखी को सुना सकती है। रामपत्नी की यह जिज्ञासा स्वाभाविक ही नहीं बल्कि सात्विक है क्योंकि वह कम से कम भविष्य में रावण के मायाजाल के प्रति सजग, सतर्क और सावधान रहना चाहती हैं।

रामातुर सीता की कातरता को तत्काल समझकर सरमा तुरंत रावण के पास पहुँच जाती है और प्रच्छन्न रूप में वहाँ की सब बातें सुनती है जिनसे अपनी सखी को अवगत कराने के लिए वह अविलंब वापस चली जाती है। सरमा की सातुर प्रतीक्षा में बैठी सीता अपनी हितैषिणी सखी को देखते ही उसको गले लगाकर उसे अपने पास बिठा लेती है। रावण के यहाँ सरमा ने जो कुछ देखा और सुना, वह सब बताते हुए वह कहती है कि रावण को उसकी माँ काफी समझा रही है कि राम साधारण मनुष्य नहीं हैं, खर दूषण का संहार, समुद्र लंघन आदि बातों को देखते हुए उनको साक्षात् भगवान का अवतार मानकर उनकी पत्नी को उनके पास लौटाने में ही सबका कल्याण है। यही बात एक वृद्ध मंत्री ने भी कही और यही बात रावण के नाना ने भी बड़ी विनम्रता से कही। पर काम, क्रोध और दुरहंकार से मोहित रावण ने किसी की एक न सुनी। जैसे लोभी अर्थ को छोड़ना नहीं चाहता है, वैसे ही रावण घर लाई सुंदरी को वापस भेजना नहीं चाहता है। रावण के पितामह माल्यवान अपने अमूल्य विचारों से रावण का मन बदलने का लाख प्रयास करते हैं। पर दुष्ट रावण अपने नाना से भी रुष्ट होकर उनको भला बुरा कह देता है। लंका में सर्वत्र अशुभ लक्षण दिखाई देते हैं। इससे सारी प्रजा संत्रस्त है। पर रावण कालमेघ की तरह आच्छादित महामोह में ग्रस्त होकर सत्य को देख नहीं पा रहा है। यह सब कहने के बाद सरमा अपने मन की बात कहती है कि रावण जीतेजी न तो राम को पहचान पाएगा, न अपनी गलती समझ पाएगा और न मैथिली को वापस भेजने की बात पर विचार कर पाएगा। सारी लंकापुरी के साथ रावण का सर्वनाश अवश्यंभावी है और श्रीराम की विजय निश्चित है। सरमा का निर्णायक मत हैः–

निहत्य रावणं संख्ये सर्वथा निशितैः शरैः।
प्रतिनेष्यति रामस्त्वां अयोध्यामसितेक्षणे॥

कजरारी आँखों की कमनीयता से सुशोभित कल्याणी जानकी सरमा के इन शब्दों को न केवल कानों से सुनती है, आँखों से देखती भी है, बल्कि यह कहना चाहिए कि वह इन शब्दों के रस का आस्वादन करती हैं। रावण को अपने शरस्पर्श से परलोकवासी बनाकर कोदंड राम कब अपनी प्राणवल्लभा को साथ लेकर अयोध्या पहुँचें, इसी शुभ मुहूर्त की प्रतीक्षा सारा संसार कर रहा है और रामेक्षणी भी इसी क्षण की प्रतीक्षा में हैं।



65. सुवेलाद्रि पर सीतावल्लभ

रावण का सारा परिवार जिस प्रत्यक्ष को देखकर भयभीत हो रहा है, वह स्वयं रावण की दृष्टि में परोक्ष बनता जा रहा है। महामानव राम का सही मूल्यांकन प्रस्तुत कर रावण को समय पर सतर्क करने का सात्विक प्रयास करने वाले माल्यवान् की मान्यता है कि सत्यपराक्रम राम साधारण मानव नहीं हैं, साक्षात् विष्णु के मानव रूप हैं। इसकी प्रतिक्रिया में रावण अपनी प्रतिमान्यता प्रस्तुत करते हुए कहता है कि अपने पिता द्वारा घर से भगाया गया राम बंदरों का सहारा लेकर देवताओं को भी रणभूमि में पराजित करने में समर्थ राक्षसेश्वर से युद्ध करने आ रहा है। बात सही है और नहीं भी है। माल्यवान् की दृष्टि निर्मल है और रावण की दृष्टि मलिन है। इसीलिए दृष्टिदोष से सही बात भी गलत प्रतीत हो रही है और गलत बात सही लग रही है। यही वह महामोह है जो रावण को राम से विराम की ओर ले जा रहा है। मोह-पाश में बँधा हुआ प्राणी दूसरों को भी उसी पाश में बाँधने का प्रयास करता है। यही काम रावण ने सीता के साथ किया है। पर सरमा ने रमा तुल्य रामा को उस माया-मोह से सहज ही मुक्त कर दिया है, पर रावण को माया-मोह से मुक्त करने की क्षमता संभवतः राम को छोड़कर और किसी में नहीं है। इसीलिए सीता-वल्लभ राम अपने सहयोगियों को साथ लेकर सुवेल पर्वत पर पहुँच रहे हैं। ।

प्रहस्त, महापार्श्व, महोदर, इंद्रजित्, शुक, सारण आदि राक्षस योद्धाओं को युद्ध के लिए सन्नद्ध कर चारों दिशाओं की रक्षा का भार उनको सौपकर रावण अंतःपुर में प्रवेश करता है—संभवतः निर्भय निद्रा का अंतिम सुख प्राप्त करने के लिए। इधर श्रीराम अपने भाई लक्ष्मण, वानरराज सुग्रीव, रावण के अनुज विभीषण तथा अन्य वानर-वीरों को बुलाकर दुर्जेय लंका पर विजय प्राप्त करने के लिए एक व्यवस्थित योजना बनाने लगे। इस योजना को बलिष्ठ भूमि प्रदान करते हुए विभीषण सारी लंका की सामरिक स्थिति तथा लंकेश्वर रावण की कूट योजना का विस्तार से वर्णन करते हैं। जब विभीषण अपने अग्रज के असाधारण पराक्रम का वर्णन करने लगते हैं तो श्रीराम शांति से सुनने लगते हैं और अपना मानसिक संतुलन बनाए रखकर रावण की कूट योजना के अनुरूप अपनी भी एक सामरिक व्यवस्था बना लेते हैं। जिस प्रकार रावण ने पूर्वी द्वार पर प्रहस्त को, दक्षिणी द्वार पर महापार्श्व और महोदर को, पश्चिम में इंद्रजित् को, उत्तर में स्वयं अपने को और बीच में विरूपाक्ष को नियुक्त किया है, बिलकुल उसी प्रकार श्रीराम स्वयं उत्तर दिशा में रावण का सामना करने का निश्चय कर लक्ष्मण को भी अपने साथ रख लेते हैं। पूर्वी द्वार पर प्रहस्त का मुकाबला करने के लिए नील को, दक्षिण में महापार्श्व और महोदर का सामना करने के लिए अंगद को, पश्चिम में इंद्रजित् का ध्यान रखने के लिए हनुमान् को और मध्यभाग में विरूपाक्ष को प्रत्यक्ष प्रत्युत्तर देने के लिए सुग्रीव, जांबवान् तथा विभीषण को नियुक्त किया जाता है। इसके साथ साथ समर-विशारद राम एक सारगर्भित आदेश यह देते हैं कि युद्ध के समय

कोई भी वानर मनुष्य का रूप धारण नहीं करेगा। केवल राम, लक्ष्मण, विभीषण और उनके चार अमात्य मानव रूप में रहेंगे। इस प्रकार समस्त सामरिक व्यूह को समुचित रूप से सतर्क करने के पश्चात् श्रीराम सुवेल-पर्वत पर चढ़ने का संकल्प करते हैं।

अब तक विभीषण तथा उनके चार अमात्यों के माध्यम से लंका के संबंध में जो भी सूचना राम प्राप्त करते रहे, उसे अब वह प्रत्यक्ष देखना चाहते हैं। इस प्रकार श्रीराम का सुवेल पर्वत पर संपन्न होने वाला यह आरोहण सामरिक दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इस घटना का एक और महत्त्व है। वह यह है कि जिस लंका में रामपत्नी राक्षसियों के बीच बंदी बनकर राम-मिलन की सातुर प्रतीक्षा में बैठी है, उस लंका का सर्वेक्षण इसी क्षण होने वाला है। जिस क्षण राम सुवेल पर्वत पर पहुचेंगे, उसी क्षण उनकी दृष्टि रामेक्षणी पर मानसिक रूप में ही सही, अवश्य जाएगी। पर उस वीक्षण को विजयराघव राम तभी प्रत्यक्ष कर सकेंगे जब बीच में अवरोध के रूप में उपस्थित रावण का संहार हो। शिव धनुर्भंग से जिस प्रकार सीता की प्रथम प्राप्ति हुई थी, उसी प्रकार अब शरभंग से रावण का संहार और सीता की पुनः प्राप्ति होनी है। यह एक विचित्र संयोग है जिस ने गिरि पर चढ़ते समय राम के मन को अत्यंत उन्मन (उद्विग्न नहीं) बनाया होगा। इसलिए सुवेलाचल को वाक्यकोविद वाल्मीकि रमणीयतर कहते हैं। राम जहाँ कहीं भी हों, वह स्थान अपने आप रमणीय बन जाता है। पर यहाँ पर राम का मन महान् संयोग पर रममाण हो रहा है, इसलिए सुवेल पर्वत रमणीयतर बन रहा है।

परम रमणीय पर्वत का अधिरोहण मधुरभाषी राम की वाणी को कोमलकांत बना देता है। वह अपनी मृदु मधुरवाणी में अपने अनुयायियों से कहते हैं कि आज रात को हम इसी पर्वत पर निवास करेंगे। इस निशा-निवास में निहित आशय को भी स्पष्ट करते हुए अक्लिष्ट कर्मा राम अत्यंत शिष्ट और श्लिष्ट शब्दों में कहते हैः—

लंकां चालोकयिष्यामो निलयं तस्य रक्षसः।
येन मे मरणांताय हृता भार्या दुरात्मना॥

यहाँ से हम उस राक्षस से आवासित लंका का अवलोकन करेंगे जिसने अंतकाल को आमंत्रित करने के लिए मेरी भार्या का अपहरण कर अपनी दुरात्मता का परिचय दिया है।

श्रीराम के श्रीमुख से निकला हुआ श्रीभाष्य राम, रावण और सीता की तात्त्विक मीमांसा तो प्रस्तुत करता ही है, पर साथ ही राम और रामा के समन्वित अयन के परम प्रयोजन पर भी प्रकाश डालता है। इसलिए इस श्लोक का प्रत्येक शब्द अभिधा, लक्षणा और व्यंजना की शक्तित्रयी से सुसंपन्न और सुवासित है। अयोध्या से लंका तक का राम का अयन अब एक ऐसी बिंदु पर आकर टिक जाता है (केवल थोड़ी सी देर के लिए) जहाँ पर श्रीराम के श्रीचरण आसुरी आचरण का अघमर्षण कराने का समुचित उपाय सोचने लगते है। निशा का समय है और सामने निशाचरों का निवास है। निशा का समय तमस् को आश्रय देता है और तपस् को आवासित करता है। तामस माया के मूर्तरूप रावण की राजधानी लंका में मिथिला की राजकुमारी और अयोध्या की पुत्रवधू सीता तपस्विनी के रूप में प्रतिष्ठित है—अशोकवन के शोकाकुल पर्यावरण में। विधि का विधान कितना विचित्र रूप धारण कर सकता है, इस बात को यह विलक्षण संयोग मूक भाषा में मुखरित कर देता है। सुवेल पर्वत के शिखंर पर आदित्य वंश के गौरव-पुरुष राम अधिरोहित हैं, बीच में अंधकार और अविवेक अहम्मन्य रावण के रूप में श्रीराम के आलोकमय अयन में अवरोध बनकर उपस्थित है और इसी अंध तमस् के पीछे, भीतर या परे आलोकपुंज अवनिंजा अयोध्याधीश के निरंतर ध्यान में शोक और मोह से जूझते हुए अशोक वाटिका को तपोभूमि बनाकर प्रतिष्ठित है। ऐसा लगता है कि वेदवेद्य पुरुषोत्तम अपनी आत्मगत महनीयता को पहचानने के लिए सघन अंधकार के उस पार सहज प्रकाश का अवलोकन करने का प्रयास कर रहे हैं।
"वेदाहमेतं पुरुषं महांतं आदित्यवर्णं तमसः

परस्तात्"—श्वेताश्वतर के द्रष्टा के ये मंत्राक्षर यहाँ पर मननीय हैं।

इसी रमणीय प्रसंग की स्पृहणीय परिकल्पना से पुलकित होकर संत त्यागराज गद्गद स्वर में गाते हैं—

"देखा मैंने गिरि पर सेवित रघुवर को निज नयन पसारे।
परिचर्या करने को आतुर परिवासित है परिजन सारे॥

सुवेल पर्वत पर सुग्रीव, विभीषण, लक्ष्मण आदि से परिवेष्टित, परिसेवित और परिकीर्तित रामभद्र की यह रमणीय मूर्ति भक्त हृदय त्यागराज को इतना भावुक बना देती है कि वह अपने प्रभु से बहुत कुछ कहना चाहते हुए भी कुछ नहीं कह पाते हैं और भक्त की इस परवशता को देखकर प्रभु अपने आप सांकेतिक भाषा में इतना कह देते हैं कि केवल दस दिन प्रतीक्षा करो, बस, सब कुछ ठीक हो जाएगा। संत की वाणी में अभिव्यंजित प्रभु का यह संकेत इतना मार्मिक है कि संसार की कोई भी भाषा इसको परिभाषित नहीं कर सकती। केवल प्राचेतस की भाषा में स्मितभाषी, मितभाषी और हितभाषी राम की वाणी ही इस ध्वन्यालोक से जीव-जगत् के साथ साथ काव्य-जगत् को भी आलोक का वरदान प्रदान कर सकती है। उसी वरदान का परिणाम संत त्यागराज का यह संकीर्तन है और इसी की छाया है—काव्य संसार को संसरणशील बनाते चली आ रही रामकथा-भारती।

प्राकृतिक पर्यावरण को प्रदूषित करने वाली अविद्या, अविवेक, अहंकार, अज्ञान, आतंक और अतिचारिता को समूल नष्ट कर संसार में स्वस्थ समीर को संचारित करना ही सत्यपराक्रम राम की आलोक-साधना है और इसी साधना का सात्विक शुभारंभ सुवेल पर्वत पर आज की इस महत्त्वपूर्ण निशा में हो रहा है। नवरात्र की इस दीक्षा के समापन के पश्चात् विजय दशमी के विमल प्रकाश से विश्व को विश्वस्त बनाना ही विश्वात्मा की इस विजय-यात्रा का ध्येय है।

सुवेल पर्वत पर चढ़कर एकदम सामने त्रिकूट शिखर पर विराजमान लंकापुरी को देखते ही श्रीराम के मन में रावण के प्रति क्रोध और राक्षसों पर दया आती है क्योंकि एक व्यक्ति के दुराचरण से सारी प्रजा नष्ट होने जा रही है। धर्म, सदाचार और कुल-मर्यादा में से किसी भी बात पर ध्यान दिए बिना अपने क्षुद्रसुख के लिए दुरात्मा रावण ने जो जघन्य कार्य किया है, उसका फल लंका के समस्त नागरिकों को भोगना पड़ेगा जिन में से अनेक निरपराध, निरस्त्र और निरुपाय भी होंगे। पर राम विवश हैं। उनकी सहज कारुण्य भावना यहाँ पर निष्क्रिय हो रही है। संसार के समस्त प्राणियों को समान भाव से देखने वाले समदर्शी राम परिस्थिति की विषमता और अपनी विवशता पर खेद प्रकट करते हुए कहते हैं:—

एको हि कुरुते पापं कालपाशवशंगतः।
नीचेनात्मापचारेण कुलं तेन विनश्यति॥

जब कोई व्यक्ति काल के पाश में बँधा हुआ होता है, तब उसके एकांत अपराध से अनेक व्यक्तियों के विशाल जन-समुदाय का नाश हो जाता है। इस प्रकार के अपराध को आत्मवान् राम 'आत्मापचार' कहकर इसका सही निरूपण करते हैं। व्यक्तिगत अपराध से व्यक्ति का ही नाश होता है, पर आत्मापचार से सभी स्वजनों का सर्वनाश हो जाता है। इसीलिए आत्मघाती रावण के प्रति श्रीराम के मन में आक्रोश तो होता है, पर इससे भी अधिक दया आती है उस पर निर्भर पारिवारिक, नागरिक, सामाजिक तथा प्राकृतिक पर्यावरण पर जिसका कुछ ही दिनों में सर्वनाश होने वाला है। इसलिए यह आत्मापचार एकांत न होकर अनेकांत है, व्यक्तिगत न होकर सामुदायिक है। यह इसलिए भी आत्मापचार माना जाएगा क्योंकि यह आत्माराम की आत्मवती साध्वी अर्द्धांगी के प्रति हुआ है। सीता और राम साधारण नर-नारी नहीं हैं। असंख्य नर-नारियों का वे प्रतिनिधित्व करते हैं। इसी प्रकार रावण भी एक अकिंचन राक्षस नहीं है, एक पूरी जातीय चेतना को अपने साथ लेकर चलने वाला राक्षसराज है। इसलिए अयोध्या के राजकुमार के प्रति लंकेश्वर का किया गया अपराध या अपचार आत्मापचार है और एक प्रकार से लोकापचार भी है।

इस अपराध या अपचार के व्यापक और भयानक परिणामों पर लोकाभिराम राम का जितना ध्यान जाता है, उनकी आत्मा उतनी व्याकुल हो जाती है। इसी व्याकुलता के ये उद्‌गार हैं।

यहाँ पर ध्यान देने की बात यह है कि लोकधर्मी राम का ध्यान जितना जन-सामान्य की ओर जाता है, उतना अपनी शोकाकुल पत्नी पर नहीं। उनकी दया केवल जन सामान्य पर ही नहीं, बल्कि समस्त जीव-लोक तक व्याप्त होती जाती है। सत्यपराक्रम राम की धार्मिक चेतना के विभिन्न स्तरों का विस्तार से वर्णन करते हुए देवर्षि नारद ने ठीक ही कहा थाः—

रक्षिता जीवलोकस्य धर्मस्य परिरक्षिता।
रक्षिता स्वस्य धर्मस्य स्वजनस्य च रक्षिता॥

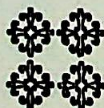
राम स्वभाव से प्राणिमात्र के संरक्षक हैं। रक्षा करना उनका नैसर्गिक लक्षण है। प्राणिमात्र की रक्षा करना उनका पहला कर्त्तव्य है। यही उनकी धार्मिक चेतना की पहली, प्रधान और प्रशस्त भूमिका है जिसके अंतर्गत समस्त जीवलोक आता है। इसके पश्चात् ही लोकधर्म की बात आती है। पहले जीव-लोक और बाद में लोकधर्म-यही उनकी प्राथमिकता का प्रतिष्ठित क्रम है क्योंकि जब जीव-लोक ही नहीं है, तब लोकधर्म का प्रश्न ही नहीं उठता है। इसलिए पहले जीवन और बाद में धर्म। धर्म के भी दो प्रकार हैं। लोक-धर्म और स्व-धर्म। जब इन दोनों प्रकार के धर्मों के संरक्षण में कोई संघर्ष उत्पन्न होता है तो राम लोक-धर्म को प्राथमिकता देते हैं और स्वधर्म की बाद में सोचते हैं क्योंकि जब 'लोक' है तभी 'स्व' भी है। धर्मात्मा राम की धार्मिक चेतना की अंतिम भावभूमिका में आते हैं—स्वजन। वह 'स्वजन' के भी रक्षक हैं। सबसे पहले जीव-लोक, बाद में लोक-धर्म, उसके बाद स्वधर्म और अंत में स्वजन—यही सत्य-धर्मपरायण राम की कार्य-साधना का सोपान-क्रम है।

इस भूमिका को ध्यान में रखकर ही महर्षि वाल्मीकि ने अपने महामानव राम के सामने महानगरी लंका के पार्थिव सौंदर्य को प्रस्तुत किया है। अन्यथा इस प्रसंग में लंकापुरी के इतने लंबे चौड़े वर्णन का कोई औचित्य नहीं बैठता। जैसे ही राम सुवेल पर्वत के उच्च शिखर पर चढ़कर त्रिकूट शिखर पर संस्थित लंका का वैभव देखने लगते हैं, उनके पीछे पीछे उनके अनुज लक्ष्मण, वानरराज सुग्रीव, भावी लंकेश विभीषण, शांतिदूत हनुमान् और अन्य सभी वानर-वीर एकत्रित हो जाते हैं। कुछ ही देर में सैकड़ों सेनापति सुवेल पर्वत पर पहुँच जाते हैं। अंतरिक्ष में बिना किसी आधार के लटकने वाले प्रकाश-पुंज की भांति देदीप्यमान लंकापुरी के लोकोत्तर लावण्य को देखकर सब चकित रह जाते हैं। उत्तम फाटक, उन्नत से उन्नत प्राकार, उनसे भी उन्नत नीले वर्ण के राक्षस जो उन प्राकारों की रक्षा के लिए स्वयं प्राकार ही बनकर उन पर सशस्त्र खड़े हैं-आदि देखकर समस्त वानर थोड़ी देर के लिए स्तंभित-से हो जाते हैं। इतने में सूर्यास्त हो जाता है। पर थोड़ी ही देर में चन्द्रमा का उदय हो जाता है। पूर्णचंद्र की प्रफुल्ल किरणों के सुखद शीतल आलोक में लंका का लावण्य और भी ललित मनोहर हो उठता है। रात भर सारी वानर सेना उस चाँदनी में मानसिक मज्जन करती हुई प्रतीत होती है। कुछ लोग तो उसी प्रसन्नता में भाव-विभोर होकर रात ही रात में सब के देखते ही देखते लंका के उपवनों में प्रवेश भी कर जाते हैं। नाना प्रकार के फलों-फूलों से महक उठने वाले उपवनों में वानर-वीर विहार करने लगते हैं। नंदनवन की भांति आनंद प्रदान करने वाली और चैत्ररथ की तरह चित्त को उन्मत्त बनाने वाली रम्य वाटिकाओं को कुछ तो दूर से देखकर संतुष्ट हो जाते हैं और कुछ लोग निकटता से देखने की चेष्टा करते हैं। चंपा, अशोक, वकुल, शाल, ताल, तमाल, हिंताल, अर्जुन, नीप, छितवन, तिलक, कन्नेर, पाटल आदि असंख्य प्रकार के आकर्षक वृक्षों को देखकर तरुप्रिय तरस्वियों का मन प्रसन्न हो जाता है। वनस्पति की नित्य नवीन शोभा से लंका-नगरी सुवासिनी महिला की भांति दिखाई देती है। कोकिल की काकली, मयूर का नृत्य, पक्षियों का कलरव, भौंरों का गुंजन, हंसों का मंदयान, चक्रवाक का मंदहास, सारस की स्वर लहरी, कुररी की

चिकचिकाहट आदि नाना प्रकार के नादों से निनादित लंकापुरी दूर से ही वानर-समूह के लिए मनोविनोद के पर्याप्त साधन प्रस्तुत करती प्रतीत होती है। आनंद, उल्लास, हर्ष और आवेग के इस प्रवाह में सब लोग बहते चले जाते हैं, पर श्रीराम का सान्निध्य और सुग्रीव का भय सबको सजग, सतर्क और सावध बनाए रखता है।

यह सब देखकर राम के लिए बार बार इसी बात का दुःख बराबर उद्वेग का कारण बन जाता है कि इतनी सुंदर नगरी, इतने शूरवीर नागरिक, इतनी लोकोत्तर प्राकृतिक सुषमा-सब कुछ शीघ्र ही नष्ट-भ्रष्ट होने वाली है और सारा पर्यावरण-प्राकृतिक और जन-जीवन संबंधी—एक ही व्यक्ति के अधर्म से राख होने जा रहा है। इस प्रकार सोचते सोचते सुग्रीव, लक्ष्मण ओर विभीषण के साथ श्रीराम सुवेल पर्वत के सबसे ऊँचे शिखर पर चढ़कर लंकापुरी की ओर अपनी पैनी दृष्टि प्रसारित कर देखते हैं तो दशों-दिशाओं पर दृष्टिपात करने के बाद एक स्थान पर गोपुर की छत पर दुर्दम्य भुजबल से विराजमान राक्षसराज रावण दिखाई देता है। दोनों ओर परिचारक श्वेत चंवर डुला रहे हैं। सिर पर छत्र सुशोभित है। शरीर पर रक्त चंदन का आलेप है। प्रत्येक अंग को विविध प्रकार के आभूषण अलंकृत कर रहे हैं। कुल मिलाकर सारा आकार काले बादल के समान दिखाई दे रहा है। छाती पर घावों के चिन्ह् दिखाई दे रहे हैं। सोने की चमक से दमकने वाले मूल्यवान् वस्त्र शरीर को परिवेष्टित किए सुशोभित हो रहे हैं। लाल चंदन, लाल वस्त्र और लाल लाल आँखों से विलक्षण लावण्य को लहराने वाला उसका शरीर संध्याकाल की रक्तिम किरणों से आच्छादित कादंबिनी की तरह दिखाई दे रहा है।

रावण के इस राक्षस लावण्य को सभी वानर देखते हैं और देखते ही रह जाते हैं, श्रीराम भी देखते हैं और देखकर रह जाते हैं, सुग्रीव भी देखते हैं, पर उनसे देखकर रहा नहीं जाता। रावण पर दृष्टि पड़ते ही सुग्रीव अपना मानसिक संतुलन खो बैठते हैं। मन आक्रोश, आवेग और आवेश से आप्लावित हो जाता है। शरीर अनायास सुवेल के शिखर से उठकर गोपुर की छत पर बैठे हुए रावण के पास पहुँच जाता है। यह सब श्रीराम के सामने ही हो जाता है। सभी वानर सब कुछ देखते रहते हैं। पर सब कुछ अचानक होने के कारण किसी को कुछ कहने या करने का बिल्कुल समय नहीं मिलता। जो कुछ हुआ, क्षणभर में हो चुका है। वास्तव में वह क्षण सुग्रीव का है जिस पर सबका वीक्षण तो है, पर यह वीक्षण निरपेक्ष था, विलक्षण था। संभवतः राम की दृष्टि उस क्षण रामेक्षणी पर केन्द्रित थी। इसीलिए सुग्रीव की आवेशित स्थिति को उनका अभीष्ट वीक्षण आँक नहीं सका। यह सचमुच एक ऐसी घटना है जिसकी न तो किसी ने कल्पना की और जिसको कोई किसी प्रकार रोक नहीं सका। जो होना था, हो गया। पर इसके साथ युद्ध का वातावण एकदम अचानक बन जाता है। सारा पर्यावरण समरावरण बन जाता है जिसका अनावरण सुग्रीव ने किया। अब इसका निराकरण कैसे और किससे होता है, केवल भविष्य ही बता सकेगा।



66.. आवेशित सुग्रीव सुरक्षित

सुवेल पर्वत के सुंदर शिखर पर चढ़कर सभी वानर वीर एक ओर लंका का पार्थिव वैभव देखकर चकित हो रहे हैं और दूसरी ओर जल्दी से जल्दी राक्षस-वीरों के साथ युद्ध करने की लालसा से उछल कूद भी कर रहे हैं। पर रावण को देखते ही सुग्रीव उद्ग्रीव बन कर त्रिकूट शिखर तक छलांग मारकर रावण को ललकारने लग जाते हैं। इस आकस्मिक घटना से श्रीराम का एक सुंदर सपना टूट जाता है। अंतरिक्ष में निराधार टिकी हुई प्रतीत होने वाली लंका नगरी को देखकर पुरुषोत्तम राम को भगवान् विष्णु का मध्यम पद याद आता है। त्रिविक्रम के तीन चरणों में से एक धरातल को आक्रांत कर देता है और दूसरा नभोमंडल को। तीसरा चरण रखने के लिए उनको स्थान दिखाने का जटिल दायित्व महाबली के ऊपर आया था। इसी मध्यम पद का आभास श्रीराम को लंका में मिलता है। यदि उस समय यह लंका होती तो त्रिविक्रम को अपना प्रयोजन सिद्ध करने में कठिनाई होती, पर महाबली की समस्या का सरलता से समाधान हो जाता। इसी ऊहापोह में राम लंका को 'मध्यमं वैष्णवं पदम्' मानकर अपने स्वप्न-जगत् में संचरण कर रहे थे। यदि बीच में सुग्रीव यह साहस नहीं करते तो श्रीराम की स्वप्न-यात्रा मध्यम पद को पारकर परम पद (तद्विष्णोः परमं पदम्)तक पहुँच जाती। पर सुग्रीव ने श्रीराम को फिर सुवेल पर्वत पर लाकर खड़ा कर दिया।

अब समस्त वानर-सेना के साथ श्रीराम भी सुग्रीव के उद्ग्रीव अभियान के परिणाम को बड़ी उत्कंठा से देख रहे हैं। सुवेल शिखर से छलांग मारकर त्रिकूट शिखर पर गोपुर के परिसर में बैठे रावण को देखते ही सुग्रीव अपने विपुल ग्रीव को संभाल कर निर्भीकता से धिक्कारते हुए कहते हैं:–

लोकनाथस्य रामस्य सखा दासोऽस्मि राक्षस।
न मया मोक्ष्यसेऽद्य त्वं पार्थिवेंद्रस्य तेजसा॥

समस्त संसार के स्वामी श्रीरामचंद्र का मैं आप्तमित्र हूँ, पर मैं अपने को उनका दास ही समझता हूँ। आज तुम मेरी पकड़ में आ गए हो, इसलिए स्वामी रामभद्र के आत्मबल से प्रेरित मेरे कराघात से तुम बच नहीं पाओगे।

राक्षसराज रावण को तिनके के समान ठुकराकर निर्भीकता से अपना सारा मनोबल समेटकर वानरराज सुग्रीव रावण के मस्तक पर चढ़कर उनके सारे मुकुटों को धरती पर उतरवा देते हैं। इस आकस्मिक घटना से असुरेश एकदम आतंकित हो जाता है। पर वह भी साहस बटोरकर अपनी प्रतिष्ठा बचाने के लिए सुग्रीव को धमकी देते हुए कहता है: "सुग्रीव, तुम तब तक सुग्रीव हो, जब तक मेरे पास नहीं पहुँचे। अब चूंकि तुम मेरे सामने आ गए, इसलिए तुम हीनग्रीव बन जाओगे। अब तुम्हारी गरदन नहीं रहेगी।" इतना कहकर वह सुग्रीव को अपनी बाँहों में लपेटकर धरती पर पटक देता है और इसके बदले में सुग्रीव भी रावण को उसी प्रकार उछाल कर ज़मीन पर पटक देते हैं। बस, अब दोनों के बीच मल्लयुद्ध आरंभ हो जाता है।

दोनों के शरीर पहले पसीने से भींग जाते हैं, फिर रक्तसिक्त हो जाते हैं। दोनों योद्धा सेमल और पलाश के वृक्षों की भांति एक दूसरे से लिपट-झपटकर जूझने लगते हैं—कभी रुककर, कभी झुककर, कभी थप्पड़ मारकर, कभी घूँसा देकर, कभी मार-गिराकर और कभी मार खाकर। इस प्रकार मल्लयुद्ध में दोनों अपनी अपनी बहादुरी दिखाते हुए शार्दूल और सिंह की भांति कभी गोपुर के ऊपर चढ़ बैठते हैं, कभी परकोटे के ऊपर जा पहुँचते हैं और कभी खंदक में जाकर गिर पड़ते हैं। बंदर और हाथी (वानर और वारण) की तरह दोनों एक दूसरे को अपवारित करते हुए नाना प्रकार के मंडल बनाते हुए गोपुर के चारों ओर चक्कर लगाने लग जाते हैं। किसी विशिष्ट मिष्टान्न को हड़पने के लिए होड़ लगाकर एक दूसरे को घूर-घूर कर देखने वाले बिलावों की तरह वानरराज और राक्षसराज अपनी अपनी शक्ति और युक्ति लगाकर एक दूसरे को पराजित करने का प्रयास करते हैं, पर कोई किसी से कम प्रतीत नहीं होता। परस्पर आघात से बचने के लिए और परिकल्पित आघात को जमाने के लिए दोनों मल्लयुद्धविशारद कभी पीछे हटते हैं, कभी आगे बढ़ते हैं, कभी ऊपर उछल पड़ते हैं, कभी नीचे झुक जाते हैं, कभी मंडलाकार घूमते हैं, कभी समीप पहुँचते हैं, कभी दूर भाग जाते हैं और कभी कभी अप्रत्याशित रूप से आकस्मिक आक्रमण करने लगते हैं। अंत में राक्षसराज रावण अपनी आसुरी माया के प्रयोग से सुग्रीव को मार गिराने की बात सोचता है तो तत्काल सुग्रीव अचानक उत्तुंग छलांग मारकर अंतरिक्ष में जा पहुँचते हैं और वहीं से अपने शत्रु को चकमा देकर पल भर में अपने स्वामी राम के पास पहुँच जाते हैं। बिचारा रावण यह सब देखकर दंग रह जाता है। इस प्रकार सुग्रीव राक्षसराज को भावी युद्ध का प्रथम पाठ पढ़ाकर अपनी सेना के बीच सातुर प्रतीक्षा करने वाले श्रीरामचंद्र के सामने हाथ जोड़कर प्रस्तुत हो जाते हैं। समस्त वानर-वीर वानरराज का सहर्ष स्वागत करते हैं और उनके पराक्रम, यश और कौशल की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं।

श्रीराम भी सुग्रीव को देखकर प्रसन्न हो जाते हैं, पर उनकी प्रसन्नता का कारण इस बात का आश्वासन है कि एक बहुत बड़ा संकट, जो अचानक आ पड़ा था, संयोग से टल गया है। पर एक बलाध्यक्ष के रूप में वह इस बात को भली भांति जानते हैं कि सुग्रीव ने क्षणिक आवेश में आकर जो कुछ किया है, वह एक वानरराज की प्रतिष्ठा के अनुरूप नहीं है। बिना मंत्रणा किए और बिना किसी को सूचना दिए इस प्रकार अचानक साहस का कार्य करना एक तो, खतरे से खाली नहीं है और दूसरे, अयोध्या और किष्किंधा की राजमर्यादा और पद-प्रतिष्ठा के अनुरूप भी नहीं है। पर जो हुआ, सो हुआ। अब इसका परिमार्जन करना है। परिमार्जन का पहला चरण है—सुग्रीव को शालीनता से समझाना। मर्यादा पुरुषोत्तम राम इसी पहले चरण के आचरण का आरंभ बड़ी सात्विक शैली में करते हुए कहते हैंः—

असम्मंत्र्य मयासार्धं तदिदं साहसं कृतम्।
एवं साहसयुक्तानि न कुर्वंति जनेश्वराः॥

'मेरे साथ परामर्श किए बिना आपने जो साहस का कार्य किया है यह ठीक नहीं था। राजा लोग इस प्रकार का साहस नहीं दिखाया करते।'—यह संकेत पर्याप्त था सुग्रीव में संयम और संतुलन को पुनः स्थापित करने के लिए। श्रीराम की चेतावनी जितनी शालीन है उतनी मार्मिक भी है। 'जनेश्वर' शब्द में तीखा व्यंग्य भी है। जनेश्वर (नरपति)ऐसा नहीं करते हैं—यह कहने में श्रीराम इस बात की ओर हल्का-सा इशारा देते हैं कि सुग्रीव वस्तुतः नरपति नहीं है, वानरपति हैं, इसीलिए उनसे यह प्रमाद हुआ है। परंतु अब उनको नरों से नहीं, बल्कि असुरों से भी निपटना है, इसलिए उनको विशेष सावधानी बरतनी चाहिए। कितनी गहरी बात कितनी सीधी भाषा में कही गई है, यह देखकर श्रीराम की वाक्चातुरी पर प्रसन्नता होती है। इतना कहने के बाद वह भविष्य में सतर्क रहने की बात अत्यंत मार्मिक और मांत्रिक परिभाषा में संप्रेषित करते हुए कहते हैं—"इदानीं मा कृथा वीर एवंविधमरिंदम" (तुम शत्रुओं का दमने करने में समर्थ

वीर हो, इस समय तुमको इस प्रकार का काम नहीं करना चाहिए)। 'इदानीं' (इस समय) कहने में रणनीति के मर्मज्ञ राम की सांप्रतिक दृष्टि स्पष्ट होती है। ये सब हित की बातें है। पर 'हित' को 'प्रिय' बनाने के कौशल में भी राम कुशाग्र हैं। इसी कौशल का परिचय देते हुए प्रेम के प्रतिरूप राम कहते हैं—मित्र, यदि तुमको कुछ हो जाता तो मुझे कितना दुःख होता और मैं कितने धर्म-संकट में पड़ जाता, तुम कल्पना तक नहीं कर सकोगे। जब तुम अचानक छलांग मारकर रावण के पास पहुँच गए तो मैं यही सोच रहा था कि यदि तुम वापस नहीं आए तो मैं रावण का संहार कर विभीषण को लंका के राज्य पर प्रतिष्ठित कर अयोध्या वापस चला जाऊँ और वहाँ भी भरत को ही राज्य देकर अपने प्राण छोड़ दूँ क्योंकि जब तुम नहीं रहे तब मुझे सीता से, राज्य से और यहां तक कि अपने प्राणों से भी क्या काम? ये मधुमय वचन सत्य की तिक्तता को रससिक्त बना देते हैं। यही सत्यपराक्रम राम के सत्य वचन की प्रियहित भावना है।

श्रीराम की इस हितभाषिता का उत्तर देते हुए सुग्रीव कहते हैं:—

तव भार्यापहर्तारं दृष्ट्वा राघव रावणम्।
मर्षयामि कथं वीर जानन् विक्रममात्मनः॥

"आपकी पत्नी का अपहरण करने वाले दुष्ट को सामने देखकर मैं चुप कैसे बैठ सकता था। यह मेरी विवशता थी और मुझे आपके पराक्रम का पूरा-पूरा भरोसा था।" 'विक्रममात्मनः' में अपने पराक्रम की अपेक्षा आत्मवान् राम के आत्म-बल पर अधिक बल दिया गया है।

अब सुग्रीव ने जो अकरणीय कार्य किया है उसके लिए आत्म-निराकरण तो हो चुका है। पर केवल इतना ही पर्याप्त नहीं है। इस घटना से शत्रु पर जो गलत प्रभाव पड़ा होगा, उसका भी उपयुक्त निराकरण करना आवश्यक है। इसके प्रति राम भी सजग हैं। इस दिशा में आगे कदम बढ़ाने के पहले वह सारी सेना को व्यवस्थित करने का प्रयास करते हैं। चारों ओर वायुमंडल में विनाश के जो लक्षण दिखाई दे रहे हैं, उनकी ओर लक्ष्मण का ध्यान आकृष्ट करते हुए वह कहते हैं—"हवाएँ भयंकर आँधियों का रूप धारण कर रही हैं, धरती काँप रही है, पर्वत हिल रहे हैं, बादलों से विकराल स्वर सुनाई दे रहे हैं, संध्या की लालिमा में अनुराग के स्थान पर रक्तपात का रोमांचकारी आभास मिल रहा है, सूर्यमंडल से आग की चिनगारियाँ टपक रही हैं, पशु-पक्षी सूर्य की ओर देखकर चीत्कार कर रहे हैं, रात की चाँदनी निद्रा के सुख में बाधा डालकर निरीह प्राणियों को तपा रही है, सूर्य के चारों ओर लाल घेरा दिखाई दे रहा है और बीच में काला धब्बा भी है। तारे सारे के सारे काले दिखाई दे रहे हैं। ये सभी लक्षण अवश्य ही किसी प्रलय के पूर्वाभास के सूचक हैं। इसलिए हमें आने वाले आपात काल का सामना करने के लिए प्रतिक्षण तैयार रहना चाहिए।"

अपने अनुज से अंतरंग की ये बातें कहकर बलाध्यक्ष राम अपने समस्त सेनानियों को उपयुक्त स्थलों पर नियोजित कर सबको आवश्यक आदेश-अनुदेश देते हैं। पूर्व योजना के अनुसार किस दिशा में कौन किस प्रकार का दायित्व सँभालें, इसको एक बार फिर दुहराकर सबको अपने अपने कर्त्तव्य से अवगत करा देते हैं। राम के शासन को आशीर्वाद मानकर लक्ष्मण, विभीषण, सुग्रीव, जांबवान्, अंगद आदि अपने अपने स्थान ग्रहण कर अपने अनुयायियों को अनुशासित रखते हैं। यह सब देखकर लंकावासियों को आश्चर्य होता है। अभी अभी सभी वानर-वीर लंका के उपवनों में विचरण कर रहे थे और अभी अभी सुग्रीव रोषावेश में आकर रावण को अपने आकस्मिक आक्रमण से चमत्कृत कर वापस चले गए हैं। इतने कम समय में इतनी विशाल सेना का सुसंयत हो जाना कोई साधारण बात नहीं है। लंका के निकटवर्ती समस्त भूभाग करोड़ों वानरों से आपूर्ण हैं और आकाश भी उन्हीं वानरों के आपात, निपात, संयात और उत्पात से आच्छादित है। वानर-सेना की इस विराट् व्याप्ति को देखकर राक्षस सेना को पहले विस्मय होता है और बाद में उनकी समर लालसा

बढ़ती है। सभी राक्षस अपने राजा का जय-जयकार करने लगते हैं तो इधर वानरों से भी मौन रहा नहीं जाता। वे भी अपने किलकिल नाद से धरती और आकाश को निःस्वनमय बना देते हैं। दोनों पक्षों से निकले हुए तुमुलनाद से सागर भी क्षुब्ध हो जाता है और आकाश के कान भी खड़े हो जाते हैं। इस प्रकार राम-रावण युद्ध का पूर्वरंग अनायास प्रस्तुत हो जाता है।

सहज रूप से प्रस्तुत इस पूर्वरंग में किसी भी कार्य में क्रम, योग और अर्थ को भलीभांति जानने और पहचानने में सक्षम राम के मन में यह विचार आता है कि विधिवत् युद्ध के आरंभ होने से पहले रावण के पास किसी समर्थ दूत को भेजकर उसे सतर्क करना आवश्यक है और उसे अपनी गलती सुधारने का एक अवसर देना भी शिष्टता और शालीनता की दृष्टि से वांछनीय है। अभी अभी सुग्रीव के आकस्मिक आक्रमण के कारण रावण के मन में राम के प्रति या सुग्रीव के प्रति जो लघु भावना उत्पन्न हो गई होगी, उसको भी दूर करने में यह दौत्य सहायक हो सकता है। अपने मन के इन्हीं विचारों को राजनयज्ञ राम विभीषण के सामने प्रस्तुत करते हैं और उनकी सहमति प्राप्त कर वह वालिपुत्र अंगद को दूत बनाकर रावण के पास भेजते हैं।

अंगद को रावण के पास भेजने से पहले उनको अपने पास बुलाकर रावण से जो बात कहनी है उसे बड़ी संतुलित वाणी में निबद्ध कर ऋषितुल्य राम कहते हैं—"हे सौम्य, रावण के पास जाकर मेरा यह संदेश मेरें ही शब्दों में ज्यों का त्यों सुना दो। तुम्हें किसी बात का भय नहीं है और न किसी बात की चिंता। निर्भीक और निश्चिंत होकर तुम्हें मेरी ये बातें रावण तक पहुँचानी हैं। मेरी ओर से उसको बता देना कि महामोह से ग्रस्त होकर तुमने अब तक ऋषि-मुनियों, देवताओं, यक्ष, नाग, गंधर्व, अप्सराओं के प्रति जो घोर अपराध किए हैं, उनका फल भोगने का समय अब आ चुका है। तुम्हारे वैभव के दिन अब समाप्त हो चुके हैं, तुम्हारी प्रभुता अब पराजित होने वाली है। अब तुम्हारी आयु भी अवसान की दशा में आ पहुँची है। इसीलिए तुम्हारी चेतना भी नष्ट होती जा रही है। तुम क्या कर रहे हो, तुम स्वयं नहीं जानते हो। अब इस बात का तुम्हें कोई भरोसा नहीं रहा है कि तुमने किसी समय स्वयंभू ब्रह्मा से अमोघ वरदान प्राप्त किए थे। अब तो परस्त्री के अपहरण के जघन्य पाप का तुम्हें यथोचित दण्ड देने के लिए साक्षात् दंडधर अपना कोदंड लेकर लंका के द्वार पर आ खड़ा है। इसलिए तुम्हारे बचने का कोई उपाय नहीं है। परंतु सांत्वना की बात यह है कि इस दंड से तुम राजर्षियों, महर्षियों और देवताओं द्वारा प्राप्य परम पद को प्राप्त करोगे। जिस बल के भरोसे अपनी आसुरी माया का प्रयोग कर तुमने मेरी अनुपस्थिति में सीता का अपहरण किया था, वह बल आज तुम मेरे सामने दिखाओ। मैं तुम्हारे देखते ही देखते सारे संसार को राक्षस-रहित बना दूँगा। यदि इस अनर्थ से तुम अपने को बचाना चाहते हो तो मेरी मैथिली को मुझे ससम्मान लौटा दो। अन्यथा तुम्हारे छोटे भाई धर्मात्मा विभीषण तुम्हारी लंका के स्वामी बनकर इस पर शासन करेंगे। अधर्म का आश्रय लेकर अब तुम क्षणभर भी इस राज्य पर शासन नहीं कर सकते हो। तुम स्वयं पाप कर्म कर रहे हो और तुम्हारे अविवेकी सहायक तुम्हारे दुराचरण का समर्थन कर रहे हैं। अब तुम होश में आकर मेरे साथ युद्ध करो। मेरे शर-स्पर्श से तुम्हारे पाप धुल जाएँगे और तुम पूतात्मा बन जाओगे। मेरी आँखों के सामने आने के बाद तुम्हें मुझसे बचाने का सामर्थ्य इन तीनों लोकों में किसी के पास नहीं है। इसलिए अब तुम अपने अंतिम समय के लिए आवश्यक तैयारी कर लो और लंका को पापमुक्त होने दो।"

श्रीराम का यह श्रीभाष्य लेकर तारा-तनय अंगद आकाश-मार्ग से तत्काल रावण के पास पहुँच जाते हैं। अभी अभी सुग्रीव के आकस्मिक आक्रमण से आतंकित असुरेश रावण अंगद को अंगार के समान सामने प्रस्तुत देखकर स्तंभित हो जाता है। रावण को देखते ही अंगद श्रीराम के श्रीमुख से निकले हुए संदेश-वाक्य ज्यों के त्यों भरी सभा में सुनाते हैं।

यथार्थ और विवेक की परिधि से अपने को बाहर ही बाहर रखने में अपना श्रेय समझने वाला रावण राम के हितोपदेश पर तनिक भी ध्यान नहीं देता है। रोषावेश में आकर वह अपने अमात्यों को आदेश देता है कि दुर्वचन सुनाने वाले इस दुष्ट दूत को तत्काल पकड़ लिया जाए और इसका वध कर दिया जाए। तुरंत चार बलशाली राक्षस अंगद को घेरकर उनको पकड़ने का प्रयास करते हैं तो अंगद उन चारों को अपनी बाँहों में समेंटकर आकाश में उछल पड़ते हैं। पर्वत के समान उच्च राजभवन के उन्नत शृंगों को फाड़कर अंगद अंतरिक्ष में जा पहुँचते हैं और चारों राक्षस उनके बाहुपाश से मुक्त होकर नीचे धरती पर आ गिरते हैं। इस प्रकार राक्षसराज रावण के रमणीय राजभवन को धराशायी बनाकर सभी राक्षसवीरों को त्रस्त और विस्मय से ग्रस्त बनाकर अंगद श्रीराम के सान्निध्य में पुनः सुरक्षित वापस आ जाते हैं। बिचारा रावण निरुपाय होकर सब कुछ देखता रहता है और देखते ही रह जाता है। आत्मनाश की आशंका से वह बार बार भारी साँस लेकर भावी कार्यक्रम के बारे में सोचने लगता है।

अंगद अपने कर्त्तव्य का विधिवत् पालन कर जब लौट आते हैं तो सभी योद्धा उनका सहर्ष स्वागत करते हैं और बार बार उनका अभिनंदन करते हैं। अब युद्ध का पूर्वरंग भी पूरा हो चुका है। वानर-सेना चारों ओर से लंका को घेर लेती है तो रावण के सेनानी अपने स्वामी को स्थिति की गंभीरता से अवगत करते जाते हैं। अब रावण के पास रोष, क्रोध, आक्रोश और निरर्थक कुतंत्र को छोड़कर कोई सार्थक समर-तंत्र नहीं रह जाता। फिर भी वह एक बार उद्वेलित वानर-सेना को ध्यान से देखता है तो पाता है कि अब समर का ही रूप धारण कर राम द्वार पर आ खड़ा है जिसका आभास समीरज बहुत पहले दे गया था। पर मायावी का मोह मंगलमय मंत्रणा को कैसे समझ पाता है? यही विधि की विडंबना है।



67. नागपाश-बंधन से मोचन

रावण का नेत्रोन्मीलन कराने के सारे प्रयत्न विफल हो जाते हैं। अंगद का दौत्य अंतिम अवसर था। पर वह भी काल का मारा रावण खो बैठता है। अब जब वानर-सेना लंका को चारों तरफ से घेर लेती है तो मूर्ख रावण अपने प्रासाद पर चढ़कर अपने विशाल नेत्रों को विस्फारित कर अपरिमेय वानर-सेना पर प्रेम और नियम के माध्यम से अप्रमेय अधिकार रखने वाले अक्लिष्ट कर्मा राम का मुखमंडल देखता है। फिर भी उसकी आँखें नहीं खुलतीं। इधर राम भी रावण को और रावण की राजधानी लंका को ध्यान से देखते हैं तो अचानक उनकी दृष्टि मन के माध्यम से विषादनंदिनी वैदेही पर जाती है। जैसे ही उनके मानसिक नेत्र अशोक-वाटिका पर शुष्क धरातल पर सोनेवाली मृगनयनी जानकी को आत्मसात् कर लेते हैं, उनकी युद्ध-योजना में सत्वरता आ जाती है और वह तत्काल अपने वानर-वीरों को शत्रुपक्ष के योद्धाओं का वध करने की आज्ञा देते हैं। तुरंत कपिसेना सिंहनाद के साथ शत्रुसेना पर आक्रमण करती है। पर्वतों के बड़े-बड़े शिखर उठाकर और नाना प्रकार के वृक्षों को उखाड़-कर वानर-सैनिक राक्षसों पर प्रहार करने के लिए चल पड़ते हैं। "जय हो जय हो बली राम की, महाबली लक्ष्मण की जय हो" (जयत्यतिबलो रामो लक्ष्मणश्च महाबलः)—कहकर समस्त वानर-सेना लंका की ओर अभियान करने लगती है तो क्रोध से भरे हुए परुष स्वर में राक्षसराज रावण भी अपनी सेना को बाहर निकलने की आज्ञा देता है। इस प्रकार विधिवत् राम-रावण युद्ध आरंभ हो जाता है।

दोनों तरफ की सेनाओं के संभ्रम से धरती, आकाश और अंतरिक्ष में रणभेरी का भैरवनाद गूँज उठता है। धीरे धीरे यादृच्छिक युद्ध द्वन्द्व युद्ध का रूप धारण कर लेता है। अंगद के साथ इंद्रजित्, संपाति के साथ प्रजंघ, हनुमान् के साथ जंबुमाली, विभीषण के साथ शत्रुघ्न (राक्षस), महाबली गज के साथ तपन, नील के साथ निंकुभ, वानरराज सुग्रीव के साथ प्रघस और अकेले श्रीरामचन्द्र के साथ अग्निकेतु, रश्मिकेतु, सुप्तघ्न और यज्ञकोप जूझने लगते हैं। इसी प्रकार मैंद के साथ वज्रमुष्टि, द्विविद के साथ अशनिप्रभ लड़ पड़ते हैं। प्रतपन के साथ नल और विद्युन्माली के साथ सुषेण भिड़ जाते हैं। और भी अनेक राक्षस अपने प्रतिद्वंद्वियं। को चुन चुनकर भयंकर और रोमांचकारी द्वन्द्वयुद्ध करने लग जाते हैं। कुछ ही समय में यह युद्ध इतना प्रचंड रूप धारण कर लेता है कि खून की नदियाँ बहने लगती हैं, सभी दिशाओं में हाहाकार मच उठता है, शरवर्षा से आकाश आच्छादित हो जाता है, रथचर्या से धरती थर थर काँपने लगती है, पत्थरों की आवाज़ कानों को पथरा देती है, हताहत वीरों के छिन्न मस्तक और मस्तकहीन कलेवर बिखर बिखर कर उछलने लगते हैं और नाना प्रकार के भयानक और बीभत्स दृश्य सर्वत्र देखने को मिलते हैं। कुल मिलाकर इस प्रथम संग्राम के परिणाम स्वरूप अनेक राक्षस हताहत हो जाते हैं, पर वानर सुरक्षित रहते हैं। इस प्रकार प्रथम प्रयास वानरों की विजय और राक्षसों की पराजय में परिणत हो जाता है।

इतने में सूर्यास्त हो जाता है, पर रात को भी

युद्ध जारी रहता है। असल में रात के समय ही असुरों का बल बढ़ जाता है। इसीलिए उनको रात्रिंचर या निशाचर कहा जाता है। अब निशा-युद्ध आरंभ होता है। निशा का आवरण वैसे ही माया का आवरण होता है और मायावी राक्षसों के लिए निशा-माया का यह आवरण अत्यंत सहायक होता है। पर रात के समय सबसे बड़ी कठिनाई यह होती है कि यह पता नहीं चलता कि कौन अपना है और कौन पराया, कौन वानर है और कौन राक्षस। राक्षस लोग अपनी इच्छा से मनचाहा रूप भी धारण कर सकते हैं और अदृश्य होकर भी युद्ध कर सकते हैं। इसलिए समस्या और भी जटिल बन जाती है। इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखकर समरज्ञ राम ने अपने सैनिकों को यह आदेश दिया था कि युद्ध के समय वानर वानर ही रहेंगे। धीरे धीरे निशा का अंधकार सघन से सघन बनता जाता है और युद्ध भी घोर से घोरतर रूप धारण करता जाता है। राम और लक्ष्मण भी अपने सैनिकों का मनोबल बढ़ाने के लिए रणभूमि में शरवर्षा के द्वारा असुर सेना को क्षतविक्षत करते हुए समरांगण में विचरण करते रहते हैं जब कि रावण समरभूमि में कहीं दिखाई नहीं देता। केवल कूटयोद्धा राक्षस ही प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से वानर-सेना पर आक्रमण करने लगते हैं। अदृश्य होकर वानरों पर शरवर्षा करने वाले राक्षसों की ओर राम और लक्ष्मण का ध्यान जाता है। इस संकट का सामना करने के लिए राम सभी दिशाओं में अपने तीक्ष्ण शरों का प्रयोग करते हैं। श्रीराम के निशित शरों के आघात से त्रस्त होकर महाकाय, महापार्श्व, महोदर आदि राक्षस अपने प्राण हथेली पर रखकर भाग खड़े होते हैं। सारा रणमण्डल राम नाम से अंकित शरमंडल से भर जाता है। फिर भी राक्षस साहस बटोर कर युद्ध करते जाते हैं।

इतने में रावण का वीर पुत्र इंद्रजित् युद्धभूमि में आकर अंगद का मुकाबिला करता है। अंगद बड़े साहस के साथ इंद्रजित् से द्वंद्वयुद्ध करते हैं। पर्याप्त संघर्ष और घात-प्रतिघात के पश्चात् इंद्रजित् के रथ और सारथी को अंगद चूर-चूर कर देते हैं। अब इंद्रजित् विवश होकर युद्ध भूमि से भाग जाता है, पर अंतरिक्ष में पहुँचकर अपनी माया के बल पर शत्रुसेना को पराजित करने की योजना बनाता है। इस बीच में अंगद के अद्भुत साहस और पराक्रम की सब लोग प्रशंसा करते हैं। अंतरिक्ष में उपस्थित देवता, ऋषिगण आदि भी अंगद की इस विजय पर प्रसन्न होते हैं। सुग्रीव, विभीषण, राम और लक्ष्मण भी अंगद का हार्दिक अभिनंदन करते हैं।

पर मायावी इंद्रजित् अंतरिक्ष में छिप छिपकर अपने तीखे बाणों से राम और लक्ष्मण को क्षत-विक्षत करने लगता है। सभी वानरों के देखते ही देखते दोनों राजकुमार इंद्रजित् के मायामय शरेन्द्रजाल में बँध जाते हैं। राम इंद्रजित् का पता लगाने के लिए दस महाबली वानर-वीरों को नियुक्त करते हैं। पर कोई भी वानर इंद्रजित् के वास्तविक अवस्थान का पता लगा नहीं पाता। घने बादलों के पीछे छिपे हुए सूर्य की तरह इंद्रजित् अपने को कभी इधर और कभी उधर पूर्ण रूप से प्रच्छन्न रखकर राम और लक्ष्मण के अंग-प्रत्यंग को अत्यंत भयानक शरों से छेद डालता है जो कि राम-लक्ष्मण के शरीर में लगने के बाद विषैले सर्प बन जाते हैं। धीरे-धीरे दोनों राजकुमारों के शरीर पूर्ण रूप से शरजाल में आबद्ध हो जाते हैं और वे दोनों बेहोश होकर नीचे गिर पड़ते हैं। इस पर इंद्रजित् विजय गर्व से गरजने लगता है और घोषित करने लगता है कि आज वह राम और लक्ष्मण के प्राणों को नष्ट करके जाएगा। उधर इंद्रजित् का अट्टहास, इधर वानर-सेना में हाहाकार और बीच में शरबंध में बँधे हुए राजकुमार-सारा वातावरण वानर समाज के लिए शोकप्रद बन जाता है। इंद्रजित् की माया को पहचानने में समर्थ विभीषण माया के ही सहारे पता लगाते हैं कि यह कूटयोद्धा इंद्रजित् बिल्कुल पास ही खड़ा है। वह अभी विजय पर प्रसन्न होकर मन ही मन यह निश्चय कर रहा है कि अब राम और लक्ष्मण इस शरबंधन से मुक्त नहीं हो पाएँगे और शत्रुपक्ष का सारा पराक्रम निष्प्रभ और निष्प्रयोजक हो चुका है। इस विजय-वार्ता की घनघोर घोषणा करते हुए मायावी

इंद्रजित् अन्य वानर-वीरों पर भी इसी प्रकार शर वर्षा करने लगता है। जब वानर सेना में शोक, विषाद, संभ्रम और संत्रास का वातावरण बन जाता है, तब इंद्रजित् परम प्रसन्न होकर अपने अनुयायियों के साथ लंका लौट जाता है और सबको यह शुभ समाचार सुनाते सुनाते फूला नहीं समाता कि अब राम और लक्ष्मण नहीं रहे, नहीं रहे और नहीं रहे।

इधर दोनों राजकुमारों को क्षत-विक्षत और मर्माहत देखकर सुग्रीव भयभीत हो जाते हैं। पर विभीषण उनको सांत्वना देते हैं और इस बात के लिए सतर्क भी कर देते हैं कि यह अवसाद का समय नहीं है, स्वयं धीरज रखकर दूसरों को धीरज दिलाने का समय है क्योंकि राजा के दीन होने पर सेना का मनोबल शिथिल हो जाता है और सारी व्यवस्था में बाधा पड़ सकती है। राम-लक्ष्मण की मुखमुद्रा देखकर विभीषण बताते हैं कि इनमें प्राणशक्ति का यथेष्ट संचार है और शीघ्र ही ये होश सँभाल लेंगे। विभीषण को पूरा विश्वास है कि सत्य और धर्म का प्रेम और नियम से पालन करने वाले महात्मा राम को अकाल मृत्यु स्पर्श तक नहीं कर सकती। इसीलिए वह सुग्रीव का मनोबल बढ़ाने के लिए अभिमंत्रित जल से उनके दोनों नेत्रों को पोंछकर विषादग्रस्त सेना को पुनरुज्जीवित और प्रोत्साहित करने की दिशा में स्वयं प्रयत्नशील हो जाते हैं और वानरराज सुग्रीव को भी उसी दिशा में प्रेरित करते हैं। इसके पश्चात् सुग्रीव और विभीषण वानरसेना में व्याप्त विषाद, विक्षोभ और विभ्रम को दूर करने का हर संभव प्रयास करते हैं और साथ ही श्री राम और लक्ष्मण की रक्षा के लिए भी आवश्यक व्यवस्था कर देते हैं।

उधर महामायावी इंद्रजित् लंकापुरी में प्रवेश करते ही अपने पिता के पास जाकर राम-लक्ष्मण के मारे जाने का प्रिय संवाद सुनाता है। यह समाचार सुनते ही रावण आनंद से उछल पड़ता है और पादाभिवंदन करने वाले अपने परमवीर पुत्र को प्रेम से गले लगा लेता है। फिर पुत्र का मस्तक सूँघकर अपने को कृतकृत्य मानने वाला रावण सारा वृत्तांत विस्तार से सुनकर शत्रुभय से पिता को मुक्त करने वाले सुपुत्र का हार्दिक अभिनंदन करता है। अब इसके बाद तुरंत क्या करना चाहिए, इस पर रावण थोड़ी देर के लिए सोचता है। वास्तव में रणभूमि में जाकर प्रत्यक्ष रूप से देखना चाहिए था कि वास्तव में क्या हुआ है। पर रावण का ध्यान सीता पर जाता है। अशोक वाटिका में सीता की रखवाली करने वाली असुरांगनाओं को बुलाकर उनको आदेश देता है कि तुम लोग तुरंत सीता के पास जाकर यह समाचार सुनाना कि जिस राम का सहारा लेकर वह अब तक मेरी बात नहीं मान रही है, वह अल्पायु राम निरुपाय होकर अपने भाई लक्ष्मण के साथ इंद्रजित् के हाथ रणभूमि में मारा गया है और सीता को इस बात का विश्वास दिलाने के लिए तुम लोग उस सुंदरी को पुष्पक विमान पर बिठाकर रणभूमि में ले जाना और राम-लक्ष्मण के क्षत-विक्षत गात्र दिखा देना।

रावण की आज्ञा पाकर त्रिजटा और अन्य राक्षसियाँ सीता को पुष्पक विमान पर बिठाकर रणभूमि में ले जाती हैं। वहाँ पर सभी राक्षस हर्ष और उल्लास से उछलते कूदते दिखाई देते हैं और सभी वानर उदास, उद्विग्न और उन्मन से प्रतीत होते हैं। राम और लक्ष्मण विषाक्त शरों से पीड़ित होकर निश्चेष्ट सोए पड़े दिखाई देते हैं। उनके सजीव होने पर भी संदेह होता है। शरशय्या पर लेटे हुए अपने स्वामी और देवर को उस दयनीय दशा में देखकर करुणनयना जानकी फूट-फूट कर रोने लगती हैं। उनके नेत्रों से अविरल अश्रुधारा बहने लगती है। उनका हृदय एकदम निष्पंद बन जाता है। उनको विश्वास नहीं होता कि देवताओं के समान पराक्रमशाली राम और लक्ष्मण वास्तव में इस प्रकार निष्प्राण हो गए हैं, पर जो कुछ सामने है उसको स्वीकार करना पड़ता है। अभी कुछ समय पहले रावण ने अपनी माया के बल पर श्रीराम का छिन्न मस्तक उनके सामने रखा था। तब भी भोली भाली वैदेही ने उस दृश्य पर विश्वास कर लिया था। पर यह दृश्य एकांत नहीं है। सारी रणभूमि सामने है। वानर-वीर भी साथ में हैं। शरशय्या पर लेटे हुए दोनों राजकुमार

साक्षात् श्रीराम और उनके भाई लक्ष्मण ही हैं। इसीलिए इस पर विश्वास करने के लिए विवश होकर विदेहनंदिनी विलाप करने लगती हैं।

बचपन से भविष्यवाणी करने में प्रवीण ज्ञानी जानकी को सभी शुभ लक्षणों से संपन्न गुणवती, सौभाग्यवती, पुत्रवती, और धन-धान्यवती कहते आए हैं। तदनुसार राजा जनक का वात्सल्य, महाराज दशरथ की ममता, राजीवलोचन राम का प्रेम आदि दुर्लभ लाभ उनको सुलभ होते रहे। वनवास में भी वह राम के सान्निध्य में अमरावती का-सा अलौकिक आनंद अनुभव करती रहीं। इसलिए उन्होंने कभी कल्पना तक नहीं की कि एक ऐसा दिन भी उनके जीवन में देखने को मिलेगा जब उनको राम के बिना जीना पड़े। या तो सभी ज्ञानियों के सत्य वचन झुठलाए गए या किसी आसुरी माया ने असंभव को संभव बना दिया। जो भी हो, भाग्य का जो विपर्यय उनको देखना पड़ रहा है, उसके लिए वह अपने भाग्य को ही दोष देते हुए शोकाकुल हो जाती हैं। वह अपने से भी बढ़कर राममाता कौसल्या और लक्ष्मणमाता सुमित्रा के लिए अधिक शोक और व्यथा प्रकट करती हैं जिनके लिए यह दुःख किसी प्रकार सह्य नहीं होगा।

इस प्रकार अपने को, अपने स्वामी को और अपनी माताओं को भाग्य से वंचित पाकर बार बार विलाप करने वाली विदेहराजतनया को देखकर उनकी सखी त्रिजटा उनको धीरज दिलाते हुए कहती हैः "मा विषाद कृथा देवि भर्तायं तव जीवति"(देवी, तुम विषाद मत करो। तुम्हारे स्वामी जीवित हैं)। श्रीराम की सजीवता को सिद्ध करने के लिए त्रिजटा अनेक प्रमाण प्रस्तुत करती है। पहला प्रमाण तो राम और लक्ष्मण की प्रसन्न मुखमुद्रा है जिसमें निर्जीवता का आभास तक नहीं है। उन दोनों के मुख-मंडल पर अब भी सहज शोभा श्रीमहालक्ष्मी की सश्रीकता के समान विद्यमान है। इसलिए उनके जीवित रहने में कोई संदेह नहीं है। दूसरा प्रमाण है – (जो कि इससे भी प्रबल और प्रत्यक्ष है) पुष्पक विमान का स्वभाव जो केवल सौभाग्यवती स्त्रियों को ही अपने में बिठाता है। यदि राम जीवित नहीं होते हो रामपत्नी को यह विमान स्वीकार नहीं करता। इन दोनों प्रमाणों के आधार पर त्रिजटा सीता को आश्वस्त करते हुए कहती है कि मेरी बात मानकर तुम इस बात की चिंता एकदम छोड़ो और मैं पूरा विश्वास दिलाती हूँ कि तुम्हारे पतिदेव जीवित हैं। इतना ही नहीं; त्रिजटा अपनी सत्यवादिता के संबंध में सौगंध खाकर कहती है कि मैं कभी झूठ नहीं बोली ओर न आगे बोलूँगी। त्रिजटा की ये प्यारी मीठी बातें सुनकर मैथिली आश्वस्त होकर कहती हैं– "ऐसा ही हो बहिन, ऐसा ही हो।" उसके बाद अवनितनया जानकी त्रिजटा और अन्य राक्षसियों के साथ विमान पर बैठकर अशोक-वाटिका में वापस पहुँच जाती हैं।

जैसे ही जानकी रणभूमि से वापस चली जाती हैं, श्रीराम अपने आत्म-बल और पराक्रम के सहारे मूर्च्छा से जाग उठते हैं। पर अपने भाई लक्ष्मण को अब भी नागपाश के वश में निश्चेष्ट, निस्तेज और निरुत्तर पाकर भ्रातृवत्सल राम विलाप करने लगते हैं। नागपाश के प्रभाव से अभी तक पूर्णरूप से मुक्त न होने के कारण राम का उदात्त मन भी विषाद में इतना व्याकुल हो जाता है कि वह एकदम अधीर होकर प्राण त्यागने तक का विचार कर लेते हैं, सुग्रीव को आत्मरक्षा के लिए किष्किंधा वापस चले जाने तक का परामर्श देते हैं और विभीषण को लंकेश बनाने की अपनी प्रतिज्ञा को चरितार्थ न कर सकने पर पछताने लगते हैं। अदीनात्मा राम की इस आकस्मिक दीनता पर सबको आंश्चर्य होता है और चिंता भी होती है। पर राम की दृष्टि में लक्ष्मण के प्राण सीता की विमुक्ति से भी अधिक महत्त्वपूर्ण हैं और इसीलिए अपने भ्रातृप्रेम के आवेश में अर्थ और अनर्थ के अंतर पर वह यथेष्ट ध्यान नहीं दे पाते। राम के मुँह से इस प्रकार के दैन्यभरे वचन सुनकर वानर-वीर आँसू बहाने लगते हैं। बिल्कुल इसी समय सारी सेना को सुव्यवस्थित बनाकर हाथ में गदा लिए विभीषण श्रीराम के पास आते हैं तो पाते हैं कि सभी लोग चिंता की मुद्रा में दीनवदन होकर बैठे हैं और सत्यपराक्रम राम बिदाई के स्वर में सभी वानर वीरों के प्रति आभार प्रकट कर रहे हैं।

इंद्रजित् की मायावी शरवर्षा से भयभीत वानर-वीर अचानक विभीषण को देखकर उनको भी इंद्रजित् समझते हैं और भयभीत होकर भागने का उपक्रम करते हैं। परंतु सुग्रीव उनको समझाते हैं कि यह तो हमारे हितैषी विभीषण हैं और घबराने की कोई बात नहीं है। पर यह सारा वातावरण देखकर विभीषण घबरा जाते हैं। राम और लक्ष्मण को अब भी नागपाश में आबद्ध और उदात्त राम को उदास देखकर विभीषण विक्षिप्त-से हो जाते हैं। पर सुग्रीव उनको भी धीरज दिलाते हैं और सबका मनोबल बढ़ाने का भरसक प्रयास करते हैं। वृद्ध सेनानी जांबवान् भी संत्रस्त सेना को सुन्यस्त करने में सुग्रीव की सहायता करते हैं। विषाद में विवेक को खो बैठे विभीषण को सुग्रीव बार बार समझाते हैं कि यह क्षणिक विक्षोभ है और शीघ्र ही राम और लक्ष्मण नागपाश के इस कृतक बंधन से मुक्त हो जाएँगे क्योंकि अतिबली राम होश संभाल चुके हैं और थोड़ी देर में भैया लक्ष्मण भी ठीक हो जाएँगे। संयोग की बात यह है कि स्वभाव से संशयशील और भीरु सुग्रीव अब सत्त्वसंपन्न संचालक बनकर सबको प्रेरणा और प्रोत्साहन प्रदान करने लगते हैं। इससे भी आश्चर्य की बात यह है कि सर्वसमर्थ समीरज इस समय एकदम मौन हैं।

पर सुग्रीव तो सुग्रीव ही हैं। वह भावशूर हैं, कार्यशूर नहीं है। इस संकट काल में उनको या तो पवनपुत्र का परामर्श लेना चाहिए था या आयुर्वेद विशारद सुषेण से शर-बद्ध राजकुमारों की आपातकालीन चिकित्सा करानी थी। पर सुग्रीव के मन में एक विचित्र विचार आता है। वह सुषेण को बुलाकर कहते हैं कि आप दोनों राजकुमारों को किष्किंधा वापस ले जाकर इनकी देखभाल कीजिए और मैं रणभूमि में रावण को मार कर मैथिली को राम के पास ले आऊँगा। सुग्रीव की दृष्टि में यह योजना सुचिंतित हो सकती है, पर श्रीराम की प्रतिष्ठा, राम के अयन की परमावधि, सीतादेवी की सत्यनिष्ठा और सुग्रीव की कार्यक्षमता की दृष्टि से यह विचार कितना हास्यास्पद और हानिकारक हो सकता है, यह बात सुग्रीव समझ नहीं पाते। पर सुषेण समझ लेते हैं। इसीलिए वह कहते हैं कि प्रायः देवासुर संग्राम में जब कभी देवता लोग इस प्रकार घायल हो जाते थे तो देवगुरु मंत्र-युक्त विद्याओं तथा दिव्य औषधियों द्वारा उनकी चिकित्सा किया करते थे और ये औषधियाँ अब भी क्षीर-सागर के तट पर चंद्र और द्रोण नामक पर्वतों पर संजीवकरणी और विशल्यकरणी के नाम से उपलब्ध हैं जिनको पवनपुत्र पल भर में यहाँ ला सकते हैं। इसलिए पवनतनय के सहयोग से इन दिव्य औषधियों को यहाँ लाया जाए तो श्रीराम और लक्ष्मण पुनरुज्जीवित हो जाएँगे।

सुषेण के श्रीमुख से जैसे ही ये वचन निकल रहे थे, वायुमंडल में अचानक एक भीकर प्रभंजन का प्रादुर्भाव होता है जिसमें से एक दिव्य तेजस्वी आकृति प्रकट होती है। यह आकृति उसी विनतानंदन गरुड़ की है जिसको देखते ही भीषण से भीषण सर्प या तो भाग जाते हैं या छिप जाते हैं। गरुड़ के पंखों से उठी हुई प्रचंड वायु के प्रकोप से ही सागर में हलचल मच गई, पहाड़ काँप उठे, लंका में और लंका के आसपास जितने विषैले सर्प थे, सब के सब थर्रा उठे और इंद्रजित् की माया के कारण जिन भयंकर नागों ने शररूप धारणकर दोनों राजकुमारों को बांध रखा था, वे सब के सब क्षणभर में भाग खड़े हुए। स्वर्ण वर्ण मनोहर सुपर्ण (गरुड़) ने राम और लक्ष्मण को अपने अमृत हस्त से स्पर्श कर उनका अभिनंदन किया।

गरुड़ का स्पर्श पाते ही राम-लक्ष्मण के सारे घाव भर जाते हैं और उनके शरीर में पहले जैसा तेज, ओज और प्रकाश फिर से आ जाता है। केवल शरीर ही नहीं, बल्कि उनका मन-मस्तिष्क भी फिर सजग, सक्रिय और सोल्लास बन जाता है। जैसे ही गरुत्मान् दोनों आत्मवान् राजकुमारों को उठाकर हृदय से लगाते हैं, श्रीराम सकृतज्ञ भाव से आगंतुक महानुभाव को संबोधित करते हुए कहते हैं— "रावण के पुत्र इंद्रजित् ने हमारे ऊपर माया का प्रयोग कर हमें इस नागपाश में बाँध दिया था जो कि आपके अनुग्रह से देखते ही देखते विच्छिन्न हो गया है और हम दोनों इस बंधन से

मुक्त हो गए। आसुरी माया का निराकरण करने का अमोघ उपाय आप जानते हैं। आप को देखने से अपने पिता, पितामह और प्रपितामह आदि को देखने का – सा मुझे आनंद हो रहा है। असल में आप कौन हैं? आप का आकार, अंगराग, वस्त्र, आभरण आदि देखने से आप कोई दिव्य पुरुष प्रतीत हो रहे हैं।" यह कहकर श्रीराम किसी अनिर्वचनीय और अविस्मरणीय आंतरिक आनंद से पुलक उठते हैं और सामने प्रत्यक्ष विराजमान दिव्यात्मा से कुछ सुनने के लिए उत्कंठित हो जाते हैं।

श्रीराम की जिज्ञासा का समाधान करते हुए गरुत्मान् अपना परिचय देते हुए कहते हैं कि मैं गरुत्मान् हूँ, आप का मित्र हूँ, बल्कि यह कहना चाहिए कि मैं आप का बाहर विचरने वाला प्राण हूँ। आपको आसुरी माया में ग्रस्त और नागपाश में आबद्ध सुनकर आप दोनों को इस बंधन से मुक्त करने के लिए मैं आप की सेवा में प्रस्तुत हुआ हूँ। इंद्रजित् ने आपके ऊपर जिस माया का प्रयोग किया है, उससे आपको मुक्त करने की शक्ति देव, दानव, गंधर्व या साक्षात् इंद्र में भी नहीं है। विश्व के विषपूरित भयंकर सर्प इंद्रजित् के बाण बन कर आप के शरीर को बींध चुके हैं और मुझे देखते ही वे सबके सब भाग चुके हैं। भविष्य में आपको अत्यंत सावधान रहना चाहिए। ये राक्षस माया के प्रयोग में दक्ष हैं और आप का पराक्रम सत्य, धर्म, सात्विकता और आर्जव पर आधारित है। अब मुझे आज्ञा दीजिए। आपका कल्याण होगा, इसमें कोई संदेह नहीं है। आप रावण का संहार कर अपनी साध्वी पत्नी को पुनः प्राप्त कर लेंगे।

यह कहकर गरुत्मान् राम की परिक्रमा कर प्रस्थान करते हैं। पर राम से बिदा लेने के पहले उनसे एक अनुरोध करते हैं और वह यह हैः–

न च कौतूहलं कार्यं सखित्वं प्रति राघव।
कृतकर्मा रणे वीर सखित्वं प्रति वेत्स्यसि॥

हम दोनों के सखित्व के बारे में मैंने जो बात कही, उसका रहस्य जानने का प्रयास अभी मत कीजिए। युद्ध में विजय प्राप्त करने के पश्चात् यह बात अपने आप आपकी समझ में आ जाएगी।

असल में बात यह है कि रावण का संहार होने तक राम को अपनी दैवी शक्ति से अवगत नहीं होना चाहिए। मनुष्य के रूप में ही वानर सेना का सहयोग लेकर राम रावण का संहार कर सकते हैं। अन्यथा रावण का संहार ही असंभव हो जाता है। इसीलिए इंद्र से लेकर ब्रह्मा तक के सभी देवता राम के दिव्यत्व को जान बूझकर छिपाने का प्रयास करते हैं और गरुत्मान् के इन शब्दों में भी उसी रहस्य की ओर मार्मिक संकेत हैं। जैसे जैसे राम का अयन आगे बढ़ता जाता है, देवताओं की दैवी शक्ति से भी आगे बढ़ने वाली महनीय मानवता दशरथनंदन राम में विकसित होती जाती है। यही रामायण (राम के अयन) का रमणीय रहस्य है।



68. रण-यात्रा राक्षस वीरों की

पन्नगवैरी गरुत्मान् के आगमन से न केवल राम-लक्ष्मण में प्राण-शक्ति का पुनरागमन होता है, बल्कि समस्त वानर-सेना में हर्ष और उल्लास का पुनः समागम हो जाता है जिससे लंका का परिसर फिर से जय-जयकार से प्रतिध्वनित होने लगता है। वानर-सेना का यह हर्षनाद अचानक रावण के कानों तक पहुँचता है तो वह चकित हो जाता है और यह समझ नहीं पाता कि आर्तनाद के स्थान पर यह हर्षनाद कैसा? तुरंत वह अपने समीपवर्ती परिजनों को वस्तुस्थिति का पता लगाने के लिए रणभूमि में भेजता है। रावण द्वारा प्रेषित राक्षस प्राकारों को पारकर देखते हैं तो पाते हैं कि राम और लक्ष्मण एकदम स्वस्थ और सानंद हैं और उनके आप्त मित्र उनका हार्दिक अभिनंदन कर रहे हैं। वानर-सेना में भी उल्लास और उमंग का वातावरण सर्वत्र छाया हुआ है। यही बात वे राक्षस वापस जाकर रावण को निवेदित करते हैं। अब रावण असमंजस में पड़ जाता है। अभी अभी विजय के गर्व से वह अपने आपको कृतकृत्य समझ रहा था और इंद्रजित् का व्यापक अभिनंदन अभी समाप्त भी नहीं हुआ था। इतने में इस सारे आनंद को निराधार सिद्ध करने वाला समाचार मिला है। पहले तो रावण इस पर विश्वास ही नहीं करता। पर यदि यह सच है तो इस सम्बन्ध में विशेष सतर्क होना भी आवश्यक है। इंद्रजित् की माया से घटित शरबंध से मुक्त होना कोई साधारण बात नहीं है। इसलिए असाधारण शत्रु का सामना करने के लिए असाधारण योद्धा भी चाहिए। यही सोचकर इंद्रजित् को प्रारंभिक आक्रमण में ही नियुक्त किया गया था, पर सारा प्रयास विफल हो गया।

सोच-समझकर किया गया प्रयास जब विफल हो जाता है, तब बिना सोचे विचारे सामने दिखाई देनेवाले किसी भी योद्धा को भेजने से शायद काम बन जाए, इस विलक्षण विश्वास से रावण धूम्राक्ष नाम के राक्षस को राम-लक्ष्मण समेत समस्त वानर सेना का प्राणहरण करने का दायित्व सौंपकर रणभूमि में भेजता है। धूम्राक्ष भी रावण की आज्ञा को शिरोधार्य मानकर आवश्यक अस्त्र-शस्त्र और सैनिक बल साथ लेकर समरभूमि में पहुँचता है। रास्ते में कई अपशकुन होते हैं। पर उनकी परवाह किए बिना धूम्राक्ष पश्चिमी द्वार से समरभूमि में प्रवेश करता है जहाँ पर हनुमान् वानर सेना का नेतृत्व कर रहे हैं। जैसे ही धूम्राक्ष समरागंण में प्रवेश करता है, वैसे ही उसके रथ के ऊपर एक भयानक गीध आकर गिरता है, पताका के ऊपर दो मुर्दाखोर पक्षी आपस में लड़ते हुए आ पड़ते हैं और सामने बहुत बड़ा कबंध खून से लथपथ होकर ज़मीन पर गिर पड़ता है। हवा भी उल्टी दिशा में बहने लगती हैं, बिजलियाँ चमक चमक कर गड़गड़ाहट के साथ गिरती हैं। चारों ओर अंधकार छा जाता है। इससे धूम्राक्ष तनिक हताश हो जाता है और उसकी सेना भी त्रस्त हो जाती है।

धूम्राक्ष को रणभूमि में प्रवेश करते हुए देखकर वानर-वीर उत्साहित होकर सिंहनाद करने लगते हैं। बड़े-बड़े वृक्ष, कठोर शिलाएँ और विशाल पर्वत-शिखर वानर सेना के आयुध हैं और राक्षसों के पास शूल,

मुद्गर, तीर, गदाएँ, परिघ आदि अनेक हथियार हैं। दोनों के बीच भयंकर युद्ध छिड़ जाता है। कहीं एकांत में और कहीं सामूहिक रूप से प्राणहरण का कांड आरंभ हो जाता है। कुछ ही देर में रक्त की नदियाँ बहने लगती हैं और शवों के ढेर जम जाते हैं। धीरे धीरे वानरों के आघात को सहने में असमर्थ राक्षसवीर रणभूमि छोड़कर भागने का प्रयास करने लगते हैं। इस पर धूम्राक्ष कुपित हो जाता है। इसी प्रकार कुछ वानर-वीर भी धूम्राक्ष के प्राणहारी शर-संधान को देखकर भयभीत हो जाते हैं। इतने में महावीर हनुमान् धूम्राक्ष के सामने आ खड़े होते हैं।

हनुमान् और धूम्राक्ष के बीच भयंकर युद्ध छिड़ जाता है, पर अधिक देर तक हनुमान् के सामने धूम्राक्ष टिक नहीं सकता। थोड़ी ही देर में हनुमान् के प्रचंड प्रहार से धूम्राक्ष का रथ ध्वजा, अश्व, धनुष आदि के साथ चूर-चूर होकर धराशायी हो जाता है। धूम्राक्ष रथ से वंचित होकर भी हनुमान् पर गदा का प्रहार करता है, पर हनुमान् पर्वत के शिखरों से धूम्राक्ष के मस्तक पर प्रहार करते हैं। कुछ ही समय में धूम्राक्ष का साहस जवाब देने लगता है, उसके साधन समाप्त हो जाते हैं और वह निष्प्राण होकर धराशायी हो जाता है।

प्रथम वीर धूम्राक्ष के इस प्रकार मारे जाने का समाचार पाकर रावण फुफकारने वाले साँप की तरह रुष्ट हो जाता है। अब महाबली वज्रदंष्ट्र की बारी है। यह वही वज्रदंष्ट्र है जिसने युद्ध से पहले रावण से कहा था कि राम सीधे सादे हैं इसलिए उनको माया और वंचना से हराया जा सकता है या यदि आवश्यक हुआ तो मैं अकेला ही सुग्रीव और लक्ष्मण सहित राम का संहार कर सकता हूँ। संभवतः अब इसी बात को याद कर रावण उसी वज्रदंष्ट्र को रणभूमि में भेजता है। रावण का आदेश वाक्य है:—

गच्छ त्वं वीर निर्याहि राक्षसैः परिवारितः।
जहि दाशरथिं रामं सुग्रीवं वानरैः सह॥

वीर वज्रदंष्ट्र, अब तुम अपने सह योद्धा राक्षसों को साथ लेकर जाओ और अपना बल-पराक्रम दिखाकर सुग्रीव तथा अन्य वानर-वीरों के साथ दशरथ-नंदन राम को पराजित करो।

ऐसा लगता है कि रावण वज्रदंष्ट्र के पूर्व वचनों को ही दुहरा रहा है। वज्रदंष्ट्र भी तत्काल साहस और उत्साह को समेटकर आवश्यक सैनिक बल के साथ रणभूमि की ओर प्रस्थान करता है। रण-यात्रा का वैभव देखते ही बनता है। चमकीले वस्त्र, चमक-दमक से देखनेवालों को चौंकाने वाले हथियार, गिरिराज की भांति चलनेवाले गजराज तथा हर्ष और उल्लास से बरसात के बादलों की तरह आगे बढ़ने वाले सैनिक रणभूमि को वारणभूमि बना देते हैं। समस्त साज-सज्जा के साथ वज्रदंष्ट्र दक्षिण के द्वार से रणभूमि में प्रवेश करता है। वालि-पुत्र अंगद दक्षिण द्वार की रक्षा कर रहे हैं। राक्षस सेना के रणभूमि में प्रवेश करते ही अशुभ सूचक अपशकुन होने लगते हैं। धूम्राक्ष के साथ भी यही हुआ था। पर अंतर केवल यही है कि धूम्राक्ष उन भयंकर उत्पातों को देखकर व्यथित हुआ था जबकि वज्रदंष्ट्र धैर्य धारण कर आगे बढ़ता है क्योंकि वह धूम्राक्ष से अधिक तेजस्वी, उत्साही और साहसी तो था ही, पर साथ ही रणभूमि में शत्रुओं को पराजित करने के लिए प्रतिबद्ध भी था। इसीलिए वचनबद्ध वज्रदंष्ट्र अपने स्वामी को दिए गए वचन को निभाने के लिए अपनी रथयात्रा को आगे बढ़ाता है। हमेशा की तरह वानरों के अस्त्र-शस्त्र प्राकृतिक हैं जबकि राक्षसों के आयुध परिष्कृत हैं। इधर से वृक्ष, शैल और शिखर राक्षसों को पीड़ा पहुँचाते हैं तो उधर से शूल, गदा, बाण आदि वानरों को तितर-बितर करते हैं। लोक-संहार करने वाले यमराज की भांति वज्रदंष्ट्र रणभूमि में स्वैर विहार करता है तो इंद्र के समान पराक्रमी अंगद छोटे-मोटे मृगों का संहार करने वाले मृगराज की तरह समर-कानन में संचरण करने लगते हैं।

धीरे धीरे युद्ध ज़ोर पकड़ लेता है। जब वज्रदंष्ट्र के प्रहार से संत्रस्त वानर-सेना अंगद के पास आत्मरक्षा के लिए पहुँचती है तो अंगद सीधे वज्रदंष्ट्र पर आक्रमण करते हैं। दोनों के बीच पर्याप्त समय तक घोर युद्ध

होता है। अंगद के वृक्ष, शैल और शिखर वज्रदंष्ट्र को हिला नहीं पाते। फिर मुष्टि-युद्ध भी होता है। पर उससे भी कोई लाभ नहीं होता। मंगल और बुध की भांति दोनों वीर आपस में लड़ पड़ते हैं। दोनों फूले हुए पलाश वृक्षों की भांति खून से लथपथ हो जाते हैं। अंत में महाबली वालिपुत्र अपनी चमकीली और तेज धार वाली तलवार से वज्रदंष्ट्र का मस्तक काट डालते हैं। इस प्रकार रावण द्वारा प्रेषित दूसरा योद्धा वज्रदंष्ट्र भी रणभूमि में बलि हो जाता है।

वज्रदंष्ट्र के मारे जाने का समाचार सुनकर रावण तत्काल अकंपन को युद्ध के लिए प्रेरित करता है। लगता है, रावण के मन में राक्षसवीरों की एक सूची तैयार हो चुकी है। इसीलिए अकंपन का नाम अविलंब उसके ध्यान में आ जाता है। अब की बार अकंपन्न की काफी सराहना भी की जाती है। उससे सर्व-शास्त्रास्त्र कोविद (सभी प्रकार के शस्त्र-अस्त्रों में प्रवीण) कहा जाता है। रावण उसकी विजय पर पूरा विश्वास प्रकट करते हुए कहता हैः—

एष शास्ता च गोप्ता च नेता च युधि सत्तमः।
भूतिकामश्च मे नित्यं नित्यं च समरप्रियः॥
एष जेष्यति काकुत्स्थौ सुग्रीवं च महाबलम्।
वानरांश्चापरान् घोरान् हनिष्यति न संशयः॥

यह रणभूमि में सैनिकों पर शासन करने, उनकी रक्षा करने और उनको सफल नेतृत्व प्रदान करने में सर्वथा समर्थ है। इसके अलावा इसके मन में युद्ध के प्रति सहज प्रेम है और हमेशा मेरी भलाई और वृद्धि चाहता है। इसलिए यह समस्त वानर-सेना को पराजित कर महाबली राम, लक्ष्मण और सुग्रीव पर विजय प्राप्त करेगा, इसमें कोई संदेह नहीं है।

इस प्रशस्ति के अतिरिक्त रावण अकंपन शब्द का अर्थ समझाकर अकंपन के लिए यह नाम सार्थक बताता है। युद्ध में चाहे जो भी विषम स्थिति आ जाए, तनिक भी कंपित नहीं होना अकंपन का लक्षण है। यह सोचने की बात है कि अबकी बार अकंपन के प्रसंग में रावण इतनी लंबी भूमिका क्यों बाँध रहा है। रावण द्वारा अकंपन की प्रशंसा यहाँ तक अतिरंजित हो जाती है कि 'आदित्य इव तेजसा' कहकर उसको सूर्य के समान तेजस्वी बताया जाता है। यह सब इसलिए कि अब रणभूमि में जानेवाला यह तीसरा वीर है। अब तक दो वीर जा चुके हैं, पर वापस नहीं आए। अब तीसरी बार भी पराजय हुई तो स्थिति गंभीर हो जाएगी और शत्रुओं का साहस बढ़ता जाएगा। दूसरी बात यह है कि अभी तक राम, लक्ष्मण या सुग्रीव का किसी ने सामना तक नहीं किया। दोनों वीरों ने प्रारंभिक चरण में ही अपने प्राण खो दिए। इसलिए रावण अपने तीसरे योद्धा अकंपन का मनोबल बढ़ाने का पूरा-पूरा प्रयास कर रहा है।

इतना होने पर भी अकंपन की रण-यात्रा लगभग उसी प्रकार चलती है, जैसे पहले के दोनों वीरों की। जैसे ही अकंपन का रथ रणभूमि की ओर चल पड़ता है, उसके घोड़े अचानक धीरे धीरे उदास और विवश होकर चलने लगते हैं। शेष सभी अशुभसूचक अवलक्षण पहले की भांति दिखाई देते हैं। फिर भी अकंपन उनकी परवाह किए बिना रणभूमि में प्रवेश करता है। वानर और राक्षस यथावत् और विधिवत् अपनी सारी शक्ति के साथ घोर युद्ध करते हैं। दोनों तरफ के वीर हताहत हो जाते हैं। रणभूमि में इतनी धूल उड़ती है कि योद्धाओं को कुछ नहीं दिखाई देता, इतनी आवाज़ होती है कि किसी को कुछ नहीं सुनाई देता और इतना संहार होता है कि वसुंधरा वसा (वसुओं का नहीं) धारण करनेवाली श्मशानभूमि बन जाती है।

वानर-सेना की ओर से वीर वानर कुमुद, नल, मैंद, द्विविद आदि आगे बढ़ते हैं और शत्रुसेना का डटकर सामना करते हैं। पर अकंपन की रण यात्रा इतनी भयंकर, दुर्भर ओर दुर्निरीक्ष्य बन जाती है कि बड़े से बड़े वीर वानर भी उस रणवेग के सामने टिक नहीं पाते। अब महावीर हनुमान् रण-रंग में प्रवेश करते हैं तो सभी वानर हर्ष और उत्साह से उनको घेर कर खड़े हो जाते हैं। पवन-पुत्र आगे आगे चलते हैं और शेष वानर उनके पीछे पीछे जय जयकार करते हुए चलने लगते हैं। पर्वत के समान विशालकाय वायुनंदन

को अपनी ओर आते हुए देखकर अकंपन भीषण शर-वर्षा करने लगता है। पर मारुतनंदन उन मारण-अस्त्रों पर तनिक भी ध्यान दिए बिना पृथ्वी को कँपाते हुए उस राक्षस की ओर दौड़ पड़ते हैं। सबसे पहले हनुमान् एक महान् पर्वत-शिखर को एक हाथ में उठाकर उसे घुमाने लगते हैं। पर अकंपन उस पर्वत-शिखर को अर्ध चंद्राकार विशाल बाणों के द्वारा विदीर्ण कर देता है। फिर पवन-तनय अश्वकर्ण नाम के वृक्ष को उठा लेते हैं। उस वृक्ष को और वृक्षधारी हनुमान् को देखते ही सारे राक्षस भागने लगते हैं। हनुमान् के प्रहार की प्रचंडता देखकर अकंपन भी कंपित हो जाता है और उसके मुँह से भीषण आर्तनाद निकलता है। पर साहस बटोरकर वह चौदह बाणों से हनुमान् को घायल करने का प्रयास करता है। हनुमान् घायल तो होते हैं, पर घबराते नहीं। उनका शरीर रक्त से रंजित होता है तो वह फूले हुए अशोक वृक्ष की भांति अतिशय शोभा पाते हैं। फिर उसी वृक्ष से वीर हनुमान् राक्षसवीर अकंपन पर आघात करते हैं तो तत्काल अकंपन धराशायी हो जाता है, उसके प्राण-पखेरु उड़ जाते हैं।

महावीर हनुमान् की इस महती उपलब्धि पर श्रीराम, लक्ष्मण, सुग्रीव, विभीषण आदि उनका अभिनंदन करते हैं और देवता भी उनकी वीरता की भूरि-भूरि प्रशसा करने लगते हैं। पर रावण फिर निराशा का शिकार होता है। अकंपन को भी आंजनेय के हाथ से बुरी तरह से पराजित और प्रमापित देखकर रावण सचमुच उदास और उद्विग्न हो जाता है। अब क्या करना चाहिए, इस पर वह अपने सचिवों की सलाह माँगता है, स्वयं सारी नगरी का सर्वेक्षण कर स्थिति की गंभीरता को आंकने का प्रयास करता है। सारी नगरी शत्रु-सेना से घिरी हुई है। अब इस स्थिति में सेनाध्यक्ष प्रहस्त को छोड़कर और कोई स्थिति को संभाल नहीं सकता। इसलिए तत्काल रावण प्रहस्त को अपने पास बुलाकर कहता है:—

अहं वा कुंभकर्णो वा त्वं वा सेनापतिर्मम।
इंद्रजित् वा निकुंभो वा वहेयुर्भारमीदृशम्॥

स त्वं बलमतः शीघ्रमादाय परिगृह्य च।
विजयायाभिनिर्याहि यत्र सर्वे वनौकसः॥

प्रहस्त, तुम मेरे समर्थ सेनापति हो। अब हमारे सामने स्थिति की जो गंभीरता है उसे संभालने की क्षमता केवल चार व्यक्तियों में है। या तो मैं स्वयं यह भार वहन करूँ या मेरा भाई कुंभकर्ण करे, या तुम या मेरा बेटा इंद्रजित् अथवा कुंभकर्ण का पुत्र निकुंभ यह दायित्व निभा सकता है। इसलिए तुम यथाशीघ्र अपनी सेना लेकर विजय के लिए प्रस्थान करो।

रावण का यह आदेश प्रहस्त को पहले चकित कर देता है, फिर विवश और अंत में चिंताकुल। चकित इसलिए कि तीन तीन योद्धा जब हार चुके हैं और अपने प्राणों से हाथ धो बैठे हैं तब रावण को स्वयं ही युद्धभूमि में जाना चाहिए था और अपनी सहायता के लिए वह प्रहस्त को साथ ले जा सकता था। वरीयता क्रम में भी रावण प्रहस्त को तीसरे स्थान पर गिनाते हैं। विवश इसलिए कि राक्षस-राज की आज्ञा मानने के सिवाय और कोई विकल्प ही नहीं है और चिंताकुल इसलिए कि उसके जीवित लौट आने की आशा या संभावना नहीं के बराबर है। फिर भी प्रहस्त रावण के आदेश को मानने के लिए प्रस्तुत हो जाता है। पर रणभूमि की ओर प्रस्थान करने से पहले वह इस बात को स्पष्ट कर देता है कि अब तक उसने रावण की कृपा से जीवन में जो भी मान, सम्मान प्राप्त किया है उसके बदले में कृतज्ञता की भावना से वह इस महामेध में अपने प्राणों की आहुति देने के लिए सहर्ष प्रस्तुत है। प्रहस्त के इस कथन से स्पष्ट होता है कि वह विजय की आकांक्षा से युद्धभूमि में प्रवेश नहीं कर रहा है, बल्कि स्वामिभक्त के रूप में अपना ऋण चुकाने के लिए जा रहा है। राम-रावण युद्ध की क्रमिक परिणति में यह एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन है। यज्ञ और आहुति की भावना सर्वप्रथम प्रहस्त के मुँह से ही प्रकट होती है। यही नहीं, प्रहस्त इस कठोर सत्य की ओर भी रावण का ध्यान आकृष्ट करता है कि युद्ध से पहले सचिवों से मंत्रणा करते समय यह बात स्पष्ट कर दी गई कि मैथिली को लौटाने में ही सब का कल्याण है,

अन्यथा युद्ध अवश्यंभावी है। पर यह बात प्रहस्त ने नहीं कही थी। विभीषण जैसे विवेक-संपन्न व्यक्तियों ने यह कहा था, पर प्रहस्त यहाँ पर इस बात को अपनी ही बात कह कर स्मरण दिलाता है। जो भी हो, युद्ध के लिए प्रस्थान करने वाला प्रहस्त और प्रेषित करने वाला रावण-दोनों भलीभांति जानते हैं कि यह विजय-यात्रा नहीं है, विवश यात्रा है। इसीलिए रावण भी संकोच और संशय की भाषा में कहता हैः–

आपत्संशयिता श्रेयो नात्र निःसंशयीकृता।
प्रतिलोमानुलोमं वा यत्तु नो मन्यसे हितम्॥

जीवन-मरण हमारे हाथ में नहीं हैं। पर मरण वही वरणीय है जो आपत्कालीन अवस्था में जोखिम उठाकर प्राप्त किया जाता है। निरापद और निःसंशय मृत्यु उल्लेखनीय नहीं होती है। इस दृष्टि से तुम ही सोच समझकर बताओ कि किसमें हमारा हित है और किसमें नहीं है।

पर हित-अहित की बात सोचने का समय कभी का बीत चुका है। अब तो फल भोगने का समय आ चुका है। इसीलिए प्रहस्त रावण को प्रणाम कर प्राणदान के लिए अपने मन को तैयार कर रणभूमि की ओर प्रस्थान करता है। प्रहस्त के साथ उनके चार सचिव – नरांतक, कुंभहनु, महानाद और समुन्नत – उसके रक्षक बनकर चलते हैं। अब की बार सारी सेना अग्निदेव की आराधना करके ही निकलती है। सारी नगरी में घी की सुगंध से भरी हवा बहने लगती है। मंत्रवेत्ता ब्राह्मणों का आशीर्वाद लेकर सभी योद्धा घर से निकलते हैं। रणभेरी बज उठती है। यमराज की तरह प्रहस्त समस्त सेना का संचालन करते हुए आगे बढ़ता है। हमेशा की तरह अपशकुन भी अपने सान्निध्य से साज-सज्जा को समग्रता का रूप देते हैं। प्रहस्त के सारथी के हाथ से बार बार चाबुक गिर जाता है। उसके घोड़े भी समतल प्रदेश में भी लड़खड़ाकर गिर पड़ते हैं। प्रहस्त के मुख की शोभा भी अचानक नष्ट हो जाती है। फिर भी रण-यात्रा आगे बढ़ती है।

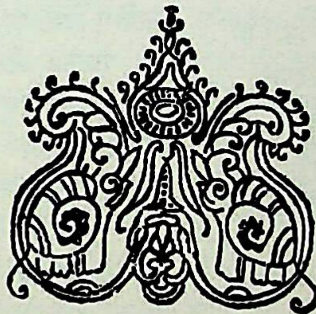
कुछ ही देर में पत्थरों और बाणों की वर्षा से रणभूमि भयंकर रूप धारण करती है। दोनों तरफ के अनेक वीर हताहत हो जाते हैं। प्रहस्त के चारों सचिवों में से एक भी नहीं बचता है। द्विविद ने पर्वत शिखर से नरातंक को मार गिराया तो कुंभहनु को तार ने विशाल वृक्ष के नीचे क्षतविक्षत कर दिया। जांबवान् ने एक बड़ी शिला के प्रहार से महानाद को आर्तनाद के साथ समाप्त कर दिया तो समुन्नत को दुर्मुख ने विशाल और विकराल द्रुमराज के नीचे कुचल डाला। इस प्रकार चारों सचिवों के समाप्त हो जाने पर प्रहस्त नील पर आक्रमण करता है।

नील तो अग्निदेव के आत्मज हैं। इसलिए प्रहस्त के सभी शरों की प्रखर से प्रखर अग्नि को वह आँख मूँदकर निगल लेते हैं। प्रहस्त इस रहस्य को समझ नहीं पाता। उसके सारे अस्त्र और शस्त्र नील को तनिक भी प्रभावित नहीं कर पाते। प्रहस्त आज रणभूमि की ओर प्रस्थान करने के पहले अग्निदेवता की विशेष आराधना करके निकला है। पर यहाँ पर साक्षात् अग्निदेव का पुत्र ही विराजमान है। वह आया भी पूर्वी द्वार से जहाँ पर नील का आधिपत्य है। इसलिए नील को पराजित करने के उसके सारे प्रयास व्यर्थ हो जाते हैं। यदि वह किसी दूसरे द्वार से आ जाता तो बात कुछ और हो जाती। पर संयोग से वह नील द्वारा सुरक्षित पूर्वी द्वार से ही भीतर आया है, इसलिए अब उसके जीते जी बाहर निकलने की संभावना कम दिखाई दे रही है।

नील भी बड़ी चतुराई से काम लेते हैं। प्रहस्त के सारे प्रहार वह चुपचाप ग्रहण कर लेते हैं और बड़ी सुगमता के साथ उनको आत्मसात् कर लेते हैं क्योंकि अग्नि का प्रभाव अग्नि पर नहीं पड़ सकता। अंत में एक बहुत बड़ी शिला को उठाकर वह प्रहस्त के मस्तक पर ज़ोर से पटक देते हैं जोकि तत्काल प्रहस्त के मस्तक को कुचल कर टुकड़े टुकड़े कर डालती है। उसके प्राण-पंखेरु उड़ जाते हैं। उसका तेज शांत हो जाता है। उसका पराक्रम समाप्त हो जाता है। जैसे ही

प्रहस्त युद्धभूमि में निश्चेष्ट और निष्प्राण होकर गिर जाता है, सारी राक्षस-सेना भयभीत होकर लंका की ओर पलायन कर जाती है।

इधर विजयी नील का अभिनंदन होता है। नील के लोकोत्तर साहस और सामर्थ्य पर लोकाभिराम भी परम प्रसन्न होते हैं।



69. शर-स्पर्श का पहला अनुभव

पहली रण-यात्रा में जब चार प्रख्यात वीर पराजित होकर अपने प्राण विसर्जित कर देते हैं तो राक्षसराज रावण को बड़ी गंभीरता के साथ सोचना पड़ता है। क्रोध और शोक के वशीभूत होकर दशकंधर तदनंतर कर्तव्य के बारे में निर्णय करने के लिए प्रमुख सैनिकों को आमंत्रित कर उनसे कहता है कि अब शत्रुसेना को साधारण समझकर उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए क्योंकि इंद्र की सेना का भी संहार करने में समर्थ वीर योद्धाओं को इन वानरों ने रणभूमि में मार गिराया है। इसलिए मैं स्वयं जाकर समस्त वानर-सेना को पराजित करूँगा और राम-लक्ष्मण को अपने शरानल से भस्म कर दूँगा।

ध्यान देने की बात यह है कि रावण ने परामर्श के लिए अपने परिजनों को बुलाया है, पर विचार-विमर्श कुछ भी नहीं हुआ। केवल रोषावेश में आकर उसने अपना निर्णय सुनाया है। इससे पता चलता है कि उसका मन कितना क्षुब्ध और विक्षिप्त था। शत्रुसैन्य के रक्त से पृथ्वी का संतर्पण करने का दृढ़ संकल्प लेकर रावण रणभूमि की ओर प्रस्थान करता है। जब राक्षस-शिरोमणि स्वयं रण-यात्रा की ओर प्रस्थान कर रहा है तो उसके साथ साथ प्रधान वीर भी चल पड़ते हैं। रावण का रथ और शरीर दोनों प्रज्वलित वह्नि के समान देदीप्यमान हो रहे थे। असंख्य सेना और प्रख्यात वीरों से परिवेष्टित रावण भूतगणों से परिवारित महादेव रुद्र की तरह प्रतीत हो रहा था। नगर से बाहर निकलते ही सागर की उत्तुंग तरंगों की भांति उद्वेलित और घने घने बादलों की तरह गरजनेवाले वानर-वीर रावण को सामने दिखाई देते हैं। रावण की रण-यात्रा का दृश्य राम को भी आकृष्ट करता है। अपने आप्त मित्र विभीषण से वह पूछते हैं कि यह विशाल सेना किसकी है। विभीषण पहले प्रमुख वीरों का परिचय कराते हैं जिनमें अकंपन, इन्द्रजित्, अतिकाय, महोदर, पिशाच, त्रिशिरा, कुंभ, निकुंभ, नरांतक और स्वयं रावण सम्मिलित हैं। इनमें से अंकपन हनुमान् द्वारा अभी अभी मारे गए राक्षस से भिन्न है। इसी प्रकार त्रिशिरा जनस्थान में निहत त्रिशिरा से भिन्न है। नरांतक भी पहले आए नरांतक से भिन्न है। एक ही नाम के एक से अधिक राक्षसों का होना स्वाभाविक है। इसलिए विभीषण काफी विस्तार के साथ प्रत्येक के बल, पराक्रम और प्रभाव का वर्णन करते हैं। रावण का वर्णन करते समय भी विभीषण किसी प्रकार के रोष, आवेश, आक्रोश या दुराग्रह को अपने मन में स्थान न देकर निरपेक्ष और निश्चयात्मक चित्र राम के सामने प्रस्तुत करते हैं। समदर्शी राम भी रावण को एक समर्थ सहयोद्धा के रूप में स्वीकार करते हैं। रावण के तेज, पराक्रम और वैभव को देखकर राम सचमुच प्रभावित हो जाते हैं और मुक्त कंठ से अपने शत्रु की प्रशंसा करते हुए कहते हैंः—

अहो दीप्तमहातेजा रावणो राक्षसेश्वरः।
आदित्य इव दुष्प्रेक्ष्यो रश्मिभिर्भाति रावणः॥

यह राक्षसराज रावण सचमुच विलक्षण तेज से देदीप्यमान है। कांति की किरणों से परिवेष्टित इसका

मुख-मंडल सूर्य-मंडल के समान जगमगाता प्रतीत होता है। इसलिए इसको ठीक ठीक देखा भी नहीं जा सकता।

अपनी पत्नी का अपहरण करनेवाला शत्रु जब पहली बार सामने आता है तब उसके निसर्ग तेज की इस प्रकार प्रशंसा करना केवल राम जैसे ऋृषि-तपस्वी के लिए ही संभव है। शत्रुता के कारण से शत्रु के पराक्रम को अलग करके देखना नियतात्मा राम के निग्रह और अनुग्रह का परिचायक है। पर सत्यपराक्रम राम की दृष्टि इतनी संतुलित और सजग है कि शत्रु की प्रशंसा करने के बाद दूसरे ही क्षण उसके अक्षम्य अपराध की भी निंदा करते हुए वह कहते हैंः।

दिष्टयायमद्य पापात्मा मम दृष्टिपथं गतः।
अद्य क्रोधं विमोक्ष्यामि सीताहरण संभवम्॥

सौभाग्य से आज यह पापी मेरी आंखों के सामने आ गया है। सीता के अपहरण से मेरे मन में अब तक इस दुरात्मा के प्रति जो क्रोध घनीभूत होता रहा, उसको मैं आज इस पर बरसा दूँगा।

यह कहकर महाबली राम हाथ में धनुष-बाण लेकर युद्ध के लिए सन्नद्ध होकर रणभूमि में खड़े हो जाते हैं और साथ में लक्ष्मण भी आवश्यक तैयारी के साथ अग्रज की सेवा में प्रस्तुत हो जाते हैं।

रावण के मन में अचानक एक आशंका उत्पन्न होती है कि कहीं लंका को प्रमुख राक्षसवीरों से शून्य पाकर वानर-वीर सहसा नगर पर आक्रमण न कर बैठें। इसलिए वह अपने साथ आए इंद्रजित्, कुंभ, निकुंभ आदि को नगर की सुरक्षा के लिए वापस भेज देता है। उसके बाद अकेले ही शत्रुसेना पर आक्रमण करने के लिए रणभूमि में उसी प्रकार प्रवेश करता है जैसे कोई महामत्स्य विशाल सागर में घुस जाता है। सबसे पहले सुग्रीव और रावण की मुठभेड़ होती है। रावण को देखते ही सुग्रीव एक भारी पर्वत-शिखर उठाकर रावण पर आक्रमण करते हैं। पर रावण अपने तीखे वाणों से उस पर्वत-शिखर को चूर चूर कर देता है। इससे रावण का मनोबल बढ़ जाता है। तुरंत वह एक ऐसा भंयकर बाण सुग्रीव को लक्ष्य कर छोड़ता है जो महासर्प और महाकाल के समान प्राणांतक है और जिससे आग की चिनगारियां बिखरकर प्रचंड ज्वाला को प्रसारित करती हैं। जैसे ही यह तीर सुग्रीव के शरीर को चीरकर चला जाता है, वानर-राज सुग्रीव अचेत होकर धरती पर गिर पड़ते हैं। रावण की इस पहली सफलता को देखकर सभी राक्षस अत्यंत हर्ष के साथ सिंहनाद करने लगते हैं। पर गवाक्ष, गवय, सुषेण, ऋषभ, ज्योतिर्मुख, नल आदि विशालकाय वानर बड़े बड़े पर्वत-शिखरों को उठाकर राक्षसराज पर आक्रमण करते हैं। जब रावण अपनी शर-वर्षा से सभी प्रमुख वानरों को घायल कर देता है तो सभी वानर ज़ोर ज़ोर से चिल्लाते श्रीराम के पास जा पहुँचते हैं।

अब श्रीराम को पहल करने का अवसर मिलता है। जब धुनष बाण लेकर वह रणभूमि में रावण की ओर आगे बढ़ने के लिए तैयार होते हैं तो रामानुज यह काम स्वयं करने के लिए अपने अग्रज की अनुज्ञा माँगते हैं। सत्यपराक्रम राम उत्साही लक्ष्मण को प्रोत्साहित करते हुए रणभूमि में जाकर रावण का सामना करने की अनुमति देते हैं, पर रावण की दुर्जेयता के सम्बन्ध में उनको सतर्क करते हैं। आत्मबल और परदोष के अतिरिक्त निजदोष और परबल पर भी ध्यान देकर विजयी बनकर लौटने का आशीर्वाद पाकर भरतानुज भरताग्रज का अभिवंदन कर रावण की ओर बढ़ते हैं। जिस समय लक्ष्मण की दृष्टि रावण के भीषण बाणों से पीड़ित वानर-वीरों की ओर आकृष्ट होती है, लगभग उसी समय महावीर हनुमान् भी शत्रुरावण रावण को कपिपुंगवों पर आक्रमण करते हुए देखते हैं। उनकी दृष्टि लक्ष्मण की ओर भी जाती है। रावण की रणतीव्रता को निष्क्रिय करने के लिए उद्यत रामानुज लक्ष्मण और रामदूत हनुमान् एक दूसरे को देखकर अपने नयनों की वाणी में यह निर्णय लेते हैं कि पहले हनुमान् अपनी ओर से प्रस्थान करें और बाद में आवश्यक होने पर लक्ष्मण भी रण में प्रवेश करें।

तदनुसार हनुमान् अपनी दाहिनी बाँह को ऊपर उठाकर रावण की ओर दौड़ते हैं तो रावण हनुमान् का आशय समझकर उनको प्रहार के लिए आत्मविश्वास के साथ आमंत्रित करते हुए कहता है "आ जा आंजनेय, आ जा, अपनी शक्ति दिखा जा, तेरी शक्ति की सीमा पहचानकर फिर मैं तुझे अपनी मुष्टि का स्वाद चखा दूँगा।" रावण की बात सुनकर पवन-पुत्र अपनी पहले की लंका-यात्रा में रावण के पुत्र अक्षकुमार के वध का स्मरण दिलाते हैं। हनुमान् बात ही बात में इस बात की ओर भी रावण का ध्यान आकृष्ट करते हैं कि तुमने ब्रह्मा से अवध्यता का वर अवश्य प्राप्त किया है, पर वानरों के लिए तुम अवध्य नहीं हो। ये दोनों बातें रावण के लिए घातक और अपमानजनक हैं। इसलिए तीसरी बात की अपेक्षा किए बिना ही क्रोधी रावण हनुमान् की छाती में मुक्का जड़ देता है। इस मुक्के की चोट से हनुमान् अवश्य चक्कर काटने लगते हैं, पर अपने तेज के बल पर तत्काल होश में आकर मुक्के का जवाब मुक्के से देते हैं। रामदूत हनुमान् का प्रथम प्रहार पाकर रावण भूचाल से हिल उठने वाले पर्वत की तरह काँप उठता है। यह अद्भुत दृश्य देखकर अंतरिक्ष में महर्षि, देवता और सिद्ध प्रसन्नता से हर्ष ध्वनि करते हैं। यहाँ तक कि रावण भी स्वयं महावीर हनुमान् की प्रहारशक्ति की प्रशंसा करता है। पर रावण की प्रशसा को स्वीकार करने में संकोच करते हुए आत्मवान् हनुमान् कहते हैं— "मेरे पराक्रम की प्रशंसा करना व्यर्थ है क्योंकि तुम्हारा अभी तक जीवित रहना मेरे पराक्रम की निरर्थकता का द्योतक है।" हनुमान् की इस बात पर कुपित होकर रावण एक बार फिर पूरा ज़ोर लगाकर दाहिने हाथ से हनुमान् की छाती पर प्रहार करता है। इससे हनुमान् को विचलित देखकर महारथी रावण सेनाध्यक्ष नील पर आक्रमण करने के लिए आगे बढ़ता है। यह तो केवल बहाना था-हनुमान् के अग्रेसर आतंक से अपने को बचाने के लिए। यह बात हनुमान् भी भलीभांति जानते हैं। पर अपनी ओर से भी शालीनता का परिचय देते हुए समर-तंत्र के सम्यग् ज्ञाता वातात्मज कहते हैं कि अब चूंकि तुम दूसरे योद्धा के साथ युद्ध कर रहे हो, इसलिए तुम पर धावा करना न्याय-सम्मत नहीं है।

अब रावण का पूरा ध्यान अग्निपुत्र नील पर केंद्रित होता है। अग्निपुत्र भी पवनपुत्र से कम भंयकर नहीं हैं। सबसे पहले एक पर्वतशिखर को लेकर वह रावण पर आक्रमण करते हैं, पर रावण उसे बड़ी आसानी से तोड़ देता है। फिर विशालवृक्षों को लेकर नील रावण की ओर चल पड़ते हैं तो उनको भी रावण क्षण भर में क्षत-विक्षत कर देता है। अब रावण आत्मरक्षा की अवधि को पार कर नील पर ही शर-वर्षा करने का प्रयास करता है। पर नील पर उस शर-वर्षा का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ऐसा लगता है कि पर्वत पर सुखद शीतल वर्षा हो रही है। फिर नील अपने आकार को छोटा करके रावण की ध्वजा पर जा बैठते हैं और कभी धनुष पर और कभी रावण के मुकुट पर आराम से बैठकर सबको चकित कर देते हैं। राम और लक्ष्मण भी नील के इस रूप-लाघव पर आश्चर्य चकित हो जाते हैं और रावण बिचारा इतना परेशान कि उसकी समझ में नहीं आता कि अब क्या किया जाए, इतने छोटे जीव से कैसे लड़ा जाए। नील के अनुयायी वानरवीर इस मनोरंजक दृश्य को देखकर तालियाँ बजाने लगते हैं। इससे रावण और विचलित होकर आग-बबूला हो जाता है और ध्वजा पर बैठे हुए नील को निमीलित नेत्रों से देखने का प्रयास करता है। बार-बार वह आग्नेयास्त्र का प्रयोग करता है, पर आग्नेयास्त्र तो अग्निपुत्र के लिए आत्मीय आनंद का आकर है। सर्वास्त्र-विशारद रावण अंत में एक ऐसे अस्त्र की सृष्टि कर नील को मार गिराने का प्रयास करता है जिससे नील की छाती पर आघात तो लगता है, पर पिता की वात्सल्यमयी भावना के बल पर वह अपने प्राणों को परिरक्षित कर लेते हैं। अस्त्र की मर्यादा रखने के लिए वह केवल पृथ्वी पर घुटने टेक देते हैं। इतने से संतुष्ट होकर निरुपाय रावण अब अपनी दृष्टि सौमित्रि पर प्रसारित करता है।

तलस्पर्श, तरुस्पर्श, अचलस्पर्श आदि चित्र-विचित्र अनुभूतियों से आतंकित होकर रावण सोचता है कि

इन वानरों को छोड़कर अब नरों के साथ जूझें। राम और लक्ष्मण को नर और हनुमान्, नील आदि को वानर समझने में ही रावण की सबसे बड़ी गलती हुई है। अब वह अपनी गलती धीरे धीरे महसूस कर रहा है। आरंभ में केवल सुग्रीव को अचेत करने में उसे थोड़ी सी सफलता मिली, पर बाद में हनुमान् और नील से वह निपट नहीं पाया, इसीलिए अब लक्ष्मण की तरफ उसका ध्यान जा रहा है।

अपने धुनष की टंकार सुनाते हुए जब रावण लक्ष्मण की ओर बढ़ने लगता है तो शक्तिशाली लक्ष्मण अपने पराक्रमी शत्रु का स्वागत करते हुए कहते हैं– "निशाचरों के स्वामी को वनेचरों के साथ युद्ध करना शोभा नहीं देता। अब मैं तुम्हारी सेवा में उपस्थित हूँ। आ जा, अपने आपको आजमा ले।" लक्ष्मण की इस व्यंग्य भरी वाणी से रावण का रोष बढ़ जाता है। वह लक्ष्मण को प्राण-हानि की धमकी देते हुए कहता है– "आज मेरे सामने आकर तुम सुरक्षित और सजीव वापस नहीं जा सकते।" इस पर लक्ष्मण कहते हैं कि राजा लोग इस प्रकार व्यर्थ नहीं गरजते हैं, इसलिए बेकार की बातें छोड़कर अपने बल-पराक्रम का परिचय दो।

अब बातों के आघात से बाणों के आघात की ओर रावण और रामानुज का समरायन अग्रसर होता है। सबसे पहले रावण ही लक्ष्मण पर सात बाण छोड़ता है जिनको लक्ष्मण तत्काल अपने तीखे तीरों से छिन्न भिन्न कर देते हैं। फिर उनसे भंयकर बाणों का रावण प्रयोग करता है, पर लक्ष्मण उनसे भी विचलित नहीं होते, बल्कि रावण पर शर-वर्षा करने लगते हैं। लक्ष्मण का शर-लाघव देखकर राक्षसराज चकित हो जाता है। इस प्रकार पर्याप्त समय तक दोनों वीर एक दूसरे पर घोर से घोरतर शर-परंपरा का पुंखानुपुंख प्रयोग कर एक दूसरे की शक्ति को आजमाने का प्रयास करते हैं। इस शर-संघर्ष में रावण का धनुष टूट जाता है और उसका सारा शरीर रक्तसिक्त हो जाता है। अन्त में वह लाचार होकर ब्रह्मा की दी हुई शक्ति उठा लेता है और जलती हुई शक्ति को लक्ष्मण की छाती पर शर-वेग से चलाता है। भरत के छोटे भाई लक्ष्मण ने अपनी ओर बढ़ती हुई उस शक्ति को तीव्र बाणों से विदीर्ण करने का भरसक प्रयास किया, पर अंततः वह महोग्र शक्ति लक्ष्मण के विशाल वक्षस्थल पर आ गिरती है। शक्तिशाली लक्ष्मण को शक्ति से आहत और निश्चेष्ट देखकर रावण परम प्रसन्न होता है और उसी अर्धचेतन अवस्था में लक्ष्मण को अपनी बाँहों पर उठा लेने का प्रयास करता है। पर ब्राह्मी लक्ष्मी से संपन्न सुमित्रानंदन ब्राह्मी शक्ति के सामने सिर तो झुका लेते हैं, पर अपनी प्राणशक्ति पर पूरा नियंत्रण रखते हैं। इसीलिए जिस रावण ने मेरु पर्वत, मंदर और हिमालय को अपने कंधो पर उठा रखा था, वह लक्ष्मण को अपनी बाँहों से उठा नहीं पाता है।

पवनपुत्र हनुमान् लक्ष्मण को शक्ति से प्रपीडित देखकर तत्काल रावण पर भीषण मुष्टिप्रहार करते हैं। महावीर के कराघात से रावण का सिर चकरा जाता है और वह घुटनों के बल पर धरती पर गिर पड़ता है। रथ पर बैठे बैठे रावण के मुँह से रक्त की धारा बहने लगती है और वह चक्कर काटता हुआ रथ के पीछे जाकर पछाड़ खाकर गिर पड़ता है। इस प्रकार हनुमान् ने जिस प्रहार को नील के साथ जूझनेवाले रावण के लिए उठा रखा था, उसका अब सदुपयोग हो जाता है। भीम पराक्रमी रावण को निस्संज्ञ और महाबली मारुतनंदन को विजयी देखकर समस्त वानर और राक्षस भी चकित हो जाते हैं। सबके देखते ही देखते पवनतनय सुमित्रानंदन को अपने दोनों हाथों से उठाकर श्रीराम के पास ले जाते हैं। रामविरोधी रावण के लिए लक्ष्मण का जो शरीर मेरुपर्वत से भी भारी बन गया था, वह रामभक्त हनुमान् के लिए फूलों का गुच्छा बन जाता है जिसको अपने स्वामी के श्रीचरणों में समर्पित कर समीरकुमार कृतकृत्यता का अनुभव करते हैं।

अब रावण एकदम राम के आमने सामने है। इस बीच में रावण द्वारा प्रयुक्त शक्ति अपना कार्य समाप्त कर फिर रावण के रथ पर पहुँच जाती है। रावण भी अपने को सँभाल कर युद्ध के लिए फिर से सन्नद्ध हो

जाता है। लक्ष्मण में भी चेतना आ जाती है। पर अब लड़ने की बारी राम की है और राम का रथ बनकर स्वयं उनको वहन करने का सौभाग्य प्राप्त करने के लिए हनुमान् अत्यंत उत्सुक हैं। हनुमान् का आशय समझकर राम तुरंत उन की बाँहों पर जा बैठते हैं। गरुड पर आरूढ विष्णु की भांति हनुमान् पर विराजमान धनुर्धारी राम सामने रमणीय रथ पर बैठे रावण को देखते हैं। अब तक रावण नर-वानर की सामरिक शक्ति का खूब परिचय पा चुका है और हर मोर्चे पर वह अपनी जान बचाकर भागने का ही प्रयास करता रहा। वह सबको पराजित अवश्य करता रहा, पर जो भी पराजित था, वह न तो भागा और न प्राण गँवाये। अब वह राम के सामने आकर खड़ा है या यह कहना चाहिए कि साक्षात् यमराज की भांति स्वयं राम ही उसके सामने आ खड़े हैं और उनके साथ वीर हनुमान् भी हैं। ऐसी दशा में रावण का आतंकित होना स्वाभाविक है और अपने प्राणों की रक्षा के लिए भागने का प्रयास भी करने लगे तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। रावण की मुखमुद्रा देखने पर राम को इसी बात का संदेह होता है इसीलिए वह रावण को धिक्कारते हुए कहते हैं:—

तिष्ठ तिष्ठ मम त्वं हि कृत्वा विप्रियमीदृशम्।
क्व नु राक्षसशार्दूल गत्वा मोक्षमवाप्स्यसि॥

"अपने राक्षसों के बीच अपने को बाघ मानकर चलने वाले बहादुर, ठहर, ठहर। मेरे साथ तूने जो तुच्छ व्यवहार किया है उसका फल चख ले। तू कहीं भी जा, मुझसे छुटकारा नहीं पा सकेगा।"।

श्रीराम के ये वचन राक्षसराज रावण को तीखे बाणों से भी अधिक तीखे लगते हैं। उसे भी मालूम है कि नर-वानर के सत्यजाल में अब वह बंदी हो चुका है। साक्षात् इंद्र, यम, सूर्य, ब्रह्मा, अग्नि या स्वयं शंकर भी अब उसकी रक्षा नहीं कर पाएँगे। उन सबका वरदान अब तक उसको संबल प्रदान करता रहा। पर नर-वानर उसके वरदान की परिधि से बाहर हैं और अब दैवयोग से उन्हीं से उसका वास्ता पड़ रहा है। इस स्थिति की कभी उसने कल्पना तक नहीं की थी। इसीलिए सत्यपराक्रम राम के ये वचन कटु सत्य के कठोर प्रहार की भांति रावण के अंतरांतर को असहनीय पीड़ा पहुँचाते हैं। फिर भी उसे लड़ना है, इसीलिए लड़ रहा है।

त्रस्त रावण को और अधिक भयभीत करते हुए वनवासी राम जनस्थान में हुए घोर राक्षसवध का स्मरण कराते हैं। इस पर रावण अपने मनोबल के साथ साथ रणमर्यादा को भी खो बैठता है। वह रोष से इतना विचलित हो जाता है कि उसको यह भी मालूम नहीं हो रहा है कि उसे किससे लड़ना है। सामने राम युद्ध के लिए ललकार रहे हैं और हनुमान् केवल इनका वहन कर रहे हैं। पर मूर्ख रावण राम पर तीर चलाने के बजाय हनुमान् पर चलाने लगता है। यह सही है कि हनुमान् के साथ रावण की पुरानी शुत्रता थी और अभी अभी कंपिपुंगव के तलस्पर्श से पीड़ित हो चुका है। पर हनुमान् से शत्रुता इसलिए हुई क्योंकि उससे पहले निरपराध राम से शत्रुता मोल ली गई थी। इसलिए प्रथम शत्रुता राम से है और पवनपुत्र केवल प्रासंगिक शत्रु हैं। जो भी हो, सामने दिखे समीर-कुमार पर प्रहार करने की उसे सूझी, और उसने प्रहार किया। प्रहार अत्यंत घातक था, पर हनुमान् ने अपने आत्मतेज से उसको रोक दिया और अपने को संभाल लिया।

अब राम असमंजस में हैं। रावण ने उन पर सीधा प्रहार नहीं किया था। फिर प्रतिप्रहार उस पर कैसे किया जाए। यदि प्रतिप्रहार करना है तो पवनपुत्र को करना है। पर हनुमान् राम को वहन कर रहे हैं, इसलिए वह हाथ नहीं उठा सकते। क्षणभर में इन सब बातों पर सोच-विचार कर महामति राम अपने अमोघ शरों से रावण के रथ को अश्वों, चक्रों, शूलों, खड्गों, छत्रों आदि समस्त साधन समेत पलभर में तिलतिल करके काट डालते हैं। रावण के प्रहार का यह एकदम न्याय सम्मत प्रतिप्रहार बन जाता है। इसके बाद रथ, सारथी, ध्वजा, चामर, आयुध आदि से रिक्त रावण पर वज्र तुल्य बाणों का प्रयोग कर श्रीराम उस की छाती पर घातक प्रहार करते हैं जैसे इंद्र मेरु-पर्वत पर वज्र

का प्रयोग करता है।

श्रीराम का यह प्रहार रावण के लिए सबसे प्रबल, प्राणांतक और उससे भी अधिक मर्मांतक सिद्ध होता है। प्रहार की मात्रा में थोड़ी और प्रबलता हो जाती तो रावण के प्राण तत्काल उसके शरीर को छोड़ कर चले जाते। पर मर्यादा पुरुषोतम राम अपने प्रहार को भी मर्यादित बनाए रखते हैं। शत्रु का प्राणहरण करना उनका तात्कालिक लक्ष्य नहीं है, पर शत्रु को सतर्क और सजग बनाकर उसके भीतर के पाप को धो डालना उनका आशय है। इसीलिए राम का यह बाण रावण के प्राणों को विचलित अवश्य करता है, पर शरीर से इनको अलग नहीं करता। इतनी सतर्कता, सावधानी और सदाशयता से शर-संधान करनेवाले कुशल कोदंडधारी राम का शर-स्पर्श रावण को एकदम अंतरतम से विचलित कर देता है। जिस रावण को वज्रपात जैसे भंयकर आघात भी न क्षोभ दे सके और न विचलित कर सके, वह राक्षसराज रावण राम-बाण का प्रथम प्रहार प्राप्त करते ही अपने स्थान से तुरंत हट जाता है, भीतर ही भीतर एक प्रकार की अशांति, अस्थिरता और असुरक्षा का अनुभव करने लगता है और उसको पता तक नहीं चलता कि उसका धनुष उसके हाथ से अचानक खिसककर ज़मीन पर गिर गया है। यह था सीतापति राम के शर-स्पर्श का पहला अनुभव जो रावण को अरावण और अविराम बना देता है। इस अनुभूति का वर्णन वाल्मीकि की स्वर-विभूति ही सही ढंग से कर पाती है। कवि के शब्द हैं:–

यो वज्रपाताशनि सन्निपातात्
न चुक्षुभे नापि चचाल राजा।
स राम बाणाभिहतो भृशार्तः।
चचाल चापं च मुमोच वीरः॥

रावण के जीवन में पहले कभी भी पराजय अथवा पराभव की इस प्रकार की अनुभूति नहीं हुई। इसलिए वह स्तब्ध रह जाता है, उसकी प्राणशक्ति लगभग समाप्त हो चुकी होती है। इसके पश्चात् कार्यकुशल राम अर्ध चंद्राकार बाण का प्रयोग कर रावण का किरीट भी नीचे गिरा देते हैं–केवल यह बताने के लिए कि पापी के पाप का यही परिणाम होता है और निकट भविष्य में यही होने वाला है।

यहाँ तक रावण की पराजय का ही दृश्य सामने आता है। अब पराभव को भी घटित करने के लिए दयामय राम अपनी दया का प्रयोग करते हैं। अब राम चाहते तो रावण की जीवन-लीला पल भर में समाप्त कर सकते थे क्योंकि रावण रणभूमि में हतप्राय, निश्चेष्ट, निर्वीय और निरुपाय खड़ा है। पर शालीनता और सश्रीकता की प्रतिमूर्ति राम रावण को अयाचित क्षमा प्रदान करते हुए कहते हैं– बस, आज के लिए इतना पर्याप्त है। तुम बहुत थक गए हो। थके हुए योद्धा से युद्ध करना न्यायसम्मत नहीं है। अब तुम घर जाकर विश्राम करो और कल पूरी तैयारी के साथ आओ।

करुण-लोचन राम के ये वचन रावण के लिए कर्ण कठोर बन गए होंगे। पर उसके सामने कोई विकल्प नहीं था-सिवाय इसके कि वह चुपचाप सारा अपमान सहकर, प्रथम दिन की रण-यात्रा में पराजय स्वीकार कर अंतःपुर में विश्राम करे या युद्ध विराम घोषित करे।

श्रीराम की इस सामरिक, सात्विक और नैतिक विजय पर वानरसेना सहित सभी ऋृषि-मुनि, सिद्ध, गंधर्व और चारण और समस्त देवता परम हर्ष प्रकट करते हैं। आत्मवान् की यह विजय सर्वात्मना आत्मा की विजय है।



70. निद्रानिधि का नेत्र-निमीलन

दशरथनंदन के दहरांतक शर-स्पर्श से दशकंधर इतना त्रस्त और संभ्रांत हो जाता है कि वह निर्णय नहीं कर पाता कि अब क्या किया जाए। तदंनतर कर्तव्य पर विचार-विमर्श करने के लिए वह अपने सचिवों को आमंत्रित तो करता है, पर उनमें से कोई भी कुछ कहने की स्थिति में नहीं होता क्योंकि स्थिति वास्तव में बहुत गंभीर है। जब रावण द्वारा चुन चुन कर पहली रणयात्रा में भेजे गए चार वीरों में से कोई भी सजीव वापस नहीं आया और स्वयं लंकेश्वर निर्लज्ज और निंदनीय दशा में अपनी जान बचाकर वापस आया है तब कौन अपने प्राणों को जोखिम में डालकर रणभूमि में जाने को तैयार होगा? रावण की दृष्टि में इस समय केवल दो ही वीर समर्थ हैं- भाई कुंभकर्ण और बेटा इंद्रजित्। स्वाभाविक ममता के कारण वह इंद्रजित् को अभी इस साहसपूर्ण कार्य के लिए भेजना नहीं चाहता। इसलिए कुंभकर्ण को यह दायित्व सौंपने का वह लगभग निर्णय कर लेता है। पर कुंभकर्ण छह महीने सोता है तो एक दिन जाग्रदवस्था में रहता है। अभी नौ दिन पहले वह रावण को कुछ सलाह देकर शयूयागृह में पहुँच चुका है। फिर भी उसे जगाया जा सकता है क्योंकि अभी इस विपत्ति के समय वह काम नहीं आया तो आगे किस काम का। इसलिए रावण अपने भाई कुंभकर्ण को जगाने का आदेश दे देता है। राजा की आज्ञा पाकर सैंकड़ों राक्षस निद्रा-धनी कुंभकर्ण को जगाने जाते हैं क्योंकि उसे निद्रा की अवधि के बीच में जगाना आसान काम नहीं है और खतरे से भी खाली नहीं है।

इस बीच में रावण के मन में कई विचार आते हैं, कई बातें याद आती हैं और कई आशंकाएँ उठती है। एक तो ब्रह्मा से वरदान माँगते हुए उसने देव, गंधर्व, यक्ष, किन्नर, पन्नग आदि से अवध्य होने का वर माँगा था, पर नर और वानर उसके ध्यान से रह गए थे। जिनको सुजेय मानकर उसने उपेक्षा की थी, वही अब दुर्जेय बन बैठे हैं और उन्हीं के हाथों मृत्यु आसन्न दिखाई भी दे रही है। इसके अलावा, इक्ष्वाकुवंश के राजा अनरण्य ने रावण को शाप दिया था कि उन्हीं के वंशज के हाथों उसकी मृत्यु होगी। हो सकता है, यह दशरथनंदन राम ही वह मृत्यु-कारक बन आया हो। वेदवती के साथ बलात्कार करने पर उस साध्वी स्त्री ने भी रावण को यह शाप दिया था कि एक स्त्री के कारण तुम्हारी मृत्यु होगी। संभवतः रामपत्नी सीता ही वह स्त्री बनकर आई हो जिसको जानबूझ कर रावण स्वयं अपने घर ले आया है। इसके अलावा पार्वती, नंदीश्वर, रंभा, वरुण कन्दका आदि ने रावण को शाप दिए थे। इन सभी घटनाओं का परिणाम अब प्रत्यक्ष हो रहा सा प्रतीत हो रहा है। यह आत्म-बोध कुछ पहले हो जाता तो इतना अनर्थ नहीं होता- संभवतः यही विचार रावण की राजसभा में आमंत्रित सचिवों के मन में भी संचरण कर रहा होगा क्योंकि सब लोग रावण की ये बातें चुपचाप सुनते जा रहे हैं और कुछ नहीं बोल रहे हैं। सभी सैनिक अधिकारियों को सावधान और सतर्क रहने का आदेश देकर रावण सभा को विसर्जित कर देता है। अब निद्रा-निधि कुंभकर्ण के नेत्रोन्मीलन की प्रतीक्षा है। रावण को पूरी

आशा है कि यदि कुंभकर्ण जाग पड़ा तो वह शत्रु-संहार कर ही लंका लौटेगा क्योंकि वह अपने निजी बल पर खड़ा होकर लड़ता है जबकि दूसरे राक्षस वीरों का बल या तो वरदान का है या माया का।

अब कुंभकर्ण को जगाने के लिए जागृति-विशेषज्ञ नाना प्रकार के प्रयास करते हैं और अनेक प्रकार के साधन, उपकरण, हथियार और औज़ार काम में लाते हैं। पहले तो कुंभकर्ण की गुफा में प्रवेश करना ही कठिन है क्योंकि उसके उच्छ्वास और निःश्वासों की प्रचंड वायु से सारा शयनागार आलोडित होता है। इसलिए बड़े साहस के साथ कुछ समर्थ कर्मचारी किसी प्रकार भीतर प्रवेश करते हैं। महानिद्रा में निमग्न होकर बिखरे हुए पर्वत के समान विकृताकार लेटे हुए कुंभकर्ण के सामने उन सबने खाने पीने की कई चीजें रखीं, चंदन, पुष्प आदि सुगंधित द्रव्यों को सजा कर रखा और शंखनाद से जगाने का प्रयास किया। फिर भी कुंभकर्ण की नींद नहीं खुली। फिर उसकी छाती पर कुछ योद्धाओं ने गदा, मुसल, मुद्‌गर आदि हथियारों का प्रयोग किया। पर कुंभकर्ण इन प्रहारों से तनिक भी प्रभावित नहीं हुआ। उस अनंतशयन को जगाने के लिए तुमुल कोलाहल का जो ध्वन्यावरण उत्पन्न किया गया, उससे सारी लंका गूँज उठी, पर कुंभकर्ण की निद्रा नहीं टूटी। फिर उसके घड़े जैसे कानों में सौ घड़े पानी डाला गया, पर वह निद्राप्रेमी राक्षस टस से मस नहीं हुआ। अंत में जागरण के व्यायाम से थके हुए राक्षसों ने कुंभकर्ण के विशाल और विकराल शरीर पर हजारों हाथी दौड़ाए, तब जाकर उस निद्रानिधि को कुछ स्पर्श मालूम हुआ और वह जाग उठा। जाग उठते ही उसे खाद्य, पेय आदि से संतुष्ट कर हर प्रकार से उसकी परिचर्या में सभी राजकर्मी तत्पर हो गए।

अंततः सौभाग्य से कुंभकर्ण का नेत्रोन्मीलन हो गया। अब उसे रावण का संदेश सुनाना है। अकाल जागरण से आतंकित राक्षसवीर स्वयं यह जानने की इच्छा प्रकट करता है कि लंका पर कौन-सी ऐसी आफत आ पड़ी है जिसके कारण उसको असमय जगाया गया है। कुंभकर्ण की जिज्ञासा का समाधान करते हुए यूपाक्ष नाम का राक्षस कहता है—"सारी लंका पर्वताकार वानरों से आक्रांत है और हमारे अनेक वीर अपने प्राण गँवा बैठे हैं। स्वयं राक्षसराज रावण भी सीता के हरण से संतप्त श्रीराम से पराजित हुए हैं और किसी प्रकार प्राणों को हथेली पर रखकर वापस आए हैं।" यूपाक्ष का यह कथन सुनकर कुंभकर्ण तत्काल रणभूमि में जाकर समस्त वानरसेना के साथ राम और लक्ष्मण को पराजित करने का निश्चय कर लेता है। परन्तु महोदर नाम का राक्षस सेनानी कुंभकर्ण को सलाह देता है कि पहले महाराज रावण की बात सुन लें, गुण दोष पहचान लें और उसके बाद ही युद्धभूमि में जाना उचित होगा। अधखुली नींद से उनींदी आँखों से कुंभकर्ण महोदर के प्रस्ताव को स्वीकार करता है। रावण भी कुंभकर्ण के जागरण और आगमन की बात सुनकर प्रसन्न और प्रफुल्ल मुख से उसका सस्नेह स्वागत करता है।

अपने शयनागार से निकलकर रावण के राजमहल की ओर जानेवाले कुंभकर्ण का विशालकाय मुखमंडल सूर्यमंडल की तरह जगमगाता दिखाई देता है। दूर से देखनेवाले वानरों को भी अचानक दृष्टिगोचर होनेवाला यह अदभुत जीव विस्मय और भय का कारण बन जाता है। श्रीराम भी आकाश की ओर बढ़ते हुए दिखाई देनेवाले उस महाकाय राक्षस को देखकर चकित हो जाते हैं और विभीषण से पूछते हैं कि यह विशालकाय और विकराल व्यक्ति कौन है। विभीषण बड़ी विनम्रता के साथ श्रीराम की जिज्ञासा का समाधान करते हुए कुंभकर्ण का पूरा पूरा परिचय देते हैं। लंका के सभी राक्षसों में सर्वाधिक प्रमाण और सर्वाधिक शक्तिमत्ता से सम्पन्न कुंभकर्ण की नैसर्गिक क्षमता के संबध में विभीषण विस्तार से बताते हैं ताकि श्रीराम इस आपातकालीन स्थिति के लिए अपने को तैयार रखें और वानरसेना को भी सतर्क कर दें। विभीषण की बातें सुनने के बाद श्रीराम को लगता है कि यह व्यक्ति नहीं, शक्ति है। प्रजापति के शाप से निद्रा ने इस यांत्रिक सत्ता को नियंत्रण में रखा है, अन्यथा यह

संसार अब तक निर्जन और निर्जीव बन गया होता। वर्ष में केवल दो दिन जागकर भी यह इतनी जीवहानि कर सकता है तो प्रजापति ने इसको निद्राप्रेमी बनाकर ठीक ही किया है। विभीषण के अनुसार, यह एक बार सो जाता है तो कम से कम छह महीने तक उठने का नाम तक नहीं लेता, कभी कभी सात, आठ, नौ, दस महीनें तक भी सोता रहता है, तभी तो संसार जीवित है। अब यह अकाल उठा है, इसलिए यह काल का प्रतिरूप बनकर शीघ्र ही रणभूमि में प्रवेश करेगा। इन सब बातों पर ध्यान देते हुए श्रीराम सभी सेनानियों को सतर्क कर देते हैं कि वे अपने अपने स्थान पर सावधान और सायुध रहे।

इस बीच कुंभकर्ण अपने भाई के पास पहुँच जाता है। वह जानता है कि उसको क्यों जगाया गया। फिर भी शिष्टाचार के तौर पर वह पूछता है कि इतने प्यार से उसको जगाने और बुलाने का क्या कारण है। कुंभकर्ण के प्रश्न पूछने के स्वर में रोष का रूखापन अवश्य दिखाई देता है। पर स्वार्थी रावण इस रूखेपन पर ध्यान न देकर बनावटी प्रेम और आदर का भाव प्रकट करते हुए अपने छोटे भाई को सारी बात सुनाता है जिसके कारण उसको असमय जगाना पड़ा। प्यार से गले लगाना, बल-पराक्रम की प्रशंसा करना, लंका पर अचानक आ पड़ी विपत्ति का बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन करना और अपनी दयनीय दशा की ओर भाई का ध्यान आकृष्ट करना- आदि सभी औपचारिक अभिनय को कुंभकर्ण अनायास समझ लेता है। ... रावण का सारा रोना सुनकर कुंभकर्ण बिलकुल निर्लिप्त स्वर में कहता है कि इसमें आश्चर्य की बात क्या है, इसी की अपेक्षा थी। अपनी बात को और स्पष्ट करने के लिए कुंभकर्ण पहले हुए विचार-विमर्श की ओर अपने भाई का ध्यान आकृष्ट करते हुए कहता है कि पहले तो तुमने अपनी इच्छा से ही अनुचित कार्य किया है और उसके बाद जब तुम्हारी पत्नी मंदोदरी और भैया विभीषण ने जो हित की बात कही थी, उस पर तुमने बिलकुल ध्यान नहीं दिया। मैंने भी तुमको काफी समझाने का प्रयास किया। पर उस समय तुम अपने कानों में तेल डालकर बैठे थे। उस गलती का फल अब मिल रहा है तो अब सोचने से क्या लाभ! जैसी आशंका थी, वही हुआ अब तुम जैसा चाहो, वैसा करो।"

कुंभकर्ण की ये रूखी-सूखी बातें रावण को उकसाती हैं। अंतिम वाक्य— "जैसा चाहो वैसा करो।" दशग्रीव की सारी ग्रीवाओं को उद्ग्रीव बना देता है। उत्तेजित स्वर में वह कुंभकर्ण को सीधा जवाब देते हुए कहता है:—

मान्यो गुरुरिवाचार्यः किं मां त्वमनुशाससे।
क्रिमेवं वाक् श्रमं कृत्वा यद्युक्तं तद् विधीयताम्॥

"वाह रे वाह, तुम तो एकदम आचार्य महोदय बन बैठे हो और मुझे उपदेश देने लगे हो। बेकार की बातें छोड़कर अब इस समय जो काम करने को मैं कहता हूँ, उसे करो।"

रावण की इन बातों से स्पष्ट होता है कि कुंभकर्ण की अधखुली आँखे ही भली हैं जो सच्चाई को साफ साफ देख पा रही हैं और रावण की आवश्यकता से अधिक खुली आँखों के अंधेपन को दूर करने की कोशिश कर रही हैं। कुंभकर्ण की सुषुप्ति रावण के जागरण से अधिक सजग और सार्थक प्रतीत होती है। अग्रज का आग्रह समझकर अनुज अपने आपको नियंत्रित कर लेता है और बड़ी शालीनता के साथ बड़े भाई की इच्छा पूरी करने के लिए अपने मन को तैयार कर लेता है क्योंकि अब वाद-विवाद करने से कोई लाभ नहीं है। आदर्श भ्राता के रूप में कुंभकर्ण उदारता और उदात्तता के साथ भाई की भलाई के लिए अपना सर्वस्व समर्पित करने का वचन देते हुए कहता है:—

श्रणु राजन्नवहितो मम वाक्यमरिंदम।
अलं राक्षसराजेन्द्र संतापमुपपद्य ते॥
रोषं च संपरित्यज्य स्वस्थो भवितुमर्हसि।
नैतन्मनसि कर्तव्यं मयि जीवति पार्थिव॥

"हे राजन्, मेरी बात ध्यान से सुनो। अब तुम

इस बात की चिंता एकदम छोड़ दो। तुम तो राजा हो। तुमको न दुखी होना चाहिए और न ही रुष्ट। तुम निश्चिंत होकर घर बैठे रहो। जब तक मैं जीवित हूँ तब तक तुमको कोई परेशानी होने नहीं दूँगा।"

कुंभकर्ण की इन बातों में जो तीखा व्यंग्य है, उसे कामांध और रोषाक्रांत रावण समझ नहीं पाता। कुंभकर्ण का संबोधन भी बातचीत के इस दौर में बदल जाता है। अब तक जो भाई था, अब वह राजा बन जाता है। अब तक भाई की भलाई की बात हो रही थी, अब राजा की आज्ञा का पालन किया जाएगा। कुंभकर्ण के इस स्वर-परिवर्तन में कितना संस्कार है और कितनी सात्विकता है, यह देखकर आश्चर्य होता है। इस दृष्टि से वह विभीषण से भी अधिक शालीन और त्यागशील मालूम पड़ता है क्योंकि उसमें न तो राज्य के प्रति लोभ है और न प्राणें के प्रति मोह। कुंभकर्ण जैसे भ्राता का पाना रावण के जीवन की संभवतः सबसे बड़ी और एकमात्र उपलब्धि है। कुंभकर्ण अपने राजा भैया को आश्वासन देता है कि वह निरस्त्र होकर लड़ेगा और लड़ाई में विजयी हुए बिना वापस नहीं आएगा। रणभूमि में चाहे इन्द्र का भी सामना करना हो या स्वयं ब्रह्मा का तो भी वह डटकर करेगा और राम, लक्ष्मण, सुग्रीव, हनुमान् आदि की तो कोई गिनती ही नहीं। इन शब्दों के माध्यम से वास्तव में कुंभकर्ण अपना मनोबल बढ़ा रहा है और आनेवाली विपत्ति के लिए अपने को मानसिक रूप से तैयार कर रहा है।

इतने में रावण के पास ही बैठे हुए महोदर के मन में एक विचित्र विचार आता है। रणभूमि में राम का सामना करना बहुत ही कठिन काम है। इसलिए माया के माध्यम से काम लेना बुद्धिमत्ता होगी। केवल नाम मात्र के लिए रणभूमि में जाकर राम के नाम से अंकित बाणों से आहत होकर लंका वापस आकर यह घोषित कर दिया जाए कि हमने राम और लक्ष्मण से लड़कर दोनों को मार गिराया है और सारी वानर सेना भाग खड़ी हुई। सीता के कानों तक जब यह बात पहुँचेगी तब वह स्वयं रावण के अधीन अपने को समर्पित कर देगी। महोदर का यह प्रलाप सुनकर कुंभकर्ण उसको फटकारते हुए कहता है कि इसी तरह की बातों से अभी तक स्थिति बिगड़ती चली जा रही है और यह बकवास बंद कर साहस से काम लेना बुद्धिमत्ता का काम है।

माया का परिणाम इससे पहले रावण खूब देख चुका है। इसलिए वह कुंभकर्ण का ही समर्थन करते हुए मंगल कामना के साथ उसे युद्ध के लिए प्रेरित करता है। भाई के बार बार कहने पर कुंभकर्ण साधारण सैन्य बल को साथ लिए रणयात्रा पर चल पड़ता है। जाते जाते वह रावण को इस बात का आश्वासन दे कर जाता है कि आज से शत्रुभय का निःशेष निवारण हो जाएगा। इस प्रकार संपूर्ण आत्मविश्वास के साथ कुंभकर्ण को रणयात्रा पर प्रस्थान करते हुए देखकर मोहनिद्रा में निमग्न रावण प्रसन्न हो जाता है। रावण की यह प्रसन्नता स्वाप्निक है जब कि रणवीर कुंभकर्ण की प्रसन्नता स्वात्मिक है। रावण आँखें खोलकर सो रहा है और कुंभकर्ण आँखें बंद करके भी जागरण की ओर प्रस्थान कर रहा है। रावण का नेत्रोन्मीलन तभी संभव होगा जब कुंभकर्ण का नेत्र-निमीलन कमलनयन राम के कारुण्य से सम्पन्न होगा। इसी क्षण के अन्वेषण में कुंभकर्ण आगे बढ़ रहा है- आत्माराम को अपनी अंतरात्मा में बसाकर सदा के लिए चल बसने के लिए।

आत्म-समपर्ण के लिए अंतरंग में कृतसंकल्प कुंभकर्ण अकेला ही रणभूमि में जाना चाहता है, पर रावण के रागरंजित और स्वार्थपूर्ण अनुरोध पर वह युद्ध की साज-सज्जा के साथ ही निकल पड़ता है। कमर में काले रंग की विशाल करधनी पहनकर, छाती में सोने का कवच धारण कर, हाथों में शूल लिए कुंभकर्ण आगे बढ़ता है तो रावण को कभी नागराज वासुकि से लिपटा हुआ मंदर पर्वत याद आता है, कभी सूर्य भगवान् की अरुण किरणों से रंजित अस्ताचल की चरमारुण शोभा का स्फुरण होता है और कभी कभी अपने तीनों चरणों से तीन लोकों को नापनेवाले नारायण का आभास होता है। निद्रानिधि की यह भद्रमुद्रा देखकर भगवान् रुद्र को भी रोना आता है, पर रावण अपने सहज

स्वभाव के कारण परम प्रसन्न मुद्रा में भाई के प्रस्थान को देखता रहता है क्योंकि स्व-सुख में संसक्त व्यक्ति पर-पीड़ा को पहचान नहीं पाता। इसी विडंबना पर विस्मित होकर अंतरिक्ष के अधिदेवता रणोन्मुख राक्षस पर फूल बरसाते हैं। पुष्पवृष्टि और उग्रदृष्टि के साथ छह सौ धनुष लंबा और छह सौ धनुष मोटा कुंभकर्ण जब रणभूमि की ओर चल पड़ता है तो धरती थर थर काँपने लगती है और अचल भी विचलित हो जाते हैं। पर साथ साथ कुछ अपशकुन भी होते हैं। किंतु कुंभकर्ण अपशकुनों से इतना चिंतित नहीं होता जितना कि निरपराध वानरों का अकारण प्राण-हरण करने की अपनी विवशता से होता है। उसकी दृष्टि में वानर जाति नागरिक जन-जीवन की शोभा बढ़ाने वाली प्राकृतिक विभूति है जिसको नष्ट करने से प्राकृतिक पर्यावरण विपर्यस्त हो जाता है। इसलिए वह वानरों को अपना लक्ष्य न बनाकर इस संग्राम के सूत्रधार और मूल आधार राम और लक्ष्मण पर सबसे पहले आक्रमण करने आगे बढ़ता है। इस प्रकार कदम कदम पर कुंभकर्ण अपनी भद्रता का परिचय देते हुए आगे बढ़ता है।

पर जैसे ही कुंभकर्ण प्राकार को लाँघकर रणभूमि में प्रवेश करता है, वैसे ही साधारण वानर उसकी विकराल आकृति को देखकर दशों दिशाओं में भागने लगते हैं जैसे प्रचंड वायु के आघात से घने घने बादल भी उड़ जाते हैं। जब कुंभकर्ण गरजने लगता है तो उस सिंहनाद को सुनकर बलशाली कपिसिंहों के कान भी बहरे हो जाते हैं और वे उस रणरव को छोड़कर और कुछ नहीं सुन पाते। धीरे धीरे कुछ धीर वीर वानर कुंभकर्ण के विकराल गात्र पर पत्थर, पहाड़, वृक्ष आदि से प्रहार करने का प्रयास करते हैं। पर इन छोटे छोटे प्रहारों का उस विशाल शरीर पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। जैसे जैसे कुंभकर्ण आगे बढ़ने लगता है, नल, नील, गवाक्ष, कुमुद आदि योद्धा भी भयभीत होकर भागने लगते हैं। पर अंगद उनका मनोबल बढ़ाकर सबको वापस बुला लेते हैं। फिर भी साधारण सैनिक वृक्षों पर, पर्वत गुफाओं में, आकाश में, नदियों में अपने को छिपाकर प्राण बचा लेने का प्रयास करते हैं। पर्याप्त समय के बाद वालिपुत्र अंगद वानर सेना को व्यवस्थित करने में सफल हो जाते हैं।

अब वीर वानर कुंभकर्ण पर फिर से प्रहार करने लगते हैं। पर जो भी उस पर प्रहार करने आगे बढ़ते हैं, उन सबको क्षण भर में कुंभकर्ण अपने बाहुपाश में बाँधकर आगे बढ़ जाता है। वानरों की वृक्ष-वर्षा, शिला-वर्षा और पर्वत-वर्षा से भी कुंभकर्ण विचलित नहीं होता। वह बराबर निर्बाध रूप से आगे बढ़ता जाता है और जो भी उसके मार्ग में अवरोध उत्पन्न करते हैं उनको या तो कुचल देता है या खा जाता है। ऐसा लगता है कि उसकी दृष्टि न तो वानरों पर है और न राक्षसों पर। उसकी दृष्टि सीधे राम और लक्ष्मण पर केन्द्रित है। इस मार्ग में जो भी बाधक बनकर आता है, उसका वह भक्षक बनकर आगे बढ़ता है। इसी प्रकार हनुमान् भी उसके मार्ग में अवरोध उत्पन्न करते हैं तो उनको भी वह अपनी बाँहों में बाँधकर परेशान करता है। महावीर हनुमान् को कुंभकर्ण के बाहुपाश में पीड़ित देखकर नील रणभूमि में प्रवेश करते हैं और कुंभकर्ण पर आक्रमण करते हैं। पर नील की भी वही दशा होती है तो गज, गवाक्ष, गंधमादन आदि वानर वीर भी कुंभकर्ण का डटकर सामना करते हैं। फिर हजारों वानर कुंभकर्ण के शरीर पर चढ़कर उन पर प्रहार करने लगते हैं तो वह दृश्य देखने लायक बन जाता है। ऐसा लगता है कि कुंभकर्ण चलते फिरते पर्वत के समान आगे बढ़ रहा है और उस पर आक्रमण करने वाले उसी पर्वत के अंग बन कर उसके साथ साथ चल रहे हैं। इस विकट विन्यास में कुछ लोग कानों के भीतर प्रवेश करते हैं, कुछ नेत्रों के भीतर और कुछ लोग मुँह के भीतर। कुल मिलाकर राक्षस और वानर दोनों समान रूप से कुंभकर्ण की भक्षणयात्रा के भक्ष्य बन जाते है। वज्रपाणि इंद्र या दंडपाणि यमराज की तरह कुंभकर्ण शूलपाणि बनकर समस्त प्राणियों का प्राण-हरण करते हुए निरवरोध आगे बढ़ता ही चला जाता है।

कुंभकर्ण के मार्ग में अंगद और सुग्रीव भी आते

हैं। दोनों वानर-वीर बड़े साहस से युद्ध लड़ते हैं, पर दोनों को वह पराजित कर देता है। कुंभकर्ण अपने शूल के बल पर सब के पराक्रम को निर्मूल करने में सफल हो रहा है, यह देखकर हनुमान् अचानक कुंभकर्ण के हाथ से उस शूल को छीनकर उसको घुटने पर रखकर चूर चूर कर देते हैं। इससे कुंभकर्ण का दर्प भी चूर चूर हो जाता है। हनुमान् के इस साहसपूर्ण कार्य को देखकर सभी वानर हर्षध्वनि करते हैं। पर कुंभकर्ण तत्काल एक पर्वत शिखर को लंका से उठा लाता है और उससे सुग्रीव पर प्रहार करता है। उसकी धारणा है कि सुग्रीव को जीत लिया तो सब कुछ जीत लिया क्योंकि वही समस्त वानरजाति का स्वामी है। जैसे ही पर्वत-शिखर सुग्रीव के ऊपर आ गिरता है, सुग्रीव निश्चेष्ट होकर कुंभकर्ण की मुठ्ठी में चले जाते हैं। इस प्रकार पल भर में स्वाधीन हुए सुग्रीव को लेकर कुंभकर्ण लंका की ओर चल देता है।

अब हनुमान् असंमजस में पड़ जाते हैं। वह चाहें तो सुग्रीव को छुड़ा सकते हैं। पर सुग्रीव तो राजा हैं और वह केवल सचिव। हनुमान् द्वारा सुग्रीव का मुक्त होना राजमर्यादा के अनुकूल नहीं है और इसमें सुग्रीव की भी प्रतिष्ठा नहीं है। इसलिए हनुमान् मौन रहकर सुग्रीव के पराक्रम के भरोसे सब कुछ देखता रहता है। इसी बीच कुंभकर्ण सुग्रीव को बंदी बनाकर लंका की ओर प्रस्थान करता है और राजमार्ग में कपिराज को बंदी बनाने की घटना का प्रचार करने लगता है। पर सुग्रीव अपने निजी तेज, ओज और पराक्रम के बल पर कुंभकर्ण के कान और नाक को अपने नाखूनों से क्षतविक्षत कर आकाश में उड़ जाते हैं। इस प्रकार सुग्रीव अपने को कुंभकर्ण के बंधन से मुक्त कर लेते हैं।

निरस्त्र, विकर्ण और नष्ट नासिक होकर भी कुंभकर्ण अपना हौसला नहीं छोड़ता। साहस के साथ वह फिर रणभूमि में प्रवेश करता है। गहरी नींद से अचानक जग जाने के कारण कुंभकर्ण की भूख भी असाधारण मात्रा में भड़क उठती है। सामने दिखाई देनेवाले सभी वानरों तथा राक्षसों को, बिना किसी भेदभाव के, खाते हुए उनके रक्तमांस से लिप्त होकर वह अंधाधुंध रणभूमि में दौड़ता फिरता है। इस भीषण हत्याकांड से भयभीत और व्याकुल होकर वानर-वीर राम की शरण में जाते हैं। स्थिति की गंभीरता को देखते हुए सुमित्रानंदन कुंभकर्ण पर बाण पर बाण छोड़ने लगते हैं, पर उन सभी अस्त्रों को कुंभकर्ण अनायास निःशेष कर देता है। इस पर लक्ष्मण कुपित होकर कुंभकर्ण की छाती को ढकनेवाले कवच को छिन्न भिन्न कर देते हैं। रामानुज के रणकौशल की प्रशंसा करते हुए रावणानुज उनसे अनुरोध करता है कि अब उसको राम के पास जाकर उनसे लड़ने की अनुमति प्रदान की जाए। युवावस्था में होने पर भी लक्ष्मण ने कुंभकर्ण जैसे देवांतक और कालांतक वीर का जो डट कर सामना किया है, उसकी भूरि भूरि प्रशंसा करने में कुंभकर्ण तनिक भी संकोच नहीं करता। अब उसको राम का सान्निध्य चाहिए, उनका भी रणकौशल देखना है और उसके बाद जिए या मरे, कोई अंतर नहीं पड़ता क्योंकि कुंभकर्ण का ध्येय अपना कर्तव्य निभाना है, जय-पराजय के प्रति उसका कोई मोह, लोभ या आग्रह बिलकुल नहीं है। रावण के भाई कुंभकर्ण की इस निर्लिप्त और निर्भीक समरपरायणता को देखकर लक्ष्मण भी मुग्ध होते हैं और राम की ओर उस रणवीर का मार्ग प्रशस्त कर देते हैं।

अब राम और कुंभकर्ण आमने सामने हैं। पर बीच में वानरसेना भी है। इसलिए कुंभकर्ण राम को प्रत्यक्ष नहीं देख पा रहा है, पर राम के तीखे बाण रौद्रास्त्र की प्रचंडता के साथ कुंभकर्ण की छाती को घायल कर रहे हैं। कुछ ही समय में कुंभकर्ण के प्रत्येक अंग में राम के बाण धँस जाते हैं उसके शरीर से खून की धारां बहने लगती है। उसके सारे हथियार नीचे गिर जाते हैं। फिर भी महावीर राक्षस एक महान् पर्वत को उठाकर राम को लक्ष्य कर चलाता है। पर श्रीराम उसको सात बाणों से चूर चूर कर देते हैं। उस पर्वत शिखर के टुकड़े नीचे गिरकर अनेकों वानरों के प्राण हर लेते हैं।

इस बीच सूक्ष्मबुद्धि लक्ष्मण के संकेत पर सभी

वानर-वीर कुंभकर्ण के शरीर पर चढ़ बैठते हैं। इससे कुंभकर्ण की गति मंद हो जाती है, पर उस की मति मंद नहीं है। वह अपना शरीर हिला हिलाकर वानरों को नीचे गिराने का प्रयास करता है। इतने में श्रीराम अपना प्रचंड धनुष हाथ में लेकर कुंभकर्ण को ललकारते हुए कहते हैं कि अब मेरे सामने आ चुके हो, इसलिए तुम्हारा अंतकाल समीप आया समझो। अब कुंभकर्ण को पता चलता है कि वह एकदम राम के सामने खड़ा है। वह भी राम को चुनौती देते हुए कहता हैः- मैं न तो विराध हूँ, न कबंध हूँ, न खर हूँ, न वाली हूँ, न मारीच हूँ, मैं कुंभकर्ण हूँ। इसलिए सावधान होकर सामना करो। मेरे नाक-कान जरूर कट गए हैं। पर इससे मुझे कोई परेशानी नहीं है। अब तुम अपना पराक्रम निःसंकोच दिखा सकते हो।

कुंभकर्ण के ये दंभपूर्ण वचन सुनकर श्रीराम वज्रतुल्य बाणों का प्रयोग करते हैं, पर कुंभकर्ण विचलित नहीं होता। फिर वायव्य-अस्त्र का संधान कर महाबली राम कुंभकर्ण पर उसका प्रयोग करते हैं जिससे मुद्गर के साथ कुंभकर्ण की दाहिनी भुजा कट कर नीचे गिर जाती है। फिर भी कुंभकर्ण हताश नहीं होता। उसकी कट कर गिरी भुजा के नीचे दबकर कई वानरों के प्राण निकल जाते हैं। इसी बीच श्रीराम उसकी दूसरी भुजा भी काट डालते हैं, फिर उसके पैर भी कट जाते हैं। इस प्रकार धीरे धीरे वह विकलांग और निराधार हो जाता है। फिर भी वह अपने मुँह से आग की ज्वालाएँ निकालकर राम पर टूट पड़ने की चेष्टा करता है। अब श्रीराम सतर्क होकर अपने तीखे बाणों से उसका मुँह बंद कर देते है। अंत में ब्रह्मदंड, यमदंड और सूर्यदंड के समान देदीप्यमान महान् अस्त्र का प्रयोग कर कुंभकर्ण के मस्तक को उसकी धड़ से अलग कर देते हैं। वह मस्तक लंका में जा गिरता है और उसके नीचे दबकर कई भवन, गोपुर, विमान ढह जाते हैं। उसका धड़ सागर में जाकर गिरता है। इस प्रकार कुंभकर्ण का कुंडलयुक्त विशाल मुखमंडल श्रीराम के समर-कौशल का संदेश पहुँचाते हुए समस्त लंका को संत्रस्त और विषाद से ग्रस्त बना देता है।

श्रीराम की इस महत्त्वपूर्ण विजय की सभी वानर, विभीषण और लक्ष्मण भूरि भूरि प्रशंसा करते हैं। अंतरिक्ष में उत्कंठा के साथ इस युद्ध का निरीक्षण करनेवाले श्रीराम का पराक्रम देखकर परम प्रसन्न होते हैं।

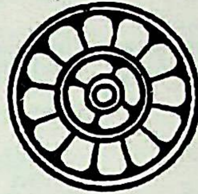
कुंभकर्ण के निधन का समाचार पाकर रावण शोक से संतप्त और मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ता है। कुंभकर्ण को वह अब तक अपनी दाहिनी भुजा समझता रहा। अब वह भुजा कट गई है। उसको विश्वास नहीं होता कि देवांतक और कालांतक के रूप में तीनों लोकों में विख्यात कुंभकर्ण सचमुच सामान्य मानव के हाथ मारा गया है। रावण को इस बात का बारं-बार पछतावा होता है कि निर्भय निद्रा के सुख में मग्न कुंभकर्ण को जगाकर रणभूमि में भेजने का काम उसी ने किया है। इसलिए वह अपने को भ्रातृहंता समझकर बहुत विलाप करने लगता है। अब विभीषण की बात भी वह याद करता है। स्वयं कुंभकर्ण ने भी विभीषण की ही बात दुहराई थी। पर किसी की बात उसके कानों तक नहीं पहुंची। किन्तु पश्चात्ताप से रावण का हृदय-परिवर्तन नहीं होता, बल्कि प्रतिकार की ज्वाला भड़क उठती है। प्रतिहिंसा की भाषा में वह अपने को समझाने लगता हैः—

यद्यहं भ्रातृहंतारं न हन्मि युधि राघवम्।
ननु मे मरणं श्रेयो न चेदं व्यर्थजीवितम्॥

यदि मैं अपने भाई का वध करनेवाले राम का वध नहीं करूँगा तो मेरा जीवन निरर्थक है। इस प्रकार से जीने से तो मरना कहीं अधिक श्रेयस्कर है।

रावण का यह पौरुष स्वार्थ से प्रेरित है, स्नेह से सिक्त नहीं है। इसीलिए वह मानवोचित क्या, राक्षसोचित भी नहीं है। यदि स्वार्थरहित और त्यागशील सहोदर कुंभकर्ण के प्रति उसके मन में सच्चा स्नेह होता तो उसको असमय जगाकर रणभूमि में जाने को बाध्य नहीं करता। यदि उसके वीरोचित निधन पर उसका मन सचमुच शोकसंतप्त है, तो उसको अपने

पौरुषमय संकल्प के अनुसार तत्काल रणभूमि में जाकर राम का सामना करना चाहिए। पर दोनों बातों में वह अपनी दुर्बलता का आप शिकार हो गया है। इसीलिए यह पौरुष निरर्थक है। वास्तव में यह कायरता का छद्म रूप है जो उसको राम से दूर कर रही है और विराम की ओर ले जा रही है। अब देखना है कि राम और विराम के बीच भटकने वाला यह रावण अपने रण को किस ओर ले जाता है।



71. वीर विदारण, मृत संजीवन

कुंभकर्ण के अकाल जागरण और आत्म-समर्पण से यदि कोई प्रयोजन सिद्ध हुआ तो वह केवल यही है कि धीरे धीरे रावण के मन में भीरुता, अधीरता और कायरता घर करने लगती है। रणभूमि का नाम लेते ही वह भयभीत हो जाता है और राम-बाण का स्मरण करते ही उसके प्राण-पखेरू उड़ने लगते हैं। इसीलिए श्रीराम के शरस्पर्श का पहला अनुभव प्राप्त करने के बाद वह रणभूमि में अब तक नहीं जा सका। दयामय राम ने उसे केवल एक रात के लिए विश्राम की अनुमति दी थी। अगले दिन उसे आवश्यक रण-सज्जा के साथ युद्धभूमि में पहुँचना था। पर रणभीरु रावण ने अपने स्थान पर अपने अनुज कुंभकर्ण को जगाकर राम से लड़ने के लिए भेजा। वीर कुंभकर्ण के प्राणहरण के बाद शोकाकुल अवस्था में उसने प्रतिज्ञा की कि जब तक वह भ्रातृ-हंता राम का वध नहीं करेगा तब तक उसके मन को शांति नहीं मिलेगी और उसका जीवन निरर्थक रहेगा। पर अब भी वह अपनी प्रतिज्ञा को कार्यरूप देने में संकोच कर रहा है।

अपने पराक्रमी पिता को शोक, संकोच और संताप में मग्न देखकर उसका पुत्र त्रिशिरा कहता है कि तीनों लोकों पर विजय प्राप्त करने में समर्थ राजा को इस प्रकार छोटी-सी घटना पर इतना विलाप नहीं करना चाहिए। फिर क्या करना चाहिए, इस पर अपना विचार प्रकट करते हुए त्रिशिरा कहता है:–

कामं तिष्ठ महाराज निर्गमिष्याम्यहं रणे।
उद्धरिष्यामि ते शत्रून् गरुडः पन्नगानिव॥

(राजन्, रणभूमि में जाने के लिए यदि आप अपने मन को तैयार नहीं कर पा रहे हैं तो आप बेशक यहीं आराम से बैठिए। मैं स्वयं युद्धभुमि में जाकर शत्रुओं का उद्धार करूँगा जैसे गरुड़ पक्षी साँपों को उठा उठाकर फेंक देता है।)

त्रिशिरा की यह बात सुनकर रावण अपने को फिर से जीवित अनुभव करता है। वास्तव में अपने पुत्र के इस साहस को देखकर उसे लज्जित होना चाहिए था। पर वह तुरंत उस प्रस्ताव को स्वीकार करता है और त्रिशिरा के साथ अपने तीन और पुत्रों –देवांतक, नरांतक और अतिकाय को और दो भाइयों – महोदर और महापार्श्व – को भी रणभूमि में भेजता है। इसका मतलब यह है कि वह अपने प्राणों की रक्षा करने के लिए अन्यान्य उपाय काम में ला रहा है और उसके लिए अपने पुत्रों और बंधुओं को बलि पर चढ़ाने के लिए तैयार है। पर पुत्रों में साहस की मात्रा इतनी प्रचुर है कि वे होड़ लगाकर पहले 'मैं पहले मैं', कहकर उत्साह के साथ समरभूमि की ओर प्रस्थान करते हैं। रावण केवल अपना आशीर्वाद देता है। चार पुत्र और दो भाई अपने अपने वाहन, आयुध, कवच आदि साथ लेकर इस दृढ़ निश्चय के साथ प्रस्थान करते हैं कि या तो शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर लौटेंगे या वहीं पर अपने प्राण अर्पित कर वीरगति को प्राप्त करेंगे। 'मरणं वापि निश्चित्य शत्रूणां वा पराजयम्' – इस मूल मंत्र का उच्चारण करते हुए वीर योद्धा रण-यात्रा आरंभ करते हैं।

रणभूमि में पहुँचते ही वानरों और राक्षसों के बीच घोर संग्राम शुरू हो जाता है। राक्षस एक वानर से दूसरे वानर को मारते हैं और वानर एक राक्षस से दूसरे राक्षस को मारते हैं। इसी प्रकार एक रथ से दूसरे रथ को, एक घोड़े से दूसरे घोड़े को, हाथी से हाथी को, अस्त्र से अस्त्र को और गदा से गदा को छिन्न भिन्न करने का प्रयास दोनों ओर से प्रबल रूप धारण करने लगता है। इस विचित्र युद्ध को देखने के लिए अंतरिक्ष में महर्षिगण और देवता भी एकत्रित हो जाते हैं। सबसे पहले अंगद पर नरांतक का आक्रमण होता है। दोनों बड़े साहस से लड़ते हैं। वाग्युद्ध भी होता है। बीच बीच में मुष्टि-युद्ध भी होता है। अन्त में अंगद अपनी मुष्टि के प्रहार से ही पहले अश्वारोही नरांतक के घोड़े का सिर फाड़ देते हैं और उसके बाद स्वयं नरांतक की छाती पर भीषण पर भीषण प्रहार कर उसके हृदय को विदीर्ण कर देते हैं। इस प्रकार सबसे पहले अंगद के हाथ में वीर नरांतक का हृदय-विदारक अंत हो जाता है।

इस प्रथम पराजय से कुपित होकर महोदर, देवांतक और त्रिशिरा – तीनों एक साथ अंगद पर टूट पड़ते हैं। गजारूढ़ महोदर वज्र तुल्य तोमरों के साथ वालिपुत्र पर हमला करता है तो अश्वारोही देवांतक एक भयंकर परिघ को वेगपूर्वक घुमाकर अंगद के उत्तमांग पर दे मारता है और त्रिशिरा तीन तीव्र बाणों से वानर राजकुमार के ललाट में गहरी चोट पहुँचाता है। इस प्रकार तीनों ओर से तीन वीरों के आघात सहने वाले अंगद को देखकर पवनपुत्र हनुमान् और पावकपुत्र नील उनकी सहायता के लिए रणभूमि में प्रवेश करते हैं। भीषण संघर्ष और घात-प्रतिघात के बाद हनुमान् के मुष्टिप्रहार से देवांतक का मस्तक फट जाता है, उसके दाँत बाहर निकल आते हैं और वह प्राणहीन होकर अचानक धराशायी हो जाता है। अब त्रिशिरा अग्निपुत्र नील पर आक्रमण करता है और महोदर उसका साथ देकर नील के बल पराक्रम को स्तंभित और कुंठित करने का प्रयास करता है। नील थोड़ी देर के लिए निश्चेष्ट अवश्य हो जाते हैं, पर शीघ्र ही होश में आकर एक महान् वृक्ष को उठाकर महोदर के वाहन को और स्वयं महोदर को निर्वाहक और निष्प्राण बना देते हैं। वीर महोदर देखते ही देखते वीरगति को प्राप्त करता है। अब त्रिशिरा के साथ हनुमान् निपटने लगते हैं। त्रिशिरा के तीक्ष्ण शस्त्रास्त्रों का सुतीक्ष्ण प्रत्युत्तर देते हुए हनुमान् द्रुमवर्षा, शिखरवर्षा और पर्वतवर्षा से रावण के पुत्र को विरोवण बना देते हैं। हनुमान् की मुष्टि के सामने त्रिशिरा का कोई भी अस्त्र टिक नहीं पाता। उसका खड्ग टूट जाता है, उसकी शक्ति रिक्त हो जाती है और उसकी तेजस्वी चेतना उसके शरीर को छोड़कर निकल जाती है।

अब महापार्श्व और अतिकाय शेष रह जाते हैं। जब महापार्श्व समरभूमि में स्वच्छंद विहार करते हुए सभी वानरों को त्रस्त और क्षत-विक्षत करने लगता है तब ऋषभ नाम का वानर महापार्श्व के पास जाकर खड़ा हो जाता है। महापार्श्व ऋषभ के साहस पर विस्मित होकर उसकी छाती पर गदा का प्रहार करता है। गदा के प्रहार से ऋषभ का वक्षःस्थल फट जाता है। पर थोड़ी ही देर में वह अपने को संभालकर महापार्श्व के हाथ से उसकी गदा छीन लेता है और उसी गदा को घुमा-घुमाकर निशाचर पर प्रहार करता है। अपनी ही गदा की चोट खाकर महापार्श्व तत्काल धराशायी हो जाता है। इस प्रकार वरुण-पुत्र महापार्श्व की जीवन लीला समाप्त कर देता है।

अब केवल अतिकाय जीवित रहता है। यह कुंभकर्ण की भांति अत्यंत विशालकाय है। धान्यमालिनी और रावण का यह पुत्र ब्रह्मा के वरदान से युक्त है। इसलिए वह देखने में अत्यंत भयंकर और दुर्दम्य लगता है। उसे देखकर वानर-वीर भयभीत होकर श्रीराम की शरण में जा पहुँचते हैं। पर्वताकार राक्षस को देखकर श्रीराम को भी आश्चर्य होता है और विभीषण से पूछकर उस राक्षस के सम्बन्ध में वह पूरी जानकारी प्राप्त करते हें। दोनों पार्श्वों में कर्ण-कुंडलों की कांति से जगमगानेवाला उसका मुख-मंडल पुनर्वसू नक्षत्र के बीच विराजित पूर्ण चंद्र के समान सुशोभित

होता है। अतिकाय की अतिजीविता का सबसे बड़ा रहस्य उसका दिव्य कवच है जो उसको ब्रह्मा के हाथ से मिला। स्वयंभू के वरदान के बल पर उसने इंद्र के वज्र को भी निष्प्रभ कर दिया था और वरुण-पाश को निरस्त कर दिया था। ये सारी बातें विभीषण इसलिए राम को बताते हैं ताकि इसी भूमिका को ध्यान में रखकर इससे निपटने का प्रयास किया जा सके।

इतने में अतिकाय एकदम राम के पास खड़े होकर युद्ध के लिए ललकारता है और कहता है कि वह छोटे मोटे वानरों और सामान्य योद्धाओं से लड़ना नहीं चाहता है। वास्तव में कुमुद, द्विविद, नील, शरभ, मैंद आदि वानर-वीर एक साथ उस राक्षस राजकुमार पर आक्रमण करते हैं पर उसके शराघात के सामने टिक नहीं पाते। परंतु अतिकाय के अहंकार पर सुमित्रानन्दन को क्रोध आता है और वह अपनी ओर से उसको युद्ध के लिए आमंत्रित करते हैं। आकार और आयु दोनों में छोटे लगने वाले लक्ष्मण के साथ लड़ना अतिकाय को अपनी प्रतिष्ठा के अनुरूप प्रतीत नहीं होता। कुछ समय तक दोनों में इसी बात को लेकर वाद-विवाद चलता है और अंत में युद्ध आरंभ हो जाता है। दोनों वीर एक दूसरे पर एक से बढ़कर एक भंयकर अस्त्रों का प्रयोग करने लगते हैं। कभी अतिकाय आतंकित होता है और कभी सुमित्रानंदन चकित हो जाते हैं। एक बार लक्ष्मण बेहोश भी हो जाते हैं पर साहस बटोर कर अतिकाय के रथ और सारथी को नष्ट कर देते हैं। इस प्रकार युद्ध कभी समाप्त नहीं होगा, यह बात वायु देवता को मालूम है। वायु-देवता लक्ष्मण के कानों में कह देते हैं कि जब तक इसका कवच विदीर्ण नहीं होगा तब तक इसके प्राण नहीं निकलेंगे और ब्रह्मा के वरदान से प्राप्त यह कवच ब्रह्मास्त्र के प्रभाव से ही भेद्य होगा। वायुदेव के संकेत पर रामानुज तत्काल ब्रह्मास्त्र का संधान कर अतिकाय पर छोड़ देते हैं। अतिकाय उसके वेग को रोकने का बहुत प्रयत्न करता है, पर वह अमोघ अस्त्र उसका मस्तक काटकर ही अपनी गति में लीन हो जाता है। लक्ष्मण के बाण से कटा हुआ वह मस्तक हिमालय के शिखर की भांति पृथ्वी पर गिर पड़ता है। बालक समझकर लक्ष्मण से युद्ध करने में संकोच करने वाला विशालकाय राक्षस अतिकाय उसी बालक के हाथ प्राण खो बैठता है। लक्ष्मण के इस साहस की सभी वानर-वीर प्रशंसा करते हैं और श्रीराम परम प्रसन्न हो जाते हैं।

अतिकाय के निधन का समाचार सुनकर रावण सचमुच भयाक्रांत और आतंकित हो जाता है। अब पता चलता है कि अब न लंका बच सकेगी और न लंकेश्वर। श्रीराम के लोकोत्तर पराक्रम का अनुमान लगाने में अब रावण को थोड़ी-सी सफलता मिल जाती है। जिस राम के बल-पराक्रम के सामने अब तक असंख्य राक्षस हताहत हो चुके हैं, उस राम को नारायण का ही प्रतिरूप समझने का प्रयास करते हुए रावण कहता हैः—

यस्य विक्रममासाद्य राक्षसा निधनं गताः।
तं मन्ये राघवं वीरं नारायणमनामयम्॥

अब पुत्रवध और भ्रातृवध से आतंकित रावण को रणभूमि की ओर जाने में और भी संकोच होता है। अब राम के सामने जाने का मतलब है – प्राण खो बैठना। इसी ऊहापोह और उदासी में बैठे हुए राक्षसेन्द्र के पास उसका पुत्र इंद्रजित् आकर धीरज दिलाते हुए कहता हैः—

न तात मोहं परिगंतुमर्हसे,
यत्रेन्द्रजिज्जीविति नैर्ऋतेश।
नेन्द्रारि बाणभिहतो हि कश्चित्
प्राणान् समर्थः समरेऽभिधातुम्॥

जब तक आपका पुत्र इंद्रजित् जीवित है, तब तक आपको इस प्रकार मन छोटा करने की आवश्यकता नहीं है। इन्द्र को पराजित करने वाला यह तरुणवीर जब रणभूमि में अपने तीक्ष्ण वाणों का प्रयोग करने लगता है, तब कोई भी व्यक्ति अपने प्राणों की रक्षा नहीं कर पाता, चाहे वह कितना ही बलवान् क्यों न हो।

पुत्र के ये वचन पिता को संजीवनी शक्ति प्रदान

करते हैं। इसके तुरंत बाद इंद्रजित् विजय का प्रबल संकल्प लेकर रणभूमि की ओर प्रस्थान करता है तो रावण अपने पुत्र को आत्मीयता से युक्त आशीर्वाद देकर उसे विदा करता है। इस संदर्भ में रावण का एक कथन मननीय है जिसमें वह अपने पुत्र से कहता है कि जब तुमने इंद्र को ही जीता है तब साधारण मनुष्य राम की क्या गिनती है। परंतु अभी अभी अतिकाय समेत छह राक्षस-वीरों के निधन पर शोक प्रकट करते हुए रावण ने कहा था कि यह राघव साधारण मनुष्य नहीं है, साक्षात् नारायण का प्रतिरूप है। पर यह धारणा पुत्र की प्रतिज्ञा को सुनकर एकदम बदल जाती है। ममता, माया और मोह की यह महिमा है जो यथार्थ को हमेशा छिपा रखने में ही अपनी चरितार्थता समझती है।

इंद्रजित् अब की बार अपनी विजय को सुनिश्चित करने के लिए रणभूमि में पहुँचते ही रथ के पास ही बैठकर आभिचारिक यज्ञ के द्वारा अदृश्य होकर युद्ध करने की भी शक्ति प्राप्त कर लेता है और साथ ही ब्रह्मास्त्र को भी अभिमंत्रित कर लेता है। इंद्रजित् के वज्रतुल्य बाणों से सारी वानर-सेना क्षत-विक्षत हो जाती है, पर इंद्रजित् का आकार किसी को दिखाई नहीं देता। इंद्रजित् के इस विचित्र समर-तंत्र से राक्षसवीर परम हर्ष से फूले नहीं समाते और वानर-वीर चकित हो जाते हैं। फिर भी सुग्रीव, अंगद, नील, जांबवान्, द्विविद आदि वानर-वीर प्राणों का मोह छोड़कर अदृश्य योद्धा पर पर्वत-शिखर, वृक्ष-समूह आदि का प्रयोग करने का हर संभव प्रयास करते हैं। हनुमान् पर भी इद्रजित् अपना प्रभाव डालने का प्रयास करता है, पर हनुमान् पर ब्रह्मास्त्र का स्थायी प्रभाव नहीं पड़ता है क्योंकि उनको भी ब्रह्मा का वरदान प्राप्त है। इसी प्रकार राम और लक्ष्मण भी ब्रह्मास्त्र से तनिक मोहित अवश्य हो जाते हैं, पर निश्चेष्ट अंगों में भी प्राण शक्ति सचेष्ट रहती है। अस्त्र उनके अंगों को केवल आच्छादित कर रखता है। यह बात इंद्रजित् को नहीं मालूम है क्योंकि वह अब भी राम और लक्ष्मण को साधारण नर और हनुमान् को क्षुद्र वानर समझ रहा है! उसके पिता को अभी अभी आत्म-बोध का जो आभास हुआ है, उसको भी इसने अपने दंभ, दर्प और दुरहंकार से दबा दिया है। राम को भी अपनी दिव्यता का बोध तो नहीं होता, पर इतना पता चलता है कि ब्रह्मास्त्र को स्वीकार करने में ही कल्याण है। यही बात वह अपने भाई लक्ष्मण को भी कहकर उनको धीरज दिलाते हैं। पर मूढ़ इंद्रजित् समस्त वानर-सेना समेत राम और लक्ष्मण को रणभूमि में मूर्च्छित पाकर विजय गर्व से लंका की ओर प्रस्थान करता है और अपने पिता को अपनी उपलब्धि का समाचार सुनाकर संतुष्ट होता है।

इंद्रजित् के मायाजाल में सुग्रीव, नील, अंगद, जांबवान् आदि महान् वानर वीर भी निश्चेष्ट होकर बँध गए हैं और किसी को कुछ भी नहीं सूझ रहा है। पर हनुमान् और विभीषण सचेष्ट और गतिशील हैं। इसलिए वे दोनों सारी सेना को सांत्वना देते हुए रणभूमि में संचरण करने लगते हैं। विभीषण हनुमान् को समझाते हैं कि यह केवल इंद्रजित् की माया का क्षणिक प्रभाव है और आवरण के अपावृत होते ही सब ठीक हो जाएगा। पर राम और लक्ष्मण को भी मूर्च्छित देखकर हनुमान् मन ही मन कुछ चिंतित अवश्य होते हैं, पर प्रकृत्या पराक्रमी और सत्त्व संपन्न होने के कारण विभीषण के साथ चलकर वानर-सेना का मनोबल बढ़ाने का तात्कालिक दायित्व बड़ी तत्परता के साथ निभाते हैं। संध्या के समय तक सड़सठ करोड़ वानरों को धराशायी बनानेवाले ब्रह्मास्त्र के प्राणांतक प्रभाव से व्यथित विभीषण और हनुमान् जब जांबवान् के पास जाकर उनका कुशल पूछते हैं तो वृद्ध जांबवान् बड़ी व्यग्रता के साथ यह जानने की इच्छा प्रकट करते हैं कि पवनपुत्र की क्या स्थिति है। जांबवान् की यह जिज्ञासा सुनकर विभीषण को आश्चर्य होता है। राम, लक्ष्मण और सुग्रीव में से किसी की चिंता न कर केवल हनुमान् की सुरक्षा से यह इतने चिंतित क्यों हो रहे हैं, यह बात विभीषण की समझ में नहीं आती। जांबवान् अपनी चिंता का कारण स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि यदि हनुमान् जीवित हैं तो हम सब जीवित रहेंगे, अन्यथा करोड़ों वानरों में से कोई जीवित नहीं रह

पाएगा।

जांबवान् के मुँह से अपनी यह प्रशंसा सुनकर वीर हनुमान् उनके चरण छूकर सविनय अपना नाम निवेदित करते हैं। तब जांबवान् हनुमान् को अपने पास बुलाकर उनको एक महत्त्वपूर्ण और अत्यावश्यक कार्य सौंपते हैं। यह कार्य है—तत्काल वायुवेग से हिमालय पर जाकर वहाँ से मृतसंजीवनी नाम की औषधि लाना। यह काम केवल हनुमान् कर सकते हैं और वह भी अल्प समय में। जांबवान् की दृष्टि भी ब्रह्मास्त्र के प्रभाव से मंद हो गई है। इसलिए वह केवल अपने कर-स्पर्श से हनुमान् को पहचानते हैं और उनको अभीष्ट औषधि लाने का सारा विधान समझाते हैं। संजीवकरणी, विशल्यकरणी, सुवर्णकरणी और संधानी नाम की चार औषधियों की पहचान बताकर जांबवान् तुरंत हनुमान् को सत्वर कार्यसिद्धि का आशीर्वाद देकर भेज देते हैं।

त्रिकूट पर्वत से ऊपर उड़कर अंतरिक्ष में अपनी संजीवनी-यात्रा आरंभ करने वाले आंजनेय के आलोकपूर्ण आकार को देखकर लंका के राक्षस चमत्कृत हो जाते हैं और अंतरिक्ष में सभी देवता वायुनंदन के अभियान में यथेष्ट सहयोग देते हैं। भगवान् विष्णु के सहस्रधार चक्र की भांति हनुमान् अल्पकाल में ही देवतात्मा के रूप में प्रसिद्ध हिमालय पर पहुँच जाते हैं। हनुमान् को देखते ही चारों औषधियाँ अपने को छिपा लेती हैं। पर पवन-पुत्र की पावन राम भावना का प्रमाण पाकर औषधियाँ अपने आपको प्रकट तो करती हैं, पर हनुमान् पहचान नहीं पाते कि इनमें कौन सी औषधि हमारे मतलब की है। पर वहाँ पर किसी से पूछने के लिए कोई दूसरा व्यक्ति भी नहीं है और कार्य में विलंब करने से समस्त वानर सेना पर महान् संकट आ सकता है। इसलिए संकट-मोचन मारुतनंदन उन समस्त औषधियों के निलय को अपने हाथ में उठाकर लंका की ओर प्रस्थान करते हैं। जैसे ही संजीवनी के साथ समीरकुमार समरभूमि में पहुँच जाते हैं, वैसे ही उन औषधियों के सान्निध्य मात्र से समस्त वानर-सेना समेत राम और लक्ष्मण नई स्फूर्ति, नई चेतना और नई दीप्ति के साथ पुनरुज्जीवित हो जाते हैं। इतना ही नहीं, अब तक जितने वानर इस युद्ध में अपने प्राण खो बैठ थे, उनके मृत कलेवर भी सजीव हो उठते हैं। वानर-सेना ने किसी भी हतप्राण सैनिक का शरीर नष्ट नहीं किया था, इसीलिए व्यापक पुनर्जीवन संभव हो सका। वानरों की बुद्धिमता का यह अप्रत्याशित फल परम हर्ष का कारण बन जाता है। लंका के योद्धा इसके विपरीत युद्ध में मारे गए राक्षसों को तत्काल समुद्र में फेंक देते थे ताकि सेना का मनोबल बढ़ता रहे। पर इसका परिणाम यह हुआ कि अब राक्षस सेना घाटे में पड़ गई है क्योंकि संजीवनी औषधि का लाभ उनको नहीं मिल पाया।

उधर मूर्ख रावण और इंद्रजित् अपने विजय-गर्व में मस्त हो रहे हैं और इधर पुनरुज्जीवित वानर सेना रातों रात लंका पर आक्रमण करने की योजना बना रही है। आक्रमण का यह उपक्रम लंका में पहुँचते पहुँचते प्रचंड अग्निकांड का रूप धारण करने लगता है। लंका के बड़े बड़े महल अग्निशिखा के आग्रह के शिकार होने लगते हैं तो आराम से सुख की नींद सोने वाले राक्षस अचानक जाग पड़ते हैं और सर्वनाश का दृश्य अपने द्वार पर देखकर स्तंभित हो जाते हैं। फिर दोनों पक्षों के बीच भीषण युद्ध आरंभ हो जाता है। जब स्थिति गंभीर बन जाती है तब श्रीराम भी अपने भाई लक्ष्मण सहित समरभूमि में अपनी प्रत्यंचा के साथ पदार्पण करते हैं। त्रिपुर-दाह के अवसर पर भगवान् रुद्र की-सी मुखमुद्रा धारण कर महाबली राम दसों दिशाओं को धनुर्नाद से निनादित करने लगते हैं। एक ओर राक्षसों का आर्तनाद, दूसरी ओर वानरों का हर्षनाद और बीच में वेदनाद को स्फुरित करनेवाले धनुर्धारी राम का धनुर्नाद सारे वायुमंडल को नादमय बना देता है। पर लंका के लिए वह रात्रि प्रलयनिशा बन जाती है, हालाँकि उसी प्रलयनिशा के भीतर से प्रणव मंत्र का प्रशस्त स्वर भी बीच बीच में मुखरित होता-सा प्रतीत होता है।

रावण भी इस भीषण कांड से विचलित होकर

कुंभकर्ण के दोनों पुत्र – कुंभ और निकुंभ – को रणभूमि में जाने के लिए प्रेरित करता है और उनके साथ यूपाक्ष, शोणिताक्ष प्रजंघ और कंपन को भी भेज देता है। जब दोनों सेनाओं के बीच भयंकर युद्ध अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है तो ऊपर चंद्रमा की कांति, नीचे सागर की छटा और छोटे छोटे नक्षत्रों की आभा से आलोकित परमाणुओं की भांति प्रचंडवेग से समर विन्यास के संचरणशील वानर – सब मिलकर रणभूमि को एक विचित्र भामंडल अथवा प्रभा-मंडल का रूप देते हैं।

सबसे पहले अंगद और कंपन के बीच मुठभेड़ होती है और अंगद का प्रहार पाकर प्रकृत्या कंपनशील कंपन कुछ ही क्षणों में कालगति को प्राप्त करता है। फिर शोणिताक्ष कुपित होकर अंगद पर टूट पड़ता है। पर अंगद शोणिताक्ष के हाथ से उसकी तलवार छीनकर विकट अट्टहास करते हैं और उसी तलवार को लेकर राक्षसवीरों पर आक्रमण करने लगते हैं। इस भयानक दृश्य को देखकर प्रजंघ और यूपाक्ष भी अंगद पर आक्रमण करते हैं। शोणिताक्ष और प्रजंघ के बीच अंगद विशाखा नक्षत्र के बीच विराजमान पूर्ण चंद्र के समान सुशोभित तो होते हैं पर उनके प्राणों को संकट में देखकर मैंद और द्विविद उनके पास चले जाते हैं। इस प्रकार तीनों राक्षस-वीर तीनों वानर-वीरों के साथ भीषण युद्ध करते हैं जिसको देखकर सबके रोंगटे खड़े हो जाते हैं। इसी संदर्भ में अंगद अंततः प्रजंघ पर प्राणांतक प्रहार कर उसका सिर धड़ से अलग कर देते हैं।

अपने चाचा के निधन पर यूपाक्ष अश्रुपूर्ण नेत्रों से द्विविद पर आक्रमण करता है और उसकी सहायता के लिए शोणिताक्ष भी आ जाता है। इधर द्विविद की सहायता करने के लिए मैंद आ जाते हैं। एक ओर मैंद और द्विविद तथा दूसरी ओर यूपाक्ष और शोणिताक्ष आपस में भिड़ जाते हैं और अंत में द्विविद के हाथ में शोणिताक्ष और मैंद के हाथ में यूपाक्ष अपने प्राण खो बैठते हैं।

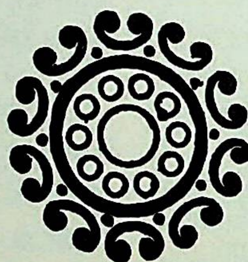
अब कुंभकर्ण के पुत्र कुंभ के साथ सुग्रीव का वास्ता पड़ता है। प्रारंभ में, मैंद अंगद और द्विविद कुंभ के साथ लड़ते हैं। पर जब स्थिति गंभीर होती प्रतीत होती है तब श्रीराम सुग्रीव से अनुरोध करते हैं कि वह जाकर स्थिति को संभाल लें। जांबवान् और सुषेण भी अंगद और सुग्रीव की सहायता करते हैं। पर अंत में सुग्रीव के मुष्टि-प्रहार से कुंभ के प्राण-पखेरू उड़ जाते हैं।

अपने भाई कुंभ को सुग्रीव के हाथ में निहत देखकर निकुंभ वानर-राज की ओर प्रलयानल की भांति दौड़ पड़ता है। पर निकुंभ की निस्तुल समर-वीरता को पहचानकर हनुमान् उसके साथ लड़ने जाते हैं। निकुंभ अपने निखरे और खरे हथियारों से हनुमान् पर प्रहार करता है। पर भूचाल से विचलित न होकर स्थिर रहनेवाले पर्वतराज की भांति मारुतनंदन मंदहास के साथ निकुंभ के प्रहार को सह लेते हैं। प्रहार पर प्रहार करते करते निकुंभ को पृथ्वी पर पटक कर उसकी छाती पर बैठकर उसे रगड़ रगड़ कर मार देते हैं। इस प्रकार कुंभ और निकुंभ दोनों सुग्रीव और हनुमान् के हाथ में मारे जाते हैं।

जब रावण के द्वारा रणभूमि में प्रेषित छहों राक्षस वीरगति को प्राप्त हो जाते हैं तब भी रावण की आँखें खुलती नहीं हैं, बल्कि आग उगलने लगती हैं। तुरंत वह खर के पुत्र मकराक्ष को रणभूमि में भेजता है। इस प्रकार एक एक करके चुन चुनकर वीर राक्षसों को रणभूमि में भेजकर रावण अपने अभीष्ट को सिद्ध करने में दयनीय असफलता प्राप्त कर रहा है और साथ ही अपने घोर स्वार्थ का भी निष्ठुर परिचय दे रहा है। विशालनयन मकराक्ष दशकंधर का आशीर्वाद लेकर समरांगण में प्रवेश करता है। प्रारंभ में वह सभी वानरों पर अपने अमोघ अस्त्रों का प्रहार कर उनको त्रस्त और आतंकित कर देता है। पर सभी वानर श्रीराम की शरण में चले जाते हैं तो रणवीर राम से भी मकराक्ष दंभ और अहंकार की बातें करने लगता है। तब दशरथनंदन खरनंदन को वाग्-बाण के स्थान पर

धनुर्बाण छोड़ने के लिए ललकारते हैं। दोनों में काफी देर तक घोर युद्ध होता है। श्रीराम खर के शूल को काट देते हैं तो मूर्ख राक्षस सत्त्ववान राम पर मुष्टि प्रहार करने का प्रयास करता है। इस पर श्रीराम को हँसी आ जाती है। हँसते ही हँसते राम आग्नेय अस्त्र से खर-पुत्र को सूर्यपुत्र (यमराज) के घर भेज देते हैं।

अब रावण का क्रोध पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है। पर कायर का क्रोध काया को ही कष्ट देता है। इष्ट तो दूर होता जा रहा है, पर सामने इष्टपुत्र इंद्रजित् दिखाई देता है – कुपित पिता को फिर से अर्थहीन अभय प्रदान करने के लिए।



72. मायावी का मोह-निषूदन

रावण का पुत्र इंद्रजित् अपनी माया के बल पर मर्यादा पुरुषोत्तम राम पर विजय प्राप्त करने के लिए अब तक कई बार अपने इन्द्रजाल का प्रयोग कर चुका है। पर उसका इन्द्रजाल विजय गर्व तक पहुँचकर वास्तविक विजय से वंचित ही होता रहा। फिर भी वह समझ नहीं पाता कि उसकी माया मायातीत महामानव का कुछ नहीं बिगाड़ सकती। नागपाश के बंधन से साक्षात् गरुत्मान् ने राम को मुक्त किया। समस्त वानरसेना समेत सामूहिक मूर्च्छा में निश्चेष्ट पड़े राम और लक्ष्मण को हिमालय से संजीवनी लाकर हनुमान् ने पुनरुज्जीवित्त किया। इन सभी दृष्टांतों को देखकर कोई भी समझदार व्यक्ति सत्य को पहचान सकता है। पर यह समझ न तो रावण में है ओर न उसके पुत्र मेघनाद में। रोना-रुलाना रावण का काम है और बादल की तरह गरजना मेघनाद (इंद्रजित्) का लक्षण है। पर रोने रुलाने और गरजने-तरजने से सत्यपराक्रम राम का सात्विक तेज न समझ में आता है और न पकड़ में आता है। इसीलिए पिता और पुत्र फिर एक बार अपना माया-जाल फैलाने का प्रयास कर रहे हैं। इसीलिए रावण इंद्रजित् को तीसरी बार अपने बल-पराक्रम का प्रयोग कर शत्रुओं को पराजित करने के लिए प्रेरित करता है। अपने पुत्र का मनोबल बढ़ाने के लिए वह अपनी पुरानी बात दुहराते हुए यह भी कहता है कि इंद्र को पराजित करने वाले अप्रतिम पराक्रमी के लिए साधारण मनुष्य राम को परास्त करना कोई बड़ी बात नहीं है। इससे स्पष्ट होता है कि राम अब भी रावण की दृष्टि में साधारण मनुष्य ही हैं। संभवतः इसी में राम की महनीयता भी निहित है। वास्तव में राम विशुद्ध मानवीयता को छोड़कर और किसी भी मानवीय गुण को महत्त्व नहीं देते हैं।

रणभूमि में प्रवेश करने से पहले इंद्रजित् पिता का पादाभिवंदन कर अग्निहोत्र की आराधना करता है। अग्निहोत्र से प्राप्त आभिचारिक बल के सहारे वह समरांगण में अदृश्य रूप में वानर-सेना को शर-वर्षा से आतंकित करने लगता है। एकदम इतनी भीषण शर-वृष्टि को देखकर राम और लक्ष्मण भी चकित हो जाते हैं। तीर तो दिखाई देते हैं पर तीर चलानेवाले का रूप देखने में नहीं आता। पर पहले के अनुभव से दोनों राजकुमार उसको इंद्रजित् का माया-जाल समझकर स्वयं सतर्क रहते हैं और दूसरों को भी धीरज दिलाते हैं। मेघनाद के माया-युद्ध से क्रुद्ध लक्ष्मण ब्रस्मास्त्र का प्रयोग करने का विचार करते हैं तो राम उनको समझाते हैं कि एक के अपराध से अनेक का संहार नहीं होना चाहिए। अन्याय का समाधान न्यास से, अधर्म का प्रतीकार धर्म से और माया का प्रत्युत्तर मर्यादा से देने में पूरा विश्वास रखनेवाले राम अपने भाई से यह भी कहते हैं कि जो योद्धा वास्तव में नहीं लड़ता है, अपने को छिपा लेता है, आत्मसमर्पण करता है और भागने का प्रयास करता है या पागल हो जाता है, उससे लड़ना उचित नहीं है। साथ ही राम इस बात को भी स्वीकार करते हैं कि मायावी इंद्रजित् नीच है और पापी भी है, पर उसने अपनी माया से अपने को और अपने रथ को छिपा रखा है, इसलिए उसका वध करने में दोष है।

धर्म-अधर्म, न्याय-अन्याय, उचित-अनुचित आदि पर विस्तार से विचार कर अन्त में राम एक ऐसे अमोघ अस्त्र का आविष्कार करते हैं जो अगोचर इंद्रजित् को, वह जहाँ कहीं भी हो, प्राणों से वियोजित कर सके। पर जैसे ही राम इस शर का संधान करने के लिए धनुष अपने हाथ में लेते हैं, कूटयुद्ध का मर्मज्ञ इंद्रजित् महात्मा राम के आशय का अनुमान लगाकर युद्धभूमि छोड़कर लंकापुरी में प्रवेश कर जाता है। पलायन करनेवाले शत्रु पर प्रहार नहीं करना चाहिए, यही सोचकर राम अपना अमोघ अस्त्र छोड़ने का विचार छोड़ देते हैं। पर इंद्रजित् माया को छोड़कर दूसरा उपाय ही नहीं जानता। इसलिए वह कुछ ही देर में अपने मन में एक माया-जाल रचकर फिर रणभूमि में लौट आता है। अब की बार वह अपने रथ में एक माया-सीता को स्थापित कर वानरसेना के बीच चला जाता है। हनुमान् माया सीता को वास्तव में सीता ही समझकर अत्यंत उत्तेजित होते हैं। माया सीता और वास्तविक सीता में हनुमान् को कोई अंतर नहीं दिखाई देता। वही दीन वदन, वही विशाल नेत्र, वही मैला अंचल, वही दुर्बल शरीर, वही रूप, वही रेखा और वही दृष्टि—सभी प्रकार से रामपत्नी प्रतीत होनेवाली उस माया कृति को देखकर हनुमान् की आँखों से अश्रुधारा बहने लगती है। मारुतनंदन के इस क्षणिक मोह का लाभ उठाकर इंद्रजित् उस माया-सीता के केश पकड़कर घसीटता है। सीता चिल्लाती रोती बिलखती है। तो सभी वानर दुखी हो जाते हैं। हनुमान् इंद्रजित् को धमकी देते हैं कि इस पाप का फल उसे भोगना पड़ेगा। पर दुरात्मा इंद्रजित् निष्ठुर अट्टहास के साथ म्यान से तलवार खीचकर सीता का सिर काटने को उद्यत हो जता है। इस पर हनुमान् फिर एक बार इंद्रजित् को आक्रोश भरी वाणी में सतर्क कर देते हैं। पर मायावी को जो माया दिखानी थी, वह दिखाकर ही वह छोड़ता है। मायामयी सीता का शरीर इंद्रजित् की तलवार की वार से टुकड़े-टुकड़े होकर नीचे गिर जाता है। मिथ्या विजय के मादक आनंद में मायावी इंद्रजित् घोर अट्टहास के साथ वानरसेना पर प्रहार करने लगता है।

इंद्रजित् के इस दारुण कृत्य से भयभीत वानर रणभूमि में इधर-उधर भागने लगते हैं तो हनुमान् उन सब को धीरज दिलाते हुए रणभूमि पर डटे रहने को कहते हैं। हनुमान् के नेतृत्व में सभी वानर धैर्य और साहस के साथ इंद्रजित् पर पत्थर, पहाड़ और वृक्ष फेंकने लगते हैं। पर इंद्रजित् की आवाज़ और उस के शरों के आघात को छोड़कर वानर-सेना के सामने प्रहार करने के लिए और कोई आधार ही नहीं है। इसीलिए प्रहार के सभी साधन वापस आ जाते हैं। यहाँ तक कि हनुमान् के द्वारा प्रक्षेपित भीषण शिला भी धरती पर गिर पड़ती है और इंद्रजित् विकट अट्टहास करता रहता है। अदृश्य योद्धा के साथ इस प्रकार लड़ते रहने में कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता और इसके अतिरिक्त सारे उद्यम का केन्द्र सीता तो अब नहीं रही। इसलिए हनुमान् सोचते हैं कि युद्धभूमि में समय व्यर्थ करने की अपेक्षा श्रीराम के पास जाकर इंद्रजित् के इस कुत्सित कर्म का समाचार सुना दें और उसके बाद श्रीराम और सुग्रीव जैसा कहें, वैसा करें। जैसे ही हनुमान् अपने अनुयायियों के साथ श्रीराम के शिविर की ओर चल पड़ते हैं, वैसे ही इंद्रजित् लंका की ओर प्रस्थान कर आगे की विजय के लिए आभिचारिक होम आरम्भ करता है। वास्तव में वह इसी क्षण की प्रतीक्षा कर रहा था कि हनुमान् श्रीराम के पास जाकर आँखों देखा हाल उनको बता दें। अब यह कार्य सिद्ध हो गया है। इसलिए वह निश्चिंत होकर आगे की तैयारी में लग जाता है।

इधर श्रीराम के कानों में हनुमान् के नेतृत्व में हो रहे युद्ध का कोलाहल पहुँच जाता है। उनको इस बात की आशंका भी होती है कि हनुमान् संकट में हैं। पर संकटमोचन को संकट से मुक्त करना कोई आसान काम नहीं है। फिर भी वृद्धवीर जांबवान् को यह काम सौंपा जाता है, पर जांबवान् को मार्ग में ही उदास मुख मुद्रा में पवनपुत्र दिखाई देते हैं। उदासी का कारण हनुमान् के मुँह से ही सुनकर जांबवान् भी उदास हो

जाते हैं। कुछ ही समय में यह मर्मभेदी समाचार श्रीराम के कानों तक पहुँच जाता है। समाचार सुनाने वाले स्वयं समीरकुमार हैं, इसलिए राम को समाचार की सचाई पर कोई संदेह नहीं होता। हनुमान् की बात सुनते ही मृदुलहृदय राम शोक से मूर्च्छित हो जाते हैं। जड़ से कटे हुए वृक्ष की भांति वह पृथ्वी पर गिर पड़ते हैं।

माया-सीता के दुर्मरण का दारुण समाचार सुनकर सीतावल्लभ राम का बेहोश हो जाना वैसा ही स्वाभाविक है जैसा घने बादलों से घिरे हुए आकाश में ग्रह नक्षत्रों का आँखों से ओझल हो जाना। ये बादल हैं मेघनाद की माया के बादल जो मारुतनंदन जैसे महामति को भी मोहित कर देते हैं। शोक से मूर्च्छित रघुनंदन को देखकर समस्त वानर-वीर सभी दिशाओं से आकर फूलों के सुगंधित जल से उनका उपचार करते हैं। कुछ ही देर में राम होश में आ जाते हैं, पर मन स्वस्थ नहीं हो पाता। अपने भाई को अस्वस्थ और आंदोलित अवस्था में देखकर सुमित्रानंदन उनको अपनी दोनों भुजाओं के बीच बिठाकर सहेतुक और सार्थक शब्दों से उनको सांत्वना देने का प्रयास करते हैं। सबसे पहले भ्रातृपरायण लक्ष्मण इस सत्य को पचा नहीं पाते कि निरंतर सत्य और धर्म का तत्परता से अनुपालन करनेवाले भैया को इतना दारुण दुख क्यों सहना पड़ रहा है। आखिर उनका अपराध क्या था? क्या पिताजी को सत्यसंध बनाने के लिए राज्य छोड़कर वनवास की दीक्षा स्वीकार करना उनका अपराध था? यदि यह अपराध नहीं होता तो वह आराम से अयोध्या में राज्या का भोग अनुभव करते। क्या सीता की मनोकामना पूरी करने के लिए मायामृग के पीछे जाना अपराध था? रणभूमि में पहली बार रावण से युद्ध करते समय लगभग अपने शत्रु के प्राणों को अपनी मुट्ठी में पाकर भी उदात्तता का परिचय देने के लिए और उसमें मानसिक परिवर्तन लाने के सदाशय से उनको छोड़ देना क्या अपराध था? यदि वह अपराध न किया होता तो अब तक लंका अरावण बन जाती। अभी अभी मायावी इंद्रजित् के प्रच्छन्न युद्ध को ब्रह्मास्त्र से विफल बनाकर माया का उत्तर महिमा से देने के प्रस्ताव का प्रतिरोध करना क्या अपराध था?

हाँ, लक्ष्मण को पूरा विश्वास हो जाता है कि धर्मात्मा राम के ये सभी सत्कर्म आज अपराध बन गए हैं क्योंकि पापी रावण और मायावी इंद्रजित् फूले नहीं समा रहे हैं और धर्मपरायण राम अपनी सहधर्मचारिणी के साहचर्य से वंचित हुए जा रहे हैं। यदि धर्म का फल सुख और अधर्म का फल दुख ही होता हो तो धर्म के साथ इतना अन्याय नहीं हुआ होता। वनवास के समय यदि राम को अपने पुरुषार्थ का पौरुषमय बोध होता तो वह विमाता की विकृत कामना को पूरी करने के लिए सहज सिद्ध अर्थ को ठुकराकर तपःसाध्य धर्म का आश्रय नहीं लेते। क्या धर्म के कर्मठ पालन का परिणाम यही होता है? कुछ समझ में नहीं आता – न राम की और न लक्ष्मण की। अंतर केवल यही है कि राम का मन विद्रोह नहीं करता है जबकि लक्ष्मण का अंतःकरण बहिर्मुख हुए बिना नहीं रह पाता। इसीलिए वह राम को सांत्वना देने के प्रयास में इस कठोर सत्य की कटु आलोचना करते करते दोनों के संताप का ही संवर्द्धन करते हैं। सत्य और धर्म की इस संशयशील समीक्षा के अंत में रामानुज इस अप्रिय निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए विवश हो जाते हैं कि संसार में धर्म निरर्थक है क्योंकि वह अर्थसिद्धि का साधन नहीं बन सकता जब कि पुरुषार्थ को ही अपना एकमात्र धर्म या परिकल्पित धर्म समझनेवाला अर्थ-परायण व्यक्ति धर्मात्मा के धर्म को भी अकर्मण्य बना देता है। अर्थ ही संसार का सार है क्योंकि धर्म सारहीन सिद्ध हो रहा है। लक्ष्मण अपना यह आंतरिक अनुताप अपने तक सीमित न रखकर अपने भाई के सामने बड़ी वेदना के साथ व्यक्त करते हैं। दोनों दुखी हैं, एक दूसरे के दुख से दुखी हैं। फिर सांत्वना कौन किसको दे। फिर भी रामानुज अपनी भूमिका को पहचान कर और भाई की भाव-शबलता को समझ कर आश्वासन और आत्मविश्वास के स्वर में कहते हैं:—

तदद्य विपुलं वीर दुःखमिन्द्रजिता कृतम्।
कर्मणा व्यपनेष्यामि तस्मादुत्तिष्ठ राघव॥

आज इंद्रजित् ने हमें जो बहुत बड़ा दुख पहुँचाया है, उसको मैं अपने कर्म के बल पर दूर करूँगा इसलिए आप अपनी चिंता छोड़कर उठें और साहस बटोरें।

श्रीराम की निसर्ग महनीयता की प्रशंसा करते हुए लक्ष्मण सलक्षण भाषा में कहते हैं:–

उत्तिष्ठ नरशार्दूल दीर्घबाहो, धृतव्रत।
किमात्मानं महात्मानं आत्मानं नावबुद्ध्यसे॥

आप साधारण मनुष्य नहीं हैं। अपने संकल्प के पक्के और शूरता में शेर हैं। आपके बाहुबल का पूरा भरोसा केवल आपको ही नहीं बल्कि हम सब को है। इसलिए आप निराश न होकर उठिए, अपनी आत्मा को पहचानिए और अपनी महीयसी आत्मा के बल पर इस महीतल को महत्ता प्रदान कीजिए।

रामानुज इस प्रकार जब अपने भाई का मनोबल बढ़ा रहे थे तभी सारी सेना को सुव्यवस्थित कर अचानक विभीषण राम के पास आते हैं और राम को विषण्ण वदन देखकर स्वयं व्याकुल हो जाते हैं। विषाद का कारण जानकर आसुरी माया के मर्मज्ञ विभीषण श्रीराम के संताप को निराधार निरूपित करते हुए कहते हैं कि हनुमान् ने जो समाचार सुनाया है वह तभी सत्य हो सकता है जब सागर का सारा जल सूख जाए। अपने भाई रावण की कांतासक्ति और विशेषकर सीतासक्ति से भली-भांति परिचित विभीषण स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिए रावण सब कुछ कर सकता है, पर सीता का वध कदापि नहीं करेगा। वह स्थिति को स्पष्ट करते हुए श्रीराम को समझाते हैं कि यह सब इंद्रजित् का इंद्रजाल है, जिस सीता का वध हनुमान् ने अपनी आँखों से देखा है, वह वास्तव में मायामयी है, सीता का माया रूप है, इसलिए चिंता अथवा शोक का कोई आधार नहीं है। प्रामाणिक सूचना के आधार पर विभीषण यह भी बताते हैं कि शत्रुसेना में विषाद की छाया फैलाकर मायावी इंद्रजित् निकुंभिला में विजय-होम करने जा रहा है। इसलिए वह राम को यह सलाह देते हैं कि इस यज्ञ के आरम्भ होने से पहले ही लक्ष्मण को लंका भेजकर यज्ञ में बाधा डालनी है ताकि उसके बाद उसका वध करने में आसानी हो। चिंता से जड़ीभूत और शोक से संतप्त होने के कारण श्रीराम विभीषण की पूरी बात ध्यान से नहीं सुनते, इसलिए फिर से बात दुहराने के लिए कहते हैं। श्रीराम की मनोदशा को ठीक ठीक समझ कर विभीषण अपनी बात फिर से दुहराते हैं और इस बात पर बल देते हैं कि लक्ष्मण को वानर-वीरों के साथ तत्काल इंद्रजित् के पास भेजना परम आवश्यक है क्योंकि यदि यज्ञ पूरा हो गया तो इंद्रजित् को तीनों लोकों में कोई भी पराजित नहीं कर सकेगा। विभीषण राम को यह भी समझाते हैं कि अब यह उदासी का समय नहीं है, धीरज से और सतर्कता से काम करने का समय है, अन्यथा हमारा शोक शत्रुओं की विजय में साधक बन सकता है।

आत्मवेत्ता राम विभीषण के परामर्श को मानकर लक्ष्मण को आशीर्वाद देकर हनुमान्, सुग्रीव, जांबवान् आदि के साथ निकुंभिला में दीक्षा ग्रहण करने जा रहे इंद्रजित् के पास भेजते हैं। अभी अभी दोनों राजकुमारों के मन में जो उदासी छा गई थी, वह एकदम समाप्त हो जाती है और लक्ष्मण को भी अभी कुछ ही समय पहले की गई अपनी प्रतिज्ञा को कार्यरूप देने का अवसर मिल जाता है। भ्रातृवत्सल राम का पादाभिवंदन कर समरशूर सुमित्रानंदन अपने समर्थ सहयोगियों के साथ इंद्रजित् की यज्ञवाटिका के पास पहुँच जाते हैं। परन्तु जहाँ पर इंद्रजित् आभिचारिक होम कर रहा था उसके चारों तरफ राक्षस सेना पहरा देती दिखाई देती है। काली घटा के समान सभी दिशाओं में छाई हुई राक्षस सेना से आच्छादित निकुंभिला-मन्दिर में इंद्रजित् यज्ञ की दीक्षा लिए बैठा है। इसलिए जब तक बाहर के व्यूह का भेदन न किया जाए तब तक इंद्रजित् तक पहुँचना भी संभव नहीं है। यदि यज्ञ की समाप्ति के पहले इंद्रजित् का वध न किया गया तो उसके बाद उसका वध असंभव है और जब तक इंद्रजित् जीवित है तब तक रावण भी सुरक्षित है। यह सारा रहस्य विभीषण के माध्यम से लक्ष्मण समझ जाते हैं।

अब समस्त वानर-सेना राक्षसों के समरव्यूह का भेदन करने के लिए शिलावृष्टि करने लगती है और शुभ-लक्षण लक्ष्मण शर-वर्षा करने लगते हैं। उधर से राक्षस भी वानर-सेना पर आक्रमण करते हैं। दोनों पक्षों में भयंकर संघर्ष होता है। बाहर का यह कोलाहल भीतर बैठे इंद्रजित् के कानों में पहुँच जाता है तो वह त्रस्त और कुपित होकर बाहर निकलता है। इंद्रजित् के बाहर निकलते ही हनुमान् एक विशाल वृक्ष को उखाड़कर सारी राक्षस सेना को क्षत-विक्षत कर देते हैं। हनुमान् के इस हत्याकांड को देखकर इंद्रजित् अपने सारथी को हनुमान् की ओर रथ चलाने को कहता है। अब हनुमान् और इंद्रजित् के बीच युद्ध आरम्भ हो जाता है। बिल्कुल उसी समय विभीषण लक्ष्मण को सतर्क करते हुए कहते हैं कि इंद्रजित् का वध करने के लिए यही सब से उपयुक्त समय है, अन्यथा यह क्रूर राक्षस हनुमान् का प्राण-हरण कर बैठेगा। इसी अवसर का लाभ उठाकर रावण का छोटा भाई विभीषण रावण के पुत्र इंद्रजित् का साधना-स्थल दिखाते हैं जो कि एक बरगद के पेड़ के भीतर है। अब इंद्रजित् को उस पेड़ के पास जाने से रोकना है तभी उस पर विजय प्राप्त हो सकती है, यह मार्मिक संकेत ग्रहण कर कुशल योद्धा लक्ष्मण तत्काल इंद्रजित् को युद्ध के लिए ललकारते हैं।

अब इंद्रजित् का क्रोध और आक्रोश लक्ष्मण के प्रति उतना नहीं है जितना कि पास में खड़े विभीषण के प्रति होता है क्योंकि सारा रहस्य बताकर अपने भतीजे का वध करवाने के लिए विभीषण लक्ष्मण को यहाँ तक ले आए हैं। विभीषण को देखते ही इंद्रजित् इस षडयंत्र को समझ लेता हे और चाचा की निंदा करते हुए उनको कुलद्रोही, बंधुद्रोही, स्वजन-विरोधी और धर्म-दूषण कहता है। अपने भाई को छोड़कर पराये लोगों के साथ मिलना और उनको अपने कुल, समाज और राष्ट्र के विरुद्ध भड़काना इंद्रजित् की दृष्टि में एक ऐसा नीच कर्म है जो विभीषण जैसा भ्रातृद्रोही ही कर सकता है। पर विभीषण समय पाकर अपने भतीजे को उसके पिता के कर्मों की दारुण गाथा सुनाकर धर्म-विरोधी भ्राता का परित्याग करने की बात को न्यायसम्मत, धर्म-सम्मत और लोकसम्मत सिद्ध करते हैं। जिस भाई ने हित की बात कहने वाले अपने छोटे भाई को घर से निकाला है, उसको छोड़ने में न तो कोई पाप है और न कोई अपराध। गलती से हाथ लगे सांप को छोड़ने से जो राहत मिलती है, लगभग वही सुख ऐसे भाई को छोड़ने से मिलता है, यही विभीषण का निश्चित मत है। अंत में विभीषण दूसरों की संपत्ति और साध्वी स्त्री का अपहरण करनेवाले अपने भ्राता के कुकर्म का परिणाम स्पष्ट शब्दों में लंका का सर्वनाश बताते हुए दुरभिमानी, उद्दंड और मूर्ख इंद्रजित् से कहते हैंः—

निदर्शय स्वात्मबलं समुद्यतं
कुरुष्व सर्वायुधसायकव्ययम्।
न लक्ष्मणस्यैत्य स बाणगोचरं
त्वमद्य जीवन् सबलो गमिष्यसि॥

"अब तुम अपना सारा बल दिखाकर समस्त आयुधों और बाणों का व्यय कर डालो, पर इससे तुझे कुछ नहीं मिलने वाला है। लक्ष्मण के सामने आकर तू अब अपनी सेना के साथ सजीव नहीं लौट सकेगा।"

विभीषण के इस 'शास्त्ययन' को सुनकर रावणकुमार अत्यंत कुपित हो जाता है और रथ पर बैठकर रणरंग में जा पहुँचता है। वहां पर हनुमान् को रथ बनाकर उदयाचल पर आरूढ़ सूर्यदेव के समान विराजमान रामानुज को देखकर मेघनाद अपना मोघनाद सुनाने लगता है और लक्ष्मण को युद्ध के लिए ललकारता है। लक्ष्मण को डराने और धमकाने के लिए वह नागपाश-बंधन की घटना का स्मरण कराता है। इस पर लक्ष्मण को हँसी आ जाती है क्योंकि इंद्रजित् केवल बंधन की बात कर रहा है, बंधन से मुक्त होने की बात नहीं। वास्तव में यह प्रसंग इंद्रजित् की घोर पराजय का परिचायक है। रणभूमि में शत्रु के सामने खड़े होकर विजय प्राप्त करना वीरता का लक्षण है और अपने को छिपाकर माया के बल पर शत्रु को मोहित करना रणभीरुता और कायरता का सूचक है।

कुछ समय तक दोनों वीरों के बीच इसी प्रकार शब्दों का युद्ध चलता है और उसके बाद शर-युद्ध आरंभ होता है। फिर भी बीच बीच में शौर्य और साहस की कमी की पूर्ति करने के लिए इंद्रजित् बार बार अपनी समरशूरता की प्रशंसा करने लगता है तो कर्मवीर लक्ष्मण अपने शत्रु को समझाते हैं कि वाग्बल छोड़कर वास्तविक बल का आश्रय लें। धीरे धीरे युद्ध भयंकर रूप धारण करता है। कभी इंद्रजित् शर-ग्रस्त होता है तो कभी लक्ष्मण क्षतगात्र हो जाते हैं। किस शस्त्र का प्रतिरोध किस शस्त्र के सहारे करना है, इस की दोनों वीरों को पूरी पूरी जानकारी है। पर इंद्रजित् के पास वे सभी अस्त्र और शस्त्र अभी उपलब्ध नहीं हैं। कुछ तो पहले से नष्ट हो चुके हैं और कुछ घर पर ही रह गए। यहाँ तो हवन करने के लिए इंद्रजित् आ चुका है, इसलिए वह पूर्ण रूप से युद्ध करने के लिए सन्नद्ध, सायुध और सुसज्जित नहीं है। फिर भी उपलब्ध साधनों से वह अपने शत्रु का डटकर सामना करता है क्योंकि अब यह केवल सुरक्षा का ही प्रश्न नहीं है बल्कि प्रतिष्ठा का भी प्रश्न है। दोनों अपनी अपनी पूरी शक्ति लगाकर युद्ध करते हैं। बीच में विभीषण इशारा करते हैं कि अब इंद्रजित् का सारा बल लगभग समाप्त हो चुका है, इसलिए इसका वध करने में अब शीघ्रता करनी चाहिए। विभीषण का यह संकेत लक्ष्मण के शर-लाघव को बढ़ावा देता है। इंद्रजित् के तीखे तीखे बाणों को सहते हुए लक्ष्मण व्यंग्य में कहते हैं कि तुम्हारे ये बाण बहुत मीठे लग रहे हैं, कुछ तीखे भी हों तो चखा दो। इस प्रकार परिहास ही परिहास में वीर लक्ष्मण रावणकुमार के कवच को तोड़ देते हैं। इसके बदले में इंद्रजित् भी लक्ष्मण के कवच के टुकड़े टुकड़े कर देता है। फिर भी साहस बटोरकर दोनों आपस में लड़ते रहते हैं।

लक्ष्मण का मनोबल बढ़ाने के लिए विभीषण भी बीच बीच में हस्तक्षेप करते हैं, पर यथासंभव, दूर रहकर ही समरसाक्षी की भूमिका निभाते हैं। लक्ष्मण को सहयोग देने के लिए वह जांबवान्, हनुमान् आदि वानर-वीरों को प्रेरित करते हैं, पर स्वयं अपने भतीजे पर प्रहार करने का साहस नहीं कर पाते। यदि कभी रोषावेश अथवा रामानुराग के कारण वह इंद्रजित् पर धनुष उठा भी लेते हैं तो तुरन्त उन की आँखों में आँसू आ जाते हैं और शर-संधान को रोक देते हैं। विभीषण के मन में न रावण से द्वेष है और न इंद्रजित् के प्रति आक्रोश। उनके मन में केवल क्षोभ है और इस क्षोभ का कारण केवल रावण और इन्द्रजित् का जघन्य आचरण है।

इस बीच लक्ष्मण अपने प्रखर बाणों का प्रयोग कर इंद्रजित् के रथ को, रथ के घोड़ों को और सारथी को नष्ट कर देते हैं। अब इंद्रजित् पैदल ही लक्ष्मण के साथ लड़ने लगता है। जब तक रथ है तब तक सारथी के बिना भी काम चला लेता है। स्वयं रथ चलाते हुए साथ साथ शर-संधान करने में भी सफल होता है। परन्तु अब जब रथ नहीं है तो पथ का आश्रय लेता है। पर यह अधिक समय तक चल नहीं पाता। थोड़ी देर के लिए वह कुछ समर्थ राक्षसवीरों को रणभूमि सौंप कर दूसरा रथ और कुछ नये आयुध लाने के लिए लंका में प्रवेश करता है। पर इस बात पर वानर सेना में से किसी का ध्यान नहीं जाता। यहाँ तक कि सूक्ष्मबुद्धि सुमित्रानंदन भी इस पर ध्यान नहीं दे पाते क्योंकि इस बीच में दूसरे राक्षस उनका ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किए रहते हैं। इतने में नये रथ पर आरूढ़ इंद्रजित् दिखाई देता है। राक्षसकुमार की इस स्फूर्ति को देखकर लक्ष्मण आश्चर्य प्रकट करते हैं। पर अधिक सावधानी और सतर्कता के साथ युद्ध करने के लिए वह अपने आप को तैयार रखते हैं। फिर भयंकर युद्ध होता है। तीन दिन और तीन रात इस युद्ध की विभीषिका से वानर और राक्षस विक्षुब्ध हो जाते हैं। पता नहीं चलता कि अस्त्र किधर से आ रहे हैं और किधर जा रहे हैं, किसका धनुष टूटा और किसका ध्वज गिर गया। वारुण, सौर, आग्नेय, आसुर, माहेश्वर आदि दारुण से दारुण अस्त्रों का दोनों वीर बड़े कौशल और सामर्थ्य के साथ प्रयोग करते हैं। बार-बार विभीषण वानर-वीरों को और राजकुमार लक्ष्मण को सतर्क करते हुए और उनका उत्साह बढ़ाते हुए कहते हैं कि अब लंका में

जो भी बल है, वह बिल्कुल सामने है और इसे समाप्त करने से रावण को भी समाप्त समझना चाहिए। विभीषण की इस भूमिका पर कुपित होकर इंद्रजित् उन पर भी आक्रमण करने का प्रयास करता है। पर लक्ष्मण बीच में आकर विभीषण को बचाने का प्रयास करते हैं। अंतरिक्ष में ऋषि, देवता, गंधर्व, गरुड़ और नाग लक्ष्मण की रक्षा करते रहते हैं।

अब लक्ष्मण अचानक एक ऐसे अस्त्र का आविष्कार और अभियंत्रण कर लेते हैं जो देखने में सुन्दर, पर शत्रु को चीर डालने में सक्षम है। महातेजस्वी इंद्र दानवों का संहार करते समय इसी प्रकार के अस्त्र का प्रयोग करते थे। इसीलिए इसका नाम ऐन्द्रास्त्र है। पर लक्ष्मण के हाथ में वह ऐन्द्रास्त्र महेन्द्रास्त्र बन जाता है और सत्यपराक्रम राम के अमोघ आशीर्वाद का बल भी उस महान् अस्त्र को अलौकिक शक्ति प्रदान करता है। इस लोकोत्तर अस्त्र को अपने उत्तम धनुष पर चढ़ाकर रामानुज प्रतिज्ञा के स्वर में कहते हैं:—

धर्मात्मा सत्यसंधश्च रामो दाशरथिर्यदि।
पौरुषेणाप्रतिद्वंद्वस्तदैनं जहि रावणिम्॥

यदि दशरथ-नंदन राम धर्मात्मा और सत्यवादी हैं और यदि पुरुषार्थ की साधना में उनकी समानता करनेवाला वीर और कोई नहीं है तो यह अस्त्र रावणकुमार इंद्रजित् का वध कर डालेगा।

इस प्रतिज्ञा के साथ जैसे ही लक्ष्मण उस अमोघ अस्त्र को इंद्रजित् पर छोड़ते हैं तत्काल वह जगमगानेवाले मणि-कुंडलों से अलंकृत और शिरस्त्राण से संयुक्त रावणकुमार के मस्तक को धड़ से काटकर धरती पर गिरा देता है। इस अद्भुत घटना को देखकर अंतरिक्ष में युद्ध का निरीक्षण करनेवाले दिव्यात्मा पुष्प-वृष्टि करते हैं। राक्षस भयभीत होकर दसों दिशाओं में भागने लगते हैं जैसे सूर्य के अस्त होते ही सूर्य की किरणें आकाश में लीन हो जाती हैं। विभीषण, हनुमान्, जांबवान् आदि महाबली लक्ष्मण के महान् कर्म की प्रशंसा कर उनका हार्दिक अभिनंदन करते हैं।

अब शुभ-लक्षण लक्ष्मण को साथ लिये विभीषण, हनुमान् और जांबवान् राम और सुग्रीव के पास पहुँचते हैं। जब विभीषण लक्ष्मण की विजय का शुभ समाचार शुभतर वाणी में शुभतम राम को सुनाते हैं तो सत्यधर्मपरायण राम अपने अनुज की विजय को आत्मा की विजय मानकर अपने अंतरंग में अपार हर्ष का अनुभव करते हैं। अभी अभी माया सीता के वध से निरुत्साहित होकर भाई लक्ष्मण ने धर्म और सत्य की सार्थकता और सक्षमता पर जो प्रश्नचिह्न लगाया था उसी का उत्तर लक्ष्मण ने अपने उत्तम धनुष और ऊर्जस्वित बाणों के बल पर प्राप्त कर लिया है और यही उत्तर अब रावण को निरुत्तर बना देगा। इसी विचार से रामचंद्र भीतर ही भीतर पुलकित होते हैं और इसी आंतरिक प्रसन्नता को प्रकट करते हुए वह लक्ष्मण का मस्तक सूँघ लेते हैं, उनको छाती से लगा लेते हैं और आत्मीयता के साथ उनको अपनी गोद में बिठाकर प्रेम से उनकी पीठ पर हाथ फेरने लगते हैं। अग्रज की इस आत्मीयता से अनुज का मस्तक विनम्रता के भार से तनिक झुक जाता है और करुणाधाम राम के कर-स्पर्श से लक्ष्मण का घायल शरीर स्वास्थ्य लाभ करने लगता है। लौकिक उपचार सुषेण के माध्यम से हो जाता है। सुषेण की चिकित्सा से लक्ष्मण पूर्ण रूप से स्वस्थ होकर फिर युद्धभूमि के लिए अपने को तैयार कर लेते हैं। विजय के उल्लास से प्रफुल्ल अपने भाई लक्ष्मण के प्रसन्न वदन की ओर प्रसन्नराघव बार बार प्रेम से देखते हैं और कहते हैं कि अब रावण रणभूमि में अवश्य दिखाई देगा और उसे देखते ही मैं अपनी प्रतिज्ञा का पूरा पालन करूँगा। भावी विजय की इस भव्य परिकल्पना का अधिकांश श्रेय अपने भाई लक्ष्मण को देते हुए रामभद्र कहते हैं:—

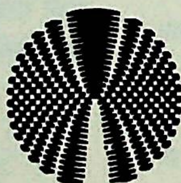
त्वया लक्ष्मण नाथेन सीता च पृथिवी च मे।
न दुष्प्रापा हते तस्मिन् शक्रजेतरि चाहवे॥

भाई लक्ष्मण, तुमने आज इंद्रजित् को पराजित कर एक सार्वभौम विजय का श्रेय प्राप्त किया है। इंद्र को पराजित करनेवाले को रणभूमि में परास्त करना

कोई साधारण कार्य नहीं है। ऐसी प्रभुता से युक्त भाई को पाकर मैं सचमुच कृतार्थ हूँ। अब सीता को क्या, समस्त पृथ्वी को भी मैं अनायास प्राप्त कर सकता हूँ।

भू और भूतनया सीता को प्राप्त करने की इस प्रशस्त भावना में वेदवेद्य विद्या के विशुद्ध अधिकारी राम श्रुतिमहती वाणी में महात्माओं की मनीषा को ही उद्‌घोषित करते प्रतीत होते हैं:—

भूमैव सुखं भूमात्वरे विजिज्ञासितव्यम्



73. महामेध की महती आहुति

जब सत्यपराक्रम राम द्वारा कुंभकर्ण का वध हुआ था तब रावण ने अनुभव किया था कि उसकी दाहिनी भुजा ही कट गई जिसके भरोसे पर वह देवताओं को भी युद्ध के लिए ललकारा करता था। अब रामानुज के हाथ में अपने पुत्र इंद्रजित् की भी वीरगति की प्राप्ति सुनकर रावण स्वयं को अपनी दोनों भुजाओं से वंचित अनुभव करता है। पहले तो उसको विश्वास नहीं होता कि देवताओं के प्रभु इंद्र को पराजित करने वाला इंद्रजित् साधारण मनुष्य लक्ष्मण के हाथ परलोकवासी हो गया। पर यह प्रत्यक्ष सत्य है जिस पर विश्वास तो करना ही पड़ेगा, बल्कि इस की प्रतिक्रिया का भी उपाय सोचना पड़ेगा। पर अभी वह चारों तरफ परम दारुण शून्यता का अनुभव कर रहा है क्योंकि इंद्रजित् उसकी आशा का एकमात्र आधार था। इसलिए निराधार, निरानंद और निःसहाय रावण के नेत्रों से अविरल अश्रुधारा बहने लगती है। भीतर से शोक और बाहर से क्रोध प्रकट करनेवाला उसका आरक्त मुख-मंडल तेल की बूँदों की भड़ी लगा रहे दीपक के समान भीतर से जल रहा था और बाहर से सजल दिखाई दे रहा था।

प्रलयानल की तरह प्रचंड क्रोध से दशों दिशाओं पर तीक्ष्ण दृष्टि डालने वाले की ओर बचे खुचे राक्षसवीरों की संत्रस्त दृष्टि आकृष्ट होती है। स्पष्टतः अब वह तदनंतर कर्तव्य के बारे में गंभीरता के साथ सोच रहा है। पहले वह आत्मविश्वास के साथ सोचता है कि मैं इसी क्षण रणभूमि में जाकर राम, लक्ष्मण, सुग्रीव आदि का संहार करूं और सीता को स्वाधीन बना लूँ। पर दूसरे ही क्षण उसका सारा आत्म-प्रत्यय पराजय की आशंका से पराभूत हो जाता है। फिर वह सोचता है कि वह रण में विजय प्राप्त करे या न करे, पर राम को सीता पुनः प्राप्त न हो। इसलिए वह पहले सीता का वध करना चाहता है और उसके बाद राम का सामना। कुछ दिन पहले इंद्रजित् ने माया-सीता का वध किया था। अब वह इस मिथ्या को सत्य बनाना चाहता है। सीता का वध करने के बाद राम का संहार करना आसान हो जाएगा क्योंकि राम का सारा मनोबल और आत्मबल सीता-वियोग से समाप्त हो जाएगा। केवल बाहुबल का सामना करना रावण जैसे वीर के लिए कठिन काम नहीं है। इसी विचार को कार्य रूप देने के लिए क्रूरकर्मा रावण पैनी तलवार लेकर अशोक-वाटिका में बैठी सीता की ओर दौड़ पड़ता है। रोहिणी को आक्रांत करनेवाले अंगारक ग्रह की भांति आग बरसाने वाली आँखों से सीता की तरफ दृष्टिपात करनेवाले रावण को देखकर सभी राक्षस आतंकित हो जाते हैं और शोकाकुल सीता भी भयभीत हो जाती है। रावण की मुखमुद्रा उसके मन के क्रूर आशय को स्पष्ट कर रही है। अपने अवसान को लगभग आसन्न समझकर अवनि-तनया अपने भाग्य पर रोने लगती हैं और पछताती हैं कि हनुमान् के प्रस्ताव को स्वीकार कर उसी दिन राम के पास पहुँच जाना चाहिए था। पर विधि की विडंबना है कि आज सनाथ होकर भी उनको अनाथ-मरण को स्वीकार करना पड़ रहा है।

पर इतने में सुपार्श्व नाम का राक्षस रावण को इस

दारुण कृत्य से रोकते हुए कहता हैः—

वेद विद्याव्रतस्नातः स्वकर्मनिरतस्तया।
स्त्रियः कस्माद् वधं वीर मन्यसे राक्षसेश्वर॥

वेद-विद्या-पारंगत, नित्य-कर्म-परायण और पराक्रमी राक्षसराज को इस प्रकार स्त्री का वध नहीं करना चाहिए, यह बात रावण पहले से जानता है। पर सीता एक ऐसी स्त्री है जिसके कारण सारी लंका ध्वस्त होती जा रही है, इसलिए संभवतः वह इस कार्य को अनुचित नहीं समझता है। किन्तु यह भी कठोर सत्य है कि यह सारा अनर्थ रावण की कामांधता के कारण ही हुआ है, इसलिए दोषी स्वयं रावण है। जब रावण इस प्रकार सोचने लगता है तब सुपार्श्व एक समयोपयुक्त बात कहता है कि दिव्य सुन्दरी सीता की ओर एक बार ध्यान से देखो तो तुम स्वयं निर्णय करोगे कि इस रूपवती का रूप मिटाने से तुम को कुछ नहीं मिलेगा, इससे तो बुद्धिमत्ता का काम यही है कि अपने बल-पराक्रम का पूरा प्रयोग राम पर किया जाए और उसके बाद सीता को सदा के लिए अपने उपभोग की सामग्री बना ली जाए। काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि समस्त मनोविकारों से ग्रस्त रावण को यह बात सुनते ही अच्छी लगती है। वह भी यही चाहता है, पर आत्म-विश्वास की कमी के कारण वह राम को छोड़कर सीता की तरफ दौड़ रहा है। अब चूंकि सुपार्श्व के सुबोध से आत्मविश्वास फिर से जाग्रत हो चुका है, इसलिए अब वह रणभूमि और राम की बात सोचने लगा है और तत्काल सीता पर उठाई गई तलवार को म्यान में रख लेता है।

किन्तु रावण का यह संकल्प कितना सबल है, इसका पता उसके अंतःपुर में जाने के बाद चलता है। भीतर जाते ही वह फिर अपने शेष राक्षसों को बुलाकर उनको रणभूमि में जाकर राम और केवल राम का संहार करने का आदेश देता है और यह भी कहता है कि यदि यह काम आज उनके द्वारा नहीं हुआ तो कल वह स्वयं जाकर राम का वध करेगा। स्पष्ट है कि रावण रणभूमि और राम-बाण से भयभीत होकर बांत टालने का प्रयास कर रहा है। ऐसा लगता है कि जब तक लंका-नगरी सभी राक्षसों से शून्य नहीं हो जाती तब तक रावण की रणयात्रा दुबारा नहीं होगी। जो हो, रावण की आज्ञा पाकर हज़ारों सैनिक रणभूमि की ओर प्रस्थान करते हैं। दोनों पक्ष धैर्य, शौर्य और साहस के साथ लड़ते हैं। दोनों ओर से अनेक वीर हताहत हो जाते हैं। कुछ समय के बाद लोकनायक राम भी वानर वीरों का मनोबल बढ़ाने के लिए रणभूमि में प्रवेश कर असंख्य राक्षसों को देखकर चकित हो जाते हैं। उनको आश्चर्य होता है कि अब भी इतने राक्षस रावण के पक्ष में लड़ने के लिए जीवित हैं!

अब प्रलयंकर शंकर का रूप धारण कर राम अपनी अमोघ धनुर्विद्या का प्रयोग करते हैं। रणभूमि में जहाँ देखो वहाँ राम ही राम दिखाई देते हैं। सर्वत्र उनके अस्त्र और शस्त्र राक्षससेना को विदारित करते प्रतीत होते हैं। पर आश्चर्य की बात यह है कि राम की आकृति कहीं दिखाई नहीं देती। एक राम सहस्रराम बनकर सहस्रों राक्षसों का संहार करते हैं। उनका धनुष भी निरंतर वर्तुल आकार में घूमने के कारण वह चक्र का रूप धारण करता है। परिणाम यह है कि धनुर्धारी राम चक्रधर बन जाते हैं और धीरे धीरे रामचक्र कालचक्र बनकर दिन के आठवें भाग में दस हज़ार रथियों का, अठारह हजार हाथियों का, चौदह हजार घोड़ों का और पूरे दो लाख पैदल चलनेवाले कामरूपी राक्षसों का विचित्र संहार कर देता है। जो बहुत कम लोग संयोग से बच गए, वे तुरन्त लंका की ओर पलायन कर जाते हैं। राम की इस अद्भुत रण-लीला को देखकर लक्ष्मण प्रसन्न हो जाते हैं और देवता, गंधर्व, सिद्ध आदि चकित हो जाते हैं। ऐसा सामूहिक संहार समितिंजय राम और मृत्युंज त्रयंबक ही कर सकते हैं।

राम-शंकर की इस संहार-लीला से त्रस्त सारी लंका शोक-सागर में डूबकर काँपने लगती है और असुरांगनाएँ अपने पतियों, पुत्रों, भ्राताओं आदि के निधन पर विलाप करने लगती हैं। सभी लंकावासी लंकेश्वर की मूर्खता की निन्दा करते हैं। कोई शूर्पणखा

के अविवेक की भर्त्सना करता है तो कोई रावण की कामांधता की। जितने राक्षसवीर इस युद्ध में अपने प्राण खो बैठे हैं, उनके परिवार के लोग लंका में फैली अराजकता के लिए रावण को एकमात्र दोषी ठहरा कर उनके पतन को अति समीप ही आसन्न कहते हुए रोते-बिलखते हैं।

उधर सामूहिक संहार और इधर सस्वर विलाप-दोनों से रावण का मन विचलित हो जाता है। उसके निष्ठुर हृदय में अंततः करुणा का स्पंदन उत्पन्न होता है। साथ ही उसके मन में क्रोध और आक्रोश का सागर उमड़ पड़ता है। अब वह रणभूमि की ओर प्रस्थान करता है-पर शेष वीरों और अन्य राक्षसों के साथ। महोदर, महापार्श्व और विरूपाक्ष को वह आदेश देता है कि आज हम सब मिलकर रणभूमि में समस्त वानर-सेना सहित, लक्ष्मण, सुग्रीव और हनुमान् का संहार करके आएँगे। तदनुसार राजशासन की सर्वत्र घोषणा हो जाती है और घर-घर से बचे खुचे राक्षस भी रणयात्रा में सम्मिलित कर लिए जाते हैं। आवश्यक आयुध, अस्त्र शस्त्र, गजबल, हयबल, रथबल आदि के साथ रावण की रणवाहिनी रणभूमि की ओर प्रस्थान करती है। रावण की रणयात्रा उसी द्वार से रणभूमि में प्रवेश करती है जहाँ पर राम और लक्ष्मण परिरक्षक बनकर पहरा दे रहे थे। जैसे ही रावण रणभूमि में रथार्पण करता है, सभी संभाव्य अपशकुन उसका सुखार्त स्वागत करते हैं।

अब युद्ध आरंभ होता है। रावण का शर-वेग उसके रथ-वेग से भी आगे बढ़ जाता है और उसके तीव्र शराघात से वानर-वीर त्रस्त होकर चारों तरफ भागने लगते हैं। पर सुग्रीव स्थिति को संभाल कर राक्षस-सेना को छिन्न-भिन्न कर देते हैं। इतने में रावण राम की तरफ दौड़ता है और सुग्रीव पर विरूपाक्ष धावा बोल देता है। सुग्रीव और विरूपाक्ष के बीच पर्याप्त समय तक शर-वर्षा, खड्ग-पात, शिला-वृष्टि, मुष्टिघात आदि का क्रम चलता है और अंत में हाथी पर चढ़े हुए विरूपाक्ष के ललाट पर मुष्टि-घात कर सुग्रीव उसे धरती पर मार गिराते हैं। विरूपाक्ष विरूपाक्षतर मुद्रा में धराशायी बन जाता है। विरूपाक्ष को वानर-राज सुग्रीव के हाथ निहत देखकर महोदर सुग्रीव पर आक्रमण करता है और इसके लिए रावण ही प्रेरित करता है जो बिल्कुल पास में ही खड़ा है। दिशा-मूढ़ रावण केवल क्रोध को अपना अस्त्र बनाकर उसको भी अपने सहयोगी वीरों पर छोड़ रहा है। फिर महोदर और सुग्रीव के बीच भी भयंकर युद्ध छिड़ जता है। दोनों वीर आपस में बड़े साहस के साथ भिड़ जाते हैं। फिर गदा, मुसल, परिघ, शिला, वृक्ष आदि का घात-प्रतिघात चलता है। अंत में महोदर सुग्रीव के कवच को अपने खड्ग से छिन्न-भिन्न करने का प्रयास करता है तो उसी खड्ग को लेकर सुग्रीव महोदर को मार गिराते हैं। इस प्रकार सुग्रीव के हाथ विरूपाक्ष और महोदर दोनों धराशायी हो जाते हैं।

अब रह जाता हैं—महापार्श्व। यह रावण के साथ रणयात्रा में आए रणधीरों में अंतिम है। सुग्रीव, जांबवान् और अंगद तीनों पर यह राक्षस आक्रमण करता है। पर अंत में अपने अप्रितम मुष्टि-प्रहार से महापार्श्व का संहार करने का श्रेय अंगद को मिलता है। इस संघर्ष में इन तीनों वीरों के अतिरिक्त अन्य राक्षस-वीर भी अत्यधिक संख्या में हताहत हो जाते हैं। अब केवल रावण अपनी मुट्ठी भर सेना के साथ शेष है, इसलिए वह विवश होकर अपने सारथी को आदेश देता है कि अब तुम रथ आगे बढ़ाओ। पर रावण की मुखमुद्रा और स्वरभंगिमा देखकर यह कहना कठिन है कि उसका साहस बढ़ रहा है या क्रोध। पर इतना तो स्पष्ट है कि उसका रथ तो आगे बढ़ रहा है। रथ के साथ साथ उसका मनोरथ भी बढ़ रहा है जिसका वर्णन वह स्वयं अपनी आत्महारिणी भाषा में करता हैः—

रामवृक्षं रणे हन्मि सीता-पुष्प-फल-प्रदम्।
प्रशाखा यस्य सुग्रीवो जांबवान् कुमुदो नलः॥
द्विविदश्चैव मैंदश्च अंगदो गंधमादनः।
हनूमांश्च सुषेणश्च सर्वे च हरियूथपाः॥

रावण की यह मीठी कल्पना अभी अभी उसको

मनोहर लग रही है, पर वह अपनी अंतरात्मा में जानता है कि यह कल्पना उसके लिए अंत में प्राणहारिणी सिद्ध हो सकती है। फिर भी कल्पना सुन्दर है। वह रामरूपी वृक्ष को समूल उखाड़ कर फेंकना चाहता है जिससे उसमें लगे हुए फल और फूल सीता के रूप में उसके हाथ लग जाएँ। इस वृक्ष की शाखाओं और प्रशाखाओं की गिनती करते समय वह एक निश्चित क्रम में सुग्रीव, जांबवान्, कुमुद, नल, द्विविद, मैंद, अंगद, गंधमादन, हनुमान्, सुषेण आदि का उल्लेख करता है। हनुमान् का नाम लेने में इतना विलम्ब इसलिए होता है क्योंकि राम के बाद हनुमान् से ही उसे सबसे अधिक भय है।

अब इस मनोरथ के साथ अतिरथी का रथ भी आगे बढ़ता है जिसकी घर्घर ध्वनि से दसों दिशाएँ गूँज उठती हैं। सबसे पहले रावण की दृष्टि वानरसेना पर प्रसारित होती है और समस्त सेना को अस्त-व्यस्त बनाने के लिए वह ब्रह्मा के वरदान से प्राप्त तामस अस्त्र का प्रयोग करता है। रावण के शराघात से वानर-सेना को त्रस्त होते हुए देखकर राम और लक्ष्मण रावण के सामने आकर खड़े हो जाते हैं। इंद्र और उपेन्द्र के समान विराजमान दोनों भाइयों को देखकर रावण भीतर ही भीतर अत्यंत प्रभावित होता है। बहुत दिनों के बाद रणभूमि में रावण को पाकर राम अत्यंत प्रसन्न होते हैं और आकाश को रेखांकित करने वाले अपने धनुष को खींचकर टंकार करना प्रारंभ करते हैं। राम का यह धनुर्नाद, प्रणव-नाद के रूप में प्रकट होकर असुर-सेना तक पहुँचते-पहुँचते प्रलयनाद का रूप धारण कर लेता है। वानर-सेना के लिए यह ओंकार है और राक्षस-सेना के लिए टंकार। दोनों के बीच में अहंकार का आश्रय लेकर खड़ा है रावण रूपी राहु जो राम और लक्ष्मण को चंद्रमा और सूर्य समझ कर घूर-घूर कर देखने लगता है।

पहले रामानुज लक्ष्मण रावण को अपना शर-लाघव दिखाना चाहते हैं। लक्ष्मण के बाणों का रावण बड़ी सरलता से निवारण कर लेता है और थोड़ी देर लक्ष्मण का करलाघव देखने के बाद सीधे राम पर आक्रमण करता है। दोनों वीर आपस में अपने अपने अस्त्रों और शस्त्रों के बल पर एक दूसरे की शक्ति और सामर्थ्य को आजमाते हैं। रावण के विषाक्त बाणों को राम अपने तीखे भालों से काट डालते हैं तो रावण अपनी शरवर्षा से समस्त वायुमंडल को शरांधकार से आच्छन्न कर देता है। इसी अंधकार में राम के चमकनेवाले तीर बिजली की तरह चकाचैंध पैदा करते हैं। वृत्रासुर का संहार करते समय इंद्र ने जिस अतीन्द्रिय शौर्य से युद्ध किया था, लगभग उसी समर-तंत्र का प्रयोग सत्यपराक्रम राम भी करते हैं। इसी बीच रावण अपने पैने शरों से राम के ललाट पर प्रहार करता है तो सारे तीर हार बनकर श्रीराम के ललाट की शोभा बढ़ाते हैं। अब तीर-हार से सुशोभित राम रौद्र-अस्त्र का प्रयोग करते हैं जिसकी महिमा से रावण द्वारा प्रयुक्त सभी तीर फिर उसी के पास जाकर उसे घायल कर देते हैं। फिर रावण आसुर अस्त्र से राम को क्षति पहुँचाने का प्रयास करता है तो पावक अस्त्र के माध्यम से राम उसे प्रतिहत कर देते हैं। इस पर रावण कुपित होकर समरांगण में प्रज्वलित ज्वाला की तरह तदनंतर कर्तव्य के बारे में सोचने लगता है। इधर राम का पराक्रम बढ़ रहा है तो उधर रावण का क्रोध बढ़ता जा रहा है। पर पराक्रम का सामना परक्रम से ही किया जा सकता है, क्रोध से नहीं।

अब मायावी रावण मयासुर द्वारा निर्मित एक विशेष प्रकार के अस्त्र का प्रयोग करता है तो राम का गंधर्वास्त्र उसे निरस्त कर देता है। फिर रावण सूर्यास्त्र का प्रयोग करता है तो राम का शर-समूह उस अस्त्र को भी परास्त कर देता है। इस बीच में लक्ष्मण सात बाणों का प्रयोग कर रावण की ध्वजा, सारथि के मस्तक और रावण के हाथ के धनुष को चूर चूर कर देते हैं। उसी समय विभीषण भी अपनी गदा का प्रयोग कर रावण के रथ के घोड़ों को धरती पर गिरा देते हैं। अब रावण का क्रोध विभीषण पर केन्द्रित होता है। रावण अपनी शक्ति का प्रयोग कर विभीषण को आहत करना चाहता है, पर लक्ष्मण उस शक्ति के आघात से विभीषण को बचाते हैं। अब इससे भी प्रबल शक्ति का

प्रयोग कर रावण लक्ष्मण पर ही हमला करता है। वास्तव में यह दूसरी शक्ति अत्यंत भयंकर है। इसका सामना स्वयं यमराज भी नहीं कर सकते। लक्ष्मण के लाख प्रयत्न करने पर भी वह शक्ति उनके वक्षस्थल में प्रवेश कर जाती है। लक्ष्मण के वक्षस्थल को क्षत-विक्षत करनेवाली उस शक्ति को निवारित करने का प्रयास सभी वानर-वीर मिलकर करते हैं, पर कोई लाभ नहीं होता। पर राम के सामने रावण है। यदि राम लक्ष्मण पर ध्यान देने लगें तो रावण तुरन्त राम पर आक्रमण कर देगा। इसलिए राम सीधे शक्ति से ही अनुरोध करते हैं, बल्कि उसको आदेश देते हुए कहते हैं कि लक्ष्मण का कल्याण हो और यह प्राणहारिणी शक्ति अपने उद्यम में विफल हो। "स्वस्त्यस्तु लक्ष्मणायेति मोघा भव हतोद्यमा" -राम के ये अभिमंत्रित शब्द शक्ति की गति को तो रोक नहीं पाते हैं, पर उसके प्रभाव को निष्प्रभ अवश्य करने में सफल हो जाते हैं। लक्ष्मण के प्राण इस प्रकार सुरक्षित हो जाते हैं और उस दशा में लक्ष्मण को सुग्रीव, हनुमान् आदि के संरक्षण में छोड़कर राम रावण के साथ युद्ध जारी रखते हैं, दुगुने उत्साह से और सबल संकल्प लेकर। उन्हें मालूम है कि यह पराक्रम का समय है, चिंता या विषाद का नहीं। इसी धारण को आधार बनाकर राम समस्त वानर-सेना के बीच प्रतिज्ञा करते हैं कि आज यह संसार रावण और राम में से केवल एक ही को देख पाएगा। राज्य को छोड़कर वनवास स्वीकार करना, सारे वन में सीता का अन्वेषण करना, वानर-राज सुग्रीव से मैत्री करना, वालि का वध करना, सागर पार करना—इन सभी कर्मों का एकमात्र ध्येय है रावण का वध और सीता का शोक विमोचन। अब इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए सर्वथा उपयुक्त और अनुकूल समय आ चुका है क्योंकि इन समस्त अनर्थों का बीज रावण सामने आ गया है। आज राम को अपने रामत्व का प्रमाण प्रस्तुत करने का समय आ गया है। आज राम जो काम करनेवाले हैं, उसको तीनों लोक सदा के लिए स्मरण करेंगे। इस आत्मविश्वास और अटल संकल्प को लेकर राम अपनी शरवर्षा से रावण को इतना आहत, पीड़ित और शिथिल बना देते हैं कि अचानक रावण अपने प्राण हथेली पर रखकर रणभूमि से भाग खड़ा होता है।

अब राम का ध्यान अपने भाई लक्ष्मण पर जाता है जो अब भी शक्ति के प्रभाव से मुक्त नहीं हो पाया हैं। राम के लिए यह चिंता का विषय बन जाता है और शोकाकुल होकर वह लक्ष्मण के लिए विलाप करने लगते हैं। यदि लक्ष्मण में प्राणशक्ति वापस नहीं आई तो क्या होगा? वह किस मुँह से अयोध्या जा सकेंगे? सुमित्रा को मुँह कैसे दिखा सकेंगे? भरत और शत्रुघ्न को क्या कह पाएँगे? जिस भाई ने अपनी इच्छा से वनवास स्वीकार किया, उसकी रक्षा का भार तक वह वहन नहीं कर पाए, इस बात का दुख राम को वेध डालता है। संसार में बंधु-बांधव अनेक मिलते हैं, सीता जैसी साध्वी पत्नी को प्राप्त करना भी उतना कठिन नहीं है जितना कि लक्ष्मण जैसे सहोदर को प्राप्त करना। इसी प्रकार की क्षोभ भरी बातों से राम अत्यंत विकल हो जाते हैं। साधारण मनुष्य की भांति शोक-संतप्त होने वाले राम को सांत्वना देते हुए सुषेण कहते हैं कि चिंता की कोई बात नहीं है, लक्ष्मण जीवित हैं, उनमें प्राण के लक्षण हैं, हनुमान् पहले की भांति संजीवनी औषधि ला देंगे और लक्ष्मण में फिर से प्राण-शक्ति आ जाएगी। सुषेण की बात सुनते ही हनुमान् संजीवनी लाने के लिए हिमालय की ओर प्रस्थान करते हैं। पूर्व परिचित मार्ग होने के कारण देखते ही देखते संजीवनी विशल्यकरणी और सुवर्णकरिणी औषधियों को साथ लेकर अथवा यों कहना चाहिए कि औषधियों के पर्वत को ही अपने हाथ में उठाकर हनुमान् रणभूमि में लौट आते हैं और संजीवनी की गंध नाक में पहुँचते ही लक्ष्मण के प्राण लौट आते हैं। होश में आते ही लक्ष्मण राम का उत्साह बढ़ाते हुए कहते हैं: "भैया, आप क्रूर राक्षस का वध करने में अब विलम्ब मत कीजिए, बहुत हो चुका है। आज सूर्यास्त के पहले ही राक्षस का भी अस्त हो जाना चाहिए।"

इसी बीच दूसरे रथ पर आरूढ़ होकर रावण भी रणभूमि में पहुँच जाता है और राम के सामने लगभग

उसी प्रकार खड़ा हो जाता है जैसे सूर्य के सामने स्वर्भानु (राहु)। यह उपमा इस प्रसंग में बिल्कुल उचित लगती है क्योंकि रावण रथ पर खड़ा है और राम पृथ्वी पर। एक रथारूढ़ हो और दूसरा भूस्थित हो, यह अंतरिक्ष में युद्ध का निरीक्षण करनेवाले देवताओं को अच्छा नहीं लगता। उनके संकेत पर देवराज अपने सारथी मातलि को रथ समेत राम की सेवा में भेजते हैं। साथ में इंद्र का शक्तिशाली धनुष, तेजस्वी कवच, सूर्य के समान दीप्तिमान बाण और शिवात्मक विमल शक्ति भी राम के लिए उपलब्ध हो जाते हैं। लोककल्याण की भावना से लोकाभिराम राम मातलि की बात मान लेते हैं और रथ की परिक्रमा कर प्रणति-भावना से उस पर सवार हो जाते हैं।

अब राम-रावण के बीच द्वैरथ-युद्ध आरंभ होता है। पहले की तरह हनुमान को रथ और सारथी बनाने की आवश्यकता अब नहीं रही। इससे हनुमान् कुछ चिंतित अवश्य हुए होंगे, पर देवेन्द्र को प्रसन्न करना भी कपीन्द्र के लिए रुचिकर लगा होगा। दोनों वीर अस्त्रों के प्रयोग में मर्मज्ञ हैं। इसलिए गांधर्व, दैव आदि अस्त्रों का प्रयोग और प्रतिरोध बराबर चलने लगता है। पर जब रावण राक्षस-अस्त्र का प्रयोग करता है तो राम को थोड़ी देर के लिए सोचना पड़ता है कि इसका प्रतिरोध कैसे किया जाए। तुरन्त सुवर्णमय गरुत्मान् का उनको स्मरण हो आता है और गरुड़ अस्त्र का प्रयोग राक्षसराज के राक्षसास्त्र को छिन्न-भिन्न कर देता है। पर दूसरे ही क्षण रावण अपनी दारुण शर-वर्षा से इंद्र के रथ के ध्वज तथा अश्वों को क्षतविक्षत कर देता है। इस पर राम के चेहरे पर विषाद की रेखा प्रकट होती है। अंतरिक्ष के देवता भी दुखी हो जाते हैं। ऐसा लगता है कि राम रूपी चंद्रमा को रावण रूपी राहु से ग्रस्त देखकर रोहिणी पर बुध हावी हो रहा है और इक्ष्वाकुवंश के लिए अभीष्टकर और शुभकर नक्षत्र विशाखा पर मंगल अपनी छाया फैला रहा है। मैनाक पर्वत के समान सामने उपस्थित रावण अपनी शरवृष्टि का वेग बढ़ाता चला जाता है।

अब राम की मुख-मुद्रा अचानक अत्यंत रौद्र बन जाती है। उनकी भौंहें टेढ़ी हो जाती हैं, आँखें लाल हो जाती हैं और चारों तरफ इस प्रकार देखने लगते हैं कि मानो वह अभी कुछ ही देर में सभी राक्षसों को भस्मसात् करने जा रहे हैं। उनकी इस प्रचंड मुखाकृति को देखकर सारी प्रकृति त्रस्त हो जाती है। धरती काँप उठती है, पहाड़ हिलने लगते हैं, सागर क्षोभ से विचलित हो जाता है, पेड़ झूमने लगते हैं और आकाश में बादल गरजते हुए चक्कर लगाने लगते हैं, समस्त प्राणी भयभीत हो जाते हैं और रावण भी भीतर से आतंकित और आशंकित हो जाता है। अंतरिक्ष में सभी देवता राम की विजय की मंगल कामना करते हैं और धरती पर सभी राक्षस रावण को संबोधित कर नारे लगाने लगते हैं कि लंकेश्वर की जय हो। इतने में अचानक रावण एक भयंकर शूल को अपने हाथ में लेकर राम को धिक्कारते हुए कहता है "कि वज्र के समान शक्तिशाली यह शूल अभी तुम्हारे भाई सहित तुम्हारे प्राणों को हर लेगा।"* यह कहकर राक्षस-राज रावण रणवीर राम पर उस प्रचंड शूल से प्रहार करता है। राम इतनी जल्दी शत्रु के प्रहार की आशंका नहीं कर रहे थे। वास्तव में वह गंभीर मुखमुद्रा में भावी कार्यक्रम के संबंध में उपयुक्त योजना मन ही मन बना रहे थे। इसीलिए उनके मुखमंडल में रोष का रक्त संचरित हो रहा था। वह क्रोधानल योगानल बनकर राम को समाधिस्थ बना रहा है। ऐसे समय रावण द्वारा प्रयुक्त शक्तिशाली शूल राम की ओर अपने आठ घंटिकाओं के अट्टहास से चल पड़ता है। तुरन्त राम सतर्क हो जाते हैं और शूल को निर्मूल करने के लिए प्रखर शरों का प्रयोग करते हैं। परन्तु राम के प्रचंड बाण भी रावण के शूल को स्पर्श करते ही भस्म हो जाते हैं। इस पर राम को आश्चर्य और क्रोध का मिला जुला अनुभव होता है और वह तत्काल मातलि द्वारा लाई गई इंद्रनिर्मित शक्ति का प्रयोग करते हैं। इसके प्रहार से रावण का शूल चूरचूर हो जाता है। इसके बाद श्रीराम वज्र के समान अपने बाणों से रावण के घोड़ों को घायल कर देते हैं और साथ ही तीन बाणों से रावण की छाती पर और तीन पंखदार बाणों से उसके

ललाट पर दुर्दम्य प्रहार करते हैं। इससे रावण के शरीर के अंग-प्रत्यंग से खून की धारा बहने लगती है। इससे रावण निस्तेज और हतप्रभ होकर क्रोधाविष्ट मुद्रा में खड़ा हो जाता है। फिर भी वह साहस बटोर कर राम पर तीर बरसाता है, पर राम के लिए यह शरधारा सरसवर्षा का सुख प्रदान करती है और उनके क्रोधानल को शांत करने में सहायक होती है।

अब शांतचित्त और स्थितप्रज्ञ राम रावण को संबोधित कर उसे आत्मबोध और अपराधबोध करानेवाली तीखी पर हित की बातें कहते हैं। प्रसन्न वदन रघुनंदन अपने परुष वचनों को प्रखर बाण बनाकर रावण को स्वर वर्षा से नहलाने का प्रयास करते हैं। स्मित भाषी राम मंदहास के माध्यम से ही सब कुछ कह देते हैं और जो कुछ इस अवसर पर कहना आवश्यक है, उस को निस्संकोच कहकर रावण को स्वयं यह अनुभव करने का अवसर देते हैं कि अब जो कुछ हो रहा है, उसके लिए रावण स्वयं उत्तरदायी है। जनस्थान से सीता का अपहरण करना और वह भी राम और लक्ष्मण को अपनी माया के सहारे आश्रम से दूर भेजकर रावण की कामांधता, कायरता और कापुरुषता का द्योतक है। फिर भी रावण अपने को शूर वीर मानता रहा है जबकि उसको चोर कहना भी शालीनता का ही परिचायक होगा। विडम्बना की बात तो यह है कि चोर तभी तक शूर बनकर चल सकता है जब तक वह पकडा नहीं जाए, पर यह तो सचमुच अजीब ढंग का चोर है जो पकड़े जाने के बाद भी अपने चोरी के माल को मालिक को सौंपने से इन्कार करता है, और मालिक से लड़ता है और वह भी कायरता की लड़ाई। अपने को शूर माननेवाले चोर की कायरता का जब पूरा पूरा प्रमाण मिल जाता है तभी धर्मपरायण राम अधर्म को समूल नष्ट करने के लिए और दंडनीय को दंड देने के लिए बाध्य हो जाते हैं। यही बात राम अपने ढंग से रावण की समझ में आनेवाली भाषा में कह देते हैं और जो बात अब भी समझ में नहीं आती है, उसको राम का बाण समझा देता है।

वाणी के बाण छोड़ने के बाद तरकस के बाणों की बारी आती है। अब राम का मन हल्का हो जाता है। अब जो कुछ करना है, वह करने में उनका उत्साह दुगुना, चौगुना और सौगुना बढ़ जाता है। उनको लगता है कि अब उनका शर-लाघव हजार गुना बढ़ गया है। नये नये अस्त्र उनके मन में उद्भासित हो जाते हैं। राम की इस अभूतपूर्व मुखमुद्रा और अप्रतिहत शर-वर्षा को देखकर रावण का सारथी अपने स्वामी को विकट संकट में ग्रस्त अनुभव करता है और रथ को राम के पथ से अपसारित कर देता है। इससे रावण के प्राण तो बच गए, पर रावण का मान सदा के लिए विक्षत हो जाता है। रावण को इस बात की बहुत ग्लानि होती है और वह अपने सारथी को फटकारने लगता है कि उसने ऐसा क्यों किया। रावण को संदेह होता है कि शत्रु पक्ष में से किसी ने सारथी को इस प्रकार करने के लिए प्रेरित किया होगा। अन्यथा उसको अपने सारथी के कौशल, धीरज और साहस पर पूरा विश्वास है।

रावण की फटकार सुनकर उसका सारथी बड़ी विनम्रता के साथ अपने आचरण का समर्थन करते हुए कहता है:-

न भीतो ऽस्मि न मूढो ऽस्मि नोपजप्तो ऽस्मि शत्रुभिः।
न प्रमत्तो न निस्नेहो विस्मृता न च सत्क्रिया॥
मया तु हितकामेन यशश्च परिरक्षता।
स्नेह प्रस्कन्न मनसा हितमित्यप्रियं कृतम्॥

"मैंने न तो भय के कारण ऐसा किया है, न मूर्खता के कारण किया है और न किसी दुश्मन ने मुझे ऐसा करने के लिए कहा है। मैंने प्रमादवश ऐसा किया हो या आपके प्रति स्नेह की कमी के कारण किया हो, यह बात भी नहीं है। आपसे अब तक मैंने जो उपकृति और कृपा पाई है, उसको भी नहीं भूला हूँ। मैंने केवल आपके हित में ही यह काम किया है। आप का यश बना रहे, आप सुखी रहें, प्रसन्न रहें और चिरायु रहें, इसी मंगल कामना से मैंने यह काम ऐसा किया है। आपको मेरा यह काम अच्छा नहीं लगेगा। यह बात भी मैं जानता था। पर एक हितैषी सारथी के

रूप में मुझे आपके कल्याण पर अधिक ध्यान देना चाहिए, न कि आप की प्रियाप्रिय भावना पर जो कि शाश्वत सुख प्रदान करनेवाली नहीं होती।

सारथी के इस सात्विक और सारगर्भित वचन पर रावण प्रसन्न होकर उसको उपयुक्त उपहार के रूप में अपना कंठहार देता है और युद्ध-लुब्ध होकर कहता है:–

रथं शीघ्रमिमं सूत राघवाभिमुखं नय।
नाहत्वा समरे शत्रून् न निवर्तिष्यति रावणः॥

"सारथी, अब मेरे रथ को राम के नयनपथ पर ले चलो। वही मेरा अयन है शत्रु का संहार किए बिना अब यह रावण वापस नहीं होगा।"

इससे पता चलता है कि अब रावण ने निश्चय कर लिया है कि जो कुछ होना है, आज ही के दिन (और वह अमावस्या का दिन था) हो जाना है। राघवाभिमुखता (राम की ओर अपने रथ को आगे बढ़ाने की पूज्य भावना) विरोध बुद्धि से ही सही, रावण के लिए श्रेय और प्रेय दोनों में सहायक बनती है। निशाचरों के लिए दिन की अपेक्षा रात अधिक बल प्रदान करती है और अमावस्या की रात और भी अधिक फलप्रद होती है। इसीलिए रावण के परामर्शदाता सुपार्श्व ने उसकी रणयात्रा के प्रारंभ में ही कहा था कि आज कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी है (और यह चैत्र कृष्ण चतुर्दशी थी) और कल अमावास्या है जो रणयात्रा के लिए प्रशस्त दिन है। चित्रा नक्षत्र को आक्रांत करनेवाले शनिचर (चित्रामिव शनैश्चरः) की भांति ही सीता का अपहरण करने के लिए रावण पंचवटी के आश्रम में गया था। आज फिर वही चित्रा अपनी प्रतिच्छवि से युक्त अमावास्या के निशांत के प्रशांत क्षणों में रावण को शाश्वत शांति प्रदान करने जा रही है। रावण के सारथी का मार्मिक संकेत इसी ओर था जिसको मूर्ख रावण समझ नहीं पाया।

इस प्रकार रावण जब अपने सारथी से विचार विनिमय करता रहता है, बिल्कुल उसी समय अंतरिक्ष से भगवान् अगस्त्य राम के पास पहुँचकर उनको नई स्फूर्ति, नई शक्ति और नई गति प्रदान करनेवाले 'आदित्य हृदयम्' नाम के परम मंत्र का उपदेश कर जाते हैं। राम पवित्र मन से उस परम मंत्र का जैसे ही जाप करते हैं, प्रत्यक्ष देवता भगवान् भास्कर राम के सामने प्रकट होकर कहते हैं – "बेटा, अब विलंब नहीं करना, तुम्हारे पराक्रम का समय आ गया है। अब त्वरित गति से अपना रथ चलाओ और विजय-पथ की ओर आगे बढ़ो।"

अब राम और रावण का अंतिम और निर्णयात्मक युद्ध आरंभ होता है। दोनों परमवीर अपने अपने सारथियों को रणभूमि में रथ का पथ बताते हैं और अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग आरंभ करते हैं। कभी राम और कभी रावण विजय की ओर अग्रसर होते दिखाई देते हैं। सुरसारथी के रथ-कौशल से जब राम का रथ, रावण के रथ का अतिक्रमण करता है तब रावण अत्यंत कुपित होकर श्रीराम पर बाणों की वृष्टि करने लगता है, पर राम अपने इंद्र-धनुष पर सूर्य-सन्निभ बाणों का संधान कर रावण को विरावण बनाने में अनेक बार सफल होते हैं। अंतरिक्ष में 'राम की जय हो, रावण का अंत हो' यह दिव्य निनाद सुनाई देता है जो राम का उत्साह बढ़ाता है और रावण को निस्तेज़ बना देता है। राम और रावण का युद्ध कैसा है, इसका यथातथ वर्णन करना कठिन है। जिसने सागर को कभी नहीं देखा है, उसको सागर का स्वरूप समझाना जितना कठिन है, उतना ही कठिन है राम-रावण युद्ध का सजीव चित्र प्रस्तुत करना। सागर कैसा होता है, इस प्रश्न का उत्तर होता है – सागर जैसा होता है। इसी प्रकार राम और रावण का युद्ध राम-रावण जैसा ही था। इसी अनिर्वचनीयता को वाक्य-कोविद वाल्मीकि सुंदर शब्दों में कहते हैं:–

गगनं गगनाकारं सागरः सागरोपमः।
राम रावणयोर्युद्धं राम रावणयोरिव॥

इतना तुमुल युद्ध होने पर भी राम और रावण में से कोई भी पराजित नहीं होता और ऐसा लगता है कि

यह भयंकर युद्ध अनंतकाल तक निरंतर चलता रहेगा। पर वायुमंडल में जो विजय-सूचक लक्षण राम के लिए दृष्टिगोचर होते हैं, उनको रावण नहीं देख पाता। इसलिए राम आशान्वित हैं और रावण आशंकित है। अंत में हताश होकर रावण अंधाधुंध शरवर्षा करने लगता है तो उन असंख्य शरों में से एक भी राम को स्पर्श तक नहीं कर पाता। सभी तीर वानर-सेना पर जा गिरते हैं। यह देखकर रावण को आश्चर्य होता है। इसी समय राम का एक विषमय बाण आकर रावण का मस्तक छीन लेता है। पर जैसे ही वह मस्तक नीचे गिरा, उसके स्थान पर उसी प्रकार का दूसरा मस्तक आकर जुड़ जाता है। इसी प्रकार राम के तीखे तीर एक एक करके रावण के मस्तक काटते जाते हैं और उनके स्थान पर दूसरे मस्तक जुड़ते जाते हैं। इसके पीछे जो रहस्य है, उसे राम का सीधा सादा मन समझ नहीं पाता। रावण भी बराबर शर-वर्षा को जारी रखता है। मस्तक कटते जाते हैं, जुड़ते जाते हैं और साथ-साथ तीर भी छूटते जाते हैं। आश्वस्त होने की बात केवल यही है कि रावण के तीरों से राम को कोई क्षति नहीं पहुँच रही है और राम के तीर व्यर्थ भी नहीं जा रहे हैं। इससे राम का मनोबल बराबर बना रहता है।

रात भर युद्ध चलता है। दिन निकलने वाला है। प्राची पर सूर्य के उदय की सूचना देनेवाली अरुणारुण रेखा प्रकट होने लगती है। चंद्रमा की हल्की-सी रेखा सूर्य का स्वागत करने के लिए पर्युत्सुक रहती है। उसी समय मातलि राम को स्मरण दिलाते हैं कि अगस्त्य ने जो अस्त्र दिया है और जिस अस्त्र को स्वयं ब्रह्मा ने इस कार्य के लिए बनाया है, उसका प्रयोग करने का सही समय आ चुका है। रणसुलभ रोष में राम के ध्यान से यह बात बिल्कुल छुट गई थी। जैसे ही मातलि से यह मार्मिक संकेत मिलता है, तुरंत कौशल्यानंदवर्द्धन राम सर्वलोक भयंकर अस्त्र को अपने धनुष पर अभिमंत्रित कर रावण के वक्षस्थल को लक्ष्य बनाकर प्रक्षेपण करते हैं। जैसे ही यह अमोघ अस्त्र रावण की छाती को स्पर्श करता है, रावण का हृदय विदारित हो जाता है और वह तीर रावण के शरीर को चीरकर धरती में प्रवेश करता है और रावण के प्राण-हरण का चिर प्रतीक्षित समाचार धरती माता को सुनाकर फिर राम के तूणीर में आकर विनीत सेवक की भांति कार्यकारी अभियंता राम की सेवा में संपन्न कार्य का निवेदन प्रस्तुत करता है। लोक-रावण रावण लोकाभिराम के लोकोत्तर पराक्रम के सामने अपने समस्त मस्तकों सहित प्राण-समर्पण के साथ आत्मसमर्पण भी कर देता है।

एक महान् यज्ञ के रूप में संपन्न यह युद्ध रावण-संहार के साथ समाप्त हो जाता है। सीता के अपहरण के साथ यह महामेध आरंभ हुआ था और आज रावण के प्राण-हरण के साथ यह दीक्षा पूरी हो जाती है। अब तक इस यज्ञकुंड में अनेक आहुतियाँ अर्पित होती रहीं, पर आज की यह आहुति इस महामेध की महती आहुति है जिसको देखकर देव, गंधर्व, यक्ष, ऋषि-मुनि, सिद्ध, साध्य, संत-महात्मा सब लोग परम प्रसन्न होकर वानरसेना के स्वर में स्वर मिलाकर कह उठते हैं:-

"सत्य पराक्रम राम की जय हो"

74. लंकानगरी पुनरावासित

शंकर के अनन्य आराधक, प्रजापति को प्रसन्न करने में सफल तपस्वी और पुरुषोत्तम के लोकोत्तर पराक्रम के प्रत्यक्ष द्रष्टा रावण का वीर-मरण इस बात का द्योतक है कि यह संसार केवल पराक्रम का प्रलयालय नहीं है, बल्कि अंततः प्रेम का प्राण-निलय है। इस दृष्टि से दशरथनंदन राम की विजय केवल एक राजकुमार की राक्षसराज पर विजय नहीं है, बल्कि अन्याय पर न्याय की विजय है, अधर्म पर धर्म की विजय है, अत्याचार पर सदाचार की विजय है और आततायिता पर आर्जव की विजय है। इसीलिए सीतावल्लभ राम की विजय पर केवल नर-वानर ही नहीं, बल्कि देवी-देवता, यक्ष-किन्नर, गंधर्व-विद्याधर, ऋषि-मुनि और यहाँ तक कि इस पांच भौतिक जगत् के पाँच तत्त्व (आकाश, पवन, पावक, जल और पृथ्वी) भी प्रसन्नता प्रकट करते हैं, अभिनंदन करते हैं और आराध्य की आराधना करते हैं।

अंब तक शर-वर्षा से आच्छन्न आकाश अब वीर-राघव के विजय-गर्व से पुलक उठता है, निर्जितों के नीरव निःश्वास से नियंत्रित प्राण-वायु अब निर्मल आकाश में निर्भय और निर्मुक्त संचरण का रसास्वादन करती और कराती है। शत्रुओं का क्रोधानल अजातशत्रु का योगानल बनकर जय-पराजय की लौकिक भावना को अशोक भूमिका तक पहुँचा कर समरसता का सामगान सुनाता है। सागर की लहरें सरिताओं की सरस माधुरी को आत्मसात् करने का सात्विक प्रयास करती हैं और धरती-माता अपने जामाता की विजय पर सुगंध फैलाकर सच्चे अर्थों में गंधवती बन जाती है। इस सुगंधित समाचार का सुरभिल सुख प्राप्त करने के लिए अवनि-तनया अशोक वाटिका में अनजान में ही आंजनेय की प्रतीक्षा में निर्लिप्त बैठी रहती है। आकाश से फूल बरसते हैं, कहीं से मधुर संगीत का मादक स्वर सुनाई देता है, वहीं से पायलों की परम रमणीय लय राम-निलय को तन्मय बना देती है आग में भी अनुराग पैदा हो जाता है, जल धुल जाता है, पंकज खिल उठता है, धरती स्थिरगति से चलने लगती है और सूर्य स्थितप्रभ होकर अपनी किरणों में अमृत घोल देता है।

विजयराघव राम का हृदय से अभिनंदन, अभिवादन और अभ्यर्चन करने के लिए सुग्रीव, अंगद और विभीषण लक्ष्मण को साथ लिये श्रीराम को घेर लेते हैं। देवताओं से परिवेष्टित देवेन्द्र के समान राघवेन्द्र सबसे प्रेमपूर्वक मिलकर उनको प्रीति-पुरस्कृत करते हैं। सबका हृदय उल्लास से भर जाता है। नयनाभिराम राम को सभी लोग निर्निमेष नयनों से देखने लगते हैं। सब की आँखों में आनंद के आँसू उमड़ पड़ते हैं। पर विभीषण के आँसुओं में आनंद के साथ साथ अनुताप, परिताप और संताप की ऊष्मा भी समाविष्ट हो जाती है। विभीषण की मनोदशा और अन्य वानर-वीरों की मनोदशा में अंतर है। रावण चाहे कितना भी पापात्मा रहा हो, वह विभीषण का भाई है। स्वयं श्रीराम ने लक्ष्मण के लिए विलाप करते हुए कहा था कि संसार में सभी प्रकार के बंधु-बांधव सुलभ होते हैं, पर सहोदर भ्राता दुर्लभ होता है। क्रूरकर्मा रावण के निधन पर विभीषण को दुख नहीं होता है, पर भाई के

वियोग से उनका शोकाकुल होना बिलकुल स्वाभाविक है। इसी विकार का शिकार बनकर धर्मात्मा विभीषण विलाप करने लगते हैं। पर उसी दुर्दिन से अपने को और अपने भाई को ही नहीं, बल्कि सारी लंका को बचाने के लिए विभीषण ने हर संभव प्रयास किया था, पर कोई लाभ नहीं हुआ। बल, पराक्रम, तपोनिष्ठा, वर्चस्विता, प्रभुता, धैर्य, साहस आदि सभी प्रशस्त गुण रावण में प्रचुर मात्रा में विद्यमान थे। परन्तु सद्‌बुद्धिता के अभाव में सभी गुण दूषित हो गए और अंत में वह अपने ही दुष्कृत्य का शिकार बन गया। हर्ष और अमर्ष की इस मिली-जुली अनुभूति में आंदोलित विभीषण की मनोदशा को अंतर्यामी राम समवेदना के साथ समझकर अपने मित्र को तत्त्व की बात समझाते हुए कहते हैंः—

नायं विनष्टो निश्चेष्टः समरे चंडविक्रमः।
अत्युन्नतमहोत्साहः पतितो ऽयमशंकितः ॥

सामान्य मनुष्य की तरह निरुपाय और निष्क्रिय दशा में रावण का निधन नहीं हुआ है। अंतिम समय तक वह सक्रिय, सतर्क और सचेष्ट रहकर, अपने प्राणों का मोह छोड़कर और अपनी सारी शक्ति लगाकर युद्ध करता रहा। उसका विक्रम भी अत्यंत उग्र और प्रचंड था और उसका उत्साह भी अत्युन्नत स्तर का था। अंत में उसका पतन अवश्य हुआ, पर यह पतन उत्थान के बाद और उद्यम के बावजूद हुआ है, इसलिए यह तत्वतः पतन नहीं माना जा सकता। रावण का मरण वीरमरण है, इसलिए वह वीरगति को प्राप्त करेगा, इसीलिए शोचनीय नहीं है। युद्ध में जय या पराजय अपने आप में महत्त्वपूर्ण नहीं है, पर महत्व साधना का होता है। साधना प्रधान है, सिद्धि नहीं। इसलिए रावण के वीरमरण के संबंध में शोक करना उचित नहीं है। तत्त्ववेत्ता दशरथनंदन के इस तात्विक विवेचन से विभीषण का चित्त समाहित होता है और वे राम के कहने पर रावण की अंत्येष्टि के लिए आवश्यक व्यवस्था करने में लग जाते हैं।

इस बीच रावण के अंतःपुर की राक्षस रमणियाँ वज्रपात जैसी यह विषादवार्ता सुनकर रणभूमि में रावण के भौतिक शरीर के अंतिम दर्शन करने आती हैं। सब की आँखें सजल हैं, सब का मन शोक-संतप्त है, सभी के अंतरंग में रावण के प्रति सच्चा अनुराग है और सभी स्त्रियां रावण के विख्यात पराक्रम, पौरुष और साहस की भूरि भूरि प्रशंसा करती हैं। पर सभी इस बात से सहमत हैं कि सीता-हरण के प्रसंग में रावण ने बड़ी गलती की है और समय पर अपनी गलती को ठीक करने का अवसर मिलने पर भी उस अवसर का लाभ नहीं उठाना उसकी सबसे बड़ी गलती थी। यदि समय पर राक्षसराज की आँखें खुल जातीं और वह ससम्मान सीता को लौटा देता तो यह सारा अनर्थ देखने को नहीं मिलता, इतना होते हुए भी असुरांगनाएँ इस अनर्थ का सारा दोष रावण पर आरोपित नहीं करतीं। उनका मन कहता है कि यह सब दैवयोग से हुआ है, भाग्य का मारा हुआ व्यक्ति बच नहीं सकता और संसार में जो कुछ होता है, वह दैव योग से होता है।

रावण के अंतःपुर की अन्यान्य स्त्रियों का विलाप अपनी जगह पर है, पर अंतःपुर की अंतरंगिणी और रावण की ज्येष्ठ महिषी मंदोदरी का विलाप एकदम अलग, विलक्षण और विचक्षणकारी है। अपनी सपत्नियों की तरह वह भी रोती-बिलखती ज़रूर है, पर उसके विलाप में विवेक और शोक का विलक्षण संयोग है। वैधव्य की व्यथा में भी वह अपना विवेक नहीं खोती है। इस साध्वी स्त्री को राम की लोकोत्तर कर्मवीरता पर इतनी गहरी आस्था है कि राम की कार्यप्रणाली पर वह टीका-टिप्पणी करने का साहस कभी नहीं करती, बल्कि अपने पति की हठधर्मिता पर चिन्ता प्रकट करती है जिसके कारण यह सारा उदंत दुःखांत हुआ है। पर इसको वह पूर्ण रूप से दुःखांत भी नहीं मानती क्योंकि इसमें शुभ का परिणाम शुभ और पाप का परिणाम परिताप हुआ है जो कि एकदम न्याय-सम्मत है। इस संदर्भ में मनस्विनी मंदोदरी के मार्मिक वचन संसार के प्रत्येक कार्य-साधक के लिए अत्यंत मननीय हैं। उसका वाक्य हैः—

शुभकृत् शुभमाप्नोति पापकृत् पापमश्नुते।
विभीषणः सुखं प्राप्तस्त्वं प्राप्तः पापमीदृशम्॥

शुभदर्शी विभीषण ने सुख पाया और पापदर्शी रावण ने पाप का ही फल प्राप्त किया है। यह वाक्य मंदोदरी के मुँह से निकलता है, यही इसकी विशेषता है और इसी में मंदोदरी की महनीयता है। वह अपने भाग्य-नाश से इतनी चिंतित नहीं है जितनी की अपने पति के आत्म-पतन से। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि वह अपने पति की निन्दा कर रही है क्योंकि वह अपने पति के अप्राकृत पराक्रम की बार-बार प्रशंसा करती है, पर श्रीराम की लोकोत्तर महिमा को समय पर नहीं पहचानने से जो अनर्थ हुआ है, उसके लिए वह अपने पति को अवश्य दोषी ठहराती है। जो बात विभीषण ने युद्ध के आरंभ में कही थी, उसका प्रबल प्रमाण जनस्थान में ही मिला था। खर-दूषण, त्रिशिरा, कबंध आदि का वध, वालि का निधन, हनुमान् का लंका में प्रवेश, लंका-दाह, कुंभकर्ण, इंद्रजित् आदि वीराग्रेसरों का वीरमरण-इनमें से प्रत्येक प्रसंग श्रीराम के अप्रतिम पराक्रम को हजारों कंठों से घोषित करता है। पर काल के पाश में बँधे हुए रावण ने इनमें से किसी भी घटना में चेतावनी का स्वर नहीं सुना। कुंभकर्ण ने भी दो तीन बार विभीषण की बात दुहराई थी। मंदोदरी ने स्वयं इस प्रकार की संभावना की ओर अपने पति का ध्यान दिलाया था। पर रावण के कानों में किसी की कोई भी बात किसी भी समय नहीं गई। इसी का सबसे बड़ा खेद है-मानिनी मंदोदरी को।

मंदोदरी के इस मार्मिक विलाप में साध्वी स्त्री के सहज संताप के अतिरिक्त आत्माभिमानिनी का आंतरिक क्षोभ भी प्रकट होता है। क्योंकि रावण ने जो जघन्य अपराध किया है, वह केवल सीता के प्रति ही नहीं, बल्कि उससे भी अधिक मंदोदरी के प्रति भी है। मंदोदरी की विनम्र धारणा है कि कुल-गौरव, रूप-सौन्दर्य और पतिपरायणता इन तीन गुणों में से किसी भी गुण में सीता उससे अधिक गुणवती नहीं है। फिर भी आत्म-मोह के कारण रावण यह बात समझ नहीं पाया। मंदोदरी का यह आत्माभिमान अपरिपुष्ट अहंकार नहीं है क्योंकि लंका में सीता का अन्वेषण करते समय हनुमान् जैसे विवेकशील व्यक्ति भी मंदोदरी को देखकर प्रथम दर्शन में उसे मैथिली ही समझ बैठते हैं। पर दूसरे ही क्षण रावण की शयूया पर सुख की निद्रा सोनेवाली सुन्दरी को राम-पत्नी स्वीकार करने में रामदूत अपनी गलती जल्दी ही महसूस करते हैं। अन्यथा मारुतनंदन की निर्मल दृष्टि में मंदोदरी सीता की भांति ही गौरी और कनकवर्णांगी है। पर मंदोदरी की इस मान्यता को किसी प्रकार सती साध्वी सीता की अवमानना नहीं समझनी चाहिए। सीता के शुद्ध चरित्र और विशुद्ध सौन्दर्य की प्रशंसा करते हुए मंदोदरी कहती है:—

वसुधाया हि वसुधां श्रियाः श्रीं भर्तृवत्सलाम्।
सीतां सर्वानवद्यांगीं अरण्ये विजने शुभाम्॥
आनयित्वा तु तां दीनां छद्मनात्मस्वदूषणम्।
अप्राप्य चैव तं कामं मैथिली-संगमे कृतम्।
पतिव्रतायास्तपसा नूनं दग्धोऽसि मे प्रभो॥

"हे मेरे स्वामी, तुम्हारे मन में मैथिली के साथ सहवास सुख पाने की इच्छा, न जाने, कैसे उत्पन्न हुई। इससे तुम्हरी इच्छा तो पूरी नहीं हुई, उलटे पतिव्रता स्त्री की तपस्या के प्रभाव से तुम भस्म हो गए। छल-कपट से असहाय नारी को चुरा कर लाना तुम जैसे वीर के लिए कलंक की बात है। सीता साधारण स्त्री नहीं है। संसार की समस्त संपत्ति का आधार यदि वसुधा है तो सीता उस वसुधा को आधार प्रदान करनेवाली धात्री है। श्रीदेवी को सश्रीकता प्रदान करनेवाली श्रीनिधि ही सीता है। पति का अविभक्त प्रेम पाने के कारण वह सर्वात्मना पापरहित शुभांगी है। ऐसी साध्वी स्त्री का अपहरण करने से तुम्हारा सर्वनाश हो गया।"

इन वाक्यों में मंदोदरी का मानस-मंथन अत्यंत मर्मस्पर्शी शब्दों में व्यक्त होता है। वह अपने स्वामी की निंदा नहीं करना चाहती है, पर उसके कुकर्म की भर्त्सना किए बिना नहीं रह पाती। इसलिए वह 'अकस्मात्' शब्द का प्रयोग कर रावण का दोष देश-काल के संयोग पर स्थानांतरित करने का प्रयास करते हुए कहती है:—

अकस्माच्चाभिकामो ऽसि सीतां राक्षसपुंगव।
ऐश्वर्यस्य विनाशाय देहस्य स्वजनस्य च॥

रावण के मन में सीता के प्रति यह आसक्ति अचानक हुई है, मंदोदरी की यह भावना कुछ हद तक सही भी है क्योंकि जनस्थान में जो राक्षस-वध हुआ था, उसी के प्रतिकार के रूप में रावण ने सीता का अपहरण किया था। पर संतुलित दृष्टि से देखा जाए तो यह प्रतिकार न्यायसम्मत नहीं है। यदि प्रतिकार ही करना था तो राम पर आक्रमण करना था, न कि सीता का अपहरण। जहाँ वीरता दिखानी थी, वहाँ कायरता का आश्रय लिया गया और निरपराधिनी साध्वी को छल-कपट से चुरा लिया गया। इसे प्रतिकार कहने की अपेक्षा नारी-चौर्य कहना अधिक समीचीन प्रतीत होता है और विवेकशील मंदोदरी इसी शब्द का प्रयोग करती है। शोक के समय भी विवेक से बात करना और अपने निजी मत को पातिव्रत्य में बाधक बनने नहीं देना मंदोदरी की माननीय महिमा का परिचायक है जोकि केवल आत्मसंयम के बल पर ही संभव होता है। इसीलिए मंदोदरी को पाँच महाकन्याओं में परिगणित किया गया है जिनको प्रातःस्मरणीय माना गया है। ध्यान देने योग्य बात है कि इन पाँच महिलाओं में से चार- अहल्या, सीता, तारा और मंदोदरी-रामायण के ही महिला-पात्र हैं। केवल द्रोपदी महाभारत की हैं। इस दृष्टि से मंदोदरी सीता के समकक्ष आती हैं। अंतर केवल यही है कि मंदोदरी ने रावण की पत्नी बनकर अपनी तपस्विता का परिचय दिया है जब कि सीता की तपस्या रावण को अस्वीकार कर राम की महिमा बढ़ाने में है। रावण की प्रभुता बनाए रखने में मंदोदरी ने अपनी मूकवेदना की आहुति दी तो राम को महामहिम बनाने में सीता की शुचिता ने साथ दिया। दोनों वंदनीय हैं क्योंकि दोनों ने रामायण के परम वंदनीय राम को ठीक ठीक पहचाना है।

श्रीराम की लोकोत्तर मानवीयता के संबंध में मंदोदरी के उद्गार मननीय हैं। दिव्यता को भी भव्यता प्रदान करनेवाली लोक कल्याणकारिणी महामानवता के मूर्तरूप सत्यपराक्रम राम को वह 'महायोगी' की संज्ञा देती है और उस महायोगी में उनको परमात्मा का सनातन तत्त्व ही दृष्टिगोचर होता है जिसका न प्रभव है न प्रलय। उनका व्यक्तित्व महत्तम से भी महान् है, संसार के समस्त अंधकार से परे निरंतर और चिरंतन कांतिपुंज से अलंकृत प्रकाशात्मा ही राम की अंतरात्मा है। अमंगल को दूर कर संसार को मंगल का निलय बनाने के लिए इस भगवदीय अंश ने मानुष रूप धारण किया है। ये सब बातें मंदोदरी के मुँह से उस समय निकलती हैं जब वह अपने सामने त्रिलोकविजयी अपने स्वामी को म्रियमाण दशा में देखती है। शोक संतप्त दशा में पतिहंता के सम्बन्ध में इस प्रकार की उदात्त भावना को व्यक्त करने में मंदोदरी की महनीयता स्पष्ट होती है। साध्वी स्त्री के रूप में वह न केवल अपने पति की प्रशंसा करती है, बल्कि विवेकशील मनस्विनी के रूप में वह सत्यपराक्रम राम की भी प्रशंसा करती है। वह नारी है, पतिप्राणा पत्नी है, इसलिए पति के वियोग से परितप्त होकर विलाप करती है, रोती है, बिलखती है और रोती रोती बेहोश होकर उसी अवस्था में रावण के वक्षस्थल पर गिर पड़ती है।

उसी समय मर्यादापुरुषोत्तम राम विभीषण को पास बुलाकर कहते हैं कि अब शोक और संताप का यह प्रसंग समाप्त हो जाना चाहिए और रावण की अंत्येष्टि के लिए आवश्यक व्यवस्था हो जानी चाहिए। तदनुसार मंदोदरी की सहेलियां उसे समझा-बुझाकर अंतःपुर में ले जाती हैं। अब विभीषण के सामने एक ओर श्रीराम का आदेश है- संस्कारः क्रियतां भ्रातुः स्त्रीगणः परिसांत्व्यताम् (अपने भाई का दाह-संस्कार करो और स्त्रीसमाज को धीरज दो) और दूसरी ओर मंदोदरी के मार्मिक उद्गार हैं, जिनमें रावण की नृशंसता और राम की अनिंद्यता की ओर मर्मस्पर्शी संकेत है। पति के निधन पर जैसे मंदोदरी ने शोक प्रकट किया, वैसे भाई की मृत्यु को देखते ही विभीषण ने भी विलाप किया था। पर दोनों का अंतःकरण जानता है कि सारा दोष रावण का ही था। राम की यह उदारता थी कि रावण के मरने के बाद ही नहीं, बल्कि उससे पहले भी दो-तीन प्रसंगों में उन्होंने उसके बल, पराक्रम, पौरुष और तेज की खूब प्रशंसा की थी। यह

सब देखते हुए अब विभीषण का मन अपने पापी भाई का संस्कार करने के लिए तुरंत तैयार नहीं हो पाता। वह अपने संकोच को राम के सामने प्रकट करते हुए कहते हैंः—

त्यक्तधर्मव्रतं क्रूरं नृशसमनृतं तथा।
नाहमर्हामि संस्कर्तुं परदाराभिमर्शनम्॥

भाई का संस्कार करना विभीषण का धर्म है। पर रावण ने अपने जीवन में धर्म को कोई महत्त्व नहीं दिया, बल्कि बार बार धर्म का परित्याग करता रहा, अपनी क्रूरता का परिचय देता रहा, दूसरों को पीड़ित करने में उसने कभी कुछ संकोच नहीं किया था, दया नाम की कोई भावना उसके हृदय में थी नहीं और परदारा का अपहरण जैसा कुत्सित कार्य करने के बाद भी वह अपने को शूर, वीर और राम जैसे धर्मात्मा का समर्थ प्रतियोद्धा मानता रहा। ऐसे भाई की अंत्येष्टि करने में विभीषण संकोच करते हैं तो सभी धर्मों के समग्र ज्ञाता राम अपने मित्र विभीषण को समझाते हुए कहते हैं कि शत्रुता केवल जीवन-काल में सार्थक होती है और मरण के साथ शत्रुता समाप्त हो जाती है। इसलिए रावण अपने जीवन-काल में चाहे कितना भी पापी रहा हो, अब मरने के बाद संस्कार योग्य बन गया है और यह कार्य विभीषण को ही करना है।

अब विभीषण शास्त्रीय विधि से अपने अग्रज की अंत्येष्टि के लिए आवश्यक व्यवस्था करने में तत्पर हो जाते हैं। सबसे पहले रावण के अग्निहोत्र को विधिपूर्वक समाप्त किया जाता है। उसके बाद सोने के दिव्य विमान में रावण के शव को रखकर राजकीय सम्मान से दिवंगत राजा की अंतिम यात्रा आरंभ की जाती है। वेदवत्ता विद्वान वेदमंत्रों के उच्चारण के साथ शव-यात्रा और दाह-संस्कार का कार्य संचालित करते हैं। अंतःपुर की स्त्रियाँ भी अश्रुपूरित नेत्रों से श्मशान भूमि तक जाती हैं। जब विभीषण रावण की चिता में आग रखकर जलांजलि देते हैं तो सब की आंखों से आँसू बहने लगते हैं। विभीषण के कहने पर अंतःपुर की सारी स्त्रियाँ शोकाकुल मुद्रा में लंका में वापस चली जाती हैं। अब राम के आदेश का पालन विधिवत् हो चुका है। इसलिए विभीषण विनम्र भाव से श्रीराम के पास जाकर आगे के आदेश की प्रतीक्षा में खड़े हो जाते हैं। अब राम का रौद्र रूप भी शांत हो जाता है क्योंकि उस रूप का प्रयोजन पूरा हो चुका है। धनुष-बाण, कवच आदि युद्ध की वेशभूषा के साथ रोष और आवेश को भी छोड़कर अब विजयी राम अपनी सौम्य, सात्विक और प्रसन्न मुखमुद्रा में सबको देखते हैं और दिखाई भी देते हैं।

विजय राघव राम का हार्दिक अभिनंदन करने के बाद राम-रावण युद्ध का निरीक्षण करने के लिए कई स्थानों से समागत देव, गंधर्व आदि दिव्यात्मा वीरगाथा का संकीर्तन और संस्मरण करते हुए अपने अपने स्थानों की ओर प्रस्थान करते हैं। राम और रावण का घोर संग्राम, राम की विजय, सुग्रीव के नेतृत्व में वानरसेना का साहसपूर्ण सहयोधन, हनुमान् का रण-कौशल, लक्ष्मण की समरशूरता, राम और लक्ष्मण की भ्रातृवत्सलता तथा पतिदेवता सीता की पवित्रता और उनके पातिव्रत्य का प्रभाव-आदि अनेक विषयों पर आपस में बातचीत करते हुए सब लोग अपने अपने स्थान पहुँच जाते हैं। अब श्रीराम मातलि को बुलाकर उनके प्रति और उनके माध्यम से देवेन्द्र के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करते हैं और इंद्र के भेजे गए धनुष-बाण, कवच, रथ आदि को सकृतज्ञ लौटा देते हैं। सुग्रीव सहित समस्त वानर-सेना के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित कर वह अपने शिविर में लौट जाते हैं-विश्राम के लिए नहीं, बल्कि तदनंतर कर्तव्य का अविलंब पालन करने के लिए।

अब लंका का पुनरावासन अत्यंत आवश्यक है। इसके लिए राजा की नियुक्ति सबसे पहली आवश्यकता है। इसीलिए कार्यकारी राम अपने भाई लक्ष्मण की ओर देखकर कहते हैंः—

विभीषणमिमं सौम्य लंकायामभिषेचय।
अनुरक्तं च भक्तं च तथा पूर्वोपकारिणम्॥
एष मे परमः कामो यदिमं रावणानुजम्।
लंकायां सौम्य पश्येयं अभिषिक्तं विभीषणम्''॥

विभीषण का राज्याभिषेक एक तात्कालिक आवश्यकता है–लंका की दृष्टि से और राम की दृष्टि से भी। लंका की सुरक्षा जितनी आवश्यक है, उससे भी अधिक आवश्यक है राम की प्रतिज्ञा की प्रपूर्ति। विभीषण की शरणागति के समय राम ने जो प्रतिज्ञा की थी, उसका पालन करने का समय अब आ गया है। रावण के स्थान पर विभीषण को राजा के पद पर प्रतिष्ठापित करना एक राजकीय अपेक्षा भी है। इसके अलावा विभीषण ने एक मित्र के रूप में राम के प्रति अनुराग, स्नेह और सौहार्द का जो परिचय दिया है, उसके लिए राम का उनके प्रति कृतज्ञ होना और कृतज्ञता को कार्य रूप देना भी सांप्रतिक आवश्यकता है। इस संदर्भ में राम का यह वाक्य "यह मेरी पहली कामना है", विशेष ध्यान देने योग्य है। इस वाक्य में 'काम' के स्थान पर 'धर्म' शब्द का प्रयोग किया जा सकता था। वैसे धर्मात्मा राम के मुँह से 'धर्म' शब्द का प्रयोग ही अधिक उपयुक्त होता। पर यहाँ पर धर्म का पालन इच्छा से हो रहा है। विभीषण का राज्याभिषेक केवल धर्म की अपेक्षा नहीं है, इसमें राम की निजी इच्छा, कामना भी सम्मिलित है। प्रभु की इच्छा प्रभु के धर्म से भी महान होती है और धर्मात्मा की इच्छा धर्म-सम्मत तो होती ही है। इस दृष्टि से यहाँ पर राम के मुँह से "धर्म" शब्द का निकलना "धर्म" और "काम" के सार्थक समीकरण की रमणीय अभिव्यंजना का द्योतक है। यदि यहां पर "काम" शब्द से राम का अभिप्राय धर्म सम्मत काम नहीं होता तो राम की दृष्टि रावण के वध के पश्चात् तुरन्त सीता पर जाती। पर धर्मज्ञ और कृतज्ञ राम पहले विभीषण के राजतिलक की बात सोचते हैं और बाद में सीता की बात सोचते हैं। यह सारा युद्ध सीता को मुक्त करने के लिए ही हुआ था, विभीषण को उनके भाई का राज्य दिलाने के लिए नहीं। फिर भी सत्य पराक्रम और धर्मपरायण राम की दृष्टि में प्राथमिकताओं का क्रम भी उनकी सत्य-निष्ठा और धार्मिक भावना से ही नियंत्रित होता है।

रामानुज लक्ष्मण अपने अग्रज की धर्मसम्मत कामना को कार्यरूप देने के लिए तुरन्त वानर-वीरों को भेजकर स्वर्ण-कलशों में समुद्र का जल मँगाते हैं और लंका में विभीषण का विधिवत् राज्याभिषेक सम्पन्न कराते हैं। वनवासी राम लंका में प्रवेश नहीं कर सकते, इसीलिए यह कार्य लक्ष्मण को सौंपते हैं। विभीषण का राज्याभिषेक विधिपूर्वक सम्पन्न करने के बाद लक्ष्मण विभीषण समेत राम की सेवा में उपस्थित होते हैं। अभिषेक के समय लंका के नागरिकों ने अपने नये राजा को जो मंगल द्रव्य उपहार में अर्पित किए, उन सबको विभीषण राम के चरणों में अर्पित करते हैं क्योंकि उनका यह सम्मान राम की ही देन है। विभीषण की प्रसन्नता के लिए राम उस प्रेमोपहार को सहर्ष स्वीकार करते हैं।

अब राम का ध्यान सीता पर जाता है। पास में प्रणति की मुद्रा में हाथ जोड़कर खड़े हनुमान् भी अपने आराध्य की इसी आशय की आज्ञा की प्रतीक्षा कर रहे हैं। हनुमान् का आशय समझ कर सीतावल्लभ राम कहते हैं:–

अनुज्ञाप्य महाराजमिमं सौम्य विभीषणम्।
प्रविश्य नगरीं लंकां कौशलं ब्रूहि मैथिलीम्॥

अब भी विधिवेत्ता और राजनय विशारद राम सीधे हनुमान् से नहीं कहते हैं कि अब तुम सीता के पास जाकर यह सुखद समाचार सुना दो। अत्यंत सावधानी और समयज्ञता के साथ वह कहते हैं, "महाराज विभीषण की आज्ञा लेकर तुम लंका में प्रवेश करो और मैथिली का कुशल समाचार पूछ आओ।" राम के इस वाक्य में सीता के प्रति उनकी निर्लिप्तता का आभास मिलता है। रावण के निधन का समाचार सुनने के बाद वैदेही पर क्या प्रतिक्रिया होती है, यह भी राम हनुमान् से जानना चाहते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि विभीषण के राज्याभिषेक तथा लंका-नगरी के पुनरावासन में लोकाभिराम राम जितनी रुचि और तत्परता दिखाते हैं उतनी अपनी साध्वी पत्नी की पुनः प्राप्ति में नहीं। यह ऐसा क्यों ? इस प्रश्न का उत्तर लोकोत्तर विभूतियों को भी राम की मुख-मुद्रा में ढूँढना पड़ता है–केवल निरुत्तर होकर ध्यानमग्न बन जाने के लिए। इसीलिए कहा गया है:–

"लोकोत्तराणां चेतांसि को नु विज्ञातुमर्हति"

75. तपस्विनी का ताप-निरूपण

तपस्या राम-काव्य की आधारभूमि है। रामायण के प्रणेता महर्षि वाल्मीकि स्वयं तपस्वी थे। तपस्या के साथ साथ स्वाध्याय की भी साधना में सिद्ध-सत्व नारद की प्रेरणा से ही वाल्मीकि ने अपनी कृति को आकृति प्रदान की थी। दोनों तपस्वी थे और दोनों की तपस्विता में मनस्विता का भी मंगलमय तत्त्व समाविष्ट है। दोनों मुनिपुंगव थे और दोनों के मौन में कल्याणकारिणी वाणी की कमनीयता रामायण की रमणीयता का बीज बनकर संचरित होती है। तपस्संपन्न वाल्मीकि की तपस्या सीता में साकार होती है तो वाणी के मर्मज्ञ नारद की मनोज्ञता को मनस्वी महामानव राम ने आत्मसात् कर लिया। इस दृष्टि से जनकनंदिनी सीता की तपस्या और दशरथनंदन राम की मनीषा एक दूसरे के पूरक और प्रेरक बनकर रामायण को राम और रामा के समन्वित अयन का रूप देती हैं। सीता की तपस्या को राम की मनीषा ही समझ सकती है और राम की मनस्विता को रामतापिनी सीता ही हृदयंगम कर सकती है। रामतापिनी सीता और सीतावल्लभ राम दोनों को समग्र रूप से पहचान कर दोनों के बीच समान अधिकरण स्थापित करने में समर्थ शांतिदूत हनुमान् मनस्वी राम का संदेश लेकर तपस्विनी सीता के पास पहुँचते हैं।

लगभग एक वर्ष से अशोक वाटिका में रावण की प्रतारणा से पीड़ित और रामविरह से संतप्त साध्वी सीता के संदर्शन के लिए जब हनुमान् विभीषण की आज्ञा लेकर लंका-नगरी में प्रवेश करते हैं तो अशोक-वाटिका तक मार्ग में जो भी राक्षस दिखाई देते हैं, सभी लोग हनुमान् का पूज्य भाव से स्वागत करते हैं। दो मास पहले यही हनुमान् सूक्ष्मरूप धारण कर संकोच के साथ लुक-छिपकर अशोक-वाटिका में गए थे। उस समय भी राम का संदेश लेकर ही यह सीता के पास गए थे और आज भी इसी कार्य हेतु सीता के पास जा रहे हैं। पर दोनों परिवेशों में कितना अंतर है। उस समय की लंका रावण की थी और अब वह राम की कृपा से विभीषण के आधीन हो गई है। अधिकार के स्थानांतरण से अधिकरण में इतना अंतर आ गया है। पर सीता और राम के अंतरंग में अभी तक कोई विशेष अंतर नहीं आया है क्योंकि तत्पुरुष की तदीय भावना से धर्म का पालन करने वाले राम अब भी वनवास की दीक्षा में तापस की वेषभूषा में हैं और धर्मात्मा राम के साथ समान अधिकरण स्थापित कर नियति-निर्धारित कर्म की साधना में समर्पित कर्मधारिणी और धर्मचारिणी जानकी तपस्विनी की मुद्रा में उसी के अनुरूप वेशभूषा में अशोक-वाटिका में शिंशपा वृक्ष की छाया में बैठी आत्माराम राम का स्मरण कर रही हैं। धीरे धीरे धीर समीरज प्रसन्न, प्रशांत और प्रणत मुद्रा में देवी के पास पहुँच कर खड़े हो जाते हैं। दूर से ही हनुमान् को देखकर जानकी पहले कुछ चकित हो जाती हैं, पर अगले ही क्षण दो मास पहले आंजनेय के दिए गए आश्वासन का स्मरण कर प्रसन्नता प्रकट करती हैं-केवल मुखमुद्रा के माध्यम से। उनके मुँह से कोई बात नहीं निकलती, पर उनका मौन-मंदहास मारुतनंदन के लिए पर्याप्त संकेत था।

वैदेही के मुखमंडल पर सौम्यता के चिह्न देखकर

हनुमान् स्वामी की विजय का शुभ समाचार सुनाते हुए कहते हैं- "देवि, सुग्रीव और लक्ष्मण समेत श्रीराम सकुशल हैं। अमित्रविजयी राम ने अपने शत्रु का संहार किया है और आपकी कुशल' पूछी है। विभीषण तथा वानर-सेना के सहयोग से राम और लक्ष्मण ने पराक्रमी रावण को पराजित कर दिया है। आपके प्रभाव से आपके स्वामी ने रावण का संहार किया है, यही प्रिय संवाद सुनाने मैं आया हूँ। अब आप सारी चिन्ता छोड़कर स्वस्थ रहें। अब लंका विभीषण के अधीन कर दी गई है। आपको इस आतंक से मुक्त करने के लिए हम सब लोगों के साथ प्रभु राम ने निद्रा को भी छोड़कर दिन-रात संग्राम किया और विजय प्राप्त की। लंकेश्वर विभीषण थोड़ी देर में आपके दर्शन के लिए आने वाले हैं। अब आप समझ लें कि आप अपने ही घर में हैं।"

हनुमान् की यह हर्षप्रद वाणी सुनकर जानकी भीतर ही भीतर इतनी प्रसन्न हुईं कि वह बाहर से कुछ बोल नहीं सकीं। सुखद समाचार सुनने के बाद भी सीता मौन हैं, इस पर हनुमान् कुछ उद्विग्न होकर कहते हैं- "देवि, आप क्या सोच रही हैं, मुझसे कुछ बोलती क्यों नहीं?" इस पर प्रफुल्लमुखी रामेक्षणी कहती हैं- "अत्यंत प्रिय समाचार सुनने पर परम प्रेम ने मेरे कंठ को गद्गद बना दिया है, इसीलिए मेरे मुँह से कोई वाक्य नहीं निकल रहा था। आत्महित की यह अमृतमय वार्ता सुनानेवाले तुमको मैं पुरस्कृत करना चाहती थी, पर मेरे पास ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जिससे मैं तुमको समुचित रूप से पुरस्कृत कर सकूँ। संसार की सारी संपत्ति भी तुम्हारी इस प्रपत्ति की समता नहीं कर सकती। इस विचार और विमर्श ने मुझे निःशब्द बना दिया है।" मैथिली की यह महिमामयी वाणी सुनकर वाणी के मर्मज्ञ वायुनंदन कहते हैं:-

तवैतद् वचनं सौम्ये सारवत् स्निग्धमेव च।
रत्नौघाद् विविधाच्चापि देवराज्याद् विशिष्यते॥
अर्थतश्च मया प्राप्ता देवराज्यादयो गुणाः।
हतशत्रुं विजयिनं रामं पश्यामि सुस्थितम्॥

जनकनंदिनी की सारगर्भित वाणी में गुणज्ञ और रसज्ञ को स्नेह ही स्नेह दिखाई देता है। इसीलिए यह स्नेह-सार संसार के समस्त रत्नों से उज्ज्वल तथा देवताओं के साम्रज्य से भी अधिक वैभवपूर्ण है। श्रीराम की विजय और रामपत्नी की प्रसन्नता से बढ़कर रामदूत को और क्या चाहिए। यही उनके लिए साम्रज्य, वैराज्य और महाराज्य से भी अधिक महनीय है। हनुमान् के इस शुभ वचन के प्रतिवचन में शुभतर-वादिनी जानकी परम धार्मिक पवन-पुत्र की सुलक्षण, सुमधुर तथा सुमतिपूर्ण वाणी की प्रशंसा करते हुए कहती हैं कि केवल वाणी के विलास में ही नहीं, बल्कि बल-पराक्रम, ज्ञान-विज्ञान, दया-दाक्षिण्य, धैर्य-स्थैर्य, नय-विनय, शम-दम आदि समस्त सद्गुणों में समीरज अग्रणी हैं।

राम-महिषी के मुँह से अपनी प्रशंसा सुनकर हनुमान् भीतर ही भीतर प्रसन्न हो रहे होंगे, पर बाहर से संकोच का अनुभव करते हैं। उनको मालूम है कि यह प्रशंसा और आशंसा का समय नहीं है बल्कि तत्काल कुछ यथोचित कार्य करने का समय है। अशोक-वाटिका में अब तक सीता-माता को डराती धमकाती रही असुरांगनाओं को अब भी उनके पास में बैठी देखकर हनुमान् को क्रोध होता है और उनकी क्रूरता का प्रतीकार करने की उनके मन में इच्छा पैदा होती है। इसके लिए वह जनकनंदिनी की अनुमति चाहते हैं। सीताजी का "हाँ" कहना भर काफी है, पलभर में सारी राक्षसियों को हनुमान् तहस नहस कर सकते हैं। परन्तु धर्मात्मा राम की सहधर्मिणी जानकी जानती हैं कि हिंसा का बदला हिंसा से नहीं, बल्कि जीवन-दान से होना चाहिए। इसके अलावा, यदि राक्षसियों ने अब तक सीता को डाँट डपट कर दुख पहुँचाया तो इसमें उनका कोई दोष नहीं है। उन्होंने केवल अपने राजा की आज्ञा का पालन किया है। इसलिए दंडनीय ये बिचारी अबलाएँ नहीं, पर इन स्त्रियों को इस कार्य के लिए नियुक्त करने वाला राजा है और उसको यथोचित दंड कोदंडपाणि राम ने दे ही दिया है। अब चूंकि अधिकार स्थानांतरित हो चुका है, इसलिए अपराध का आधार भी समाप्त हो चुका है।

इन सभी बातों पर संयम, संतुलन और सावधानी के साथ समग्र रूप से विचार कर विदेहनंदिनी हनुमान् से कहती हैं कि दैवयोग, दशा-भाग और कालगति के अनुसार जो भी सुख-दुख होते हैं, उनके लिए अकारण किसी को दोष नहीं देना चाहिए और यदि कोई सचमुच अपराधी पाया ही गया तो भी उसको दंड देने की अपेक्षा क्षमा करने में अधिक उदारता और उदात्तता है क्योंकि संसार में अपराध किसी न किसी रूप में कभी न कभी प्रत्येक से हो ही जाता है।

सर्वथा रामपत्नी के योग्य ये उदात्त वचन सुनकर रामदूत परम प्रसन्न हो जाते हैं और अब राम के लिए कुछ संदेश या संवाद के वाक्य राममहिषी के श्रीमुख से सुनना चाहते हैं। हनुमान् का आशय समझकर राम की अंतरंगिणी कहती हैं, "मैं अपने भक्तवत्सल स्वामी को देखना चाहती हूँ, इससे बढ़कर मेरी और कोई कामना नहीं है।" इस पर आंजनेय अवनि-तनया को आश्वस्त और प्रसन्न करने के लिए कहते हैं कि पूर्णचंद्र के समान सोलह कलाओं से परिपूर्ण रामचंद्र का मुखमंडल शीघ्र ही रामपत्नी के लिए नयन-पथगामी बन जाएगा। श्रीस्वरूपिणी सीता को इस प्रकार आशा से आलोकित कर अंजना के आत्मज दशरथात्मज के पास पहुँचते हैं।

श्रीराम को संदेश के नाम से रामपत्नी ने केवल एक ही वाक्य कहा था- "द्रष्टुमिच्छामि भर्तारं भक्तवत्सलम्" (भक्तवत्सल भर्ता को मैं देखना चाहती हूँ)। तेरह अक्षरों का यह छोटा-सा वाक्य वाणी के मर्मज्ञ राम के लिए अनंत भाव लहरी का अक्षय स्रोत बन सकता है। इसमें प्रत्येक शब्द अपने साथ एक भव-सागर की गंभीरता लिए उच्चरित होता है। पहले शब्द (द्रष्टुं) में अपने पति को देखने की प्राकृतिक लालसा प्रकट होती है। पर देखना अपने आप में बहुत बड़ी उपलब्धि है- विशेषकर इस रामेक्षणी के लिए जो पिछले एक वर्ष से लगातार अपने मन की आँखों से राम को और केवल राम को देखती रहीं और अब चर्म-चक्षुओं से प्रत्यक्ष देखना चाहती हैं। परन्तु यह दर्शन राम की कृपा पर ही निर्भर है, रामाक्षी केवल इच्छा कर सकती हैं। इच्छा शक्ति सीता हैं, क्रिया शक्ति राम हैं और दोनों में संधाता हनुमान् ज्ञान-शक्ति के रूप में बीच में विराजमान हैं। इसलिए ज्ञान के माध्यम से इच्छा सक्रिय और साकार बनने के लिए उत्सुक है। यही आशय इस महावाक्य के दूसरे शब्द (इच्छामि) से व्यक्त होता है। तीसरा शब्द (भर्तारम्)इस मनोरथ को सफल बनाने में पत्नी के परमाधिकार को प्रकट करता है। पत्नी अपने पति को देखना चाहती है तो इसमें कोई रुकावट नहीं हो सकती और राम की दृष्टि साधारण पति की दृष्टि की तरह केवल देखने तक सीमित नहीं है। राम को देखने का मतलब है जीवन का सर्वस्व मिल गया। राम के देखने में जो चमत्कार है, उसको पहली बार जनकनंदिनी ने अपने विवाह के समय देखा था। जब विश्वामित्र ने राम को शिवचाप की ओर देखने को कहा (वत्स राम धनुः पश्य) तब राम ने धनुष को देखते ही तोड़ दिया था और धनुष के माध्यम से अपनी दृष्टि को सीता की दृष्टि से सदा के लिए जोड़ दिया था। अब वही दृष्टि प्रियदर्शिनी वैदेही की प्रगाढ़ इष्टि है। राम की दृष्टि को अपनी ओर आकृष्ट करना कितना कठिन है, यह रामपत्नी ही जान सकती हैं। हनुमान् भी इस इष्टि की गहराई जानते हैं क्योंकि अशोक वाटिका में सीता की दृष्टि को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए हनुमान् को काफी प्रतीक्षा करनी पड़ी थी। उसी साध्वी के स्वामी राम की दृष्टि भी कितनी तपस्या के बल पर साध्य बन सकती है, यह रामपत्नी ही जानती हैं। इसीलिए वह जानबूझकर यहाँ पर "भर्तारम्" शब्द का प्रयोग करती हैं।

इस वाक्य का अंतिम शब्द है- "भक्तवत्सलम्"। अपने पति को "भक्तवत्सल" कहने में अत्यंत मार्मिक व्यंग्य है। रावण का संहार होने के पश्चात् राम की दृष्टि विभीषण पर पहले गई थी और बाद में अपनी पत्नी सीता पर। पत्नी से भी भक्त को अधिक महत्त्व देने वाले भक्तवत्सल राम को अवनि-तनया अब अविलम्ब देखना चाहती हैं। वास्तव में विजय का यह समाचार हनुमान् के माध्यम से न भेजकर राम को स्वयं आना चाहिए था और शोकाकुल पत्नी को सांत्वना

देनी चाहिए थी। राम की इसी निर्मोहिता की ओर रामपत्नी का यह तीखा व्यंग्य कितने मधुर, मृदुल और मर्मस्पर्शी शब्दों में प्रकट हुआ है, यह हनुमान् समझ गए। इसीलिए महाप्राज्ञ हनुमान् शोकसंतप्त मैथिली का संदेश कमलनयन और धनुर्धर राम को ज्यों का त्यों न सुनाकर उसका आशय अपने शब्दों में समझाते हैं। हनुमान् का पहला वाक्य है कि यह सारा उद्योग जिस साध्वी के संताप को दूर करने के लिए किया गया है, उस साध्वी को अविलम्ब देखना आवश्यक है। (तां देवीं शोकसंतप्तां द्रुष्टुमर्हसि मैथिलीम्) इसके बाद हनुमान् राम के दर्शन के लिए तड़पनेवाली तपस्विनी सीता के ताप को निरूपित करते हुए कहते हैं कि शोकाकुल और बाष्प-पर्याकुल मैथिली आपकी विजय का समाचार सुनकर आपको देखने के लिए लालायित हो रही हैं। अंत में पवनपुत्र अत्यंत परिमार्जित भाषा में राम से कहते हैं कि पूर्व परिचय के बल पर विरहिणी सीता को मेरी बात पर विश्वास तो हो गया है, पर वह आपको प्रत्यक्ष देखना चाहती हैं। इन तीनों वाक्यों में वाक्यविशारद वायुनंदन ने सीता के संदेश का सार व्यंग्य की वाग्भंगिमा के साथ व्यक्त करने का सफल प्रयास किया है।

हनुमान् के माध्यम से सीता के आशय को व्यक्त करनेवाला मार्मिक संदेश सुनकर राम तत्काल समझ जाते हैं कि उन्होंने भाग्य-पीड़ित पत्नी के प्रति बहुत बड़ा अन्याय किया है, इसीलए उनकी आँखें सजल बन जाती हैं। पर साथ ही कुलधर्म और लोकधर्म के बीच लोक को अधिक महत्त्व देने की आवश्यकता पर धर्म के मर्मज्ञ राम का ध्यान जाता है तो उनके चेहरे पर ध्यान की गंभीरता अंकित होजाती है। आपस में टकरानेवाली इन दोनों लहरों के बीच निश्वास छोड़ते हुए निर्लिप्त राम जीव-जगत् की ओर प्रजागर दृष्टि से देखने लगते हैं। स्थिति की विषमता और गंभीरता पर सभी दृष्टियों से सोच-विचार कर मनस्वी राम पार्श्ववर्ती विभीषण को संबोधित कर कहते हैं:—

दिव्यांगरागां वैदेहीं दिव्याभरणभूषिताम्।
इह सीतां शिरः स्नातामुपस्थापय मा चिरम्।।

लंकोश्वर विभीषण को दिए गए इस आदेश से स्पष्ट होता है कि लोकाभिराम राम अपनी अर्द्धांगिनी सीता को एकान्त में देखना नहीं चाहते। इसीलिए वह स्वयं न जाकर विभीषण को यह काम सौंप देते हैं। लंका में प्रवेश करना राम के लिए संभव भी नहीं है क्योंकि अभी वह वनवास की दीक्षा में हैं। सीता की आतुरता को समझकर भी वह धर्म की उपेक्षा नहीं करना चाहते। इसके अलावा वह सीता को जनता के बीच में देखना चाहते थे। इससे सीता को केवल राम ही नहीं, बल्कि सीता और राम के लिए अपना सर्वस्व समर्पित करने वाले शूर-वीर भी देख सकेंगे। एक बात और राम के मन में है। लगभग एक वर्ष से विरह की वेदना में संतप्त जानकी को वह उसी मलिन-म्लान स्थिति में देखना नहीं चाहते थे। इसीलिए वह विभीषण से कहते हैं कि मस्तक पर से स्नान करवा कर दिव्य वस्त्र, दिव्य आभूषण और दिव्य अंगराग से अलंकृत करवाकर सीता मेरे सामने उपस्थित कर दी जाए। विश्व की परम सुन्दरी सीता को सुन्दरतम रूप में देखने की इस इच्छा में कोई रहस्य छिपा हुआ है जिसको समझने के लिए राम का जैसा लोकोत्तर हृदय चाहिए। इसी रहस्य के उद्घाटन के विलक्षण क्षणों की सभी लोग प्रतीक्षा कर रहे हैं।

प्रभु का आदेश लेकर लंकेश्वर लंका में प्रवेश करते हैं और अशोक-वाटिका में अपनी स्त्रियों को भेजकर अपने आने की खबर देते हैं। विदेह-राजकुमारी सीता के सामने खड़े होकर लंकेश्वर नतमस्तक मुद्रा में उनको श्रीराम का संदेश सुनाते हैं। विभीषण का यह वाक्य "भर्ता त्वां द्रष्टुमिच्छति" (आपके स्वामी आपको देखना चाहते हैं) पति-देवता सीता को परमानंद प्रदान करता है। वह स्नान, अलंकरण आदि के बिना तत्काल अपने पति को देखना चाहती हैं। परन्तु धर्मात्मा विभीषण धर्मज्ञ राम के आदेश का यथावत् पालन करना और कराना चाहते हैं। विभीषण के विनम्र निवेदन को स्वीकार कर जानकी सुस्नात और सुसज्जित होकर शिबिका पर बैठती हैं। बहुमूल्य वस्त्रों और आभूषणों से अलंकृत दीप्तिमती सीता श्रीराम के समीप पहुँचती हैं। राक्षसराज रावण के घर चिरकाल

निवास करने के पश्चात् शिबिका पर बैठकर आई सीता को दूर से देखते ही सीता-वल्लभ राम के मन में रोष, हर्ष और दैन्य की मिली जुली अनुभूति विलक्षण विक्षोभ उत्पन्न करती है। श्रीराम को गंभीर मुखमुद्रा में ध्यानस्थ देखकर भी विभीषण उनसे सीता के आगमन का निवेदन करते हैं। विभीषण के इस वाक्य में तर्क-वितर्क के लिए कोई गुंजाइश ही नहीं है, फिर भी राम बड़ी गंभीरता के साथ सोचने लगते हैं और उनके चेहरे पर प्रसन्नता का कोई लक्षण नहीं दिखाई देता। रूखे स्वर में वह विभीषण से कहते हैं कि सीता जल्दी मेरे पास आ जाए, इसकी व्यवस्था करें। जब शिबिका जल्दी जल्दी आगे बढ़ने लगती है तो दोनों तरफ से भीड़ इकट्ठी हो जाती है। रामपत्नी को देखने की उत्कंठा से जब लोग शिबिका के पास झुंड के झुंड आने लगते हैं तो राजसैनिक भीड़ को हटाने का प्रयास करते हैं। इस पर राम कुपित होकर कहते हैं कि इस तरह जनता को जानकी के दर्शन से वंचित नहीं करना चाहिए, बल्कि सीता को पैदल चलकर मेरे पास पहुँचना चाहिए ताकि सब लोग वैदेही को स्वेच्छा से देख सकें। यह बात कहते समय राम की आँखें क्रोध से लाल हो उठती हैं। राम की मुख-मुद्रा में आग बरसानेवाला रोष और उनकी वाणी में एक अनविर्चनीय रूक्षता देखकर विभीषण भी विस्मित और भयभीत हो जाते हैं, पर राम की आज्ञा के अनुसार जनकनंदिनी को राम के सम्मुख प्रस्तुत कर देते हैं। राम का यह आकस्मिक मुख-परिवर्तन लक्ष्मण, सुग्रीव और हनुमान् को भी विचलित और व्यथित बना देता है। उनको लगता है कि रामचंद्र का मुखमंडल सीता से विमुख होता जा रहा है।

पीछे विभीषण और आगे सीता-दोनों पैदल चल कर राम के बिलकुल समीप आते हैं। बहुत समय के बाद विधु-वदन को भी लज्जित करने वाले प्रियवदन को देखकर सीता भीतर ही भीतर प्रसन्न होती हैं और बाहर से स्त्री-सुलभ लज्जा अनुभव करती हैं। पर सदा सौम्य दिखाई देनेवाले स्वामी के मुख पर कुछ विचित्र वैमनस्य की छाया देखकर सौम्यमुखी सीता को पहले विस्मय होता है, बाद में विषाद और फिर प्रसन्नता। वह राम की बगल में खड़ी खड़ी राम का ही मुख लगातार देखती रहती हैं- कभी सिर उठाकर और कभी सिर झुकाकर।

अब राम के हृदय के भीतर का ज्वालामुखी अपनी विस्फोटक ध्वनि सुनाने लगता है। एक वर्ष के पश्चात् अपनी खोई हुई पत्नी को फिर से अपने सामने पाकर राम का अंतरंग अनेक प्रकार के विचारों की विक्षुब्ध तरंगों से विचलित होता है। बात कहाँ से आरम्भ करें, कैसे करें, इस ऊहापोह में सत्यपराक्रम राम भी अपने मन को संतुलित नहीं रख पाते हैं। पराये घर में एक साल तक बैठी रही परम सुन्दरी पत्नी को स्वीकार करने में राम का पुरुषहृदय सहज रूप से सहमत नहीं हो पाता। परन्तु अपनी पत्नी की पतिपरायणता में उनको कोई संदेह नहीं है। फिर भी लोकमत को सर्वाधिक महत्त्व देनेवाले लोकनायक के रूप में वह अपनी साध्वी पत्नी की लोकोत्तर पवित्रता को सबके सामने प्रमाणित करना चाहते हैं। रावण का संहार केवल अपनी पत्नी की पुनःप्राप्ति के लिए उन्होंने नहीं किया था। जीव-जगत् में शांति, सुरक्षा, सत्य, धर्म आदि विश्वजनीन मानव-मूल्यों को स्थापित करने और सात्विकता और सन्मुष्यता के प्रति मानव-मात्र की आस्था बनाए रखने के लिए महामानव राम ने मोहांध रावण को महामेध की महती आहुति बनाकर अपने परम कर्तव्य का पालन किया है। इस दृष्टि से राम की विजय का सांप्रतिक फल लंका का पुनरावासन और विभीषण का राज्याभिषेक है। सीता की पुनःप्राप्ति प्रासंगिक फल है जो व्यक्तिगत और सीमित प्रयोजन को सिद्ध करता है। इसीलिए धर्मिष्ठ राम ने पहले विभीषण को लंका के राज्य पर प्रतिष्ठित कराया और बाद में अपनी पत्नी के पास कुशल संदेश भेजा। उसके बाद भी रामदर्शन लालसा से लालायित सीता को सबके सामने सार्वजनिक स्थान पर देखना ही उनके लिए अभीष्ट हुआ। यहाँ तक कि सीता को पैदल आने के लिए भी वह बाध्य करते हैं। अशोक वाटिका से सीता को लाने के लिए विभीषण को भेजने में भी

सार्थकता है। सीता का अपहरण राक्षसराज रावण ने किया था तो उस अपराध का निराकरण या परिमार्जन तभी होगा जब रावण के भाई उस परम साध्वी को पति के पास प्रस्तुत करे। इससे सीता का अपनयन अब उपनयन का रूप धारण करता है।

इन सभी बातों पर समग्र रूप से विचार करने के बाद ही विवेकशील राम अपने हृदय की बात अपनी हृदयेश्वरी के सामने प्रकट करते हुए कहते हैंः—

एषासि निर्जिता भद्रे शत्रुं जित्वा रणाजिरे।
पौरुषाद् यदनुष्ठेयं मयैतदुपपादितम्॥

अपनी पत्नी को भद्रा या कल्याणी कहकर संबोधित करने में राम की कल्याण भावना स्पष्ट होती है। रामभद्र की भद्रता का मूल आधार जानकी हैं। यदि लंकावास की अवधि में जानकी अपनी भद्रता, पवित्रता और अप्रमत्ता पर यथेष्ट ध्यान नहीं देतीं तो रावण का वध निष्प्रयोजक सिद्ध हो जाता और राम की विजय निरर्थक हो जाती। इसीलिए भद्रभावना के भव्य उपासक राम अपनी प्रबुद्धता का परिचय देते हुए जो कुछ कहते हैं, वह अत्यंत मननीय है। पहली बात जो उनके मुँह से निकलती है, यह है कि मैंने शत्रु को पराजित कर तुमको जीत (प्राप्त कर) लिया है। इसमें राम का सत्य प्रकट होता है। उसके बाद राम पुरुषार्थ की बात कहते हैं। श्रीराम को सब लोग पुरुषोत्तम या मर्यादापुरुषोत्तम कहते हैं। साधारण पुरुषों को भी पौरुष से काम लेना चाहिए तो पुरुषोत्तम को अपने पौरुष का बोध होना स्वाभाविक है। इसी आत्मबोध का परिचय देते हुए आत्माराम अपनी आत्मवती सीता से कहते हैं कि पौरुष की मर्यादा रखने के लिए मुझे जो कुछ (अनुष्ठित) करना था, उसे मैंने संपन्न (उपपन्न) किया है। यह राम के वक्तव्य का बीज वाक्य है जिसको पल्लवित करते हुए वह आगे कहते हैं- "अब तक जिस अमर्ष (अप्रसन्नता) ने मेरे पौरुष को आच्छन्न कर रखा है उसको मैंने अब समाप्त कर दिया। मेरी प्रतिष्ठा पर जो आंच आई, उसका मैंने मार्जन कर दिया। तुम्हारे अपहरण के कारण मेरी जो अवमानना हुई, उसका पूरा पूरा निराकरण उस अवमानी शत्रु के प्राण-हरण के साथ सम्पन्न हो गया। आज मेरा पौरुष इस संसार ने देखा है, मेरा श्रम सफल हुआ और मेरी प्रतिज्ञा पूर्ण हुई, मैं अपना आप बन गया हूँ। चंचल चित्तवाले राक्षस ने मेरी अनुपस्थिति में जो तुम्हारा अपहरण किया है, उससे मेरे ऊपर दैवी संकट आया था, जिसको मैंने मानवीय प्रयत्न से दूर कर अपने को और अपनों को बचा लिया है। इसमें हनुमान्, सुग्रीव, विभीषण आदि ने कई प्रकार से मेरी सहायता की। सागर-लंघन, लंका-दाह, सेतु-बंधन, भ्रातृत्याग आदि अनेक अद्भुत घटनाओं से गुजरते हुए आज हम सबका श्रम सफल हुआ है।"

श्रीराम के श्रीमुख से यह श्रीभाष्य सुनते समय श्रीस्वरूपणि सीता के नेत्र हिरण के नेत्रों की तरह विशाल बन जाते हैं और उन विस्तृत नयनों में आनंद, अवसाद और आशा के आँसू मोतियों की तरह छलकने लगते हैं। सुकेशी, सुलोचना, और सुदती सीता को ध्यान से और अभिमान से देखने-परखने के बाद श्रीराम की दृष्टि जन-समुदाय पर जाती है। आत्महित और लोकहित के बीच दोलायमान दाशरथी का हृदय थोड़ी देर के लिए भीषण संघर्ष का सामना करता है और अंत में मनस्वी राम अपने मन को समझाकर तपस्विनी सीता से कहते हैं- "कल्याणी, तुम्हारा कल्याण हो। जगत् की रक्षा के लिए महर्षि अगस्त्य ने जिस प्रकार अपनी तपस्या के बल पर दक्षिण दिशा को जीत लिया था, उसी प्रकार मैंने लोक-रावण रावण का संहार कर लोकहित की रक्षा की है। मैं इस बात को स्पष्ट करना चाहता हूँ कि इस महायुद्ध में मैंने अपने मित्रों के सहयोग से जिस श्रमसाध्य कार्य को सिद्ध कर लिया है, वह मैंने तुम्हारे लिए नहीं किया है, बल्कि सदाचार की रक्षा के लिए, अपयश के निवारण के लिए और कुल-कलंक के परिमार्जन के लिए किया है। आज मैं अपने आपको कृतकृत्य अनुभव कर रहा हूँ, पर इस दशा में पराये घर बैठी और पति के पास आई तुमको देखकर तुम्हारे संदिग्ध चरित्र को पवित्र मानने में

अपने आपको मैं तैयार नहीं कर पा रहा हूँ। जैसे आँख के रोगी को दीपक का प्रकाश बाधाजनक होता है वैसे ही तुम्हारा सुन्दर शरीर मेरे लिए अप्रिय और अस्वीकार्य लग रहा है। इसलिए तुम जहाँ जाना चाहती हो, वहाँ प्रसन्नता से जा सकती हो। सारी दिशाएँ तुम्हारे लिए खुली पड़ी हैं, मुझे तुम्हारी कोई जरूरत नहीं है।"

श्रीराम के ये परुष वचन सभी को चौंका देते हैं और पतिप्राणा जानकी पर क्या बीत रही होगी, इसकी कल्पना करना भी संभव नहीं है। संभवतः संसार की समस्त कल्पना-शक्ति समेकित होकर भी साध्वी सीता की उस समय की मनोदशा की कल्पना नहीं कर सकती। परन्तु कुसुम से भी कोमल और वज्र से भी कठोर राम का लोकोत्तर हृदय अपने स्वर को बराबर मुखरित करता जा रहा है। अतिसामान्य मानव की तरह मर्यादापुरुषोत्तम राम अपनी मानवती पत्नी से पूछते हैं, "भला, तुम ही बताओ, कौन ऐसा तेजस्वी और कुलीन पुरुष होगा जो पराये घर से आई हुई स्त्री को लोभ या स्नेह के वशीभूत होकर स्वीकार करने को तैयार होगा? रावण तुम्हें अपनी गोद में उठाकर ले गया था और तुमको बुरी नजर से साल भर देखता रहा। ऐसी दशा में मैं तुम्हें कैसे अपने घर लेजा सकूँगा, जैसे कुछ हुआ ही नहीं। इसलिए तुम अपनी इच्छा से जहाँ जाना चाहो, जा सकती हो, मुझे कोई आपत्ति नहीं। जिस उद्देश्य से मैंने तुमको इस युद्ध में जीत लिया वह पूरा हो गया है। अब तुम से मेरा कोई प्रयोजन सिद्ध होने वाला नहीं है। इसलिए तुम्हारे प्रति मेरे मन में कोई ममता या आसक्ति नहीं है।" अब यह सब सुननेवाले वानर-वीर और राक्षस सोचते होंगे- "बहुत हुआ, बहुत हुआ, अब बस करें ।" पर राम की वाणी और कठोर बनती जाती है। वह जानबूझकर लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, सुग्रीव और विभीषण के नाम लेकर पतिदेवता सीता से कहते हैं "इनमें से तुम्हारा मन जिसमें रमता हो, उनको तुम अपना लो। जहाँ तुमको सुख मिले, वहाँ सुखी रहो।"

स्पष्ट है कि साध्वी सीता अपने स्वामी के मुँह से ये बातें सुनने के लिए यहाँ नहीं आई हैं और न इस दिन को देखने के लिए वह पूरे बारह महीने राम के लिए तड़पती रहीं, अपने तन को तपाती रहीं और मन को समझाती रहीं। एकदम राम की प्रकृति और प्रवृत्ति के प्रतिकूल ये अप्रत्याशित वचन सुनकर सीता के कान बहरे हो जाते हैं, आँखों को आँसू देखने नहीं देते, हाथी की सूँड से हिला दी गई लता की तरह लतांगी का शरीर शिथिल होने लगता है। जिन वीरों को वह अपने सामने उपकार की भावना से देख रही है, उनके प्रति आभार प्रकट करने का अवसर ही नहीं मिला, उलटे उनके सामने अचानक अपमान के इस आघात को सहने में वह अपने को अक्षम अनुभव कर रही हैं। पर यह अनुभव इतना आक्रामक और आकस्मिक है कि उसके लिए अभिव्यंजना का आश्रय मिलना भी कठिन है। वास्तव में सीता की अभिव्यंजना राम स्वयं हैं। जब राम के आश्रय से ही वह वंचित हो रही हैं, फिर अभिव्यंजना का आश्रय उनको कहाँ से मिलेगा? बार बार समझाने का प्रयास करने पर भी जानकी यह समझ नहीं पातीं कि अचानक उनके स्वामी में यह परिवर्तन क्यों आया और कैसे आया। यही जानने के लिए वह साहस बटोर कर आंचल से आँसू पोंछ कर, कठोर वचनों के शराघात से अपने को संभाल कर और अपनी मर्यादा पर यथेष्ट ध्यान देते हुए मानिनी मैथिली अभिमानी राम से कहती हैं- "स्वामी, आज आपको क्या हो गया है? आपके मुँह से ये कटु वचन क्यों सुनने को मिल रहे है? आप साधारण मनुष्य की तरह ऐसे संकीर्ण विचारों को अपने मन में कैसे स्थान दे रहे हैं? मैं धरती माँ की बेटी हूँ और आप सत्यपराक्रम राम हैं। मेरे चरित्र पर आपको इस प्रकार की शंका नहीं होनी चाहिए। आज न जाने क्यों आपको मेरे भीतर एक स्त्री मात्र दिखाई दे रही है। हम दोनों की पूर्वपीठिका, प्रणयभावना, पाणिग्रहण के समय की गई प्रतिज्ञा, हम दोनों की निरंतर अविनाभाविता सब कुछ आपने भुला दिया है। यदि रावण ने मेरे शरीर का स्पर्श किया है तो उसमें मेरा कोई दोष नहीं है, मेरा हृदय तो आपके साथ रहा है, और देवयोग से जो संकट आया उसको मैं अपने निर्मल मन से सहती रही और आप की राह देखती रही। यदि आपके मन में इस

प्रकार की शंका थी तो आपने हनुमान् को मेरे पास अशोक-वाटिका में क्यों भेजा? उसी समय मैं अपने प्राणों को छोड़कर आपको इस धर्म-संकट से मुक्त कर देती। जो स्त्री पति का विश्वास नहीं प्राप्त कर पाती, उसको श्वास लेने का भी कोई अधिकार नहीं बनता। उसी समय आपका यह संदेश मुझे मिल जाता तो आपको अनावश्यक इतना श्रम नहीं करना पड़ता। मेरी पतिभक्ति और सच्चरित्रता का आपकी दृष्टि में अब कोई मूल्य ही नहीं रह गया है। इसलिए अब मेरा जीवित रहना भी निरर्थक है।"

साध्वी सीता को जो कुछ कहना था, बड़ी संतुलित भाषा में वह सब कुछ कह देती हैं। पर राम निरुत्तर हैं। अब सीता की दृष्टि लक्ष्मण पर जाती है। लक्ष्मण को देखते ही मारीच का आर्तनाद, लक्ष्मण का हितबोध और सीता का दुराग्रह-वह सारा दृश्य मैथिली के नेत्रों में क्षणभर के लिए थिरकने लगता है। अब तपस्विनी कुछ कुछ समझ पाती हैं कि उस समय निरपराध लक्ष्मण पर उन्होंने जो मिथ्यारोप लगाकर अनुचित वचन कहे थे, उन्हीं का प्रतिफल अब उनको मिल रहा है। ऐसा लगता है कि वही दूषित वचन अब राम के मुँह से अनुनादित हो रहे हैं। लेकिन अब इसके लिए क्या किया जा सकता है! जो हो चुका, सो हो चुका। मुँह से निकली बात को मिटाया नहीं जा सकता, अधिक से अधिक भुलाया जा सकता है। पर भूलचूक का यह सौदा भोली भाली मैथिली के लिए बहुत मँहगा पड़ रहा है। क्षण भर में मैथिली के मन में वह सारा अतीत आवर्तित हो जाता है। इसी के साक्षी के रूप में साक्षात् वही लक्ष्मण सामने खड़े हैं जिनको संबोधित कर जानकी कहती हैं:-

चितां मे कुरु सौमित्रे व्यसनस्यास्य भेषजम्।
मिथ्यापवादोपहता नाहं जीवितुमुत्सहे॥
अप्रीतेन गुणैर्भर्त्रा त्यक्ताया जनसंसदि।
या क्षमा मे गतिर्गंतुं प्रवेक्ष्ये हव्यवाहनम्॥

सुमित्रानंदन, मेरे लिए चिता तैयार करो, वही मेरे लिए अब शरण है। इस महान व्यसन की महौषधि वही है। स्वामी का विश्वास खो बैठने के बाद मेरा जीवित रहना संभव नहीं है। यह सही है कि यह आरोप गलत है। पर इतना तो स्पष्ट है कि मैं अपने स्वामी के प्रेम से तो वंचित हो गई हूँ क्योंकि भरी सभा में उन्होंने मेरा परित्याग किया है और कहा कि तुम जहाँ चाहो वहाँ जाओ। अब हव्यवाहन अग्निदेवता को छोड़कर मेरे लिए और कोई गति ही नहीं है।

पूज्य भाभी के ये हृदयविदारक वचन सुनकर लक्ष्मण कर्तव्यमूढता से कर्मवीर राम की ओर पर्युत्सुक नेत्रों से देखते हैं तो राम की आकृति स्वीकृति प्रदान करती दिखाई देती है। इस पर विवश होकर लक्ष्मण चिता तैयार करते हैं। उस समय रघुवीर की मुखमुद्रा इनती प्रचंड और प्रलयांतक प्रतीत होती है कि आसपास में खड़ा हुआ उनका कोई भी मित्र, बंधु या भक्त उनको समझाने या कम से कम उनके पास जाकर उनको देखने तक का साहस नहीं कर पाता। स्वयं राम की दृष्टि भी वसुधा की ओर झुकी हुई है मानो वह सीता की माता से अपनी विवशता प्रकट कर क्षमा-याचना कर रहे हों। अधोमुखी अथवा धरामुखी राम की परिक्रमा कर पतिदेवता सीता समस्त देवताओं तथा ब्राह्मणों को प्रणतिपूर्वक अपनी श्रद्धा निवेदित करती हैं:-

यथा मे हृदयं नित्यं नापसर्पति राघवात्।
तथा लोकस्य साक्षी मां सर्वतः पातु पावकः॥
यथा मां शुद्धचारित्रां दुष्टां जानाति राघवः।
तथा लोकस्य साक्षी मां सर्वतः पातु पावकः॥
कर्मणा मनसा वाचा यथा नातिचराम्यहम्।
राघवं सर्वधर्मज्ञं तथा मां पातु पावकः॥

ये तीनों श्लोक एक पतिव्रता नारी द्वारा पावक को संबोधित पावन मंत्र हैं। पवित्रता का पर्यायावाची शब्द ही पावक है। संसार में सबसे पवित्र वस्तु पावक या अग्नि है जो किसी भी वस्तु को पवित्र बना सकती है। इसीलिए पावक के समान ही पवित्र आचरण को आजीवन आत्मसात् कर आत्मवेदी राम की आराधना करनेवाली आत्मवती सीता लोकसाक्षी पावक से अनुरोध करती है कि वही निर्णय करें कि सीता का चरित्र पावक है या नहीं। सीता का हृदय यदि किसी

भी समय राम से हट कर अन्यत्र नहीं गया, शुद्ध चरित्र साध्वी को यदि राम भ्रम से दूषित समझ रहे हैं और यदि सभी धर्मों का मर्म समझनेवाले रघुनाथ को अपना एकमात्र नाथ समझनेवाली मिथिलेश-कुमारी का मन कभी अतिचारित नहीं हुआ है तो लोक-पावक अग्नि लोकनायक राम के सामने पतिव्रता की पवित्रता को प्रमाणित कर उसकी रक्षा करे।

इस शपथ-सूक्ति के साथ सोने को भी चमकानेवाली सुवर्ण कांति से सुशोभित रामपत्नी प्रज्वलित चिंता की परिक्रमा कर फिर से एक बार सूर्य, चंद्र, वायु, पृथ्वी, दिन, रात और दोनों संध्याओं की वंदना करके निश्चिंत होकर अपने को अग्निसात् कर लेती हैं। इस रोमांचक दृश्य को देखकर सारा वायुमंडल स्तब्ध हो जाता है, सारा जन-समुदाय त्रस्त हो जाता है, स्त्री-समाज हाहाकार मचाता है, अंतरिक्ष से देवता, गंधर्व, ॠषि-मुनि ध्यान-मग्न हो जाते हैं और सीतावल्लभ राम इस आर्तनाद को सुनकर पलभर के लिए समाधि मुद्रा में सजल नेत्रों से समस्त संसार को अपने में समाहित कर लेते हैं। तत्काल देवलोक से इंद्र, वरूण, यमराज और कुबेर, कैलास से शंकर तथा समस्त संसार के स्रष्टाा ब्रह्मा अपने दिव्य विमानों पर आरूढ़ होकर लंका में श्री रघुनाथ के पास आ पहुंचते हैं। ध्यानमग्न राम आंखें खोलकर सबके सामने खड़े हो जाते हैं। सभी दिव्यात्मा राम की स्तुति करते हैं और कहते है कि लोककर्ता, प्रज्ञानिधि ओर सर्वज्ञ होकर भी उन्होंने अग्नि में प्रवेश करनेवाली अपनी साध्वी पत्नी की उपेक्षा कैसे की। इस पर दशरथ नंदन राम अपने को साधारण मनुष्य बताकर अपनी शुद्ध अनभिज्ञता को प्रकट करते है। इस पर ब्रहवेत्ताओं में श्रेष्ठ परब्रह्म सत्य पराक्रम राम को आत्म-बोध कराते हुए कहते हैं कि आप नर के रूप में अवतरित नारायण हैं और मनुष्य द्वारा ही रावण का संहार संभव था, इसीलिए आपको मानव शरीर धारण करना पड़ा। वास्तव में सीता देवमाया द्वारा निर्मित लक्ष्मी हैं और श्रीराम नारायण का प्रतिरूप है, इस रहस्य को जैसे ही लोककर्ता उद्घाटित करते हैं, तुरन्त अग्निदेव वैदेही को अपनी बेटी के समान गोद में लिए चिता से बाहर आते हैं और सारी घटना को स्वप्न के समान देखकर चकित हो रहे रामचंद्र से कहते हैं:—

एष ते राम वैदेही पापमस्यां न विद्यते।
नैव वाचा न मनसा नैव बुद्धया न चक्षुषा॥

विशुद्ध भावां निष्पापां प्रतिगृह्णीष्व मैथिलीम्।
न किंचिदभिधातव्या अहमाज्ञापयामि ते॥

अग्निदेवता का यह आज्ञा-सूक्त सीतावल्लभ राम को पाणिग्रहण के समय राजा जनक के वाक्य का स्मरण कराता है। उस समय राजा जनक "पाणि गृहणीष्व पाणिना" कहा था और आज जातवेद (अग्नि) के मुँह से "प्रतिगृह्णीष्व" शब्द निकल रहा है। उस दिन जनक ने कन्या-दान किया था और आज पावक ने पत्नी-दान किया है। उस दिन दशरथ नंदन सीतापति बन गए थे और आज सीतापति प्रजापति बन रहे हैं। अब तक दशरथनंदन राम के भीतर जो दिव्यांश प्रच्छन्न रूप से विद्यमान था, वह आज प्रकट रूप धारण करता है। पर लोकाभिराम राम अब भी लोक कल्याण की साधना में लौकिक धरातल पर ही रहना चाहते हैं क्योंकि पार्थिव जगत् में मनुष्य की मुग्ध मनोहर महनीयता के सामने दिव्यत्व भी नतुल्य हो जाता है। दिव्यत्व जहां तक आवश्यक है, वहीं तक राम के लिए वह स्वीकार्य है। जैसे ही उसका प्रयोजन सिद्ध होता है, उस धरातल से वह लौटना चाहते हैं ताकि वह सबके साथ, सबके लिए और सबका बना रहे। इसी दृष्टि से वह अग्निदेव की आज्ञा को शिरसा धारण कर मन, वाणी, दृष्टि और बुद्धि-चारों भूमिकाओं में अपने को निष्पाप और शुद्ध प्रमाणित करनेवाली साध्वी सीता को स्वीकार करते हैं और कहते हैं "मैं जानता हूँ कि मेरी प्रिय मैथिली अनन्य हृदया है, पर लोगों को इसका विश्वास होना चाहिए। इसीलिए मैंने इस बात का विश्वास दिलाने का दायित्व अग्निदेव को सौंपा है। संसार में कोई भी शक्ति मुझे अपनी प्राणप्रिय पत्नी जानकी से अलग नहीं कर सकती, इसी सत्य को सिद्ध करना इस परीक्षा का परम प्रयोजन है। जानकी जैसी

परीक्षिता को पाकर परीक्षा स्वयं पारंगत हो जाती है। वास्तव में यह परीक्षा न जानकी की है और न मेरी, यह परीक्षा लोक-पावक पावक की है।

अब सारी बातें एक विशिष्ट भाव भूमिका पर चल रही हैं जो लौकिक धरातल से बहुत ऊपर की हैं, फिर भी वसुंधरा साक्षी बनकर सब कुछ देख रही है। इसी समय एक और लोकोत्तर घटना घटती है। रावण का संहार अपने आप में एक लोकोत्तर घटना है जिसको सत्यपराक्रम राम ने संभव कर दिया है। इस के पीछे ऋषि-मुनियों का संकल्प, देवताओं का सहयोग और नियति की सुनिश्चित योजना ये सभी बातें साधक बन गई थीं। पर सबसे बड़ा त्याग राजा दशरथ का था। यदि दशरथ राम को वानवास नहीं देते तो यह सब कुछ नहीं होता। इसलिए महादेव शंकर दशरथ की दिवंगत आत्मा को भी थोड़ी देर के लिए साकार बनाकर राम, लक्ष्मण और सीता के सम्मुख उपस्थित कर देते हैं। वनवास की दीक्षा लगभग समाप्त हो रही है। इसी अवसर पर दिव्य शरीर में राजा दशरथ का दर्शन करना विशेष महत्व रखता है। सीता, राम और लक्ष्मण दशरथ के दिव्य रूप की वंदना करते हैं। पितृपाद अपने पुत्रों की कृतकृत्यता पर प्रसन्नता प्रकट करते हैं और उनको आशीर्वाद देते हैं। इस अवसर पर सर्ववत्सल राम अपने पिता से एक वरदान मांगते है और वह है कैकेयी के सपुत्र परित्याग का परिहरण। वनवास के प्रसंग में राजा दशरथ ने क्रोध के आवेग में कैकेयी से कहा था कि मैं तुमको पुत्र-परिवार समेत त्याग देता हूँ अब राम चाहते हैं कि इस परित्याग को अब वापस ले लिया जाए। दिव्य शरीर में उपस्थित दशरथ "तथास्तु" कहकर सबको प्रसन्न कर देते हैं। साथ ही अभी अभी अग्नि परीक्षा से बहिर्गत पुत्रवधू को भी सदय हृदय दशरथ समझाते हैं कि मेरे बेटे राम ने तुम्हारे साथ जो अन्याय किया है, उसे मन में नहीं रखना। यह सब तुम लोगों की भलाई के लिए है। इतना कहकर रामरागमय राजा दशरथ उसी दिव्य शरीर में देवराज के दरबार में वापस चले जाते हैं।

लोकोत्तर घटनाओं की श्रृंखला अब भी समाप्त नहीं होती है। देवराज इंद्र भी अपना चमत्कार दिखाना चाहते हैं। पाक-शासन इंद्र लोकशासन राम को कुछ विशिष्ट वरदान से पुरस्कृत करना चाहते हैं और अपना अभीष्ट वर मांगने को कहते हैं। इस पर परम कारुणिक राम कहते हैं कि यदि आप सचमुच मुझे अनुगृहीत करना चाहते हैं तो मेरे लिए जिन असंख्य वानरों ने अपने प्राण समर्पित किए हैं, उनको जीवन प्रदान करें। अब इंद्र धर्म-संकट में पड़ते हैं। वैसे अमरेन्द्र के लिए यह असंभव नहीं है, पर यह प्रकृति के विरूद्ध है। फिर भी वानरवीरों का निधन भी प्रकृति के विरूद्ध असमय ही हुआ है। इसीलिए इसको घटित करने में भी कोई तात्विक कठिनाई नहीं हो सकती। इंद्र के 'हाँ' कहते ही वीर गति को प्राप्त सभी वानर-वीर जी उठते हैं जैसे सोकर उठे हों। इस पर सबको आश्चर्य होता है और प्रसन्नता भी होती है।

अब सारी सेना पहले की भांति समृद्ध, समग्र और संपूर्ण दशा में है। सीता, राम, लक्ष्मण, हनुमान, सुग्रीव, विभीषण आदि सभी को अपनी शिवकामना प्रकट कर इंद्रादि देवता अपने अपने स्थान पर पहुंच जाते हैं। दिन भर की थकावट को भुला देनेवाली सुखद शर्वरी के मधुमय क्षण समस्त राम-समाज को आवश्यक विश्राम प्रदान करते हैं तन से, मन से और तन्मयता से भी।

ततस्तु सा लक्ष्मण राम पालिता
महाचमूहृष्टजना यशस्विनी।
श्रिया ज्वलंती विरराज सर्वतो
निशा प्रणीतेव हि शीत रश्मिना॥

श्रीराम और लक्ष्मण के संरक्षण में महती सेना महती उपलब्धि के आनंद में लीन होकर स्वप्न में भी अपने यश को चांदनी रात की स्वच्छ धवल कांति के समान व्याप्त देखते हुए विश्राम के समय में भी राम का ही स्मरण करते हुए श्रीप्रकाश की चिन्मय मुद्रा में सुशोभित हो रही थी।

इस मधुमती भूमिका में प्रतिष्ठित महीयसी माधवी संभवतः लंकानगरी की इस विलक्षण विभावरी के वैभव पर विस्मित होकर रात भर गुनगुनाती रही—

मयि श्रीः श्रयतां यशः

76. साथ चले सब लोग अयोध्या

श्रीराम की चौदह वर्ष की वनवास-दीक्षा के संपूर्ण होने में अभी केवल पांच दिन शेष हैं। चैत्र शुक्ला पंचमी के दिन सुप्रभात की सुमधुर वेला में जैसे ही रघुनाथ के राजीव नयनों को रविराज ने उन्मीलित कर दिया, उनका जय जयकार करते हुए सामने आ खड़े हैं-लंकेश्वर विभीषण। वसंत नवरात्र के पांचवे दिन कोकिल की काकली पंचम स्वर में मधुर मनोहर मंगल गीत सुना रही है। यह मंगल गीत मनस्वी राम को तपस्वी भरत का स्मरण कराता है। अगले पांच दिनों में राम का अयोध्या पहुंचना अत्यंत आवश्यक है। अन्यथा भरत के प्राण संकट में पड़ जाएंगे। चित्रकूट में अपने अग्रज से आज्ञा लेते समय भरत ने इस बात को स्पष्ट कर दिया था कि यदि चौदह वर्ष के बाद राम अयोध्या वापस नहीं आएंगे तो वह अपने प्राणों को अग्निसात् कर लेंगे। यह बात मितभाषी राम ने अब तक किसी से नहीं कही। यदि कह भी देते तो क्या अंतर पड़ता। जो काम जब होना है, हो ही रहा है मानों किसी कार्य संचालक ने सारे कार्यक्रम को समय पर संपन्न करने और कराने का पूरा दायित्व अपने ऊपर ले लिया है। वास्तव में इस कार्य की प्रणाली की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि कर्ता में न कर्तव्य का भाव है और न कर्म में इच्छा अनिच्छा का आग्रह है। केवल क्रिया सक्रिय है और कर्ता और कर्म दोनों निश्चिंत हैं।

जब भरताग्रज के मन में यह भाव-लहरी सुखद संचरण कर रही होती है, लगभग उसी समय अभी अभी पुनरावासित तथा पुनर्व्यवस्थित लंका नगरी में नव-निर्वाचित विभीषण शांति संस्थापक लोक नायक राम का स्वागत सत्कार एवं अभिनंदन करना चाहते हैं और यही अनुरोध लेकर वह सबेरे सबेरे श्रीराम के दर्शन करते हैं। मृदुभाषी राम विभीषण के अनुरोध को मुखतः स्वीकार करते हैं, पर वस्तुतः इसको स्वीकार करने में अपनी व्यावहारिक कठिनाई से विभीषण को अवगत करते हुए कहते हैं: अब मेरा मन भरत की भावना को सम्मानित करने के लिए आतुर है जो मेरी सातुर प्रतीक्षा में हैं। सत्य और धर्म में समीकरण स्थापित करने के लिए अपनी इच्छा से तापस जीवन व्यतीत करने वाले भरत के पास यथाशीघ्र पहुंचकर उनकी तपस्या को सफल बनाने के लिए मेरा मन उतावला हो रहा है। इस पर विभीषण कहते हैं कि अयोध्या पहुंचने में कोई विलंब नहीं होगा क्योंकि पुष्पक विमान उनको कम से कम समय में अयोध्या पहुंचा देगा। फिर भी भरतनिष्ठ राम विभीषण के प्रस्ताव को स्वीकार नहीं करते हैं क्योंकि रामनिष्ठ भरत जटाधारी बनकर अपने अग्रज के आगमन की प्रतीक्षा में घड़ी घड़ी गिन-गिन कर नंदिग्राम में राममय जीवन व्यतीत कर रहे हैं। इसीलिए राजकीय सम्मान को स्वीकार करने में अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए सर्व समर्थ राम सार्थक शब्दों में कहते हैं:—

अनुजानीहि मां सौम्य पूजितोऽस्मि विभीषण।
मन्युर्न खलु कर्तव्यः सखे त्वां चानुमानये॥

स्वयं सौम्यता की सात्विक प्रतिमूर्ति होकर मर्यादा पुरूषोत्तम राम विभीषण को सौम्य कहकर संबोधित करते हैं और उनसे क्षमा मांगते हैं क्योंकि वह उनके

अनुरोध को स्वीकार नहीं कर पा रहे हैं। अब अयोध्या की ओर अविलंब प्रस्थान करने का समय आ चुका है। जहां तक पूजनीय की पूजा करने की विभीषण के मन में जो पूज्य भावना है, उसका तो राम यथोचित सम्मान करते हुए कहते हैं कि मैं आपकी पूज्य भावना से पहले ही सम्मानित हो चुका हूँ, इसलिए अपने मन में इस भावना को बिलकुल स्थान नहीं देना चाहिए कि आपने मेरा सम्मान नहीं किया। मेरी भारतीय (भरत संबंधी) भावना का भी आप अनुमान लगाकर मुझे अयोध्या जाने की आज्ञा दें। इसके अलावा एक बिलकुल व्यावहारिक बात कार्यकुशल राम के मुंह से निकलती है और वह है– 'कृत कार्यस्य मे वासः कथं स्यादिह सम्भवः' (जिस काम के लिए मैं यहां आया हूं, वह तो पूरा हो चुका है, फिर मेरे यहां रहने का औचित्य क्या है?) व्यवहार कुशल और विवेकशील रघुनंदन का यह वाक्य उनकी कर्तव्य परायणता के साथ कर्मफल में अनासक्ति का भी परिचायक है। प्राकृतिक घटना-क्रम में जैसा कार्य सामने उपस्थित होता है, उसे कर्तव्य-भावना से निष्पादित कर निर्लिप्त भावना से आगे बढ़ना ही धर्मशील राम का कर्मयोग है और यही उनके अयन की रमणीयता है।

श्रीराम की संयत और संतुलित वचः श्री पर मुग्ध होकर विभीषण पुष्पक-विमान को सुसज्जित रूप में राम के सामने उपस्थित कर देते हैं। विमान की शोभा लंका के लावण्य तथा ऐश्वर्य के सर्वथा अनुरूप है। सूर्य के समान भास्वर, स्वर्णमय आसन, मणिमंडित गुप्त गृह, पांडुवर्ण की पताकाएं, सोने के कमलों से अलंकृत अट्टालिकाएं, मोतियों से मुग्ध मनोहर लगने वाली खिड़कियां, स्थान-स्थान पर लगी हुई छोटी-छोटी घंटियों के मंजुल निस्वन से मनमोहनेवाले किवाड़, चांदनी की तरह चमकने वाले चांदी की शोभा से सुसज्जित कक्ष-कक्षांतर, नीलम के बने सिंहासन, वहुमूल्य बिस्तर-बिछौने आदि अनेक आकर्षक उपकरणों से युक्त पुष्पक विमान फूल के समान मुस्करानेवाले राम-दंपत्ति के सामने पुष्पहास की प्रतिकृति के रूप में विराजमान है। उत्तर दिशा के स्वामी धनपति कुबेर के लिए विश्वकर्मा ने यह विचित्र विमान बनाया था। परस्व को निजस्व बनाने के लिए अपने पशुबल का प्रयोग करने में प्रवीण रावण इस विमान को अपने भाई के यहां से चुराकर ले आया था। संकल्प मात्र से यह विमान मनोवेग से चलता है। जहां चाहें, वहां ले जाता है और जितने लोगों को जाना हो, उतने लोगों के लिए स्थान बना देता है। इस प्रकार का यान अयनशील राम के सम्मुख उपस्थित है। प्रस्थान के लिए प्रस्तुत पुष्पक को देखकर उदारचेता राम अपन भाई लक्ष्मण की ओर देखकर आश्चर्य प्रकट करते हैंः–

दृष्ट्वा तदा विस्मयमाजगाम।
रामः ससौमित्रिरुदार सत्वः॥

पराक्रम में सत्य और उदारता में सत्व को साथ लेकर चलनेवाले सत्यनिष्ठ और सत्त्वशील राम के इस विस्मय में थोड़ा-सा संकोच भी ध्वनित होता है। अयोध्या से लंका तक राम ने पदयात्रा ही की थी। अब प्रतियात्रा के लिए पर-बल से प्राप्त पुष्पक विमान उनके लिए सहज रूप से उपलब्ध हो रहा है। क्या इसको स्वीकार करना ठीक है? इसी ऊहापोह में उलझे हुए राम के मन में यह विस्मय भावना आ बैठती है। इस विस्मय को राम की असंसक्तता स्मय अथवा स्मिति में बदल देती है। अब अयोध्या पहुँचना अत्यंत आवश्यक है, अन्यथा वनवास के फलोदय में ही बाधा पड़ जाएगी। इस अत्यावश्यक कार्य के लिए अप्रत्याशित रूप से अत्यंत उपयुक्त साधन उपलब्ध हो रहा है। इसको यदृच्छा के रूप में श्रीराम का निर्मल मन स्वीकार करता है। मन ही मन वह संकल्प भी कर लेते हैं कि अयोध्या पहुँचने के बाद इस विमान को इसके वैध अधिकारी (कुबेर) के पास पहुँचाने से अत्याचारी रावण के अन्यायपूर्ण आचरण का परिहार भी हो जाएगा। इस छोटी-सी घटना में राम के मन में जो क्षणभर का विस्मय जाग उठा था, उससे उनकी अभिप्रायपरायणता और असंसक्त कार्यकुशलता का जीता जागता प्रमाण मिलता है। जब राम सोलह साल के थे, उसी समय रामदर्शी विश्वामित्र ने बालक राम में इन दोनों गुणों

को बीज रूप में देखकर राजा दशरथ से कहा था : 'अभिप्रेतं असंसक्तं रामं मे दातुमर्हसि' (आप अपने कारणजन्मा और असंसक्त पुत्र को मेरे साथ भिजवा दें)। विचारे दशरथ उस समय इस रहस्य को नहीं जान सके। आज वही बीज राम के चरित और उनके मानस में पल्लवित और पुष्पित होकर पुष्पक विमान को देख रहा है। राम का पुष्पहास इसी विस्मिति और स्मिति के परिप्रेक्ष्य में पुष्पक को स्वीकार करता है।

अब राम विमान की ओर बढ़ रहे हैं। विभीषण हाथ जोड़कर बड़ी विनम्रता से राम के साथ चलते चलते बहुत संकोच के साथ कहते हैं—"अब सेवक के लिए प्रभु की क्या आज्ञा है?" विभीषण की इस विनयांजलि में राम के लिए कुछ न कुछ ठोस काम करने की बलवती लालसा है। पर इसके लिए राम का आदेश आवश्यक है और संकेत ही पर्याप्त है। कार्यप्रिय विभीषण की कैंकर्य लालसा को पहचानकर लक्ष्मण और विभीषण दोनों की ओर लक्ष्य करके इंगितज्ञ राम कहते हैं:—

कृतप्रयत्नकर्माणः सर्व एव वनौकसः।
रत्नैरर्थैश्च विविधैः संपूज्यन्तां विभीषण॥

विभीषण राम का सम्मान कर उनके प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करना चाहते थे। पर कृतज्ञता के मर्मज्ञ मर्यादा पुरुषोत्तम राम विभीषण की इस कृतज्ञता को वानर-वीरों की ओर प्रवर्तित करना चाहते हैं। वास्तव में वानरसेना के धैर्य, शौर्य और साहस के बल पर ही राम की विजय हुई है और विभीषण को लंका का ऐश्वर्य प्राप्त हुआ। इसलिए राम विभीषण को यह परामर्श देते हैं कि इन वानर-वीरों को बहुमूल्य वस्त्र, आभरण, रत्न आदि से सम्मानित कर इनको विदा करनी चाहिए। उपकारी का प्रत्युपकार करना राजा का धर्म है। अन्यथा कर्तव्य भावना में आसक्ति कम हो जाती है और शासन के कार्य में सहयोग का लोप हो जाता है। श्रीराम के वचन का विभीषण तत्काल पालन करते हैं। अपने ही सामने समस्त वानर-वीरों को सुसम्मानित देखकर राम अत्यंत प्रसन्न हो जाते हैं।

सुग्रीव, हनुमान् आदि को आशीर्वाद देकर विभीषण को भी अभय वचन से आश्वस्त कर देते हैं और पुष्पक विमान पर सीता और लक्ष्मण के साथ बैठ जाते हैं।

अब विमान प्रस्थान के लिए तैयार है। लगभग एक वर्ष के पश्चात् स्वामी राम के वामांक में बैठी वैदेही को परम प्रसन्नता का अनुभव तो होता ही है, पर साथ ही वह लज्जा का भी अनुभव करती हैं। लावण्यवती सीता की लज्जा को अनुराग और आनन्द में पल्लवित और परिवर्द्धित करने के उद्देश्य से प्रेम की प्रतिमूर्ति राम अपनी अर्द्धांगिनी कों अपने अंक में ले लेते हैं और साथ में दूसरे पार्श्व में सुमित्रानंदन सीताराम के समागम के नयन मनोहर दृश्य को देखकर मन ही मन पुलकित हो उठते हैं। अब किसी भी समय विमान धरती को छोड़कर अंतरिक्ष में प्रवेश कर सकता है। अपने आप्त मित्रों को बंधु-बांधवों के समान माननेवाले मानद राम सब से बिदा लेते हुए कहते हैं:—

अयोध्यां प्रतियास्यामि राजधानीं पितुर्मम।
अभ्यनुज्ञातुमिच्छामि सर्वानामंत्रयामि वः॥

अपने पूज्य पिता की राजधानी अयोध्या की ओर मैं प्रस्थान कर रहा हूँ। आप लोग मुझे अनुमति दें, यही सबसे मेरा अनुरोध है। श्रीराम के इस आमंत्रण वाक्य में अत्यंत सागर्भित संकेत है जिसे समझ कर विभीषण तत्काल उस संकेत का लाभ उठाते हुए राम से निवेदन करते हैं:—

अयोध्यां गंतुमिच्छावः सर्वान् नयतु नो भवान्।
मुद्युक्ता विचरिष्यामो वनान्युपवनानि च॥

विभीषण के मन में यह लालसा आज सबेरे से जाग्रत हो रही है कि श्रीराम के साथ सभी लोग अयोध्या जाएँ और राम का राजतिलक स्वयं देखकर नयनफल प्राप्त करें। परन्तु संकोचवश वह अपनी मनोकामना को राम के सम्मुख व्यक्त नहीं कर पा रहे थे। वास्तव में प्रातःकाल राम का प्रथम दर्शन करते समय ही वह इस इच्छा को व्यक्त करना चाहते थे। पर राम का संकेत वानरवीरों के यथोचित सम्मान की ओर था जिसका विभीषण ने तत्काल बड़ी तत्परता के साथ

पालन किया था। अब जब विमान प्रस्थान के लिए बिलकुल तैयार था और राम के विदाई वाक्य भी सुनाई देने लगे तब विभीषण से रहा नहीं गया। उन्होंने सबकी ओर से यह मनोकामना व्यक्त की कि उनको सहयात्रा, अयोध्या-दर्शन और राजतिलक में सहभागिता का अवसर प्रदान किया जाए। वाक्य-विशारद राम के विदाई वाक्य में 'आमंत्रयामि' शब्द का जो सांकेतिक प्रयोग हुआ है, उसी ने विभीषण को इस अभीप्सा को व्यक्त करने का बल दिया।। विभीषण का वाक्य सुनते ही राम, बिना सोचे-विचारे, तत्काल इस प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार करते हैं और कहते हैं कि इससे बढ़कर मेरे लिए प्रीतिकर और क्या हो सकता है। श्रीराम की स्वीकृति पाते ही विभीषण, सुग्रीव, हनुमान् आदि सभी लोग जल्दी-जल्दी तैयार होकर विमान में जा बैठते हैं।

यह आकस्मिक घटना अभिप्रेत और अनासक्त राम की 'यथालाभ संतोष' वाली तटस्थता को आरेखित करती है। राम के अयन की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि उनकी अयनशीलता में गतिशीलता तो है,पर स्वरतिशीलता नहीं है। जो जैसा करता है, उसको उसी रूप में स्वीकार करना और त्याग की भावना से भोग का संयत स्वागत करना राम का जीवन-दर्शन है। यादृच्छिक घटना-क्रम पर अटल विश्वास और अनिर्वेद के आधार पर आत्मबोध का आमंत्रण श्रीराम की सत्यनिष्ठा और धर्मपरायणता का मूलमंत्र है। बचपन में पिता के आदेश पर विश्वामित्र के साथ चलने के लिए तैयार हो जाने से लेकर अब विभीषण की इच्छा पर सबको साथ लेकर अयोध्या चलने के लिए अपनी स्वीकृति देने तक राम के अयन (रामायण) की प्रत्येक घटना प्रसन्नराघव की इस प्रवृत्ति को प्रमाणित करती है। वास्तव में आकाश की तरह निर्मल, पानी की तरह तरल, हवा की तरह सुरभिल, ज्वाला की तरह उज्ज्वल और धरती की तरह निश्चल राम का जीवन एक प्रकार से पुष्पक विमान जैसा ही है। इस दृष्टि से पुष्पक विमान आज अपने समानधर्मा संचालक और स्वामी को पाकर सार्थक हुआ है।

इसीलिए सभी वानर और राक्षस इतनी बड़ी संख्या में आराम से राम के साथ बैठकर विमान में प्रस्थान की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

अब राम की आज्ञा पाकर विमान चल पड़ता है। विमान-यान पर चल पड़े सभी यात्रियों को साम गान का सा स्वर सुनाई देता है। वायुयान का यह साम गायन सुनते ही सभी यात्री तन्मय हो जाते हैं और सीता-समेत राम भी अतीत के स्मरण में एक अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव करते हैं। इसी आनंद को किसी प्रकार शब्दों में बाँधने का प्रयास करते हुए वह मार्ग में दिखाई देनेवाले विभिन्न स्थलों का विवरण अपनी सहासनी सीता को बताते जाते हैं। सबसे पहले कैलास के समान सुशोभित त्रिकूट पर्वत के शिखर पर प्रतिष्ठित लंका-नगरी जो कि अंतरिक्ष से अधिक मनोहर दिखाई देती है राम के ध्यान को आकृष्ट करती है। उसके बाद रणभूमि की ओर राम सीता का ध्यान आकृष्ट करते हैं जहाँ पर कुंभकर्ण, प्रहस्त, धूम्राक्ष, इंद्रजित्, विरूपाक्ष, महोदर महापार्श्व, अकंपन आदि अनेक राक्षस वीरगति को प्राप्त कर चुके हैं। रावण का वध जिस स्थान पर हुआ है और जहाँ पर मंदोदरी ने विलाप किया था, उसकी ओर राम सीता का ध्यान दिलाते हैं। सेतुबंधन और सागर के तटपर विभीषण की शरणागति जैसी अनेक घटनाओं का वर्णन करते हुए और साथ-साथ अनेक स्थलों का वर्णन करते हुए धीरे धीरे राम अपने विमान को किष्किंधा तक पहुँचा देते हैं। सुग्रीव से मैत्री, वालि का वध आदि घटनाओं का वर्णन श्रीराम के मुँह से सुनकर अचानक सीता के मन में यह इच्छा उत्पन्न होती है कि किष्किंधा की वानरियों को भी साथ लेकर अयोध्या चलें। राम को भी यह विचार अच्छा लगता है।

श्रीराम की आज्ञा पाकर विमान थोड़ी देर के लिए किष्किंधा में उतरता है। श्रीराम और सीता के आदेश पर सुग्रीव तारा-समेत समस्त वानरियों को विमान पर चढ़ने को कहते हैं। सभी स्त्रियाँ तत्काल तैयार होकर विमान में आ बैठती हैं। विमान फिर अंतरिक्ष में उड़ान भरकर अयोध्या की ओर प्रस्थान करता है। अबकी बार

सबसे पहले ऋष्यमूक पर्वत और पंपा-सरोवर का दृश्य अंतरिक्ष से दिखाई देता है और अंत में सरयू के तट पर प्रतिष्ठित अयोध्या। इन दोनों के बीच जनस्थान, पंचवटी, पर्णशाला, चित्रकूट आदि अनेक स्थान दिखाई देते हैं। इन स्थानों से जुड़ी हुई अनेक घटनाओं का स्मरण करते कराते श्रीराम सीता के मनोरंजन के लिए सारी रामकथा की पुनरावृत्ति कराते हैं। रावण द्वारा सीता के अपहरण तक की घटनाओं में सीता विशेष आसक्ति दिखाती हैं क्योंकि ये सारी घटनाएँ उनकी अनुपस्थिति में घटी थीं। शबरी कबंध, आदि पात्र एकदम नये हैं। सीता के वियोग से संतप्त राम ने जो विलाप किया था, उसका भी मार्मिक वर्णन विमानस्थ राम करते हैं। गोदावरी के तट पर क्या क्या होता था, इसका भी स्मरण कर दोनों सुख-दुख की मिली-जुली अनुभूति प्राप्त करते हैं। सुतीक्ष्ण, शरभंग, विराध आदि का भी रोमांचक स्मरण करते हुए दोनों कुछ समय तक अतीत में जीने लगते हैं। अत्रि और अनसूया का भी स्मरण हो आता है। इस प्रकार धीरे धीरे स्मृति-पथ पर संचरण करते करते दोनों भरद्वाज आश्रम को देखते हैं। चित्रकूट की स्मृति भी दोनों के चित्त में एक विचित्र चित्र अंकित कर देती है। भरद्वाज का आश्रम देखते ही राम वहाँ पर उतरकर महर्षि का आशीर्वाद प्राप्त करने की बात सोचते हैं। इतने में पास में अयोध्या भी दिखाई देती है। सरयू और अयोध्या को देखकर राम के मन में स्वर्गीय पिता के प्रति और पिता की राजधानी के प्रति पूज्य भावना जाग्रत हो जाती है। सत्यसंध राजा दशरथ की सत्यपुरी राजधानी को देखते ही राम स्वयं प्रणाम करते हैं और सीता को भी प्रणाम करने के लिए कहते हैंः—

एषा सा दृश्यते सीते राजधानी पितुर्मम।
अयोध्यां कुरु वैदेहि प्रणामं पुनरागता॥

चौदह वर्ष के बाद अयोध्या को पुनः देखने पर कर्मयोगी राम के मन में कृतकृत्यता की भावना का भी उदय होता है। वनवास की दीक्षा के समाप्त होने में अभी चार-पाँच दिन शेष हैं। इसीलिए श्रीराम पुष्पक को भरद्वाज के आश्रम में उतरवाते हैं। जब विमान उतरने लगता है तो सभी वानर विमान में बैठे बैठे उछल उछल कर बड़ी उत्सुकता के साथ अयोध्या और उसके परिसर को देखने लगते हैं। अमरावती के समान सुशोभित अयोध्या की अतिलोक शोभा देखकर लंकावासी और किष्किंधावासी अपने जीवन को चरितार्थ और नयनों को सफल अनुभव करते हैं। रामपत्नी जानकी भी मन ही मन पुलकित होती हैं क्योंकि आज श्रीराम के मुँह से रामायण की कथा चित्रवत् देखने और सुनने का अवसर मिला है। इस दृश्य-श्रव्य रामकथा की विशेषता यह है कि इसमें रामायण की कथा आदि से अंत तक न चलकर, अंत से आदि तक प्रत्यावर्तित होती है। श्रीराम की विजय से लेकर वनवास के आरंभ तक की कहानी पीछे की तरफ पुरावृत्त होती सी प्रतीत होती है।

अब श्रीराम की विमान-यात्रा भरद्वाज के आश्रम तक आकर क्षणिक विश्राम पाती है। सीता, राम और लक्ष्मण महर्षि का पादाभिवंदन करते हैं। और भरत तथा माताओं का कुशल मंगल जानना चाहते हैं। भरद्वाज तनिक मुस्कुराकर कहते हैं कि पादुकाओं की महिमा से सब लोग सकुशल हैं और सभी नागरिक सुखी हैं, केवल तुम्हारी प्रतीक्षा है। राम की सहज जिज्ञासा का समाधान करने के बाद महर्षि भरद्वाज अपनी ओर से राम के वनवास-जीवन की यशस्विता और कृतार्थता पर प्रसन्नता प्रकट कर विजयी राम का हार्दिक अभिनंदन करते हैं। वनवास की सारी बातें भरद्वाज को तपोबल से ज्ञात हैं, इसलिए राम को अपनी ओर से कुछ कहने की आवश्यकता नहीं हुई। मारीच की माया, सीता का अपहरण, कबंध का शाप-विमोचन, पंपा के तट पर सुग्रीव की मैत्री, वालि का संहार, सीता का अन्वेषण, आंजनेय का अद्भुत साहस, सेतु-बंधन, समस्त राक्षस वीरों के साथ रावण का संहार, लंका में समस्त देवताओं का समागम—ये सारी बातें भरद्वाज अपनी तपस्या के बल पर समय समय पर ज्ञात करते रहे और महर्षि के मुँह से यह सारा घटना-क्रम सुनकर राम चकित हो जाते हैं। परम ऋषि अपनी प्रसन्नता के प्रतीक के रूप में राम को अभीष्ट वर देना चाहते हैं। अब राम जो चाहें सो माँग

सकते हैं। यहाँ भी कल्याण-राम लोककल्याण की भावना से यही वर माँगते हैं कि इस आश्रम से अयोध्या तक के सारे मार्ग में सभी वृक्षों पर स्वादिष्ट फल उत्पन्न हो, चाहे ऋतु उस के लिए अनुकूल हो या नहीं ताकि वनसंचारी वानर अघा-अघाकर अमृत तुल्य फलों का आस्वादन कर अयोध्या पहुँचें। भरद्वाज के लिए यह कोई कठिन कार्य नहीं था। बड़ी प्रसन्नता के साथ वह परार्थ-परायण राम की माँग को स्वीकार करते हैं। तत्काल सभी वृक्ष फलप्रद बन जाते हैं। जिन पेड़ों पर कभी फल नहीं होते थे उनमें भी अब फल लग गए हैं। जहाँ पत्ते नहीं थे, वहाँ पर नई नई कोंपलें आ गईं। सूखे पेड़ हरे भरे बन गए। पहाड़ी वृक्ष मधुमय बन गए। अयोध्या तक का तीन योजन का मार्ग नाना प्रकार के फलों की सुगंध से महकने लगा। इस प्रकार अयोध्या का परिसर राम-आगमन से पहले मधुर फलागम से मनोहर बन गया।

भरद्वाज का अनुरोध था कि राम एक दिन उनके आश्रम में रुक जाएँ और अगले दिन अयोध्या की ओर प्रस्थान करें। राम ने इस प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार कर लिया क्योंकि अभी वनवास की अवधि समाप्त होने में कुछ दिन शेष हैं। परंतु भरत के मन को त्वरित गति से आश्वस्त करने के लिए श्री राम ने हनुमान को बुलाकर कहा कि तुम शीघ्र ही अयोध्या में जाकर राजभवन में सबकी कुशलता का पता करो और तपस्वी भरत को मेरे आगमन की सूचना दो। रास्ते में निषादराज गुह को भी मेरा कुशल मंगल बता देना। वनवास में जो कुछ हुआ उसे संक्षेप में भरत को बता देना और इस पर भरत की प्रतिक्रिया को भी ध्यान से समझकर आवश्यक हो तो इस बीच में मुझे बता देना।

श्रीराम के स्थायी संदेश-वाहक हनुमान् को यह अभिनव आयोग अतिशय आनंद का आगर बन जाता है क्योंकि किष्किंधा के समस्त वानर-समाज में अयोध्या में भरत से मिलने का अवसर सबसे पहले उन्हीं को मिल रहा है और वह भी राम-कार्य हेतु। इसके अलावा भरद्वाज के आश्रम से भरत के निवास तक का सारा मार्ग अभी अभी फलों से समृद्ध हो गया है। इस फलप्रद मार्ग का अवलोकन और आस्वादन करने का भी सौभाग्य उनको सबसे पहले मिल रहा है। इन सभी आशाओं और आकांक्षाओं को लेकर रामदूत हनुमान् मनुष्य का रूप धारण कर अयोध्या की ओर प्रस्थान करते हैं। उनके लिए विमान की आवश्यकता नहीं है क्योंकि वह स्वयं विमान हैं। पहले शृंगवेरपुर जाकर वह निषादराज गुह को यह शुभ समाचार सुनाते हैं और कहते हैं कि उनको आज ही भरद्वाज के आश्रम में श्रीराम के दर्शन होंगे और आज पंचमी के दिन वह भरद्वाज के साथ व्यतीत कर अगले दिन अयोध्या के लिए चल पड़ेंगे। इतना कहकर वह तुरंत अयोध्या की ओर प्रस्थान करते हैं। मार्ग में रामतीर्थ, वालुकिनी, वरूथी, गोमती, शालवन आदि अनेक स्थानों के दर्शन करते हुए नंदिग्राम के उपवनों तक पहुँच जाते हैं तो उनको लगता है कि इन उपवनों की रमणीयता कुबेर के चैत्ररथ और देवराज के नंदन-वन से किसी प्रकार कम नहीं है। अयोध्या से केवल एक कोस की दूरी पर नंदिग्राम में आश्रमवासी भरत को देखकर पवनपुत्र मंत्र-मुग्ध हो जाते हैं। शरीर से दुर्बल, तपस्या में तेजस्वी, श्रीराम की पादुकाओं की सश्रीकता से प्रतिक्षण उत्प्रेरित और वेशभूषा में सीधे सादे भरत को सभासदों, मंत्रियों और पुरोहितों से परिवेष्टित पाकर हनुमान् मन ही मन अनुभव करते हैं कि यह धर्मात्मा भरत केवल धर्मज्ञ ही नहीं बल्कि साक्षात् धर्म के ही मूर्तरूप हैं।

श्रीराम के ध्यान में तत्पर भरत की दृष्टि को अपनी ओर आकृष्ट करते हुए महाप्राज्ञ हनुमान् श्रीराम के उपागमन का अमृतोपम समाचार मृदु मधुर भाषा में सुनाते हैं तो भ्रातृवत्सल भरत हर्ष से उछल पड़ते हैं और थोड़ी देर के लिए आत्ममोहित हो जाते हैं अथवा कहना चाहिए, आत्म समाहित हो जाते हैं। शोक-मुक्त और प्रेम-युक्त आनंद की अविरल अश्रुधारा से आप्लावित भरत अभ्यागत आंजनेय का आलिंगन करते हैं और प्रियतम समाचार सुनाने वाले नवागत महानुभाव को उत्तम उपहार देने के लिए उतावले हो जाते हैं।

अब महात्मा राम को शीघ्रातिशीघ्र देखने की

लालसा से उद्विग्न भरत अपने भाग्य को सराहते हुए कहते हैं कि इतने सुदीर्घ काल के बाद अपने स्वामी का संकीर्तन सुनने का मुझे यह सौभाग्य मिला है। इस प्रसंग में भरत को एक जनवाक्य का स्मरण हो आता है:—

कल्याणी बत गाथेयं लोकिकी प्रतिभाति मा।
एति जीवंत मानंदो नरं वर्षशतादपि॥

बिल्कुल यही बात अशोक वाटिका में शोकाकुल अवस्था में बैठी सीता देवी के मुँह से भी निकली थी जब हनुमान् के मुँह से उन्होंने राम का कुशल समाचार सुना था। दोनों प्रसंगों में राम की कुशल कथा ही प्रसक्त है जिसके द्वारा रामाक्षी सीता और भ्रातृवत्सल भरत दोनों आनंद का अनुभव करते हैं। राम की गाथा सुनते ही इन दोनों विभूतियों के मुँह से इस उद्गार के प्रकट होने का मतलब यही है कि रामकथा में ही कल्याण गाथा की कमनीयता नैसर्गिक रूप से निहित है। सौ वर्ष के बाद ही सही यह रमणीय गाथा और कमनीय कथा कर्ण पटल में प्रवेश करेगी, आनंद के दिन अवश्य आएँगे, मंगलमय प्रभात अवश्य प्रकट होगा, यही इस श्लोक में मुखरित होनेवाला आशा का स्वर है जो अमर काव्य रामायण का अमूल्य संदेश है। इस आंतरिक आनंद की अनुभूति को प्रकट करने के बाद भरत इस बात की जिज्ञासा व्यक्त करते हैं कि वानर-समाज के साथ राम का सम्बन्ध कैसे जुड़ा, कैसे बढ़ा और वास्तव में क्या क्या हुआ। इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए हनुमान् सारी रामकथा को विस्तार से सुनाते हैं। राम के प्रव्रजन से लेकर भरद्वाज के आश्रम में उनके पुनरागमन तक का सारा वृत्तांत संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित शैली में समीरकुमार बहुत सहज भाव से सुनाते हैं। कुल मिलाकर सौ पंक्तियों में सारी रामकथा आ जाती है जिससे केवल भरत ही नहीं, बल्कि रामकथा भारती के किसी भी जिज्ञासु की जिज्ञासा का समाधान होता है। इसको 'हनुमद् रामायण' कहा जा सकता है। महर्षि भरद्वाज ने भी संक्षेप में वनवासी राम की विजयगाथा का वर्णन किया था - राम को ही संबोधित कर। इसको भरद्वाज की रामायण कहा जा सकता है। लंका से अयोध्या की ओर पुष्पक विमान में यात्रा करते समय श्रीराम ने स्वयं सारी घटनाओं को दृश्य श्रव्यशैली में सीता के मनोरंजन के लिए प्रस्तुत किया था। इसको हम चाहें तो श्रीराम रामायण कह सकते हैं। आत्मबोध रामायण भी इसके लिए सार्थक नाम हो सकता है। इस प्रकार राम के प्रति-प्रयाण में रामकथा की बार-बार पुनरावृत्ति होती है और हर बार हर मुँह से इसमें कोई नई बात निकल आती है। संभवतः यही रामायण की रमणीयता का रहस्य है। जितनी अधिक हम इसे सुनें, समझें, पढ़े, सोचें, विचारें, उतनी और गहराई में पैठ कर कुछ और पाने की इच्छा बनी रहती है।

कथा के उपसंहार में हनुमान् भरत से कहते हैं कि सीता, लक्ष्मण, सुग्रीव, विभीषण तथा अन्य आप्त मित्रों के साथ श्रीराम भरद्वाज के आश्रम में आ चुके हैं और कल ही अयोध्या के लिए प्रस्थान करेंगे। पवन-पुत्र के इस मधुर-मनोहर रामकथा सूत्र को पाकर भरत सफलमनोरथ हो जाते हैं और श्रीराम के स्वागत के लिए नगर में और नगर से बाहर विस्तृत व्यवस्था करवाते हैं। सारी अयोध्या श्रीराम के शुभागमन की सोल्लास प्रतीक्षा में है। रात के बाद दिन हो जाने के पहले रात ही दिन बन जाती है और दिन सुदिन क्योंकि वह अदीनात्मा राम के दर्शन कराने जा रहा है। भरत और शत्रुघ्न के मार्ग-दर्शन में समस्त नागरिक प्रेम और नियम की नैष्ठिक भावना से विजयराघव का स्वागत करने के लिए समस्त नगरी को श्रीमती, ह्रीमती और कीर्तिमती बना देते हैं।

77. युगयुग का अग-जग परिपालक

सत्य और धर्म को अपने आचरण के दो चरण बनाकर लोक में आलोक का दर्शन करने के लिए सत्यपराक्रम राम ने वनवास की दीक्षा स्वीकार की थी। अब यह दीक्षा लगभग समाप्त हो रही है। परन्तु राम का मन अयोध्या जाने के लिए अवश्य उत्सुक है, पर भरत का उत्तराधिकारी बनने के लिए लालायित नहीं है। महर्षि भरद्वाज ने भरत के शासन की प्रशंसा भी की है। श्रीराम की पादुकाओं की महिमा के बल पर भरत का शासन सुचारु रूप से चल रहा है, इस बात की जानकारी भरद्वाज ने दी है। इसीलिए राम ने हनुमान् के माध्यम से अपने पुनरागमन की सूचना भेजी है और इस पर भरत की प्रतिक्रिया जानने के लिए दो-तीन दिन का समय भी रखा है। भरत की भ्रातृवत्सलता में राम को तनिक भी संदेह नहीं है। पर राज-मर्यादा का पूरा पूरा पालन करना आवश्यक है। विशेषकर राम का अभिप्रेत और असंसक्त मन किसी भी भोग, अधिकार या अर्थ-सिद्धि को स्वीकार करने में सत्य और धर्म की अपेक्षा पर पूरा पूरा ध्यान देता है। अपनी साध्वी पत्नी सीता को पुनः स्वीकार करने में भी उनको संकोच था। इसलिए उन्होंने पहले हनुमान् को भेजकर सीता की प्रतिक्रिया जानने का प्रयत्न किया था और उसके बाद ही विभीषण के माध्यम से पुनर्मिलन का प्रबंध करवाया। पुनर्मिलन के अवसर पर भी अग्निदेव के द्वारा जब सीता की शुद्धता प्रमाणित हुई, तभी धर्मशील राम ने अपनी शुद्धशील साध्वी को स्वीकार किया। इस प्रकार के प्रसंग राम के वनवास में कदम कदम पर देखने को मिलते हैं। इसी शृंखला की संभवतः अंतिम कड़ी है-भरत के पास हनुमान् को भेजकर उनकी प्रतिक्रिया से अवगत होने का सात्विक प्रयास। यह बात भरद्वाज को भी मालूम है। इसीलिए उन्होंने राम को अपने आश्रम में एक दिन के लिए रोक लिया है। इससे भरत की भ्रातृवत्सलता पर कोई आँच नहीं आती है, बल्कि भरत के लिए भी यह अच्छा है। एकदम राम अपने बृहत् परिवार के साथ अयोध्या पहुँच जाते तो भरत इतने हर्ष को एक साथ अपने हृदय में समा नहीं पाते। इसके अलावा वनवास का विस्तृत वृत्तांत हनुमान् जैसे कुशल वक्ता के मुँह से आराम से सुनने का अवसर भी उनको नहीं मिल पाता। इस प्रकार सभी दृष्टियों से राम के पुनरागमन की पूर्व पीठिका के रूप में भरद्वाज के आश्रम में उनका प्रवास आत्मदर्शी राम की अभिरामदर्शिता को दर्शाता है।

उधर राम भरत का उत्तराधिकारी बनकर राज्य को स्वीकार करने में जितने संकोचशील हैं, इधर भरत चौदह वर्ष से राम के चरणों की प्रतीक्षा करने वाली पादुकाओं को साक्षी बनाकर श्रीराम का स्वागत करने के लिए उससे भी अधिक उत्कंठित हैं। दोनों भाई त्याग की भावना में एक दूसरे से प्रेरणा प्राप्त करते हैं और दोनों के आदर्श से अयोध्या की सारी प्रजा प्रेरणा प्राप्त कर रही है। श्रीराम के शुभागमन का समाचार सुनकर सारी अयोध्या नंदिग्राम को नंदनवन बनाकर प्रभु का स्वागत करने की तैयारियों में लग जाती है। बच्चे-बूढ़े स्त्री-पुरुष, विद्वान-व्यापारी, मंत्री-पुरोहित सभी लोग भरत और शत्रुघ्न के मार्ग-दर्शन में अपनी

अपनी भूमिका निभाकर राम-मिलन के स्पृहणीय क्षणों की सातुर प्रतीक्षा में घड़ी घड़ी गिनते हुए खड़े हैं। राजमार्ग में भारी भीड़ होने पर भी कहीं जन-संबाध देखने को नहीं मिलता। हाथी, घोड़े, रथ आदि पर आरूढ़ सैनिक भी अपने अपने स्थान पर स्वलंकृत वेशभूषा में प्रतीक्षा के क्षणों का आनंद ले रहे हैं। कुछ लोग स्थान स्थान पर बने विश्रामगृहों में राम का गुणगान करते हुए बैठे हैं।

नंदिग्राम के तपस्वी शासक भरत अपने अग्रज की पादुकाओं को सिर पर रखकर अमात्यों और प्रधान राजपुरुषों के साथ आगे बढ़ते हैं। वेद-घोष के बीच में छत्र-चामर आदि लेकर भरत के अनुयायी भी साथ में चलते हैं। शंख, दुंदुभि आदि मंगल वाद्य भी श्रीराम की अगवानी करने के लिए अपनी मंजुल ध्वनि सुनाते हैं। सारी अयोध्या को नंदिग्राम में उपस्थित देखकर भरत भीतर ही भीतर प्रसन्न होते हैं, पर बाहर से प्रतीक्षा की घड़ियां गिनगिन कर अधीर से हो जाते हैं। अभी तक राम के आगमन का कोई लक्षण न देखकर अधीर भरत समीरज से पूछते हैं कि क्या सचमुच राम आ रहे हैं या हमको झूठी खबर सुनाकर अपनी कपिसुलभ चंचलता का परिचय दे रहे हो। इस पर हनुमान् मुस्कुराकर कहते हैं कि राम के शुभागमन की सूचना केवल मैंने नहीं दी है, अब सारी प्रकृति दे रही है। सारे वृक्ष फलमय बन गए हैं, सारे फल मधुमय बन गए हैं। भौरों का मधुर गुंजन सारे मार्ग को मुखरित कर रहा है और उत्साह में उमड़ उमड़ कर किलकारियाँ भरते, अयोध्या के दर्शन के लिए तरसते हुए आनेवाले तरस्वी वानरों की आवाज़ यहाँ तक सुनाई दे रही है। हनुमान् श्रीराम के आगमन को सूचित करने वाली प्राकृतिक प्रफुल्लता का इस प्रकार वर्णन कर ही रहे थे कि इतने में पुष्पक विमान शरत्कालीन पूर्णचंद्र की तरह समीप आता दिखाई देता है। अभी अभी उदयाचल में उत्थित भास्कर की भांति उस विमान में आगे आगे बैठे हुए रामचंद्र की भव्य मूर्ति दिखाई दे रही है। "लो हमारे राम आ गए, राम आ गए, आ गए राम" कहकर हजारों लोग हनुमान् के स्वर में स्वर मिलाकर चौदह वर्ष के बाद अयोध्या में आए दशरथनंदन, सीतावल्लभ, लक्ष्मणाग्रज, भरतबंधु, शत्रुघ्नप्रिय और कौसल्यानंदनवर्द्धन राम का मुक्तकंठ से स्वागत करते हैं। इस हर्षध्वनि के साथ साथ पुष्पक विमान की हंसध्वनि समेकित होकर धरती और आकाश को एक कर देती है।

अब भावुक भरत की दशा अनिर्वचनीय बन जाती है। मेरू पर्वत पर सूर्य को उदित होते हुए देखकर जिस प्रकार मंत्र-पूत मनस्वी विद्वान् प्रणतिपूर्वक अर्घ्य आदि निवेदित करते हैं, उसी प्रकार पुष्पक विमान पर पुण्यश्लोक रामभद्र को देखते ही भरत के दोनों हाथ अर्घ्य-प्रदान और प्रणाम की मुद्रा में समुत्थित और समर्पित हो जाते हैं। भरत की विनयांजलि को दूर से ही राम स्वीकार करते हैं और विमान को महीतल पर उतरने की आज्ञा देते हैं। जैसे ही विमान नीचे उतरता है, वैसे ही अनायास भरत के चरण राम की ओर बढ़ते हैं और राम के हाथ भरत की ओर। भ्रातृवत्सल राम भरत को विमान पर चढ़ा लेते हैं। श्रीराम के चरणों को अत्यंत निकट पाकर भाग्यशाली भरत राममय होकर श्रीचरणों की वंदना करते हैं। प्रेम की प्रतिमूर्ति राम अत्यंत आत्मीयता और अनुराग से लम्बे समय के बाद दृष्टिपथ में आए भरत को अपनी गोद में बिठा लेते हैं और प्यार से गले लगा लेते हैं। उसके बाद भैया लक्ष्मण और भाभी सीता से विधिवत् मिलकर भरत अपनी आंतरिक प्रसन्नता आँसू की आलोकित किरणों में व्यक्त करते हैं। अब एक एक करके सुग्रीव, जांबवान्, मैंद, द्विविद, नील, ऋषभ, सुषेण, नल, गवाक्ष, गंधमादन, शरभ, पनस आदि वानर-वीरों से मिलकर भरत परम प्रसन्न हो जाते हैं। ये सब लोग अभी विमान में ही हैं। सुग्रीव से मिलकर रामानुज भरत इतने प्रसन्न हो जाते हैं कि उनको पाँचवें भाई के रूप में स्वीकार करते हैं। "अब तक हम चार भाई रहे हैं। आज से हम पाँच हैं" —भरत का यह भावुक' उद्गार सुग्रीव को भी उद्ग्रीव बना देता है। अंत में विभीषण से मिलकर कृतज्ञ भरत अयोध्या की प्रजा की ओर से उनके प्रति आभार प्रकट करते हैं क्योंकि उन्हीं

के सहयोग से यह शुभांत संभव हुआ है।

अब शत्रुघ्न भी पहले श्रीराम का पादभिवंदन करते हैं, बाद में लक्ष्मण का और अंत में भाभी का। शत्रुघ्न की विनयांजलि स्वीकार करने के पश्चात् राम अपनी माँ कौसल्या के पास जाते हैं। चौदह वर्ष के वियोग में अत्यंत दुर्बल, विवर्ण और शोकाकुल बनी माता के चरणों में अपना मस्तक रखकर धर्मपरायण राम केवल कौसल्या का ही नहीं, बल्कि समस्त मातृजगत् का मस्तक ऊँचा करते हैं। उसके बाद सुमित्रा और कैकेयी का भी पादाभिवंदन कर गुरुभक्त राम कुलगुरु वशिष्ठ के वंदनीय पदाभ्याश में परम प्रसन्नता प्राप्त करते हैं। विमान के सामने प्रसन्नता और विनम्रता की मुद्रा में खड़े हुए असंख्य नागरिकों की विनयांजलियों को विनयमोहन राम सहर्ष स्वीकार करते हैं। खिले हुए कमलों की भांति लोगों के खुले हुए हाथों को राम अपने वरदहस्त से दूर से ही आश्वस्त करते हैं। इसी समय अनुकूल अवसर पाकर भरत पादुकाओं को श्रीराम के चरणों के समीप रखकर सविनय निवेदन करते हैं —"आपके इस राज्य को आपकी अनुपस्थिति में आप ही के तेज के बल पर मैंने सुरक्षित रखा है। आज आपको फिर से अयोध्या के अधीश के रूप में पाकर मेरा जन्म सार्थक हुआ और मेरा मनोरथ सफल हुआ है। आपके आशीर्वाद से इस अवधि में हमारे इस राज्य ने आर्थिक, सामाजिक और प्रशासनिक सभी दृष्टियों से दस गुनी उन्नति कर ली है। इस दशा में आपके इस राज्य को पुनः आपको सौंप रहा हूँ। अपनी पादुकाओं को सनाथ बनाकर मुझे चरितार्थ करें।"

भातृवत्सल भरत और भक्तवत्सल राम के इस भव्य संवाद को सुनकर समस्त वानर-वीरों के साथ राक्षस-राज विभीषण भी आनंद के आँसू बहाते हैं। सबकी आँखें सजल हैं, सब की वाणी गद्गद है और सबका ध्यान विमानस्थ राम और भरत पर केन्द्रित है। पादुकाओं को अपना पदयुग प्रदान कर परम प्रसन्न राम भरत को अपनी गोद में बिठा लेते हैं और पुष्पक को नंदिग्राम में भरत के आश्रम जाने की आज्ञा देते हैं। सब के साथ राम भी विमान से उतर कर ज़मीन पर खड़े हो जाते हैं। अब एक विचित्र घटना घटती है जिसकी किसी ने कल्पना तक नहीं की होगी। जब सभी लोग उतर जाते हैं तो राम की दृष्टि विमान पर जाती है। विमान को ध्यान से देखकर राम उसी को संबोधित कर कहते हैं— "अब तुम अपने मालिक कुबेर के पास जाओ और उन्ही की सेवा करो।" यह वाक्य सभी को चकित कर देता है और विशेषकर विभीषण को। जब विभीषण ने राम की प्रतियात्रा के लिए इस विमान को उनके सामने प्रस्तुत किया था, तब राम ने मार्मिक विस्मय प्रकट किया था। उस विस्मय का रहस्य अब विभीषण के सामने खुल जाता है। श्रीराम के इस निर्णय से विभीषण को भी विस्मय होता है। पर इससे उनको प्रसन्नता ही होती है, क्योंकि यह विमान न लंका का है और न लंकेश्वर का। एक प्रकार से यह चोरी का माल है और अब चूंकि चोर तो इस संसार में नहीं है, इसलिए वह असली मालिक के पास लौटाया जा रहा है। इसलिए राम के इस निर्णय पर सब लोग प्रसन्न हो जाते हैं और राम-राज्य के शुभारंभ की भूमिका के रूप में राम का यह निर्णय भविष्य की भव्यता का आभास देता है।

आज चैत्र शुक्ला नवमी का चित्रभानु आदित्यवंश के यशस्वी राजकुमार सीतावल्लभ राम को उनके जन्म दिन पर बधाई देने उदित होता है। दशरथनंदन राम आज अयोध्यानरेश बननेवाले हैं। चौदह वर्ष पहले रामरागमय राजा दशरथ ने जिस रमणीय राजतिलक का स्वप्न देखा था, वह आज साकार होने जा रहा है। पुनर्वसू का चाँद अपनी आँखों के सामने धरातल पर अवतरित रामचंद्र के मुखमंडल को बार बार देख रहा है क्योंकि आज अयोध्या का पुनर्वासन होने वाला है। आकाश के मध्य आदित्य की शोभा है तो रसातल से सुधाकर रसनिर्भर हृदय से राजतिलक का रमणीय दृश्य देखने के लिए लालायित हो रहा है। अभी सभी लोग नंदिग्राम में ही हैं। अब सबको अयोध्या की ओर प्रस्थान करना है जहाँ पर राम का राजतिलक राजसी वैभव के साथ सात्विक वातावण में संपन्न होगा। चौदह

वर्ष की अवधि विधिवत् समाप्त होने के कारण अब राम को अयोध्या-नगर में प्रवेश करने में कोई आपत्ति नहीं होगी। पादुकाओं को उन्होंने पहले ही अपने चरणों से चरितार्थ कर ही दिया है। अब औपचारिक रूप से उन्हें राज्य का आसन स्वीकार करना है। इसकी भूमिका के रूप में कैकेयी-नंदन भरत अपनी और अपनी माता की ओर से अत्यंत संयत शब्दों में एक प्रस्ताव राम की औपचारिक स्वीकृति के लिए प्रस्तुत करते हुए कहते हैं:—

पूजिता मामिका माता दत्तं राज्यमिदं मम।
तद् ददामि पुनस्तुभ्यं यथा त्वमददा मम॥

आपने मेरी माता की मनोकामना को मान्यता देकर उनको प्रसन्न करने के लिए मुझे यह राज्य दिया था। अब मैं उसी राज्य को आपको पुनः सौंप रहा हूँ जैसा आपने मुझे दिया।

भरत का यह प्रस्ताव-वाक्य राम के वनवास की सारी भूमिका को अपने में समाविष्ट कर लेता है और नपे तुले शब्दों में राज्य के ग्रहण, निग्रह, समर्पण और विसर्जन की सभी बारिकियों को सामने रखता है। यह एक प्रकार से राम के अयन (रामायण) का भरतवाक्य है जिसमें अतीत का समाकलन ओर भविष्य का प्राक्कलन बड़ी सुन्दर और सुरुचिपूर्ण शैली में अभिव्यक्त होता है। सबसे पहले भरत अपनी माँ की बात कहते हैं जिनके स्वार्थ को धर्मात्मा राम ने परमार्थ का रूप दिया है। अपनी इच्छा के अनुसार वह राजमाता तो बन गई, पर भरत ने राजसी वैभव को ठुकराकर तापसी जीवन व्यतीत करते हुए शासन का काम संभालने का संकल्प किया था। चित्रकूट में सत्यपराक्रम राम ने जो भी निर्णय किया था, उसको धर्मात्मा भरत ने इसी भावना से स्वीकार किया था। दोनों भाइयों ने अपनी तपस्या और त्याग के माध्यम से माता की ममता के प्रति आदर की भावना प्रकट की और उसे सक्रिय रूप भी दिया। इसलिए "पूजिता मामिका माता" कहने में भरत ने रघुकुल में आए इस कलंक को एक वाक्य में धो डाला और साथ ही अपनी माता के प्रति पहले के आक्रोश को भी उन्होंने एकदम त्याग दिया और सच्चे अर्थों में वह कैकेयी का प्रियनंदन (कैकेय्यानंदवर्द्धन) बनकर श्रीराम के सामने यह प्रस्ताव रखते हैं। इसलिए आज के राजतिलक के उत्सव में कैकेयी की विशिष्ट भूमिका रहेगी क्योंकि उनको भी अपनी त्रुटि का मार्जन करने का अवसर मिल रहा है।

इसके बाद राज्य के आदान-प्रदान के संबंध में भरत के मुँह से जो शब्द निकलते हैं, उनसे यह बात स्पष्ट होती है कि वह राजा कभी नहीं रहे। राजा तो राम ही थे, पर राम ने कैकेयी की बात मानकर वह राज्य चौदह वर्ष के लिए भरत को दिया था (दत्तं राज्यमिदं मम)। वही राज्य (उनको सौंपा गया राज्य) अब राज्य के सच्चे अधिकारी राम के पास वापस जा रहा है (तद्ददामि पुनस्तुभ्यं) जैसा राम ने पहले भरत को दिया था (यथा त्वमददा मम)। भरत के इस वाक्य को पढ़ते समय राम द्वारा पुष्पक विमान को उसके सच्चे अधिकारी कुबेर के पास भेजे जाने की बात याद आ जाती है। इसलिए वाक्य-विशारद भरत राम की ही परिभाषा में राम-राज्य की बात राम के सामने कह रहे हैं। इसलिए रामायण का यह भरत वाक्य सर्वथा रमणीय ही नहीं, बल्कि सर्वात्मना भारतीय भी है। भारतीयता की सच्ची पहचान क्या है, इसको समझने के लिए इस भरत-वाक्य को हृदयंगम करना पर्याप्त है।

प्रथम वाक्य में सूत्र शैली में सार की बात बताकर भावभोगी भरत इसी मूल कथ्य को आगे व्याख्यायित करते हुए कहते हैं: "राज्य का भार वहन करने में राजर्षभ जैसे आप ही समर्थ हैं। मैं तो बछड़ा हूँ। शासन में कई अवरोध आते हैं, वह एक ऐसा बाँध है जिसमें पानी के प्रखर प्रवाह से कभी भी और कहीं भी छिद्र हो सकते हैं जिनको ढक पाना आप जैसे धुरंधर लोकनायक के लिए ही संभव है। जैसे घोड़े के साथ गदहा नहीं चल सकता या हंस की गति को कौआ नहीं समझ सकता, उसी प्रकार आपकी गति को अनुगत क्या, अवगत करने की शक्ति भी मुझमें नहीं है। इस के अलावा राजा तो एक फलप्रद वृक्ष होता है जिसको राजपरिवार के अलावा सारी प्रजा पालती और

पोसती है और उसके पुष्पित और फलीभूत होने की अपेक्षा करता है। अब आप से फल प्राप्त करने का समय आ चुका है। इसलिए आपको फल प्रदान करने का यह मंगलमय दायित्व अब स्वीकार करना होगा। सारा संसार आपको मध्याह्न के सूर्य की तरह अयोध्या के राज्य-सिंहासन पर अधिष्ठित और अभिषिक्त देखने के लिए परम उत्सुक है। अब आपका सोना-जागना मधुर संगीत और रमणीय नृत्य के मनमोहक और आत्मबोधक वातावरण में होगा।''

इतना कहने के बाद भारती (भरत संबंधी) भावना की वैयक्तिक या एक देशीय परिधि को पार कर नंदिग्राम के आनंद-निलय के आत्मयोगी भरत अपने भाई राम को विश्वात्मा की विशाल और अकाल भाव-भूमिका में प्रतिष्ठित करते हुए अपने अंतिम वाक्य में कहते हैंः—

यावदावर्तते चक्रं यावती च वसुंधरा।
तावत् त्वमिह लोकस्य स्वामित्वमनुवर्तय॥

सामान्य शासक किसी एक देश, काल और समाज तक अपने को सीमित रखते हैं। परंतु लोकाभिराम राम जैसे लोक-शासकों को न कोई भूखंड बाँध सकता है, और न कोई खगोल। वे सारी धरती के होते हैं और सारे आकाश को भी आलोक प्रदान करते हैं। वे केवल अपने जीवन-काल में ही नहीं जीते हैं, बल्कि अनंत काल तक अपने यशस्वी शरीर को प्रासंगिक बना लेते हैं। ऐसे सार्वभौम शासक इस संसार में बहुत कम आते हैं पर आते हैं तो जाते नहीं, सदा सदा के लिए यहीं रह जाते हैं। युग युग तक उनकी सत्यनिष्ठा, धर्मपरायणता, कल्याण-भावना, अहेतुक आत्मीयता, दीन-वत्सलता, व्यक्तिनिरपेक्षता और लोक-सापेक्षता को संसार स्मरण करता रहता है। रघुवंश में अब तक जितने राजा-महाराजा हुए उनमें से अधिकांश इसी प्रकार के आदर्श को अपने शासन के माध्यम से आत्मसात् करने में सफल हुए। परंतु सत्यपराक्रम राम की तपस्या, त्याग, सहिष्णुता, सात्विकता, सामासिकता और संवेदनशीलता अन्यत्र दुर्लभ है। इसी परिप्रेक्ष्य में राजनय के मर्मज्ञ रामानुज अपने अग्रज के भावी शासन में इसी सनातन तत्त्व की समृद्ध संभावना को रेखंकित करते हुए अपने प्रस्ताव-पाठ का उपसंहार उपर्युक्त श्लोक से करते हैं। जब तक आकाश में ज्योतिश्चक्र विराजमान है और वसुंधरा जब तक वसुप्रद बनी रहती है तब तक राम-राज्य का आलोक इस लोक में लोकप्रिय शासकों के लिए प्रेरणा प्रदान करता रहेगा। इन शब्दों में भरत अपने भाई के राज्य-काल में एक ऐसे आदर्श शासन का आश्वासन देख रहे हैं जो कि युग युग तक अगजग का अनुरागमय पालन प्रचारित करता रहेगा।

भरत के इस विस्तृत प्रस्ताव को ध्यान से सुनकर मितभाषी राम संक्षेप में ''तथास्तु'' कहकर अपना आसन ग्रहण करते हैं (तथेति प्रतिजग्राह निषसादासने शुभे)। ''शुभे'' शब्द भी यहां पर विशेष ध्यान देने योग्य है। ''ठीक है'' (तथा) कहकर राम ने भरत का प्रस्ताव स्वीकार किया और शुभ आसन पर बैठे। रामायण ''शुभ'' काव्य है जबकि महाभारत ''जय'' काव्य है। राम के अयन का परम लक्ष्य शुभ की स्थापना है, जय की प्राप्ति नहीं। इसीलिए शुभदर्शी राम ने शुभ आसन ग्रहण किया। रामायण का दर्शन भी शुभदर्शन है, आत्मदर्शन है, और समदर्शन है। राम-माता कौसल्या ने भी वनवास के लिए प्रस्थित राम को आशीर्वाद देते हुए ''मंगलानि महाबाहो दिशंतु शुभमंगलम्'' कहकर ''जय'' की अपेक्षा ''शुभ'' को ही अधिक महत्त्व दिया था। इसी ''शुभ'' कामना के साथ भरत राम को राज्य लौटाते हैं और राम भी भरत की भारतीय आकांक्षाओं को अपने शुभ आसन के रूप में अचंचल आधार प्रदान करते हैं।

राम के जीवन में जो घटना जब घटती है, वही उनके लिए ''शुभ मुहूर्त'' बन जाता है। ''अयं मुहूर्तः सुमुहूर्तो ऽस्तु-'' यही राम के अयन का स्थायी स्वस्त्ययन है। विवाह, प्रस्तावित राजतिलक, युद्ध के लिए प्रस्थान, प्रतिप्रयाण का दिन और अंततः वास्तविक राजतिलक के लिए अपने आप सुदिन सामने आते हैं अथवा यों कहा जा सकता है कि जो भी दिन सामने आया, उसी को राम ने शुभ दिन माना। वास्तव

में राम की दृष्टि में शुभ और अशुभ का अंतर अंतःकरण -सापेक्ष है। यदि अंतःकरण शुद्ध है तो अशुभ भी शुभ बन जाता है। अगर मन में कुछ काला है तो मंगल भी अमंगल बन जाता है। लोकमत में जो अशुभ है, उसको भी राम की मति शुभ में परिवर्तित कर देती है।

इसी शुभ-भावना के साथ नंदिग्राम से अयोध्या की ओर राम की शोभायात्रा आरंभ होती है। मगर यात्रा के आरंभ होने से पहले मंगल-स्नान, अलंकरण आदि पूर्व रंग भी विधिवत् सम्पन्न होता है। सबसे पहले भरत, फिर लक्ष्मण, बाद में सुग्रीव, विभीषण और अंत में राम मंगल-स्नान करते हैं। दशरथ की रानियाँ सीता का शृंगार स्वयं अपने हाथों से करती हैं। वात्सल्य-निलया कौसल्या बड़े प्रेम और उल्लास से वानर-पत्नियों का शृंगार स्वयं अपने हाथों से करती हैं। जब सब का अलंकरण संपन्न होता है तो शत्रुघ्न सुमंत्र से कहकर रथ को सुसज्जित करवाते हैं। सूर्य की भांति सुशोभित सुमंत्र के रथ पर श्रीराम बैठ जाते हैं। अब रघुपति राघव राजा राम की शोभा-यात्रा अयोध्या की दिशा में चल पड़ती है। लक्ष्मणं और शत्रुघ्न अपने भाई के पास खड़े होकर छत्र और चामर से उनकी सेवा करते हैं। तो भरत रथ के सारथ्य में सुमंत्र का साथ देते हैं। विभीषण भी एक सफेद चामर हाथ में लिए राम के साथ चलते हैं। अंतरिक्ष से ऋषि-मुनियों तथा मरुद्गणों के मुँह से वेदनाद सुनाई देता है। सुग्रीव और अन्य वीर बड़े बड़े हाथियों पर बैठकर यात्रा की शोभा बढ़ाते हैं। साथ में मंत्रिमंडल और विद्वन्मंडल रथयात्रा की गरिमा बढ़ाते हैं। मंगल वाद्य, मंगल द्रव्य, मधुर रसायन, मनोहर फल आदि से सारा मार्ग मंगलमय बन जाता है। मार्ग में राम, सीता, लक्ष्मण, हनुमान्, सुग्रीव, विभीषण आदि की चर्चा करते हुए नंदिग्राम के नागरिक धीरे धीरे अयोध्या पहुँचते हैं और अयोध्यावासी घर घर में राम के चित्र, राम पताकाएँ लगाकर सीता, राम और लक्ष्मण के शुभागमन की प्रतीक्षा करते हैं। अब बात ही बात में सीता, राम और लक्ष्मण अयोध्या में प्रवेश करते हैं।

अयोध्या में प्रवेश करते ही राम सीधे पिता के निवास-गृह जाते हैं और भरत से कहते हैं कि सुग्रीव को हमारे पिताजी का निवास-गृह अच्छी तरह दिखाओ और हमारी तीनों माताओं से इनका परिचय कराओ। श्रीराम के इस मार्मिक संकेत को तत्काल समझ कर भरत अपने भाई की आज्ञा का पालन करते हैं। राजभवन, उपवन आदि देखकर सुग्रीव तथा अन्य वानर परम प्रसन्न हो जाते हैं। राजभवन का निरीक्षण कराने के बाद भरत अभिषेक के लिए चारों समुद्रों से जल लाने का दायित्व सुग्रीव को सौंपते हैं। सुग्रीव चार वानर-वीरों को बुलाकर उनको सोने के चार कलश देते हैं और कहते हैं कि तुम लोग कल सबेरे तक चारों समुद्रों के जल से इन कलशों को भर कर ले आना। जांबवान्, हनुमान्, वेगदर्शी (गवय) और ऋषभ तत्काल निकल कर स्वर्ण कलशों में चार समुद्रों और पाँच सौ नदियों का जल भरकर यथासमय अयोध्या में उपस्थित हो जाते हैं।

अब अभीषेक का कार्यक्रम कुलगुरु वसिष्ठ के मार्गदर्शन में आरम्भ होता है। सबसे पहले जनकनंदिनी सीता और दशरथनंदन राम को रत्नमय पीठ पर बिठाया जाता है। उसके बाद वसिष्ठ, वामदेव, जाबालि, काश्यप, कात्यायन, सुयज्ञ, गौतम और विजय नाम के आठ ऋत्तिग् ब्राम्हण स्वच्छ और सुगंधित जल के द्वारा सीतासमेत राम का अभिषेक करते हैं। इस मंत्रपूत अभिषेक के पश्चात् सोलह कन्याएँ पुरुषोत्तम राम और श्रीस्वरूपिणी सीता का अभिषेक करती हैं। आठ वसुओं तथा सोलह कलाओं के द्वारा अभिषिक्त लोकाभिराम राम और सर्वलोक मनोहरी सीता का अभिषेक एक निश्चित क्रम के अनुसार मंत्रियों, योद्धाओं, मित्रों तथा अन्य हितैषियों के द्वारा संपन्न कराया जाता है। अंतरिक्ष से समस्त देवता और दिक्पाल भी दिव्य जल से 'मानववंश-वर्द्धन' राम का सरस 'संवर्द्धन' करते हैं।

अभिषेक का कार्यक्रम विधिवत् समाप्त होने के पश्चात् मुकुट-धारण की प्रक्रिया प्रारंभ होती है। मानव-वंश के आदि मनीषी मनु के समय से मुकुट-धारण की यह परंपरा चली आ रही है। उसी

परंपरा के अनुसार कुलगुरु वसिष्ठ ब्रह्मा द्वारा निर्मित रत्नमय किरीट को एक मणिमय आसन पर रखकर वहाँ पर उपस्थित विद्वान ब्राह्मणों के द्वारा उसे अभिमंत्रित कराने के पश्चात् श्रीराम के मस्तक पर उसे सजा कर रखते हैं और उसके साथ अनेक आभरणों से भी रघुपति को विभूषित करते हैं। गुणरत्न से विभूषित सुगुणाकर राम पर उनके कनिष्ठ भ्राता शत्रुघ्न शुभप्रद और शुभ्र धवल (पाण्डुर) छत्र स्थापित करते हैं तो सुग्रीव और विभीषण चमकीले चंवर लेकर डुलाते हुए दोनों ओर से राम को दुलारते से दिखाई देते हैं। देवेन्द्र की प्रेरणा से समीरित वायुदेव उस मंगलमय अवसर पर श्रीराम को एक दिव्य हार उपहार के रूप में समर्पित करते हैं जिसमें सोने के सौ कमल सजे हुए हैं और सभी प्रकार के रत्न जड़े हुए हैं। आनंद के इस उत्सव में देवता और गंधर्व अपने मधुर संगीत से सारे वायुमंडल को सस्वर बनाते हैं तो अप्सराएँ नूपुरों के मंजुल निःस्वन से सभामंडप को सस्वन बना देती हैं। उस समय भरद्वाज के आशीर्वाद से अयोध्या के परिसर का प्राकृतिक वातावरण भी सस्यश्यामल, सुरभिल और सुफल बन जाता है।

अब पट्टाभिराम राम अपनी आंतरिक प्रसन्नता और कृतज्ञता के प्रतीक के रूप में समागत अतिथि-देवताओं को यथायोग्य सम्मानित और अर्चित करना आरंभ करते हैं। किसी को घोड़े देते हैं, किसी को गायें, किसी को बैल, किसी को अशर्फियां, किसी को आभूषण, किसी को वस्त्र। इस प्रकार सभी को कुछ न कुछ उपहार देते हैं। वानर-राज सुग्रीव को दिव्य कांचन माला भेंट करते हैं और अंगद को कनकांगद देते हैं। अब हनुमान् की बारी आती है तो राम सीधे हनुमान् को कुछ नहीं देते। चाँदनी की छटा से चमकनेवाला एक मोती का हार दशरथनंदन जनकनंदिनी को देते हैं और वैदेही उसे अपने गले में डालकर दो दिव्य वस्त्र और कुछ अमूल्य भूषण हनुमान् को देती हैं। उसके बाद वह अपने कंठ से एक हार उतारती हैं और उसी हार को हाथ में लेकर अपनी बगल में बैठे राम और सामने बैठे वायुनंदन को बारी बारी से देखने लगती हैं। मैथिली की मनोदशा को पहचानकर दाशरथी उनसे कहते हैं:—

"प्रदेहि सुभगे हारं यस्य तुष्टासि भामिनि"

यह वाक्य अपने आप में एक हार है जो मोतियों से नहीं, मणियों से नहीं, हीरों से नहीं, पर शब्दों को चरितार्थ बनानेवाले अमूल्य और अप्रमेय अक्षरों से बना है। इस वाक्य में राम का आदेश (प्रदेहि) अपने आप में एक रसात्मक काव्य का भव्य रूप प्रस्तुत करता है। वैदेही को संबोधित कर 'प्रदेहि' (दे दो) कहना कितना समीचीन, सार्थक और सारगर्भित है, यह सहृदय ही समझ पाते हैं और संसार में समस्त सहृदयता का सार अपने में समाकर बैठे समीरज बिल्कुल सामने हैं और यह आदेश-वाक्य भी उन्हीं को ध्यान में रखकर कहा जा रहा है। इसके बाद यह हार किसको देना चाहिए, इसकी ओर संकेत करते हुए इंगितज्ञ राम कहते हैं— "जिससे तुम संतुष्ट हो उसको दे दो" (यस्य तुष्टासि)। इस संकेत का वास्तविक आशय आत्मवान् का आत्मदर्शन ही समझ सकता है और वह आत्मवान् आंजनेय के रूप में पास बैठे हैं जो राम का यह वाक्य सुनते ही मन ही मन गुनगुना रहे होंगे : 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः" (जिस पर उन परमेश्वरी की अनुकंपा होती है, उसको यह आत्मदर्शन मिलता है।) अब सारी सभा मैथिली की ओर देख रही है और उस भाग्यशाली को देखने की प्रतीक्षा में हैं जो इस उपहार के लिए उपयुक्त समझा जाएगा। जानकी मन ही मन मारुतनंदन के गुण-हार पर मनन करने लगती हैं। तेजस्विता, धृति, यश, सामर्थ्य, विजय, नय, पौरुष, विक्रम और बुद्धि-नाम के नवरत्नों से जटित हार जिनके कंठ में निरंतर शोभा पाता है उसके लिए कोई बाहरी हार अलंकार का आधार नहीं बन सकता। इसी भावना को भव्यहार का बाहरी रूप देने के लिए राजभामिनी रामाक्षी उस हार को अपने हाथ से हनुमान् के कंठ में पहनाती हैं। उस समय देवीदत्त हार से हनुमान् उसी प्रकार सुशोभित हो रहे थे जैसे कोई स्वच्छ धवल पर्वत पूर्णचंद्र की शीतल किरणों से चमकनेवाले सफेद बादल से अलंकृत हो। आज का सबसे बड़ा

सम्मान समीरज को मिला है, पर वह पर्वत के समान निश्चल हैं, चंद्रिका के समान धवल हैं और बादल के समान सजल हैं।

अब राजतिलक-समारोह का समावर्तन आरम्भ होता है। सुग्रीव-सहित सभी वानर-वीर और विभीषण-सहित सभी अमात्य अभिषिक्त राम द्वारा समुचित सत्कार पाकर अयोध्या से विदा लेते हैं। अभिषेक का उत्सव देखने के लिए अदृश्य आकार में समागत दिव्यात्मा भी अपने अपने स्थानों की ओर प्रस्थान करते हैं। इसके बाद प्रजापालक राम अपने तीनों भाइयों को यौवराज्य पद पर अभिषिक्त कर सबके सहयोग से प्रेम और नियम के आधार पर शासन-कार्य सुचारु रूप से संचालित करते हैं। राम के राज्य,में रमणीयता ही रमणीयता सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। प्रत्येक कार्य यज्ञ की भावना से सम्पन्न होता है। असत्य, अधर्म, अन्याय, अत्याचार, आतंक आदि आसुरी प्रवृत्तियों के लिए कहीं कोई स्थान नहीं है। पारस्परिक प्रेम, सद्भावना और सहयोग से प्रेरित होकर सभी लोग अपने अपने कार्य अपनी अपनी योग्यता के अनुसार करते रहते हैं। प्रत्येक व्यक्ति सार्वजनिक हित की भावना से ही प्रत्येक कार्य करने लगता है। किसी को किसी के प्रति कोई शिकायत नहीं होती और न किसी के मन में किसी के प्रति द्वेष है। सभी लोग राम का नाम लेकर रामराज्य का गुणगान करते हैं और हृदय से चाहते हैं कि यह राज्य अनंत काल तक चलता रहे।

इसीलिए राम किसी एक युग का नहीं है और न किसी जग का। वह युग-युग का है और जग-जग का है। वह शासक नहीं है, पालक है, परिपालक है। जब राजा दशरथ ने राम को यौवराज्य पर अभिषिक्त करने का निर्णय किया था, इस निर्णय से अपनी माता कौसल्या को अवगत करते हुए रामभद्र ' प्रजापालन' शब्द का ही (प्रजापालन कर्मणि) प्रयोग करते हैं। पालन में लालन भी सम्मिलित है। प्रेम से पालन होता है और नियम से शासन। शासन को पालन का रूप देना ही परम प्रेम की प्रतिमूर्ति राम का परम लक्ष्य था। राम के अयन को इसी दृष्टि से आत्मदर्शी वाल्मीकि ने संचरित कर दिया था ताकि वह युग युग तक जन-मानस में इसी सन्मनुष्यता को संचारित करता रहे। राम की तरह राम का अयन (रामायण) भी मानवीय काव्य है और मानव को मानव बनानेवाला महनीय काव्य है। कहीं कहीं वह मानव-मात्र की ममता की सीमित परिधि को पार कर प्राणि-मात्र के कल्याण की कामना को आत्मसात् कर अग-जग को रामराग से रंजित कर देता है। इसीलिए विश्व-विधाता ने इस विश्वजनीन कृति को शाश्वत और सनातन महत्त्व और स्थायित्व प्रदान करते हुए कहा थाः-

यावत् स्थास्यंति गिरयः सरितश्च महीतले।
तावद् रामायण-कथा लोकेषु प्रचरिष्यति॥

जब तक पर्वत स्थिर हैं और नदियाँ गतिशील हैं तब तक रामायण की यह रमणीय कथा सभी लोकों में सभी लोगों को आलोक प्रदान करती रहेगी। स्थिर रहकर चलना और चलते हुए भी अपनी स्थिरता को बनाये रखना राम के अयन (रामायण) की सबसे बड़ी विशेषता है और यही इस अमर काव्य का अक्षय संदेश है ।

चरितं रघुनाथस्य सन्मनुष्यमनोभवम् ।
एकैकमक्षरं प्रोक्तं मनस्सुमनसो भवेत् ॥

— इति शम् —



भारतीय ज्ञानपीठ

उद्देश्य

ज्ञान की विलुप्त, अनुपलब्ध और अप्रकाशित सामग्री का अनुसन्धान और प्रकाशन तथा लोक-हितकारी मौलिक-साहित्य का निर्माण

●

रामायण की मूल शक्ति ज्ञान है जिसके कई पहलू हैं। कभी वह शब्द के रूप में व्यक्त होता है, कभी विचार के रूप में, कभी संचरण के रूप में हमारे साथ चलता है और कभी आचरण के रूप में हमें चलना सिखाता है। कभी कभी वह मौन धारण कर हमारे मन को मुखरित कर देता है और कभी मनन बनकर मन में नमन की भावना पैदा कर देता है, कभी आज्ञा बनकर हमें आदेश देता है और कभी संज्ञा बनकर संदेश का सार सुनाता है, कभी प्रज्ञा बनकर पंडित को प्रबुद्ध बना देता है और कभी विद्या बनकर विज्ञ को विद्वान बना देता है, कभी कर्म की भावना जगाता है और कभी धर्म का रहस्य खोलता है, कभी मुक्ति का मार्ग दिखाता है और कभी भक्ति का गीत सुनाता है। संक्षेप में रामायण जिस अर्थ में ज्ञान का पीठ माना जा सकता है उस अर्थ में यह ज्ञान संसार का सर्वस्व है और समस्त साधना का सार है।

